समयसार सिद्धि

भाग-५

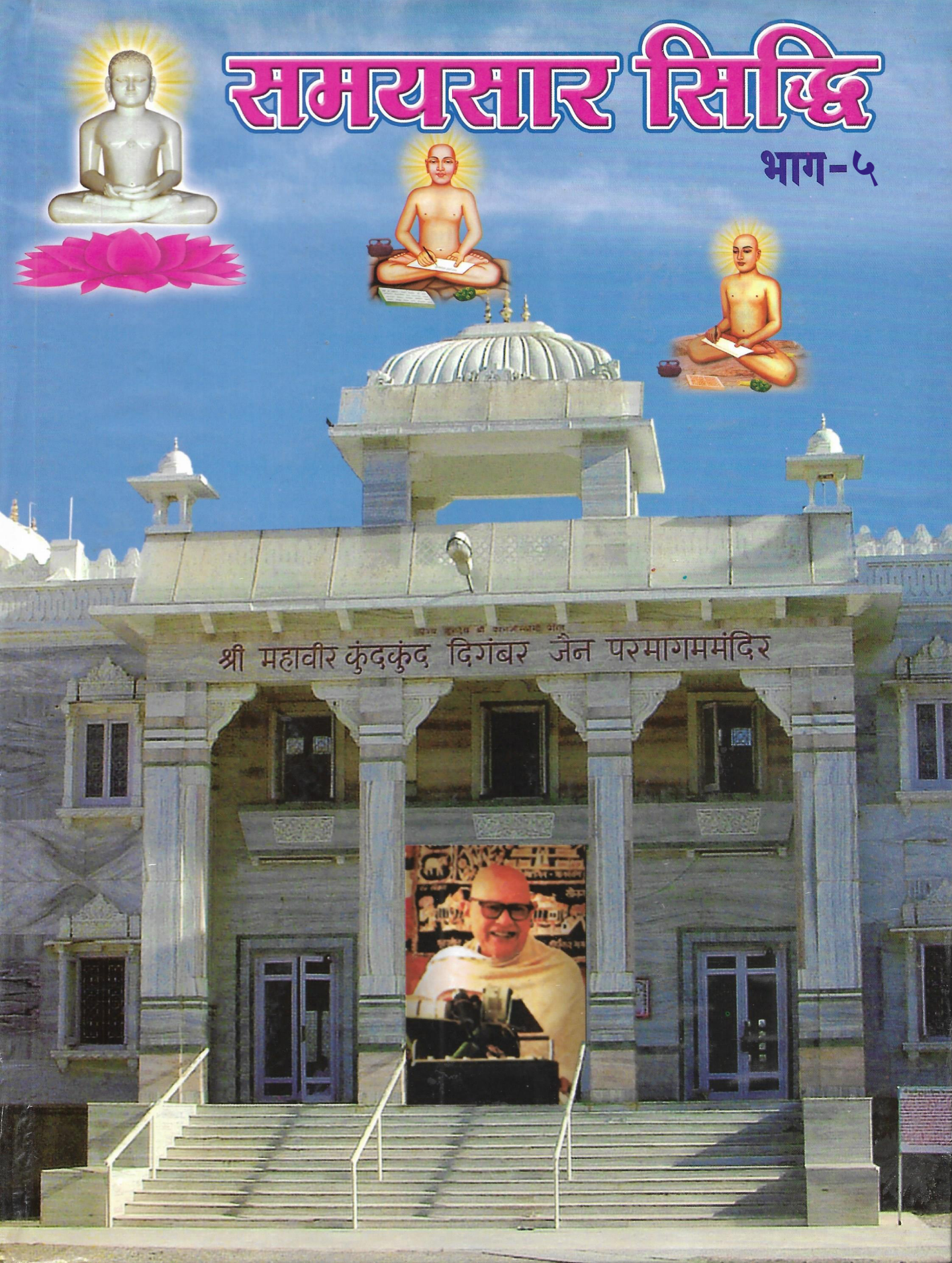

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-५

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ९४ से १४४ तथा कलश ५७ से ९९ तक)
प्रवचन क्रमांक १८७ से २२८

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

(फाल्गुन माह के अष्टाह्निका महापर्व की पूर्णाहुति के
पावन अवसर पर, दिनांक 18 मार्च 2022)

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़
मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्रायः लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष,

निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!
- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला

दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।

- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है – उसका यथार्थ ज्ञान अपने को–मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही – यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है – एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई – वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी–पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे–जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता

वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-5, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के कर्ताकर्म अधिकार की गाथा 94 से 144 तक, और इनमें समागत कलश 57 से 99 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 187 से 228 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में स्व. श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com के शास्त्रभण्डार के अन्तर्गत पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दशः प्रवचनों में अपलोड किया गया है।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो

उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह

स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के

सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के

अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।

10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

अनुक्रमणिका

प्रवचन नम्बर	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
१८७	०५-०२-१९७९	गाथा-९४	००१
१८८	०६-०२-१९७९	गाथा-९४-९५	०१५
१८९	०७-०२-१९७९	गाथा-९५	०३२
१९०	०८-०२-१९७९	गाथा-९६	०४८
१९१	०९-०२-१९७९	गाथा-९६	०६५
१९२	११-०२-१९७९	गाथा-९६-९७	०८०
१९३	१२-०२-१९७९	गाथा-९७	०९९
१९४	१३-०२-१९७९	गाथा-९७, कलश-५७-५८	११४
१९५	१४-०२-१९७९	कलश-५८-६०	१३१
१९६	१५-०२-१९७९	कलश-६०-६१	१४७
१९७	१६-०२-१९७९	गाथा-९८-१००, कलश-६२	१६४
१९८	१७-०२-१९७९	गाथा-१००	१८५
१९९	१८-०२-१९७९	गाथा-१००	२०२
२००	१९-०२-१९७९	गाथा-१००	२१८
२०१	२१-०२-१९७९	गाथा-१००	२३३
२०२	२२-०२-१९७९	गाथा-१०१	२४८
२०३	२३-०२-१९७९	गाथा-१०१	२६५
२०४	२४-०२-१९७९	गाथा-१०१	२८२
२०५	२५-०२-१९७९	गाथा-१०२	२९८
२०६	२७-०२-१९७९	गाथा-१०३-१०४	३१५

२०७	२८-०२-१९७९	गाथा-१०५-१०६	३३५
२०८	०१-०३-१९७९	गाथा-१०७-१०८	३५५
२०९	०२-०३-१९७९	गाथा-१०९-११२, कलश-६३	३७६
२१०	०३-०३-१९७९	गाथा-१०९ से ११५	३९८
२११	०४-०३-१९७९	गाथा-११६ से १२०	४१७
२१२	०५-०३-१९७९	गाथा-१२१ से १२५, कलश-६४	४४०
२१३	०७-०३-१९७९	गाथा-१२१ से १२६, कलश-६५	४६४
२१४	०८-०३-१९७९	गाथा-१२६-१२७	४८३
२१५	०९-०३-१९७९	गाथा-१२७ से १२९, कलश-६६	५०२
२१६	१०-०३-१९७९	गाथा-१२८ से १३१, कलश-६७-६८	५२०
२१७	११-०३-१९७९	गाथा-१३२ से १३६	५४२
२१८	१२-०३-१९७९	गाथा-१३७ से १४०	५६४
२१९	१३-०३-१९७९	गाथा-१४१-१४२	५८७
२२०	०७-०५-१९७९	गाथा-१४२, कलश - ६९	६०६
२२१	०८-०५-१९७९	कलश - ६९ से ९१	६२३
२२२	०९-०५-१९७९	गाथा-१४३	६५०
२२३	१०-०५-१९७९	गाथा-१४४, कलश - ९२	६६६
२२४	१२-०५-१९७९	गाथा-१४४, कलश - ९३-९४	६८३
२२५	१३-०५-१९७९	कलश - ९४-९५	६९९
२२६	१४-०५-१९७९	कलश - ९५ से ९७	७१३
२२७	१५-०५-१९७९	कलश - ९८ - ९९	७३०
२२८	१६-०५-१९७९	कलश - ९९ से १०१	७४६

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ५)

—२—

कर्ताकर्म अधिकार

गाथा-९४

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत् -

तिविहो एसुवओगो अप्प-वियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त-भावस्स।।९४।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्म-भावस्य।।९४।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्-चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदम्-पह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरण्येनानुभवना-त्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रान्त्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन

परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्म-भावस्य कर्ता स्यात्।

एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।।९४।।

अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि :-

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप जीवभाव का कर्ता बने।।९४।।

गाथार्थ : [त्रिविधः] तीन प्रकार का [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [अहम् क्रोधः] 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिए [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका : वास्तव में यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, भाव्यभावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का सामान्य अधिकरण से (-मानों उनका एक आधार हो इस प्रकार) अनुभव करने से, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है, ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

इसी प्रकार 'क्रोध' पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप लेना चाहिए; और इस उपदेश से दूसरे भी विचारने चाहिए।

भावार्थ : अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का जो सविकार चैतन्यपरिणाम है, वह अपना और पर का भेद न जानकर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।।९४।।

प्रवचन नं. १८७, गाथा-९४, दिनांक ०५-०२-१९७९, सोमवार, माघ शुक्ल-९

अब ९४ (गाथा)। **अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है।** कर्म अर्थात् राग-द्वेष हों यहाँ; कर्म अर्थात् जड़कर्म बाद में डालेंगे। परन्तु यहाँ तो कर्म अर्थात् पुण्य और पाप का भाव; यह दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, तप का जो विकल्प उठता है, उसे यहाँ राग कहते हैं। उस अज्ञान से राग किस प्रकार उत्पन्न होता है? अर्थात् कर्म शब्द से यहाँ रागरूपी कर्म की बात है। पश्चात् सब बोल लेंगे। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, शरीर, वाणी, मन सब। आहाहा!

शिष्य पूछता है, प्रभु! अज्ञान से राग-द्वेष की क्रिया किस प्रकार उत्पन्न होती है? ऐसी शिष्य की जिज्ञासा है। आहाहा! क्योंकि राग और द्वेष, पुण्य और पाप तो आत्मा की पर्याय में होते हैं। तो वह तो आत्मा का कार्य है, तब तुम कहते हो कि वह अज्ञान से उत्पन्न हुआ राग-द्वेष का कार्य है, तो वह किस प्रकार है? आहाहा! है? शिष्य का प्रश्न है ऊपर, हों! '**कथम ज्ञानातकर्म प्रभवतीति चेत्**' संस्कृत है ऊपर, आहाहा! राग से भिन्न पड़ा भगवान आत्मा, उसे तो राग का कर्म और कर्ता (पना) उत्पन्न नहीं होता, राग का कर्ता और राग मेरा कार्य, यह व्यवहार रत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग पंच महाव्रत आदि का राग बारह व्रत का राग, उस राग का ज्ञानी कर्ता नहीं होता, क्योंकि राग से भिन्न मेरी चीज़ है, वह तो ज्ञान और दर्शन के परिणाम को करे। राग को करे, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

अब ऐसी बात आवे तो विरोध करे या नहीं? जँचे नहीं तो क्या हो? वीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतरागी थे और उन्होंने कहा हुआ धर्म वीतराग परिणाम है, उनका कहा हुआ धर्म वीतराग परिणाम है। राग परिणाम, वह वीतराग धर्म नहीं। आहाहा!

तो कहते हैं कि जिसे शुभ-अशुभराग से... जैसे शीत-उष्ण अवस्था पुद्गल की, वैसे पुण्य-पाप और व्रत-तप का, भक्ति आदि का भाव वह पुद्गल है; मेरा नहीं, मेरा होवे तो पृथक् पड़े नहीं। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी को अपने आनन्द और

ज्ञानस्वभावी प्रभु को राग के विकल्प से भिन्न जानता हुआ, ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम को करता हुआ, वीतरागी परिणति को करता हुआ, आहाहा! वह राग का कर्ता नहीं होता। ऐसा है। हीराभाई! आहाहा!

यह शरीर की क्रिया तो जड़ की है। आहाहा! कहेंगे, ऐसा आगे लेंगे। अभी तो यहाँ राग और द्वेष, पूजा और भक्ति, व्रत और तप को यह करूँ, ऐसा विकल्प उठता है न, वह राग है और वास्तव में वह कर्म का कार्य है। भगवान (आत्मा) द्रव्य शुद्ध चैतन्य प्रभु की खान में कोई राग को उत्पन्न करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ, उसके अतीन्द्रिय आनन्द में ऐसा कोई गुण नहीं कि दुःख को उत्पन्न करे। आहाहा! राग है, वह तो दुःख है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का हो, परन्तु राग दुःख है, तो दुःख है; वह आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका वह कार्य कैसे होगा? आहाहा! वह दुःख है, वह आनन्द का कार्य नहीं। भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय शान्ति और आनन्द का सागर है न, प्रभु! उसके परिणाम तो आनन्द और शान्ति के परिणाम हों, वे भगवान आत्मा के परिणाम कहलाते हैं, परन्तु यह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा का विकल्प है, वह तो राग है। वह राग इसके परिणाम नहीं। आहाहा! राग होता है, उसका यह जानने-देखनेवाला उनका यह है, परन्तु रागरूप होनेवाला (नहीं है)। धर्मी सम्यग्दृष्टि प्रथम श्रेणी का। आहाहा! रागरूप होऊँ, ऐसी वह वस्तु नहीं है। समझ में आया? धीरे से समझना, प्रभु! यह तो मार्ग उथल-पाथल है पूरा।

अब कहते हैं कि यह तो तुमने ज्ञान की बात की, अर्थात् आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है और जो राग की क्रिया से वह भिन्न है, इसलिए धर्मी का कार्य राग नहीं है, परन्तु धर्मी का कार्य तो राग को जानना, ऐसा ज्ञाता-दृष्टा उसका परिणाम है। समझ में आया? ऐसा आपने कहा तो प्रभु! मुझे प्रश्न है कि पुण्य और पाप, व्रत और तप का राग, वह अज्ञान से कैसे उत्पन्न होता है? अज्ञान से वह कार्य किस प्रकार उत्पन्न होता है? आहाहा! अरे, ऐसा समय मिले। आहाहा! मुश्किल-मुश्किल से मनुष्य हुआ है, अनन्त काल में। आहाहा! और इतना क्षयोपशम भी कोई विचार करने का इसे है, उसमें

यह विचार न आवे तो इसने क्या किया ? आहाहा ! अर्थात् ? कि राग के परिणाम से मेरी चीज़ भिन्न है, क्योंकि नव तत्त्व में यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम तो पुण्य हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना के (परिणाम) पाप है, ये दोनों तत्त्व तो भिन्न है। अजीव जो कर्म है, वह भी भिन्न है। आहाहा ! मैं तो ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप, वह मेरा स्वरूप है। आहाहा ! ऐसे धर्मी को, राग और पुण्य के परिणाम का कर्तृत्व उसे नहीं होता।

तब शिष्य पूछता है कि ज्ञान के भान से तो राग का कर्तृत्व खड़ा नहीं होता, तो अज्ञान से किस प्रकार वह राग उत्पन्न होता है ? समझ में आया ? यह किस प्रकार का उपदेश यह ! वह तो व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो। वर्षीतप करते हैं बेचारी महिलायें सर्वत्र, लाखोंपति के लड़कों की बहुएँ, पाँच, दस-दस करोड़पति की, वर्षीतप करे, तो कहते हैं कि वह तो राग मन्द हो कदाचित् तो वह पुद्गल का कार्य है, तेरा नहीं, ले ! पुरुष में थोड़ा करे, महिलाओं में बहुत करे। आहाहा ! प्रभु यह तो आपने कहा कि यह सब जो राग की वृत्तियाँ उठती हैं, उनसे धर्मी जीव तो भिन्न अपने परिणाम को करता है, उस राग के परिणाम को वह नहीं करता। आहाहा ! भगवान की खान में उस राग को उत्पन्न करे, ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए जिसे आत्मज्ञान और आत्मधर्म हुआ, वह तो राग का कर्ता और राग कार्य, ऐसा नहीं होता। समझ में आया ? आहाहा !

अब पूछता है कि इस अज्ञान से राग की उत्पत्ति, विकार की (उत्पत्ति) किस प्रकार है ? आहाहा ! इस अज्ञान से यह राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प-राग, वह अज्ञान से राग का करना, कर्म किस प्रकार उत्पन्न होता है, उसका उत्तर है। आहाहा ! यह तो भगवान वीतराग का मार्ग, बापू ! आहाहा ! अरे रे ! लोगों ने तहस-नहस कर दिया और स्वयं धर्मी हैं, ऐसा मानकर बैठे हैं। आहाहा ! गाथा ९४

तिविहो एसुवओगो अप्प-वियप्पं करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त-भावस्स।।९४।।

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप जीवभाव का कर्ता बने।।९४।।

आहाहा! वापस जीव, मानता है न इसलिए... आहाहा!

टीका :- ९४ की टीका। **वास्तव में....** है न टीका? **वास्तव में....** तो ऐसा है कि **यह सामान्यतया अज्ञानरूप... अज्ञानरूप जो....** भगवान आत्मा के अज्ञान और मिथ्या (दर्शन) और अविरतपना, एक अज्ञान के तीन प्रकार। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु का जिसे ज्ञान नहीं, उसके अज्ञान में, उसके अज्ञान से उत्पन्न हुए तीन भाव— मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और अविरतिपरिणाम। है? **वास्तव में यह सामान्यतया...** संक्षेप में कहें तो **अज्ञानरूप जो....** यह अज्ञानरूप ऐसी मिथ्याश्रद्धा, आहाहा! यह राग है, वह मेरा है, यह मिथ्याश्रद्धा अज्ञानरूप है, उस अज्ञान के तीन प्रकार हैं। आहाहा!

स्वरूप चैतन्य भगवान पूर्णानन्द और पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर नाथ (निजात्मा), उसके अज्ञान के कारण, आहाहा! उसके स्वरूप के भान बिना, अज्ञानरूप ऐसा, **अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन....** मिथ्याश्रद्धा। यह राग, वह धर्म है और राग, वह मेरा है, ऐसा **अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन....** आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई! वीतरागमार्ग में राग है, वह आत्मा का नहीं। आहाहा! जो अज्ञानरूप ऐसी मिथ्याश्रद्धा; राग मेरा है और राग मेरा कर्तव्य है—ऐसी अज्ञानरूप मिथ्याश्रद्धा, अज्ञानरूप **अज्ञान....** आहाहा! और राग को जानने में ही रुक गया, अपना स्वरूप भिन्न है, उसे न जानकर; अज्ञानरूपी अज्ञान, राग यह उसे जानने में रुका। यह मेरा है और **अविरतिरूप....** उस राग में रुक गया, वह अविरति है। आहाहा! उस अविरति का परिणाम अज्ञानरूप है।

यह तो अध्यात्म की टीका है। तीन लोक के नाथ वीतराग परमात्मा के मुख से निकली हुई यह बात है, प्रभु! सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। शिष्य का ऐसा प्रश्न था कि प्रभु! आपने ज्ञाता-दृष्टा धर्मी जीव को तो राग-द्वेष, पुण्य-पाप की उत्पत्ति कार्य उसका नहीं, ऐसा आपने कहा, तब अज्ञान से उस राग-द्वेष की उत्पत्ति किस प्रकार है? समझ में आया? तो कहते हैं कि संक्षिप्त में अज्ञानरूप, स्वरूप के अभानरूप, स्वरूप जो आनन्दकन्द प्रभु, उसके अज्ञानरूप एकरूप सामान्य के तीन प्रकार हैं। मिथ्यादर्शन-

यह राग मेरा-ऐसी मिथ्याश्रद्धा वह अज्ञानरूप; राग के ज्ञान में रुक गया वह अज्ञानरूप अज्ञान, और राग में लीन हुआ वह **अविरतिरूप....** आहाहा! अविरति, ये **तीन प्रकार के सविकार चैतन्यपरिणाम हैं...** है ? और भाषा है तो चैतन्य। आहाहा! ये तीन प्रकार के सविकार—विकारसहित, चैतन्य के परिणाम, आहाहा! वे, ये तीन प्रकार के जो चैतन्य के परिणाम, **वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से....** आहाहा! स्वयं भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप तथा राग मलिन और दुःखरूप, यह अपने और पर के अविशेष—दोनों एक हैं, सामान्य हैं, भेद नहीं—ऐसे दर्शन से। आहाहा! यह सविकार परिणाम पर के और अपने। वास्तव में तो ये परिणाम पर हैं और अपना स्वरूप भिन्न है, परन्तु यह पर के और अपने सामान्य दर्शन से, दोनों एक है-ऐसी श्रद्धा से, आहाहा! भाषा! अविशेष दर्शन। अविशेष अर्थात् पृथक् नहीं करता। सामान्यरूप से दो का एकपना है, ऐसा मानता है। आहाहा!

टीका बहुत गम्भीर है। आहाहा! वीतरागी सन्तों की टीका है यह, निमित्त से (कहा जाता है)। टीका तो टीका की है। आहाहा! कहते हैं कि अज्ञानी अपने सविकार चैतन्यपरिणाम, वह (राग) पर है और मेरा स्वरूप भिन्न है, ऐसा न मानकर, पर के और अपने सामान्य दर्शन से, वह राग और आत्मा दो का एक (पना) है, ऐसी श्रद्धा से, आहाहा! भारी कठिन काम। यह राग और आत्मा के **अविशेष ज्ञान से....** एकरूप ज्ञान से, सामान्यज्ञान एकरूप हूँ, ऐसा। राग और मैं दोनों एक हूँ, ऐसे अज्ञान से **और अविशेष रति (लीनता) से....** आहाहा! सामान्य रति अर्थात् राग में रति, राग में प्रेम का रस चढ़ गया। आहाहा! ऐसे सामान्य रति से **समस्त भेद को छिपाकर....** आहाहा! यह विकारी परिणाम और भगवान अविकारी इन दोनों को छुपाकर, ढाँककर, यह मिथ्या अज्ञानरूप, मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और रति—राग में लीनता रति, ऐसा जो विकारभाव और भगवान अन्दर भिन्न भाव, इस भेद को छिपाकर, दो को ढाँककर अज्ञानी। आहाहा! **भाव्यभावकभाव को प्राप्त....** कर्म जो जड़ हैं, वे भावक हैं और वह विकारी परिणाम उसका भाव्य है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

अब वे कहें कि निमित्त से होता है, ऐसा कहे न, यहाँ से। भाई! यहाँ बात दूसरी

है, बापू! यहाँ तो द्रव्य शुद्ध चैतन्य भगवान का जिसे ज्ञान नहीं, इसलिए वह उसके अज्ञान से राग के भाव को अपना माने, अपना जाने, उसमें लीन हो, उसकी यहाँ बात है। आहाहा!

समस्त भेद को छुपाकर.... अर्थात्? कि राग का भाव और भगवान आत्मा का भाव, दो को ढाँककर, आहाहा! **भाव्यभावकभाव को प्राप्त....** आहाहा! भावक ऐसा जो पुद्गलकर्म, उससे भाव्य जो पुण्य और पाप का भाव, ऐसा भाव्यभावक, है? भाव्य अर्थात् विकारी परिणाम, भावक वह कर्मपुद्गल ऐसा जो भाव, उसे **प्राप्त चेतन, अचेतन का सामान्य अधिकरण....** आहाहा! इन पुण्य-पाप का आधार ही मैं हूँ। चेतन और अचेतन का सामान्य आधार। भगवान आनन्द का आधार, उसमें साथ में राग और पुण्य का भी आधार। आहाहा! गजब ऐसी बात! चेतन-अचेतन का एकरूप आधार **(मानो उनका एक आधार हो इस प्रकार...)** इस विकारी परिणाम का आधार मैं, और कर्म दो होकर उसका आधार हो, अथवा उस विकारी परिणाम का मैं ही आधार हूँ, ऐसा मानकर अज्ञानी, आहाहा! है?

चेतन, अचेतन का एक अधिकरण, सामान्य अर्थात् आधार, **उनका एक आधार हो, इस प्रकार अनुभव करने से....** आहाहा! भावक जो कर्म पुद्गल है, उसका भाव्य वह मेरा है, ऐसा अनुभव करने से। है वास्तव में तो भावक कर्म, उसका यह विकारी भावकभाव्य, परन्तु उसका आधार मैं हूँ, ऐसा मानकर, आहाहा! अज्ञानी सामान्य, उसका आधार को अनुभव करने से **मैं क्रोध हूँ....** अर्थात्? कि जो भगवान आत्मा शान्त और अविकारीस्वरूप है, उसके अज्ञान के कारण, कर्म के भावक से हुआ विकार क्रोध, वह मैं हूँ, अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह मैं हूँ, इस प्रकार अज्ञानी क्रोध मैं हूँ, ऐसा मानता है, वह अज्ञानी का कर्म अज्ञान से उत्पन्न होता है। आहाहा! कठिन काम है। आहाहा!

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा, यह वीतरागभाव से बात करते हैं। प्रभु! तेरा स्वरूप वीतराग, द्रव्य वीतराग, गुण वीतराग और उसकी पर्याय हो, वह वीतराग, वह उसका कार्य है। आहाहा! ऐसा न जानकर चैतन्य के विकारी परिणाम का भी मैं आधार हूँ,

ऐसा मानकर, उस विकार के परिणाम स्वरूप से विरुद्ध हैं, उन्हें यहाँ क्रोध कहा है। आहाहा! उसे स्वभाव के प्रति अरुचि हुई है और राग के प्रति प्रेम हुआ है, इसलिए उसे क्रोधी कहा जाता है।

अरे, भगवान! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञदेव का विरह पड़ा, परन्तु वाणी रह गयी है। समयप्राभृत कहते हैं न इसे? समय की भेंट रह गयी। आहाहा!

अन्तिम गाथा है न, भाई! समयसार भेंट दिया। इस आत्मा में, भाई! जो यह तू है न, भाई! प्रभु! तू तो वीतरागी मूर्ति है न, नाथ! मैं वीतराग हुआ, वह कहाँ से हुआ? यह वीतरागस्वरूप ही है प्रभु! उसमें से वीतरागता सर्वज्ञता परमात्मा को हुई। तो तू वीतरागी स्वरूप है न, प्रभु! उस वीतरागी स्वरूप के परिणाम तो वीतरागी होंगे। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है सच्चा, वे तो वीतरागी परिणाम हैं। आहाहा! परन्तु उसके भान बिना, जिनस्वरूपी भगवान आत्मा के अज्ञान के कारण कर्म के भावक से हुआ विकारी भाव, पुण्य-पाप, उस भाव्य का आधार, वह मैं हूँ, आहाहा!—ऐसा मानकर अज्ञानी, क्रोध अर्थात् स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह मैं हूँ, ऐसा वह अज्ञानी मानता है। अरे! ऐसी बाते! समझ में आया?

प्रभु आत्मा तो शान्त वीतरागी मूर्ति प्रभु है। आत्मा सदा जिनस्वरूप ही है अनादि, स्वभाव, हों! उस स्वभाव का कार्य है, वह तो वीतरागी परिणाम आवे। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वे द्रव्य के आश्रय से कहो, परन्तु वे वीतरागी परिणाम आवे, आहाहा! वह वीतरागी परिणाम, वह ज्ञानी का कार्य और ज्ञानी कर्ता है। इसे भूलकर, अज्ञानी, वीतरागी मूर्ति भगवान परमानन्द का सागर को भूलकर, उसके अज्ञान से राग के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को अपना मानकर, वह कर्म भावक का भाव्य, (कर्म) का भाव्य है, उसके बदले मेरा कार्य है, (ऐसा मानता है)। आहाहा!

गाथा बहुत ऊँची आयी है। हीरालालभाई! बहुत अलौकिक बातें हैं, बापू! क्या करें? वीतराग तीन लोक का नाथ, जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं, आहाहा! सन्त आढ़तिया होकर, प्रभु कहते हैं, वैसा कहते हैं, उसे समाज मानेगी या नहीं, समाज में विसमभाव होगा या नहीं? इसकी उन्हें दरकार नहीं है। मार्ग ऐसा है। मानों, न मानो। समतौल रहो,

न रहो। आहाहा! जिसने वीतरागी प्रभु को पहिचाना हो, जाना हो, उसके परिणाम राग और पुण्य-पाप के उसके परिणाम उसका कार्य नहीं होता। आहाहा! कहो, पण्डितजी! ऐसी बात है। इसमें कहीं पण्डिताई और संस्कृत-व्याकरण की कुछ आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्यों पण्डितजी! संस्कृत में प्रोफेसर है, परन्तु नरम व्यक्ति है न! आ गये, झुक गये। ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा! न्याय से तो कहा जाता है प्रभु! आहाहा!

क्या कहा? कि वास्तव में तो कर्म के आधार से पुण्य-पाप का भाव्य होता है। उसके बदले अज्ञानी स्वरूप का अनजान, उस विकार का भाव्य का मैं आधार हूँ। आहाहा! चिमनभाई! ऐसा मुम्बई में सूक्ष्म पड़ता है। आहाहा! प्रभु! अनन्त आनन्द का सागर है न अन्दर! आहाहा! अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द, यह इन्द्रिय में सुख माना, वह तो कल्पना का दुःख है। वह दुःख की दशा कोई (आत्मा) करे, ऐसा कोई गुण नहीं है, उसमें तो आनन्द गुण है। आहाहा! ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के गुण से भरपूर भगवान के अज्ञान के कारण, आहाहा! यह पुण्य और पाप के राग के भाव को, मेरे आधार से हुए हैं - ऐसा अज्ञानी मानता है। प्रभु! तू तो आनन्द और ज्ञान है न, तेरे आधार से यह कैसे हो? समझ में आया? आहा!

भगवान विराजते हैं देह में प्रभु सब, इस शेष शरीर-बरीर को न देखो, वह तो जड़, मिट्टी, धूल है। कर्म को न देखो, वह अजीव भिन्न है। यह अन्दर पुण्य-पाप के भाव को न देखो, वह विकारी परिणाम इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! परन्तु इस आत्मा के स्वरूप के अजान जीव अनादि से, आहाहा! भगवान स्वयं अन्दर विराजता है, जिनस्वरूपी आत्मा, उसका ज्ञान न करके, उसका लक्ष्य न करके, उसका ध्यान न करके, ऐसे शुद्धस्वरूप के अज्ञान से यह शुभ-अशुभराग का काम, इसका मैं आधार हूँ, ऐसा मानकर.... आहाहा! इस क्रोध का कर्ता होता है और क्रोध मेरा कार्य है, ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसी बातें एक-एक में अन्तर है।

वह तो कहे, भगवान ने ऐसा किया, भगवान ने ऐसा किया। क्या नहीं वह स्तुति में आता? स्तुति आती है न पहली? पाँच-दस मिनिट स्तुति बोलते हैं। 'मा हणो, मा हणो' जीव को, ऐसा भगवान का उपदेश स्तुति में पहले बोले और फिर व्याख्यान शुरु

करे। हम भी पहले करते थे न! आहाहा! अरे रे! कौन मारे और कौन जिलाये पर को? और उन लोगों में फिर यह शब्द निकाला है अभी अंग्रेजी का, 'जीओ और जीने दो'। जीओ (और) जीने दो। अरे! कौन जीने दे? अरे भगवान! आहाहा! तेरा जीवन जीने दे, वह तो प्रभु जीवत्वशक्ति का कार्य है। आनन्द और शान्ति के परिणाम हों, वह जीव का जीवनकार्य है। 'इस जीव से जीओ' आहाहा! और जिसने राग पुण्य और पाप के भाव को अपना माना है, उसने अपने जीवन को मार डाला। अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति और अनन्त प्रभुता, इससे भरपूर भगवान आत्मा को राग का कार्य आधार मैं हूँ, ऐसा माननेवाले ऐसे जीवत्व की शक्ति को उसने घात डाला है। आहाहा! यह किस प्रकार का? बापू! सब खबर है भाई दुनिया की! आहाहा! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है और वह वीतराग के अतिरिक्त कहीं किसी अन्यमत में यह बात कहीं है ही नहीं। आहाहा! अभी तो सम्प्रदाय में यह बात रही नहीं, तो अन्य में तो कहाँ होगी! आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है।

कहते हैं कि चेतन और अचेतन का। यह, वास्तव में तो रागादि अचेतन है। वह मानो चेतन उनका आधार हो! आहाहा! समझ में आया? आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप के वीतरागी परिणाम हों, उनका आधार भगवान आत्मा है, परन्तु उसे ऐसा न मानकर, उस राग के परिणाम का वास्तविक आधार तो अचेतन है। उस राग के परिणाम का मैं आधार हूँ, ऐसा मानकर, आहाहा! राग का अभिमान करता है, वह स्वभाव के प्रति क्रोध करता है। आहाहा! दया के परिणाम हैं, वह राग है, वह कर्म-भावक का भाव्य है; भगवान आत्मा का वह भाव्य नहीं, तथापि अज्ञानरूप से उस भावक का भाव्य, वह मैं हूँ अर्थात् कि विकारी परिणाम, वह मैं हूँ अर्थात् कि स्वभाव के प्रति का विरोध करके, क्रोध वह मैं हूँ। यहाँ राग को क्रोध गिना है। आहाहा! प्रभु! भाषा तो सादी है, भाव तो बहुत गम्भीर है। आहाहा! अरे रे! वीतरागमार्ग में जन्मकर, जैन में जन्मकर जैन का क्या स्वरूप है, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! कहो रसिकभाई! ऐसी बातें हैं।

आत्मा तो वीतरागस्वभाव का पिण्ड है। जिन कहो या वीतराग कहो। उसमें राग का मैं आधार हूँ, यह वीतरागस्वभाव के अज्ञान के कारण। आहाहा! जिनस्वरूपी प्रभु!

अनन्त-अनन्त वीतरागी शक्ति का पिण्ड प्रभु है। अन्तर में ज्ञान भी वीतरागी, दर्शन वीतरागी, शान्ति वीतरागी, स्वच्छता वीतरागी, अनन्त शक्तियाँ जो गुण हैं, वे सब वीतरागी स्वभाव हैं, वे सब। आहा! ऐसे भगवान के स्वभाव को न जानता हुआ, उसके अज्ञान के कारण, उसका अनादर करके, कर्म के निमित्त से भावक से होता विकारी भाव / राग, उस भाव्य का आधार मैं हूँ, ऐसा मानकर स्वभाव के प्रति विरोध और क्रोध करता है। आहाहा! समझ में आया? है? आहाहा! उसका अनुभव करने से राग है, वह मैं और राग का आधार, वह मैं हूँ, इस प्रकार राग का अनुभव करने से, **मैं क्रोध हूँ....** आहाहा! क्रोध और मान, ये द्वेष के दो भाग हैं और राग के दो भाग माया और लोभ हैं। क्या कहा? द्वेष है, उसके दो भाग—क्रोध और मान; राग के दो भाग—माया और लोभ। यहाँ कहते हैं कि क्रोध द्वेष का भाग है, अर्थात् आत्मा जो शुद्ध चिदानन्द प्रभु है, उसके अज्ञान के कारण, उसे आत्मा के प्रति द्वेष का भाव उत्पन्न हुआ। आहाहा!

आनन्दघनजी में यह कहा है न? 'द्वेष अरोचकभाव'। शुद्ध चैतन्यघन भगवान पूर्णानन्द से भरपूर, पूर्ण ज्ञान से भरपूर, पूर्ण वीतराग से भरपूर, पूर्ण स्वच्छता से, प्रभुता से भरपूर भगवान की अरुचि, वह द्वेष है। बात में बहुत अन्तर, हों! बाबूभाई! है, भाई! मार्ग तो यह है, बापू! आहाहा! क्या इनकी शैली! क्या सन्तों की कथनी की सरलता की वीतरागता से विरुद्ध भाव, उसे किस प्रकार वर्णन किया, चित्रित किया। आहाहा!

मैं क्रोध हूँ, ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है.... देखो! वापस ऐसा अपना, यह मानो मैं हूँ, ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि जीव, अज्ञानी जीव कहो या मिथ्यादृष्टि कहो, भगवान पूर्णानन्द के नाथ को (निजात्मा को) नहीं जानता हुआ, उसके ऊपर पर्दा अज्ञान से मारता हुआ, आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध आदि के भाव, वह कर्म का भाव है, कर्म के आधार से हुए हैं। उसके बदले अज्ञानी कहता है कि वे मेरे आधार से हुए हैं, ऐसा मानकर वह क्रोध का विकल्प करता है कि मैं क्रोध हूँ। आहाहा! नया व्यक्ति एकदम अनजाना हो और सम्प्रदाय का आग्रही हो, अब यह क्या लगायी है, भगवान!

मुमुक्षु : धर्म करने की रीति ही आपने बदल डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : बदल डाली। देखो न! न्याय से तुलना करोगे या नहीं? बनिये व्यापार करे, वहाँ बहियाँ जाँचते हैं या नहीं कि अपने कितना लेना-देना, कितनी गत वर्ष आमदनी थी, उसमें यह कितने पैसे बढ़े? या कितना नुकसान हो गया? इसका मिलान करते नहीं दशहरा के दिन, दीवाली के (दिन)? उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि नुकसान का धन्धा करे और माने लाभ का, उस विकारी परिणाम का आधार मैं, यह नुकसान का धन्धा है। मिथ्यादृष्टि उस क्रोध और विकार को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? कहो, हीरालालभाई! ऐसी बात आ गयी ठीक सी। बराबर आये और ठीक हुआ यह। आहाहा! यह तो (हाथ का) टुकड़ा तो नहीं परन्तु पूरा शरीर जीव का नहीं है, ऐसा कहते हैं। वह तो नहीं, परन्तु अन्दर राग होता है, वह भी जीव का नहीं। आहाहा! प्रभु! तेरे जन्म-मरण के रास्ते छोड़ना कोई अलौकिक है। आहाहा! वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ का यह पुकार है, दिव्यध्वनि का पुकार है प्रभु का। प्रभु! तू तो पूर्णानन्द का नाथ वीतरागस्वरूपी है न! ऐसे स्वभाव के अज्ञान के कारण, उससे विरुद्ध जो रागादि भाव, वह मेरा है-ऐसा तू विकल्प करता है, प्रभु! तू मिथ्याश्रद्धा में दौड़ गया है। आहाहा! प्रभु! तू दुःख के पन्थ में दौड़ गया है। समझ में आया?

आनन्द का कन्द प्रभु अन्दर में है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर में जाना चाहिए और आनन्द की दशा प्रगट होना चाहिए, वह सुख का पन्थ है। उसे भूलकर यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव राग, उसका मैं आधार और वह मेरा कार्य, प्रभु! तू दुःख के पन्थ में दौड़ गया। चेतनजी! ऐसा है। मानो, न मानो दुनिया। उसे कोई सत् को संख्या की आवश्यकता नहीं कि अधिक माने तो सत् सच्चा है, ऐसा कुछ है? बाबूभाई! बाबूभाई बराबर ठीक मौके से आये हैं। ऐसा है, बापू! आहाहा!

प्रभु एक बार सुन तो सही, वीतराग के वयण तो सुन, कहते हैं। आहाहा! वीतराग ऐसा कहते हैं कि तू यह राग होता है, वह मेरे आधार से होता है, तो वह तेरे आत्मा के स्वभाव को विकारी माना, और उसका स्वभाव तो निर्विकारी पवित्र है, प्रभु का स्वभाव तो। आहाहा!

ऐसे विकारी परिणाम का मैं आधार हूँ। आहाहा! ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है,

विकल्पवृत्ति मिथ्याश्रद्धा की उत्पन्न करता है। **इसलिए मैं क्रोध हूँ, ऐसी भ्रान्ति के कारण....** इसलिए मैं राग का प्रेमी हूँ, स्वभाव का प्रेमी नहीं। आहाहा! **ऐसी भ्रान्ति के कारण सविकार....** परिणाम, **ऐसे चैतन्य परिणाम में परिणमता हुआ....** आहाहा! वापस लिये इसके परिणाम। माना है न इसने? **ऐसे चैतन्य परिणाम से परिणमता हुआ।** आहाहा! विकारी परिणाम को चैतन्य के हैं, ऐसा मानकर परिणमता हुआ, आहाहा! क्या गजब टीका है! एक गाथा में चौदह पूर्व, बारह अंग का सार भर देते हैं। यह सन्तों की शैली तो देखो! **सविकार चैतन्य परिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।** समझ में आया? चैतन्य परिणाम से परिणमता हुआ अर्थात् कि विकार मेरा है, ऐसा परिणमता हुआ, उस **चैतन्य परिणाम से परिणमता हुआ यह आत्मा सविकार चैतन्य परिणामरूप अपने भाव का...** अज्ञानी **कर्ता होता है।** विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८८, गाथा-९४-९५, दिनांक ०६-०२-१९७९, मंगवार, माघ शुक्ल-१०

समयसार, ९४ गाथा। **वास्तव में यह सामान्यतया अज्ञानरूप....** आत्मा का स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उसके भान बिना अज्ञानरूप **मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है....** मिथ्या श्रद्धा—राग, वह मेरा राग है। पुण्य है, वह धर्म है—ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, स्वरूप के अज्ञान के कारण उस मिथ्याश्रद्धा को करता है। मिथ्याज्ञान और अविरति, यह तीन प्रकार का सविकार चैतन्य परिणाम। है चैतन्य का परिणाम परन्तु सविकार है। विपरीत—स्वभाव से विरुद्ध ऐसे सविकार परिणाम, **वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से....** स्वयं आनन्द और ज्ञानस्वरूप है और यह रागादि विकार वह दुःखरूप है। दो का एकरूप मानने से अविशेष अर्थात् दो का सामान्य मानने से, आहाहा! सूक्ष्म बहुत, अविशेष दर्शन से, आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु और यह राग और पुण्य-पाप के भाव - ये विकारपरिणाम इन दो की भिन्नता को न जानता, दो का सामान्यरूप दोनों, वे एक हैं, ऐसा सामान्यरूप से देखता हुआ, सामान्यरूप से ज्ञान से जानता हुआ और सामान्यरूप से रति से उस राग में लीनता करता हुआ स्वभाव का अज्ञान है, इसलिए राग में लीनता करता हुआ **समस्त भेद को छिपाकर....** आहाहा! चैतन्य भगवान आनन्द और ज्ञानमूर्ति और रागादि विकार दोनों को भेद है, उसे छिपाकर, दोनों भिन्न हैं उसे ढाँककर। आहाहा!

भाव्यभावकभाव को प्राप्त... अर्थात् कि कर्म है जड़, वह भावक है—भाव का करनेवाला और विकारी परिणाम उस भावक का भाव्य है। बहुत सूक्ष्म है, भाई! कर्म, वह भावक है, भाव का करनेवाला; उसका भाव्य पुण्य-पाप के भाव, वह उसका भावक का भाव्य है। आहाहा! उस **भाव्यभावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का....** चेतन ज्ञानस्वरूप और राग-द्वेष आदि, पुण्य-पाप वे अचेतनस्वरूप, 'दो' का सामान्य अधिकरण 'दो' का आधार वह मैं हूँ। आहाहा! यह पुण्य और पाप के भाव उनका मैं आधार हूँ। मुझसे हुए हैं, ऐसा अज्ञानी को विकार और अविकारी भगवान भेदज्ञान के अभाव से 'दो' का आधार मैं हूँ, ऐसा जानकर, आहाहा! सूक्ष्म बात आयी

है। **अधिकरण से...** जानता है। **(मानो उनका एक आधार हो इस प्रकार...)** उस विकार का मैं ही आधार होऊँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव वह विकार है और भगवान आत्मा तो अविकारी चैतन्य शुद्ध है। दो की भिन्नता को न जानता हुआ इस राग और विकार का आधार मैं हूँ। है ? मानो कि उनका एक आधार मैं हूँ। मैं ही उस विकार का आधार हूँ, ऐसा अज्ञानी अनादि से विकार को **अनुभव करने से....** वह विकार है पुण्य-पाप का भाव, उसका अनुभव करने से **मैं क्रोध हूँ, ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है।** अर्थात् ? कि चैतन्य ज्ञायक आनन्दस्वभाव से विरुद्धभाव जो राग, उसे यहाँ क्रोध कहा है, क्योंकि स्वभाव की रुचि से विरुद्ध है। अरुचि, स्वभाव की अरुचि है और राग की रुचि है, इसलिए उसे क्रोध कहा है। आहाहा! ऐसी बात है। क्या कहा यह ?

मुमुक्षु : फरमाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान आत्मा चैतन्य आनन्द वीतरागमूर्ति, उससे विरुद्ध जो राग चाहे तो दया, दान का हो या व्रत, तप, आदि का हो, परन्तु राग की जिसे रुचि है, उसे स्वभाव की अरुचि, स्वभाव के प्रति उसे क्रोध है। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब। उसे क्रोध मैं हूँ, ऐसा मानता है। अर्थात् ? कि भगवान चैतन्यस्वभाव नित्यानन्द प्रभु की रुचि छोड़कर, जिसे राग की रुचि है, उसे स्वभाव के प्रति अरुचि है; इसलिए उसे स्वभाव से विरुद्ध ऐसा राग उसे यहाँ क्रोध कहा जाता है। शशीभाई! ऐसा है, बापू! बहुत.... आहाहा! 'मैं क्रोध हूँ' अर्थात् कि मैं आत्मा आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ, उसे भूलकर आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का भाव, उस राग की जिसे रुचि है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध है, इसलिए वह क्रोध मैं हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! समझ में आया ? भाषा तो सादी है, प्रभु! मार्ग तो कोई... आहाहा!

ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है.... ऐसा स्वयं शुद्ध चैतन्यघन आनन्द होने पर भी, उसकी रुचि और आश्रय नहीं है; इसलिए उस राग की रुचि और विकल्प करता है कि यह राग मेरा है। आहाहा! ऐसा समझना, सुनना कठिन पड़ता है। मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : इतनी प्रतिकूलता आवे तो भी समताभाव रखे....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन ? यहाँ तो अज्ञान की बात है न ? अज्ञान की यहाँ तो बात है। अज्ञान में चैतन्य ज्ञायक चैतन्यस्वरूप और उससे विरुद्ध भाव जो राग उसकी जिसे रुचि है, उसे ज्ञायकभाव के प्रति अरुचि है, उसे यहाँ क्रोध कहा जाता है। यहाँ ज्ञानी की बात नहीं है।

मुमुक्षु : द्रव्यलिंगी मुनि क्षमा करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यलिंगी क्षमा करता ही नहीं, उसे राग आता है, उसका प्रेम है, इसलिए वह जीव के प्रति क्रोधी है। कठिन बात है। आहाहा! भाई!

भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, वह ज्ञायकस्वरूप जानन-देखन स्वभावस्वरूप प्रभु की राग से भिन्न पड़कर रुचि नहीं, उसका ज्ञान नहीं। इसलिए उस राग को और आत्मा को दो को एक मानकर मैं क्रोधी हूँ अर्थात् मैं विकार करनेवाला हूँ। मेरा स्वभाव है, उससे विरुद्ध भाव वही मैं हूँ, ऐसा माननेवाला स्वभाव के प्रति अनादर करके और विकार का कर्ता और क्रोध हूँ, ऐसा मानता है। ऐसी बात है, प्रभु! मुश्किल से पूरी... ऐसा अपना आत्मविकल्प करता है, **इसलिए मैं क्रोध हूँ....** यहाँ तक तो आया था। आहाहा! मैं आनन्द हूँ, ज्ञायक हूँ, वस्तु भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, उसकी दृष्टि के अभाव में, उसके अवलम्बन के अभाव में, उसका-स्वभाव का स्वीकार नहीं और अस्वीकार के कारण उसे जो स्वभाव से विरुद्ध राग, वह मैं हूँ, यह **मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्ति के कारण....** भ्रान्ति के कारण; भगवान आत्मा क्रोध है नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

मैं क्रोध हूँ, ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्य परिणामरूप परिणमित होता हुआ.... देखा है तो वापस उसका, सविकार परिणाम मेरा, ऐसा मानता है न ? इसलिए **चैतन्य परिणामरूप परिणमित होता हुआ...** ऐसा। यह विकारी परिणाम चैतन्य के हैं - ऐसे चैतन्य परिणाम से परिणमता हुआ। ऐसा है अब यह वाँचना कठिन पड़े। **यह आत्मा उस सविकार चैतन्य परिणामरूप....** यह आत्मा, वह विकार जो है पुण्य-पाप का भाव, ऐसे चैतन्य परिणाम **अपने भाव का कर्ता होता**

है। अज्ञानी उस विकार परिणाम का कर्ता होता है। कहो, चिमनभाई! कहो, समझ में आता हैं न इसमें? अब ऐसा उपदेश, अब ऐसी किस प्रकार की यह बात! बापू! यह भगवान के घर की बातें ऐसी है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो चैतन्यबिम्ब, जिनबिम्ब वीतरागमूर्ति प्रभु है, अभी, हों! उसका जिसने राग से यह वीतरागस्वभाव भिन्न है, ऐसा जिसे ज्ञान नहीं, वह अज्ञानी उस राग के परिणाम को वीतरागस्वभाव है, उसके ऊपर दृष्टि नहीं - वीतरागपना है मेरा, यह उसे खबर नहीं; इसलिए वह वीतरागस्वभाव से विरुद्ध राग, वह मेरा परिणाम है चैतन्य का। ऐसा करके चैतन्य परिणाम का अर्थात् विकार का कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें!

वह **सविकार चैतन्य परिणामरूप....** वापस इसने माना है न कि यह विकार परिणाम मेरे हैं, इसलिए विकार **चैतन्य परिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है....** वह विकारी परिणाम मेरे हैं, वह चैतन्य का परिणमन है, ऐसा मानकर उस भाव का— विकार का कर्ता होता है। बहुत सूक्ष्म बात, गाथा, भाई! हीरालालजी! ऐसी बात है। अरे रे! कहाँ दुनिया!

इसी प्रकार 'क्रोध' पद को बदलकर मान.... मैं हूँ। मैं मान, मैं मान हूँ, मैं मानी हूँ। प्रभु आत्मा तो मान से भिन्न है, उसकी जिसे खबर नहीं, उसे कर्म के भावक का भाव्य जो अपनी परिणति, आहाहा! उसमें यह 'मैं मान हूँ', ऐसा वह मानता है। मैं क्रोध हूँ, ऐसा माना, ऐसे मैं मान हूँ, ऐसा माना, अज्ञानभाव से मिथ्यादृष्टि (ने माना)। आहाहा! मैं पैसेवाला हूँ, ऐसा वह कब मानेगा? यह आयेगा, आगे अभी सोलह बोल आते हैं न? आहाहा! मैं मान हूँ, मैं **माया...** हूँ। कपट, क्योंकि वस्तु जो है, वह विकारी परिणाम से भिन्न भगवान है, उसकी इसे खबर नहीं अज्ञानी को मिथ्यादृष्टि को; इसलिए वह माया के परिणाम चैतन्य के परिणाम हैं, इसलिए मैं माया हूँ, ऐसा वह मानता है। शशीभाई! ऐसा है। भाषा तो सादी परन्तु भाव तो भाई जो है, वह है। आहाहा! **लोभ...** हूँ। लोभ होता है न? चैतन्य के परिणाम में भावककर्म है, उसका वह भाव्य है, तथापि चैतन्य की खबर नहीं, इसलिए वे परिणाम मेरे हैं—ऐसा मानकर मैं लोभ हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! मैं निर्लोभ आनन्दकन्द प्रभु मैं हूँ, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा!

क्रोध से रहित आनन्दकन्द क्षमास्वरूप का पिण्ड प्रभु है, उसकी खबर नहीं, इसलिए वह क्रोध के परिणामरूप परिणमता हुआ क्रोध मैं हूँ, ऐसे मान से भिन्न भगवान निर्मान आनन्दकन्द है, उसकी खबर नहीं, इससे उसके विरुद्ध का मान जो वास्तव में तो कर्म का—भावक का भाव्य है, परन्तु वह चैतन्य के परिणाम हैं, ऐसा मानकर 'मैं मान हूँ', ऐसा मानता है। आहाहा! कहो मंगलभाई! ऐसा सूक्ष्म है। ऐसे **लोभ,...** ऐसे **मोह...** यहाँ भाई! यह मोह है, वह मिथ्यात्व, आया है यहाँ तो। ज्ञानी को जो मोह आता है, वह चारित्रमोह है, यह मिथ्यात्व है। क्या कहलाता है? आहाहा! जो कोई रागादि हुआ, वह मेरा है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, जो चैतन्य के स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह मोह मिथ्यात्व, वह मैं हूँ - ऐसा वह मानता है, यह चैतन्य के परिणाम में मिथ्याश्रद्धा मोह, वह मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। समझ में आया? ऐसा मार्ग अब... मैं मोह हूँ। मैं **राग....** हूँ। दया, दान का उत्पन्न हुआ भाव, राग उस राग से भगवान भिन्न है, उसका भान नहीं; इसलिए 'दो' को 'एक' मानकर, चैतन्यस्वभाव और राग, 'दो' को 'एक' मानकर राग का आधार उत्पन्न करनेवाला मैं हूँ, इसलिए मैं राग हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

मैं **द्वेष....** हूँ। अरुचि जो अन्दर उत्पन्न हो, उससे प्रभु भिन्न है। चैतन्य भगवान ज्ञायकभाव की भिन्नता का अज्ञानी को भान नहीं, इसलिए वह अज्ञानी कर्म के भावकरूपी भाव्य द्वेष के परिणाम से परिणमता हुआ चैतन्य का वह परिणाम है, ऐसा परिणमता हुआ वह 'मैं द्वेष हूँ', ऐसा वह मानता है। आहाहा! इतनी शर्तें डालकर बात चलती है। पण्डितजी! मैं **कर्म....** हूँ। अब आया जड़। यह तो विकारी परिणाम थे। मैं आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी जिसे खबर नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व है, ऐसा कहीं मानना तो पड़ेगा। ऐसा जो सच्चिदानन्द प्रभु अस्तिरूप है, उस अस्तित्व की उसे खबर नहीं है, इसलिए वह कर्म मैं हूँ, ऐसा वह मानता है, उसका अस्तित्व वहाँ मानता है। आहाहा! समझ में आया?

कर्म.... कर्म मैं हूँ। यह आठ कर्म, वह मैं हूँ। वे तो अजीव हैं, परन्तु जीव उनसे भिन्न आनन्दस्वरूप प्रभु, उसे खबर नहीं होने से, यह कर्म भी मुझसे उत्पन्न हुआ जड़, कर्म का आधार मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल,

बनिये को निवृत्ति नहीं मिलती। सत्य और असत्य का निर्णय करना। आहाहा! ऐसा समय कब मिले भाई! मुश्किल से मनुष्य हुआ, उसमें भी उसे किंचित् विचारशक्ति भी है, परन्तु वह विचारशक्ति कहाँ लगाना, उसकी खबर नहीं। आहाहा! यह अन्दर राग आदि भाव हों, कर्म, स्वयं अलग चीज़ है, उसकी इसे खबर नहीं, इसलिए उसका अस्तित्व कर्म मैं हूँ, ऐसा वह मानता है। आहाहा! **नोकर्म...** मन, वचन और काया, वह तो बाह्य निमित्त, वह मैं हूँ, वह मैं हूँ। भगवान चिदानन्द ज्ञाता की खबर नहीं, इसलिए वह नोकर्म, यह दूसरी चीज़ें हैं न? स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि सब नोकर्म है, वह मैं हूँ और उनका आधार मैं हूँ। मेरे कारण वे सब टिके हैं। आहाहा! मैं उनका निभाव करता हूँ, स्त्री का, कुटुम्ब-परिवार का। वह सब चीज़ें मेरी हैं। आहाहा! और मेरे आधार से रही है, इसलिए वह मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। समझ में आया? आहाहा!

मन.... यहाँ मन है, जैसे यह वाणी हैं, जैसे यह आँख की कोडी आदि है, वैसे यहाँ मन है। आठ पंखुड़ी का खिला हुआ कमल हो, वैसा अनन्त परमाणु का बना हुआ यहाँ (हृदय के पास) मन है। यह आत्मा विचार करे, तब उसे वह निमित्त है। यह मन है, वह मैं हूँ, क्योंकि मन बिना की चीज़ है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! मन से भिन्न भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, अनाकुल आनन्द का कन्द प्रभु, उसकी जिसे खबर नहीं, उसकी जिसे सावधानी नहीं, उसे ऐसा कहते हैं कि मैं तो यह मन हूँ। आहाहा! मन के कारण मैं रहा हूँ और मन है, वह मेरे आधार से रहा है। यहाँ हृदय में अनन्त रजकण की आठ पंखुड़ियों के आकार कमल जैसा, यहाँ हृदय में (मन है)। विचार में निमित्त है। आहाहा! वह मन मैं हूँ, क्योंकि मन से रहित भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु जिसकी नजर में आया नहीं।

जिसकी पूर्ण अस्ति का स्वीकार नहीं, उसकी अस्ति कहीं तो इसे माननी पड़ेगी। इसलिए कहते हैं कि मैं तो मन हूँ। आहाहा! और मन के परिणाम—मन की दशा का कर्ता मैं हूँ, ऐसा अब सुनना। वह कैसा सरल था भटकने का दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, तप (करो), कुछ समझना, यह दुकान से आवे निवृत्त, इसलिए सीधा-सट्ट था भटकने का।

मुमुक्षु : आपने अकेले ने अलग किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : है या नहीं परन्तु इसमें? मन के परमाणु हैं, उनसे भगवान अन्दर भिन्न है।

चैतन्य ज्योति, महा चैतन्य हीरा, ऐसे हीरा की जिसे मन से कीमत अलग नहीं, वह ऐसा मानता है कि मैं तो मन हूँ। आहाहा! इसी प्रकार मैं वाणी हूँ, **वचन।** यह भाषा मैं हूँ। क्योंकि भाषा से भिन्न जाननेवाला पृथक् है, इसकी खबर नहीं; इसलिए कहीं अपनापन तो मानना पड़ेगा। अस्तिवाली चीज़ प्रभु आनन्द प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा, सिद्धस्वरूपी प्रभु, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', वह सिद्धस्वरूपी प्रभु अन्दर है, उसकी अस्ति-मौजूदगी की खबर नहीं नहीं, इसलिए उसकी मौजूदगी कहीं मानेगा, तो मैं वाणी करता हूँ, वाणी मेरी है, मेरी वाणी बहुत मीठी। आहाहा! प्रभु! वह वाणी तो जड़ है न, प्रभु! वह जड़ तो जड़ से उत्पन्न हुई है। तब यह कहता है कि वाणी मुझसे उत्पन्न हुई है, वाणी मैं आधार हूँ। इसमें से कैसे वाणी निकलती नहीं, इसमें से-कागज में से? घड़ी में से वाणी कैसे नहीं निकलती? इसमें से क्यों नहीं निकलती? वाणी मेरे आधार से निकलती है। इस प्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अनादि से वाणी का आधार मैं और वाणी मैं, ऐसा मानता है। आहाहा!

काया.... यह काया, यह काया / शरीर, वह मैं हूँ, यह शरीर मेरा है। क्योंकि शरीर से भिन्न अशरीरी प्रभु की इसे खबर नहीं, उसका इसे ज्ञान नहीं, उसकी अस्ति कैसी है, इसकी खबर नहीं; इसलिए यह काया मेरी है, ऐसा अज्ञानी शरीर को अपना मानता है। आहाहा! और उस शरीर का आधार मैं हूँ, देखो! यह गला ऐसा है, आत्मा निकल जाये! गला ऐसा हो जाये, इसलिए उसका आधार मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तव में वहाँ गला गले के आधार से यहाँ है; आत्मा के आधार से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : योगीन्दुदेव ने तन मन्दिर में देव कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : देव है, यहाँ भिन्न-पृथक् है, तन से भिन्न परन्तु मन्दिर नहीं, भिन्न। आहाहा! तन मन्दिर में भिन्न, यह तो तन, तन वह मैं, मैं शरीर को हिला सकता हूँ, शरीर से काम ले सकता हूँ, सुविधा से काम लूँ, किसी चीज़ को पकड़ना हो तो मैं ऐसे पकड़ सकूँ, यह छोड़नी हो तो ऐसे छोड़ दूँ, यह शरीर की क्रिया मेरी है—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

यह तो अधिकार आवे तब वर्णन हो न? काया मैं हूँ। **श्रोत्र....** कान, कान। कान मैं हूँ, क्योंकि कान है तो मुझे ज्ञात होता है, शब्द ज्ञात होते हैं। कान है तो शब्द ज्ञात होते हैं, इसलिए कान मैं हूँ। आहाहा! ऐसा है। वह तो जड़ है, कान तो मिट्टी-जड़ है। उससे ज्ञात नहीं होता। 'जाननेवाला जाननेवाले से जानता है' परन्तु उसे ऐसा हो गया कि यह इन्द्रिय से मैं जानता हूँ, यह जड़ नहीं ऐसा कहे, वह तो मेरी इन्द्रिय है। आहाहा! **श्रोत्र।**

चक्षु.... यह आँखें। (आँखें) यह आँख का डेला और यह मैं हूँ, क्योंकि इनके बिना मैं जान सकूँ? उनसे मैं जानता हूँ, इसलिए वह मेरी चीज़ है, ऐसा अज्ञानी मानता है। यह तो मिट्टी है, यह आँख का डेला-डेला वह तो पुद्गल मिट्टी जड़ है। 'जाननेवाला तो अन्दर भिन्न है, वह इनसे नहीं जानता, जाननेवाला ज्ञान से जानता है।' परन्तु इसकी उसे खबर नहीं, इसलिए यह चक्षु, वह मैं हूँ, मेरी आँख बहुत तेजवाली है, मेरी आँख कमजोर पड़ गयी है, ऐसा कहता है। आहाहा! मेरी आँख में क्या कहलाता है वह? मोतिया आता है, मेरी आँख में मोतिया आता है, मेरी आँख एकदम लाल हो गयी है, यह क्रोध आवे न? जरा क्रोध आवे वह, परन्तु वह तो जड़ है। वह एकदम लाल हुई है, वह जड़ हुई है, उसे किया नहीं। आहाहा! आहाहा! परन्तु यह आँख, वह मैं हूँ। इस आँखरहित भगवान अन्दर है चैतन्यस्वरूप, उसकी अस्ति की-मौजूदगी की, अस्ति की खबर नहीं, इसलिए यह आँख वह मैं हूँ, ऐसा वह मानता है। आहाहा! आँख का आधार मैं हूँ, इसलिए आँख है, इस प्रकार आँख को अपनी मानता है।

घ्राण.... नाक, नाक। यह नाक मैं हूँ, क्योंकि नाम द्वारा मैं सुगन्ध ले सकता हूँ, नाक द्वारा दुर्गन्ध ले सकता हूँ, इसलिए यह चीज़ मेरी है, परन्तु भगवान अन्दर जाननेवाला स्वयं भिन्न है, उसकी इसे मिथ्यादर्शन में खबर नहीं। आहाहा! इस कारण ऐसा कहता है कि मैं तो मेरी नाक बहुत तेजवाली है, बहुत दूर से सुगन्ध हो तो भी मैं जान सकता हूँ, सुगन्ध ले सकता हूँ। इस प्रकार नाक को अपना माने, वह तो जड़, मिट्टी, धूल है। भगवान तो अन्दर भिन्न है। ऐसी बातें हैं।

रसन.... यह जीभ-जीभ। जीभ द्वारा मैं खाण्ड, गुड़ चखता हूँ, इसलिए यह जीभ मेरी है, मेरी जीभ बहुत तेजवाली है, एकदम स्वाद को जान सकती है। आहाहा!

खट्टा, खारा क्या है, उसे एकदम ख्याल में ले सकती है। यह जीभ का स्वाद, यह जीभ मेरी है। आहाहा! ऐसा सुनने का। (यह) रसन।

स्पर्श... यह स्पर्श। स्पर्श इन्द्रिय। इस स्पर्श द्वारा मैं विषय ले सकता हूँ, यह स्पर्श मेरी चीज़ है, इसके द्वारा मैं स्पर्श का इन्द्रिय का विषयभोग ले सकता हूँ। आहाहा! परन्तु यह स्पर्श इन्द्रिय जड़ है; भगवान इससे चैतन्यज्योति स्वपरप्रकाशक न्यारा है, उसकी जिसे खबर नहीं, वह स्पर्श के कारण मैं यह ठण्डा, गर्म जान सकता हूँ, यह बर्फ ठण्डा, अग्नि गरम, शरीर कोमल, इसका कर्कश, यह सब इसके कारण जानता हूँ, इसलिए मैं स्पर्श हूँ, ऐसे माननेवाले स्पर्श को अपना मानता है और यह स्पर्श इन्द्रिय जैसे ऐसे हिले, ऐसे हो, तो वह मेरे कारण होती है, उसका आधार मैं हूँ। आहाहा! यह होंठ हिले आदि। इन्द्रिय आदि है, वह कठिन हो, वह सब उसे कठिन मैंने किया है। आहाहा! यह कठिन इन्द्रिय हो, वह तो जड़ की पर्याय से जड़ होता है। उसे मुझसे यह होता है, ऐसा माननेवाले वे स्पर्श को अपना मानते हैं।

यह सूक्ष्म पहेली भाई! भगवान का-जिनेन्द्रदेव केवली परमात्मा की बातें बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा! यह स्पर्श के, **सोलह सूत्र....** कहना। सोलह हुए न? **व्याख्यानरूप से लेना,....** उसे इस प्रकार स्पष्ट करना **और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए।** सोलह तो कहे, परन्तु कोई भी गुणगुणी के भेद का विकल्प उठे राग, वह भी मैं हूँ, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मानता है। आहाहा! इत्यादि-इत्यादि! ऐसा है। अरे! भेद करने का अवसर मिला, प्रभु! उसमें तू एकपना मान बैठकर कहाँ जायेगा भाई! आहाहा! ऐसा मनुष्यपना, भगवान की वाणी, तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि तुझे कान में पड़े, प्रभु! आहाहा! इस समय तू भेद नहीं करे, राग और शरीर और इन्द्रियों से (भेद नहीं करे तो) प्रभु! तो तू कब मानेगा। आहाहा! ऐसे अवसर में, ओहोहो! आचार्यों ने, दिगम्बर सन्तों ने काम किया है, यह वाणी भी मैंने की नहीं, ऐसा कहते हैं। टीका के शब्द जड़ से हुए हैं। यह आता है न अन्त में, अन्तिम श्लोक आता है। आहाहा! यह टीका हुई।

भावार्थ :- अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का जो सविकार चैतन्य परिणाम है.... अज्ञान अर्थात् भान नहीं, ऐसा जो अज्ञान,

अर्थात्? मिथ्याश्रद्धा—यह क्रोध आदि मैं हूँ, इन्द्रिय मैं हूँ, शरीर मैं हूँ—ऐसी मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान—अपना ज्ञान भूलकर संशय आदि विपर्यास करे, 'अविरतिरूप' विकार यह **तीन प्रकार का सविकार....** विकारसहित **चैतन्य परिणाम...** देखा! **वह अपना और पर का भेद न जानकर....** बहुत संक्षिप्त कहा, स्वयं भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु, और यह सविकार परिणाम भिन्न है, ऐसा पर का भेद नहीं जानकर, **मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ इत्यादि मानता है।** सब बोल ले लेना। **इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्य परिणाम का कर्ता होता है।** कहीं न कहीं कर्तापना तो मानना चाहिए या नहीं? स्वयं आत्मा भगवान तो शुद्ध आनन्द के परिणाम का कर्ता है, अब यह शुद्ध चैतन्य प्रभु तो नजर में आया नहीं, इसलिए उसका, विकारी परिणाम मेरा—ऐसा मानकर उनका कर्ता होता है। आहाहा!

अज्ञानी अज्ञानरूप सविकार चैतन्य परिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव.... वह मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, राग विकार परिणाम, **वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है....** कर्म अर्थात् कार्य। यह जड़ का कार्य और उसकी बात नहीं है, अब यहाँ। मात्र मिथ्याश्रद्धा से, मिथ्याज्ञान से रागादि को अपना मानता हुआ चैतन्य के परिणाम हैं, ऐसा मानता हुआ उसका वह अज्ञानी कर्ता, विकारी परिणाम का कर्ता होता है। आहाहा! अब यहाँ कहाँ पहुँचना! परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतराग, वे दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा कहते थे, उसे सन्त सुनकर आये, प्रभु के निकट, और थे तो अनुभवी, आहाहा! तथापि सुनकर आये और फिर यह शास्त्र बनाये, भाई! प्रभु तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! घर का मालिक कहीं बाहर जाये, दो-चार दिन या महीना, सब पूछते हैं कि क्या लेकर आये? स्त्री पूछती है कि मेरे लिये साड़ी लाये या नहीं? लड़का पूछता है कि मेरे लिये वह पेन, पेन का पूछे, वह लाये या नहीं? लड़की पूछे कि मेरे लिये कुछ कीमती ऊन का ओढ़ने का ओढ़ना लाये या नहीं? यहाँ प्रभु को-मुनि को कोई पूछे, प्रभु! आप वहाँ गये थे न? क्या लाये? कि यह लाये। आहाहा!

अभी तो यह भारी कठिन पड़े। एक क्रमबद्ध की व्याख्या आयी है भाई उसमें, कल एक विद्यासागर दिगम्बर साधु है न, उनने क्रमपरिणमन की व्याख्या दी है। एक अपने क्रमबद्ध का भाई लिखते हैं, हुकमचन्दजी हैं, वे तो बहुत सरस लिखेंगे, थोड़ा

बाकी रखा है जानबूझकर। वह विद्यासागर है न जवान व्यक्ति है, ३३वाँ वर्ष चलता है, उनके गुरु ने आचार्यपद दिया है। उन्होंने लिखा, क्रम परिणाम होते हैं, क्रमसहित परिणाम होते हैं क्रमबद्ध, परन्तु सब परिणाम, परिणाम, परिणाम परन्तु परिणाम होते हैं, तो वे किसके आधार से और कौन है वह? उनकी दृष्टि से तो उसमें बात रखी नहीं, क्रमबद्ध परिणाम होते हैं, क्रमबद्ध परिणाम, क्रम परिणाम, 'बद्ध' नहीं लिखा। बिल्कुल क्रम परिणाम होते हैं, जिस समय में जो होनेवाला, वह होता है, इसलिए यह तुम राग होता है, उसकी आकुलता नहीं परन्तु राग हुआ उसे, परन्तु वास्तव में तो यह होता है, ऐसा जिसे निश्चित होता है, उसकी दृष्टि भगवान पर जाती है—ज्ञायकस्वभाव पर जाती है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है, तब उसका राग का अभाव होता है। चेतनजी! रात्रि में सुना न? उसमें अन्तर है थोड़ा, मूल-मूल अन्तर है, परन्तु अब ठीक इतना बाहर आया है, इसलिए चर्चित होगा, चर्चित इतना कि यह सोगनढ़वाले ही क्रम परिणाम कहते हैं, क्रमबद्ध समय-समय में जो होनेवाले हैं वे होते हैं, ऐसा माना है सबने, वहाँ निकला है तुम्हारे में से, देखो! आहाहा! इस प्रकार कोई-कोई माननेवाले हैं, परन्तु बेचारे बाहर, पृथक् पड़ना....

एक गोण्डल संघाड़ा में एक नवीन ऋषि नवीनचन्द्रजी है, गोण्डल के नवीनचन्दजी हैं, उन्हें यह मानते हैं। बोटाद में मिले थे, मैं जंगल जाऊँ और वे चरणवन्दन करने आवे। उनमें बोटाद संघाड़ा में अभी बड़ा वह है, है जवान, दीक्षा तो बीसेक वर्ष की होगी, परन्तु उसे यहाँ यह बात बैठी, वह मैं दिशा को जाऊँ वहाँ आवे और मैं तो गया होऊँ दिशा को, वह तो पूछे साथ में महाराज को पूछे महाराज कहाँ है? मुझे दर्शन करना है। मैं आऊँ तब, महाराज! आपका उपकार मुझे पर बहुत है परन्तु वाडा छोड़कर जा निकलना (मुश्किल)। ऐसा सुना है कि उसने यह सम्प्रदाय छोड़ दिया है। वह मिल गया लींबड़ी में, उसमें मिला क्योंकि इस लाईन में अन्तर है, अन्तर है। बोटादवाले ने मान्य न रखा हो उसे, इतना सुना था। यहाँ कहीं है चौमासा था, मिले थे दस दिन मिले वहाँ बाहर प्रतिदिन, तब कहे महाराज! मुझे तो आपका उपकार है परन्तु मैं कुछ कहूँ नहीं। अपने कुछ कहा नहीं जाये वह। उसको सुन लें, परन्तु तुम छोड़ो या न छोड़ो तो अपने यहाँ कुछ नहीं।

एक मन्दिरमार्गी साधु कच्छ में है, उसे यह पढ़कर ऐसा लगा कि ओहो! मार्ग तो यह है, उसे बेचारे को नाम तो कुछ है कच्छ में है, ऐसा कोई एक कहीं मध्यस्थ होते हैं न? आग्रह छोड़कर यह पढ़े तो उसे ऐसा लगता है कि ओहो... मार्ग तो यह है, हमने सुना नहीं था और गुरु के पास नहीं था, इसलिए मार्ग खोटा है, ऐसा नहीं। परन्तु छोड़ा नहीं जाये, जाना कहा? आहाहा! यहाँ आवे तो हम रखें नहीं। यहाँ कहाँ रखें? यहाँ कौन रखे? यहाँ पांजरापोल है, कि उसे खिलावे कौन, रखे कौन? एक स्थानकवासी साधु आया था जवान, सब छोड़कर मुझे यहाँ रहना है, आया, कहाँ, भाई! यहाँ कहीं स्थान नहीं है। यहाँ कहीं हमारे सब लोग उनकी जवाबदारी से रहते हैं और उनके खर्चे से रहते हैं। हम किसी को रखें और कहीं तुम्हें मकान मिले, यहाँ नहीं। यहाँ कोई जवाबदारी यहाँ कोई है ही नहीं।

हमारे पास कुछ करना है ही नहीं, यहाँ उपदेश के अलावा कोई बात नहीं। सवेरे आया और फिर शाम को चला गया। आया था न स्थानकवासी साधु, मारवाड़ी था, करे कौन, यहाँ उपाधि कौन करे यहाँ? कौन यह लोग करते हैं, हमने किसी से कहा नहीं। यह मकान और पुस्तक (बनाओ) या अमुक, हमने किसी को कहा नहीं। बाईस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं, मैंने कहा नहीं, एक यह बहिन की पुस्तक जो हाथ में आयी, तब मैंने रामजीभाई को कहा। भाई! यह लाख छपाओ, कहा। बस, इतना वह लगभग पचास, साठ, सत्तर हजार प्रकाशित हो गयी है। पच्चीस हजार तो वहाँ प्रकाशित होनेवाली है अभी जयन्ती पर मुम्बई में।

मुमुक्षु : ऐसे लोगों को साधन न हो, तब कहाँ जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ जाये, हम यह सिर पर लें किसी का? यहाँ यहाँ साधु आ गये थे एक श्वेताम्बर रामविजय के विरुद्ध के, चौमासा रह गये थे। क्या नाम, कुमुदविजय दो ठाणां चौमासा रह गये। तो यहाँ सुनने आवे सवेरे, एकान्त अन्दर उन्होंने कहा मुझे, महाराज! मार्ग तो सच्चा यह है, हमारे क्या करना? ऐसा कि तुम कुछ कहो, छोड़ना, ऐसा। भाई! हम किसी को कहते नहीं छोड़ना या रखना कुछ तुमको छोड़कर यहाँ रखना। हम कहीं किसी को, हमारा काम नहीं। यह मात्र उपदेश का आता है, वह

देते हैं, दूसरा कुछ नहीं, तुम यहाँ रहो और तुम्हें रखें और तुमको यहाँ मदद देना, यह यहाँ कुछ नहीं होता। दो बार कहा अन्दर। बात सब सच्ची है परन्तु अब करना क्या हमारे? मैंने कहा, भाई! तुम्हारी जवाबदारी से तुम (रहो) यहाँ कुछ। बहुत ऐसा कहते हैं।

अभी एक दिगम्बर साधु है, भव्यसागर। यहाँ आने का बहुत पाँच-दस वर्ष से (विचारते हैं)। मार्ग आप कहते हो वह सच्चा है, यह बात थी नहीं दो सौ वर्ष में। नग्न दिगम्बर के साधु हैं। बीस वर्ष की दीक्षा दिगम्बर, शीघ्र (आशु) कवि हैं। निकले हैं, गिरनार को। अब यहाँ हमारे प्रति लिखा है कि एक दो शब्द लिखो कि मैं आऊँ। परन्तु यहाँ यह कुछ है ही कहाँ। वे गिरनार निकले हैं कदाचित् आयेंगे। परन्तु उन्होंने यहाँ तक कहा कि एक आश्रम बनाओ कि जिससे हमारे जैसे रहें। यहाँ कौन बनावे यहाँ कौन वह उपाधि करे? उसे बनाना और फिर सम्हालना पैसा और किसी को कहना। यहाँ यह कहीं निवृत्त हैं? यहाँ बनना हो वैसा बनेगा और रहने का हो वह रहेगा। आहाहा! निकले हैं गिरनार—इसलिए क्या हो, भाई! आहाहा! मार्ग तो यह है, परमात्मा के घर की बात है, भाई! चलती प्रणाली अत्यन्त अलग है, इसलिए बैठना कठिन। यह यहाँ कहते हैं। आहाहा!

और वह अज्ञानरूप भाव उसका कार्य है। देखा? अज्ञानी राग और पुण्य-(पाप) के भाव से प्रभु भिन्न है, ऐसा न जानकर उस राग का आधार मैं हूँ, ऐसे चैतन्य के परिणाम से, राग से परिणमता अज्ञानी राग का कर्ता होकर, वह राग मेरा कार्य है—ऐसा मानता है। आहाहा! यह ९४ हुई।

गाथा-९५

तिविहो एसुवओगो अप्प-वियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्त-भावस्स।।९५।।

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्म-भावस्य।।९५।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकार-श्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदम-पह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मो-ऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवान्तरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवान्तरमहमिति भ्रान्त्या सोपाधिना चैतन्य-परिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्या-त्मभावस्य कर्ता स्यात्।।९५।।

अब इसी बात को विशेषरूप से कहते हैं:-

'मैं धर्म आदि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरें।
तब जीव उस उपयोगरूप जीवभाव का कर्ता बने।।९५।।

गाथार्थ : [त्रिविधः] तीन प्रकार का [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [धर्मादिकम्] 'मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिए [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका : वास्तव में यह सामान्यरूप से अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, ज्ञेयज्ञायकभाव को प्राप्त ऐसे स्व-पर का सामान्य अधिकरण से अनुभव करने से, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिए, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त)

है, ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्य-परिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

भावार्थ : धर्मादि के विकल्प के समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान न रखकर, धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है, वह अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।।९५।।

इस प्रकार, अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है, इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।

गाथा - ९५ पर प्रवचन

अब इसी बात को विशेष दृढ़ करते हैं। आहाहा! '**तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी।**' उसमें क्रोध था, विकारी क्रोध आदि था न? ९४ में। इसमें अब धर्मास्ति आदि छह दूसरे द्रव्य लेंगे, इतना अन्तर है। उसमें भाव्यभावक का, कर्म भावक उसका विकारी भाव्य, वह मेरा है, इससे मैं क्रोध हूँ—ऐसा कहकर सब बोल लिये थे। अब आत्मा के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय है, भगवान ने एक धर्मास्तिकाय देखा है, १४ ब्रह्माण्ड में। यह जीव-जड़ (पुद्गल) गति करे न, तब उसे धर्मास्तिकाय निमित्त है। एक अधर्मास्तिकाय है। गति करते हुए स्थिर हो तो अधर्मास्तिकाय निमित्त है, भगवान ने देखा है, एक काल है, परिवर्तन करे प्रत्येक आत्मा परिणाम, उसमें काल निमित्त है। यह पुद्गल है अनन्त रजकण यह चार है और जीव और धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश, आकाश है, यह छह द्रव्य हैं।

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी यह छह दूसरे द्रव्य हैं, उन्हें अपना मानता है। वह विकारी को अपना मानता है। अब यह छह द्रव्य, वह मैं हूँ, अर्थात् क्या कहते हैं? धर्मास्तिकाय एक तत्त्व है, भगवान ने देखा हुआ १४ ब्रह्माण्ड में, उसका विचार करने पर जो विकल्प आवे, वह विकल्प मेरा है, ऐसा माननेवाले यह धर्मास्ति मेरा है—ऐसा मानते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! यह कहे, देखो '**तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी**' '**धम्मादी**' है न? धर्म आदि अर्थात् धर्मास्तिकाय, हों! वह धर्म-अधर्म यह नहीं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, काल, पुद्गल, आकाश—'**कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स**' नीचे, मैं धर्म, धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय, हों! धर्म अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, वह यहाँ नहीं। धर्मास्तिकाय है, भगवान ने छह द्रव्य देखे, उसमें धर्मास्ति पूरे लोक प्रमाण असंख्य प्रदेशी धर्मास्तिकाय भगवान ने देखा है। छह द्रव्य देखे हैं, वह '**मैं धर्म आदि विकल्प यह उपयोग त्रयविध आचरे**' तीन विध अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों खोटे। **तब जीव उस उपयोगरूप, जीव भाव का कर्ता बने।** आहाहा!

टीका :- **वास्तव में यह सामान्यरूप से अज्ञानरूप जो...** एक शब्द तो वहाँ आया था उस ९४ में। संक्षिप्त में, सामान्य अर्थात् संक्षिप्त, **अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन...** मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र यह राग, ये **तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है।** तीन प्रकार का, तीन कौन? मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र राग, इन तीन प्रकार का सविकार-सहित चैतन्यपरिणाम, वह चैतन्यपरिणाम वह, **वह पर के और अपने अविशेष दर्शन से....** आहाहा! पर और मैं दोनों एक हूँ, ऐसा मानने से सामान्यदर्शन अर्थात्। विशेष न मानने से। भिन्न पर और अपने को **अविशेष....** अर्थात् सामान्य एक अर्थात् **दर्शन से, अविशेष...** अर्थात् एक **ज्ञान से...** और **अविशेष रति (लीनता) से,...** राग में लीनता **समस्त भेद को छिपाकर....** परद्रव्य से भिन्न भगवान और आत्मा से परद्रव्य भिन्न ऐसे भेद को छिपाकर **मैं धर्म हूँ....** धर्मास्तिकाय, आहाहा! सूक्ष्म बात है न! धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय है एक चौदह राजलोक में। धर्मास्तिकाय मैं हूँ, ऐसा किस प्रकार? वह तो अरूपी है, पर है, परन्तु उसका विचार करने से जो विकल्प आवे धर्मास्तिकाय का विकल्प, वह विकल्प मैं हूँ, ऐसा धर्मास्तिकाय मैं हूँ, ऐसा मानता है। अब उस धर्मास्तिकाय का जो विचार आया, विकल्प आया, उस विकल्प को अपना माने, वह धर्मास्ति को अपना मानता है, ऐसा। नहीं तो धर्मास्ति, वह तो अरूपी है, चौदह लोक ब्रह्माण्ड में भगवान ने देखा हुआ, केवली ने छह द्रव्य देखे हैं। आहाहा! यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। तुम्हारे वैष्णव में भी नहीं है?

मुमुक्षु : आपने वैष्णव मिटा दिया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ते हैं, वाँचन को जाते हैं।

मुमुक्षु : आते हैं न, मुम्बई आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आते हैं।

मैं धर्मास्तिकाय हूँ, ऐसा लेना। यह धर्म अर्थात्—धर्म अर्थात् यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह नहीं। वह धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है, तत्त्व है। उस तत्त्व का विचार करने से जो विकल्प उठे, उस विकल्प से मैं भिन्न हूँ, ऐसा नहीं मानकर, 'वह विकल्प मैं हूँ', अर्थात् धर्मास्तिकाय मैं हूँ, ऐसा मानता है। समझ में आया? आहाहा!

मैं अधर्म हूँ.... अधर्मास्तिकाय है। चौदह ब्रह्माण्ड में भगवान ने देखा हुआ यह जड़ और चैतन्य गति करते हुए स्थिर हों, तब अधर्मास्तिकाय उसमें निमित्त है, जैसे पानी में मछली चलती है तो पानी निमित्त है, वैसे धर्मास्ति निमित्त है और जैसे थका हुआ मनुष्य वृक्ष के नीचे बैठे उसे स्थिरता में निमित्त है, इसी प्रकार जड़ (पुद्गल) और चैतन्य गति करते हुए स्थिर हों (उसमें) एक अधर्मास्ति नाम का द्रव्य निमित्त है। वह अधर्मास्तिकाय मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। क्यों? कि अधर्मास्तिकाय का विचार आया, उसमें विकल्प आया, उस समय अधर्मास्ति का अधर्मास्ति का विकल्प मैं हूँ, पृथक् (हूँ), ऐसा न मानकर वह धर्मास्ति और अधर्मास्ति मैं ही हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। समझ में आया?

इसी प्रकार **मैं आकाश हूँ...**

मुमुक्षु : ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ज्ञेयज्ञायक कहा न! वह (पूर्व गाथा में) भाव्यभावक है। वह भाव्यभावक है, कहा न, आ गया न! परज्ञेय है, उसका विचार करने से विकल्प उठे उसे अपना मानता है, अर्थात् ज्ञेय को अपना मानता है, ऐसा। वह भाव्यभावक का था। कर्म भावक है, उसका भाव्य, वह मेरा है, ऐसा। और यह तो मात्र जानने की चीज़ है, इस जानने की चीज़ में जो विकल्प उठा, उसकी अभी बात है। एक जानने की चीज़ दूसरी है। धर्मास्ति-अधर्मास्तिकाय, आकाश का विचार करने से विकल्प उठा, वह चीज़ तो कहाँ देखने जाये, वह तो अरूपी है, परन्तु उसका विकल्प उठा, वह वास्तव में तो परज्ञेय है। वह परज्ञेय है, उसके आश्रय से विकल्प उठा, वह परज्ञेय है, उस विकल्प को अपना माने, वह धर्मास्ति-अधर्मास्ति, आकाश को अपना मानता है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १८९, गाथा-९५, दिनांक ०७-०२-१९७९, बुधवार, माघ शुक्ल-११

समयसार ९५ गाथा। टीका फिर से। **वास्तव में यह सामान्यरूप से अज्ञानरूप....** जो आत्मा अखण्ड द्रव्यस्वभाव शुद्ध, एकरूप परमात्मस्वरूप, उसके अज्ञान से, उसके भान बिना **अज्ञानरूप ऐसा जो मिथ्यादर्शन....** झूठी श्रद्धा। राग, दया, दान, व्रत परिणाम, वह धर्म है, वह धर्म का कारण है—ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, अविरति—राग में लीनता यह **तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है....**—तीन प्रकार का विकारवाला चैतन्य की परिणति-पर्याय, वह यह चैतन्य विकारी परिणाम, उसे (अज्ञानी) क्या मानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **पर के और अपने अविशेष दर्शन से....** स्वयं भगवान ज्ञायक शुद्ध परमपारिणामिक तत्त्व निज द्रव्य उसे और राग को अपना एकपना मानकर दोनों का सामान्य दर्शन अर्थात् दोनों का एकपना है। आहाहा!

निज द्रव्य परमस्वभावभाव, शुद्ध निष्क्रिय जो परिणति-पर्याय बिना का तत्त्व, ऐसा जो अखण्ड द्रव्य, उसकी दृष्टि में, अभाव के कारण अज्ञानी अनादि से वह द्रव्य और यह राग की पर्याय अथवा ज्ञेय, भाव्यभावक ९४ में गये, इसमें 'ज्ञेय' परज्ञेय है, उसे अपने अविशेष दर्शन से, सामान्य मान्यता से वह ज्ञेय और ज्ञायक दोनों एक हूँ। आहाहा! (विश्व में) छह द्रव्य है, आत्मा में ज्ञेय, व्यवहाररूप से, ऐसे परज्ञेय को अपना मानकर, अपने को और पर को एक मानकर, है? **अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से....** दोनों का एक ज्ञान है, वे परज्ञेय धर्मास्ति आदि छह द्रव्य हैं।

अरे! अरिहन्त परमात्मा देव-गुरु पर हैं, वे और आत्मा दोनों एकरूप हैं, एक है, मेरे हैं—ऐसे अविशेष ज्ञान से। अविशेष अर्थात् सामान्य ज्ञान। दोनों का एकपने का ज्ञान। सामान्य रति से, उस राग में **लीनता से समस्त भेद को छिपाकर....** वह परज्ञेय और स्वज्ञेय अत्यन्त भिन्न है, ऐसे भेद को छिपाकर। सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा! स्वज्ञेय भगवान पूर्णानन्द परम भाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य और परज्ञेय, इन दोनों की भिन्नता को ढाँककर अज्ञानी, **समस्त भेद को छिपाकर, ज्ञेयज्ञायकभाव को प्राप्त....** आत्मा के अतिरिक्त छह द्रव्य, अब नाम देंगे। यह छह द्रव्य है, वह ज्ञेय है, परज्ञेय है। परन्तु परज्ञेय और ज्ञायक दोनों को एक मानकर **ज्ञेयज्ञायकभाव को प्राप्त ऐसे स्व-पर का**

सामान्य अधिकरण.... अर्थात् परज्ञेय है, उसका ही मैं आधार हूँ, ऐसा मानकर। आहाहा! भगवान ने देखे हुए धर्मास्ति आदि छह तत्त्व (द्रव्य) हैं। उन छह का आधार मैं हूँ, ऐसा मानकर अज्ञानी... आहाहा! है ?

मुमुक्षु : आप कहते हो अज्ञानी जानता नहीं—और किस प्रकार कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानता नहीं कौन ? वह जानता है, यह लेंगे। वह धर्मास्तिकाय का विचार करे न, ऐसा जो विकल्प उठता है न ? उसे अपना मानता है, वह परज्ञेय को अपना मानता है, यह शैली है।

मुमुक्षु : वे ज्ञेय इसलिए बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ यह शैली।

मुमुक्षु : अज्ञानी तो धर्मास्तिकाय को जानता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्मास्तिकाय, यहाँ तो है, उसे मानता है और वह उस ओर का विचार करता है, कि इस जगत में एक अधर्मास्ति तत्त्व है, ऐसा विचार करता है, ऐसा जो विकल्प है, वह विकल्प मेरा है, ऐसा माननेवाला धर्मास्तिकाय, वह मेरा है—ऐसा माननेवाला है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

यहाँ तो छह द्रव्य है, ऐसा माननेवाला है, उसकी-अज्ञानी की बात है। अज्ञानी तो है ही, कुछ जानता न हो, उसकी बात नहीं है। यहाँ तो ज्ञान में धर्मास्ति भगवान ने कहे छह द्रव्य, वे हैं, परन्तु वे ज्ञेय पर हैं और मैं स्व हूँ, ऐसा भिन्न न करके... आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! **भेद को छिपाकर ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त....** जो छह द्रव्य हैं, वे तो ज्ञेय—परज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञायक है, **ऐसा स्व-पर का सामान्य अधिकरण...** आत्मा और पर दोनों एक हैं, ऐसा दोनों का आधार मैं हूँ, ऐसा **अनुभव करने से....** आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई!

मैं धर्म हूँ.... धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं, उसमें एक धर्मास्तिकाय तत्त्व है कि जो जड़ (पुद्गल) और चैतन्य गति करें, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है, जैसे मछली गति करती है, तो वहाँ पानी निमित्त है; उसी प्रकार जड़ और चैतन्य गति करे, वहाँ एक धर्मास्ति नाम का द्रव्य है, भगवान ने (देखा है)। जगत में

एक वस्तु है। वह चीज़ ज्ञेय है, परज्ञेय है। आत्मा ज्ञायक है, दोनों की भिन्नता को न जानता हुआ, दोनों के भेद को ढाँक देता हुआ, आहाहा! मैं धर्मास्तिकाय हूँ, अर्थात्? कि धर्मास्तिकाय तो जगत में अरूपी तत्त्व है, परन्तु उसका यह विचार करता है, जब विकल्प उठता है तब, उस विकल्प को अपना मानता है, वह धर्मास्तिकाय को अपना मानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। मैं धर्म हूँ। धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है, हों वह! उस धर्मास्तिकाय इसे भले न दिखाई दे परन्तु सुना होता है न? और उसका विकल्प करता है और उस विकल्प में एकाकार हो जाता है, वह धर्मास्तिकाय में ही एकाकार हुआ है। आहाहा! कहो, शशीभाई! ऐसी बात है।

भगवान आत्मा तो निश्चय शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही आत्मा है, परमात्म द्रव्य हों! स्वयं और उसके छह द्रव्य वे परज्ञेय हैं। यहाँ तो फिर आगे आयेगा, अधिक जीव की बात करते हुए। यह ज्ञेय का विचार करने से, वह विकल्प जो उठा है—राग-राग और ज्ञायकभाव भिन्न है, ऐसा न जानकर वह विकल्प मैं हूँ - उसने धर्मास्तिकाय मैं हूँ, ऐसा उसने माना है। ऐसा कठिन है। समझ में आया? भगवान तो ज्ञायक है। चैतन्य ज्ञायक है, निज परमात्मद्रव्य ज्ञायक है, वह पर को व्यवहाररूप से जानता है, परन्तु जानने में तदुपरान्त वह उसका विचार करने से जो विकल्प उठता है, धर्मास्तिकाय द्रव्य है—ऐसा विकल्प उठता है, वह विकल्प मेरा है, यह माननेवाले परज्ञेय को अपना मानते हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ.... अधर्मास्तिकाय द्रव्य है, भगवान ने देखा है। जड़ (पुद्गल), चैतन्य गति करते हुए स्थिर हों, उसमें निमित्त, ऐसा अधर्म, उसका विचार करने से जो विकल्प वृत्ति-राग उठे, उस राग को अपना मानता है, वह अधर्मास्तिकाय को अपना मानता है, देखा? देवीलालजी! आहाहा! यह ज्ञेय ज्ञायकभाव की व्याख्या है, पहले भाव्यभावक की थी। भाव्यभावक अर्थात्? कर्म जड़ भावक है और आत्मा की पर्याय में विकारभाव हो, वह कर्म का-भावक का भाव्य है—ऐसा न मानकर, वह भाव्य मेरी दशा है, ऐसा माननेवाले अज्ञानी, कर्म से होता उपाधिभाव उसे मेरा माननेवाले अज्ञानी हैं। आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का, तत्त्व का विकल्प उठे, वह राग है; वह राग कर्म/भावक का भव्य है। वह भगवान आत्मा का भाव्य नहीं। भगवान तो परम द्रव्यस्वरूप भगवान चैतन्य आत्मा, वह भावक होकर भाव्य करे तो वह निर्मल वीतरागी पर्याय का भाव्य हो उसका। आहाहा! ऐसा न मानकर, कर्म-जड़ के भावक से हुआ विकारी (भाव) दया, दान, व्रत आदि के भाव, वह मैं हूँ—ऐसा परद्रव्य के भव्य को अपना मानता है। समझ में आया? भाषा तो सादी है, परन्तु वस्तु तो ऐसी। अभी सब गुम हो गया है, पूरी तत्त्व की बात। आहाहा! यहाँ तो यह मैं हूँ, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है, परन्तु यहाँ तो पर्याय की भावना भी नहीं। आहाहा!

धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे निज परमात्मद्रव्य शुद्ध पारिणामिकभाव लक्षण तत्त्व, वह मैं हूँ। यह पर्याय मैं हूँ, ऐसा नहीं, धर्म की निर्मल पर्याय हो, वह भी मैं नहीं। आहाहा! पर्याय की भावना है तो पर्यायदृष्टि हुई। निज परमात्मद्रव्य जो शुद्ध निष्क्रिय; निष्क्रिय अर्थात्? मोक्ष की पर्याय और मोक्ष के मार्ग की पर्याय सक्रिय है, पर्याय अर्थात् सक्रिय; उससे रहित प्रभु अन्दर निष्क्रिय है। आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं। आहाहा! कि जो द्रव्यस्वभाव त्रिकाली है, उसकी भावना करे। भावना मोक्ष का मार्ग है, उसकी वह भावना नहीं; भावना वह द्रव्य की करे। आहाहा! समझ में आया? उसके बदले यहाँ जो कर्म के निमित्त से हुआ विकृतभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, वह मेरा है, वह भाव्य (मेरा है), ऐसा माननेवाले अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, कि यह ज्ञायक प्रभु और उस पर्याय में परज्ञेय, ऐसा न मानकर जो ज्ञेय का विकल्प उठे धर्मास्ति, अधर्मास्ति का, वह तो अरूपी है परन्तु उसका विकल्प उठे उसे अपना माने, उसने परज्ञेय को अपना माना है। समझ में आया? दो (बातें हुई)।

मैं आकाश हूँ... मैं आकाश हूँ.... सर्व व्यापक आकाश है, उसका विचार करने से, परद्रव्य का विचार करने से जो विकल्प उठता है, आहाहा! वह राग है। उस राग को अपना माने, वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है। **मैं आकाश हूँ।**

मैं काल हूँ.... असंख्य कालाणु भगवान ने देखे हुए हैं चौदह ब्रह्माण्ड में असंख्य कालाणु हैं, एक-एक धर्मास्ति के प्रदेश पर आकाश के प्रदेश पर ऐसे असंख्य कालाणु हैं, वे कालाणु दिखते नहीं परन्तु कालाणु का विचार करने से, शास्त्र के हिसाब से उसका विचार करने से, उस कालाणु का विचार करने से जो विकल्प-राग उठे, वह मेरा है, वह मैं हूँ, (ऐसा) माननेवाले काल द्रव्य को, परज्ञेय को अपना मानते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मैं पुद्गल हूँ.... परमाणु से लेकर यह शरीरादि स्थूल मोटा जड़, उस परमाणु का भी विचार करने से, क्योंकि वह परद्रव्य है, यह तो (देह) बहुत रजकणों का पिण्ड है, परन्तु इसका पॉईन्ट—अन्तिम टुकड़ा करते-करते-करते अन्तिम पॉईन्ट रहे, उसे भगवान परमाणु कहते हैं, वह परमाणु इसे दिखता नहीं, परन्तु परमाणु का विचार करने से उसे विकल्प उठता है, क्योंकि वह परद्रव्य है, उस परद्रव्य का विचार करने से विकल्प उठे, उसे मेरा माने, वह परमाणु को अपना मानता है।

आहाहा! इसी प्रकार यह शरीर, जड़, मिट्टी, धूल आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, ज्ञेयरूप है, तथापि उसका विचार करने से शरीर में ऐसा है और शरीर में वैसा है, अमुक हुआ है न? आहाहा! मेरा शरीर निरोगी है, और शरीर में रोग होता है—ऐसा जो विकल्प उठता है, उस विकल्प को अपना माननेवाला, शरीर को-परज्ञेय को अपना मानता है। समझ में आया? आहाहा! यह वाणी, मन, जड़, देह, पैसा आदि का विचार करने से जो विकल्प उठता है, उसे अपना मानता है, भले वह चीज़ यहाँ न आवे, परन्तु उस ओर का विचार करने से राग की वृत्ति, परद्रव्य है न? परद्रव्य अनुसार वृत्ति उठे, वह राग है। आहाहा! उस राग को अपना माननेवाला पुद्गल को अपना मानता है।

अब यहाँ, **मैं अन्य जीव हूँ....** स्त्री का आत्मा है....

मुमुक्षु : पुत्र का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्र का है, लो सुमनभाई का है। अभी सुमनभाई आनेवाले हैं। पुत्री का आत्मा, स्त्री का आत्मा, पुत्र का आत्मा इत्यादि-इत्यादि-इत्यादि। वह आत्मा है, वह पर है, इस ज्ञायक का परज्ञेय है, ऐसा न मानकर, उसका विचार करने से जो

विकल्प उठता है कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है, वह पर आत्मा को अपना मानता है। आहाहा! स्त्री को अर्धांगिनी कहा जाता है न? आधा अंग स्वयं और आधा अंग वह,... कुकर्म करता है न? गप्प मारता है, यह मेरी अर्धांगिनी है। दूसरे प्रकार से संक्षिप्त भाषा कहते हैं कि यह कौन है? हमारी घरवाली है। यह तो सब जगत ने क्रीड़ा की है। घरवाली है, घरवाली भी कहाँ से आयी तेरी? उदाणी! आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो लोग समझ जाये न....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी घरवाली भाषा भले हो परन्तु माना है कि यह मेरी घरवाली। यह मान्यता कहाँ सच्ची है? यह घर, इसका घर तो यहाँ है, घर तो यहाँ अन्दर है, आनन्द का नाथ प्रभु अन्दर घर में विराजता है, वह इसका घर है न? यह तो कहे मेरी घरवाली। इस घर की घरवाली है यह? ऐई!

मुमुक्षु : संस्कृत भाषा में भार्या कहलाती है अर्थात् घर का भार उठावे, उसे भार्या कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उठाये ऐसा, कोई धूल भी उठाता नहीं। आहाहा! ऐसी सब अज्ञानी की मान्यता है, मेरी पीछे लड़कों ने सब काम उठा लिया है, ऐसी बातें बनिया करते हैं, ऐसा कहते हैं न कि ऐसे मेरे वाद यह सब काम उठा लिया। मुझे कुछ नहीं करना पड़ता। परन्तु तू कौन? वे कौन? वह तो जगत की भिन्न चीज़। आहाहा! कहो, इसमें ऐसा काम है। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा तो वहाँ तक कहते हैं कि इस परद्रव्य को मेरा मानो अथवा विकल्प उठे उसके लक्ष्य से, वह मेरा, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याराग में लीन है। भगवान आत्मा अन्दर पड़ा। आहाहा! यहाँ तो धर्मी उसे कहते हैं, आहाहा! सम्यग्ज्ञानी और धर्मी उसे कहते हैं कि जो धर्म की पर्याय है, उसकी भी वह भावना न करे। आहाहा! वीतरागी पर्याय प्रगटी है, धर्म की पर्याय धर्मी-द्रव्य के अवलम्बन से, उसकी उसे भावना नहीं होती; भावना त्रिकाली ज्ञायक भगवान मैं हूँ, उसकी उसे भावना होती है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसा है, प्रभु!

वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ जगत को ऐसा प्रसिद्ध करते हैं, भाई! तूने भटकने

के रास्ते आदर किये हैं, ८४ के भटकने के रास्ते आदर किये हैं। जो ज्ञायक का ज्ञेय है, उसे वह मेरा है, ऐसा तूने माना! भटकने के ८४ के अवतार में, तूने भाव ग्रहण किये हैं, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : घर बिना का हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर था कब? घर का मकान था न, वह यह पैसा खर्च करना चाहिए वह दे दिया सुमन की सासु को।

मुमुक्षु : पचास हजार खर्च करना तो लड़के को गरज न रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मकान बड़ी कीमत का है। परन्तु यह दुनिया में ऐसा संसार चलता है, ऐई हीरालालजी! कहते हैं। आहाहा! हमारे यहाँ लड़के हैं न पालेज, सबको एक-एक लाख के रहने के मकान अलग। सबके तीनों के अलग होकर, अभी कोई वह बड़े में है, वह क्या कहलाता है, वह (बखारू) बखारू क्या कहलाता है? गोदाम, वह भी किसी को मकान तीन दिये हैं, और किसी को चार दिये हैं, ऐसा बँटवारा किया था, परन्तु उसमें लवलीन हो जाये कि अरे! बड़े भाई को जरा अधिक गया क्योंकि वे पच्चीस वर्ष से दुकान में काम करते थे, बहुत ग्राहक वहाँ भी बड़ी दुकान थी, आठ-आठ लाख रुपये की तो उगाही डालते, पालेज में बड़ी दुकान, सात, आठ, दस लाख की उगाही रखते। बड़ी प्रसिद्ध दुकान, मुम्बई चले ऐसी उसमें और बड़ा लड़का काम करता, उसमें अधिक में अधिक। ७४ वर्ष अर्थात्, यह ७४ वर्ष नहीं, ७४वाँ जन्म, जन्म। ६०-६१ वर्ष का, ६०-६१ वर्ष का, वह वहाँ ग्राहक सब चले गये और यहाँ कम हो गये, भाई-भाई में जरा अन्दर खींचातानी हो।

मुमुक्षु : मन दुःख हो, दूसरे को मिले तो बाधा नहीं परन्तु भाई को मिले तो बाधा।

पूज्य गुरुदेवश्री : गाँव का मुसलमान बढ़ गया हो तो बाधा नहीं, परन्तु भाई अलग पड़कर बढ़ जाये तो ऐई, हमने समान बँटवारा किया था और यह बढ़ गया। क्या जगत में राग और द्वेष, क्या काम करते हैं। आहाहा!

प्रभु! तू तुझे भूलकर तेरा नाथ तो परम स्वभाव शुद्ध चैतन्य अखण्ड एक सकल निरावरण अत्यन्त आवरणरहित तत्त्व प्रभु तू तो, आहाहा! अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय,

ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात हो ऐसा, अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्म द्रव्य, वह मैं हूँ—ऐसी धर्मी को यह भावना होना चाहिए। उसके बदले ये ज्ञेय जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे मेरे हैं, वह मिथ्यादृष्टि उल्टी मान्यतावाला चार गति में भटकने के उसके लक्षण हैं। आहाहा! कहो, उदाणी? है न अन्दर आया है न?

मैं अन्य जीव हूँ.... अब यहाँ से आगे लेकर कहें तो अरिहन्त का आत्मा दूसरा भिन्न है, तथापि यह मानता है कि यह देव मेरे हैं, यह जीव मेरा है। गुरु का आत्मा भिन्न है, अन्य जीव में वह आता है। वह जीव मेरे गुरु हैं, वह मेरा स्वामी है। आहाहा!

मुमुक्षु : महावीर भगवान हमारे हैं।

पूज्यगुरुदेवश्री : भगवान किसी के नहीं। भगवान भगवान के हैं।

मुमुक्षु : यहाँ पधराये हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। अन्य जीव में परमेश्वर पंच परमेष्ठी भी आये। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु अन्य जीव हैं। वे मेरे हैं—ऐसी मान्यता, वह अज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे कहते हैं यह भगवान हमारे हैं, जैन कहे कि महावीर भगवान हमारे हैं, दोनों में अन्तर क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब एक ही बात है। परजीव है, वह तेरा कहाँ से आया? वह तो ज्ञेय है। आत्मा ज्ञायक है और वह परज्ञेय है, जाननेयोग्य है, कि यह पर है बस, इतना ही। उसके बदले उपरान्त डालकर यह मेरा है, वह अन्य जीव मेरा है, ऐसा अर्थ आवे, देखे! **मैं अन्य जीव हूँ...** है? यह इसमें इतना अर्थ भरा है।

मुमुक्षु : मैं अन्य जीव हूँ, ऐसा तो कोई मानता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मानता है अन्दर। नहीं मानता क्या? स्त्री मेरी है, पुत्र मेरे हैं, उनक आत्मा वह-इसका अर्थ क्या है? देव मेरे हैं, गुरु मेरे हैं। वे तो पर के हैं, (उनका) आत्मा तो पर है, वह वास्तव में तो उस ज्ञायक का ज्ञेय है, परज्ञेय, हों! स्वज्ञेय पृथक्, स्वज्ञेय ज्ञायक और (वे) परज्ञेयरूप से वे जाननेयोग्य हैं, तदुपरान्त वे

मेरे हैं, (ऐसा) मिथ्याभ्रम अज्ञानी का है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! ऐसी बात है, भाई!

मुमुक्षु : परम सत्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

मैं अन्य जीव हूँ.... है? यह छहों ले लेना। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, **ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है....** उन्हें अपना कर नहीं सकता, परन्तु ऐसा विकल्प उत्पन्न करता है, ऐसा कहना है। और विकल्प उत्पन्न करे, उसका वह कर्ता होता है। समझ में आया? आहाहा! देह देवल में भगवान भिन्न है, यह तो (शरीर) तो मिट्टी जड़ है, कर्म जड़ है, अन्दर विकल्प उठे दया, दान का, वह जड़ है, अचेतन है, उसमें चैतन्य का स्वरूप नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप तो उसकी जो पर्याय है न, आहाहा! गजब बात है। मोक्षमार्ग की जो पर्याय है न, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की...। वह सब मेरे हैं, और उनका मुझे आधार है, और मेरे आधार से वे हैं, ऐसा जो अपना विकल्प उत्पन्न करता है, यह बात ली है, हों!

वह वस्तु है, उस वस्तु में और वस्तु में रह गयी है। क्योंकि उस वस्तु का कर्ता हो सकता नहीं, वह तो पर है। आहाहा! फिर ऐसे पिता का पुत्र और पुत्र का पिता, यह सब कहीं विचार आवे? तुम्हारे तो इकलौता लड़का है, बहुत करे, बापूजी... बापूजी करे और पाप करके कमा-कमाकर पैसे दिये उसे तो वह तो प्रसन्न ही होगा न, लो! आहाहा! यह सब कोई मेरा नहीं, प्रभु! मैं तो आत्मा का ज्ञायक निष्क्रिय परिणति की पर्यायरहित आत्मा, ऐसा परिणति उसका निर्णय करती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय निर्णय करती है कि मैं अखण्ड द्रव्य हूँ। उस पर्याय की भावना पर्याय नहीं करती, तो पर मेरे हैं, यह तो कहीं चली गया, बापू! हीरालालजी! ऐसी बात है। आहाहा!

भाई! तू कहाँ है? तू कौन है? तो कहे, प्रभु मैं तो निष्क्रिय तत्त्व हूँ। आहाहा! जो मोक्ष का मार्ग है न, वह भी मैं नहीं, वह मोक्ष का मार्ग है, वह पर्याय, यह द्रव्य मैं हूँ, ऐसी भावना करता है। आहाहा! लो, वह आया था न, भाई! वह विद्यासागर का लेख आया है, भाई! यह क्रम ऊपर बहुत लिया है, परन्तु अकेली पर्याय की बातें,

वीतरागी पर्याय ऐसी हो और अमुक हो, परन्तु किसके आश्रय से होती है और कौन द्रव्य है ? आहाहा! तो फिर वापस सभा में एक व्यक्ति बोला कि शुभ उपयोग की जय हो, कहो, लो ठीक, तो भी वापस उसे किसी ने कहा कि क्यों यह—कहे कि इसमें खोटा क्या लिया, शुभ उपयोग की जय, शुभराग तो जहर है।

मुमुक्षु : जहर की जय।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर की जय। भगवान पड़ा रहा अन्दर। ऐई चेतनजी! ऐसा है, बहुत कठिन काम, भाई! व्यक्ति के लिये कुछ नहीं, यह तो एक उसके परिणाम की जवाबदारी तो उसकी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह छह द्रव्य भगवान ने देखे, उनमें यह अनन्त परमाणु हैं, अनन्त आत्मायें हैं, असंख्य कालाणु हैं, एक धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश—ऐसे छह द्रव्य हैं, भगवान ने देखे हुए। केवली परमात्मा जिनेश्वरदेव के ज्ञान में छह द्रव्य देखने में आये परन्तु वे इस आत्मा से अत्यन्त भिन्न, भगवान भी भिन्न। आहाहा! उसमें यह **अपना विकल्प उत्पन्न करता है, इसलिए मैं धर्म हूँ....** देखो, इसलिए.... वह विकल्प उत्पन्न करता है न, इसलिए धर्म हूँ, ऐसा मानता है। **मैं अधर्म हूँ....** अधर्मास्तिकाय, धर्म मैं हूँ अर्थात् धर्मास्तिकाय, द्रव्य, **मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ....** लो! ऐसा विकल्प करता है, इसलिए वह अन्य जीव हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! इसलिए वह अन्य जीव का कर्ता होता नहीं, परन्तु उसका विकल्प किया, उसका वह कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा!

ऐसी भ्रान्ति के कारण.... मैं अन्य जीव हूँ, छह द्रव्य आये न ? **ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है, ऐसे चैतन्यपरिणाम को...** वापस भाषा ऐसी है कि चैतन्य के वे परिणाम उपाधिवाला, उस **चैतन्यपरिणाम को परिणमित होता हुआ....** भगवान आत्मा चैतन्य ध्रुवस्वरूप होने पर भी, विकारी परिणाम से परिणमता हुआ.... आहाहा!

यह छह द्रव्य में कोई भी द्रव्य मेरा है, इतने भाग मुझे आये घर में चार लड़के पच्चीस लाख रुपये सवा-सवा छह लाख मेरे भाग में सवा छह आये। मकान चार थे,

उसमें मेरे भाग में एक-दो कमरे आये और अमुक आया और फलाना... और एक दालान होता है न? एक दालान और चार-पाँच लड़के, छह हों, देखा है? दो-दो वे करें खम्भे साथ में डाले, देखा है? दो खम्भे साथ में हो, इसलिए अलग होना हो तो खम्भों के बीच एक...

मुमुक्षु : समान भाग पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत बड़े यह तो सब एक-एक बात देखी है न? एक दालान में आठ लड़के हों, जब तक इकट्ठे, तब तक एक दालान में सब। परन्तु एक-एक दालान के एक-एक कमरे में दो-दो खम्भे, इस प्रकार ऐसे-ऐसे बंटवारा करना हो तो इस ओर के खम्भे में ऐसा और इस ओर के खम्भे के बीच में डाल दे वह, आहाहा! अरे... अरे! मार डाला! किसका घर और किसका भाग, किसका घर और किसका वर? यह मेरा वर है और यह मेरी पत्नी है, अरे प्रभु! क्या है परन्तु तुझे? आहाहा!

ऐसी विकारी परिणाम करता हुआ, **ऐसे चैतन्यपरिणाम को परिणमता हुआ...** भाषा वापस यह ली कि चैतन्य, विकारी परन्तु चैतन्य के परिणाम हैं, उनसे परिणमता हुआ, **यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप....** उपाधिवाले मलिन परिणामरूप **अपने भाव का कर्ता होता है।** देखा? अपने भाव का कर्ता होता है। उस द्रव्य का नहीं। द्रव्य का क्या कर्ता? वह द्रव्य नहीं था? जगत में है। आहाहा! यह घर में समझना कठिन पड़े, ऐसा है। उदाणी! यह दवा में जैसे होशियारी चाहिए, वैसे इसमें होशियारी चाहिए। दाँत के बड़े डॉक्टर हैं मुम्बई में। बड़े इज्जतदार। इन्होंने डाला है न? यह इनने डाला है। दो बार आ गये।

मुमुक्षु : आप इनके डॉक्टर हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ किसी के डॉक्टर नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। आहाहा! परिणाम भी त्रिकाली में नहीं। आहाहा! शुद्ध चैतन्यघन भगवान परिणति की क्रियारहित,... आहाहा! 'शुद्ध परम स्वभावभाव निज परमात्मद्रव्य निरावरण' वह आत्मा है। ऐसी बात है, बहुत कठिन। आहाहा!

कल तो अर्थ जरा दूसरा किया था, भाई दोपहर में, वह श्रुत-श्रुत शब्द है न

श्रुत ? श्रुत की उपाधि। उसका अर्थ यहाँ तक लिया था यह, नया अर्थ किया था कि श्रुत है वह भगवान की वाणी, परन्तु उससे हुआ ज्ञान, वह भी उपाधिवाला ज्ञान है। आहाहा! भगवान की वाणी है, वह तो पर है, परन्तु उससे हुआ जो ज्ञान, हुआ है अपना परन्तु उसके निमित्त के लक्ष्य से हुआ ज्ञान, वह भी शब्दश्रुत है। वह आत्मज्ञान नहीं। आहाहा! उस पर की उपाधिवाले ज्ञान से, ज्ञप्ति क्रिया जो आत्मा को जाने, वह अलग है। आहाहा! क्या कहा यह ? श्रुतज्ञान, ऐसा कहने पर, श्रुत का सुनना आया, इसलिए सुनने की वाणी भी भगवान की तो पुद्गल जड़ है। अब जड़ है, वह तो ठीक, वह तो पर है, परन्तु उसके लक्ष्य से जो ज्ञान हुआ, वह भी उपाधिवाला परलक्ष्यी ज्ञान है। वह परलक्ष्यी ज्ञान चैतन्य को नहीं जान सकता। आहाहा! वह भावश्रुत जो है, अन्तर का (अन्तर्मुख) वह आत्मा को जानता है। आहाहा! ऐसी बातें, अरे दुनिया में!

मुमुक्षु : ऐसी बात अनादि की सुनी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि की सुनी नहीं। आहाहा!

ज्ञप्तिक्रिया भगवान की केवलज्ञान की, उससे आत्मा जाने ? और नीचे श्रुतकेवली ज्ञप्तिक्रिया जो आत्मा को जानने की क्रिया, उससे आत्मा जाने, और भगवान ने कहा और सुना और ज्ञान हुआ, उससे भी नहीं। आहाहा! समझ में आया ? वह ज्ञप्तिक्रिया ज्ञान की क्रिया परन्तु वह ज्ञायक त्रिकाल को जानता है। आहाहा! यहाँ छह द्रव्य को जानना, वह उसका स्वरूप, छह द्रव्य को जाने पररूप से, परन्तु इतना न मानकर पर को वह मेरे हैं, ऐसा जो विकल्प उठाता है, और वह विकल्प चैतन्य का परिणमन है, उस चैतन्य परिणाम को परिणमता जीव, उस परिणाम का-राग का कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! इस जैन की उसे खबर नहीं। जैनधर्म की उसे खबर नहीं, ऐई वलुभाई! ऐसा मार्ग है, प्रभु! इसे बहुत निवृत्ति लेनी पड़ेगी, तब इसे मुश्किल से समझ में आये ऐसा है। आहाहा! यह उपाधिवाले परिणाम! यह देव मेरे, गुरु मेरे, यह शास्त्र मेरे - ऐसा विकल्प भी उपाधिवाला है।

अब यहाँ तो अभी तो शुभ उपयोग की जय हो, शुभ उपयोग से (शुद्ध होगा) अरे! प्रभु... प्रभु! तू क्या करता है, भाई ?

मुमुक्षु : अजैन धर्म की जय हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अजैनपना राग है, भाई! आहाहा! उसे तो बात यह थी कि यह शुभराग है और वह तो धीरे-धीरे शुभराग से अन्दर शुद्ध होगा, ऐसा। अरे भाई! आहाहा! दुःख के भाव से सुखभाव होगा? राग है, वह तो दुःखभाव है। चाहे तो भगवान की भक्ति का हो या दया-दान का हो परन्तु वह तो दुःखरूप है, भगवान तो आनन्दस्वरूप है, वह दुःख के स्वरूप से आनन्दस्वरूप का भान होगा? आहाहा! प्रभु... प्रभु... क्या करता है, भाई? आहा! अन्य जीव मेरे हैं, यह नरपति कहलाते हैं न? नरपति अर्थात् नर का पति राजा। नरःपति, नरः अर्थात् मनुष्य उसका पति। सच्ची बात होगी?

मुमुक्षु : हम सब गृहपति कहलाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तुम गृहपति कहलाओ। यह बड़े धन्धेवाले उद्योगपति कहलायें। यह करोड़ों का धन्धा करें। तुम सब उपाधिवाले। किया था बड़ा सत्तर लाख का उद्योगपति फिर चले गये अभी, यह बड़े करोड़पति उद्योगपति करते हैं न भाई! यह तो दृष्टान्त देते हैं। किसके पति प्रभु! उद्योग का पति तू जड़ का? नृपति—नर का पति तू? गृहपति—इस घर का पति तू? यह तूने क्या लगायी है?

मुमुक्षु : भटकने की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हीरालालजी! यह तो बड़े गृहस्थ हैं। आहाहा!

यह सब सुनने का समय मिला, वह भाग्यशाली, ऐसा कहो। यह गया, उसका कुछ नहीं। यह तो टुकड़ा-टुकड़ा, सुना उदाणी? हाथ कट गया, रेल में, दो महीने हो गये, लड़के का विवाह करने गये थे, उसमें यह हुआ। बहुत पैसेवाले व्यक्ति। अरे! देह का, बापू! वह तो देह है, रजकण पृथक् है, भाई! उन्हें-रजकण को किस प्रकार रहना, वह रजकण की पर्याय का कार्य है, तू उसे रख नहीं सकता। आहाहा! ध्यान रखा होता तो नहीं होता और ऐसा होता यह सब बातें गप्प है। जो जड़ की पर्याय जिस समय जिस प्रकार की होनेवाली है, उसे इन्द्र, नरेन्द्र और जिनेन्द्र भी बदल नहीं सकते, प्रभु! आहाहा! यह स्वामी कार्तिकेय में आता है न? कि भगवान ने जो देखा है, (वह) होगा, उसमें भगवान जिनेन्द्र बदल नहीं सकते। स्वयं अपनी पर्याय जिस समय में होती है,

उसे स्वयं बदल नहीं सकता। आहाहा! उसे तो नजर द्रव्य पर करनी पड़ेगी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उस समय में वह पर्याय होनेवाली वह होगी ही, उसे जाननेवाले को जगा, जाननेवाला ज्ञायकभाव है, उसे जगा अर्थात् पर्याय जो होती है, वह क्रम से होगी, उसका जाननेवाला होगा। आहाहा! पर्याय करनी भी नहीं फिर, कहते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग जगत से बहुत अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं, यह चैतन्यपरिणाम अपने भाव का कर्ता होता है। भले वह माने कि यह मेरे, परन्तु उस परद्रव्य का यह कर्ता नहीं होता। आहाहा! उसके लक्ष्य से हुआ विकल्प.... आहाहा! मोक्षपाहुड़ में तो कहा है न यह? भगवान ने ऐसा कहा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने (कहा) प्रभु तू, तू है और तुझसे मैं भिन्न हूँ, तू मेरा लक्ष्य करने जायेगा तो तुझे राग होगा, आहाहा! और वह राग होगा, वह दुर्गति है, वह चैतन्य की गति नहीं, प्रभु! आहाहा! ऐसी बात है। जिनेश्वर कहते हैं। मुख के सामने ग्रास किसे खराब लगे? यहाँ तो भगवान कहते हैं कि मेरे सामने देखेगा न तो भक्ति में तुझे राग होगा। आहाहा! लो, यह आत्मा की गति नहीं, चैतन्य भगवान वीतरागभाव से परिणमना चाहिए, यह उसकी गति है, (राग उसकी गति), यह नहीं। ऐसे **अपने भाव का कर्ता होता है।**

भावार्थ :- धर्मादि के विकल्प के समय... धर्मास्तिकाय द्रव्य.... भावार्थ है न? धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, जीव, पुद्गल उनके **विकल्प के समय जो स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान न रखकर....** मैं तो ज्ञाता-दृष्टा भगवान आत्मा चैतन्य का जाननेवाला, जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, ऐसा भान न रखकर, **शुद्ध चैतन्यमात्र होने का...** देखा? यह विकार होता है, वह नहीं। पर तो नहीं परन्तु विकार है, वह भी मैं नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान भूलकर दशा में, आहा! **भान न रखकर धर्मादि के विकल्प में....** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय छह द्रव्य के राग में **एकाकार हो जाता है।** आहाहा!

वह अपने को धर्मास्तिकायरूप मानता है... देखो? राग को अपना मानता है और परिणमता है, वह पररूप अपने को मानता है। पर कुछ वह मानने जाये तो पर

इसका हो जाता है? पर तो पररूप रहा है। आहाहा! धर्मादि अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, छह द्रव्य, उनके विकल्प में अर्थात् उनके विचार के राग में एकाकार हो जाता है। आहाहा! राग से भिन्न मेरी चीज़ ज्ञाता है, उसका भान भूल जाता है। आहाहा! **वह अपने को धर्मादि द्रव्यरूप मानता है।** उसका जो विचार और विकल्प आया, उसे अपना मानता है, वह परद्रव्य को ही अपना मानता है, ऐसा लेना यहाँ। परद्रव्य तो यहाँ आता नहीं, परन्तु परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा जो विकल्प, राग। आहाहा! कठिन काम!

मुमुक्षु : जैनधर्म ऐसा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : जैनधर्म ही यह है। दूसरा जैनधर्म है ही नहीं। दया पालो और व्रत पालो, वह जैनधर्म ही नहीं है।

मुमुक्षु : सामायिक करना और प्रतिक्रमण करना और प्रौषध करना....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब धर्म (नहीं); राग है। सब, वह जैन धर्म नहीं। भारी कठिन काम, बापू!

वीतराग तीन लोक के नाथ अनन्त-अनन्त तीर्थंकरों का यह पुकार है, अनन्त केवली परमात्माओं का पुकार यह है। प्रभु! तू निज परमात्मद्रव्य है न, परमात्मद्रव्य कहा न, भाई! उसमें ३२० (गाथा) में। निज परमात्मद्रव्य आहाहा.... सकल, 'जो सकल निरावरण' प्रभु अन्दर निरावरण वस्तु है, उसे भाव-राग और द्रव्यकर्म का आवरण, उसे है ही नहीं। वस्तु को क्या हो? जो सकल निरावरण अखण्ड एक अखण्ड वस्तु है, वह एक है, वह भेद, पर्याय बिना का तत्त्व है। अविनश्वर है, नाश न हो—ऐसा त्रिकाली तत्त्व प्रभु है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय। तेरी पर्याय में प्रत्यक्ष हो सके, ऐसी वह चीज़ है। आहाहा! शुद्ध पारिणामिक परमभाव, शुद्ध पारिणामिक जो त्रिकाली शुद्ध स्वभावभाव सहज त्रिकाली ऐसा जो परमभाव, वह जिसका लक्षण है, ऐसा निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। आहाहा! पर्याय मैं नहीं, यह भी नहीं। आहाहा! पर्याय ऐसा विचारती है कि 'यह' मैं हूँ, 'अखण्ड सकल निरावरण एक अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण जिसका' किसका? निज परमात्मद्रव्य का। आहाहा! वह मैं हूँ, इस प्रकार सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है। आहाहा! ऐई, उदाणी!

वहाँ उसमें-डॉक्टर में कहीं मिले ऐसा वहाँ मुम्बई में मिले, ऐसा नहीं है। ऐसा कहीं.... आहाहा! यह कल डॉक्टर का पत्र आया था, नहीं? पढ़ा नहीं? भाई! वह हमने नहीं दिया था, ब्राह्मण। पाठशाला भावनगर। ऐसा अर्धमागधी का बड़ा ब्राह्मण है। बड़ा-बड़ा प्रोफेसर यहाँ आया था। अपने बहिन की पुस्तक दी थी। यह कल उसका पत्र आया था कि महुवा में जैन साहित्य के सब बड़े-बड़े पण्डित इकट्ठे हुए थे मुम्बई से और सब यह बड़े मालविया और दूसरी बड़ी यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी बड़े होशियार, बड़े पण्डित इकट्ठे हुए। उसमें सबने भाषण किया। उसमें एक मैंने समयसार का भाषण किया था, लोग प्रसन्न-प्रसन्न हो गये। ऐसे प्रसन्न हुए कि ओहोहो! फिर वे श्वेताम्बर होंगे थोड़ा सा जीवविचार, नव तत्त्व का हो न पुस्तक, वह उसे भेंट दिया। परन्तु यह क्या चीज़ है? उसने बेचारे ने लिखा, पत्र आया है, मेरी बहुत महिमा की है, यह महिमा प्रभु मेरी नहीं, यह तो तुम्हारी है कहते हैं, ऐसा लिखा है। उसका पत्र आया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! तू निज परमात्मद्रव्य के अतिरिक्त, परद्रव्य का विकल्प उठता है, उस विकल्प का कर्ता हो, वह भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा!

इस प्रकार अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है, इसलिए अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है,... परिणाम का-विकार का कर्ता। **और वह अज्ञानरूप भाव उसके कार्य है,....** वह अज्ञान परिणाम किया, वह उसका कार्य है। बाकी दूसरे द्रव्य में उसका कोई कार्य है नहीं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-९६

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं-

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाण-भावेण।।९६।।

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मन्दबुद्धिस्तु।
आत्मान-मपि च परं करोति अज्ञान-भावेन।।९६।।

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मान-मपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसम्बन्धविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्य-धातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्म-भावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलम-ज्ञानम्।

तथा हि - यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्ट-चेष्टावष्टम्भ निर्भरभयंकरारम्भगम्भीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभाव-कानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणाम-विकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति।

यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मा-नावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रमषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारवि-निस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माऽप्यज्ञानाद् ज्ञेय-ज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्मा-काशकालपुद्गल-जीवान्तरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रियविषयीकृतरूपि-पदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति।।९६।।

'इसलिए कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ' यह अब कहते हैं :-

यह मन्दबुद्धि जीव यों परद्रव्य को निजरूप करे।
इस भाँति से निज आत्म को अज्ञान से पररूप करे।।९६।।

गाथार्थ : [एवं तु] इस प्रकार [मन्दबुद्धिः] मन्दबुद्धि अर्थात् अज्ञानी [अज्ञान-भावेन] अज्ञानभाव से [पराणि द्रव्याणि] परद्रव्यों को [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानम्] अपने को [परं] पर [करोति] करता है।

टीका : वास्तव में इस प्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि की भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादि की भाँति आत्मा परद्रव्यों को अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिए यह आत्मा, यद्यपि वह समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है तथापि, अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य-परिणामवाला होने से उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। इस प्रकार, भूताविष्ट (जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुष की भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुष की भाँति, आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टान्त से समझाते हैं:-

जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण भूत को और अपने को एक करता हुआ, अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बनसहित भयंकर आरम्भ[१] से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है; इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य-भावकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावक के लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणामविकारवाला होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। और जैसे अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष, अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेयज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं परद्रव्य हूँ' ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किए गए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक कलेवर (-शरीर) के द्वारा परम अमृतरूप

१. आरम्भ=कार्य; व्यापार; हिंसायुक्त व्यापार।

विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : यह आत्मा अज्ञान के कारण, अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है; और वह, जड़ ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। इसलिए वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है।

यहाँ, क्रोधादि के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्य द्रव्यों के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है।।९६।।

प्रवचन नं. १९०, गाथा-९६, दिनांक ०८-०२-१९७९, गुरुवार, माघ शुक्ल-१२

(समयसार) गाथा ९६,ऊपर पहली लाईन अब **'इसलिए कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ' यह अब कहते हैं....** पहली गाथा में आ गया है न? कि स्वयं ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप शुद्ध ज्ञानघन होने पर भी उसे भूलकर—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि १७ बोल, मूल में क्रोध आया था, १६ के बाद १७ हुए न? क्रोध तो मूल था, सोलह सूत्र बाद में। स्वयं ही शुद्धचैतन्य वस्तु है, ज्ञाता-दृष्टा, उसे भूलकर अनादि से अज्ञानी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म.... यह कर्म यहाँ सम्बन्धवाले लिये हैं। धर्मास्ति आदि में तो छह द्रव्य लेंगे ही, परन्तु यहाँ आठ कर्म, नोकर्म, आहारकशरीर, पाँच इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन और तीन शरीर—औदारिक, तैजस और कार्मण, उसे यहाँ नोकर्म कहते हैं। समझ में आया? आता है न ५५ श्लोक में, नौ बोल अर्थात् कि यहाँ क्रोध हो, मान, माया, लोभ, राग, यह व्यापार-धन्धे का राग, विषय का राग, मान का राग, यह सब राग है, यह वास्तव में तो कर्म के भावक का भाव्य है। यह आत्मा का स्वरूप नहीं, तथापि उसे स्वरूप के ज्ञान को भूलकर, मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ, माया हूँ, लोभ, लोभ, यह लोभ हूँ, राग और द्वेष-मोह हूँ, कर्म जो आठ हैं और नोकर्म

मन, वचन, काया, तीन शरीर और आहारकशरीर और श्वास आदि तथा मन, वचन और काया और पाँच इन्द्रिय कितने ? १७ बोल लिये हैं। विशेष समझना।

यह सब मैं हूँ, इसलिए उनका मैं राग का कर्ता हूँ, यह मिथ्यात्व अज्ञानभाव है। आहाहा! समझ में आया ? और धर्मास्ति आदि छह द्रव्य हैं, वे आत्मद्रव्य से पर हैं। उन छह द्रव्यों का विचार करने से जो विकल्प उठे, उस विकल्प का कर्ता हूँ, उसने छह परद्रव्यों को अपना माना। आहाहा! बहुत कठिन काम है। ऐसे १७ बोल और इसके अतिरिक्त भी गुण-गुणी भेद का विकल्प इत्यादि लेना। ये सब मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ, यह मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव है, यह संसार के परिभ्रमण का मूल है। आहाहा! और छह द्रव्य, इस आत्मा के अतिरिक्त पर—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल परमाणु आदि और अन्य जीव—स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और देव, गुरु, शास्त्र, यह अन्य जीव, वह मैं हूँ, वे मेरे हैं—ऐसा जो विकल्प—राग, उसका कर्ता हो, वह अज्ञान है। आहाहा! इस **कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ।** यह ऐसा कहते हैं, है न लाईन ऊपर ? **यह अब कहते हैं।** विस्तार करते हैं। ९६ गाथा।

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाण-भावेण।।९६।।

मन्दबुद्धि अज्ञानी कहा है। आहाहा!

नीचे हरिगीत, **मन्दबुद्धि जीव....** ओहो! विभंगज्ञान हो,संसार का बहुत क्षयोपशम का भाव हो तथापि उसे यह राग मेरा, परद्रव्य मेरे, ऐसी बुद्धि को मन्दबुद्धि कहा है। आहाहा! अज्ञान कहा है। मन्दबुद्धि का अर्थ... आहाहा! **इस भाँति से निज आत्म को अज्ञान से पररूप करे।** आहाहा!

टीका :- ९६ की टीका। **वास्तव में इस प्रकार....** सत्यार्थ रीति से देखें तो, कहते हैं इस प्रकार से जो कहा है यहाँ, **मैं क्रोध हूँ....** अरुचि आवे न अन्दर, वह मैं हूँ, यह मान्यता अज्ञान मिथ्यात्व है, आहाहा! वहाँ क्यों बैठे सुमनभाई! यहाँ जगह है। कहो, समझ में आया ?

मैं आनन्द और ज्ञान और वीतरागमूर्ति हूँ, ऐसा भूलकर, आहाहा! यह दया, दान

का भाव, राग और व्यापार आदि का भाव-राग और प्रतिकूलता में होनेवाला द्वेष, कर्म और नोकर्म आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन, ये सब मेरे हैं—ऐसा जो विकल्प करता है, उस विकल्प का कर्ता होता है। इसलिए उस कर्ता का मूल अज्ञान हुआ। है न? आहाहा!

आहाहा! **मैं क्रोध हूँ, इत्यादि की भाँति....** इत्यादि अर्थात् कि १७ बोल लेना है। यह क्रोध के अतिरिक्त १६ तो क्रोध के अतिरिक्त १६, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन और काया आदि और पाँच इन्द्रियाँ, यह १७ बोल में हूँ, ऐसा विकल्प करते हुए राग करे, उसका कर्ता हो, वह अज्ञान है। आहाहा! **और मैं धर्मद्रव्य हूँ....** छह द्रव्य, धर्मास्तिकाय तत्त्व है, भगवान ने देखा हुआ जगत में, उसका विचार करने से विकल्प उठता है, उस विकल्प का मैं कर्ता हूँ, उसमें धर्मास्तिकाय अपना है, ऐसा माना। आहाहा! ऐसे अधर्मास्ति, आकाश, काल और कर्म, नोकर्म में अमुक पुद्गल आये थे सम्बन्धवाले, उनके अतिरिक्त के सब पुद्गल और सब जीव। स्त्री का जीव हो, पुरुष का जीव हो, पुत्र का जीव हो, भगवान का भी जीव हो और गुरु का भी जीव हो, वे सब जीव पर हैं, इसे जो अन्दर विकल्प उठे कि मेरे हैं। वह उनका-उस चीज़ का कर्ता तो होता नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं चीज़ है। आहाहा! क्योंकि वह चीज़ है, उसका तो ये कर्ता होता नहीं, परन्तु उसका विकल्प उठाता है कि यह मेरे, ऐसे राग का यह कर्ता होता है, यह अज्ञान है, मिथ्या है। आहाहा! है? **मैं धर्मद्रव्य हूँ इत्यादि....** अर्थात् छह द्रव्य।

भाँति आत्मा परद्रव्यों को अपनेरूप करता है,.... इत्यादि की भाँति, आत्मा परद्रव्यों को अर्थात् क्रोध, मान, माया आदि और छह द्रव्यों को अपनेरूप करता है। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची आयी है। एकदम जिसे राग से भिन्न भेदज्ञान नहीं; यह विकल्प उठे उससे भेदविज्ञान नहीं, वे सब रागादि को अभेदरूप से मानकर अपना राग का चैतन्य परिणाम का कर्ता होता है। वह संसार है, दुःख है, मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व में अनन्त जन्म-मरण करने की ताकत है। आहाहा!

यह आत्मा परद्रव्यों को; परद्रव्य अर्थात् सभी क्रोधादि परद्रव्य अर्थात् यह राग,

दया, दान का, धन्धे का राग, यह सब पाप पर है। आहाहा! उन **परद्रव्यों को अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है।** पारस्परिक। क्रोध, राग, पुण्य, धर्मास्ति आदि परद्रव्यों को अपने करता है और अपने को परद्रव्यरूप करता है। आहाहा! दया पालने का भाव—राग है, वह दया पाल नहीं सकता परन्तु पालने का राग है, वह मेरा है, आहाहा! ऐसा जो विकल्प का कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। आहाहा! गजब बात है। यह तो वीर का मार्ग है। हीरालालजी! आहाहा!

एक ओर भगवान आत्मा आनन्द और अनन्त गुण का धाम वह और उससे भिन्न यह रागादि १७ बोल और धर्मास्ति आदि छह बोल, २३ बोल हुए, उसमें सब आ गये इसमें। आहाहा! इन बोल को अपने करता है और अपने को पररूप करता है, है? इसलिए यह आत्मा, **इसलिए यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित....** आहाहा! यह शुभ-अशुभराग, कर्म, नोकर्म और यह छह द्रव्य, इन सबसे—समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित है। भगवान तो रागादि छह द्रव्य से तो सम्बन्धरहित है। आहाहा! कहो, यह मेरा पुत्र और यह मेरा पिता....

मुमुक्षु : कल्पना मात्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा विकल्प उठावे, उसका कर्ता हो, वह परद्रव्य के राग और परद्रव्य से सम्बन्धरहित प्रभु है। आहाहा! यह १७ बोल और ६ बोल, इन २३ बोल के भाव से प्रभु-आत्मा रहित है। आहाहा!

ऐसा बेहद **समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित अनन्त (बेहद) शुद्ध चैतन्य-धातुमय है....** आहाहा! यह तो एक विचार ऐसा आया था, वह ४७ शक्ति है न? उसमें अस्तित्व किसमें आवे, कहा? तो यह जीवत्वशक्ति में अस्तित्व आता है। जीवत्वशक्ति है न, दर्शन, ज्ञान, आनन्द और सत्ता और एक साधारण—असाधारण, उसमें अस्तित्व आता है। आहाहा!

आत्मा में स्वयं अनन्त शुद्ध अस्तित्व स्वभाववान तत्त्व है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह सब पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, शरीर और वाणी, मन और कर्म, आहार और श्वास, यह श्वास, आहार लेने की वृत्ति

आहार, श्वास, भाषा, मन, आहाहा! आहार, श्वास, भाषा, मन, दस प्राण है, उनसे प्रभु अन्दर भिन्न है और अन्य आत्मायें तथा अन्य परमाणुओं से भी तू प्रभु बेहद शुद्ध चैतन्यधातु पर के सम्बन्धरहित है। आहाहा! उसे सम्बन्धवाला मानना, यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! भाषा तो सादी है, भाई हीरालालजी! ऐसा है। माल है माल। यहाँ तो एक ओर राम और एक ओर गाँव, एक ओर यह राग से लेकर सभी द्रव्य पर, उनके सम्बन्ध से प्रभु आत्मा रहित है। आहाहा! परन्तु है कैसा? सम्बन्धरहित है, है कैसा? आहाहा! **अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है....** आहाहा! जिसने ज्ञान धार रखा है, धातु अर्थात् ज्ञानस्वभाव, बेहद, अपरिमित—मर्यादा बिना का जिसका ज्ञान अपरिमित अनन्त है। **अनन्त....** चैतन्यधातु, आहाहा! शुद्ध चैतन्यधातु वापस, ऐसा है प्रभु आत्मा तो, उसे आत्मा कहते हैं। **अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है....** चैतन्य धातुवाला, ऐसा नहीं; अनन्त शुद्ध चैतन्यमय धातु चैतन्यमय। पूरा चैतन्यपना अनन्त बेहद जिसने धार रखा है। आहाहा! यह राग और दया, दान के विकल्प को-पर को धार नहीं रखता, वह तो पर के सम्बन्धरहित ही प्रभु है। आहाहा!

अरे रे! अनन्त-अनन्त काल में भटकते हुए इसने अपने चैतन्य वस्तु क्या है? उसका इसे भान और माहात्म्य नहीं आया, उसे छोड़कर पर का माहात्म्य आया। आहाहा! कुछ पैसे हुए दो-पाँच करोड़, लड़के अच्छे हुए, इज्जत, दो वर्ष में लड़के, सोलह वर्ष में आठ हो, चौबीस वर्ष में बारह, दो-दो वर्ष में लड़के हों और वापस सब कमाना सीख जायें, इसलिए मानो कि ओहोहो! मैं कितना बड़ा हुआ हूँ। हैं? बारहभाया नहीं? वीछिया में है न, बारहभाया, बारह, वीछिया में है। बारह क्या बत्तीस हजार लड़कियाँ—चक्रवर्ती को ६४ हजार पुत्र होते हैं। चक्रवर्ती है, उसे ६४ हजार पुत्र, ३२ हजार पुत्रियाँ—छियानवें हजार। अरे! किसके हैं, बापू! आहाहा! वे मेरे हैं और मैं उनका, उन्हें मेरा किया और अपने को उनका किया, आहाहा! ऐसा प्रभु का मार्ग।

(बेहद) **अनन्त....** पर राग के विकल्प और धर्मास्ति परजीव के, परमाणु के-पुद्गल के कर्म के आहार और श्वास के, यह श्वास है न अन्दर, उसके सम्बन्ध से रहित प्रभु अन्दर है। समझ में आया? यह श्वास चलती है, उसमें है आत्मा के प्रदेश। अकेला परमाणु नहीं, परन्तु उस श्वास से भी भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! आहार,

शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा, मन, नौ, छह और तीन शरीर—औदारिक, तैजस और कार्मण, औदारिक वैक्रियिक और आहारक। तैजस और कार्मण तो आ गया आठ कर्म में। उनसे भगवान आत्मा अनन्त—बेहद जिसकी चैतन्यधातु शुद्ध है, जिसकी हद नहीं, मर्यादा नहीं। आहाहा! ऐसा शुद्ध चैतन्यधातुमय भगवान आत्मा, उसे ऐसा होने पर भी, आहाहा! बेहद शुद्ध चैतन्यधातुमय प्रभु तो आत्मा है। आहाहा! ऐसा होने पर भी धातुमय है, **तथापि....** ऐसा, **अज्ञान के कारण....** यह बेहद चैतन्यधातु मैं हूँ, उसके अज्ञान के कारण। उसका भान इसे नहीं। बेहद—मर्यादा बिना का शुद्ध चैतन्यधातु बेहद। आहाहा! ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान.... ज्ञान जिसकी हद नहीं, ऐसी बेहद शुद्ध चैतन्यधातु भगवान आत्मा, ऐसा होने पर भी, तो भी अज्ञान के कारण अपने ऐसे स्वरूप के अज्ञान के कारण, आहाहा! ऐसा उसका स्वरूप है, तथापि उसके भान बिना, आहाहा!

ऐसा हीरा अन्दर भगवान बेहद शुद्ध चैतन्यधातुमय हीरा महाप्रभु है, चैतन्य रत्नाकर! आहाहा! ऐसा है तो भी अज्ञान के कारण उसकी इसे खबर नहीं। मैं ऐसा हूँ, ऐसी इसे खबर नहीं। आहाहा! **अज्ञान के कारण ही....** आहाहा! अज्ञान के कारण ही; कर्म के कारण—ऐसा नहीं। अपने ऐसे स्वरूप के अज्ञान के कारण ही, आहाहा! **सविकार और सोपाधिक...** दो लिये। सविकार क्रोध आदि, सोपाधिक छह द्रव्य। **किये गये चैतन्य परिणामवाला होने से....** विकारसहित और सोपाधिक छह द्रव्य पर है, उनका विकल्प उठाकर उपाधिवाला भाव, उससे किये गये चैतन्यपरिणामवाला होने से, चैतन्य के ऐसे विकारी और उपाधिक परिणाम अवस्थावाला होने से **उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।** आहाहा! पर का नहीं। यह प्रकार ये मेरे हैं और मैं इनका हूँ, ऐसा जो विकल्प, उसका वह कर्ता होता है। आहाहा! है?

क्या टीका! आहाहा! अभी भरतक्षेत्र में ऐसी टीका अन्यत्र तो नहीं परन्तु जैन दिगम्बर में यह ऐसी टीका है, ऐसी दूसरे में नहीं! आहाहा! केवली के कथन भरे हैं अकेले। आहाहा! यह १७ बोल कहे वे, और छह द्रव्य। वे मेरे हैं, ऐसा सविकार और छह द्रव्य मेरे हैं, ऐसा सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणामवाला, वह चैतन्य का परिणाम है, विकारी, वह मेरे और मैं उसका—ऐसे चैतन्य के परिणाम का विकारीभाव है, **उस**

प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। आहाहा! उस प्रकार के राग का और विकार के भाव का-उपाधिभाव-विकारी मेरा है, ऐसे भाव का वह कर्ता प्रतिभासित होता है। छह द्रव्य हैं, उनका वह कर्ता कहाँ है? वह तो पर है। आहाहा! कर्म और नोकर्म, वह भी पर है। उसका कर्ता कैसे हो? वह तो परवस्तु है तो उसकी ओर के लक्ष्यवाला यह मेरे हैं और मैं उनका, ऐसा जो विकारी भाव, उस चैतन्य के परिणाम से परिणमता विकारी, उसका वह कर्ता प्रतिभासित होता है। उसे आत्मा बेहद अनन्त चैतन्यधातु है, वह प्रतिभासित नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा बेहद अनन्त... अनन्त... अनन्त... चैतन्यधातु ऐसा जो भगवान आत्मा अन्दर, उसे न जानकर उसका अज्ञान होने के कारण, जो इसमें नहीं, वे राग-द्वेष, दया, दान, पुण्य, परिणाम वे आत्मा में नहीं, वे आत्मा के नहीं, उन्हें अपने विकल्प से करता हुआ, आहाहा! ऐसा वहाँ मुम्बई में कहीं मिले ऐसा नहीं है। वहाँ कहीं होली सुलगती है। मोहमयीनगरी तो मोहमय....

मुमुक्षु : आप आये तब मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अकेले बिना की बात की और अकेले वहाँ रहते हैं न? आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव, परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! तू बेहद चैतन्यधातुवाला है न, नाथ! बेहद शुद्ध चैतन्यधातु चैतन्य बेहद को धरनेवाला धार रखा हुआ तू है न? ऐसी चीज़ की तुझे खबर नहीं प्रभु, और उसे भूलकर उसमें नहीं, उसका सम्बन्ध तुझे नहीं, ऐसे दया-दान के परिणाम और परद्रव्य और परद्रव्य को मेरा मानकर राग का कर्ता है प्रभु ऐसा मूढ़रूप से अज्ञानरूप से तू कर्ता होता है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बातें हैं। सुनना कठिन पड़े। अरे! क्या हो, भाई!

अरे! बेहद शुद्ध चैतन्यधातु प्रभु है न तू, तुझे तेरी खबर नहीं, नाथ! अनन्त-अनन्त बेहद चैतन्यधातु, चैतन्यरत्नाकर, अनन्त-अनन्त पवित्र गुणों का चैतन्य का धाम प्रभु तू है। आहाहा! इसके अज्ञान के कारण, उसके भान बिना, उसमें नहीं ऐसे पुण्य और पाप के भाव तथा छह द्रव्यों को विकल्प से 'मेरा' करके तू विकल्प का अज्ञानरूप से कर्ता होता है। भाई! तेरे सब भटकने के लक्षण हैं।

कहते हैं कि यह दया की, दान देना, भक्ति करना, भगवान की पूजा करना, व्रत करना, अपवास करना, वह धर्म है—ऐसा अज्ञानी कहता है। यहाँ कहते हैं, वह तो सब विकल्प-राग है। भाई! तुझे खबर नहीं। यह चैतन्य तो आनन्दकन्द जिसमें राग की वृत्ति उठे, ऐसा स्वरूप ही नहीं। आहाहा! कहो, शशीभाई! आया है, देखो न! कितना सरस आया है, आहाहा! प्रभु! तू तो बेहद अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... चैतन्यधातु ज्ञान-दर्शन का धारक, ऐसा अनन्त गुण का धारक पवित्र प्रभु तू है न! ऐसा होने पर भी प्रभु! तुझे तेरी खबर नहीं। तेरे स्वभाव के बेहद के भान बिना का तुझमें नहीं ऐसे शुभ-अशुभराग और परद्रव्य को मेरा करके-विकल्प करके तू विकल्प का कर्ता होता है, वह अज्ञान है। आहाहा! हीरालालजी! बहुत सरस आया है, हों! आहाहा!

मुमुक्षु : भाग्यशाली.....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग्यशाली! आहाहा! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञदेव फरमाते हैं, वह यह सन्त प्रसिद्धि (करते हैं), आड़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं।

प्रभु! तू प्रभु है, आज तो ऐसा आया था, एक-एक गुण में प्रभुता भरी है, जीवत्वशक्ति प्रभुता से भरी है, चितिशक्ति प्रभुता से भरी है, दृशिशक्ति प्रभुता से भरी है, ज्ञान, सुखशक्ति, वीर्य, विभुत्व, प्रभुत्व, सर्वदर्शी भी प्रभुता से भरी है। सर्वज्ञशक्ति प्रभुता से भरी है। आहाहा! ऐसी अनन्त शक्तियों का सागर और एक-एक शक्ति में प्रभुता से भरपूर गुण, ऐसे अपरिमित गुण का धारक प्रभु तू और उसे भूलकर पामर जो राग, दया, दान, व्रत, विकल्प का राग, उसका अज्ञानरूप से कर्ता होता है। प्रभु! तू भटक मरेगा। आहाहा! चिमनभाई! आहाहा! ऐसा है। मुम्बई में तो हम आवें, तब इतनी अधिक सूक्ष्म बातें करें तो दस-दस हजार लोग वहाँ हों। आहाहा! दृष्टान्त और तर्क और ऐसा सब करें, तब मुश्किल से (पकड़ में आये)। क्या करे? ऐसी यह चीज़ अभी सम्प्रदाय में से विलुप्त हो गयी है। पूरी। आहाहा!

प्रभु तीन लोक के नाथ वीतरागदेव ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! तू कौन है? तू राग? तू दया-दान के परिणाम वह तू? तू परजीव? शरीर तू? कर्म तू? श्वास तू?

आहार तू? आहाहा! भाषा तू? मन तू? नहीं। आहाहा! भगवान प्रभु अन्दर चैतन्य तो बेहद शुद्ध चैतन्यधातु। धातु अर्थात् चैतन्यपना जिसने धार रखा है, आहाहा! सर्वज्ञपना जिसने धार रखा है। आहाहा! बेहद कहा न? चैतन्यधातु बेहद कही न? और सर्वज्ञ स्वभाव जिसने धार रखा है, आहाहा! ऐसे अनन्त-अनन्त गुण, बेहद हैं, उन्हें प्रभु तूने धार रखा है, अर्थात् कि तुझमें है। ऐसी चीज़ को तू भूल गया, प्रभु! और उसे भूलकर यह राग मेरा, पुण्य मेरा और दया, दान के परिणाम वे मेरे, प्रभु! तूने यह क्या किया? तू अज्ञानरूप से उस राग का कर्ता हुआ, प्रभु! आहाहा! पुंजाभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

तीन लोक के नाथ परमेश्वर जिनेश्वर सर्वज्ञदेव, इन्द्रों और गणधरों के बीच यह फरमाते थे। आहा! यह बात है, प्रभु! तुझे तेरी महिमा नहीं जँचती, नाथ! आहाहा! एक राग जरा आया स्त्री का, परिवार का, वहाँ तो प्रसन्न-प्रसन्न। आहाहा! मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मैं कमाऊँ, लो लाख-दो लाख महीने में पैदा करता हूँ। अरे! क्या है, प्रभु! तुझे यह क्या हुआ? यह सन्निपात कहाँ से लगा। ऐ... भोगीभाई! ऐसी बातें हैं। यहाँ तो बड़े भाई को लाये, अच्छा किया, साथ में-साथ में। बापू! क्या करें हम। मार्ग यह है। भले दुनिया न माने और न हो, इससे सत् है, वह बदल जाये—ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या बात है ९६ गाथा! हीरालालजी! भाग्यशाली आये परन्तु यह बराबर देखो। आहाहा! बाकी तो जैसा हो वह हो शरीरादि का। आहाहा!

प्रभु! २३ बोल कहे—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन-वचन और काया, बारह और पाँच इन्द्रियाँ—सत्रह, इसके अतिरिक्त भी जितने विकल्प उठते हैं वह राग। वह सब पर है, उसके साथ तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। और यह धर्मास्ति, अधर्मास्ति भगवान ने, जिनेश्वरदेव ने, तीन लोक के नाथ ने छह द्रव्य देखे, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। प्रभु! इन छह द्रव्यों के साथ तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! और उनका हूँ, ऐसा मानकर अज्ञानरूप से उस प्रकार के राग का और विकार का तू कर्ता होता है। विकारी परिणाम का और उन छह द्रव्य के विकल्प के उपाधिभाव का। आहाहा! क्या गाथा! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य

ने अमृत बहाया है! आहाहा! यह इसमें आयेगा। अभी आयेगा, अन्त में आयेगा। अमृत का सागर भागवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, अमृत का सागर प्रभु, आहाहा! मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है। क्या कहा?

यहाँ आता है नीचे, देखो! आहाहा! नीचे है देखो! नीचे अन्तिम लाईनें, **रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवलबोध (-ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक कलेवर....** यह अन्तिम गाथा, अन्तिम। मृतक कलेवर द्वारा, यह तो मुर्दा है, प्रभु! यह शरीर तो मृतक कलेवर, परमाणु मिट्टी मुर्दा है। इसमें यह चेतना नहीं कोई चेतना तो अलग चीज़ है। यह मृतक कलेवर है, प्रभु। आहाहा! **मृतक कलेवर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं)...** है? प्रभु तो बेहद परम विज्ञानघन आत्मा है। आहाहा! परम अमृतरूप। अमृतचन्द्राचार्य हैं न! आहाहा! यह (शरीर) मृतक मुर्दा-मुर्दा, धूल, मिट्टी, मुर्दा है, प्रभु! उस मृतक कलेवर द्वारा अमृत, **परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होने से....** यह मेरे हैं और यह मैं (उसका) हूँ, ऐसा मूर्च्छित हो गया प्रभु! तू **उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।** फिर अन्तिम यह शब्द है। आहाहा!

यह अमृत बेहद धातु में यह लेना। अमृत का कुण्ड है आनन्द-आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द का बेहद, अपरिमित अतीन्द्रिय आनन्द का शुद्ध आनन्द का कन्द प्रभु है, ऐसा होने पर भी वह अमृत का सागर प्रभु, मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है। आहाहा! मुर्दा, शरीर मुर्दा है, यह तो मिट्टी है। भगवान अमृत का सागर अन्दर प्रभु है, ऐसा जिनेश्वरदेव फरमाते हैं और ऐसा है। आहाहा!

अमृत का, परम अमृत का विज्ञानघन, ऐसा लिया था न? परम अमृतरूप विज्ञानघन ऐसा वापस। आनन्द और ज्ञान दोनों पूरे हैं। परम अमृतरूप विज्ञानघन अन्दर भगवान आत्मा है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! घन-विज्ञानघन अर्थात् उसमें दया, दान के विकल्प का प्रवेश अन्दर नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश कहाँ? वे कहें, दया पालो, व्रत करो, अपवास करो तो ऐसा तो उपदेश सुनते हैं। उसमें क्या धूल में था? वह तो राग की क्रिया करे और राग मेरा माने, (वह तो) मूढ़ मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! परम अमृतरूप, परम अमृतरूप, परम आनन्दरूप,

परम अतीन्द्रिय आनन्द-सुखरूप, विज्ञानघन। आहाहा! ऐसा जो अमृतस्वरूप भगवान, मृतक कलेवर—मुर्दे में मूर्च्छित हो गया है। वह अमृत का घन मुर्दे में मूर्च्छित हो गया है। आहाहा! ऐसी बातें तो सुनने में कभी मिले। ऐसी बात है, बापू! क्या हो? आहाहा!

परमात्मा तीर्थंकरदेव के श्रीमुख से निकली हुई यह दिव्यध्वनि है, उसे सन्त अपनी भाषा से.... आहाहा! यह कहा न, कि बेहद पर के सम्बन्ध से रहित होने पर भी, है कैसा? **बेहद शुद्ध चैतन्यधातुमय...** शुद्ध चैतन्यधातुस्वरूप, आहाहा! भगवान आत्मा का तो शुद्ध चैतन्य, शुद्ध अमृत, आनन्दस्वरूप उसका है। आहाहा! ऐसा जो अमृतस्वरूप विज्ञानघन, आहाहा! मृतक कलेवर, मुर्दा, अरे! राग और द्वेष और पुण्य-पाप, वे मुर्दे-मुर्दे हैं। वे चैतन्य बिना के मुर्दे हैं। आहाहा! क्या कहा यह? जो शुभ-अशुभ, दया, दान, व्रत, तप का विकल्प राग, वह मुर्दा है, मुर्दा अर्थात् उसमें चैतन्यस्वरूप नहीं है। आहाहा! वह मुर्दा है, शरीर मुर्दा है। आहाहा! यह चैतन्य के प्राण से वह मर गया है। भगवान! तू चैतन्य के प्राण से भरपूर है। आहाहा! क्या यह वह बात होगी! आहाहा! ऐसा होने पर भी। अज्ञान के कारण यह रागादि पुण्य आदि दया-दान के विकल्प मेरे और परजीव मेरे, परद्रव्य मेरा, परमाणु मेरे, पैसे मेरे, मकान मेरे, ओटला मेरे, वस्त्र मेरे, जेवरात / गहने मेरे,.... अरे प्रभु! यह तुझे क्या हुआ? आहाहा! मकान बनाया हो पच्चीस लाख का, पचास लाख का, देखो! यह कैसा है, कि यह तुझे क्या है यह? वह तो पर है तुझे और उसे क्या सम्बन्ध है? आहाहा! कहो, मंगलभाई! यह ऐसी मंगलमय बातें हैं। आहाहा!

प्रभु! तू चैतन्यधातु और अमृत का सागर है न, प्रभु! ऐसी तुझे खबर नहीं, उस अज्ञान के कारण, यह राग, पुण्य, दया, दान, व्रत के परिणाम और शरीर, वाणी, मन और मकान, यह फर्नीचर और मकान.... अभी तो फर्नीचर देखो न, कैसा होता है! कहा था न? गये थे मुम्बई, एक मणीभाई हैं न, मुम्बई, यह रसिकभाई राजकोटवाले, नहीं? बहिन के बहनोई, शान्ताबेन के। रसिक-रसिकभाई के बहनोई मणिभाई हैं, पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। वहाँ आहार करने गये थे, आहार करने मुम्बई, टाटा उस ओर और उस ओर वह कितने कमरे मकान के मखमल बिछाये हुए और सर्वत्र चरण कराये। पाँच

लाख का तो सब फर्नीचर होगा। और पहले गये, तब एक लड़का बीमार था, वह विजय, विजय लड़का नहीं गुना का? बेचारा बहुत होशियार था, बारह महीने का विवाहित और किडनी का दर्द हुआ और यहाँ पहले रह गया था, कुँवारा रह गया था, परन्तु लड़का बहुत.... किडनी का दर्द हुआ था दर्शन, आहाहा! पहले वहाँ गया था। फिर ऐसा लड़का था। ऐसा, परन्तु फिर तो उसकी माँ ने किडनी दी, लड़का मर गया था। उसे शास्त्र का जानपना, उसको दर्शन के लिये गये और फिर यह मणिभाई के घर में आहार किया, मणिभाई ऐडन में दुकान है। अरबस्तान में बड़ी दुकान है।

धूल में कोई यह मखमल के तेरे गद्दे हों। उन्हें और प्रभु तुझे क्या सम्बन्ध है? प्रभु! तू कहाँ और वे कहाँ? तुझे और उन्हें क्या सम्बन्ध है? अत्यन्त एक-दूसरे में अभाव है न, प्रभु! तू उन्हें स्पर्श भी नहीं करता। यह आत्मा है, वह शरीर को स्पर्श भी नहीं करता, यहाँ। अरे रे! कैसे जँचे? शरीर को आत्मा स्पर्श भी नहीं करता क्योंकि शरीर और आत्मा के बीच तो अत्यन्त अभाव है, एक-दूसरे को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, बातें करे न जब। उसे—लड़की को जब विदा करना हो तब दो-पाँच लाख रुपये, पचास हजार, दो लाख का, क्या कहलाता है वह? (दहेज) दहेज। दहेज को खाट पर बिछावे, सगे-सम्बन्धियों को बुलावे, पचास तोला सोना दिया है और यह पंखा है और इतनी साड़ियाँ हैं। क्या है परन्तु यह तुझे? यह सब देखा है न? अरे! प्रभु! तुझे और उन्हें क्या सम्बन्ध है? कहाँ तू और कहाँ वे? सगे-सम्बन्धियों को बुलावे, ऐसा कहे। देखो! लड़की को अच्छा दिया है, पचास हजार, लाख का माल दिया है। बड़ा हो तो लाख-दो लाख, पाँच लाख दे और साधारण मारवाणी हो तो भी एक लाख साधारण दे, अभी गृहस्थ है वह दहेज, दहेज कहलाता है। क्या कहलाता है? (दहेज, दहेज) दहेज। आहाहा! वहाँ तो फूलकर फूल जाता है। उस लड़की को ऐसा हो, आहा! मेरे पिता ने भी भले हिस्सा न दिया भाईयों का, परन्तु चार-पाँच भाई हों तो भी यह इतना दिया न, अब तो हिस्सा करने का कहती है, सरकार अब तो। अरे! भगवान! वह चीज़ कहाँ तेरी है? तथा तुझे और उसे क्या सम्बन्ध है? है? यहाँ कहा।

समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित.... भगवान आत्मा अन्दर, अमृत का सागर

अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय बेहद ज्ञान का स्वरूप जिसका, ऐसा भगवान वह पर को और उसे कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! यह दया के परिणाम राग के उन्हें और तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, प्रभु! बैठाना कठिन पड़े, दुनिया उसे धर्म मान बैठी। अपवास करे, वहाँ विकल्प है, वह तो अपवास का राग है, शुभराग; वह कोई तपस्या नहीं। तपस्या तो आनन्दस्वरूप भगवान में रमणता और अतीन्द्रिय आनन्द को प्रगट करे, उसका नाम तपस्या है। यह तो सब लंघन है। बलुभाई! हमारे बलुभाई ने किया था न बारह महीने। यह तो दृष्टान्त सामने बैठे हों उनका। घर का दृष्टान्त दिया जाये न! बापू! सबने ऐसा किया है। आहाहा! गजब बात है।

कहते हैं कि बेहद अर्थात् अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त की क्या कहना उसकी मर्यादा!! ऐसा जिसका चैतन्यस्वभाव, ऐसा जिसका अमृत आनन्दस्वभाव, ऐसा जिसका प्रभुत्वस्वभाव, ऐसा जिसका शान्ति-वीतरागीस्वभाव, ऐसा जो चैतन्यधातु आदि अनन्तगुण का धारक प्रभु तू; तुझे और पर को, राग को और पर को क्या सम्बन्ध है? भाई!

मुमुक्षु : संयोगसिद्धसम्बन्ध कह सके न?

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोग अर्थात् पर, अर्थात् कुछ नहीं। पुण्य और पाप के भाव को संयोगी भाव कहा। संयोगी अर्थात् वह तेरा स्वभाव नहीं। पर है। उसे और तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्बन्ध तो दो के बीच होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध का अर्थ ही कि वह पर है। संयोगसम्बन्ध कहा, इसका अर्थ ही पर है। वह स्वभावसम्बन्ध नहीं। संयोगसम्बन्ध अर्थात् परचीज़ है उसकी, उसे (और) तुझे संयोगसम्बन्ध अर्थात् कुछ सम्बन्ध नहीं अन्दर! भारी कठिन काम, बापू! अब ऐसी बातें धर्म की। वे बेचारे दो घड़ी निवृत्त हो और धन्धे में से दो घण्टे सुनने जाये तब उसे कहे कि अपवास करो, व्रत करो, दया पालो, ऐसा कहे इसलिए बेचारा प्रसन्न हो और वह भी चला जाये भटकने। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू एक बार सुन तो सही! आहाहा! बेहद

आनन्द और बेहद ज्ञान और बेहद शान्ति और बेहद स्वच्छता, बेहद प्रभुता, ईश्वरता से भरपूर भगवान तू है। ऐसे परमेश्वर के अनन्त गुणों से भरपूर प्रभु, उसे राग और पर के साथ ऐसा कुछ सम्बन्ध नहीं है। तथापि वे मेरे हैं, ऐसा मानकर राग करता है और राग का कर्ता अज्ञानरूप से होता है। तेरे स्वरूप की तुझे खबर नहीं है। आहाहा!

अब यहाँ विरोध करे न बेचारे, सम्प्रदाय में, ऐई! अब यह तो सब राग को दया के राग को भी पाप कहते हैं। पाप अर्थात् पर कहते हैं। यह तो दुःख। पाप कहते हैं। पाप। पुण्य को पुण्य तो सब कहे, पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु अनुभवी पुण्य को पाप कहे। आहाहा! कठिन काम, भाई! वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी में यह आया है और ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

प्रभु! तू कहाँ मूर्च्छित हो गया? अरे! तू राग में मूर्च्छित हो गया प्रभु! उसमें तेरा स्वरूप नहीं। शरीर में मूर्च्छित हो गया, इस मृतक कलेवर में, इस स्त्री के शरीर में मूर्च्छित हो गया, इस जड़ पुद्गल में। आहाहा! यह माँस, हड्डियाँ, चमड़ी को चूंथने में गया, वहाँ कहता है यह मुझे मजा आया। क्या हुआ प्रभु तुझे यह? आहाहा! ऐसी बातें हैं, चिमनभाई! पन्द्रह दिन है न मुम्बई? आहाहा! गजब बात, भाई! गाथा बहुत अच्छी आयी। भाई देवीलालजी! बहुत अच्छी भगवान! आहाहा!

प्रभु! तेरा रूप कौन है अन्दर? यह हीरा तो तू है, तू चैतन्य हीरा प्रभु! यह हीरा का नाम शरीर का, वह तू नहीं। बहुत सरस गाथा। तू है बेहद शुद्धचैतन्य धातु, तू है बेहद आनन्द धातु, तू है बेहद शान्ति का धारक, तू है बेहद वीतरागभाव से भरपूर! तू है अनन्त ईश्वर की शक्ति से पूर्ण भरपूर, तू है कर्ता के स्वभाववाला। आनन्द का कर्ता के स्वभाववाला, ईश्वर से भरपूर, आहाहा! तू है अनन्त वीतरागी कार्य का करनेवाला ऐसा, कर्म नाम के गुण से भरपूर, आहाहा! तू है अनन्त आनन्द के साधन का ऐसा बेहद साधन का करण गुण से भरपूर। आहाहा! आहाहा!

यह चैतन्यधातु प्रभु तू जीव, उसे आत्मा कहते हैं। उसे भूलकर तू तुझमें कुछ नहीं, उसके साथ सम्बन्ध, राग आवे और जाये, छूट जाये, शरीर आये और जाये, छूट जाये। आहाहा! उस पर के पदार्थ और मुझे सम्बन्ध है, ऐसा मानकर राग का कर्ता,...

पर का तो कर्ता, पर का कर्ता किस प्रकार हो ? पर तो वस्तु है, उसका कर्ता किस प्रकार हो ? शरीर का कर्ता किस प्रकार हो ? शरीर तो यह जड़, मिट्टी, धूल है। वह मेरा है, ऐसा मानकर स्वरूप के अज्ञान से राग का कर्ता होता है। बात बहुत सरस है। हमारे हीराभाई आते हैं प्रतिदिन। बराबर। ऐसा सुनने बापू कहाँ रह गये। आहाहा! यह बात है, धन्य पल, धन्य क्षण। आहाहा!

उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। ऐसी भाषा आयी न ? वह शरीर का कर्ता और वाणी का कर्ता और परद्रव्य का कर्ता तो नहीं। आहाहा! परन्तु वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ, ऐसा जो अज्ञानभाव राग, ऐसे विकारी परिणाम का तू कर्ता होता है, जिसके कारण चार गति में भटकना होता है। आहाहा! आहाहा! है ? एक दृष्टान्त है.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९१, गाथा-९६, दिनांक ०९-०२-१९७९, शुक्रवार, माघ शुक्ल-१३

समयसार, गाथा ९६, टीका फिर से। **वास्तव में इस प्रकार 'मैं क्रोध हूँ'....** सत्रह बोल हैं यह। छह बोल द्रव्य के हैं, (कुल) २३ बोल हैं। **मैं क्रोध हूँ इत्यादि की भाँति और मैं धर्मद्रव्य हूँ, इत्यादि की भाँति, आत्मा परद्रव्यों को अपनेरूप करता है।** इस प्रकार भगवान आत्मा शुद्धचैतन्यधातु परम बेहद होने पर भी, उसे भूलकर राग और क्रोधादि, या धर्मास्ति, या परजीव आदि मेरे हैं, ऐसा मानता है। मानता है, (परन्तु) ऐसे होते नहीं। आहाहा! **और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है....** पर को अपने करता है और स्वयं पर का होता है। आहाहा! राग मेरा है और मैं राग का हूँ, पुत्र मेरा है और मैं पुत्र का पिता हूँ—इस प्रकार अज्ञानी परद्रव्य को अपना करता है। और अपने को पररूप करता है। आहाहा! पर को अपनेरूप मानता है और अपने को पररूप मानता है। आहाहा!

इसलिए यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओं के.... समस्त वस्तुओं के, यह दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोधादि परिणाम और छह द्रव्य पर, सभी वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित प्रभु है। आहाहा! विकल्प है राग मात्र और छह द्रव्य है, परमेश्वर परमेश्वरपना, वह द्रव्य और पर के सम्बन्ध बिना का द्रव्य है। आहाहा! **यद्यपि समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित....** क्या है वह? **अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है।** अनन्त-अनन्त शुद्ध चैतन्य की धातु अर्थात् चैतन्यपना जिसने धार रखा है, वह राग और परद्रव्य जिसने धारा नहीं है, इसके स्वरूप में। आहाहा!

यह तो अनन्त बेहद, शुद्ध चैतन्यधातु, चैतन्यस्वरूप अनन्त बेहद चैतन्यस्वभाव जिसने धार रखा है, ऐसा होने पर भी, **तथापि अज्ञान के कारण...** यह शुद्ध चैतन्यधातु वह मैं हूँ, उसके अभान के कारण। आहाहा! मैं यह हूँ शुद्ध चैतन्यधातु बेहद, वह मैं हूँ—ऐसा भूलकर। वह मैं हूँ-ऐसा भूलकर, आहाहा! अज्ञान के कारण जो अपने स्वरूप का बेहद अनन्त शुद्ध चैतन्य को मैं हूँ, ऐसा भूलकर, **सविकार और सोपाधिक....** यह राग और दया, दानादि के परिणाम मेरे हैं, यह सविकारी परिणाम मेरे हैं और सोपाधिक अर्थात् छह द्रव्य जो अत्यन्त पृथक् हैं, वे मेरे हैं, ऐसी उपाधि **किये गये चैतन्य-परिणामवाला होने से....** वे परिणाम हैं चैतन्य के, राग मैं (ऐसा) मानूँ, ऐसा माना,

परजीव और परमाणु मेरे, ऐसा माना, ऐसे चैतन्य के परिणामवाला होने से, आहाहा! 'चैतन्य के विकारी परिणामवाला होने से' आहाहा! **उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है....** उस प्रकार के, जिस प्रकार के, पर को अपना मानता है, उस प्रकार का वह आत्मा कर्ता प्रतिभासित होता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

निश्चय से तो चैतन्य भगवान राग के कण का गुण-गुणी के भेद का कण-राग, उससे भी सम्बन्धरहित प्रभु है, ऐसा चैतन्य सामान्य त्रिकाली स्वभाव को भूलकर, और जो उसमें नहीं है और जिसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसे नहीं सम्बन्धवाले, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के परिणाम और पर परमाणु, स्कन्ध, मकान आदि वे परद्रव्य हैं, उन्हें अपने—सविकारी परिणाम से विकार आदि को करता है, और सोपाधिक पर से जो उपाधिवाला अपने को, उसे अपना करता है। आहाहा! ऐसा है। यहाँ तक आया था।

इस प्रकार भूताविष्ट (जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे)... आहाहा! भूतार्थ भगवान, आहाहा! जिसके शरीर में भूत लगा हो, आहाहा! ऐसे भूतार्थ भगवान को, रागादि भूत की चेष्टा सब। आहाहा! **(जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुष की भाँति...** यह पहला दृष्टान्त। राग-द्वेष, पुण्य, दया, दान, व्रत आदि के परिणाम वे 'भूताविष्ट' शरीर में प्रवेश किया हो, उसका दृष्टान्त। बाद में विशेष कहेंगे।

और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुष की भाँति.... दूसरा परद्रव्य, परद्रव्य का ध्यान करने से मानो परद्रव्यमय हूँ, ऐसे ध्यानाविष्ट पुरुष की भाँति, आत्मा को कर्तापने का **आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ।** स्वरूप का ज्ञान नहीं, ऐसा जो अज्ञान, वह राग और पर को कर्तापन का कारण तो अज्ञान सिद्ध हुआ। आहाहा! कर्म है, उसके कारण वह कुछ नहीं, आहाहा! चैतन्य बेहद अनन्त आनन्द धातु, अरे! अनन्त-अनन्त शक्तियाँ और गुण की धातु जिसने धार रखी है, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके अज्ञान के कारण, उसके भान बिना, आहाहा! यह राग और परद्रव्य का कर्ता उसे भासित होता है। समझ में आया? **यह प्रगट दृष्टान्त....** से कहते हैं। दृष्टान्त **से समझाते हैं।**

जैसे भूताविष्ट पुरुष.... जैसे किसी आत्मा में भूत लगा हो, आहाहा! और **अज्ञान के कारण...** यह भूत, वह मैं नहीं—ऐसा न मानकर भूत, वह मैं हूँ—ऐसा मानकर।

आहाहा! **अज्ञान के कारण भूत को और अपने को एक करता हुआ....** स्वयं भगवान भिन्न आत्मा और भूत है, वह भिन्न है, तथापि उस आत्मा को और भूत को एक मानता हुआ, आहाहा! दृष्टान्त तो देखो! **अमनुष्योचित...** जिसे भूत लगा है, उस भूत की चेष्टा, मनुष्य के योग्य नहीं ऐसी, खास चेष्टा अर्थात् खास भिन्न चेष्टा, जो आत्मा के योग्य नहीं, मनुष्य के योग्य नहीं ऐसी। आहाहा! **विशिष्ट चेष्टा के अवलम्बनसहित भयंकर आरम्भ (कार्य से)...** भयंकर कार्य, बड़े पत्थर उठाये, लकड़ियाँ उठाकर फेंके, भूत लगे, आहाहा! सिर धुने, भूत के योग्य ऐसी मनुष्य को अनुचित अवलम्बनसहित **भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषित व्यवहारवाला....** मनुष्य का व्यवहार नहीं, वहाँ भूत का व्यवहार हो गया। आहाहा! **उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।** उस भूत ने की हुई क्रिया का कर्ता मैं हूँ, ऐसा भासित होता है। आहाहा! एक ओर भूतार्थ भूत भगवान भूतार्थ प्रभु, एक ओर भगवान, भूतार्थ—विद्यमान पदार्थ भूत। एक ओर भूत यह। आहाहा! इस भूत की चेष्टा को मेरी चेष्टा है, ऐसा मानता हुआ, उस भाव का वह अज्ञानी कर्ता होता है। है? यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार आत्मा भी,.... जैसे उस मनुष्य को भूत लगा, परन्तु मनुष्यपने को भूलकर भूत की चेष्टा, वह मेरी है, ऐसा मानता है। आहाहा! **उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही....** भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु शुद्ध चैतन्य के अज्ञान के कारण, उसके बेभान के कारण, बेभान अर्थात्? दो भान ऐसा नहीं। बेभान अर्थात् भानरहित, ऐसा। **भाव्यभावकरूप पर को....** जो विकारी परिणाम दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का भाव, वह कर्म भावक है, उसका यह भाव्य है। आहाहा! कर्म भावक वह भाव करनेवाला है, उसकी यह भाव्य दशा है। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, परिणाम, आहाहा! **भाव्यभावकरूप पर को....** अर्थात् कर्म भावक और विकारी भाव्य, ऐसा वह पर है **और अपने को एक करता हुआ,....** आहाहा! वह विकारी परिणाम जैसे भूत को लगा हुआ, जिसे भूत, वह भूत की चेष्टा को अपनी मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी स्वयं भूतार्थ—विद्यमान पदार्थ प्रभु शुद्ध चैतन्यधातु को भूलकर अज्ञान के कारण, यह शुभ-अशुभभाव आदि राग-क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को अपने करता है। है? **भाव्यभावकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ,....** दोनों भिन्न हैं, तथापि

'दो' को एक करता हुआ। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध भूतार्थ वस्तु भिन्न है और उससे राग-द्वेष दया, दान, काम, क्रोध, के परिणाम भिन्न हैं, इन 'दो' को, भिन्न को एक करता हुआ। आहाहा! **अविकार अनुभूतिमात्र भावक,....** आहाहा! भगवान तो अनुभूतिमात्र भाव का करनेवाला है। आहाहा! वस्तु चैतन्य प्रभु का अनुभव आनन्द का अनुभव वेदन करे, उसका वह कर्ता है। आहाहा!

अनुभूति.... अविकार अनुभूतिमात्र.... अनुभूतिमात्र आनन्द का अनुभव, चैतन्य ज्ञायक का अनुभव, आहाहा! ऐसे अनुभवमात्र से जो **भावक....** वास्तव में तो यह अनुभूति, वह भावक है। आहाहा! कर्म भावक और विकारी भाव्य, वह उसका स्वरूप नहीं। आहाहा! ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह ज्ञान की अनुभूति उसका भाव करनेवाला वह है। अनुभूति, आनन्द की अनुभूति का करनेवाला भगवान है। आहाहा! **के लिये अनुचित....** जैसे उस मनुष्य को अनुचित भूत की चेष्टा; उसी प्रकार यह भगवान अनुभूति है, जिसकी अनुचित विकारदशा। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि.... अनुभूति उसकी जो है भावक, उसके योग्य नहीं ऐसा, विकारी भाव जो कर्म भावक का भाव्य, उसका कर्ता वह प्रतिभासित होता है। आहाहा! यह भूताविष्ट का दृष्टान्त दिया है। भूत लगा है, कहते हैं। आहाहा! जैसे भूत लगा और अनुचित चेष्टा मनुष्य के योग्य न करे, उसी प्रकार जिसे राग-द्वेष मेरे, यह भूत लगा है, उसे जो आत्मा के योग्य चेष्टा जो अनुभूति नहीं करते हुए, आहाहा! उस विकारभाव का भोक्ता और कर्ता होता है। ऐसी वस्तु है।

(कहते हैं) **ऐसे विचित्र भाव्यरूप-क्रोधादिरूप विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणामविकारवाला होने से....** मिश्रित अर्थात् चैतन्य का निर्मल थोड़े-परिणाम हैं, ऐसा नहीं। परन्तु चैतन्य का जो अनुभूति जो भाव्य चाहिए, उसके बदले विकारी भाव्य जो भाव्य परिणाम, वैसे चैतन्यपरिणामविकारवाला होने से **उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।** क्योंकि वस्तु भगवान चैतन्य है, उसका भावक कर्म का तो अनुभूति वह है, उसके योग्य तो अनुभूति भावक है, परन्तु पुण्य और पाप के भाव के भाव्य को—स्वभाव को अनुचित और अयोग्य ऐसे भाव को, अपने करता हुआ भाव्य को। आहाहा! विकारी कर्म जो भावक, उसका जो भाव्य उसे अपना करता हुआ।

आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म है। एक-एक गाथा। हीरालालजी! ऐसी बात है। आहाहा! **उस प्रकार के भाव कर्ता प्रतिभासित होता है।** एक बात हुई। कौन सी बात हुई? वे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मन, वचन और काया १७ बोल थे न, उनकी बात की। आहाहा!

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का भावकपना तो (निजात्मा की) अनुभूति है, आनन्द का अनुभव, शान्ति का अनुभव, वीतरागी पर्याय का अनुभव, वह उसका कार्य है, इस आत्मा के योग्य तो वह है, उसे अयोग्य राग और पुण्य पाप के भाव को अपना करता हुआ, भूत की चेष्टा को मनुष्य अपनी करता हुआ, उसी प्रकार विकारी चेष्टा जो कर्म की है, उसे अपनी करता हुआ। आहाहा! भाषा तो सादी है, भाव तो है वह है, भाई! आहाहा! दुकान में बैठा हो और उसमें पाँच-दस हजार पैदा होते हों, एक दिन में वे पाँच-पाँच, दस-दस हजार, देखो यह तुम्हारे, (मानो) बड़ा भूत लगा हो। आहाहा! मैं कमाता हूँ, मैं ध्यान रखता हूँ, व्यवस्थित रीति से ग्राहक को निपटाता हूँ, क्या है यह? भूत लगा है, कहते हैं। विकार का भूत लगा है। आहाहा! कहो, रसिकभाई! बनिया दुकान में बैठे तब ध्यान नहीं रखते होंगे? आहाहा! इतना तोल दे इसे, इतना यह करो, अमुक करो, अमुक इतना करो, इतना ब्याज उपजाओ और यह भाई आवे, उस व्यक्ति को अपने देंगे तो ब्याज भी देगा और पाँच लाख दिये हैं और डेढ़ प्रतिशत ब्याज भी देगा और आमदनी होगी उसका आधा भाग भी देगा, दो, उसे पैसा दो। इसे ऐसा कि मानों मैं चतुर का पुत्र उतरा न हो। आहाहा! कहो, हिम्मतभाई! ऐसा है। आहाहा!

भाई! (प्रभु!) तू तो चैतन्यस्वरूप है न! तुझे तो भावक तो अनुभूति होना चाहिए दशा। आहाहा! तुझे योग्य तो अनुभूति—आत्मा के आनन्द का अनुभव, वह अनुभूति तुझे योग्य है। उसे भूलकर प्रभु! तू यह शुभ-अशुभराग और क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मन, वचन और काया, कर्म और नोकर्म, वह भावक का भाव्य है, उसे मेरा मानकर और उस भाव का-चैतन्यपरिणाम का वह अज्ञानी कर्ता होता है। वह मिथ्यादृष्टिपना है। अरे! ऐसा वस्तु का स्वरूप है। यह भूत का दृष्टान्त विकारी परिणाम के लिये दिया। विकारी परिणाम, जैसे मनुष्य के योग्य नहीं भूत (का), उसी प्रकार जीव के योग्य नहीं विकारी परिणाम। आहाहा! उसके योग्य तो प्रभु! अनुभूति है। आहाहा!

भगवान ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! तू आनन्द और ज्ञान का सागर है न! आहाहा! तेरे लिये तो उसका अनुभव, वह योग्य है। आहाहा! वास्तव में तो भावक अनुभूति, वास्तविक अनुभूति का करनेवाला वह भाव, उसका करनेवाला आत्मा है। आहाहा! यहाँ तो अनुभूति को भावक कहा है। आहाहा! निर्मल वीतरागी पर्याय का भावक वह हो तू, परन्तु उसे भूलकर मनुष्य को भूत लगा और जैसे भूत की चेष्टा को अपनी माने; उसी प्रकार तुझे तेरे अज्ञान से, उस विकारी परिणाम का कर्तव्य मेरा है, और इस प्रकार में परिणमा हूँ, उस विकाररूप—ऐसा मानकर अज्ञानी विकार का कर्ता होता है। चिमनभाई! ऐसा है। अब उसमें मुम्बई में कहाँ उसमें.... ओहोहो! कहीं तीसरी-चौथी मंजिल में चढ़ना और यह करना। यह एक बात हुई। कौन सी? उन १७ बोल की।

अब यह परद्रव्य जो छह—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, परमाणु से लेकर सब स्कन्ध। जो जीव के सम्बन्ध बिना की चीज़ है, यद्यपि राग और द्वेष भी जीव के सम्बन्ध बिना की है, वह चीज़, वस्तु के सम्बन्ध बिना की वह चीज़ है। आत्मा को और उसे सम्बन्ध है ही नहीं, तथापि उसका सम्बन्ध मानकर, उसका कर्ता होता है। इसी प्रकार आत्मा को और पर आत्मा—परजीव को, पर परमाणु को सम्बन्ध आत्मा के है ही नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा को परद्रव्य का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है, वह स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, मकान, इज्जत, बड़े बँगले पच्चीस-पच्चीस लाख के बड़े मकान करके, फर्नीचर और खिड़कियों में हवा हिलाने में आवे और यहाँ इस ओर धूप आवे तो इस ओर ऐसा करो और अमुक। आहाहा! राजकोट में था न वह फोटोग्राफर, क्या नाम भाई, नहीं? खेमचन्द फोटोग्राफर! वह पैसे का, बड़ा मकान बनाया था, फिर वास्तु लिया। वह बुलाया बड़े जूनागढ़ के दीवान को वास्तु के लिये, ओहोहो! उसमें एकदम हार्टफेल हो गया। हम थे बाहर, राजकोट के नदी के किनारे बाहर थे। व्याख्यान हो गया यह संवत्सरी का। फिर आवाज बैठ गयी, कहीं, बाहर थे। वहाँ निकलकर ऐसे अर्थी निकली, ऐसे ऊपर कपड़ा ऐसे झग... झग... हो, कहाँ, यह कौन है? है कौन यह? क्योंकि अपने बनिया उसके साथ बहुत, तब कहे कि यह खीमचन्द फोटोग्राफर, यह ऐसा नया मकान बनाया, उसका स्वयं वास्तु लिया, सब बराबर था, उसमें हार्टफेल हो गया। दूसरे मकान में गया अब! आहाहा!

अरे प्रभु! तू यह क्या करता है? तेरे घर को भूलकर, परघर मेरा का तूने वास्तु किया, घर का वास्तु छोड़कर, उस पर घर को, उसमें बड़े-बड़े लोगों को बुलावे, कार्यकर्ता हो, देश के बड़े अमुक हो और, बड़ी इज्जत कहलाये। यहाँ अभी एक टीका हुई है एक साधु को दीक्षा लेते समय ऐसे बड़े कार्यकर्ता को, कार्यकर्ता, वह बड़ा कोई उसे कुछ श्रद्धान न हो—और कुछ नहीं तुम्हारे जैनदर्शन को जानता भी न हो, परन्तु उसे बड़े को तुम्हारे बुलाकर बड़ा माहात्म्य करना है, क्या करना है तुम्हारे यह? तुम्हारे यह आलोचना हुई है। अभी मोरारजी (देसाई) आये थे न यहाँ दीक्षा हुई वहाँ चद्दर दिया। वह क्या कहलाता है? खादी का चद्दर और ओहोहो! वापस बोले वह भी विरुद्ध बोले थे, कहते हैं। तत्त्व से। यह क्या है तुम्हारा धर्म? अभी धर्म की खबर नहीं होती तुमको और ऐसे देश के नायकों को अमुक बड़े और उन्हें बुलाकर तुम्हारी शोभा बढ़ानी है? आहाहा! भूत लगा है, मान का भूत लगा है। आहाहा! आहाहा!

यह मकान का वास्तु ले, तब बड़े-बड़े लोगों को बुलावे। अपने सगे-सम्बन्धियों को और उसमें से बड़ी-बड़ी वस्तु। अभी कुछ सुना नहीं था? पोपटभाई का पुत्र उसके पुत्र का सम्बन्ध था, वह सुना था, तीन सौ लोगों जीमाया, एक-एक थाली सत्तर रुपये, मुम्बई, यह पोपटभाई, यहाँ बैठते न।

मुमुक्षु : होटल में से तैयार होकर आवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आवे न? परन्तु एक थाली के सत्तर।

मुमुक्षु : वे कम...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कम? तो राजा-बाजा हो तो अधिक हो न? तो बादाम और पिस्ता और ऐसा हलुवा-बलुवा करे तो हो महँगा। आहाहा! एक बार हम वहाँ गये थे और वहाँ नहीं अपने किस जगह? वह नहीं बादाम का हलुवा नहीं लाया था? मद्रास, मद्रास। चन्दुभाई के मकान में उतरे थे न! मोरबीवाले चन्दुभाई के मकान में उतारे थे। और साथ में अन्यमति रहता था, वह स्वयं लाया। ओहोहो! बादाम का हलुवा लाया, बादाम का हलुवा। यह क्या भाई? हम कुछ खाते नहीं बादाम और फादाम, हम तो रोटियाँ-चार फुलके (लेते हैं)। वापस ले जाओ। बादाम का हलुवा, उसे बादाम से भी

पिस्ता महँगा, कोई उसका भी हलुवा बनाते हैं, दो सौ रुपये का किलो, यह बादाम है सवा सौ रुपये का किलो। अरे! अरे! मार डाला। और उसमें वह मानो, ओहोहो! क्या हमने मेहमानगति की, बुलाया उनको सबको मैंने बढ़िया से सम्हाला। आहाहा! अब ऐसी रीति हुई है कि चाँदी की चाँदी की थालियाँ माँगवो, चाँदी की कटोरी, चाँदी का लोटा, बादाम-पिस्ता का पापड़ और अमुक... ओहोहो! तुझे भूत लगा है, कहते हैं। मान का और कषाय का भूत लगा है। हिम्मतभाई! यह तो सब पोल खुलाई। आहाहा!

प्रभु! तू ज्ञान और आनन्द का (सागर है)। आहाहा! उस आनन्द की अनुभूति के योग्य तू है न, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो सुना नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुना नहीं था। बात सत्य है, प्रभु! यह दो बात इसमें आयी न। अनन्त शुद्ध चैतन्य धातु, आहाहा! फिर उसमें से एक-एक शक्ति पर उतारा है। बेहद जीवत्वशक्ति धातु, चितिशक्ति धातु, बेहद दर्शी, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शित्व, स्वच्छत्व, आहाहा! ऐसी तेरी धातु अर्थात् ऐसे गुण को धार रखा हुआ प्रभु, तुझे योग्य तो उसका अनुभव, वह तुझे योग्य है। आहाहा! उसे अनुचित, उसके योग्य नहीं ऐसे पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत के परिणाम करके, वे मेरे सम्बन्ध में हैं, वे मेरे हैं, ऐसे चैतन्य के परिणाम में, उन्हें करके उनका कर्ता होता है, वह मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! ऐसा सुना भी न हो। कैसी टीका! आहाहा! अमृत बहाया है, अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त ने अमृत बहाया है, अमृत ऐसा। प्रभु! तेरे अमृत का वेदन छोड़कर, तुझे योग्य तो अमृत का वेदन, वह तेरे लिये उचित है। आहाहा! उसके बदले भावक कर्म का भाव्य विकारी दशा, वह मेरा भाव्य है और मैं उसका भावक करनेवाला हूँ, प्रभु! यह (तू) तुझे भूल गया। आहाहा!

तेरा चैतन्य नाथ, अनन्त गुण के सागर से भरपूर हीरा, जिसकी शक्तियों की गम्भीरता का पार नहीं, जिसकी संख्या का पार नहीं, परन्तु जिसकी शक्ति की गम्भीरता का पार नहीं। आहाहा! जिसके गुणों की अनन्त की संख्या का तो पार नहीं, परन्तु जिसकी एक-एक गुण की एक-एक शक्ति की गम्भीरता का पार नहीं, ऐसी बेहद चैतन्य धातु ली न! ऐसी बेहद आनन्द धातु, बेहद शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता। आहाहा! उसके योग्य

तो प्रभु! उसका अनुभव करना, वह उसके योग्य है। आहाहा! उसे भगवान! तू भूल गया है।

परमात्मा स्वयं निज परमात्म द्रव्य, शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षणवाला निज परमात्मद्रव्य। आहाहा! उसे आड़ा पर्दा लगाया है, प्रभु! उसे दृष्टि में न लेकर, आहाहा! यह राग के परिणाम को मेरा मानकर उन्हें अनुभव किया, प्रभु! वह चैतन्य के योग्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। भाई आये हैं न हसमुखभाई? आये हैं। हीराभाई के साथ आये, शनि, रविवार तो उनका अपना है। शनि-रविवार को तो हमेशा आवे। आहाहा!

क्या कहा प्रभु! तू बड़ा भूत है न, भूतार्थ, भूत का अर्थ विद्यमान होता है न? स्वरूपभूत अमुकभूत, ऐसा आता है, 'है' सत्य, आहाहा! स्वभावभूत। ऐसा नहीं आता? 'है', आहाहा! ऐसा चैतन्य पदार्थ भगवान पूर्ण आनन्द, आनन्दभूत, ज्ञानभूत, शान्तिभूत, स्वरूपभूत, स्वभावभूत, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके योग्य तो उसका अनुभव, वह उसके योग्य कहलाये। आहाहा! भाव्यभावक कहा न? आहाहा! उसे भूलकर प्रभु मनुष्यपना, मनुष्य को मनुष्यपना भूलकर भूत के लगने से चेष्टा को मेरी है, ऐसा मानता है। आहाहा! इसी प्रकार भूतार्थ भगवान बड़ा महाप्रभु, महाभूत, स्वभावभूत, आहाहा! उसे भूलकर, पामर राग और विकल्प की दशा जो भूतड़ा लगा, जैसे तुझे विकार लगा, और तूने तेरा माना। आहाहा! ऐसी बात है।

सुनने को तो किसी दिन मिले, भाई ने नहीं कहा? कहते हैं, बापू! आहाहा! वह बात करते हैं, सब विद्यासागर की, वह पर्याय भी.... पर्याय को आश्रय किसका? दृष्टि किसकी? मोक्षतत्त्व वह भी बहिर्तत्त्व है, अन्तरतत्त्व तो प्रभु महा है। आहाहा! भूतार्थ में भी यह लिया। '**णवि होदि अप्पमत्तो णप्पमत्तो**' में भी ज्ञायक लिया, यहाँ भी बेहद चैतन्यधातु ली, यहाँ भी अभी आयेगा अमृतरूप विज्ञान का घन भगवान आत्मा। आहाहा! छठवीं में भी यह, ग्यारहवीं में भी यह, पाँचवीं में से '**तं एयत्त विहत्तं दाऐहं**' मेरा भगवान स्वरूप एकत्व है और वह पर से विभक्त, उसे मैं दिखाऊँगा। आहाहा! '**समओ सव्वत्थ सुंदरो लोये**', स्वरूप में एकत्वपना वह जगत में सुन्दर है, उसे राग के सम्बन्ध की वार्ता कथा,.... वह जरा कहा था न, '**सुद परिचिदानुभूदा सव्वस्सवि काम भोग बन्ध कहा।**' इसका अर्थ जरा किया था अधिक अर्थात् यह उसे कहते हैं, यह

नया, विद्यानन्दजी। काम भोग अर्थात् राग, राग की कथा अर्थात् जहर की कथा, विष्टा की कथा, कहा होगा जरा वहाँ, ऐई, भड़के नहीं, यह सिद्धान्त प्रमाण आचार्य ने कुछ अर्थ किया नहीं। अब सुन न! काम, राग और राग का कर्ता, वह तो जहर है, उसे विष्टा तो हल्की चीज़ है, परन्तु वह उसने एकदम पुस्तक का विरोध किया। अरे! भगवान! यहाँ चलेगा बापू यह, कुदरत के सत् नियम में नहीं चलेगा, नाथ! आहाहा! चले अब, यह क्या हो?

यहाँ तो मोक्ष तत्त्व जो पर्याय है, वह भी बहिर्तत्त्व गिनना है न, प्रभु! आहाहा! अन्तःतत्त्व तो भगवान शुद्ध चैतन्य, आहाहा! भूतार्थ, ज्ञायक, विद्यमान चीज़, जिसे बदलना भी नहीं, पलटना भी नहीं, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसके योग्य तो प्रभु! उसकी अनुभूति उसके योग्य है, उसे भूलकर, आहाहा! राग और पुण्य के परिणाम, वह भावक का भाव्यकर्म, उसे मेरा मानकर, अज्ञानरूप से तू कर्ता होगा, प्रभु! दुःखी होगा। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! यह आत्मा की कान्ति है। अनुभूति, वह उसकी कान्ति है; राग उसकी कान्ति, अन्धकार है। आहाहा!

राग, वह कहा न काम, भोग, बन्ध कथा? काम अर्थात् इच्छा और भोग अर्थात् भोगना। राग का करना और राग का भोगना, वह तो जहर है, विष्टा कहा होगा, कहते हैं उस समय। वह उन्हें अच्छा नहीं लगा, यह विरुद्ध है। अरे भगवान! प्रभु! तू तुझे भूलकर ऐसी बातें करता है, रहने दे। भाई! तुझे सहन करना पड़ेगा। आहाहा! कोई भी प्राणी दुःखी हो, दुःख भोगे, यह कहीं अच्छा है? भले कोई सत् का विरोधी हो, परन्तु उसे दुःख का वेदन होगा। आहाहा! वह दुःख भोगा जाये नहीं, ऐसा मिथ्यात्व का दुःख है। उसे यहाँ टालने की बात में, यह कर्ता है अज्ञानी, ऐसा मनाकर छुड़ाते हैं, वापस ऐसा मानकर छुड़ाते हैं यहाँ।

तो बाद की गाथा में यह तुरन्त आयेगा। ज्ञानी की ९७ में। ज्ञान से कर्तापने का नाश होता है। ९७ में आयेगा, यह बताकर वस्तु ऐसी कहनी है। ९७ में आयेगा। है न ९७ में। पहले ऊपर उपोद्घात है **इससे यह सिद्ध हुआ....** देखा! **कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है, यही अब कहते हैं।** कहना तो यह है इसका तात्पर्य तो। उसका कर्तापना होता है, उसे छोड़ दे, इसलिए कहा है। आहाहा! यह एक बात हुई। कौन सी एक

बात? वह १७ बोल की। क्रोध, मान, माया, लोभ राग-द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन और काया, पाँच इन्द्रिय—१७ बोल। इत्यादि फिर ले लेना असंख्य। आहाहा!

अब दूसरा बोल। **और जैसे अपरीक्षक आचार्य....** ऐसा मिल गया हो अपरीक्षक **आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ।** भैंसे का ध्यान कर, भैंसे का। पाड़ा का। आहाहा! ऐसा कोई मिला, इसे कहे कि पाड़ा का ध्यान कर, आहाहा! ऐसा कहते हैं अज्ञानी उसे मिल गया ऐसा कि परद्रव्य मेरे हैं, ऐसा मान। आहाहा! **अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला....** मन्द **पुरुष।** वह वापस भोला—मूर्ख पुरुष। भैसें-पाड़े का ध्यान करने का कहा, पाड़े का ध्यान करने का। मूर्ख है! **भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ।** भैंसे को और अपने को अर्थात् पाड़ा को और अपने को एक करता हुआ, **मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला....** ध्यान करते-करते हो गया कि, ओहोहो! आहाहा! विशाल सींग और कमरे में था, वह बाहर निकलने को ऐसे बड़े सींग मानो मुझे हो गये, इसलिए दरवाजे में से निकलना मुश्किल हो पड़ा, कल्पना से माना था। ध्यान रखना इसका क्या कहना है वह, हों! आहाहा!

अपने को और पर को एक करता हुआ **मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा....** लम्बे सींग **सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ, ऐसे अध्यास के कारण....** अध्यास के कारण, हों! भान नहीं, अध्यास के कारण **मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से....** मनुष्य तो दरवाजे में से बाहर निकल जाता है एकदम। परन्तु दरवाजे में से **निकलने से च्युत होता हुआ।** मानो मैं भैंसा हो गया। आहाहा! क्या कहा? आहाहा! **मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है....** वह भैंस हो गया, मैं भैंसा हो गया, ऐसा भासित होता है। आहाहा!

अब क्या कहते हैं, इसे उतारते (सिद्धान्त में घटित करते) हैं। **इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण....** अपने स्वरूप के भान बिना **ज्ञेयज्ञायकरूप पर को....** स्वयं ज्ञायक है और पर तो ज्ञेय है। आहाहा! पर अपने हैं, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! लड़का और लड़की और दामाद मेरे हैं, कहते हैं कि वे तो ज्ञायक के ज्ञेय हैं। यह मकान और पैसा यह ज्ञायक के ज्ञेय हैं। आहाहा! लड़के का विवाह करे, पत्ते-

पीपल के पत्ते, आम के पत्ते करते है न उसके? क्या कहे, तोरण—आम के पत्ते, पीपल के पत्ते हरे, आहाहा! और वह मोती का क्या कहलाता है वह? तोरण, उसमें हाथी चित्रित किया हो, तोता चित्रित किया हो और दाने का ले। ऐसे देखो, मेरा मकान-कैसा है? था कब इसका? ध्यान करने से इसे ऐसा हो गया कि यह मैं हूँ। भैंसे का ध्यान करने से यह भैंसा हो गया, उसी प्रकार परद्रव्य का विचार आया, वहाँ ऐसा हो गया कि मैं पररूप हूँ अब। आहाहा! भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : परन्तु पंच परमेष्ठी का ध्यान वह तो व्यवहार धर्मध्यान है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग है, और वह राग मेरा है, ऐसा मानता है, वह भूतावल में गया, ऐसा है। यहाँ पंच परमेष्ठी को अब स्मरण किया। उनकी भक्ति का भाव वह राग में गया। अब यहाँ तो पंच परमेष्ठी हैं, पर हैं, परद्रव्य हैं। आहाहा! उस परद्रव्य का विचार करते-करते मानो विकल्प उठा, वह मानो मेरा है, वह परद्रव्य को अपना मानता है। आहाहा! यहाँ तो कहा न, अपरीक्षक आचार्य से, उसी प्रकार जिसने ऐसा उपदेश दिया है कि भगवान का ध्यान कर और उसमें से—राग से तुझे लाभ होगा, वे सब अपरीक्षक आचार्य हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पंच परमेष्ठी के प्रति भाव वह फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें से फिर यह ज्ञान होता है, यह बात ही मिथ्या है। राग है, यह समाधिशतक में आता है, एक बोल, दो बोल आते हैं, समाधिशतक में, दीपक दीपक को करे और वह वृक्ष घिसकर (रगड़कर) हो और एक परद्रव्य का परन्तु वह परद्रव्य का तो विचार आया उसे इतना, आकर फिर छोड़ दिया, फिर छोड़कर अन्दर में गया तब, आहाहा! है न यह दो बोल है न समाधिशतक में? दीपक दीपक से होता है यह एक और दूसरा वृक्ष रगड़कर होता है, ऐसे वृक्ष घिसे न, इसलिए ऐसा कहते हैं न, पंच परमेष्ठी का ध्यान, परन्तु उस ध्यान में विकल्प आया, उसे छोड़कर स्वयं परमेष्ठी स्वयं है, (पंच) परमेष्ठीस्वरूप ही मैं आत्मा हूँ, ऐसा है, आता है न? आचार्य, उपाध्याय, साधु, अरिहन्त और सिद्ध पंच परमेष्ठीस्वरूप भगवान आत्मा पंच परमेश्वरस्वरूप है और वे पंच परमेष्ठी हैं, वह आत्म स्वरूप है, यह राग और देह की क्रिया यह कोई

स्वरूप नहीं है। आहाहा! बहुत काम, भाई! अरे सुनने को मिले नहीं और वह बेचारा ऐसे और ऐसे जिन्दगी व्यतीत करे। आहाहा!

कहते हैं, **इसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण....** जो ज्ञेय है, मात्र ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य है। पंच परमेष्ठी भी ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होने योग्य है। स्त्री-कुटुम्ब का आत्मा भी ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेयोग्य है, आहाहा! उनका शरीर जो है, वह भी ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेयोग्य है। उसके बदले इस शरीर को मैं भोगता हूँ। आहाहा! परद्रव्य को मैं भोगता हूँ, ऐसा जो भाव वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। दाल, भात, सब्जी मैसूर वे परद्रव्य हैं, ज्ञेय हैं; आत्मा ज्ञायक है। उसके बदले उन्हें मैं भोगता हूँ। आहाहा! यह भैंस के ध्यान जैसा है, उसे पर का ध्यान हो गया। पर में एकाकार हो गया। आहाहा!

मुमुक्षु : पर को जाने तो ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध तो रहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ज्ञेय है, उसे जानेगा, यह भी व्यवहार है, परन्तु इतना व्यवहार, इतना ठीक, यह जाननेवाला है, वे ज्ञात होनेयोग्य हैं, बस इतना। परन्तु वे मेरे हैं, ऐसा नहीं, इतनी बात अभी सिद्ध करनी है। आहाहा! वास्तव में तो उस ज्ञेय का यहाँ जो ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान है, वही अपना ज्ञेय है। आहाहा! परन्तु अभी अब यहाँ यह बात नहीं है। जिस जगह जो अपेक्षा सिद्ध करनी हो न! नहीं तो वास्तव में तो जो ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, उस उत्पाद को उसके द्रव्य की भी कोई अपेक्षा नहीं है, उत्पन्न हुई, तब अपेक्षा ली कि इससे हुई, परन्तु 'है' उसे अब ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाहा! राग की तो अपेक्षा नहीं, राग का ज्ञान तो नहीं, परन्तु यह ज्ञाता की ज्ञानपर्याय हुई, वह भी नहीं। आहाहा! क्या मार्ग! वीतराग... वीतराग.... वीतराग.... वीतरागता का पुकार है। आहाहा!

प्रभु! तू है ऐसा मैंने कहा न, **इसीलिए यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित,....** ऊपर आ गया है। परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित और राग के सम्बन्ध से रहित। आहाहा! है न कल आया था। न? अभी आया था, पहले लिया, समस्त परद्रव्य के सम्बन्ध से रहित, भगवान समस्त अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित, यह दया-दान का विकल्प है, या परमेश्वर स्वयं है, वह सब यह आत्मा, उसके सम्बन्ध से

रहित है। आहाहा! यह वीतराग ऐसा कहे और वीतराग का भगत ऐसा माने। आहाहा! यह तो मकान, मकान और खिड़कियाँ और दरवाजा, और प्रत्येक खिड़की में वापस तोरण और उसमें मोती के हार और उसमें चित्राम हाथी, घोड़े के और चारों ओर बैठे हों और वहाँ पलंग, बड़ा पलंग ऊँचा हो पीतल का, स्वर्ण का तो क्या? चक्रवर्ती को स्वर्ण का और रत्न का होता है, परन्तु यह पीतल का पलंग और उसमें रुई का बड़ा गद्दा, रेशम की चादर। ओहोहो! यह सब मेरे हैं। यह सब मेरे हैं, उन्हें माननेवाला तेरा मरण होता है। आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। वीतराग परमात्मा का यह पुकार है। आहाहा!

अनादि से भटक रहा है, भाई! तेरे स्वरूप के भान बिना, तेरा अस्तित्व जिस प्रकार से है, उस प्रकार से अस्तित्व का ज्ञान नहीं; इसलिए तुझे पर में अस्तित्व मानकर, मूढ़ होकर पर को तू अपना मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : राजपाट छोड़कर जाते रहे फिर तो मेरापन मिट जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राजपाट छोड़े, अन्दर राग मेरा है, उसे कहाँ छोड़ा है इसने? राजपाट थे कब अन्दर प्रविष्ट? राजपाट छोड़ता हूँ, ऐसी मान्यता ही मिथ्या है। क्योंकि आत्मा पर के त्यागोपादानरहित शून्य है। त्यागोपादान शून्यत्वशक्ति है, तो एक-एक शक्ति, ज्ञानशक्ति भी ऐसी है, चारित्रशक्ति भी ऐसी है, पर के त्याग-ग्रहण से रहित शक्ति है। वह चारित्र हो, उसे चारित्र वह ऐसी दशा है कि पर के त्याग-ग्रहण से रहित जो चारित्र, वह चारित्र है। पर का त्याग करना और ग्रहण, राग का ग्रहण करना, वह वस्तु नहीं है। वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! गजब बात है। ज्ञानगुण में भी त्यागोपादानशक्ति का रूप है। आहाहा! वह ज्ञान पर को छोड़ूँ या ग्रहण करूँ, इससे रहित शून्य है ज्ञान। ऐई! आहाहा!

अरे बापू! यह तो प्रभु की वाणी है, निर्ग्रन्थ सन्तों की वाणी। आहाहा! वह कहे कि निर्ग्रन्थमात्र हो गया कि नग्न होकर घूमता है जंगल में, वह निर्ग्रन्थ। वह निर्ग्रन्थ कहाँ है? आहाहा! वह तो शुभयोग को भी अपना मानता है। आहाहा! तुझे भूत लगा है, कहते हैं। शुभयोग की जय—ऐसा बोले यह पंच कल्याणक करे न? हाथी और गजरथ निकाले, सबको वहाँ राग होता है, मन्द करता हो तो, मान के लिये करता हो तो अशुभराग। शुभराग हो उसे पुण्य, 'शुभ उपयोग की जय' जहर की जय, शुभ उपयोगी

कहे। राग की जय। आहाहा! ऐई रसिकभाई! यह आता है उसमें 'रसिक ज्यों रैन का सपना, जगत में कोई नहीं अपना।' आता है न यह? आहाहा! यह तो सपना है, कहते हैं। यह सब, सब, प्रभु! तू तो अन्दर भिन्न है न। आहाहा! जगत में कोई नहीं अपना। राग और परवस्तुमात्र आत्मा की नहीं है। आहाहा! यह दया, दान और व्रत का परिणाम हुआ, वह राग, वह भी तेरा सम्बन्धी नहीं। आहाहा!

तेरी तो चैतन्यधातु बेहद समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित है, प्रभु! ऐसा भगवान पुकारते हैं। अरे रे! क्या कुछ हो? आहाहा! आत्मा क्या चीज़ है, इसकी दृष्टि की खबर नहीं होती, और यह त्याग करके बैठे, व्रत लिये और तपस्या करके धर्म हुआ, मूढ़ है। मिथ्यात्व का पोषण है, ऐई! यहाँ कहते हैं न परद्रव्य भगवान आदि हो या परद्रव्य तेरे स्त्री का आत्मा हो या स्त्री का शरीर हो, या मकान, पैसा आदि हो या हीरा-माणेक के अलमारियाँ भरी हों घर में, लो! आहाहा! उनका लक्ष्य करने से-परद्रव्य का लक्ष्य करने से तो राग होता है और वह राग मेरा है, ऐसा माने तो उस परद्रव्य को अपना माना, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

क्योंकि धर्मास्ति का, कोई धर्मास्ति तत्त्व जगत में है, वह कोई यहाँ नहीं आता, वह तो अरूपी है। टीका में लिखा है उसमें जयसेनाचार्य ने कि उस धर्मास्ति को अपना मानना अर्थात् क्या? कि वह धर्मास्ति का जो विकल्प उठा है विचार का, वह विकल्प अपना मानना, वह धर्मास्ति को अपना माना। जयसेनाचार्य की टीका में है। आहाहा! समझ में आया? कोई उस धर्मास्ति का कर्ता तो होता नहीं। धर्मास्ति तत्त्व जगत की चीज़ है, भगवान ने देखी हुई। वह कहीं तेरा होता नहीं, परन्तु तू उसका विचार करने से विकल्प आया और उसमें रुक गया, चैतन्यधातु को रोक दिया, यहाँ आयेगा।

देखो! **यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेयज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ मैं परद्रव्य हूँ....** यह लड़का मेरा है, मैं इसका हूँ, यह स्त्री मेरी है, मैं इसका पति हूँ। आहाहा! काम बहुत कठिन। यह मेरा नौकर है और मैं इसका सेठ हूँ, यह **मैं परद्रव्य हूँ, ऐसे अध्यास के कारण,....** ओहो! समय तो हो गया, बाद में आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९२, गाथा-९६-९७, दिनांक ११-०२-१९७९, रविवार, माघ शुक्ल-१५

समयसार! ९६ गाथा। यह यहाँ तक आया था बीच में। दृष्टान्त कहा है न, दृष्टान्त। जैसे ध्यान में किसी को अज्ञानी ने कहा कि तू भैंसा या पाड़ा का ध्यान कर, तो ध्यान करते-करते ऐसा जाना कि मैं पाड़ा हो गया, तो दरवाजे में से निकलना उसे मुश्किल पड़ता है, ऐसे सींग करके जैसे सींग हों न—ऐसा ध्यान, इस प्रकार, यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार.... है? **यह आत्मा भी,...** है? **अज्ञान के कारण ज्ञेयज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ....** जाननेवाला आत्मा, और उसमें धर्मास्ति, अधर्मास्ति, पुद्गल या परजीव, वे ज्ञान में वे ज्ञेय—जाननेयोग्य है, परन्तु उस ज्ञेय को अपना मानता है, जैसे वह भैंसा का ध्यान करते हुए, मानो वह भैंसा हो गया, उसी प्रकार पर जहाँ जानने में आया, वहाँ मानो कि पर मेरे हो गये। आहाहा! है? **ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को....** ज्ञेय पर और ज्ञायक स्वयं, ऐसा, है न शब्द? ज्ञेय-ज्ञायक,.... पर ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य पर, चाहे तो शरीर हो, वाणी हो, कर्म हो, स्त्री हो, परिवार हो, देव हो, गुरु हो, शास्त्र हो, छह द्रव्य धर्मास्तिकाय आदि, यह छह जाननेयोग्य है, आत्मा जाननेवाला है, परन्तु इस प्रकार से न मानकर जाननेयोग्य चीज़ है, वह मेरी है, यह स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, पिता मेरा, पैसा मेरा, मकान मेरा, वह तो ज्ञेय है, ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य। उसके बदले ऐसा माने कि वह पैसे मेरे, इज्जत मेरी, कुटुम्ब-कबीला मेरा, आहाहा! यह लड़कियाँ मेरी, दामाद मेरे, आहाहा! उसे जहाँ विचार में लेता है, वहाँ उसे अपना मान लेता है। आहाहा! वास्तव में तो स्वयं जाननेवाला है और वह चीज़ ज्ञात होनेयोग्य है, इसके अतिरिक्त इसकी वह चीज़ नहीं है। आहाहा!

यह पैसे-बैसे का क्या समझना तब? कल वह दान की बात नहीं की थी, दान? वह इसमें दान निकला फिर, दान की गाथा नहीं थी? वह फिर यह पहले निकली वह नहीं थे, वह बारह भावना की बारह गाथा है न पहली अध्रुव है न? अध्रुव भावना में है, पैसा वह अध्रुव है, वह तो उसकी स्थिति प्रमाण रहे और उसकी स्थिति प्रमाण जाये, यह जानता है कि मैं रखता हूँ, इसलिए रहता है और मैं देता हूँ, इसलिए दिया जाता

है—ऐसा नहीं है। तथापि आचार्य ऐसा कहे, हे भव्य जीव! संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादि सर्व अस्थिर दर्शाये हैं, उन्हें सुनकर जो अपने मन के विषयों से छुड़ाकर और इस स्थिरता के भाव को भायेगा, वह भव्य जीव सिद्धपद को पायेगा, यह बारह, हों! देखो, यह लक्ष्मी जलतरंग की भाँति चंचल है। अध्रुव में है, पहली भावना। यह लक्ष्मी जलतरंग की भाँति चंचल है अर्थात् कि जब तक वह दो-चार दिन तक चेष्टा करे, दो-चार दिन, दो-पाँच वर्ष रहे, वह रहे उसके कारण से, यह मानता है कि मैंने कमाया, इसलिए मेरे पास आया, रहा। मिथ्याभ्रम है। आहाहा! चेष्टा करे। कितना? दो-चार दिन रहेगा, यह दो-चार पच्चीस-पचास वर्ष रहे, वह दो-चार दिन अनन्त काल के हिसाब से क्या गिनती? उसके कारण से वह रहे और मौजूद है, तब तक उसे भोगो, यहाँ ऐसा है और दया प्रधानी होकर, उसमें खर्च करूँ। तब कोई पूछता है कि भोगो, ऐसा कैसे कहा? ऐसा प्रश्न किया है। कहे, एकदम भोगना ऐसा नहीं, इसे यह कंजूस है, यह भोगता है उसे तृष्णा तो कम है कि इसे रखूँ और दान दया में भोगतारूप से प्रयोग कर तो तेरा राग मन्द तो होगा, तुझे पुण्य भी (होगा) यह विस्तृत व्याख्या है बड़ी जोरदार पूरी है।

वह पुरुष लक्ष्मी का मात्र संचय करता है परन्तु पात्रों के लिये खर्च नहीं करता, भोगता भी नहीं, वह तो मात्र अपने आत्मा को ठगता है, कार्तिकेयानुप्रेक्षा (में है)। कल दोपहर को बात हुई थी न, नहीं निकला। ऐसे पुरुषों का मनुष्यपना निष्फल है। बाकी बहुत बड़ी व्याख्या है, बहुत गाथायें, बहुत गाथाओं में है। आहाहा!

यहाँ कहना है कि लक्ष्मी, वह परज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है, तथापि वह लक्ष्मी मेरी है, ऐसा मानता है, वह भैंसे का ध्यान करते हुए भैंसा हो गया, उसी प्रकार पर को जानने में आने पर मानो मैं पररूप हो गया और पर मेरे हो गये, ऐसा अज्ञानी को अनादि से भ्रम है।

मुमुक्षु : लक्ष्मी को चंचला और नगरवधू की उपमा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो भाई! चाहे जितनी उपमा बहुत दी है उसमें। आहाहा! वैश्यावत् कहा है। घड़ीक में तेरे पास जाये, घड़ीक में दूसरे के पास जाये,

घड़ीक में दूसरे के पास जाये, वह तो उसके कारण से जाती है। तू मानता है कि मैंने कमाया, इसलिए मेरे पास पैसे आये, ऐसी बात मिथ्या है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वैश्या जैसी है एक पुरुष के पास आवे, फिर दूसरा आवे, फिर तीसरा आवे, उसी प्रकार थोड़ी देर तेरे घर में रही, थोड़ी देर अन्यत्र गयी, थोड़ी देर वहाँ गयी। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञेय-ज्ञायकरूप.... पर को ज्ञेय.... ज्ञेय अर्थात् पर जाननेयोग्य, चाहे तो परमाणु हो, स्कन्ध हो, लक्ष्मी हो, मकान हो, इज्जत हो। आहाहा! कपड़े हों, गहने हों, उस **पर को और अपने को एक करता हुआ,....** जाननेयोग्य है, उन्हें जानता हुआ 'यह मेरे हैं', ऐसा मानता हुआ। आहाहा! यह तो भारी काम, भाई! **मैं परद्रव्य हूँ....** उन जाननेयोग्य को मेरे मानकर वह मैं परद्रव्य हूँ, यह मेरी स्त्री है, मेरी अर्धांगिनी है, यह मेरा भाई है और भाई वह डण्डे मारने से पानी कहीं अलग पड़े? उसी प्रकार भाई हैं, वे कहीं अलग पड़ें? ऐसी पागल लोग बातें करें, परन्तु कौन? किसी को कोई इकट्ठे है ही कहाँ, एक-दूसरे हैं ही कब इकट्ठे? आहाहा!

मैं परद्रव्य हूँ, ऐसे अध्यास के कारण.... आहाहा! विषय बहुत सरस है। **मन के विषयभूत किये गये....** मन के विषयरूप जानने में आये हुए, क्या? धर्मास्तिकाय, छह द्रव्य हैं न भगवान ने देखे हुए। धर्मास्तिकाय एक, गति में निमित्त है, उसे जानते हुए उसका विकल्प उठा, उस विकल्प को मेरा माना, उसने धर्मास्तिकाय को अपना माना। आहाहा! तो मैं एक जाननेवाला हूँ और वे चीज़ें मात्र ज्ञात होती हैं, वे जाननेयोग्य हैं और मैं जाननेवाला, इतना ही सम्बन्ध है, बाकी वह मेरी चीज़ है। आहाहा! (यह) मिथ्याभ्रम अज्ञान है।

मैं **धर्म...** हूँ, मैं **अधर्म....** हूँ, अधर्मास्तिकाय। उसका ज्ञान में उसका विचार करने पर... यहाँ तो जो जैन है और उसने सुना है, वह अधर्मास्तिकाय का विचार करता है। भगवान ने छह द्रव्य कहे हैं न, और स्वयं विचार करता है, विचार करते हुए विकल्प उठता है। उस विकल्प को मेरा मानता है परन्तु मैं जाननेवाला हूँ, विकल्प का भी कर्ता नहीं; इसलिए वह द्रव्य मेरा नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म भरा है। अब टोपी मेरी, कपड़े मेरे, यह सब मेरे, महिलाओं की साड़ियाँ, गहने, आँख में क्या भरते हैं? काजल भरे, वह भरे कि मेरी आँखें काली है, बहुत अच्छी है, परन्तु आँख तो जड़ है। वह तो ज्ञेय

है, वह ज्ञान में ज्ञात होने पर वह मेरा हो गया, यह तुझे कहाँ से आया? आहाहा! मेरी आँख तीखी है, मेरी आँख पतली है, मेरा यह शरीर यह मेरा ऐसा कि कद छोटा है। कहते हैं न भाषा? यह शरीर ऐसा कि कद भी छोटा-पतला है, मैं कुछ पतला हूँ, मेरा कद मोटा है, मेरा स्थूल शरीर है, परन्तु शरीर कब तेरा था? आहाहा! भारी अज्ञान।

वह मन का विषय है, कहते हैं। क्या कहते हैं कि अरूपी है न वह धर्मास्ति आदि? **धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश....** और **काल** और **पुद्गल...** परमाणु से लेकर स्कन्ध, मकान, पैसा, इज्जत, कीर्ति वे सब जड़ पुद्गल, उन ज्ञान में ज्ञात होने के बदले जानने पर वे मेरे हैं, मैंने उन्हें रखा है, मैंने सम्हालकर रखा है, ताला लगाकर, चाबी लगाकर तिजोरी में रखा है, मैंने रखा है। अरे... अरे... ऐसी क्या है यह? वे परद्रव्य हैं, वे तेरे कहाँ से हो गये, कहते हैं। वह मिथ्यात्व को सेवन करता है, कहते हैं। आहाहा!

पुद्गल और अन्य जीव,.... अन्य जीव अर्थात् चाहे तो स्त्री का, पुत्र का, पिता का, देव का, गुरु का... आहाहा! वे जीव मेरे हैं, मेरे सन्तानें बहुत हैं, पच्चीस सन्तान हैं, पच्चीस लड़किया हैं, दो सौ वर्ष का आयुष्य हो और दो-दो वर्ष में हो तो पचास लड़कों का लश्कर इकट्ठा हो, वह सब मेरे हैं, कहते हैं। वे जीव मेरे, ऐसे **शुद्ध चैतन्यधातुरूपी होने से....** क्या कहा? यह छह द्रव्य हैं, वे पर हैं, तथापि ज्ञेयरूप से जानने के लिये हैं। तथापि वे मेरे हैं, ऐसा मानकर शुद्ध चैतन्यधातु वहाँ रुक गयी है। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह ज्ञायकस्वरूप, वह मेरे, वहाँ रुक गया है। अपने को मानने के लिये निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा! भारी कठिन काम। उसके घर में लक्ष्मी रहे, मकान रहे, गहने, अलमारी, अलमारी नहीं भरते सब ऐसे? काँच-काँच सामने काँच रखते हैं, अलमारी। क्या कहलाते हैं तुम्हारे? फर्नीचर। अपनी भाषा में क्या है?

मुमुक्षु : घरबखरो।

पूज्य गुरुदेवश्री : घरबखरो। अलमारी और सन्दूक, आहाहा! दरवाजा उघाड़े और काँच ऐसे उघाड़े तो काँच। सवेरे सिर देखने के लिये, यह मेरा काँच बहुत अच्छा है, परन्तु काँच तो जड़ है न, प्रभु! वह तो मिट्टी है न? परद्रव्य मेरे, ऐसा मानकर,

आहाहा! अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान वहाँ रुक गया, आहाहा! वे जाननेयोग्य है, उन्हें मेरा मानकर रुक गया। आहाहा! है? **शुद्ध चैतन्यस्वरूप धातु रुक गयी होने से....** एक बात। यह मन का विषय है, यह धर्मास्ति-अधर्मास्ति आदि, जीव आदि।

अब **इन्द्रियों के विषयरूप किये गये....** क्योंकि इन्द्रिय का विषय तो रूपी है, वह कहीं धर्मास्ति, अधर्मास्तिकाय, आकाश, जीव (वह मन का विषय और) **इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों....** आहाहा! रूपी पुद्गल जो स्कन्ध दिखाई दे, आहाहा! कान से सुनने के पुद्गल, रूप देखने के पुद्गल, सूँघने के पुद्गल, रस के पुद्गल, स्पर्श के यह विषय इन्द्रिय का विषय है, उस विषय में स्वयं रुक गया, उसके **द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से....** आहाहा! इन्द्रियों के विषयों में वह केवल बोध अकेला ज्ञानस्वरूप प्रभु, वह अकेला वहाँ ढँक गया, उसमें वहाँ रुक गया। आहाहा! दो, दो हुए। क्या? एक मन का विषय छह द्रव्य, और एक इन्द्रिय का विषय रूपी, उसमें पुद्गल था परन्तु यह खास अलग किया। रूपीपने में। परमाणु आदि हैं, वह मन का विषय है, स्कन्ध आदि जो है, वह इन्द्रिय का विषय है। समझ में आया? आहाहा!

उसमें ढँका हुआ होने से, दो बात हुई। तीसरी, अब रहा शरीर। मन का विषय छह द्रव्य, वहाँ आगे चैतन्य शुद्ध धातु रुक गयी। इन्द्रिय का विषय रूपी, वहाँ आत्मा चैतन्यबोध रुक गया, ढँक गया। आहाहा! और अब **मृतक कलेवर के द्वारा....** यह शरीर है वह मुर्दा है। जड़ है, मृतक कलेवर है, अभी, हों! आहाहा! कहो, हीरालालजी! आहाहा! यह तो मृतक कलेवर है। यह परमाणु है न? उनमें जीव कहाँ है इन परमाणुओं में? यह मुर्दे हैं, मुर्दा है यह तो, अभी, हों! जीव निकलने के बाद नहीं। **मृतक कलेवर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन....** आहाहा! तीनों 'ममा', मृतक कलेवर द्वारा अमृतरूप विज्ञानघन भगवान, अमृतरूप विज्ञानघन वह तो प्रभु, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दरूप, अतीन्द्रिय आनन्दरूप विज्ञानघन, ऐसा भगवान, आहाहा! **मूर्च्छित हुआ होने से....** मृतक कलेवर में अमृतरूप भगवान मूर्च्छित हुआ। इसे सम्हालना और इसका ध्यान और इसे सवेरे से दाँतुन कराना से लेकर शाम तक खीचड़ी, कढ़ी और पापड़, अब वह भजिया, बजिया ऐसा करते हैं। शाम को अलग-अलग पकवान बनावे न! आहाहा!

इस मुर्दे की-कलेवर की मूर्च्छा द्वारा अमृत सागर प्रभु, आहाहा! अमृत का सागर विज्ञानघन भगवान! यह भाषा तो देखो, प्रभु! तू अमृत का सागर है। तेरा कोई गुण पर्याय नाश न हो, ऐसी तेरी चीज़ है और तेरा अन्दर स्वरूप अमृत आनन्द का घन, अतीन्द्रिय आनन्द अमृत का घन विज्ञान प्रभु, वह मृतक कलेवर द्वारा मूर्च्छित हो गया। उसकी सम्हाल करने और उसका ऐसा करना टाप-टीपला और महिलायें तो कितनी ही साड़ियाँ रखे कि दिशा जाने की अलग, पकाने की अलग, सगे-सम्बन्धियों में जाना हो वह अलग, रोने जाना हो तो अलग, रोने जाये तो रोने का हो और यह मर जाये न तब पहले.... सात-आठ दिन रोवे, सब इकट्ठे होकर शाम को चार बजे, शाम को पकाने से पहले। अलग-अलग प्रकार की साड़ियाँ पहने, मानो, ओहोहो! भाँति-भाँति के पहने मानो हम कैसा दिखाते हैं। परन्तु क्या है यह तुझे? मृतक कलेवर को शृंगारे, यहाँ और यहाँ और यहाँ आदमी में पहले फूल रखते कान में, हमारे गांडाभाई थे न, फावाभाई के बाप, ऐई, मनहर! तेरा काका था न? वह फूल रखता देखा था तूने? यहाँ आया था हमारे गांडाभाई थे न, फूल रखते। वे पहले पुराने व्यक्ति एक कान में छिद्र कराकर फूल रखे। अरे! अरे!

मृतक कलेवर के द्वारा, अमृत का, **अमृतरूप विज्ञानघन...** ऐसा शब्द है, है? अमृतरूप विज्ञानघन। **परम अमृतरूप,** आहाहा! परम अतीन्द्रिय आनन्द का रूप जिसका है, ऐसा विज्ञानघन भगवान, आहाहा! मृतक में मूर्च्छित हो गया, कहते हैं। आहाहा! कहो, शशीभाई! मन का विषय छह द्रव्य, इन्द्रिय का विषय रूपी और यह रहा एक अन्तिम यह, यह तो अमृतरूप परम अमृतरूप विज्ञानघन मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया। आहाहा! उससे भोग लेना और उसमें रमणता करना स्त्री के साथ और पुत्र के साथ और छोटे-छोटे लड़के को ऐसे चुम्बन करना और यह क्या है, प्रभु! यह तुझे क्या हुआ है? कहते हैं। तू मृतक शरीर में मूर्च्छित हो गया, अमृत, अमृतसागर! आहाहा! ऐई अमृतलालभाई! क्या कहा यह? यह अमृतलालभाई तो नाम है, यह तो अमृत सागर है अन्दर, ऐसा कहते हैं। मंगलभाई! स्वयं अन्दर मंगलस्वरूप है। पवित्रता का पिण्ड है, आहाहा! पवित्रता की प्राप्ति करे, ऐसा मंगलस्वरूप है। आहाहा! वह मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया।

मुमुक्षु : धर्म साधन में निमित्त बने न यह देह ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त अर्थात् कुछ नहीं। निमित्त का अर्थ ही कुछ नहीं। होता है उपस्थिति इतना। उसके कारण यहाँ कुछ होता है, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! और यह निमित्त को स्पर्श भी नहीं करता न, प्रभु! अन्दर आत्मा अरूपी भगवान इस शरीर को छूता भी-स्पर्शता भी नहीं कभी तीन काल में। अब ऐसी बात कैसे माने ? इस शरीर में आत्मा है, वह इस अँगुली को स्पर्श भी नहीं करता। यहाँ है अन्दर। अरूपी भगवान वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़, वह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की चीज़ को कैसे स्पर्श करे ? अरूपी नहीं परन्तु रूपी, अरूपी स्वयं कैसे स्पर्श करे ? एक-दूसरे में तो अभाव है। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म बात, बापू! जगत से बहुत अलग प्रकार है। आहाहा!

मुमुक्षु : देह दुःखम् महाफलम् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : देह दुःख का अर्थ ? यह तो उनका वचन है श्वेताम्बर का, दशवैकालिक का श्वेताम्बर का है। देह में कष्ट आवे परीषह, तो आत्मा तो ज्ञाता है, ऐसा करके जाने तो उसका फल बहुत है, ऐसा। आहाहा!

क्षयरोग हो अनेक प्रकार के, यह क्या कहलाता है ? केंसर, वह शरीर की स्थिति / दशा है, वह तो जड़ की, उसमें समता रखे और उसमें वह निमित्त कहलाये, निमित्त अर्थात् ? है दूसरी चीज़। परन्तु उसमें निमित्त से समता होती है, ऐसा नहीं है और समता उसके कारण से हुई है, ऐसा नहीं है। स्वयं जाननेवाला.... जाननेवाला.... जाननेवाला.... जाननेवाला.... चैतन्य-ज्ञायक वह मैं जानता हूँ, मुझमें रहकर पर को स्पर्श किये बिना, पर को जानूँ, ऐसा स्वभाव न जानकर मृतक में मूर्च्छित हो गया अमृत प्रभु! आहाहा! तीन बोल लिये। मन के विषय छह द्रव्य, इन्द्रिय का विषय रूपी, भगवान अमृतस्वरूप, इस मृतक कलेवर में अन्दर मूर्च्छित हो गया। यह मन, इन्द्रिय और शरीर तीन आये। आहाहा! उस द्वारा **अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होने से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।** आहाहा!

उस प्रकार का विकल्प उठता है, है ? उस प्रकार का वास्तव में तो वह अपना

भाव है, वह विकल्प है, वह, हों! समझ में आया? ऐसे भाव के प्रकार से अपने को, चैतन्य के अज्ञान के कारण, चैतन्य परिणामवाला होने से। है न अन्दर? पहले आ गया है। किये गये चैतन्य परिणामवाला वह है, है परिणाम विकल्प चैतन्य की दशा-अवस्था, परन्तु वह अवस्था जड़ राग है, उसे करता हुआ प्रतिभासित होता है। वह परद्रव्य को मेरा मानता हुआ; परद्रव्य को कर्ता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। परद्रव्य को कहाँ करता है? परद्रव्य तो है, परन्तु वे मेरे मानकर विकल्प को स्वयं को करता है। तब अपने सविकार परिणाम का अज्ञानी कर्ता होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

भावार्थ :- यह आत्मा अज्ञान के कारण, अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को.... है? क्या कहा? जो कोई राग-द्वेष दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, विषय, वासना वे सब भाव्य, कर्म भावक का वह भाव्य है; आत्मा का नहीं। है? अचेतन कर्मरूप भावक, अचेतन कर्म भाव करनेवाला, उसका क्रोधादि भाव्य, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, लोभ आदि कर्म का भाव्य। कर्म भावक है, उसकी अवस्था, भाव्य उसकी अवस्था है। आहाहा! उसे चेतन भावक के साथ अन्दर आया था न, अविकारी अनुभूतिमात्र भावक, वह अनुभूति अर्थात् चेतन लेना, पर्याय नहीं। समझ में आया? **उसको चेतन भावक के साथ....** चेतन भावक है, उसका भाव्य तो निर्मल आनन्द और ज्ञान होना चाहिए। उसके बदले **चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है।** कर्म जड़ भावक, उसका विकारी भाव्य, वह चेतन जो भावक, वह भाव्य मेरा है, ऐसा मानता है। आहाहा!

फिर से। एक ओर भगवान चैतन्यस्वरूप तथा एक ओर कर्म। अब कर्म भावक-भावक, भाव का करनेवाला होने से उसके परिणाम में विकारी भाव, वह भावक का भाव्य है, भावक की दशा है, भावक का कार्य है, भावक का कर्म है, वह यह चैतन्य भावक, चैतन्य भावक—भाव करनेवाला, उसे अपने भाव करनेवाला भूलकर चेतन भावक वह विकारी कर्म का भाव्य मेरा है, ऐसा मानता है। अरे! अरे! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, अपवास का विकल्प है, आहाहा! वह चेतन भावक का भाव्य नहीं। आहाहा! हीरालालजी! ऐसी बात है। बहुत अच्छी गाथा है।

अरे! ऐसा मनुष्यभव, कल कोई कहता था लड़की का पैर कट गया न थोड़ा

तुम्हारे, तब कहे मनुष्यपना तो रहा है न! हीरालालजी! ऐसा कोई कहता था। उसकी लड़की का पैर वह हो गया। पैर वह हो गया परन्तु मनुष्यपना तो रहा है न? आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा, आहाहा! चेतन भावक-चेतन भावक, वह चेतन ज्ञानानन्द -स्वभाव, वह भावक—भाव का करनेवाला ऐसा जो चेतन, वह कर्म भावक का भाव्य, वह मेरा है—ऐसा मानकर भ्रमणा में पड़ा है। आहाहा! है अन्दर। वह अनुभूति आयी न? वह अनुभूति अर्थात् द्रव्य त्रिकाली लेना। ७३ गाथा में आया है न? ७३ में आया है। एक समय की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमे—कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान (अपादान, अधिकरण), उनसे अनुभूति भिन्न है, अर्थात् द्रव्य ज्ञायक अनुभव त्रिकाली स्वभाव है, वह भिन्न है। आहाहा! वह अनुभूति भगवान का भाव्य आनन्द की अनुभूति वह उसका भाव्य है। आहाहा! भगवान आनन्द चैतन्यस्वरूप भावक, वह उसका भाव्य अनुभूति, वह भाव्य है। अनुभूति त्रिकाल है, उसकी वर्तमान अनुभूति पर्याय, वह उसका भाव्य है। आहाहा! ऐसा कहाँ! उस भाव्य को छोड़कर कर्म का जो भावक भाव्य है, उसके साथ एकरूप मानता है। इतने शब्दों में यह है। आहाहा! समझ में आया संक्षेप में? यह पूरे का सार कहा है।

उसमें ऐसा कहा था न शुद्ध? शुद्ध चैतन्यधातु रुकी हुई होने से छह द्रव्य मन का विषय, उसमें रूपी के विषय में केवल बोध ढँका हुआ होने से, और शरीर में मूर्च्छित होने से, इन तीनों वास्तव में तो भावक का भाव्य है वह विकार, तथापि उसे अपनेरूप मानता है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त हों, और बहुत (गम्भीर) एक ओर चैतन्य भावक भगवान अमृतरूप विज्ञानघन केवल चैतन्य बोध शुद्ध चैतन्यधातु, आहाहा! वह भावक है, उसका-भावक का भाव्य तो (अनुभूति है)। आहाहा!

क्रमबद्ध का निर्णय करने जाता है, तब शुद्ध चैतन्यधातु पर दृष्टि पड़ती है। यह आया है न अभी उसमें क्रमबद्ध में। पढ़ा न, भाई का—हुकमचन्दजी का अलग उसका इसमें आया है, आत्मधर्म में आया है, कल आया इसमें, पहला अलग एक चोपानीया प्रकाशित किया है। अरे! बहुत सरस लिखा है, अभी आवश्यकता थी। सब चारों ओर निमित्त, उपादान और निश्चय, व्यवहार एक ओर रखो परन्तु क्रमबद्ध है या नहीं? क्रमबद्ध प्रत्येक अवस्था क्रमसर जिस समय होती है, वह है या नहीं? और केवलज्ञान

उसे देखता है, उस प्रकार से वहाँ है या नहीं ? आहाहा ! और इस प्रकार जब केवलज्ञान देखता है, इसलिए होता है, ऐसा तो नहीं परन्तु यह तो निर्णय करने के लिये जरा, यह भगवान देखते हैं जिस समय में जो पर्याय वहाँ होनेवाली है, वह देखते हैं, और वहाँ भी क्रमसर जो आयत समुदाय, एक के बाद एक जो पर्याय का काल है, तत्प्रमाण होती है, ऐसे को अपना मानता है, परन्तु वह क्रमबद्ध की दशा में होती अवस्था, उसे अन्तर का जाननेवाला भगवान ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा निर्णय करके जाननेयोग्य प्रगट पर्याय करें, उसे क्रमबद्ध का ज्ञान, आहाहा ! क्रमबद्ध होता है, उसका ज्ञान यथार्थ होता है। आहाहा ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : क्रमबद्ध का ज्ञान यथार्थ होता है तो निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब निकल जाता है।

एक यह बहुत अच्छी बात है, यह मूल चीज़ है। इसने भी लिखा है न उसमें। जैन दार्शनिक ऐसा शब्द है। दार्शनिक में वह मुख्य है। कल आया है अखबार में। दार्शनिक दर्शन वह जैन दर्शन का मूल यह वस्तुदर्शन है। यह वस्तु अन्य कहीं अन्यत्र नहीं हो सकती और जैनदर्शन का यह मूल अर्थात् कि भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी सभी प्रभु, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह तो सर्व का जाननेवाला है, शक्ति से ऐसा है और जब सर्वज्ञदशा प्रगट हुई, सर्वज्ञ में से, तब भी सर्व का जाननेवाला वह है और वह सर्व का जाननेवाला है, वह जैसा होता है, जैसा देखा, वहाँ होता है। वह देखा इसलिए नहीं होता, होने के काल में वह होता है, उसे यह देखता है। और वहाँ भी क्रमबद्ध व्यवस्थित व्यवस्था होती है, परन्तु उसका जहाँ निर्णय करने जाये, आहाहा ! तो पर्याय का निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। क्रमबद्ध का निर्णय ज्ञायकस्वरूप भगवान के लक्ष्य से-उसके आश्रय से, उसके अवलम्बन से क्रमबद्ध का निर्णय होता है, तब ज्ञाता होकर पर्याय हुई, उस क्रम में जो पर्याय हो, उसे वह जानता है। आहाहा ! समझ में आया ?

कल तो रात्रि में वह कहा था, नहीं ? ३२० गाथा। क्रमबद्ध में अकर्तापना सिद्ध करना है पहला शब्द ऊपर यह है, सर्वविशुद्ध में। अकर्ता अर्थात् ? कि राग का भी कर्ता

नहीं और वास्तव में तो पर्याय करूँ, यह भी नहीं। होती है, उसे करूँ क्या? आहाहा! उसकी दृष्टि तो ज्ञायक पर जाती है और इसलिए उसे होती हुई पर्याय को, ज्ञायक पर गया; इसलिए ज्ञान की पर्याय हुई, उसमें जो क्रमबद्ध होता है, उसे वह जानता है। आहाहा! कर्ता नहीं होता। उसका कर्ता तो नहीं होता, पर्याय क्रम से होती है उसका, परन्तु निर्मल पर्याय क्रम से आवे, उसका भी कर्ता नहीं होता। आहाहा! होती है, उसे करना क्या? ऐई! कठिन बातें हैं, हों!

वीतरागमार्ग सूक्ष्म और अलौकिक है, बापू! यह वीतराग के अतिरिक्त कहीं, कहीं है नहीं। सबने चाहे जितनी बातें की हो, कल एक बड़ा पत्र आया है। 'अध्यात्म का अवतार हुआ है।' ऐसा अन्यमति का कर्ता परमात्मा ने जगत को किया, ऐसा सिद्ध करेगा और ऐसा है और वैसा है। अब यहाँ आया था चोपानिया, सब गप्प ही गप्प। आहाहा!

परमात्मा तो निज परमात्मद्रव्य यह है। क्रमबद्ध का निर्णय होने पर, जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय सम्यक् मति—श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात हो ऐसा और अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ, पर्याय मैं हूँ नहीं, पर्याय ऐसा कहती है कि यह मैं हूँ। भाई! इस क्रमबद्ध की पर्याय के निर्णय में तो पर्याय ऐसा जानती है कि मैं यह हूँ, क्रमबद्ध होती पर्याय मैं वह हूँ, (ऐसा) नहीं। आहाहा! है न ३२० गाथा। आहाहा! ऐसी वस्तु है। क्रम में आयी हुई पर्याय जब स्व-सन्मुख ढलती है, तब वह पर्याय ऐसा मानती है कि मैं तो वस्तु हूँ न? मैं पर्याय हूँ, ऐसा नहीं; वस्तु हूँ। जो सकल निरावरण वस्तु है, उसे आवरण क्या? सकल निरावरण, पूर्ण निरावरण, अखण्डपना जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं। यह पर्याय निर्णय करती है, उस पर्याय का भेद वस्तु में नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

एक 'प्रत्यक्ष प्रतिभासमय' वर्तमान श्रुतज्ञान और मति से प्रत्यक्ष दिखाई दे, ऐसा वह आत्मा है। आहाहा! और वह अविनश्वर है। पर्याय तो विनश्वर है, विनश्वर पर्याय कहती है कि मैं अविनश्वर हूँ। ऐई! शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण, शुद्ध, परम, शुद्ध पारिणामिक सहज स्वभाव शुद्ध, परमभाव, परमभाव। आहाहा! पर्याय से भी भिन्न

परमभाव, ऐसा निज परमात्मद्रव्य; पर परमात्मद्रव्य नहीं। निजपरमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ, ऐसा समकित की पर्याय निर्णय अथवा ज्ञान की पर्याय निर्णय करती है। आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं, **आत्मा अज्ञान के कारण अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को....** यह भावक का भाव्य। आहाहा! क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण में कोई गुण विकाररूप हो, ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए वह विकार होने का कारण जो कर्म भाव, उस भावक का विकारी कार्य है। भाई! भगवान अनन्त गुण (मय) है, अनन्त... अनन्त.... अनन्त.... अनन्त का पार नहीं, परन्तु उसमें का कोई एक गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। आहाहा! इसलिए उन अनन्त गुण का धारक भावक चेतन, उसका यह कर्म के भावक से हुआ भाव्य, वह चेतन का नहीं, तथापि अज्ञानी, वह चेतन का है-ऐसा मानकर भ्रमणा का सेवन करता है। आहाहा! ऐसा उपदेश सूक्ष्म पड़े। क्या हो? आहाहा!

उस **चेतन भावक के साथ....** देखा? वह किसका था? कर्मरूप भावक का भाव्य पुण्य-पाप, दया, दान, काम, क्रोध आदि उस **चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है।** अपना भावक का भाव्य पृथक् हो तथापि, वह भावककर्म का भाव्य मेरा है, ऐसा मानता है। परन्तु उसका जाननेवाला मैं हूँ, ऐसा जो भाव्य मेरा, उसे वह जानता नहीं। आहाहा! ऐसा धर्म। रसिकभाई! इसमें वांकानेर में भी नहीं मिलता और कलकत्ता में भी नहीं मिलता यह सब। वापस बाप-दादा ने सुना नहीं। हरगोविन्दभाई ने यह सुना नहीं था। आते न ९१ में यहाँ प्रतिक्रमण करने आये थे पर्यूषण में। हीराभाई के मकान में, वहाँ कणबीवाड में रहते न पहले? पहले तुम अन्यत्र रहते थे, तुम्हें खबर नहीं। अन्दर रहते थे। कणबीवाड में रहते थे तुम्हारे पहले, ७७ में आये और तब तुम अन्यत्र रहते थे, कणबीवाड, उस ओर है तुम मंजिल पर रहते थे और बहुत वर्ष हो गये। (८६ में आये तब) यह नहीं, यह तो ७७ की बात है। यह ८६ की खबर है न, यह तो ७७ जब पहले आये न तब कणबीवाड में हमारे। पहले कणबीवाड में मेरी बहिन थी, वहाँ व्यापारी तब संसार में देखा हुआ—७७ पहले भावनगर आये थे, कितने वर्ष हुए? ५८ वर्ष, तुम्हें कितने हुए ६३,—पाँच बाकी की तुम्हें खबर नहीं होगी। मंजिल पर सीढ़ियाँ

थीं, मंजिल पर रहते थे। और वे लींबड़ीवाले नहीं, वे भी वहाँ रहते थे सामने। बड़े गृहस्थ हैं अपने स्थानकवासी।

मुमुक्षु : लालचन्द त्रिलोचन...

पूज्य गुरुदेवश्री : लालचन्द त्रिभोवन नहीं, नाम दूसरा था, उनके पिता का नाम। यह तो बहुत वर्ष की बात है, तब घर में आहार को गये थे, कुछ दूसरा नाम था।

यहाँ कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा, उसका भाव्य तो अनुभूति जो आनन्द की अनुभूति, वह उसका भाव्य, अथवा चेतन जो भावक, उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय, वह उसका भाव्य, ऐसा न मानकर कर्म के भावक का भाव्य, क्योंकि स्वयं चैतन्य ज्ञायक है, उसे तो जाना नहीं, इसलिए वह भावक का भाव्य, जो अपने को निर्मल आना चाहिए, वह तो है नहीं। आहाहा! शशीभाई! भगवान चैतन्य भावक, भावक—भाव का करनेवाला, आहाहा! उस भावक का भाव्य तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, शान्ति और आनन्द, वह भावक का भाव्य, परन्तु उसकी खबर नहीं, और यह मैं हूँ, पर, उसे अपना माना, इसलिए उस कर्म के भावक का भाव्य विकारी भाव, वह मेरे हैं, ऐसा मानकर उस राग का कर्ता होता है। है? आहाहा!

भाव के साथ उसमें इससे **और वह, जड़ ज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है....** विकल्प से। परज्ञेयरूप, आहाहा! पहले वह उसका—भूताविष्ट का दृष्टान्त पहले दिया था, अब यह ध्यानाविष्ट का। परज्ञेयरूप धर्मादि द्रव्यों को भी.... दो क्यों कहे? समझ में आया? पहला है वह भूताविष्ट-भूत लगा हो और जैसे चेष्टा करे, उसी प्रकार यह कर्म भावक है, उसका विकारी पर्याय उसे भूत लगा है मिथ्यात्व का, आहाहा! भूतार्थ जो भगवान है, उसे जाना नहीं, भूतार्थ जो विद्यमान—भूत है, भूत—विद्यमान, उसे जाना नहीं और भूत लगा, उसे वह कर्म का भावक, उससे विकारी जो भाव वह मेरे, यह मिथ्यात्व का भूत लगा है। एक बात।

अब परद्रव्य के साथ बात, वे १७ बोल थे—क्रोध, मान, माया और यह परद्रव्य छह। और परज्ञेयरूप धर्मादि, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश-काल पुद्गल और जीव वे भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। उसमें चेतन भावक के साथ, ऐसा कहा था। यहाँ

जाननेवाला है, इसलिए ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है, ऐसा कहा। समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! और इससे ऐसा। इसलिए यह दो प्रकार कहे, **इसलिए वह सविकार और सोपाधिक,...** सविकारी यह पहले में लेना, कर्मरूप भावक के भाव्य में (लेना) और यह छह द्रव्य का दूसरे में लेना—सोपाधिक में लेना, **सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है।** देखा! चैतन्यपरिणाम का कर्ता; पर का कर्ता नहीं, हों! यह राग हुआ कि वे मेरे हैं और विकार है, वह मेरा है, ऐसे विकार का कर्ता अपने परिणाम का होता है। आहाहा! ऐसा।

यहाँ क्रोधादि के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है। कहा न? पहला बोल कहा, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग-द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काया और पाँच इन्द्रिय उनके साथ एकपने की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व, एकपने की मान्यता से उत्पन्न होता कर्तृत्व हो राग, उसे समझाने के लिये भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त कहा, **और धर्मादिक अन्य द्रव्यों के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है।** ओहोहो! गाथा बहुत (अच्छी है)।

एक ज्ञायक के अतिरिक्त दूसरी सभी चीज़ें पर हैं। देव और गुरु का आत्मा भी पर है। आहाहा! उसमें यह मुझे तिरा देंगे, पर मुझे तिरा देगा, तारणतरण कहलाते हैं न? नमोत्थुणं में नहीं आता? तिन्नाणं, तारयाणं बुद्धाणं, बोहियाणं, यह तो निमित्त से कथन है। स्वयं तिरता है न, तब ऐसा निमित्त है; इसलिए कहने में आया। आहाहा! यह तो प्रवचनसार में लिया है न? योगीन्द्रों और तीर्थ का। पाँच गाथा में, योगीन्द्रों को तारने वे योगीन्द्र जो हैं, वे तिरने में समर्थ, उन्हें तारने में जो निमित्त हुआ। पाँच गाथायें हैं न प्रवचनसार। योगीन्द्रों को तीर्थ के कर्ता हैं। आहाहा! पाँच गाथा में आ गया है। यह ९६ गाथा हुई।

गाथा-९७

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वं-

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्व-कत्तितं ।।९७।।

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुञ्चति सर्व-कर्तृत्वम्।।९७।।

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति।

तथा हि - इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वाद-स्वादनेन मुद्रितभेदसम्वेदनशक्तिरनादित एव स्यात्, ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति, ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति, ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो बारम्बारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति।

ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसम्वेदनशक्तिः स्यात्, ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति, ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति, ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति, ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते, ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति।।९७।।

'इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है' यही सब कहते हैं:-

इस हेतु से परमार्थविद् कर्त्ता कहें इस आत्म को।
यह ज्ञान जिसको होय वह छोड़े सकल कर्तृत्व को।।९७।।

गाथार्थ : [एतेन तु] इस (पूर्वोक्त) कारण से [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जाननेवाले ज्ञानियों ने [सः आत्मा] इस आत्मा को [कर्ता] कर्ता [परिकथितः] कहा

है–[एवं खलु] ऐसा निश्चय से [यः] जो [जानाति] जानता है, [सः] वह (ज्ञानी होता हुआ) [सर्वकर्तृत्वम्] सर्वकर्तृत्व को [मुञ्चति] छोड़ता है।

टीका : क्योंकि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इसलिए वह निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है–जो ऐसा जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इसलिए वह निश्चय से अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं :–

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ, अज्ञान के कारण अनादि संसार से लेकर मिश्रित (परस्पर मिले हुए) स्वाद का स्वादन–अनुभवन होने से (अर्थात् पुद्गलकर्म के और अपने स्वाद का एकमेकरूप से मिश्र अनुभवन होने से), जिसकी भेदसंवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति मुंद गई है, ऐसा अनादि से ही है; इसलिए वह स्व–पर को एकरूप जानता है; इसीलिए 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प करता है; इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर पृथक्–पृथक् स्वाद का स्वादन–अनुभवन होने से (पुद्गलकर्म के और अपने स्वाद का–एकरूप नहीं किन्तु भिन्न–भिन्नरूप अनुभवन होने से), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति खुल गई है, ऐसा होता है; इसलिए वह जानता है कि ''अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका रस है, ऐसा यह आत्मा है और कषाय उससे भिन्न (कलुषित) रसवाले हैं; उनके साथ जो एकत्व का विकल्प करना है, वह अज्ञान से है;'' इस प्रकार पर को और अपने को भिन्नरूप जानता है; इसलिए 'अकृत्रिम (नित्य), एक ज्ञान ही मैं हूँ किन्तु कृत्रिम (अनित्य), अनेक जो क्रोधादिक हैं, वह मैं नहीं हूँ' ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता; इसलिए समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; इसलिए सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है; और इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के कर्तृत्व को अज्ञान जानता है,

वह स्वयं कर्ता क्यों बनेगा? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्य का कर्ता बनेगा! इसलिए ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता।।९७।।

गाथा - ९७ पर प्रवचन

इससे (पूर्वोक्त कारण से) यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है, यही अब कहते हैं। देखा, इस अज्ञान के कारण कर्तापना खड़ा हुआ है। स्वरूप जो भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति, चैतन्य धातु शुद्ध चैतन्य अमृतरूप भगवान, उसमें अज्ञान के कारण यह सब मेरे-तेरे होने में ऐसा सब मुख्य है। परन्तु यह (सिद्ध) ज्ञान से तो कर्तापने का नाश होता है परन्तु सम्यग्ज्ञान से तो कर्तापने का नाश होता है, अज्ञान से कर्तापना होता है, ऐसा जिसे भासित हुआ, वह कर्ता कैसे होगा? उस ज्ञान से कर्तापने का नाश करता है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तापने का नाश होता है। इसका उत्तर। गाथा ९७।

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्व-कत्तितं।।९७।।

नीचे (हरिगीत)

इस हेतु से परमार्थविद् कर्त्ता कहें इस आत्म को।
यह ज्ञान जिसको होय वह छोड़े सकल कर्तृत्व को।।९७।।

यहाँ तो कहते हैं, उसे बराबर जाना, वह कर्ता नहीं होता। आहाहा!

टीका :- क्योंकि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है.... आत्मविकल्प करता है, यह पर को स्वयं कर नहीं सकता। आहाहा! अज्ञान के कारण पर और अपने एकपने का.... आहाहा! पर में सब गया, वह क्रोध, मान, माया और छह द्रव्य। वे अपने एकपने का आत्मविकल्प करता है। **इसलिए वह निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है।** इसलिए वह पर का-राग का कर्ता प्रतिभासित होता है। आहाहा! **ऐसा जो जानता है....** आहाहा! **ऐसा जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है।** देखो! यहाँ अब अकर्ता आया। परद्रव्य और परद्रव्य के गुण

और परद्रव्य की क्रमसर होनेवाली पर्याय, ऐसा जो जानता है और अपना द्रव्य अपने गुण और अपनी क्रमसर होनेवाली पर्याय, उसे वह ऐसा जानता है। आहाहा! वह पर का कर्ता नहीं होता। आहाहा! अपना आत्मा ज्ञायकस्वरूप, वह क्रमबद्ध ऐसी पर्याय होने से और परद्रव्य-गुण, पर्याय की भी क्रमबद्ध पर्याय होने से इन दो का यथार्थ ज्ञान करता है, आहाहा! अर्थात् जिसका ज्ञान, जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर पड़ती है और उसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान राग का कर्तापना छोड़ देता है, अर्थात् कि वहाँ राग का कर्तापना नहीं होता। आहाहा! यहाँ अकर्ता सिद्ध किया है। ३०८ से ३११, क्रमबद्ध में अकर्ता सिद्ध किया न, वह यहाँ भी सिद्ध किया।... अभी तो यह बात है।

भगवान आत्मा वह कर्म के भावक से होता दया-दान का विकल्प, वह मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो ज्ञान-जाननेवाला ज्ञायक हूँ, ऐसा जिसे ज्ञायक का ज्ञान होता है, वह राग का और परद्रव्य मेरे, ऐसा जो विकल्प है, उसका वह कर्ता नहीं होता। उसका वह जाननेवाला हो जाता है। आहाहा! भारी कठिन। ऐसा माने तो ऐसा सरल था लोगों को भटकने का,....

मुमुक्षु : भटकने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ खबर नहीं होती, क्या आत्मा और क्या राग और क्या कर्ता। आहाहा!

ऐसा जो जानता है, **वह सकल कर्तृत्व को छोड़ देता है....** दोनों प्रकार के, १७ प्रकार के (बोल) क्रोध, मान, माया आदि और छह परद्रव्य, उन सम्बन्धी का कर्तापना, वह छोड़ता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं।

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ.... अज्ञानी होता हुआ। कर्म के कारण अज्ञानी होता हुआ, ऐसा नहीं। स्वयं अपने को भूलकर चैतन्य भगवान आनन्द का नाथ सागर, उसके अज्ञान से—उसके बेभान से, अज्ञान के कारण, **अनादि संसार से लेकर....** अनादि संसार, निगोद से अनादि, पहले निगोद में था। ऐसा अज्ञानी संसार से लेकर, जिसकी—संसार की आदि नहीं। अनादि... अनादि... अनादि, ऐसा संसार अनादि पुद्गलकर्म का और अपना अनादि **मिश्रित (एकमेक मिल गया हुआ) स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से....** आहाहा! क्या कहते हैं?

(अर्थात् पुद्गलकर्म का और अपने स्वाद का एकमेकरूप से....) अनुभव करे, एकमेक अर्थात् आनन्द का भी अनुभव और राग का अनुभव, ऐसा नहीं। भगवान आत्मा का तो आनन्द का अनुभव है परन्तु उसे भूलकर यह राग का स्वाद लेता है, राग का अनुभव करता है। यह पुण्य-पाप का जो स्वाद जो कर्म के विकार का स्वाद, उसे अनादि से उसका स्वाद है। आहाहा! दिगम्बर जैन द्रव्यलिंगी साधु अनन्त बार हुआ, तथापि उसे राग और द्वेष का स्वाद है। आहाहा! पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु वह राग है, उसका उसे स्वाद है। आहाहा! वह अपना आनन्द स्वाद, ऐसे स्वरूप के अज्ञान के कारण, वह राग और द्वेष का स्वाद, स्वादता है, उसे एकमेक कहा गया है। एकमेक अर्थात् थोड़ा आनन्द का स्वाद, थोड़ा राग का, ऐसा नहीं परन्तु आनन्दमूर्ति का प्रभु स्वाद भूलकर राग का स्वाद एकमेक कर डालता है, ऐसा कहना है। आहाहा!

मुमुक्षु : जो चालू ज्ञान और राग को एकमेकरूप जानता है वह....

पूज्य गुरुदेवश्री : रागमय को स्वाद को ही जानता है, उसका नाम एकमेक कहा गया है। है ? स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से एकमेक का अनुभव होने से **जिसकी भेद संवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित हो गयी है, ऐसा अनादि से ही है।** ऐसा तो अनादि से है। कहते हैं, कोई नया नहीं है, पहले शुद्ध था और फिर यह राग का स्वाद आया, वह अनादि से राग का स्वाद अज्ञानरूप से लेता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९३, गाथा-९७, दिनांक १२-०२-१९७९, सोमवार, माघ कृष्ण-१

(समयसार) गाथा ९७ फिर से। तीसरा पेराग्राफ। **यह आत्मा....** विषय बहुत सरस है, वास्तविक। यह **अज्ञानी होता हुआ....** स्वरूप जो अकृत्रिम विज्ञानघन आनन्द, उसके स्वरूप के अज्ञान के कारण अनादि से **अज्ञान के कारण अनादि संसार से लेकर मिश्रित स्वाद का स्वादन....** अर्थात् कि आत्मा के आनन्द का स्वाद न आकर इसे अनादि से राग-द्वेष, विषय कषाय का स्वाद इसे आता है। मिश्रित का अर्थ ऐसा नहीं कि आत्मा का थोड़ा आनन्द और थोड़ा (राग) परन्तु स्वयं जो सम्बन्ध नहीं, वह पुण्य और राग-द्वेष के भाव का स्वभाव को सम्बन्ध नहीं, तथापि अज्ञानी स्वभाव में उसे अपना सम्बन्ध मानकर उसका वेदन करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, अपूर्व बात है। **स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से....** इसका अर्थ इतना कि आत्मा अकृत्रिम विज्ञानघन आनन्दकन्द प्रभु के सामने पुण्य-पाप और दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध ये परिणाम पुद्गल के फल हैं, उनका स्वाद अज्ञानी को है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

इसलिए **जिसकी भेद संवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित हो गयी है....** यह राग जो पुण्य-पाप का भाव, उसका स्वाद, और आत्मा भिन्न है, यह भेदविज्ञान की शक्ति ढँक गयी है। आहाहा! आत्मा का स्वाद जो आनन्द है, उसकी उसे खबर नहीं। आहाहा! उस आनन्द के स्वाद को और राग के स्वाद को भेदविज्ञान की शक्ति घट गयी है। आहाहा! मूल बात यह है। यह लोग कहते हैं न अब दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा करो, तो कहते हैं कि वह तो राग है और राग का स्वाद तो अनादि का है। आहाहा! भारी कठिन काम।

ऐसा अनादि से ही है, इसलिए वह स्व-पर को एकरूप जानता है। भगवान आत्मा अकृत्रिम, निर्विकल्प विज्ञानघन के साथ जो शुभ-अशुभराग को अपने सम्बन्ध में जानता है। आहाहा! **इसलिए 'मैं क्रोध हूँ'....** अर्थात् कि स्वभाव जो चैतन्य है, उससे विरुद्ध ऐसे राग को अनुभव करना, वह क्रोध को अनुभव करना है, ऐसा कहते हैं।

आहाहा! स्वभाव जो चैतन्य क्षमा आदि शान्त आनन्द का सागर, उसके अज्ञान के कारण, अनादि से राग का स्वाद वह स्वभाव से विरुद्ध स्वाद है। आहाहा! **इत्यादि आत्मविकल्प....** १७ बोल आदि हैं न? आठ दूसरे। **आत्मविकल्प (अपना विकल्प) स्वयं अपने में करता है....** वह राग का स्वाद लेकर राग मेरा है, ऐसा स्वाद, स्वयं आत्मविकल्प करता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप।

और **इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम एक विज्ञानघन (स्वभाव)....** प्रभु! आहाहा! आत्मा का स्वभाव तो निर्विकल्प अभेद और अकृत्रिम, नहीं किया हुआ वह अनादि सत्ता है और वह विज्ञानघन है। आहाहा! **(आत्म) स्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ....** अकृत्रिम निर्विकल्प अभेद और विज्ञानघन भगवान आत्मा तो है। उसके अज्ञान के कारण, उसके स्वभाव से विरुद्ध जो पुण्य-पाप दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम का उसे स्वाद अज्ञान का है। आहाहा! क्योंकि निर्विकल्प अभेद अकृत्रिम—नहीं की गयी चीज़, ऐसी विज्ञानघन, उससे अज्ञानी भ्रष्ट हुआ है। आहाहा!

यह सब करोड़ोंपति और अरबोंपति सब सुखी कहलाते हैं न? यह अन्दर राग का स्वाद लेते हैं, वे दुःखी हैं। आहाहा! पैसे का स्वाद नहीं उन्हें। आहाहा! यह शुभ और अशुभभाव वह विकारी भाव, दुःखरूप भाव उसका उसे-अज्ञानी को अनादि से, मुनि हुआ-द्रव्यलिंगी दिगम्बर २८ मूलगुण्सा पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, तथापि उस राग के स्वाद को उसने चखा है। आहाहा! उसने आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का स्वाद उसे आया नहीं, इसलिए वह चार गति में भटकता है। दिगम्बर जैन साधु होकर भी पंच महाव्रत पालता है, २८ मूलगुण पालता है, वह राग है और राग का स्वाद है, वह आत्मा से विरुद्ध है। आहाहा! ऐसे अनादि से राग के स्वाद को अनुभव करता हुआ, आहाहा! अपने स्वरूप से **भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमता हुआ....** यह राग का—पुण्य-पाप का भाव, उसका स्वाद लेता हुआ, बारम्बार उसमें विकल्प को करता हुआ वह **कर्ता प्रतिभासित होता है।** आहाहा!

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को अकृत्रिम विज्ञानघन उदासीन चैतन्यस्वरूप के भान से

भूले हुए अनादि से, इससे वह विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट होता हुआ राग के परिणाम को अपने मानकर उसे करता है, और उसका वह स्वाद लेता है। गजब काम, भाई! आहाहा! यह पैसेवाले दुनिया कहे न अरबोंपति को, परन्तु वे सब राग के स्वादिया हैं, स्वरूप से भ्रष्ट हो गये हैं। आहाहा! अकृत्रिम और निर्विकल्प भेदरहित ऐसा आनन्दस्वरूप, ऐसा विज्ञानघन भगवान आत्मा का आश्रय नहीं और उससे भ्रष्ट हुए हैं, वे स्वर्ग के देव हों, नौवें ग्रैवेयक का बड़ा, या पंच महाव्रत का धारक द्रव्यलिंगी जैन दिगम्बर साधु हो, परन्तु वह विज्ञानघन से भ्रष्ट है और राग का स्वाद लेता है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग का स्वाद लेता है या राग को जानता है उसका स्वाद?

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला राग का, दो का किसका? आत्मा कहाँ है? मिश्रितपने में तो आत्मा के साथ राग को मिश्रित करे, ऐसा कहा और आनन्द का स्वाद और राग का स्वाद, ऐसा नहीं। मिश्रितता से बात की पहले।

मुमुक्षु : जाननक्रिया....

पूज्य गुरुदेवश्री : जाने नहीं, जाने कहाँ से? है कहाँ?

मुमुक्षु : अज्ञान से।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान से अर्थात् राग को जाने। स्वभाव को कहाँ जानता है? आहाहा! कठिन काम, भाई यह तो! **अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है....** इस अज्ञानी को राग का स्वाद आने से राग का कर्तारूप से मानकर उसे कर्ता भासित होता है कि मैं तो इसका कर्ता हूँ। उसे स्वरूप की तो खबर नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। गाथा बहुत ऊँची है। आहाहा!

यह बड़े चक्रवर्ती पद में हो, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ गाँव, छियानवें करोड़ सैनिक, परन्तु वह आत्मा ज्ञानानन्द सहजानन्दस्वरूप है, (उससे) भ्रष्ट हुआ अज्ञानी, उन स्त्रियों का और मकान का और उनके स्वाद का तो उसे, उसे स्वाद था राग और पुण्य और पाप के भाव का स्वाद, आहाहा! जो शुभ-अशुभराग वह जहर समान है, जहर का स्वाद था। आहाहा!

अमृतरूप विज्ञानघन भगवान से अज्ञानी भ्रष्ट हुआ, वह जहर का-राग का स्वाद

लेता है। आहाहा! यह तो मुद्दे की बात है। समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं न दया पालते हैं और व्रत करते हैं, भक्ति और पूजा, दान करते हैं, मन्दिर बनाते हैं और उसमें उसे जो राग हो, उस राग को वेदता है, पर को नहीं, स्व को नहीं। आहाहा! वह अकृत्रिम विज्ञानघन, निर्विकल्प प्रभु अभेद आत्मा है, उसका जिसे अनादि से ज्ञान नहीं, इसलिए उसके स्वभाव के अभावरूप, शुभ-अशुभराग का उसे जहर का स्वाद है। अमृत का स्वाद भगवान का उसे नहीं है। आहाहा! भले दिगम्बर साधु हो, पंच महाव्रत पालन करे, अट्ठाईस मूलगुण, पाँच समिति, गुप्ति व्यवहार, परन्तु वह सब राग है, और राग का स्वाद उस (विकल्प से), निर्विकल्प से भ्रष्ट हुआ, उसका स्वाद विकल्प का है। ऐसा काम है, बापू! आहाहा! यह अनादि की अज्ञानी की बात की।

अब ज्ञानी की। **और जब आत्मा ज्ञानी होता है....** आहाहा! आत्मा अकृत्रिम निर्विकल्प विज्ञानघन के सन्मुख होकर उसका अनुभव करता है, उसका नाम ज्ञानी। आहाहा! उसका नाम धर्मी, धर्म की पहली श्रेणीवाला। आहाहा! जब आत्मा ज्ञानी होता है, अर्थात् कि राग के विकल्प से प्रभु भिन्न है, उसका—आत्मा का सच्चिदानन्द प्रभु विज्ञानघन जो है अकृत्रिम, आहाहा! निर्विकल्प, उसका अन्तर में निमित्त का लक्ष्य छूटकर, राग का लक्ष्य छूटकर, पर्याय के ऊपर का भी लक्ष्य छूटकर ज्ञान, आत्मा का ज्ञान हो, ऐसा कहा न, आत्मज्ञान कहा न? पर्याय का ज्ञान भी नहीं, राग का नहीं, निमित्त का नहीं। आहाहा! आत्मा ज्ञानी होता है अर्थात् आत्मज्ञानी होता है। आहाहा!

आत्मा अनाकुल आनन्द के स्वाद स्वभाव से भरपूर प्रभु का जिसे ज्ञान होता है, समकित दर्शन होता है, यहाँ ज्ञान से प्रथम बात ली है। सम्यग्दर्शन में आत्मा का ज्ञान हो, उसे आत्मा का स्वाद आता है। आहाहा! ज्ञान के कारण, **जब आत्मा ज्ञानी होता है तब....** आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञान के कारण स्वरूप आनन्द और ज्ञानघन है, ऐसा ज्ञान के कारण, **ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर....** जब से स्वरूप का ज्ञान हुआ, राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, तब से उस **ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से....** क्या कहना है? आत्मा का ज्ञान हो, सम्यग्दर्शनसहित ऐसा होने से उसे पृथक्-पृथक् स्वाद आता है, भाई! अकेला स्वाद नहीं लिया। **पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से...** आत्मा के आनन्द का भी स्वाद है और

जरा राग है, उसका भी भिन्न स्वाद जानता है, क्या कहते हैं ? आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु, वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह आत्मा, हों ! यह लोग अज्ञानी आत्मा-आत्मा करे, वेदान्त में और सब में यह वस्तु सब कल्पित कृत्रिम है। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने जो विज्ञानघन आत्मा कहा, उसका जिसे अन्तरसन्मुख होकर ज्ञान हुआ। जब से ज्ञान से लेकर.... आहाहा ! है ? पृथक्-पृथक् स्वाद अर्थात् अभी पूर्ण वीतराग नहीं, तब तक समकिती धर्मी को आत्मा के आनन्द का भी स्वाद और राग का स्वाद परन्तु पृथक्-पृथक् है। आहाहा ! भाई ! कोई ऐसा कहे कि यह ज्ञान हुआ, इसलिए अकेला आत्मा का ही आनन्द का स्वाद है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : विशुद्ध आनन्द...

पूज्य गुरुदेवश्री : विशुद्ध आनन्द है, जितना आत्मा का आनन्द है और जितना दुःख का स्वाद है, दोनों भिन्न है, दो को भिन्न जानता है। आहाहा ! समझ में आया ? वे कहते थे भाई सेठिया दीपचन्दजी, कि आत्मा को दुःख का वेदन होता ही नहीं, ज्ञानी हुआ तो दुःख का वेदन होता ही नहीं, इसलिए प्रकार चढ़ गये थे।

मुमुक्षु : छेदन होता है परन्तु वेदन नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या होगा ? यहाँ क्या कहा ? पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से दोनों का पृथक्-पृथक् अनुभव है, आनन्द का अनुभव और साथ में राग बाकी रहा, उसका अनुभव पृथक्-पृथक् भिन्न स्वाद है। आहाहा ! वीतरागमार्ग ऐसा है। क्या कहा ?

मुमुक्षु : फरमाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब.... ऐसा। **ज्ञान के कारण....** आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप का भान हुआ है, उसके कारण **ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर....** जब से सम्यग्ज्ञान हुआ, अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ तब से, प्रारम्भ से लेकर **पृथक्-पृथक् स्वाद का स्वादन-अनुभवन होने से (पुद्गलकर्म का और अपने स्वाद का एकरूप नहीं परन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन होने से)** दो का अनुभवता है दोनों को, परन्तु एक दुःखरूप और एक आनन्दरूप, परन्तु भिन्न-भिन्नरूप स्वाद है। पूर्ण

वीतराग नहीं न? वीतराग को पूर्ण आनन्द का अनुभव, मिथ्यादृष्टि को पूर्ण दुःख का अनुभव, और समकिती को थोड़ा आत्मा का-आनन्द का अनुभव और थोड़ा राग का, दोनों पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभव। आहाहा!

मुमुक्षु : काल एक परन्तु स्वाद भिन्न-भिन्न।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न-भिन्न है न? भिन्न है न? एक पर्याय के दो भाग, थोड़ा आनन्द है और थोड़ा दुःख-राग है। एक पर्याय के दो भाग हैं। आहाहा!

कहो, यह दुनिया कहती है न? पैसेवाले करोड़पति और अरबपति सुखी हैं। दुःख के पोटला बाँधते हैं, मात्र दुःखी हैं। आहाहा! स्वरूप तो आनन्दस्वरूप प्रभु का जिसे ज्ञान नहीं, उसकी जिसे अन्तर में पहिचान नहीं, स्वरूप का आनन्दस्वरूप है, वैसा उसे अन्दर पर्याय में वेदन आया नहीं, उसे तो मात्र राग के स्वाद में वह दुःखी है। फिर चक्रवर्ती हो ब्रह्मदत्त दुःखी है और दुःख को भोगकर मरकर वापस सातवें नरक में गया। आहाहा! परन्तु जब से आत्मज्ञान हो, यह करनेयोग्य तो यह है, कहते हैं।

राग और निमित्त से पृथक् प्रभु है, उसका दर्शन और उसका ज्ञान करनेयोग्य है। वह ज्ञान करे, उसका भान होने से कर्म के उदय का स्वाद और आत्मा का स्वाद दोनों भिन्न-भिन्नरूप से जानता है-अनुभवता है। समझ में आया? कर्म के और पुद्गल के स्वाद का एकरूप नहीं परन्तु भिन्न-भिन्नरूप से अनुभवन है। एक ही अनुभव है आनन्द का, ऐसा भी नहीं और आनन्द का अनुभव है और राग-दुःख के अनुभव को जानता है, ऐसा भी नहीं है। दोनों का अनुभव है-साधक है तब तक। आहाहा! ऐसा धर्म! अब यहाँ कहते हैं। यहाँ तो वह व्रत करे और अपवास करे और हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं, वह तो सब राग की क्रिया है! सुन न.... आहाहा! वह तो दुःख का स्वाद है।

मुमुक्षु : अनेकान्त धर्म जाने-वेदे या छेदे....

पूज्य गुरुदेवश्री : छेदे-भेदे, कहाँ छेदना था? जानकर वेदता है बस, छेदन-भेदन नहीं करता। कथन, छेदे क्या? यहाँ तो मोक्ष भी करता नहीं न! भाषा आवे व्यवहार से, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन अनुभव हुआ, तब तो ज्ञानी राग को भी जाने, निर्जरा को भी जाने, बन्ध को जाने और मोक्ष को भी जाने; करता नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु छेदे-भेदे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : छेदे भी नहीं, छेदे किसे? छेदकर....

मुमुक्षु : छेदकर आगे बढ़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; यह भाषा बोली जाती है ऐसी। छेदता है परन्तु छेदे किसे, यह राग है और उसे छेदूँ, ऐसा है वहाँ? बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

वीतरागमार्ग परमेश्वर जिनेश्वर का कहा हुआ तत्त्व अभी मिलता नहीं, गुम हो गया। वाडा बाँधकर बैठे और (मानते हैं कि) हम धर्म करते हैं। यह व्रत पालते हैं और अपवास किये और तपस्यायें कीं महीने की। वह तो सब राग की क्रिया है। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा उस राग की क्रिया से भिन्न है, ऐसा जहाँ ज्ञान और आत्म-अनुभव हुआ, तब से लेकर उसके दो प्रकार के स्वाद को भिन्न-भिन्न जानता है अथवा भिन्न-भिन्न अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया? चिमनभाई! ऐसा है। मुम्बई में रहे न, बड़ी मोहनगरी है। आहाहा! हो हा... हो हा... के कारण अब यह बात कहाँ सुने? सुनने को मिलती नहीं, समझे कब? अरे ८४ के अवतार कर-करके मर गया है। अनन्त बार अरबोंपति हुआ और सौ बार माँगे तब तो एक बार ग्रास मिले, ऐसा भिखारी अनन्त बार हुआ, यह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! अरे! पंच महाव्रत का पालनेवाला अनन्त बार हुआ,वह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसे पंच महाव्रत के परिणाम हैं, वे तो राग हैं और राग है, वह आस्रव है और आस्रव है, वह दुःख है। आहाहा! अब जिसे लोग यहाँ धर्म मानते हैं। समझ में आया? आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी दुःखरूप है, राग है, आहाहा! और वह समकिती को ही होता है, तीर्थंकरप्रकृति बाँधने का विकल्प हो परन्तु वह विकल्प है, वह राग का स्वाद है। आहाहा! और उससे भिन्न आत्मा के आनन्द का स्वाद, वह भिन्न है; दोनों के पृथक्-पृथक् स्वाद को अनुभव करता है।

मुमुक्षु : शुद्ध उपयोग की बात चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध उपयोग की बात कहाँ है अभी, शुद्ध उपयोग में तो अन्दर अकेला (आनन्द) होता है, और तो भी वेदन में राग होता है, तथापि वेदन का ख्याल

नहीं होता। यह अन्तर के अनुभव में उसे वेदन तो राग का है। पूर्ण वेदन हो तब तो वीतराग हो जाये, लक्ष्य उसकी ओर नहीं। आहाहा! शुद्ध उपयोग का वेदन है, उस समय भी अभी पूर्ण शुद्ध नहीं है, इसलिए राग है। आहाहा! दसवें गुणस्थान तक राग है, तब तक वेदन भी है, आहाहा! परन्तु वह तो दृष्टि ऐसे स्वभाव-सन्मुख है न, इसलिए वह और जानने का भगवान ने कहा कि भाई! वहाँ राग है इतना। उसका स्वाद भी दुःखरूप है, परन्तु अनुभव में अन्दर है; इसलिए उसे उसका ख्याल नहीं, परन्तु वेदन में वह तो साधारण से बात लेनी है न? ज्ञान आदि में, आदि से लेकर, ऐसा कहा है न? आहाहा!

भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप ही प्रभु अन्दर है। निज परमात्मद्रव्य स्वयं है। आहाहा! वह निज परमात्मद्रव्य स्वयं प्रभु है। उसका जहाँ अन्तर सन्मुख होकर, उसका ज्ञान हुआ, वहाँ उसे उसकी जाति का स्वाद भी आया और उतना राग बाकी है, उसका भी स्वाद है, परन्तु दोनों के भिन्न-भिन्न स्वाद है, दो को एकरूप नहीं मानता। ऐसी बातें अब कठिन पड़े लोगों को। फिर सोनगढ़वाले निश्चय की बातें करते हैं ऐसा बेचारे कहें। क्या करे? उन्हें खबर नहीं। व्यवहार की बातें करते (नहीं) व्यवहार अर्थात् क्या? राग और राग अर्थात् दुःख। क्या करना है तुझे? समझ में आया? व्यवहार आवे तो वह राग है और राग है, वह दुःख का वेदन है। आहाहा! क्या हो? जगत अनादि से लुटता है और उत्साह से लुटता है। आहा!

ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का, स्वादन-अनुभवन,... स्वादन अर्थातृ अनुभवन। पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से, **पुद्गलकर्म और अपने स्वाद का....** पुद्गलकर्म का अर्थात् वह विकार है न राग-द्वेष, वह पुद्गलकर्म का फल है, ऐसा कहना है। उसका वेदन है। आहाहा! आहाहा! **(एकरूप नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन होने से...) जिसकी भेद संवेदन शक्ति प्रगट हो गयी है....** आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन और राग का वेदन परन्तु 'दो' की भिन्नता की शक्ति खिल गयी है। राग का वेदन और आनन्द का वेदन, इनकी 'दो' की भिन्नता का भान हो गया है। भिन्नता की शक्ति प्रगट हो गयी है। अज्ञानी को भिन्नता की शक्ति संकुचित हो गयी थी। आहाहा! क्या मार्ग?

एक बार नहीं कहा था? नानालालभाई करोड़पति बहुत बड़े पैसेवाले, उनके रिश्तेदार आये थे। फिर व्याख्यान में उपस्थित थे वहाँ स्वाध्यायमन्दिर में (बोले), हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। कहा सुखी की व्याख्या क्या? यह करोड़ रुपये हैं और दस लाख की वार्षिक आमदनी है और लड़के सब कमाऊँ है न, वह सुखी? वह सुख की व्याख्या? काँप के थे। क्या कहलाता है वह? चूडगर... चूडगर... चूडगर... चूडगर था कोई मोहनभाई का रिश्तेदार न। यह पैसे करोड़ों रुपये हो और पाँच लाख, दस लाख पैदा होते हों, यह तो चालीस करोड़ लो न भाई को-साहूजी को। परन्तु अपना वह गोवा का दो अरब चालीस करोड़—शान्तिलाल खुशाल। दो अरब चालीस करोड़—दो सौ चालीस करोड़। दुःखी.... दुःखी.... दुःखी.... बेचारा। यह मेरे हैं और मैं पैसेवाला हूँ और मैं बहुत लोगों को निभाता हूँ हजारों लोग और बड़ा व्यापार.... आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे की अपेक्षा दुःखी होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की अपेक्षा बड़ा दुःखी है। कम ममतावाला थोड़ा दुःखी है और अधिक ममतावाला (अधिक दुःखी है)। बहुत पैसा है, इसलिए ऐसा नहीं, हों! बहुत ममता (है, इसलिए दुःखी है)। चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज्य है, परन्तु समकिती हो उसे अल्प दुःख है। आनन्द भी है थोड़ा, जितना राग-आसक्ति है उतना दुःख भी है, चक्रवर्ती। और नारकी का जीव, जिसे कोई सुविधा नहीं, अकेला मिथ्यात्वभाव है, जिसे स्वरूप का भान नहीं, वह मात्र दुःखी है। आहाहा! और नारकी का जीव समकिती है। आहाहा! वहाँ आत्मज्ञान हुआ है तो उसे उतना आनन्द भी है और जितनी जो अभी आसक्ति है, उतना राग भी है। आहाहा!

'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया' यह जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं और पर के ऊपर जितनी ममता में पड़े हैं, वे दुरिजन हैं। सुखिया जगत में सन्त, आत्मा आनन्द स्वरूप का भान होकर आनन्द का ख्याल आवे वह सुखी है। आहाहा!

मुमुक्षु : सन्तोषी सुखी है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्तोष का अर्थ क्या? यह वीतरागभाव प्रगट हुआ, वह सन्तोष है। सन्तोष का अर्थ कि यह राग है, वह मेरा नहीं और मैं वीतरागस्वरूप से हूँ,

ऐसी दशा वीतरागी जो आनन्द की हुई, उसका नाम सन्तोष है। पुंजाभाई! यह सब नैरोबी में धन्धा करनेवाले हैं न? आहाहा!

मुमुक्षु : अलग प्रकार के अर्थ हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग प्रकार के अर्थ हैं। आहा! अरे! ऐसा सत्य सुनने को न मिले, उसका जीवन पशु जैसा है, व्यर्थ है। भले वह अरबोंपति हो, (परन्तु) पशु है पशु। चौदह बोल में नहीं कहा, पशु? आहाहा! 'मनुष्यस्वरूपेण मृगा चरन्ति' मनुष्य के रूप में भी ढ़ोर जैसा, पशु जैसा है वह। आहाहा! और पशु है-तिर्यंच है असंख्य बाहर समकिती है, भगवान कहते हैं। वे पशु हैं, तथापि वे... आहाहा! आनन्द के अनुभव का स्वाद लेते हैं और जितना राग उतना दुःख के वेदन को भी जानते हैं, स्वादते हैं। आहाहा! सिंह और बाघ हो, ढाई द्वीप के बाहर असंख्य सिंह और बाघ। असंख्यगुने मिथ्यादृष्टि हैं और उनके असंख्यवें भाग में समकिती हैं। आहाहा! वे सुखी हैं। जिन्हें मकान नहीं, जिन्हें रहने का स्थान नहीं, आहाहा! जिन्हें वस्त्र नहीं, गहने नहीं-मकान नहीं, तथापि आत्मज्ञान और आत्मा का अनुभव हुआ है, उन्हें आनन्द है। आहाहा! और जितनी अभी परसन्मुख की राग की आसक्ति है, उसका उन्हें दुःख का वेदन भी साथ में है, परन्तु 'दोनों' का पृथक्-पृथक् वेदन है। दोनों एकरूप हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या सुनना कठिन पड़े, पूरी जिन्दगी बेचारे पचास-पचास, साठ वर्ष, व्रत करो और अपवास करो और तपस्या करो और उसमें जिन्दगी अज्ञान में व्यतीत की। आहाहा! गाथा बहुत अच्छी है।

एकरूप नहीं अनुभवन होने से **जिसकी भेद संवेदन शक्ति प्रगट हो गयी है, ऐसा होता है इसलिए वह जानता है,....** देखा? जानता भी है और वेदता भी है, **कि अनादिनिधन....** आहाहा! मैं एक भगवान आत्मा, अनादि अर्थात् आदि बिना की चीज़ और 'अनिधन'—जिसका अन्त नहीं। **अनादिनिधन निरन्तर स्वाद में आनेवाला....** आहाहा! यह भगवान आनन्दस्वरूप है, वह निरन्तर स्वाद में आनेवाला, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को धर्मी जीव को अनादि-अनन्त जो भगवान आत्मा, उसका निरन्तर स्वाद में आनेवाला, आहाहा! **समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न)....** समस्त अन्य रागादि

के लक्षण से भिन्न, आहाहा! समस्त अन्य रस। आहाहा! उसे पाँच लाख की आमदनी एक दिन में हो और हर्ष आवे, आहाहा! आज तो निहाल हो गया। महादु:खी है। ऐसे रस से भिन्न जो यह रस है, ऐसा कहते हैं। पाँच सौ वेतन हो और वेतन हजार हो जाये वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न होवे कि पाँच सौ बढ़े। पाँच हजार का वेतन हो और दस हजार हो जाये तो प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। अभी है न अपने लड़के हैं न? पन्द्रह हजार वेतन दलीचन्दभाई का। मोरबी-मोरबी। ऐई, नवलचन्दभाई! यह दलीचन्दभाई नहीं? नवलचन्दभाई को कहता हूँ, मोरबी के नहीं? दलीचन्दभाई के लड़के हैं न? मुम्बई। एक को पन्द्रह हजार मासिक वेतन है, एक को आठ हजार है, और एक को दस हजार है, तीन लड़के हैं। परन्तु उसमें क्या है? व्यापारी को तो पाँच-पाँच लाख की आमदनी बारह महीने में होती है, उसकी गिनती, परन्तु उससे क्या हुआ? आहाहा! दु:खी है दु:खी। आहाहा!

ज्ञानी धर्मी जीव को आत्मा आनन्दस्वरूप है, निर्विकल्प अकृत्रिम विज्ञानघन आनन्दकन्द प्रभु है, ऐसा भान होने पर **स्वाद में आनेवाला समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न)....** आहाहा! विषय के रस में जो रस आवे, वह तो राग है, आहाहा! वह दु:ख है। आहाहा! लड़के का विवाह होता हो, और कन्या करोड़, दो करोड़ की आसामी आयी हो, उसके पिता की इकलौती हो, पच्चीस लाख लेकर आती हो, (पिता) मर जायेगा तो फिर भी सब इसको आयेगा। देखो, वह विवाह में वह इसका वर-पति और ससुर फूला-फूला मानो, ओहोहो! क्या आज का विवाह और क्या, ऐसा हर्ष तो कभी देखा ही न हो। दु:खी है, प्रभु! सुन न! विकार का वेदन है। अरर! ऐसा जगत से भारी उल्टा, भाई! आहाहा! उसमें पाँच-पच्चीस लाख लेकर आयी हो, जवान बाई बीस वर्ष की और स्वयं की उम्र हो पचास वर्ष की और विवाह करे और देखो तुम्हारे वह तो, पागल देख लो पागल। आहाहा! आनन्द.... आनन्द है आज तो। क्या कहलाता है पहले जीवन का पहली रात्रि का? सुहागरात। वह नहीं था राजकुमार परदेश में कहीं अरबस्तान का, विवाह किया तब एक रात्रि में एक करोड़ खर्च किये, एक करोड़ सुहागरात में, इसलिए प्रसन्न। आहाहा! हम सुख में हैं। अरे प्रभु! मर गया, मार डाला तूने आनन्द के नाथ को मारकर तू राग के वेदन में पड़ा है, तूने बड़ी हिंसा

की है, प्रभु! अब ऐसी बातें दुनिया के साथ मिलान कैसे खाये? आहाहा!

अत्यन्त मधुर चैतन्यरस.... आहाहा! भगवान अनादि-अनन्त प्रभु है, उसका आनन्दरस, अत्यन्त मधुर। राग के असंख्य प्रकार के राग के स्वाद से भिन्न जाति है। आहाहा! अनुकम्पा की हो बहुत, पाँच पच्चीस लाख देकर गोशाला और अमुक को, उसे राग का रस आता है। वह सब वह तो राग है। उस राग से प्रभु का स्वाद भिन्न रस है। आहाहा! विलक्षण है। अन्य रस से लक्षण ही उसका अलग प्रकार है। आहाहा! अत्यन्त मधुर ही चैतन्यरस, अत्यन्त मधुर मीठा आनन्दरस। आहाहा! यह मैसूर खाता हो चार सेर घी पिलाया हुआ, और चोसला ऐसे, उसे राग होता है कि ओहोहो! वह दुःख का स्वाद है, मैसूर का नहीं। मैसूर का स्वाद उसे-किसी को आता ही नहीं, वह तो जड़ है। प्रभु तो अरूपी, उसे जड़ का स्वाद कहाँ से आवे? आहाहा! उसमें इसे ठीक लगा, ऐसा राग, उस राग का स्वाद है, जहर का स्वाद है, जहरीला स्वाद चखता है, उससे चैतन्य का रस विलक्षण, भिन्न जाति है। आहाहा! गजब गाथा है। अलौकिक है।

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर का कथन है, उसे सन्त स्वयं अनुभवकर कथन द्वारा जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! चारित्र का अनुभव हो। मुनि है न, वे अतीन्द्रिय आनन्द,.... मुनि उसे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन से भी उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द बहुत होता है, बहुत होता है, आहाहा! प्रचुर स्वसंवेदन होता है, पाँचवीं गाथा में आता है, उसे मुनि कहते हैं। वस्त्र छोड़कर त्यागी हुए, नग्न हुए, हो गये मुनि? मुनि-फुनि कब था? आहाहा! ऐसा कठिन लगे नहीं? चेतनजी! आहाहा!

यह महिलायें जवान महिला दीक्षा ले न, मानों कि आहा! दीक्षा थी कब उसे? मिथ्यादृष्टि है, अभी तो राग और शरीर मेरा (माने)। राग और शरीर से भिन्न भगवान को तो जाना नहीं, वह सब दीक्षा राग की दुखिया की दुःखी की दशा है, दक्षा है-दुःख की दक्षा। भारी कठिन काम, हों! जवान महिला ऐसे बीस-पच्चीस वर्ष की, बड़ा महोत्सव करे, पाँच-पचास हजार खर्च करके हाथी के हौदे पर बैठावे। हमारी दीक्षा में हाथी के हौदे पर थे। हमारे ६६ वर्ष हुए, हाथी-हाथी तब था न, यहाँ था न राजा हाथी रखता था। अब तो कहाँ थे? तब हाथीवाले का था उमराला से सात मील दूर हो, हाथी लाये थे,

वह ऐसा बड़ा हाथी था कि जो वे तिरपाल बाँधे हुए थे, वे सब निकाल देने पड़े। बहुत ऊँचा, गाँव में तिरपाल बाँधे न दीक्षा के समय की, हाथी के हौदे बैठे थे। अब लोग महिमा करे कि क्या है परन्तु? वहाँ कहा न, उस हाथी पर चढ़ते हुए निसरणी के छोर में (फँसकर) वस्त्र फट गया। कहा, यह क्या? बात यह कि यह वस्त्रसहित मुनिपना नहीं होता। सहज, परन्तु यह कुछ खबर नहीं और भान नहीं न? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका रस है....** आहाहा! भगवान आत्मा का तो अत्यन्त मधुर चैतन्यरस, वही उसका रस है। बीच में दया, दान, व्रत के राग का रस है, वह कहीं उसका रस नहीं। आहाहा! **मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका रस है....** वही एक जिसका रस है, वह राग का स्वाद आवे, परन्तु वह कहीं उसका रस नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुनि को भी पंच महाव्रत का विकल्प उठे, परन्तु वह कहीं आत्मा का आनन्दरस नहीं, वह तो दुःख है। आहाहा! उससे भिन्न चैतन्य मधुर रस जिसका एक ही रस है। आहाहा! **ऐसा आत्मा है।** है? अत्यन्त मधुर जो चैतन्यरस है, वही एक जिसका रस है, ऐसा यह आत्मा है। ऐसा यह आत्मा है। अत्यन्त आनन्द का मधुर स्वाद, वह आत्मा है। आहाहा! उसे बाकी जो रागादि महाव्रत का, व्रत का आदि (भाव) आवे, वह आत्मा नहीं। वह तो कर्म का स्वाद है, दुःख का स्वाद है। आहाहा! कहाँ से बैठे? पुण्यभाव का—शुभ का स्वाद है, वह भी आत्मस्वाद नहीं। आहाहा! पापभाव का स्वाद, वह आत्मा का स्वाद नहीं। भगवान का तो यह मधुर चैतन्यरस एक ही रस, वह उसका रस है। है? **वही एक जिसका रस है, ऐसा यह आत्मा है।** मात्र अतीन्द्रिय मधुर आनन्दरस है, वह आत्मा है। आहाहा!

अब ऐसा तो सुनने को मिले नहीं, अब उसे करे कब बेचारा भटक मरता है ऐसे और ऐसे। आहाहा! दुःखी... दुःखी... और कुछ पाप कठोर हो, मरकर नरक में, निगोद में जाये और कठोर न हो परन्तु मिथ्यात्व है तो उसका फल निगोद ही है। आहाहा! जिसने राग के रस को मेरा माना है, वह मिथ्यात्वभाव है और मिथ्यात्वभाव का फल निगोद है। आहाहा! यह लहसुन और प्याज में जानेवाला है। वापस अनन्त काल में मनुष्य नहीं होगा। अरेरे! यह प्रभु! यह तो वीतराग का मार्ग ऐसा है। दुनिया के साथ मिलान नहीं खाता। आहाहा!

और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं.... चाहे तो शुभभाव हो और चाहे तो अशुभभाव—दया का, दान का, भक्ति का, पूजा का, व्रत का, अपवास का, यह शुभराग कषाय है। आहाहा! **कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं....** पाप के भाव के रस को तो क्या कहना, परन्तु कहते हैं कि पुण्य का भाव जो है, वह भी कषायवाला रस है। आहाहा! **कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं (कषायेला-बेस्वाद) है....** बेस्वाद है, वह (आत्मा) मधुर चैतन्यरस है तो यह बेस्वाद सामने है। बेस्वाद अर्थात् स्वाद भिन्न, खोटा स्वाद, बेस्वाद अर्थात्। बेभान अर्थात् दो भान ऐसा नहीं, भान बिना का। बेस्वाद अर्थात् आत्मा के स्वाद बिना का, बेस्वाद है। आहाहा!

आत्मा का जो आनन्दरस है, वह राग के रस से विलक्षण / भिन्न है और उससे जो यह राग का रस है, वह कषायैला रस है। आहाहा! और वह बेस्वाद है। बेस्वाद, समझ में आया? है बेस्वाद? अर्थात् दो स्वाद, ऐसा नहीं। स्वाद—आत्मा के स्वाद से भिन्न, इसलिए बेस्वाद, भान बिना का, उसे बेभानवाला कहते हैं। आहाहा! ऐसा है। कितनों ने तो यह बात सुनी भी न हो जिन्दगी में, पचास-साठ वर्ष मजदूरी में निकाले हों। मजदूरी यह पाप की और कमाने की और स्त्री-पुत्र सम्हालने की और पाप की सब मजदूरी। आहाहा! भाई गये शास्त्री, क्या अमृतलाल? गये। आहाहा!

कषायें उससे भिन्न रसवाली है, उनके साथ जो एकत्व का विकल्प करता है.... है? यह राग के स्वाद के साथ आत्मा को एकपने का स्वाद करना, **वह अज्ञान से है,....** मिथ्यात्व से है। आहाहा! यह आत्मा अनादि-अनन्त चैतन्य मधुर एक ही जिसका रस है, उसके साथ राग के रस को एकत्व करना, आहाहा! है? **वह अज्ञान से है....** मिथ्यात्व से है। **इस प्रकार पर को और अपने को भिन्नरूप जानता है....** धर्मी ज्ञानी जब से ज्ञान हुआ-सम्यग्दर्शन हुआ, तब से वह पर को अर्थात् राग के स्वाद को और अपने आपके स्वाद को भिन्नरूप जानता है। भले स्वाद आवे इकट्ठा परन्तु जानता है भिन्न। आहाहा!

इसलिए अकृत्रिम... अर्थात् **नित्य एक ज्ञान ही मैं हूँ।** अकृत्रिम नित्य एक ज्ञान वह मैं हूँ। आहाहा! ज्ञान—अर्थात् आत्मा। नित्य ऐसा भगवान आत्मा, वह ही मैं हूँ,

किन्तु कृत्रिम अनित्य अनेक जो क्रोधादिक है, वह मैं नहीं हूँ। रागादि होते हैं, वह मैं नहीं हूँ। **ऐसा जानता हुआ....** धर्मी सम्यग्दृष्टि **मैं क्रोध हूँ इत्यादि आत्म-विकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता,** लो, मैं राग हूँ, पुण्य हूँ, यह हूँ, ऐसा आत्मविकल्प किंचित् भी नहीं करता। आहाहा! **इसलिए समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है,....** राग का कर्तृत्व उसे नहीं होता। **अतः सदा उदासीन अवस्थावाला होता हुआ....** सदा उदासीन अवस्थावाला होता हुआ, आहाहा! **मात्र जानता ही रहता है, इसलिए निर्विकल्प....** सामने शब्द थे ऊपर, यह **निर्विकल्प अकृत्रिम एक विज्ञानघन होता हुआ....** उसमें भ्रष्ट होता हुआ (था)। **निर्विकल्प अकृत्रिम एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।** आहाहा! वह राग के स्वाद का भी अकर्ता प्रतिभासित होता है, वेदता है, तथापि अकर्ता प्रतिभासित होता है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९४, गाथा-९७, कलश-५७-५८ दिनांक १३-०२-१९७९, मंगलवार, माघ कृष्ण-२

(समयसार), ९७ गाथा का भावार्थ—है न अन्त में? **जो परद्रव्य के....** अर्थात् कि आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य दूसरे आत्मायें दूसरे शरीर जड़ आदि **और परद्रव्य के भावों के....** परद्रव्य के निमित्त से हुए पुण्य-पाप और विकारी भाव, उनके **कर्तृत्व को अज्ञान जानता है....** परद्रव्य के कर्ता को जो अज्ञान जाने और परद्रव्य के भाव होने से पुण्य और पाप, उनके कर्तापने को जो अज्ञान जानता है, **वह स्वयं कर्ता क्यों बनेगा?** —ऐसा सिद्धान्त है। आहाहा!

यह आत्मा शुद्ध चैतन्यधातु.... आयेगा.... शुद्ध चैतन्यवस्तु, वह इससे भिन्न परद्रव्य शरीर, वाणी, मन, कर्म दूसरी चीज़ें सब पदार्थ, उनका और उसके कर्म के निमित्त से हुए शुभ और अशुभभाव, पुण्य-पाप के भाव, उनका कर्ता हो, वह अज्ञानी है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा राग और परद्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता। आहाहा! शुद्ध चैतन्य वस्तु निर्मल आनन्दघन भगवान आत्मा, वह राग दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम का कर्ता वह कैसे हो? यह तो ऐसी बात है। आहाहा! क्योंकि जो परद्रव्य है और परद्रव्य के संयोग सम्बन्ध से दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव हों, वह अज्ञानी हो, वह उनका कर्ता होता है। आहाहा!

अर्थात् कि जिसे शुद्ध आत्मा, शुद्ध ज्ञानघन है, उसकी जिसे खबर नहीं, ऐसा अज्ञानी उन पुण्य-पाप और परद्रव्य का कर्ता होता है। ऐसा अज्ञान से कर्ता होता है, ऐसा जो जाने, ऐसा कहते हैं, वह कर्ता किसलिए बनेगा? आहाहा! क्या कहा, समझ में आया? भगवान आत्मा तो चैतन्य वस्तु ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु, उसका जिसे अज्ञान है, भान नहीं, वह पुण्य और पाप और परद्रव्य का कर्ता अज्ञान से होता है, परन्तु अज्ञान से होता है—ऐसा जिसे भान होता है, वह कर्ता कैसे होगा? ऐसा कहते हैं, आहाहा! है?

जो परद्रव्य.... अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त शरीर, वाणी, धन्धा, व्यापार आदि के (भाव), वह सब परद्रव्य की क्रिया है। आहाहा! और उसके कर्म के निमित्त से

होनेवाला शुभ और अशुभभाव, वह भी परभाव-कर्म का भाव जड़ है, आत्मा का नहीं। आहाहा! आत्मा तो अनन्त.... अनन्त.... अनन्त.... पवित्र गुण का पिण्ड प्रभु है, वह पवित्र प्रभु आत्मा, अज्ञान के कारण राग का कर्ता होता है। आहाहा! परन्तु जिसने अज्ञान से कर्ता होता है, ऐसा जाना है, वह ज्ञान से कर्ता कैसे होगा? गजब बात! एक-एक शब्द सिद्धान्त में कितना रहस्य है। आहाहा! **यदि अज्ञानी रहना हो तो परद्रव्य का कर्ता बनेगा।** आहाहा! शुद्ध ज्ञान आनन्द प्रभु का जिसे अज्ञानी रहना हो तो कर्ता बनेगा, आहाहा! परन्तु वस्तु है, ऐसा ज्ञान हुआ, मैं तो ज्ञान आनन्द और शान्तस्वरूप वीतराग मूर्ति मैं आत्मा हूँ, वह वीतरागस्वरूपी प्रभु, वीतराग से विरुद्ध राग को कैसे करे? आहाहा! ऐसी बातें हैं। कहो, चिमनभाई! हमारे चिमनभाई तो वहाँ बड़े वाँचनकार है न मुम्बई। आहाहा! ऐसी बात है। जगत को कठिन पड़ती है।

प्रभु अन्दर ज्ञान की मूर्ति है न? वह ज्ञान की मूर्ति, वह उसके स्वभाव से विरुद्ध जो विकार विभाव और परद्रव्य जो अत्यन्त भिन्न, उनका अज्ञान से कर्ता होता है। परन्तु अज्ञान से कर्ता होता है, ऐसा जो जाने, वह कर्ता कैसे होगा? कहते हैं। आहाहा! अर्थात् कि स्वरूप का जाननेवाला हो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य वीतरागीबिम्ब प्रभु, जिनबिम्ब आत्मा है, ऐसा जिसे ज्ञान हुआ और उसके अज्ञान से राग का कर्ता होता था, ऐसा जिसने जाना, वह अज्ञान से राग का कर्ता होता था, वह कैसे होगा? ऐसा कहते हैं। बेभान से कर्ता था, यह ऐसा जाना, वह भान में आकर कर्ता नहीं होगा, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसलिए ज्ञान होने के बाद.... चैतन्यस्वरूप का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। आहाहा! **परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता।** पश्चात् उस परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप के भाव। आत्मा ज्ञानस्वरूप का ज्ञान होने पर उस विकार का और परद्रव्य का कर्ता नहीं रहता। आहाहा! ऐसी चीज़ है। यह तो इच्छामि पडिकम्मणुं इरिया वीरिया ऐसी भाषा है, वह परद्रव्य है। उसका कर्ता हो, और वह इच्छामि पडिकम्मणं ऐसा बोले, उसमें विकल्प है, राग है। आहाहा! उस राग का कर्ता होता है और वाणी बोली जाये, उसका कर्ता होता है, वह परद्रव्य है। और उसके कर्म के निमित्त से होनेवाला

विकार उठा है कि मैं इच्छामि पडिकम्मण करूँ, वह विकल्प है, वह भी राग और परद्रव्य का भाव है। आहाहा! वह अज्ञान से कर्ता होता है, ऐसा जिसने जाना, वह कर्ता कैसे होगा? अर्थात् कि ज्ञानस्वरूपी हो, ऐसा। ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब श्लोक, ५७ वाँ श्लोक है। छह श्लोक आयेंगे।

कलश-५७

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(वसन्ततिलका)

अज्ञान-तस्तु सतृणाभ्यवहार-कारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षु-मधुराम्ल-रसातिगृद्ध्या,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्।।५७।।

श्लोकार्थ : [किल] निश्चय से [स्वयं ज्ञानं भवन् अपि] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [अज्ञानतः तु] अज्ञान के कारण [यः] जो जीव [सतृणाभ्यवहारकारी] घास के साथ एकमेक हुए सुन्दर भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति, [रज्यते] राग करता है (राग का और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [असौ] वह, [दधीक्षुमधु-राम्लरसाति-गृद्ध्या] श्रीखंड के खट्टे-मीठे स्वाद की अति लोलुपता से [रसालम् पीत्वा] श्रीखण्ड को पीता हुआ भी [गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्] स्वयं गाय का दूध पी रहा है, ऐसा माननेवाले पुरुष के समान है।

भावार्थ : जैसे हाथी को घास के और सुन्दर आहार के भिन्न स्वाद का भान नहीं होता; उसी प्रकार अज्ञानी को पुद्गलकर्म के और अपने भिन्न स्वाद का भान नहीं होता; इसलिए वह एकाकाररूप से रागादि में प्रवृत्त होता है। जैसे श्रीखण्ड का स्वादलोलुप पुरुष, (श्रीखण्ड के) स्वादभेद को न जानकर, श्रीखण्ड के स्वाद को मात्र दूध का स्वाद जानता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव स्व-पर के मिश्र स्वाद को अपना स्वाद समझता है।।५७।।

कलश - ५७ पर प्रवचन

अज्ञान-तस्तु सतृणाभ्यवहार-कारी,
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षु-मधुराम्ल-रसातिगृद्ध्या,
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्।।५७।।

'**किल**' अर्थात् वास्तव में, **निश्चय से....** इसका अर्थ वास्तव में। **निश्चय से 'स्वयं ज्ञानं भवन् अपि' स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी....** भगवान तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन विज्ञानघन, आत्मा तो अकेला विज्ञानघन है। ऐसा **होने पर भी अज्ञान के कारण....** मैं शुद्ध विज्ञानघन चैतन्य, वह आत्मा, उसका जिसे ज्ञान नहीं। आहाहा! चैतन्य धातु महाप्रभु वीतराग अविकारी स्वभाव की मूर्ति आत्मा, उस अज्ञान के कारण, ऐसा होने पर भी, स्वरूप के अज्ञान के कारण.... समझ में आया? है तो शुद्धज्ञान और आनन्दकन्द प्रभु! राग, शरीर और कर्मरूपी आत्मा है ही नहीं। आहाहा! ऐसा होने पर भी, अज्ञान के कारण। यह शुद्ध विज्ञानघन है, ऐसे भान बिना, अज्ञान के कारण। आहाहा! जिसे शुद्ध विज्ञानघन है, उसके अस्तित्व का जिसे स्वीकार नहीं हुआ। आहाहा! मैं एक विज्ञान चैतन्यबिम्ब प्रभु, ऐसा जिसे स्वीकार नहीं हुआ, वह जीव, ऐसा होने पर भी, **अज्ञान के कारण....** उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप के अभान और अज्ञान के कारण **जो जीव घास के साथ एकमेक हुए सुन्दर भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति....** हाथी आदि की भाँति, हाथी को चूरमा दो तो भी वह घास के साथ एकमेक करके खाता है। हाथी आदि को, आहाहा! घास के साथ चूरमा दिया हो तो घास के पूले में मिलाकर चूरमा खाता है। भान नहीं है कि यह चूरमा अलग चीज़ है और घास अलग चीज़ है। हाथी आदि यहाँ शब्द लिया है, हों! सब। **पशुओं की भाँति....** आहाहा! यह बिल्ली, बिल्ली होती है न! विष्टा हो और उसमें पेड़ा पड़ा हो, उन दोनों को एकमेक करके खाती है। बिल्ली, गाय, भैंस बाहर विष्टा हो उसे खाने जाये, उसमें कहीं पड़ा हो कोई पकवान का थोड़ा भाग और विष्टा, एकमेक खाती है, उसे कोई भान नहीं कि यह कोई पकवान है और यह विष्टा। आहाहा! वह **घास के साथ**

एकमेक हुए सुन्दर भोजन.... उसे खानेवाले हाथी आदि तिर्यंच पशुओं की भाँति, अज्ञान के कारण, आहाहा! शुद्ध ज्ञानघन स्वभाव के अज्ञान के कारण, वह घास के साथ एकमेक सुन्दर आहार खानेवाले **पशुओं की भाँति राग करता है।** आहाहा! वह शुभ-अशुभराग, वह राग करता है। आहाहा!

भगवान तो आनन्द और वीतरागमूर्ति अभी अन्दर है, हों! उसके अभान के कारण एकमेक भोजन और घास को खानेवाले तिर्यंच की भाँति अज्ञानी उस शुभराग को करता है। अशुभ राग तो ठीक, आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह जगत को कठिन पड़ता है। यह आगे लेंगे, उसमें तो नहीं, उसमें है। ऐसा कि कठिन है, 'वास्तव में कठिन' कलश में लिया है, परन्तु वह पृथक् करने से स्वाद आ सकता है। कलश-टीका में है, वह एकमेक घास के साथ सुन्दर भोजन को खानेवाले पशुओं की भाँति। आहाहा!

भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु होने पर भी, उसके ज्ञान के अभाव में अज्ञान से वह राग का कर्ता होता है। कठिन काम! चाहे तो दया, दान और व्रत का अपवास का विकल्प-राग है, वह अज्ञानी स्वरूप के भान बिना का अज्ञानी उसका कर्ता होता है। आहाहा! क्योंकि स्वरूप तो वीतरागमूर्ति प्रभु है। वह वीतरागस्वरूप राग करे, ऐसा अन्दर कहाँ है? आहाहा! वह ज्ञानस्वरूपी सच्चिदानन्द प्रभु, सत् ज्ञान और आनन्द का सागर भगवान आत्मा, वह राग को करे, यह वस्तु में कहाँ है? उस वस्तु के अज्ञान के कारण राग को एकमेक करके राग का स्वाद अज्ञानी लेता है। आहाहा! ऐसा काम है। समझ में आया? आहाहा!

यह तो बहुत बदलना पड़े। दया का राग, वह राग है। पर की दया पालने का भाव, वह राग है। परमात्मा की भक्ति का राग, णमो अरिहंताणं—पंच नवकार गिने, वह विकल्प-राग है। यह आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसके अज्ञान के कारण, वह राग का कर्ता होता है। जैसे तिर्यंच घास में अच्छे सुन्दर भोजन को एकमेक करके (खाता है)। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु में राग जो आकुलता और दुःख, वह उसका एकमेक करके अनुभव करता है। है भिन्न, आनन्द और ज्ञान स्वरूप प्रभु से राग भिन्न है। आहाहा! तथापि एकमेक करता है। भिन्न को एकमेक अर्थात् अपने

मानकर, स्वरूप के अज्ञान के कारण, आहाहा! वह राग का कर्ता होता है। है न? राग कर्ता है। **(राग का और अपना मिश्र स्वाद लेता है।)** मिश्र अर्थात्? आत्मा का थोड़ा स्वाद और राग का, ऐसा नहीं परन्तु जो राग भिन्न है, वस्तु भिन्न है, ऐसा न जानकर, राग को अपना मानकर, मिश्रित राग का स्वाद लेता है। आहाहा!

'असो' वह 'दधीक्षमधुराम्लरसातिगृद्धया' श्रीखण्ड के खट्टे-मीठे स्वाद की अति लोलुपता से.... श्रीखण्ड है खट्टा और मीठा। दही है खट्टा, खाण्ड है मीठी, ऐसी खट्टे-मीठे **स्वाद की अति लोलुपता से.... 'रसालम् पीत्वा' श्रीखण्ड को पीता हुआ भी स्वयं गाय का दूध पी रहा है....** ऐसा मानता है। भान नहीं न, इसलिए मैं गाय का दूध पीता हूँ। वास्तव में मदिरा पीया हुआ हो और वह श्रीखण्ड चखे तो उसे गाय के दूध जैसा लगता है, खट्टा-मीठा स्वाद नहीं लगता। समझ में आया? मदिरा पीया हुआ हो वह; उसी प्रकार जिसने मिथ्यात्व की—मोह की मदिरा पी है, आहाहा! उसे राग का स्वाद अपना है, ऐसा वह मानता है। आहाहा! और उस राग के स्वाद को अपना स्वाद मानता है। वह श्रीखण्ड को पीते हुए जैसे दूध पीता हूँ, ऐसा मानता है; उसी प्रकार राग करते हुए मानो राग मेरा है, ऐसा करके राग का स्वाद लेकर कर्ता होता है।

काम बहुत (कठिन)! यह तो ऐसा मार्ग है। वहाँ तो पूरे दिन यह करो और इच्छामि करो और तस्सउत्तरि करो और सामायिक करो, प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो। था कब सामायिक में। अभी सम्यग्दर्शन की खबर नहीं। आहाहा! यह विकल्प उठता है, उसका कर्ता हो, वहाँ तो अभी मिथ्यादृष्टि है, उसे सामायिक कैसी और प्रौषध कैसा और प्रतिक्रमण कैसा? कठिन काम है।

यहाँ कहते हैं कि वह श्रीखण्ड का पीनेवाला परन्तु उसकी गृद्धि के कारण खट्टे-मीठे की उसे खबर नहीं रहती, मानो दूध पीता हूँ; इसी प्रकार स्वरूप के अज्ञान के कारण, मिथ्यात्व के जोर के कारण—राग का स्वाद वह मेरा है, ऐसा मानता है और जो राग भिन्न है, उसे आत्मा के साथ एकमेक करके राग का स्वाद लेता है, ऐसा। आत्मा का स्वाद और राग का स्वाद, ऐसे मिश्रित नहीं। परन्तु राग भिन्न है, उसे आत्मा के साथ मिश्रित कर अर्थात् एकमेक राग लेता है, ऐसा। आहाहा! ऐसा कहीं सुनने को नहीं

मिलता। सम्प्रदाय में है ही नहीं, आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! वीतरागमार्ग! और उसे जाने बिना मनुष्य का भव अफल जायेगा। आहाहा!

बाहर से भले वह बहुत क्रिया करता हो अर्थात् बाहर में महिमा पाता हो, परन्तु वह राग का विकल्प है, वह स्वरूप से भिन्न है, उसे एकमेकपने में अपने में एकमेक करके स्वाद लेता है। आहाहा! भाषा तो समझ में आये ऐसी है। भाव तो कठिन है, प्रभु! आहाहा! समझ में आया इसमें? **ऐसा माननेवाले पुरुष के समान हैं।** स्वयं गाय का दूध पीता हो, ऐसा उसे लगता है। उसमें ऐसा लिया, भाई! समयसार नाटक में ऐसा (लिया) कि मदिरा पीये हुए है, वह यदि श्रीखण्ड खाये तो उसे दूध जैसा लगता है— ऐसा इसका अर्थ उसमें-समयसार नाटक में बनारसीदासजी ने किया है।

इसी प्रकार यहाँ जिसे भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है, उसका जिसे ज्ञान नहीं, उसकी जिसे पहिचान नहीं, उसके अज्ञान के कारण, राग की क्रिया है वह अत्यन्त भिन्न स्वभाव से है, भिन्न है उसे एकमेक करके, 'मेरा है'—ऐसा करके उसका स्वाद लेता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। कहो, पुंजाभाई! नैरोबी-बैरोबी में कहीं मिले, ऐसी बात नहीं है। रुके हैं निश्चिन्तता से।

मुमुक्षु : यह एक ही पीढ़ी यहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु रुके हैं शान्ति से। ऐसा है, बापू! मार्ग यह अरे! अनन्त काल का अनजाना, 'अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान।' आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि शुद्धज्ञान होने पर भी, यहाँ ऐसा कहा न, 'स्वयं ज्ञानं भवनं अपि' अर्थात् कि वह तो शुद्धज्ञान और आनन्द होने पर भी, आहाहा! उसके शुद्ध चैतन्य भगवान आनन्द वीतरागमूर्ति, ऐसा होने पर भी उसे न जानकर, तिर्यंच की भाँति घास के साथ सुन्दर आहार को खाता है, उसी प्रकार भगवान से राग भिन्न है, उसे एकमेक मेरा करके अनुभव करता है, वह पशु की भाँति अज्ञानी है, कहते हैं। आहाहा! प्रेमचन्दजी! आहाहा! ऐसा है।

पहले तो अभी सुनना कैसे, यह रीति कठिन। यह तो एकदम निश्चय... निश्चय... निश्चय... परन्तु निश्चय अर्थात् सत्य, यही सत्य है। आहाहा! 'एक होय तीन काल में

परमार्थ का पंथ' प्रभु! आहाहा! उसमें पाँच-पच्चीस लाख पैदा हों और प्रजा में से कर्मी जगा, कर्मी जगा, हमारे परिवार में कर्मी जगा, कर्मी जगा, ऐसा कहते हैं या धर्मी जगा ऐसा कहे, और प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। आहाहा! कर्मी जगा, राग और विकार के परिणाम का करनेवाला जगा। आहाहा!

भाषा कैसी रखी, है? कि 'स्वयं ज्ञानं भवनं अपि'। आहाहा! स्वयं तो प्रभु ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य है न? ऐसा होने पर भी, आहाहा! उससे राग के परिणाम भिन्न हैं, उसे स्वरूप के अज्ञान के कारण, वे मेरे हैं, ऐसे भिन्न हैं, उन्हें अपने में मिलाकर उस राग का स्वाद लेता है। आहाहा! वह दूध को पीता हूँ, ऐसा श्रीखण्ड खाते हुए अज्ञानी को लगता है, मदिरा पीये हुए को।

भावार्थ :- जैसे हाथी को घास के और सुन्दर आहार के भिन्न स्वाद का भान नहीं.... आहाहा! यह घासतुल्य राग, आनन्दतुल्य आत्मा। है न? सुन्दर आहार। प्रभु आत्मा सुन्दर आनन्दस्वरूपी, उसका आहार और घास—राग का आहार। आहाहा! अरेरेर! मनुष्यपना मिला परन्तु जैन में जन्मे उसे भी खबर नहीं होती और जिन्दगी ऐसी की ऐसी जाती है। आहाहा! यह व्यवहार.... व्यवहार... करते हैं न लोग? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप व्यवहार करो, करो व्यवहार तो यहाँ कहते हैं कि वह व्यवहारवाला राग है, उसका कर्ता हो, वह मूढ़ है। है, देवीलालजी? आहाहा! भाई! तुझे वस्तु की खबर नहीं। आहाहा!

यह तो ज्ञान का धाम 'स्वयं ज्योति सुखधाम', स्वयं ज्योति ज्ञान की और आनन्द का धाम प्रभु है न? आहाहा! स्थान है न, ऐसा होने पर भी उसके स्वरूप की कीमत और भान बिना, जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम-राग हैं, वह स्वरूप के स्वभाव से भिन्न होने पर भी उसके स्वरूप का भान नहीं, इसलिए राग को एकमेक कर राग का स्वाद लेता है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग बीच में बलजोरी से आ पड़े तो क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा? आता नहीं। वह आता है और उस पर नजर करता है और यहाँ नजर छोड़ता, तब आता है। यह कहा नहीं पहले? कि राग आया, परन्तु ज्ञानी आत्मा का भान है, उसे आत्मा के आनन्द का स्वाद है, और राग का स्वाद भिन्न

है, ऐसे दोनों के स्वाद भिन्न जानता है। आ गया था न पहले। आहाहा!

जब तक वीतराग नहीं, अज्ञानी को पूर्ण दुःख का स्वाद है; केवली को पूर्ण आनन्द का स्वाद है; साधक को आनन्द के स्वाद के साथ थोड़ा-सा राग का स्वाद है परन्तु उस स्वाद को और इसे भिन्न जानता है। आहाहा! ऐसी बातें। नया, सुनने को मिलता न हो उसे बेचारे को ऐसा तो लगता है, यह वह धर्म, यह ऐसा कैसा धर्म? बापू! यह जैनधर्म ऐसा है। आहाहा! जैनधर्म वीतरागभाव से होता है। वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसके आश्रय से जितना वीतरागभाव हुआ, उतना जैनधर्म है और उसमें जितना राग आया, वह जैनधर्म नहीं, परन्तु उसका स्वाद कलुषित, दुःख है, ऐसा ज्ञानी को दोनों के स्वाद की भिन्नता का भान है। आहाहा! अब ऐसा है। कोई कहे, ऐसा निकाला कहाँ से? हम तो ऐसा साठ वर्ष में सुनते नहीं थे। कहाँ से निकाला, बापू! यहाँ तो भगवान का मार्ग यही है, अनादि का यह है। आहाहा! तुझे सुनने को मिला न हो, इसलिए नया लगता है। आहाहा!

हाथी को घास के और सुन्दर आहार के भिन्न स्वाद का भान नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानी को पुद्गलकर्म के और अपने भिन्न स्वाद का भान नहीं होता। भले राग आवे, स्वाद आवे, परन्तु वह स्वाद भिन्न है और आनन्द का स्वाद मेरा भिन्न है, ऐसे दोनों के स्वाद की भिन्नता को जानता है। आहाहा! जब तक वीतराग न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग का स्वाद आता है और आनन्द का स्वाद भी आता है, परन्तु वह आनन्द का स्वाद, वह आत्मा का है; राग का स्वाद वह पर है, ऐसे स्वाद दोनों के बीच की भिन्नता का भान है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वाद इकट्ठा आता है या अलग-अलग आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दोनों के भिन्न जानता है। एक समय में आते हैं दोनों इकट्ठे, परन्तु जानता है भिन्न। आहाहा! गेहूँ और कंकड़, यहाँ शक्कर खाता हो और उसमें कोई चिरौंजी का टुकड़ा आ गया हो जरा, ख्याल में आता है या नहीं कि यह भिन्न है? चिरौंजी, चिरौंजी आती है न शक्कर के बीच में टुकड़ा एकदम ऐसे भिन्न है, उसे निकाल डाले। उसी प्रकार ज्ञानी को अपने आत्मा का स्वाद है, वह निज का; और राग है, वह पर का

स्वाद है परन्तु वह पर का है और यह स्वाद मेरा है, ऐसे भिन्न जानता है। अज्ञानी को राग का स्वाद मेरा है, ऐसे अभिन्न एकमेक करके जानता है। आहाहा!

ऐसा स्वरूप है। जतीशभाई! अब अब यह सब पण्डितों को कठिन पड़ता है। बड़े साधु होकर घूमते हैं। बापू! यह तो हित का मार्ग है, प्रभु! तुझे दुःख लगे और तूने मानी हुई बात को धक्का लगता हो परन्तु प्रभु! मार्ग तो यह है। आहाहा! आत्मा के अन्तर के अनुभव के स्वाद बिना जो कोई क्रिया में रागादि हो, उसे वह स्वयं ही अपना मानता है, वह राग का स्वाद ही मेरा धर्म है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! परन्तु जब आत्मदर्शन हुआ, आत्मज्ञान हुआ; आत्मज्ञान हुआ, आत्मज्ञान अर्थात् निमित्त का नहीं, राग का नहीं, पर्याय का नहीं। आत्मवस्तु द्रव्य है, उसका ज्ञान हुआ, तब उसका स्वाद कोई दूसरे प्रकार का अनन्त काल में नहीं आया, ऐसा आता है। यह कल आया था न, कल? कल आया था न? अत्यन्त मधुर जिसका चैतन्यरस, वही जिसका एकरस है, कल आया था। आहाहा!

अनादि-अनन्त प्रभु भगवान का अत्यन्त मधुर रस, चैतन्य रस है। आहाहा! ऐसे रस को न जानता हुआ और उसका अनादर करता हुआ, जो राग, वह आनन्दरस से, आनन्दस्वरूप से भिन्न है, उस राग को अपने में एकमेक करके स्वाद लेता हुआ, अज्ञानी पशु जैसा है, यह कहते हैं। जैसे (पशु) घास और चूरमा मिश्रित करके खाता है। आहाहा! देखो! यह करुणा वीतराग की और सन्तों की यह करुणा है, भाई! तू भूल गया प्रभु! तू किस रास्ते चढ़ गया, भाई? जो तुझमें नहीं वह राग दया-दान के विकल्प, उस रास्ते चढ़ गया, और मानना, माना कि मुझे कुछ धर्म हुआ। वीरचन्दभाई! ऐसा है, यह तुम्हारे पिता ने भी सुना नहीं था, तुम और भाग्यशाली। यह रह गये। बेचारे प्रेम से आते, आते प्रेम से, प्रोषध करते, प्रेम से, घर में जाते। भाई का सामने घर था न गोरधनभाई का। रामजीभाई थे और रामजीभाई थे, आते थे तब जज थे जज नहीं, हिम्मतनगर के जज थे, कान्तिभाई! आहाहा!

यह भी बात यह थी नहीं, थोड़ी एक बात की (संवत्) १९७१ में, वह भड़का हो गया था। कहा न ७१ के वर्ष का चातुर्मास, थोड़ी दोपहर में बात की थी थोड़ी, कहा

भाई! यह राग होता है, वह कर्म के कारण होता है, ऐसा नहीं। वह अपने अपराध के कारण होता है, वहाँ भड़क गये। हैं! विकार कर्म के कारण नहीं,... आहाहा! तब तुम्हारे पिता थे, पिता के पिता मोहनजीभाई और वे सब प्रोषध करते, मोहनजीभाई देसाई। कुछ भी खबर नहीं होती बेचारे को, भोले भट्ट जैसे। आहाहा! प्रभु तू कौन है, इसकी तुझे खबर नहीं। और तू धर्म के नाम से राग को सेवन करके यह धर्म करता है, ऐसा मानता है, प्रभु! तुझे भटकने का रास्ता था, तूने छोड़ा नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं। **अज्ञानी को पुद्गलकर्म का और अपने भिन्न स्वाद का भान नहीं होता, इसलिए वह एकाकाररूप से,...** देखा? राग का विकल्प है भिन्न, तथापि वह एकाकार अर्थात् आत्मा के साथ एकाकार राग है। आहाहा!

मुमुक्षु : इन्द्रिय ज्ञान और राग का एक स्वाद होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रिय ज्ञान वह विषय कहाँ, वह तो अपना है, इन्द्रिय निमित्त है, और इन्द्रिय निमित्त है उसमें साथ में राग होता है, इन्द्रिय की ओर के लक्ष्य से ज्ञान होता है, उसमें राग होता है। अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान हो, उसमें अतीन्द्रिय स्वाद है, और उसके साथ जितना राग से इन्द्रिय का ज्ञान होता है, उतना दु:ख भिन्न स्वाद है, परन्तु अज्ञानी उस भिन्न स्वाद को एकरूप एकाकार मानता है। आहाहा!

एकाकाररूप से रागादि में प्रवर्त होता है,.... भाषा देखो न! कितनी सरल कर दी है। वह राग मानो मेरा। मैं और राग दोनों एकाकार, एक स्वरूप हूँ। एकाकाररूप से रागादि में, वे रागादि, द्वेष आदि, हर्ष-शोक आदि में एकाकार वर्तता है। **जैसे श्रीखण्ड का स्वाद लोलुप पुरुष, श्रीखण्ड के स्वादभेद को न जानकर....** गृद्धि हो या श्रीखण्ड में, स्वादभेद नहीं जानता। **श्रीखण्ड के स्वाद को मात्र दूध का स्वाद जानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव स्व-पर के मिश्र....** भेळसेळ का अर्थ यह, कि जो पर है वह अत्यन्त भिन्न है, उसके बदले अपना मानता है, वह मिश्र। समझ में आया? गेहूँ और कंकड़ दोनों भिन्न हैं, तथापि कंकड़ भी गेहूँ के साथ तुलते हैं। तुलते हैं या नहीं साथ? बोरी तुलती है। पाँच मण और ढाई सेर, परन्तु बोरी ढाई सेर है और चावल पाँच मण अन्दर अलग हैं, उन पाँच मण में चावल कम पड़े, तो कहीं ढाई सेर बोरी पकाने में काम आवे? आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य और आनन्दस्वरूप प्रभु में जो यह पुण्य-पाप, दया-दान का विकल्प उठा है, वह तो भिन्न है। आहाहा! उसे अपने आत्मा के साथ भिन्न होने पर भी एकमेक करके, मेरा मानकर, उसे अनुभव करता है। आहाहा! क्योंकि स्वयं कौन है, इसकी खबर नहीं। वह स्वयं अन्दर कौन है, इसकी खबर नहीं। वह तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। इसलिए उसे राग जो भिन्न है दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का, उसे अपने साथ मिलावे, मिलावे अर्थात् भिन्न है, उसे यह मेरा मानता है। आहाहा! मेरापन जो आत्मा का पना है, वह तो इसे खबर नहीं। इसलिए कहीं मेरापन मानना तो पड़ेगा। आहाहा! स्वयं शुद्ध अस्तित्व अपना अस्तित्व शुद्ध चैतन्य का अस्तित्व है, इसलिए ऐसे अस्तित्व का जहाँ ज्ञान नहीं तो कहीं अस्तित्व स्वयं है, ऐसा मानना तो पड़ेगा न? वह राग को अपने स्वरूप के साथ अभान से एकाकार करके राग मेरा है, ऐसा कहकर उस राग का स्वाद लेता है। आहाहा!

हमारे बेचारे हीरालालजी महाराज थे, उन्होंने यह बात सुनी नहीं थी। वे बस पर की अहिंसा 'एवं तु नाणीनो सारं' कषाय बहुत मन्द थी, गम्भीर थे। तुमने देखा था भाई? हीराजी महाराज वह ७१ में चातुर्मास था। ऐसे बोले कि, भाई! भगवान का मार्ग 'एवं तु नाणीनो सारं', ज्ञानी का यह सार है कि 'एवं तु नाणीनो सारं ज न हिंसई किंचम्' किसी भी प्राणी को मारना नहीं, अहिंसा, समयेवं चैव, यह दूसरे जीव को नहीं मारना, ऐसा जो अहिंसा भाव, वही सिद्धान्त का सार। एकदम खोटा, हजार, दो-दो हजार लोग हों, बहुत गम्भीर थे और बोले वह शान्त, हाथ में पुट्ठा रखे न स्थानकवासी में 'एवं तु नाणीनो सारं ज न हिंसई किंचम्' पर को कुछ न मारो, अपने को न मारो (यह) बात न करे। राग मेरा माना, वह अपने को मार डाला है। बात ही नहीं थी। तुम्हारे पिता के पास सुनी नहीं थी? पिता तो भगत थे श्रीमद् के। (यह तत्त्व) उस समय नहीं था।

हीराजी महाराज तो स्थानकवासी के हीरा अर्थात् हीर बाकी सूत का फालका, ऐसे थे, तब मैंने दीक्षा ली थी न, कोई दूसरे सबको देखकर, मैं मारवाड़ देख आया था, दीक्षा लेने से पहले मारवाड़ में गया था, देखा, परन्तु इसकी सबको कुछ खबर नहीं थी, इसलिए ऐसे दूसरे से बहुत अलग लगे, इसलिए कहा, इनके निकट दीक्षा लो। बात इतनी। 'एवं तु नाणीनो सारं, ज न हिंसई किंचन'। पर को; अपनी अहिंसा रखना, राग

से हिंसा होती है, उसकी तो खबर भी नहीं। पर की दया पालने का भाव तो राग है और राग है, वह अपनी हिंसा है। अरर! ऐसी बातें हैं। और राग वह परवस्तु है और वह राग मेरा कर्तव्य है, ऐसा आत्मा के साथ भिन्नता को मिलाकर कर्ता होता है। आहाहा! एकाकाररूप से रागादि में वर्तता है।

जैसे श्रीखण्ड का स्वाद लोलुपी पुरुष श्रीखण्ड के स्वादभेद को न जानकर.... स्वाद को अपना स्वाद जानता है। अज्ञानी जीव श्रीखण्ड के स्वाद में दूध का जानता है। **अज्ञानी जीव स्व-पर के मिश्र....** देखो, इस अपेक्षा से। मिश्र का अर्थ ऐसा नहीं कि थोड़ा आनन्द ले स्वआत्मा से राग भिन्न है, उसे मिश्र करता है, उसे एकमेक करता है, ऐसा। आहाहा! यह ५७ हुआ।

कलश-५८

अज्ञान से ही जीव कर्ता होता है, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्प-चक्र-करणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्ध-ज्ञानमया अपि स्वय-ममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ।।५८।।

श्लोकार्थ : [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [मृगतृष्णिकां जलधिया] मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से [मृगाः पातुं धावन्ति] हिरण उसे पीने को दौड़ते हैं; [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण ही [तमसि रज्जौ भुजगाध्यासेन] अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से [जनाः द्रवन्ति] लोग (भय से) भागते हैं; [च] और (इसी प्रकार) [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [अमी] ये जीव, [वातोत्तरंगाब्धिवत्] पवन से तरंगित समुद्र की भाँति [विकल्पचक्रकरणात्] विकल्पों के समूह को करने से-[शुद्धज्ञानमयाः

अपि] यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि-[आकुलाः] आकुलित होते हुए [स्वयम्] अपने आप ही [कर्त्रीभवन्ति] कर्ता होते हैं।

भावार्थ : अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता? हिरण बालू की चमक को जल समझकर पीने दौड़ते हैं और इस प्रकार वे खेद-खिन्न होते हैं। अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं। इसी प्रकार यह आत्मा, पवन से क्षुब्ध (तरंगित) हुये समुद्र की भाँति, अज्ञान के कारण अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है और इस प्रकार-यद्यपि परमार्थ से वह शुद्धज्ञानघन है तथापि-अज्ञान से कर्ता होता है।।५८।।

कलश-५८ पर प्रवचन

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्प-चक्र-करणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्ध-ज्ञानमया अपि स्वय-ममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः।।५८।।

आहाहा! सन्तों को, करुणा का विकल्प आया है, परन्तु कर्ता नहीं। आहाहा! अज्ञान से जीव कर्ता होता है, ऐसे अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं। **अज्ञान के कारण.... (मृगतृष्णिकां जलधिया) मृगमारिचिका में जल की बुद्धि होने से....** हिरण, मृग। बालू (रेत) होती है न, उसमें जरा सूर्य का वह हुआ हो, उसे जल जैसा लगता है और वह उठे जल, जल कहाँ है, वहाँ तो? आहाहा! है? मृगजल, मृगजल वह चमक उठे न, वह मानो कि पानी है। मृग दौड़ता है, पीने जाता है, वहाँ कुछ नहीं मिलता। आहाहा! इसी प्रकार **मृगमारीचिका में जल की बुद्धि होने से (मृगाः पातुं धावन्ति) हिरण उसे पीने दौड़ते हैं।** आहाहा! उसी प्रकार **अज्ञान के कारण (तमसि रज्जौ भुजाध्यासेन) अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से,....** अन्धकार में बल खाती हुई डोरी पड़ी हो। अन्धकार है तो ऐई! सर्प है, अन्धकार हो और डोरी ऐसे बल चढ़ी हुई पड़ी हो ऐसी, उस अज्ञान के कारण अन्धेरे में पड़ी हुई डोरी को सर्प

मानकर भागता है। आहाहा! अध्यास होने से **(जनाः द्रवन्ति) लोग (भय से) भागते हैं। और इसी प्रकार अज्ञान के कारण...** इसी प्रकार अज्ञान के कारण **(अमी)** अर्थात् **ये जीव।** आहाहा! **(वातोत्तरणाब्धिवत्) पवन से तरंगित समुद्र की भाँति....** समुद्र वास्तव में तो निश्चल स्वरूप है, परन्तु पवन के निमित्त से तरंग उठती है, इसलिए उसका वह कर्ता होता है। कर्ता अर्थात् परिणमता है, ऐसा। आहाहा!

उस **पवन से तरंगित समुद्र की भाँति, विकल्पों के समूह को करने से....** आहाहा! भगवान तो निर्विकल्पस्वरूप है। है? देखो वहाँ **(शुद्ध ज्ञानमयः अपि) विकल्पों के समूह को करने से....** विकल्प राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, और विषयभोग, मान, क्रोध, माया, लोभ, रति और अरति.... आहाहा! ऐसे राग के विकल्प के समूह को करता हुआ, **यद्यपि...** आहाहा! **वे स्वयं शुद्धज्ञानमय है,....** है तो प्रभु शुद्धज्ञानमय चैतन्य, उसे आत्मा कहते हैं। वह विकल्प उठे राग, वह आत्मा नहीं, वह तो अनात्मा है। दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उठे, वह आत्मा नहीं; वह तो अनात्मा है। आहाहा! सम्प्रदाय में तो ऐसा स्पष्ट करे तो रहने दे नहीं। यहाँ तो मार्ग यह है, बापू! जिसे मानना हो, वह मानो। आहाहा! एक तो मृग, मृगजल में जैसे दौड़ता है, भान बिना, दूसरे प्रकार से अन्धकार में पड़ी हुई डोरी को सर्प मानकर भागता है, वह वहाँ जाते हैं पीने, वह यहाँ से भागते हैं। समझ में आया? मृगजल पीने मृग दौड़ते हैं, और डोरी को अन्धकार में सर्प देखकर भागता है, अज्ञान के कारण। वहाँ जल नहीं और यहाँ सर्प नहीं। आहाहा!

उसी तरह **अज्ञान के कारण, पवन से तरंगित समुद्र की भाँति।** समुद्र मूल तो निश्चल है, परन्तु पवन के निमित्त से तरंग उठती है, उस तरंग का परिणमन करनेवाला समुद्र है, ऐसा मानता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञानघन प्रभु, स्वयं ज्ञानपना होने से—पना है न, शुद्धज्ञानमय है वापस ऐसा, अशुद्ध भी नहीं। वह तो शुद्ध-ज्ञानमय प्रभु है **शुद्धज्ञानमयाः** है न? शुद्ध ज्ञानवाला भी नहीं, शुद्धज्ञानमय है। आहाहा! शुद्धज्ञानमय होने पर भी, हो भी **(आकुलाः) आकुलित होते हुए....** किसके कारण? विकल्प के समूह करता हुआ। यह शुभ और अशुभराग का कर्ता होकर आकुलता करता है। आहाहा! ऐसा कहाँ मिले? यह दया पाले, व्रत करे, अपवास करे, महीने के अपवास करे। हमारे

बलुभाई नहीं थे, उन्होंने वर्षीतप किया था। बलुभाई है न? गये न अभी। उन्होंने सब बेच दिया। बीस लाख रुपये बचत रखी, सत्तर लाख में बेचा। पचास लाख किसी के थे, वे दे दिये। वर्षीतप किया था, लंघन की थी यह सब। वह वर्षीतप कैसा? आत्मा आनन्दमय ज्ञानमय है, उसका तो भान नहीं और यह अपवास किये, यह राग का विकल्प उठा, उसका कर्ता होता है, और वस्तु मैंने छोड़ी, मैंने आहार छोड़ा। वह कब ग्रहण किया था, पकड़ा कब था, उसे छोड़े? आहाहा! आहार के रजकण कब आत्मा के थे, उन्हें छोड़े? पर के ग्रहण-त्याग से तो प्रभु रहित है। आहाहा! उसके बदले मैंने पर का त्याग किया और मैंने अपवास का ग्रहण किया। अपवास का अर्थ विकल्प वहाँ राग है। आहाहा! मिथ्यात्व है और मानता है कि मैंने वर्षीतप किया। क्या कहना इसमें? इस अज्ञान के कारण **(आकुलाः) आकुलित होते हुए....** विकल्प के समूह को करते हुए आकुलित होते हुए, ऐसा कहते हैं। **(स्वयम्) अपने आप ही....** अर्थात्? किसी कर्म के कारण या पर के कारण, ऐसा नहीं, **(स्वयम्) अपने आप ही.... (कर्त्रीभवन्ति)** उसका अर्थ किया है, कलश-टीका में, कलश-टीका में है न यह, कितना है? ५८। बलजोरी कहा है वहाँ, ऐसा अर्थ लिया है। 'कर्त्रीभवन्ति', पण्डितजी! कर्त्रीभवन्ति बलजोरी से **वह कर्ता होता है।**

वस्तु तो ज्ञान आनन्द, ज्ञानस्वरूप है। उसे उल्टा मानकर बलजोरी से राग मेरा है, ऐसे कर्ता होता है। आहाहा! कहो, ऐसा है। कहो, सुना है या नहीं मलूकचन्दभाई! यह तुम्हारा निहाल तो सुनने भी नहीं आता। राग में घुस गया है अन्दर। लड़का नहीं, एक लड़की थी विवाह कर दिया और पाँच करोड़ रुपये हैं, चार के ऊपर हुए होंगे अब तो, पचपन-छप्पन वर्ष की उम्र है, घुस गया वहाँ का वहाँ धन्धे में, लड़का नहीं, लड़की थी। कभी निवृत्त नहीं होता। बारह महीने में पन्द्रह दिन, महीने सुनना, यह वहाँ फोटो रखे और जरा पूजा-आरती करे, हो गया, हो गया, धर्म। ऐ मलूकचन्दभाई! देखो न, वह हसमुख आया था? आज। हसमुख नहीं आया? पाँच लाख रुपये, दो-तीन लाख की आमदनी, स्वयं की मुम्बई में लोहे की दुकान, बोटाद हमारे गाँधी हैं, वह लड़का ४२ वर्ष की उम्र में छोड़ दिया। ४४ हुए होंगे। ४२ वर्ष की उम्र। भाईयों को इकट्ठे रखा स्वयं ने, दुकान स्वयं ने की, दो-तीन लाख की आमदनी। भाई! अब मुझे दुकान में नहीं

आना है। मुझे अब यह पाप में (नहीं आना है)। अब मुझे मेरा करना है। मैं अब दुकान में नहीं आऊँगा। भाईयों ने तो बाधा ली, दुकान तुम्हारी हमें सौंपो। भाई चाहे जैसा माने-उसके पिता ने भी विरोध किया, भाई! अपने तीन भाई हैं और भले मैंने किया परन्तु मुझे तीसरा भाग नहीं, चौथाई भाग दो, परन्तु मैं (मुझे) अब दुकान से छोड़ दो। दुकान में नहीं आऊँगा। यहाँ आता है शनिवार, रविवार को हमेशा आता है। हमेशा, मोटर लेकर आता है। आहाहा! फिर भाईयों ने पाँच लाख दिये। बस, वह कुछ बोला नहीं, कि इतना किया, इतनी आमदनी है और बस मुझे तो लड़का है, बारह वर्ष का, लड़की तेरह वर्ष की है। पाँच लाख का एक महीने में पाँच हजार ब्याज आवे, वह यह सब धर्म के नाम से खर्च कर डाले, रखे नहीं। आहाहा! शास्त्र की (कीमत घटाने में) कम खर्च में दे। शास्त्र खरीदकर बाँटे, यह बहिन की पुस्तक लेकर बहुत वितरण की है मुफ्त में, गाँव में, बोटाद में, भावनगर में। यहाँ सब पैसा इसमें खर्च (करता है)।

हो गया कहीं पूरे दिन यह कर-करके तुझे अब कहाँ जाना है? क्या जायेगा, यह पाप करके ढोर में जायेगा। धर्म है नहीं, समकित है नहीं, तथा चार घण्टे प्रतिदिन शास्त्र वाँचन सच्चे, हों! मिथ्या शास्त्र पढ़े तो उसे किसे कुगुरु का संग करे तो वह तो वह का वही है वापस। जो सच्चा संग करे और दो-चार घण्टे वाँचन, दान करे तो भी पुण्य बाँधे तो वह स्वर्ग में जाये, समझ में आया? रामजीभाई जैसे वे स्वर्ग में जानेवाले हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो पूरे दिन पैसे इकट्ठे करे, दो करोड़ हुए और पाँच करोड़ हुए और धूल करोड़ हुए। क्या है परन्तु अब! यह आगे कहेंगे। बलजोरी से इसका विशेष अर्थ आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९५, कलश-५८-६० दिनांक १४-०२-१९७९, बुधवार, माघ कृष्ण-२

कलश ५८ अन्तिम शब्द है थोड़ा, है ? **(कर्ता भवन्ति)** यहाँ तो वजन क्या है ? **(शुद्ध ज्ञानमयाः अपि)** ऐसा कहते हैं। शुद्धज्ञानमय वस्तु है, ऐसा होने पर भी, 'तो भी' ऐसा है न ? आकुल-व्याकुल होते हुए, आकुल बनते हुए। जैसे भाई ! कहा था न कल रात्रि में ? ३८ गाथा (प्रवचनसार) भूत-भविष्य की पर्यायें अविद्यमान हैं, तथापि ज्ञान प्रत्यक्ष है, इस अपेक्षा से भूतार्थ है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है। आहाहा ! वे भूतकाल की पर्यायें और भविष्य की पर्यायें होकर गयी, हुई नहीं, इस अपेक्षा से तो असद्भूत है, आहाहा ! वर्तमान में नहीं, ऐसा। तथापि ज्ञान प्रत्यक्ष है, आहाहा ! ज्ञान प्रत्यक्ष है, इसलिए वे भूतार्थ हैं। नहीं, वे भी हैं, ऐसा। भाई ! आया था न गाथा में ? उसमें यह शब्द आया था ज्ञान विषयत्वात् भूतार्थ व्यवहार, ज्ञान का विषय है वह प्रत्यक्ष। ओहोहो ! क्या बात है ! भूतकाल की और भविष्य की बातें, बापू ! मार्ग बहुत सूक्ष्म। फिर मुझे तो वापस उसमें से दूसरा कहना है। आहाहा ! भूतकाल और भविष्य (काल) की पर्याय नहीं, वह तो शुद्ध ज्ञानमय है आत्मा। उसमें भूत और भविष्य की पर्यायें पर में नहीं वर्तमान, तथापि भगवान आत्मा ज्ञान में प्रत्यक्ष करता है। 'नहीं' उसे प्रत्यक्ष करता है, इस अपेक्षा से उसे 'है' ऐसा कहा जाता है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है। ओहोहो ! अनन्त-अनन्त पर्यायें बीत गयी और अनन्त-अनन्त अभी हुई नहीं, वर्तमान में तो नहीं परन्तु वह शुद्धज्ञानमय वस्तु है प्रभु। आहाहा !

वह ज्ञानमय है और जहाँ प्रगट ज्ञान पूर्ण हुआ, वह पूर्ण ज्ञानमय तो वस्तु है, उसमें पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ पर्याय में, तो नहीं, उसे प्रत्यक्ष करता है, ऐसा। गजब बात है न ! ज्ञान पच्चकखा आया था न ? उसे प्रत्यक्ष करता है। इसलिए भूत-भविष्य की नहीं वास्तव में ऐसा कहना, तथापि ज्ञान प्रत्यक्ष करता है, इसलिए 'है' ऐसा कहना है। आहाहा ! सूक्ष्म बात है। अभी उसमें तो बाहर दूसरी एक बात आयी थी अन्दर, कि जो भूत और भविष्य की पर्यायें वर्तमान में नहीं, उसे ज्ञान प्रत्यक्ष करता है, इसलिए 'है' ऐसा कहना, तो यह प्रभु तो एक समय में भूतार्थ पूरा, चीज़ है। आहाहा ! एक समय में पूरा भगवान भूतार्थ वस्तु है। उसे श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे नहीं करेगा ? जो परोक्ष है, नहीं उसे ज्ञान

प्रत्यक्ष करके वर्तमानवत् उसे भूतार्थ कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! क्या प्रभु की बलिहारी! ऐई! आहा! क्या उसका स्वभाव! क्या सन्त की कथनी!! आहाहा!

कहते हैं कि भूत और भविष्य की पर्याय वर्तमान नहीं है, इसलिए उसे हम नहीं, ऐसा कहते हैं, असद्भूत है, परन्तु ज्ञानप्रत्यक्ष है; इसलिए उसे हम 'है' ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान में तो मानो वर्तमान वहाँ है भूत-भविष्य में है, वैसा ज्ञान में ज्ञात होता है। आहाहा! तो प्रभु! तू तो एक समय में विद्यमान है। बात समझ में आती है? वह तो अविद्यमान को भी ज्ञान प्रत्यक्ष करके उसे भूतार्थ जानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रभु! तू तो भूतार्थ है न एक समय में! सूक्ष्म बात है, प्रभु! उसे श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे न करे? 'है' उसे प्रत्यक्ष कैसे न करे? वह तो 'नहीं' उसे प्रत्यक्ष करता है। भाई! आहाहा! ऐसा जो कोई ज्ञान का स्वभाव, 'नहीं' उसे प्रत्यक्ष करे और भूतार्थ कहलाये। आहाहा!

वह झूठा नहीं, हों! 'नहीं' उसे 'है' कहना, वह झूठ नहीं है। किस अपेक्षा से? ज्ञान का प्रत्यक्ष विषय होता है, इस अपेक्षा से। संस्कृत में यह शब्द है। ज्ञान विषयत्वात् भूतार्थत्वात्। आहाहा! गजब बात है, भाई! ऐसा प्रभु! तू तो एक समय में विद्यमान पदार्थ है न पूरा। है न! उसे नहीं, ऐसा नहीं, है पूरा। आहाहा! उसे वर्तमान भावश्रुतज्ञान 'है' उसे प्रत्यक्ष करे, वह तो उसका स्वभाव है। प्रत्यक्ष प्रकाश, प्रकाशशक्ति आती है न? ओहोहो! क्या सन्धि। आहाहा! उसमें प्रत्यक्ष होना, ऐसा उसमें गुण है, कहते हैं। संवेदन में ज्ञान के वेदन में प्रत्यक्ष होना, ऐसा तो उसमें गुण है। उसमें गुण है। आहाहा! अरे! रामजीभाई नहीं मिलते आज, अलग बात है यह। समझ में आया?

जहाँ प्रभु एक समय में, एक समय में, हों! भविष्य रहेगा और भूतकाल था न, यहाँ तो वर्तमान में ही भूतार्थ है। भाई! एक समय में विद्यमान पदार्थ प्रभु है। आहाहा! उसे प्रत्यक्ष स्वभाव उसका हो ऐसा स्वभाव है, भूतार्थ है और उसका प्रत्यक्ष होना, ऐसा उसका स्वभाव है, परन्तु किसे? श्रुतज्ञान को। श्रुतज्ञान में वह है, वह प्रत्यक्ष हो ऐसा उसका ज्ञान का स्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : अवधि, मन:पर्यय में यह लागू होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं; अवधि, मन:पर्यय नहीं, इसलिए श्रुत कहा न? यह पर की अपेक्षा से। समझ में आया? यह तो पर को जानने में, पर की अपेक्षा राग की वहाँ नहीं और सीधा जाने, इस अपेक्षा से। परन्तु वह तो पर की अपेक्षा से। साधक जो श्रुतज्ञान है, उसमें स्व-स्वरूप स्वयं प्रत्यक्ष हो, ऐसा तो उसका स्वरूप है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! ओहोहो! क्या प्रभु की वाणी!

मुमुक्षु : श्रुतज्ञान की बलिहारी या आत्मा की बलिहारी?

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रुतज्ञान की बलिहारी। यह आत्मा की बलिहारी तो उसमें हो, परन्तु जानी तब न? भाई! उसमें है बलिहारी, परन्तु जानी तब न? जाने बिना... आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! ओहोहो!

जहाँ वस्तु नहीं, उसे ज्ञान की अपेक्षा से भूतार्थ कहना.... आहाहा! तो प्रभु तो भूतार्थ है, एक समय में पूरा परमात्मस्वरूप निज परमात्मद्रव्य शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय! भाषा ऐसी, देखो आयी न? आहाहा! भगवान आत्मा जो वस्तु है, वह तो सकल निराकरण अखण्ड एक चीज़ वहाँ पड़ी है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शब्द वहाँ प्रयोग किया है। भाई! फिर तो अविनश्वर है न वह तो ध्रुवपने में भी यहाँ तो, यहाँ वजन यहाँ है। आहाहा! प्रत्यक्ष प्रतिभासमय उसका स्वरूप ही ऐसा है, कि श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष भास पूरा हो। देवीलालजी!

मुमुक्षु : बराबर है, परम सत्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान का विरह पड़ा, भगवान तो ऐसी बात कहकर गये, आहाहा! भाई! तू भूतार्थ चीज़ है या नहीं? जो अभूतार्थ को भी प्रत्यक्ष करके भूतार्थ कहना। आहाहा! भूत और भविष्य की पर्याय नहीं, उसे ज्ञान प्रत्यक्ष करता है, इसलिए 'है' ऐसा कहना। तू तो 'है' न प्रभु पूरा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह बात पहले ही आयी है।

मुमुक्षु : बहुत ही सूक्ष्म न्याय दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! न्याय है।

जो नहीं, उसे ज्ञान प्रत्यक्ष करके उसे भूतार्थ कहे। आहाहा! और यह प्रभु तो एक समय में पूरा पड़ा है, प्रभु! आहाहा! और यह भी १४४ में है न? १४४ (गाथा) में मति-श्रुत में तत्त्व को झुकाकर इसका अर्थ यह। १४४ कर्ता-कर्म में आया है। ओहोहो! प्रभु यह है न उसमें प्रत्यक्ष होने का उसका स्वभाव है। वह पर्याय तो नहीं, उसका प्रत्यक्ष होने का उसका स्वभाव नहीं। प्रत्यक्ष तो ज्ञान ने किया, इसलिए उसे भूतार्थ कहा। आहाहा! भूत और भविष्य की पर्याय नहीं, उसे उस पर्याय की अपेक्षा से भूतार्थ कहा, ऐसा नहीं, परन्तु ज्ञान ने उसे प्रत्यक्ष किया है ऐसा, वर्तमान में। इसलिए उसे भूतार्थ सत्ता है, ऐसा कहना है। आहाहा! तो भगवान तो एक समय में पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है न! भूतार्थ है न! ११वीं गाथा, नहीं? है, वह तो पूरा है, एक समय है, भविष्य में रहेगा और काल, वह तो बाद में, परन्तु वर्तमान में पूरा है। आहाहा!

सकल निरावरण अखण्ड वर्तमान एकरूप वर्तमान, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय वर्तमान, अविनश्वर वर्तमान शुद्ध पारिणामिक सहज भावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वर्तमान। आहाहा! ऐसा प्रभु है वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा? आहाहा! है, प्रत्यक्ष होने का स्वभाव और वर्तमान पूर्ण है, उसका प्रत्यक्ष होने का स्वभाव और पूर्ण है। आहाहा! ऐसा वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा, प्रभु? आहाहा! परन्तु उसकी माहात्म्य दशा भूलकर, शुद्ध ज्ञानमय, अकेला ज्ञानमय, ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा ज्ञानमय। पूर्ण ज्ञानमय ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा पूर्ण ज्ञानमय यह तो है। आहाहा!

ऐसी चीज़ को भूलकर कर्ता **स्वयं कर्तोभवन्ति...** आहाहा! देखा? यह ज्ञान स्वयं अपने को ऐसा प्रत्यक्ष हो सकता है, ऐसी भूतार्थ वस्तु है, पूर्ण ज्ञानमय और ज्ञान से प्रत्यक्ष हो सके, ऐसी वस्तु है, परन्तु उस वस्तु को दृष्टि में न लेकर उसकी अस्ति जिसकी इतनी बड़ी है, उसका स्वीकार न करके, पर के लक्ष्य में जाने से उसे आकुलता उत्पन्न हुई, वह स्वयं आकुलता उत्पन्न की है, कोई कर्म के कारण हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **स्वयं** अपने आप, आहाहा! अकेला ज्ञानमय, आनन्दमय, शान्तिमय परमात्मस्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहिए, उसका स्वभाव ही प्रत्यक्ष होने का है। उसके सामने न देखकर, आहाहा! विकल्पों के जाल को आकुलता करता हुआ,

कर्ता होता है। परन्तु यहाँ तो बहुत बलजोरी से कर्ता होता है। स्वरूप में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! स्वरूप तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दकन्द प्रभु है, उसे भूलकर बलजोरी से उल्टे पुरुषार्थ से, बलजोरी से राग और दया, दान के विकल्प का कर्ता होता है। चिमनभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : बलजोरी कैसे कहते हैं। सहज टेव पड़ गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अज्ञानपना है, यह कहेंगे। उसका अज्ञान है, वह टेव पड़ गयी। आहाहा! बलजोरी से, ऐसा शब्द प्रयोग किया है न? वस्तु है नहीं ऐसी। राग का कर्ता हो, वह वस्तु का स्वरूप ही नहीं। वस्तु का स्वरूप तो प्रत्यक्ष ज्ञान में हो, ऐसा उसका स्वरूप है, आहाहा! परन्तु उसे भूलकर, आहाहा! यह दया, दान, व्रत, विकल्प जो उठते हैं, उनका बलजोरी से अज्ञानभाव से स्वयं कर्ता होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

भावार्थ :- अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता? यह यहाँ वजन है। जहाँ स्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसका जहाँ अज्ञान है, वहाँ क्या नहीं होता? कहते हैं। **हिरण बालू की चमक को जल समझकर पीने दौड़ते हैं।** हिरण / मृग बालू की चमक को जल जानकर पीने दौड़ते हैं। **और इस प्रकार वे खेदखिन्न होते हैं।** आहाहा! **अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा पवन से क्षुब्ध हुए तरंगित समुद्र की भाँति, अज्ञान के कारण अनेक विकल्प करता हुआ....** जो स्वरूप में नहीं है, स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है, उसके अज्ञान के कारण, आहाहा! अनेक राग के शुभ-अशुभभाव को करता हुआ **क्षुब्ध....** अर्थात् आकुल **होता है।** आहाहा!

जैसे समुद्र पवन से जैसे तरंग में अस्थिर होता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण शुभाशुभ विकल्प से क्षुब्ध अस्थिर होता है। आहाहा! **और इस प्रकार यद्यपि परमार्थ से वह शुद्धज्ञानघन है....** है न पाठ में? आहाहा! समुद्र तो समुद्र ही है, परमार्थ से तो भगवान शुद्धज्ञानघन है। आहाहा! **तथापि अज्ञान से कर्ता होता है।** उसका ज्ञान नहीं, स्वरूप क्या है, मैं, उसके अज्ञान के कारण दया, दान, भक्ति आदि करे और कर्ता हो, वह तो ठीक परन्तु वापस दूसरे उसे देखे, तब यह अच्छा

करता है, ऐसा तो दिखाव होता है, मिथ्यादृष्टि मूढ़। मैं यह काम करता हूँ, देखो दूसरे से देखो। आहाहा! ऐसे अज्ञानी अपने भाव का कर्ता होता है और दूसरे को दिखाने का उसे भाव रहे, कि कैसा अच्छा करता हूँ, देखो! दूसरों की अपेक्षा। आहाहा! कठिन काम है।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान से आत्मा कर्ता नहीं होता।

कलश-५९

अब यह कहते हैं कि ज्ञान से आत्मा कर्ता नहीं होता:-

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,
जानाति हन्स इव वा:पयसोर्विशेषम्।
चैतन्य-धातु-मचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि।।५९।।

श्लोकार्थ : [हंसः वाः पयसोः इव] जैसे हंस दूध और पानी के विशेष-(अन्तर) को जानता है; उसी प्रकार [यः] जो जीव [ज्ञानात्] ज्ञान के कारण [विवेचकतया] विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से [परात्मनोः तु] पर के और अपने [विशेषम्] विशेष को [जानाति] जानता है, [सः] वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध और पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करता है; उसी प्रकार) [अचलं चैतन्यधातुम्] अचल चैतन्यधातु में [सदा] सदा [अधिरूढः] आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) [जानीत एव हि] मात्र जानता ही है, [किंचन अपि न करोति] किंचित्मात्र भी कर्ता नहीं होता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता)।

भावार्थ : जो स्व-पर के भेद को जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं।।५९।।

कलश - ५९ पर प्रवचन

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो,
जानाति हन्स इव वा:पयसोर्विशेषम्।
चैतन्य-धातु-मचलं स सदाधिरूढो,
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि।।५९।।

हंस वा: अर्थात् पानी और **पयसो:** अर्थात् दूध। है न? **हंस वा: पयसो:, हंस वा:** अर्थात् पानी और **पयसो:** अर्थात् दूध **जैसे हंस दूध और पानी के विशेष (अन्तर) को जानता है...** आहाहा! वह मृग का दृष्टान्त आया था बालू की चमक में, अज्ञान में, आहाहा! और डोरी का दृष्टान्त आया था। इसी प्रकार स्वरूप के अज्ञानी, हिरण जैसे बालू की चमक में पानी (मानता) है। आहाहा! स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है, इज्जत में सुख है, कुटुम्ब विशाल हो तो अपन बड़े कहलायें, सुख है, इस प्रकार हिरण की भाँति बालू की चमक में दौड़ता है। इसी प्रकार यह मूढ़ जिसमें सुख नहीं, उसमें दौड़ता है। आहाहा! सुलटे में हंस का दृष्टान्त। पानी और दूध इकट्ठे पड़े होने पर भी हंस पानी और दूध पृथक् कर डालता है, दूध को ले लेता है और पानी पृथक् पड़ जाता है। आहाहा! दृष्टान्त तो देखो।

उसी प्रकार जो जीव ज्ञान के कारण (विवेचकत्या) विवेकवाला... अर्थात् **भेदज्ञानवाला होने से...** आहाहा! यह दया, दान और राग के विकल्प से भिन्न आत्मा है, ऐसा जहाँ भेदज्ञान हुआ वहाँ वह विवेचक, विवेक किया, जैसा था वैसा इसने भेद किया। विकल्प जो है दया, दान, व्रत आदि का समूह, उससे मैं नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ। ऐसा विवेक किया। जैसे हंस ने पानी और दूध पृथक् किये, उसी प्रकार इस ज्ञानी ने राग और आत्मा को पृथक् किया। आहाहा! ऐसा स्वरूप। आहा!

लोगों को लगे चलते सम्प्रदाय में तो यह बात भी नहीं, इसलिए कठोर लगता है। एकान्त है (ऐसा) बेचारे कहते हैं। एकान्त है, सोनगढ़ का एकान्त है। प्रभु! तू स्वद्रव्य के एकान्त पक्ष में आया नहीं न, प्रभु! इसलिए तुझे एकान्त लगता है। एकान्त ही है,

स्वद्रव्य के पक्ष में आना, वह एकान्त है, सम्यक् एकान्त है। आहाहा! राग और निमित्त से नहीं होता, राग और निमित्त से भेद करने पर भेदज्ञान में उनसे नहीं होता, ऐसा एकान्त स्वरूप है, आहाहा! क्या हो? आहाहा!

शास्त्र के अभ्यास से पण्डित भी, भाई ने लिखा है न न्याय के पढ़े हुए भी... भाई ने क्रमबद्ध में। (लिखा है)। वे लोग इस क्रमबद्ध को सुनकर गोते खा जाते हैं। वे केवलज्ञान में भी शंका करते हैं। अब यह जिस समय जो पर्याय होती है, वह हुई तो केवलज्ञानी ने उसमें देखा, उस नहीं देखा, वह नहीं देखा, होगी तब देखेंगे। अब होगी तब देखेंगे। नहीं हुआ, उसे ज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष जानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जैसे हंस दूध और पानी के विशेष (अन्तर) को जानता है, उसी प्रकार जो जीव ज्ञान के कारण.... राग से भिन्न पड़ा हुआ भेदज्ञान के कारण **विवेकवाला होने से....** आहाहा! यह राग-विकल्प उठता है चाहे तो दया, दान, व्रत का हो परन्तु उससे मेरा प्रभु तो भिन्न है, ऐसा जिसे विवेक और विवेचक और भेदज्ञान हुआ है। आहाहा! जिसे भव का अन्त आ गया है, आहाहा! ऐसे चाहे तो शुभराग दया, दान, व्रत, भक्ति हो परन्तु जिसने विवेचक अर्थात् विवेक किया है, भिन्न किया है। आहाहा! ऐसी बात लोगों को कठिन बात लगे। वह व्यवहार करते-करते होता है, इनकार करते हैं, यह एकान्तिक है। करुणादीप (पत्रिका) में तो यहाँ का बहुत आता है। वह पूरा विरुद्ध ही, क्योंकि उसे बैठा नहीं, क्या करे बेचारे को। अरेरे! क्या कहते हैं (इसकी खबर नहीं)। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जिसे वह साधन मानता है—दया, दान, व्रत के विकल्प को, उससे तो जिसने अपने आत्मा को भिन्न किया है। उसे साथ में लेकर भिन्न किया है? (या) उसे पृथक् करके भिन्न किया है। रसिकभाई! ऐसा सूक्ष्म है, बापू! यह अरबों रुपये दुनिया में मिले, वह तो पूर्व का पुण्य, बापू! ऐसी बात मिलना। आहाहा! धूल, वह तो भिखारी है, पैसे का भिखारी है, प्रभु तो ऐसा कहते हैं, वह भिखारी है। बड़ा वरांका—भिखारी। यह लाओ, यह लाओ, यह लाओ, यह लाओ। आहाहा! परन्तु यह

बात.... जिसे पैसा-फैसा तो एक ओर रह गया परन्तु जिसे राग होता है, दया, दान, व्रत, आदि का विकल्प उठता है। अरे! गुणी और गुण ऐसा अभेद स्वरूप होने पर भी भेद पाड़कर विकल्प उठता है, उसका भी जिसने भेद किया है। समझ में आया? **ज्ञान के कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से (परात्मनोः तुं) पर के और अपने विशेष को जानता है...** पर अर्थात् शुभ रागादि और स्व अर्थात् स्वयं आत्मा आनन्दस्वरूप, इन दो को विशेष को जानता है, दो की भिन्नता को धर्मी जानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

जैसे हंस पानी को और दूध को भिन्न जानता है, और अकेला दूध का कोकडुं करके पीता है, पानी भिन्न करता है। उसी प्रकार भेदज्ञानी धर्मात्मा, आहाहा! रागरूपी पानी को, आनन्दरूपी दूध को अनुभव करता हुआ राग से भिन्न करता है। आहाहा! चिमनभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! पहले आगे आधे घण्टे बात हो गयी, ऐसी बात अभी की नहीं कभी इस वर्ष में। आहाहा! आत्मा और राग अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प, जिसने—धर्मी जीव ने जिसने राग से अपने को भिन्न किया है। है न? **परात्मनोः-परात्मनोः** यह दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का विकल्प है, वह राग है और यह वह पर है और भगवान आत्मा उससे पृथक्-भिन्न है। आहाहा! क्योंकि नौ तत्त्व है, उसमें पाप, हिंसा, झूठ, चोरी, पापतत्त्व भिन्न है, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, यात्रा का विकल्प है, वह पुण्यतत्त्व भिन्न है। नौ तत्त्व में यह तो भिन्न तत्त्व है। और आत्मा जो है, वह उससे भिन्न तत्त्व है। आहाहा!

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, जिसने राग से भिन्न करके भेदज्ञान किया, वह स्व और पर को दोनों को भिन्न किया है। आहाहा! अज्ञानी पर को और अपने को एक मानकर राग का कर्ता होता है। आहाहा! ज्ञानी राग को, स्व को-राग को पानी जैसे देखकर भगवान के दूध के मीठे आनन्दस्वरूप को देखकर और उससे भिन्न किया है। आहाहा! ऐसी बात है। अमृतचन्द्राचार्य! दिगम्बर सन्त जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

परात्मनोः आहाहा! पर अर्थात् विकल्प उठता है, चाहे तो गुण-गुणी के भेद का या दया, दान, व्रत, यात्रा का, वह सब राग और स्वयं अन्दर से राग से भिन्न है। आहाहा!

विशेष 'दो' की भिन्नता, 'दो' में अन्तर है, भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञानस्वरूप और राग विकल्प स्वरूप आकुलता स्वरूप 'दो' की भिन्नता है। राग है, वह आकुलता है; आत्मस्वभाव है, वह निराकुल आनन्दस्वरूप है। आहाहा! दोनों की भिन्नता का विवेक करके, आहाहा! वह **जैसे हंस मिश्रित हुए दूध और पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करता है....** उसी प्रकार धर्मी जीव, भेदज्ञानी, राग के विकल्प को पानी की भाँति गिनकर भिन्न करता है और भगवान आत्मा उससे आनन्दस्वरूप दूध का पिण्ड जैसे है, वैसे आनन्दस्वरूप है। आहाहा!

धर्मी, सम्यग्दृष्टि जीव, धर्म की पहली सीढ़ीवाला जीव, आहाहा! वह राग को और भगवान को—आत्मा को भिन्न करता है, ऐसा है। **जैसे हंस मिश्रित हुए दूध और पानी को अलग....** ग्रहण करता है, उसी प्रकार **(अचलं चैतन्यधातुम्)** अचल चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है। ज्ञान की डली, ज्ञान का पिण्ड, ज्ञान का पुंज प्रभु है। जैसे दूध है मीठा और सफेद; उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और शुद्ध है। उसे राग अशुद्ध और आकुलता है, उससे धर्मी जीव ने आत्मा को भेदज्ञान से भिन्न किया है। आहाहा! अब ऐसी बातें। जगत को बेचारे को सुनने को नहीं मिलता अनादि से भटकाभटक किया है। आहाहा!

अचल चैतन्यधातु.... वह पुण्य-पाप है, वे अस्थिर हैं और वह चैतन्य का स्वभाव नहीं। यह अचल चैतन्यस्वरूप है, जो अपने ध्रुव स्वरूप से कभी चलित नहीं होता। आहाहा! अचल चैतन्यधातु अथवा चैतन्यस्वरूप, अथवा चैतन्य लक्षण, चैतन्य स्वभाव जिसने धार रखा है। वह पुण्य और पाप जिसने धारे नहीं, ऐसा वह चैतन्यधातु भगवान है। आहाहा! अरे! ऐसी बात। क्या हो? वीतरागमार्ग का वीतरागभाव है, उसे राग भाव में खतौनी कर डाला है। आहाहा! वह राग की क्रिया, दान, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा वह राग है, उसे धर्म मानकर खतौनी कर दिया है, मार डाला। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि वह हंस तो पानी को भिन्न करके दूध पी लेता है; उसी प्रकार धर्मी जीव राग के कण को भिन्न करके आनन्द का सागर ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! ऐसा है। **सदा आरूढ़ होता हुआ....** देखा? धर्मी जीव

अचल चैतन्यधातु में सदा आरूढ़ होता हुआ.... उसने यात्रा की, उसने आत्मा की (यात्रा की)। पर्वत पर चढ़ते हैं न? वह तो जरा शुभभाव हो और देह की क्रिया होनेवाली हो तो होती है। वह तो अचल चैतन्यधातु में आरूढ़ होता हुआ, जो अनादि से पुण्य और पाप राग में आरूढ़ होता हुआ अज्ञानी था, आहाहा! वह राग से भिन्न पड़कर चैतन्यधातु में आरूढ़ हुआ। आहाहा! अरे! ऐसी बात वीतराग जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त कहीं बात नहीं है। उनके वाड़ा में भी सब बिखर गया है। सत्य बात बाहर आयी, तब उसे (अज्ञानी को) एकान्त लगी। क्या हो? आहाहा!

धर्मी तो उसे कहते हैं, धर्म करनेवाला, कि जो राग की क्रिया से भगवान आत्मा को भिन्न करके और इस अचल चैतन्य धातु में आरूढ़ होता है। आहाहा! आरूढ़ शब्द प्रयोग किया जाता है न हिन्दी में। अर्थात्? **(उसका आश्रय लेता हुआ)...** ऐसा स्पष्टीकरण किया। आहाहा! शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु धर्मी जीव उसका **आश्रय करता हुआ,...** उसमें आरूढ़ होता हुआ, उसके सन्मुख हुआ, राग और निमित्त से विमुख हुआ, आहाहा! सत्मुख सत्—भूतार्थ को उसे मुख्य कर दिया, आश्रय किया जिसने, आहाहा! मुख्य, वह निश्चय—ऐसा आता है न? व्यवहार को गौण किया, आहाहा! मुख—सत्मुख—सत् वस्तु अनन्त-अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय सुख, अतीन्द्रिय शक्ति, प्रभुता, अतीन्द्रिय स्वच्छता, अतीन्द्रिय कर्ता-कर्म आदि, अतीन्द्रिय गुणों का पिण्ड प्रभु, आहाहा! उसका धर्मी जीव, राग और पानी जैसे भिन्न जानकर, भिन्न करके, हंस जैसे पानी और दूध को भिन्न जाने, उसी प्रकार धर्मी उसे कहते हैं कि राग को पानी की तरह भिन्न करके और आत्मा के आनन्द को भिन्न अनुभव करे, उसका आश्रय ले, उसमें आरूढ़ हो। आहाहा! यह सब बातें अब अन्तर की है। है? अचल चैतन्यधातु में और वह भी सदा, जैसे वह त्रिकाली चीज़ सदा है, उसी प्रकार वर्तमान पर्याय में भी सदा अन्दर सन्मुख होता हुआ, आरूढ़ होता हुआ, वर्तमान में सदा आश्रय लेता हुआ, राग का आश्रय छोड़कर। आहाहा!

(जानीत) मात्र जानता ही है.... आहाहा! राग भी आवे उसे, परन्तु वह चैतन्यस्वरूप में सन्मुख का आश्रय लेता हुआ स्व को जानता है, वैसे राग है पर, ऐसा

उसे जानता है। राग मेरी क्रिया और मेरा स्वरूप है, ऐसा ज्ञानी नहीं जानता। आहाहा! एक-एक कलश में कितनी बात भरी है। दिगम्बर सन्त एक गाथा, एक कलश, ओहोहो! यह तो शान्ति का काम है, बापू! शान्तिभाई! यह शान्ति का काम है। प्रभु तो अकषाय शान्ति का सागर है न प्रभु आत्मा तो, और राग है, वह अशान्ति आकुलता और दुःख है। आहाहा! इसलिए सम्यग्दृष्टि भेदज्ञानी, वह राग की आकुलता से भिन्न प्रभु मेरा स्वरूप है, उसका आश्रय लेकर उसमें रहता हुआ राग को और स्व को जानता है। राग पर है, उसे पर रूप से जानता है; आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द है, उसे स्व रूप से जानता है, इसका नाम समकिती और धर्मी कहा जाता है। बाकी सब थोथा है। आहाहा! वीतरागमार्ग यह है। आहाहा!

मात्र ऐसा है न? **(जानीत ऐव हि)** ऐसा है न? **जानता ही है,...** ऐसा '**ऐव**' अर्थात् मात्र, इसलिए कहा है। मात्र अर्थात् जानता ही है, **(जानीत ऐव हि) जानता ही है...** आहाहा! प्रभु आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानमय आनन्द है न! ऐसा जिसे भान हुआ, वह तो राग को मात्र जानता ही है। पर, ज्ञाता-दृष्टारूप से जानता है। राग मेरा है, ऐसा अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि मानता है। वह (ज्ञानी) व्यवहार राग को अपना (नहीं) मानता। जिसे व्यवहार राग कहते हैं, वह दया, दान, व्रत, भक्ति, देव, गुरु, शास्त्र श्रद्धा का राग, उस राग से भिन्न भगवान आत्मा को धर्मी जानता है। अज्ञानी राग से मुझे लाभ होगा और धर्म होगा, ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा!

(किंचन अपि न करोति) वह '**कर्त्री भवन्ति**' था न उसमें? तब ज्ञानी धर्मी **किंचित्मात्र भी कर्ता नहीं होता।** कुछ भी नहीं करता अर्थात्? राग को अपने में कुछ भी नहीं करता, ऐसा। ज्ञाता-दृष्टा रहता है, कर्ता (नहीं) होता, ऐसा। राग से भिन्न अपने को जाना है, ऐसा करता है। समझ में आया? कुछ नहीं करता अर्थात्? राग को कुछ नहीं करता, राग मेरा है, ऐसा धर्मी नहीं करता।

अरे! ऐसा मनुष्यभव अनन्त काल में (मिला) उसका एक-एक पल ऐसा कीमती, बापू! छहढाला में तो ऐसा कहा है न, निगोद में से निकलकर लट हो, लट, वह त्रसपना पावे तो वह चिन्तामणि रत्न। निगोद में जीव अनन्त काल वहाँ रहा है,

भाई! अनन्त काल वहाँ व्यतीत किया, बापू! उसमें से कहते हैं, त्रस—लट हो तो भी चिन्तामणि को वह प्राप्त हुआ। आहाहा! उसमें फिर मनुष्य हो, उसमें फिर आर्यकुल में अवतार हो, उसमें शरीर निरोग रहे, उसमें जैन वाणी सुनने को मिले। आहाहा! बहुत दुर्लभ बापू! बहुत दुर्लभ। और सुनने को मिलने के बाद श्रद्धा हो, वह तो बहुत दुर्लभ। आहाहा! बोधिदुर्लभ, आता है न? **(किंचन अपि न करोति)** धर्मी जीव राग को किंचित्मात्र भी मेरा है, ऐसा नहीं करता। कुछ नहीं करता, इसका अर्थ (यह कि) राग मेरा है, ऐसा कुछ नहीं करता। बाकी राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान करता है। आहाहा!

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा की यह वाणी है। आहाहा! भगवान इन्द्रों और गणधरों के बीच यह कहते थे, और यह कहते हैं अभी महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, वह यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, संवत् ४९, आठ दिन रहे थे, दो हजार वर्ष पहले। यह कुन्दकुन्दाचार्य। वहाँ जाकर यह लाये और यह सन्देश प्रभु का है। आहाहा! स्वयं तो मुनि थे, आनन्दकन्द में झूलते थे, प्रचुर आनन्द का स्वसंवेदन था, उसे यह मुनि कहते हैं, उन्हें यह विकल्प उठा दुनिया को समझाने का कि भाई! प्रभु तो मार्ग ऐसा कहते हैं, बापू! आहाहा! तू कहीं कुछ मानकर बैठा हो तो वस्तु छोड़ दे। भगवान तो कहते हैं कि यह विकल्प उठा है, उससे भिन्न कर तुझे और भिन्न है। भिन्न है तो भिन्न कर। आहाहा! यह आया था न प्रज्ञाछैनी में (कि) राग और स्वभाव के बीच सन्धि है, दरार है, सन्धि है। अरे... अरे! यह कैसा? बड़ा पत्थर होता है न, उसमें यह सन्धि होती है। बारीक डोरा—उसमें सुरंग डाले तो पृथक् पड़ जाते हैं। भिन्न हैं, वे भिन्न पड़ जाते हैं। उसी प्रकार यह दया, दान, व्रत का विकल्प है, वह भिन्न है; भगवान आत्मा भिन्न है, दो के बीच सन्धि है, दरार है। आहाहा!

ऐसा उपदेश! अरे! क्या हो, प्रभु! यह धर्मी स्वयं और पर—रागादि पर और ज्ञानानन्द स्व, ऐसे दोनों को पृथक् करके पर को **किंचित्मात्र भी कर्ता नहीं होता।** पर मेरा है, ऐसा कुछ नहीं करता। आहाहा! यहाँ तो बांथ भरकर पड़ा, स्त्री मेरी, पुत्र मेरा, पैसे मेरे, मर गया। मार डाला, आत्मा को मार डाला। स्वयं चैतन्यमूर्ति, वे इसके नहीं; इसका तो आनन्द और ज्ञान है, ऐसा न मानकर, यह मेरे हैं, इसका जीवत्व इसने लूट

लिया है। ऐसी बात है। **ज्ञाता ही रहता है...** देखा? किंचित्मात्र भी नहीं करता अर्थात्? **ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता।** आहाहा!

भावार्थ :- जो स्व-पर के भेद को जानता है.... राग के विकल्प को दु:खरूप जानता है, पर जानता है और आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप को स्व जानता है, ऐसा जो भेदज्ञानी जानता है, **वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं।** वह राग का कर्ता नहीं होता। आहाहा!

अब यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है, वह ज्ञान से ही होता है। आहाहा!

कलश-६०

अब, यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है वह ज्ञान से ही ज्ञात होता है:-

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञाना-देव ज्वलन-पयसोरौष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था,
ज्ञाना-देवोल्लसति लवण-स्वाद-भेद-व्युदास:।
ज्ञाना-देव स्व-रस-विकसन्नित्य-चैतन्यधातो:,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।६०।।

श्लोकार्थ : [ज्वलन-पयसो: औष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था] (गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद [ज्ञानात् एव] ज्ञान से ही प्रगट होता है। [लवणस्वादभेदव्युदास: ज्ञानात् एव उल्लसति] नमक के स्वादभेद का निरसन (-निराकरण, अस्वीकार, उपेक्षा) ज्ञान से ही होता है (अर्थात् ज्ञान से ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और उसका स्वादविशेष निरस्त होता है)। [स्वरसविकस-न्नित्यचैतन्यधातो: च क्रोधादे: भिदा] निज रस से विकसित होनेवाली नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादि भावों का भेद, [कर्तृभावम् भिन्दती] कर्तृत्व को (-कर्तापन के भाव को) भेदता हुआ-तोड़ता हुआ, [ज्ञानात् एव प्रभवति] ज्ञान से ही प्रगट होता है।।६०।।

कलश - ६० पर प्रवचन

६० (कलश)

ज्ञाना-देव ज्वलन-पयसोरौष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था,
ज्ञाना-देवोल्लसति लवण-स्वाद-भेद-व्युदासः।
ज्ञाना-देव स्व-रस-विकसन्नित्य-चैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।६०।।

आहा! **'ज्वलन-पयसो औष्णाय-शैत्य-व्यवस्था' गरम पानी में अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद...** पानी जो गर्म है, वह उष्णता अग्नि का स्वरूप है, वह पानी का नहीं। पानी शीतल है, इस प्रकार उष्णता और शीतलता का भेद... उसमें तो लिया, स्वरूपग्राही ज्ञानी यह जानता है। जिसे स्वरूप का ज्ञान हुआ है, वह पानी शीतल और उष्ण वह अग्नि—ऐसा भेद स्वरूपग्राही ज्ञानी जानता है, अज्ञानी नहीं। जिसे स्व और पर का भेदज्ञान हुआ है, राग से भिन्न भगवान आत्मा का स्व-पर का ज्ञान हुआ है, ऐसा जो स्वरूपग्राही ज्ञान वह पानी शीतल और उष्ण / गर्म अग्नि, उसका भेद वह स्वरूपग्राही ज्ञान, वह पर को जानता है। ऐसा दूसरा जानता है, ऐसा नहीं, उसे खबर नहीं कि क्या वस्तु है। आहाहा!

कलश में है न (यह मूल वस्तु है) **'ज्ञानात्'** ऐसा है न वहाँ, **ज्ञानात्** ज्ञान से अर्थात्? भेदज्ञान से। भेदज्ञान से अर्थात् जिसे स्वरूप का ज्ञान हुआ है कि मैं ज्ञान और आनन्द हूँ, ऐसे ज्ञान से ही गर्म पानी में उष्णता और पानी की शीतलता का भेद, ज्ञान से प्रगट जानता है। जिसे स्व का ज्ञान हुआ है, वह पर के ज्ञान को यथार्थ रीति से पानी शीतल और अग्नि उष्ण, ऐसा भेद वह स्वरूपग्राही ज्ञानी जानता है। अज्ञानी उसे नहीं जानता। आहाहा!

मुमुक्षु : कथंचित् पानी गर्म और कथंचित् पानी ठण्डा है ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, पानी उष्ण है, वह गर्मी का, यहाँ तो उसका स्वभाव शीतल है, उसी प्रकार भगवान का स्वभाव शीतल, शान्त, वीतराग है; राग है,

वह कर्म की उपाधि है। आहाहा! कठिन काम है। आहाहा! गर्म पानी में गर्म पानी में उष्णता वह अग्नि की है और पानी शीतल है, ऐसी पर की भिन्नता, जिसे अपना ज्ञान हुआ है, वह पर का—उष्णता और शीतलता का भेद यथार्थ जानता है। आहाहा! समझ में आया? प्रगट होता है।

'**लवणस्वादभेदव्युदासः**' सब्जी के स्वाद से लवण के स्वाद की अत्यन्त भिन्नता। सब्जी खारी जो है, वह खारी सब्जी नहीं है, नमक खारा है। सब्जी तो नमक—खारेपन से भिन्न चीज़ है। आहाहा! इस सब्जी के स्वाद से लवण के स्वाद की अत्यन्त भिन्नता '**ज्ञानात एव उल्लसति**' ज्ञान से ही प्रकाशित होती है। आहाहा! एक बार कहा था—दृष्टान्त दिया नहीं था? श्रीमद् राजचन्द्र आये थे। राणपुर के पास एक गाँव है, उसमें सब इकट्ठे हुए थे थोड़े से मुमुक्षु। उसमें लौकी की सब्जी ऐसे आयी, ऐसे लौकी की सब्जी को देखकर कि इस सब्जी में नमक बहुत है, परन्तु तुमने चखे बिना? देखो! इस लौकी के जो टुकड़े पानी में बफते हैं, उसकी अपेक्षा नमक अधिक पड़ा, वह इसके रेशे टूट गये हैं। देखो, यह खारे से रेशे टूट गये, तुमने बिना देखे? परन्तु देखो न, यह लौकी की सब्जी के टुकड़े हैं, उसके रेशे टूट गये हैं, यह खारा अधिक है, नमक अधिक है; इसी प्रकार भिन्नता खारे की और सब्जी की भिन्नता को भिन्न स्वरूपग्राही ज्ञानी उसे जान सकता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९६, कलश-६०-६१, दिनांक १५-०२-१९७९, गुरुवार, माघ कृष्ण-३

फिर से ६०वाँ कलश। ५९ पूरा होने के बाद। **अब यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है, वह ज्ञान से ही होता है 'जवलन पयसोः औष्णय-शैत्य-व्यवस्था' (गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता....** पानी का मूलस्वभाव शीतल है और अग्नि के निमित्त से उष्ण हुआ, वह अग्नि का कार्य हुआ, ऐसा दो भेद जाने कौन ? कि जिसे यह स्वरूप का ज्ञान हुआ है आत्मा का, यह आत्मा भगवान सर्वज्ञ ने जो कहा। शरीर, वह तो जड़ है, उससे भिन्न है। अन्दर आठ कर्म जो ज्ञानावरणी जड़, उनसे भिन्न है। पाप के परिणाम करता है, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, उनसे भिन्न है और दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, उपवास आदि के विकल्प करता है, उससे तो आत्मा अन्दर भिन्न है। आहाहा! ऐसे आत्मा का राग से भिन्न होकर आत्मज्ञान हो, सम्यग्दर्शन हो, और आत्मा पूर्णानन्द प्रभु है, ऐसा जिसे वेदन अनुभव में आवे, उसे आत्मज्ञान कहते हैं। सूक्ष्म बात है प्रभु! आहाहा!

यह ज्ञान हुआ हो वह पानी की शीतलता और अग्नि की उष्णता का भेद वह सम्यग्ज्ञानी जानता है। समझ में आया ? है ? **(गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद ज्ञान से ही प्रगट होता है।** आहाहा! ज्ञान से अर्थात् ? जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है प्रभु, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है, उस सर्वज्ञस्वरूप की जिसे दृष्टि और अनुभव हुआ, उसका नाम यहाँ ज्ञान कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह ज्ञान जिसे हुआ, वह पानी की शीतलता और अग्नि की उष्णता का भेद, वह स्व-पर ज्ञायक जाननेवाला है, वह जानता है। अज्ञानी को उसकी शीतलता और उष्णता की खबर नहीं, क्योंकि जिसे स्व का ज्ञान नहीं, उसे पर का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। आहाहा! प्रेमचन्दजी! ऐसी बात है। अपूर्व बात, बापू! क्या कहलाये ?

अभी तो मुश्किल जैसा लगता है। पूरा मार्ग वीतराग का परमेश्वर, जैन परमेश्वर परमात्मा का यह कथन है। सन्त-दिगम्बर मुनियों ने आड़तिया होकर केवलज्ञान की बात जगत के समक्ष रखते हैं। माल तो भगवान का है। वह अनुभवी हुए मुनि, सन्त,

दिगम्बर सन्त, उनकी यह वाणी है। समझ में आया? श्वेताम्बर पन्थ तो दो हजार वर्ष पहले, इसमें से—दिगम्बर में से निकला है। श्रद्धा विपरीत होकर (निकला है)। उसमें से स्थानकवासी अभी चार सौ वर्ष पहले, उन श्वेताम्बर में से निकले, वे भी श्रद्धा विपरीत होकर। सूक्ष्म बात है, भाई! कठिन काम है। ऐ चिमनभाई! ऐसा जो ज्ञान सन्त दिगम्बर मुनियों को था और उस ज्ञान से बात करते हैं जगत को कि हमको भी जो आत्मज्ञान हुआ, उसे हम जाननेवाले हुए, इसलिए हमारा ज्ञान अब शीत-उष्ण का भेद वह ज्ञान जानता है। आहाहा! एक बात।

दूसरी बात—लवण, सब्जी के स्वाद से लवण के स्वाद की... लौकी की या करेला की सब्जी है, उसमें नमक होता है, उस नमक का स्वाद अलग, सब्जी का स्वाद अलग है, यह खारी जो सब्जी कहलाती है, वह खारी सब्जी नहीं है, खारा तो नमक है। आहाहा! समझ में आया? यह नमक खारा और सब्जी उससे भिन्न प्रकार है—ऐसा जिसे आत्मज्ञान हुआ हो, वह उनकी भिन्नता को जानता है। आहाहा! कल बात की नहीं थी? श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञानी थे, गृहस्थाश्रम में भले हो—आत्मज्ञानी। वे राणपुर के पास हडमताणे वहाँ सब इकट्ठे हुए। बहुत वर्ष की बात है, ५७ से पहले। उसमें पच्चीस-पचास सब मुमुक्षु इकट्ठे थे। लौकी की सब्जी आयी। ऐसे सब्जी देखकर कहा कि इसमें नमक अधिक है। परन्तु कैसे चखे बिना? देखो, लौकी के टुकड़े पानी बर्फे, उनकी जाति ऐसी होती है कि उसमें रेशा नहीं टूटते, लौकी के टुकड़े होते हैं और वे टुकड़े पानी बर्फे, उसमें रेशा नहीं टूटते, उसमें नमक अधिक पड़े, तब रेशा टूट जाते हैं। देखो, रेशा टूट गये हैं, उसमें नमक अधिक है इसलिए। चखा, वह खारा बहुत नमकीन जैसा! ओहोहो! श्रीमद् ने तो ऐसे देखकर ही कहा। यह नमक का खारापन और सब्जी की भिन्नता वह ज्ञानी ज्ञान से जानता है। वह यहाँ कहा। दो बातें।

अब तीसरी। '**स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः च क्रोधादेः भिदा**' और '**क्रोधादेः भिदा**' सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! **निज रस से विकसित होती हुई...** चैतन्यस्वरूप भगवान का अन्तर में सन्मुख होकर उस चैतन्य रस से भरपूर **नित्य चैतन्य धातु का....** यह चैतन्य है, वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और जो पुण्य-पाप का भाव होते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, उसे यहाँ क्रोध कहते हैं। क्योंकि स्वभाव से विरुद्ध

है। ऐसे विरुद्ध भाव और अविरोधी चैतन्यस्वरूप का भान ज्ञान से होता है। ऐसी बातें अब। वह तो इच्छामि पडिकमण: इरिया वीरिया मिच्छामि दुक्कडं था, लो! कुछ समझना उसमें? तस्सउत्तरि करणेणं ठाणेणं मोणेणं अप्पाणं वोसरामि। चिमनभाई! अप्पाणं क्या और वोसरे क्या? कुछ अर्थ की खबर नहीं होती। मार्ग अलग, बापू! धर्म की चीज़ वीतराग कहते हैं, वह चीज़ अलग है।

कहते हैं कि जैसे सब्जी में नमक का खारापन और सब्जी की मिठास की भिन्नता सम्यग्ज्ञानी जानता है। धर्मी हो, वह जानता है। अज्ञानी को यह खबर नहीं पड़ती। उसी प्रकार आत्मा चैतन्यधातु प्रभु है। जानन स्वभाव से भरपूर, जैसे शक्कर मिठास से भरपूर है, वैसे आत्मा आनन्द और ज्ञान से भरपूर प्रभु है। आहाहा! जिसे भगवान आत्मा कहे, दूसरे जो कहते हैं, उनकी तो खबर नहीं, सब अज्ञानियों ने कल्पना से बातें की हैं, परन्तु सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान, उन्होंने जो आत्मा को जाना और कहा, वह अलग प्रकार है। वह आत्मा अन्दर चैतन्यधातु जानन.... जानन.... जानन.... जानन स्वभाव को धार रखा हुआ तत्त्व है, उस तत्त्व के अन्दर में पुण्य और पाप के भाव भिन्न हैं, उसमें नहीं। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, तप, अपवास आदि का विकल्प है, वह तो सब राग है, वह राग और भगवान ज्ञानस्वरूप दोनों, उनकी भिन्नता का ज्ञान ज्ञानी करता है। अज्ञानी को खबर—पता नहीं होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म ऐसा। बहुत परिचय करे तो समझ में आये ऐसा है, बापू! यह कहीं दुनिया से अनजाने नहीं, हम। दुनिया को - सबको जानते हैं। आहाहा! ४५ वर्ष तो वहाँ रहे हैं, ४४ यहाँ हुए, ८९ हुए, और ९० लगेगा इस वैशाख शुक्ल दूज को, शरीर को, हों! धूल को, इसे (लगेगा)। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! दुनिया की शैली क्या चलती है और यह वीतरागमार्ग पूरा क्या है, बहुत अलग प्रकार है।

यहाँ कहते हैं, प्रभु कि यह चैतन्यधातु **निजरस से विकसित...** अकेली चैतन्य त्रिकाली नहीं, त्रिकाली से जो दृष्टि से विकसित हुआ सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ। भाई! समझ में आया? **'निज'—स्व रस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु...**

यह आत्मा नित्य चैतन्य भगवान है, उसका अन्दर ज्ञान होने पर, पर्याय में चैतन्य का रस प्रगट हुआ, जानन और आनन्द जिसकी दशा प्रगट हुई। आहाहा! उसे समकिती कहते हैं, उसे ज्ञानी कहते हैं, उसे धर्म की पहली श्रेणी का, धर्म की पहली सीढ़ी कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जो निज रस से विकसित चैतन्य धातु है, चैतन्य और आनन्द आदि स्वभाव से, धारणा धार रखा जिसने स्वरूप से, उसका विकसित होना। पर्याय में-अवस्था में... यह द्रव्य और पर्याय की भाषा भी समझ में नहीं आती। जो जैनदर्शन के एकड़ा के शून्य, एकड़ा के शून्य समझते हो? यों ही शून्य अलग प्रकार का होता है और एकड़ा का पहले शून्य करके फिर ऐसी लम्बी पाण करते हैं, वह-वह जाति अलग होती है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि प्रथम जो जैनदर्शन का द्रव्य और पर्याय दो चीज़ है। द्रव्य, वह त्रिकाली चीज़ है और पर्याय, वह वर्तमान परिणाम, दशा है। उस त्रिकाली चीज़ की दृष्टि और अनुभव होने पर पर्याय में निज रस विकसित—प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। अरे! ऐसी भाषा! कहो, समझ में आया?

स्वरस से विकसित नित्य चैतन्यधातु... आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर सत् चिदानन्द, सत् अर्थात् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु है। आहाहा! जो सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं, अरिहन्त, वह सर्वज्ञपना आया कहाँ से? कहीं बाहर से आता है? अन्दर पड़ा है। आहाहा! जैसे छोटी पीपर, चौसठ पहरी होती है न, छोटी पीपर, घोंटे तब चौसठ पहरी चरपराहट बाहर आती है न? वह कहाँ से आयी? घोंटने से आयी? घोंटने से आवे तो लकड़ी को और पत्थर को घोंटे नहीं? उस छोटी पीपर में चौसठ पहरी अर्थात् चौसठ अर्थात् रुपया, सोलह आना, वह छोटी पीपर कद में छोटी रंग में काली, परन्तु उसमें चरपरा रस है, वह सोलह आने अर्थात् चौसठ अर्थात् सोलह आने—रुपया-रुपया (पूरा) चरपरा रस भरा है। आहाहा! और हरा रंग, दो। उसे घोंटने से जो अन्दर में से वह बाहर आती है। दो पहरी, चार पहरी, आठ पहरी, चौसठ पहरी अन्तिम। उसी प्रकार आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव है। आहाहा! और जिसने राग से भिन्न करके आत्मा का जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट किया, उसकी निज चैतन्य धातु पर्याय

में विकसित हुई, जैसे कमल खिलता है, वैसा अन्दर से खिला। आहाहा! उस खिले हुए ज्ञान द्वारा अपने को जाने और राग के भाग को भिन्न है, ऐसा जाने।

अरे... अरे! अब ऐसी बातें! मनहर! यह तुम्हें कहीं सुनने मिले, ऐसा कुछ नहीं है वहाँ। आहाहा! बहुत पैसे इकट्ठे करके बैठा है। हमारे फावाभाई का लड़का है। फावाभाई गांडाभाई का लड़का। वहाँ हमारे पालेज सब इकट्ठे रहते न, अब बाहर गये, वह कहे सूरत गया तो पैसा हो गये एक करोड़, उसका भानेज कहता था अस्सी लाख रुपये तो मेरे मामा को करोड़ रुपये हुए हैं, वहाँ सूरत गये थे न हम उसकी दुकान में। वह तो धूल है, वह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु जल गये थे तो वह वस्तु दिखाई दी, दिखाई दी, इसके पास कहाँ आयी है? इसके पास तो ममता है। आहाहा! ऐई! यह रहे सब ऐसे न्यालभाई और पूनमभाई बड़े करोड़पति-जड़ के धनी / पति कहलाये न! करोड़पति, करोड़ अर्थात् जड़ और उसका पति अर्थात् जड़ का धनी। आहाहा! उसे भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति कौन है, और उसमें अन्तर्लक्ष्मी स्वभाव सोलह आने, जैसे उसमें चौसठ पहरा भरा है, वैसे सोलह आने, आत्मा के अन्दर स्वभाव में आनन्द और ज्ञान पूर्ण सोलह आने भरा पड़ा है, उसमें सोलह आने, आत्मा के अन्तरस्वभाव में आनन्द और ज्ञान पूर्ण सोलह आने भरा है। अरे रे! कैसे जँचे परन्तु इसे? कभी सुनने को मिलता नहीं। आहाहा!

ऐसा जो **नित्य चैतन्यधातु...** है? यह शब्द, यह तो कथा नहीं बापू! यह तो अन्तर धर्म की त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर की वाणी में आयी, वह बात है, भाई! आहाहा! **नित्य चैतन्यधातु...** जैसे उस पीपर में चौंसठ पहरी परचराहट और हरा रंग पूरा भरा है तो बाहर प्रगट होता है, उसी प्रकार इस भगवान आत्मा में पूरा आनन्द और पूरा ज्ञान सोलह आने, चौंसठ भरा है, आहाहा! ऐसी यह चैतन्य नित्यधातु, धातु अर्थात् नित्यपना आनन्द और ज्ञान आदि को धार रखा है, ऐसी जो चैतन्यधातु। आहाहा! उसमें से विकसित दशा हुई, उसका भान होने पर, सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में वह चैतन्यधातु पूर्ण आनन्द है, ऐसा भान होने पर दशा में विकसित, जैसे कमल खिल उठे और जैसे पीपर चौंसठ पहरी थी और बाहर प्रगट आवे; उसी प्रकार पर्याय में-अवस्था में आनन्द

की दशा और ज्ञान की दशा प्रगट हुई। आहाहा! भाषा किस प्रकार की! बापू! मार्ग अलग है, नाथ! आहाहा!

यह चैतन्य नित्यधातु, वस्तु, जिसने अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों को धार रखा है, ऐसी नित्यवस्तु, उसकी अन्तर में दृष्टि होने पर, राग से भिन्न पड़ने पर, जो राग का प्रगटपना दिखता था उस राग से भिन्न पड़ने पर यह शान्ति और आनन्द का प्रगटपना ज्ञात होता है, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। आहाहा! अभी तो चौथे गुणस्थान की बात। पाँचवाँ किसे कहना, यह तो आगे रह गया। बापू! आहाहा! और मुनि को छठवाँ, वह तो किसे कहाँ, यह तो लोगों ने सुना भी नहीं। आहाहा!

ऐसी **नित्य चैतन्यधातु...** विकसित हुई, है? **निज रस से विकसित, नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादि भावों का...** यह दया, दान, व्रत, तप, अपवास आदि का विकल्प उठे, वह राग है। उस राग का और चैतन्य विकसित हुए ज्ञान का, यह ज्ञानभेद वह जानता है। आहाहा! यह थोड़े शब्दों में ऐसा सब भरा है। ये दया, दान, व्रत, उपवास आदि का विकल्प, उस राग का और चैतन्यधातु से विपरीत हुई दशा, वह ज्ञान स्व को जानता है और राग पर मुझसे भिन्न है, उसे जानता है। वह राग मेरी चीज़ नहीं। धर्मी को ऐसा भेदज्ञान होता है। आहाहा! उसे धर्मी कहा जाता है, भाई! बाकी सब वाड़ा के बकरों के झुण्ड हैं। आहाहा! ऐई... आहाहा!

ऐसा जो चैतन्य प्रभु अकेले ज्ञान के स्वभाव से पूर्ण भरपूर और अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव से पूर्ण भरपूर, ऐसी चैतन्य वस्तु का भान होने पर, वह ज्ञान विकसित हुआ, प्रगट हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान, उस ज्ञान द्वारा स्व को जाने, और रागादि भाव पर है, उन्हें पररूप से जाने। प्रेमचन्दजी! आहाहा! ऐसी बातें हैं। तब उसे जन्म-मरण का अन्त आवे, बापू! नहीं तो ८४ का फेरा कर-करके मर गया है। आहाहा! एक-एक ८४ की योनि-८४ लाख योनि, एक-एक योनि में अनन्त बार अवतरित हुआ। भूल गया, हों! भूल गया, इसलिए नहीं था (ऐसा) कैसे कहा जाये, भाई! जन्मकर बारह महीने में क्या हुआ, खबर है? माता ने कैसे दूध पिलाया, नहलाया, खबर है? नहीं, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाये? आहाहा!

इसी प्रकार जगत में अनेक अनन्त बार प्रत्येक योनि में उत्पन्न हुआ, अनन्त बार महादुःखी हुआ, उसकी इसे खबर नहीं। खबर नहीं, इसलिए नहीं था—ऐसा कैसे कहा जाये भाई? आहाहा! इसकी जिसे यहाँ खबर पड़ी अन्दर कि मैं तो एक चैतन्य आनन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु (हूँ)। अन्यमति कहे वह नहीं, हों! सच्चिदानन्द शब्द तो स्वामीनारायण में भी आता है। उसे वस्तु की खबर नहीं। यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने सत् है वस्तु, महाप्रभु, चिदानन्द ज्ञान और आनन्द का सागर है, प्रभु! आहाहा! लोगस्स में तीन शब्द आते हैं, परन्तु उसे अर्थ की खबर नहीं होती 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा, चंदेशु निम्मलयरा, सागरवर गंभीरा' अर्थात् क्या कहते हैं? प्रभु! तू कौन है? सिद्ध भगवान की बात करते हैं, परन्तु सिद्ध भगवान जैसा यह आत्मा है। आईच्चेसु, यहाँ आदित्य अर्थात् सूर्य, आदि हो न, सूर्य प्रगट हो, आदि दिन की। आदित्य—सूर्य के प्रकाश से भी चैतन्य का प्रकाश अनन्तगुणा अन्दर है। आहाहा! आईच्चेसु अहियं—अधिक पयासकरा प्रकाश का करनेवाला प्रभु तू। कैसे बैठे? चंदेस्सु निमलयरा प्रभु, आप चन्द्र की निर्मलता से भी अनन्तगुणी निर्मलता, ऐसा यह प्रभु आत्मा अन्दर है। आहाहा! सागरवर गंभीरा, सागर के-समुद्र के पानी की गहराई की गम्भीरता का पार नहीं होता, वैसी यह गम्भीरता अनन्त गुण का गम्भीर, आहाहा! ऐसा जो यह भगवान आत्मा, उसका जिसे अन्तर में सन्मुख होकर निमित्त, राग और पर्याय से विमुख होकर, आहाहा! त्रिकाली ज्ञायक चैतन्य धातु, ध्रुव स्वरूप नित्य प्रभु के जहाँ सन्मुख होकर जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, वह '**ज्ञानात्**' उस ज्ञान से स्वचैतन्य को और राग को ज्ञानी दोनों को भिन्न जानता है। आहाहा! समझ में आया?

अरे! ऐसी भाषा हो सब। कहीं सुनने को मिली न हो। वे कहें—णमो अरिहंताणं, तिख्खुत्तो, इच्छामि, तस्सउत्तरि, लोगस्स, करेमिभंते और णमोत्थुणं—जाओ हो गयी सामायिक। धूल भी नहीं, बापू! तुझे कुछ खबर नहीं। आहाहा! ऐसा हमने भी बहुत किया था वहाँ पालेज में, अज्ञान में। आहाहा! यह वस्तु दूसरी, बापू! वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का फरमान कोई अलग प्रकार है। आहाहा! वह यहाँ कहते हैं।

चैतन्यधातु अन्दर विकसित हुई है, ज्ञान-सम्यग्दर्शन में और राग, विकार है

दया, दान, व्रत आदि का, उसका भेद ज्ञान जानता है, अज्ञानी को उसके भेद की खबर नहीं। आहाहा! है? '**भेद कर्तृभावम् भिन्दती**' ऐसे **कर्तृत्व को भेदता हुआ...** आहाहा! मैं एक चैतन्यमूर्ति आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा भान और राग भिन्न है, ऐसा भान होने पर राग के कर्तापने का जो अभिमान है, वह उसे छूट जाता है, वह राग की क्रिया मेरी है, ऐसा जो मिथ्यादृष्टि में मानता था, अज्ञान में (मानता था), यह ज्ञान का भान होने पर वह विकल्प जो दया, दान, व्रत का उठे, उसका मैं कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा है। उस **कर्तृत्व के भाव को भेदता हुआ...** अर्थात् कि जो आत्मा स्वरूप शुद्धचैतन्य है, उसका भान नहीं था, तब तो वह दया, दान, राग विकल्प उठे, वह राग उसका कर्ता था, वह मेरा कर्तव्य है और उसका मैं कर्ता हूँ, अज्ञानरूप से, मिथ्यात्वरूप से। परन्तु जब सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, तब उसे आत्मा का राग और मैं दोनों भिन्न चीज़ हूँ, अन्तर भान होने पर, वह ज्ञानी अर्थात् धर्मी जीव चौथे गुणस्थान में होने पर भी, वह राग आवे, उसका कर्ता नहीं होता। उस राग का जाननेवाला रहता है। चिमनभाई! ऐसा है। आहाहा!

अब लोग तो सुनते हैं। मुम्बई में तो दस-दस हजार, पन्द्रह-पन्द्रह हजार लोग इकट्ठे होते हैं, व्याख्यान सुनने के लिये! मार्ग की यह पद्धति है, यह है, भाई! सुनना हो तो सुनो। ऐ चिमनभाई! गत वर्ष ८९ लगा था न, घाटकोपर (में) पन्द्रह हजार लोग, वैशाख शुक्ल दूज, एकम, दूज, बहुत लोग। परन्तु बेचारे सम्प्रदाय की दृष्टिवाले पड़े हों, सुनने आवे कि यहाँ क्या बात करते हैं, उसकी गन्ध भी नहीं आवे। यह पुण्य देखे और बहुत लोग देखे तो चलो हम भी... आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्मा यह शुद्ध आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा ऐसा, जिसे भान हुआ उसे—सम्यग्दृष्टि जीव को यह चैतन्य और यह राग, ये दो चीज़ भिन्न भासित होती है, जैसे गेहूँ और कंकड़ जैसे भिन्न भासित होते हैं, वैसे धर्मी को यह दया, दान, व्रत विकल्प-राग उठे, वह कंकड़ है, मैल है। आहाहा! ऐसी बातें! और भगवान अन्दर चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु है। उसे ज्ञान द्वारा दोनों भिन्न भासित होते हैं, भिन्न भासित होने पर भिन्न का कर्ता नहीं होता। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें?

भेदता हुआ... अर्थात्? इस राग का जो विकल्प / वृत्ति उठती है, उसका कर्ता नहीं होता, धर्मी उसे भेदता हुआ, अकर्तापन प्रगट करता हुआ और कर्तापने को **भेदता हुआ, ज्ञान से ही प्रगट होता है,...** वह सम्यग्ज्ञान से वह भान प्रगट होता है। आहाहा! अरे, ऐसी बातें, लो! समझ में आया?

जैसे यह सब्जी की मिठास और नमक का खारापन, दोनों भिन्न चीज़ है, वैसे ही पानी का उष्णपना और उसका शीतलपना भिन्न है; उसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु का भान और राग दया, दान, व्रत आदि के विकल्प उठते हैं, वह चीज़ भिन्न है, उसका भिन्न भान होने पर उसके कर्तापने को भेदता हुआ, कर्तापने को तोड़ता हुआ, आहाहा! ज्ञानी ज्ञानरूप रहता है, ऐसा है अब, ऐई!

अब अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है... अज्ञानी को आत्मा क्या है, उसकी खबर नहीं; इसलिए वह पुण्य-पाप का भाव जो हो दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, यह कमाने-करने का भाव सब पाप है। कमाने का, स्त्री-पुत्र को सम्हालने का, ब्याज उपजाने का धन्धा, लड़कों को रास्ते कर रखने का-अपना अनुभव हो न पाप का, उसे बतावे, देख ऐसा करना... ऐसा करना, आहाहा! वह सब पाप के परिणाम और अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्य के परिणाम, दोनों विकार हैं—ऐसा धर्मी को ज्ञान होने से, उसका-विकार का कर्ता नहीं होता, वह ज्ञानी रहता है।

अज्ञानी, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं। अज्ञानी भी अपने भाव को करता है। वह अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव हों, उन्हें करे, परन्तु वह जड़कर्म को और शरीर को या कोई पर को करे, (ऐसा) तीन काल में नहीं। आहाहा! समझ में आया? **अज्ञानी भी...** अज्ञानी 'भी' क्यों लिया? कि ज्ञानी तो ज्ञान को करे, अज्ञानी राग को करे, परन्तु वह अपना राग जो पुण्य-पाप का, उसे करता है, परन्तु अज्ञानी शरीर की क्रिया करे या वाणी को करे, या पर को बचाने का करे, या पर की व्यवस्था करे, यह तो तीन काल में अज्ञानी भी नहीं करता।

भंगार का चूरा, भंगार का धन्धा था पहले, बड़ा कुँआ भरा था, तो फिर उसमें से पैसे-बैसे हुए होंगे धूल, कहते हैं कि वह व्यवस्था आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते

हैं। लड़के करे? अज्ञानी भी अपने भाव को करे, वह पुण्य और पाप के विकल्प राग हैं, उसे करे। **किन्तु पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता...** पुद्गल अर्थात् यह शरीर और वाणी की क्रिया आत्मा नहीं करता। आहाहा! बराबर है?

यह सब होशियार धन्धा करते हैं न, चिमनभाई ठाकरसी, नहीं? क्या कुछ है धन्धा तुम्हारे?

मुमुक्षु : चूने का।

पूज्य गुरुदेवश्री : चूने का, चूने का, बोरियाँ, हाँ... हाँ... सुना है। चूने की बोरियों का बड़ा धन्धा है। आहाहा! रंग का बड़ा धन्धा नहीं? जामनगर का एक बनिया है न मन्दिरमार्गी, (उसे) रंग का धन्धा है। उसे बारह महीने में साढ़े तीन करोड़ की आमदनी है, मुम्बई में अपने सुमनभाई उसमें नौकर है, रामजीभाई के पुत्र। आठ हजार का मासिक वेतन है। यहाँ आते हैं न? साढ़े तीन करोड़ की तो एक वर्ष की आमदनी है, जगजीवनभाई या जगदीशभाई ऐसा कुछ नाम है। जगमोहन। मिला था न, यहाँ आया तो वहाँ मुम्बई आया तो मिला था। सब भिखारी है, माँगनेवाले हैं कि यह दो, यह दो, यह लाओ, यह लाओ। अन्दर आनन्द की लक्ष्मी पड़ी है, आत्मा में चौसठ पहरी ज्ञान आनन्द शान्ति वीतरागता पूरी-पूरी भरी पड़ी है, उसमें माँगता नहीं और उसमें से निकालता नहीं। यह धूल और... आहाहा!

कैसे, बराबर है पुंजाभाई? यह नैरोबी रहते हैं। यहाँ के मुमुक्षुओं के साठ घर हैं, वहाँ अफ्रीका में, यह वहाँ से आये हैं। साठ घर हैं, श्वेताम्बर थे, (अब) दिगम्बर हो गये, अपने यहाँ मुमुक्षु हो गये। आठ तो करोड़पति हैं और दूसरे घर सब कोई पन्द्रह लाख, कोई बीस लाख, कोई पच्चीस लाख, कोई पचास लाख। यह अभी ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को दिगम्बर मन्दिर किया। अफ्रीका में दो हजार वर्ष में नहीं था। यहाँ के मुमुक्षु हैं न? पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाया, ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारह को मुहूर्त किया है, लेने आयेंगे, ऐसा लगता है। बहुत दूर है। अब शरीर (कोमल)। अब अफ्रीका कहाँ रहा नैरोबी, पन्द्रह लाख का (मन्दिर का) मुहूर्त किया ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को, दिगम्बर मन्दिर सनातन जैन दर्शन, वह एक शुभभाव है, धर्म नहीं। भगवान की प्रतिमा, पूजा वह

शुभभाव है, इसी प्रकार व्रत, उपवास वह शुभभाव है, राग है; धर्म नहीं। आहाहा!

धर्म तो राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, चैतन्यधातु आनन्द प्रभु का अनुभव करना, उसका ज्ञान करना, उसमें स्थिरता, इसका नाम परमात्मा जिनेश्वरदेव धर्म कहते हैं, बाकी सब व्यर्थ है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं। भले अज्ञानी कहते हैं भले वह अपने स्वरूप का ज्ञान न करे परन्तु वह अज्ञानी भी पर का तो कर नहीं सकता, यह कुटुम्ब को सम्हालना या दुकान का धन्धा व्यवस्थित गद्दी पर बैठकर व्यवस्थित कार्य लेना, यह हिसाब व्यवस्थित करते हैं या नहीं, दुकान में बैठा हो तो? अभिमान करता है। यह पर का काम, हाँ! वह अपने पुण्य-पाप का शुभ-अशुभभाव का करे अज्ञानभाव से, उसका कर्ता हो, परन्तु पर का तो कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! गजब बातें हैं।

क्योंकि भगवान ने तो अनन्त आत्मायें देखे हैं, अनन्त परमाणु यह अनन्त परमाणु है न यह? यह कहीं एक रजकण नहीं है, अनन्त रजकणों का पिण्ड है, यह तो धूल इसका टुकड़ा करते-करते अन्तिम पॉइन्ट रहे, उसे परमाणु कहा जाता है, ऐसे अनन्त परमाणु यहाँ कार्मण के, तेजस के अनन्त परमाणु हैं, आहाहा! उन सब परमाणुओं की क्रिया आत्मा नहीं करता, अज्ञानी भी (नहीं करता)। अज्ञानी अपने शुभ-अशुभभाव का कर्ता हो और करे और भटके। समझ में आया? यह भाव करे, देखो! पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता, **इस अर्थ का और आगे की गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं।**

कलश–६१

अब, अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है, किन्तु पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता–इस अर्थ का, आगे की गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

(अनुष्टुप्)

अज्ञानं ज्ञान–मप्येवं कुर्वन्नात्मान–मञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ।।६१।।

श्लोकार्थ : [एवं] इस प्रकार [अञ्जसा] वास्तव में [आत्मानम्] अपने को [अज्ञानं ज्ञानम् अपि] अज्ञानरूप या ज्ञानरूप [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्] आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है, [परभावस्य] परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्ता तो [क्वचित् न] कदापि नहीं है।।६१।।

कलश - ६१ पर प्रवचन

---

६१ (कलश) ऊपर है।

अज्ञानं ज्ञान–मप्येवं कुर्वन्नात्मान–मञ्जसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ।।६१।।

इस प्रकार वास्तव में... अर्थ है नीचे **अपने को अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ...** क्या कहते हैं अब? या करे अज्ञानी पुण्य और पाप के राग को करे और ज्ञानी ज्ञान को करे, परन्तु वह अपने भाव को करे। धर्मी जीव है, वह ज्ञान और आनन्द और शान्ति के भाव को करे, अज्ञानी राग और द्वेष, पुण्य–पाप के भाव को करे, परन्तु ज्ञानी (या) अज्ञानी अपने भाव को करे। ज्ञानी का अपना भाव शुद्ध चैतन्य, उसे करे; अज्ञानी का भाव पुण्य और पाप, उसे करे, परन्तु पर को तो कोई करता नहीं। अरे... अरे...! यह सब होशियार होंगे न हिम्मतभाई! तुम्हारे चार में होशियार तुम कहलाते हो, पैसा भले इसके पास है, पूनमचन्द और न्यालचन्द। आहाहा! यह किसके पास आये थे, उसके पास तो ममता आयी है, कहते हैं। वह ममता का कर्ता अज्ञानी होता है और ज्ञानी अपने

ज्ञानस्वरूप परिणति का, उसकी शुद्धता का कर्ता होता है परन्तु पर का तो एक रजकण को बदलना या तिनके के दो टुकड़े करना, वह आत्मा नहीं कर सकता। अरे! ऐसी बात!

यह लकड़ी ऊँची करे आत्मा, यह तीन काल में नहीं है, कहते हैं। यह हाथ से भी ऊँची हुई, ऐसा भी नहीं है, कौन माने? कि यह चीज़ भिन्न है, यह चीज़ भिन्न है। भिन्न चीज़, भिन्न का कुछ नहीं करती। गजब बातें, बापू! ओहोहो! वीतरागमार्ग में ऐसी बात है। अन्यत्र कहीं नहीं है। अभी तो सम्प्रदाय में भी वीतरागमार्ग के बदले रागमार्ग और अज्ञानमार्ग को चलाया है। क्या हो, प्रभु? दुर्लभ वस्तु है। ऐसी बात सुनना ही मुश्किल पड़ता है, मुश्किल पड़ता है, नये लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या, यह क्या कहते हैं परन्तु यह? पूरे दिन यह कर सकते हैं और इसका करते हैं। लड़के को पढ़ाते हैं, लड़के को अच्छी जगह लगाते हैं, लड़कियों को भी अच्छी जगह विवाह करते हैं। धूल भी नहीं करता, सुन न! अज्ञानी विकार के परिणाम को करे, परन्तु पर का तो कुछ नहीं कर सकता।

ज्ञानी अपने भाव को करे। ज्ञानी का भाव कहीं राग वह अपना नहीं। आहाहा! धर्मी को तो ज्ञान और आनन्द और शान्ति का भाव, उसे वह करता है, अज्ञानी को राग मेरा, पुण्य-पाप मेरे, इसलिए उसे करता है, परन्तु पर को तो कोई कुछ नहीं कर सकता, आँख की पलक भी आत्मा फिरा सके, (ऐसा) तीन काल तीन लोक में नहीं है, क्योंकि वह जड़ भिन्न चीज़ है, प्रभु! आत्मा भिन्न चीज़ है। आहाहा! ऐसा काम होगा? पूरा बड़ा भाग चलता है पूरा, लाखों-करोड़ों लोग तो ऐसा मानते हैं, हम करते हैं, आहाहा! चाहे जो मानो, सत् तो सत् है।

मुमुक्षु : बराबर सत तो सत् रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस प्रकार वास्तव में... अपने अज्ञानभाव को या ज्ञानभाव को, दोनों लिया न भाई इसमें? चाहे तो धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति, ज्ञान और रमणता करे और अज्ञानी पुण्य-पाप और दया, दान, व्रत आदि राग का कर्ता हो, परन्तु पर का कर्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं हो सकता। आहाहा! धर्मी जीव तो राग और

पुण्य-पाप का भी कर्ता नहीं तो पर की तो बात क्या करना? अज्ञानी पुण्य-पाप का कर्ता अपने भान को भूलकर हो, तो वह स्वयं राग और द्वेष का कर्ता होता है, परन्तु परद्रव्य की क्रिया कुछ भी कर सके, हाथ को हिला सके या वाणी बोल सके आत्मा, (ऐसा) तीन काल—तीन लोक में नहीं है। आहाहा! अभिमान करता है।

बहुत पैसे पैदा होते हों तो ऐसे मानो... ओहोहो! दुकान में गद्दी पर बैठता हो न! हमारे थे न कुँवरजीभाई, बुआ के पुत्र थे, सात-आठ पेढी में हमारी बुआ थीं, गिरधरभाई-मोहनभाई के पुत्र नहीं? संतोकबा नहीं? यह संतोकबा के मामा थे न गिरधरभाई, भाई को खबर नहीं होगी। सामने कौन थे भाई मोहनभाई के पुत्र कहता हूँ जोबालिया, संतोकबा के थे न, मामा गिरधरभाई थे, उमराला। वे हमारे बुआ के सगे पुत्र होते हैं और उन्हें और मान भाई संतोकबा के थे, उनके पिता की माँ, ताराचन्दभाई के घर से। सब भी माने, हमने यह किया... हमने यह किया... कुँवरजीभाई थे। आहाहा! बड़ी आमदनी थी, दो-दो लाख की आमदनी। मैंने तो (संवत्) १९६६ के वर्ष में उन्हें कहा, मेरी उम्र बीस की थी, अभी तो नब्बे है। ऐई कुंवरजी! इतनी ममता तेरी, कहा। मुझसे चार वर्ष बड़ा, यह तुम्हारे काका, तुम्हारे पिता के काका। मैं तो भगत कहलाता था न पहले से छोटी उम्र से। मैंने स्पष्ट कहा था उन्हें (संवत्) १९६६ में, कुँवरजीभाई! मैं कहूँ, मेरे सामने बोले नहीं, भगत है, सुनो। याद रखो, हम बनिया हैं, इसलिए मांस और शराब खाते (पीते) नहीं, इसलिए मरकर नरक में नहीं जाओगे। ऐई मनहर! फावाभाई तब वहाँ पालेज, तब तो सट्टा का धन्धा करते थे न, खबर है। आहाहा! तथा देव में जाने के लक्षण मुझे तेरे नहीं लगते, कहा। दुकान में बैठा था, तथा मनुष्य होने के तेरे लक्षण मुझे नहीं लगते। कहा, मरकर ढोर होओगे कहा, याद रखना। मेरे सामने बोले नहीं। भगत है, बोलना नहीं, सुनो। हँसे। यह क्या करते हो पूरे दिन यह? दुकान में बैठा था तो मैं तो ऐसे दो दुकानें थी न हमारे, तीस लोग एक रसोई में भोजन करते थे। मैं यह दुकान में से शाम को भोजन करने गया, वहाँ चुनीलाल मोतीलाल के पीछे नहीं रसोई थी? परन्तु वहाँ दुकान और वहाँ से मैं ऐसे गया और ऐसे खड़ा रहा, मुझसे ऐसा बोला गया। कुँवरजीभाई! कहा, मरकर ढोर होओगे। कहा, याद रखना। और ऐसा हुआ। ममता इतनी मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... मैंने ऐसा किया, सबके दीवाले

निकले मेरी दुकान में आमदनी बढ़ गयी, अब धूल भी नहीं, सुन न! कहा। वह भाई मरते हुए उसे सन्निपात हुआ और उसमें यह किया, यह किया, यह किया लवतो लवतो मर गया। लड़के होशियार हैं, बापू! बिगड़ गया, दो लाख रखकर गये कमाने के, हों दस लाख रोकड़, और दो लाख की आमदनी, हमारे भागीदार थे। बुआ के पुत्र। आहाहा! बापू! यह तेरे लक्षण, कहा, ऐसा मुझे लगता है। यहाँ कोई किसी की सिफारिश-बिफारिश थी नहीं तथा मक्खन चोपड़ना नहीं था यहाँ। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं कि पर का करूँ, पर का करूँ, 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी के नीचे कुत्ता छुए, उसे वह क्या कहलाता है? ठाठूं छुए और गाड़ी चलती है बैल से और छुए न, यह मानता है कि मुझसे चलती है। इसी प्रकार दुकान पर बैठा हो और धन्धे की क्रिया वह मुझसे होती है, कुत्ते जैसा है। कठिन बात, प्रभु! आहाहा! यह नरसिंह मेहता का वाक्य है। 'मैं करूँ, मैं करूँ' यह पर का, 'वही अज्ञान है गाड़ी का भार...' गाड़ी का, 'श्वान खींचे'।

यहाँ यह प्रभु कहते हैं कि तेरे भाव को अज्ञान भाव से पुण्य और पाप को तू करे और आत्मज्ञान में ज्ञान और शान्ति के भाव को करे, परन्तु पर का तो कुछ, तिनके के दो टुकड़े करना, वह तुझमें ताकत है ही नहीं, पर का कर सकूँ, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! कठिन काम भाई! यह टोपी ऐसे व्यवस्थित पहनना, यह कहते हैं (कि) आत्मा से नहीं, ऐसा कहते हैं। यह जड़ की क्रिया है। यह तो जड़ है। आहाहा! वह पर का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं, ऐसा कहते हैं। भारी कठिन काम, बापू! दुनिया से यह भिन्न चीज़ है। दुनिया की यह सब खबर है न पूरी दुनिया की। ६३ के वर्ष से तो दुनिया को देखा है न, ६३ (संवत् १९६३) के वर्ष से। बहुत प्रकार के व्यापार और धन्धे को सब देखा और व्यापारी अभिमानी-अभिमानी जहाँ-तहाँ हो, हमने किया, हमने किया, हमने किया हम चतुर हुए इसलिए यह पैसा बढ़ाया, मकान बनाये, पिता कुछ छोड़कर नहीं गये थे। बाहुबल से, कहनेवाले-बोलनेवाले सब सुने हैं न? मूढ़ है, वह अज्ञान और मिथ्यादृष्टि पर का कार्य नहीं कर सकता, तथापि करता हूँ—ऐसा मानता है, वह मूढ़ मिथ्यात्व में चार गति में भटकने के लक्षणवाला है। यह ८४ के अवतार में

भटकेगा। आहाहा! ऐसा तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह वाणी है। आहाहा! उन्हें कोई किसी की पड़ी नहीं है, कि दुनिया को ठीक लगे या न लगे।

यहाँ कहते हैं, वह **अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है...** देखा? अपने दो प्रकार, अज्ञानी का पुण्य और पाप का अपना भाव है, क्योंकि उस पर दृष्टि है और उसे अपना माना है, उसका अज्ञानी कर्ता, वह अपने भाव का पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत, काम, क्रोध विकार का। ज्ञानी अपना भाव अर्थात् राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान, उसके ज्ञान और आनन्द को शान्ति का अपना भाव, उसका ज्ञानी-धर्मी कर्ता है। आहाहा! बात-बात में भारी अन्तर है। अब माणस कहे परमाणंदा... आता है न? 'माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मळे और एक त्रांबियाना तेर' इसी प्रकार यहाँ प्रभु कहते हैं कि तुझे और मेरे बात-बात में अन्तर है। भाई! आहाहा! मेरा मार्ग और तेरा मार्ग कोई भिन्न जाति है। समझ में आया?

अज्ञानी या ज्ञानी अपने भाव का कर्ता है। अपने कहा, अर्थात् क्या? पुण्य-पाप का भाव अज्ञानी अपने मानता है न? इसलिए अपने भाव का कर्ता अज्ञानी; और ज्ञानी है, वह पुण्यभाव को अपना नहीं मानता, उसका जाननेवाला हूँ, देखनेवाला हूँ—ऐसा जो परिणाम शुद्ध है, उसका वह ज्ञानी-धर्मी कर्ता होता है। वह राग का कर्ता नहीं और पर का कर्ता तो नहीं ही। आहाहा! ऐसी बात है।

यह कब का कथन है, यह? अनादिकाल के तीर्थंकर ऐसा कहते आये हैं, यह सन्तों ने इस प्रकार की बात को अनुभव करके इस बात को लिखा है। आहाहा! **आत्मा अपने भाव का कर्ता...** होता है, **परभाव का (पुद्गलभाव का) कर्ता तो कभी नहीं...** शरीर की क्रिया कर सके, वाणी बोल सके, दूसरे की दया पाल सके, यह तो तीन काल में नहीं है, कहते हैं। अरे रे! यहाँ तो दया पालना, उसे धर्म मानते हैं लोग। पर की दया पाल सके, वह तो परवस्तु है। पर का आत्मा और उसका आयुष्य हो, तब तक रहेगा, उसे आयुष्य पूरा होने पर समाप्त होकर देह छूट जायेगी उसके कारण से, तू उसकी दया पाल सकता है? अरे... अरे...! ऐसी बातें!

अज्ञानी पर की दया पालने का कार्य नहीं कर सकता, परन्तु अज्ञानी उसके राग

और पुण्य-पाप का भाव होता है, उसका वह कर्ता अज्ञानपने होगा, मिथ्यात्वपने, मूढ़पने (होगा)। और ज्ञानी-धर्मी उस राग से भिन्न पड़ा हुआ तत्त्व, उसके भान में राग का भी कर्ता नहीं, राग का जानना-देखना, ऐसे ज्ञान की पर्याय और श्रद्धा की पर्याय का कर्ता है। अरे! अरे! समझ में आया? कुछ समझ में आया, ऐसा कहा न? समझ जाये, तब तो...

मुमुक्षु : समझ जाये तब तो बेड़ा पार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किस पद्धति से, किसी रीति से कहा जाता है। आहाहा!

यह कहते हैं कि परभाव का तो कर्ता कभी नहीं। आहाहा! यह सब्जी को मोड़ सके, कलम को ऐसे कलम नहीं बनाते, शीशपेन को? यह तो तीन काल में नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। वह तो जड़ की क्रिया है, वह जड़ से होती है। यह बात कैसे बैठे? यह दाढ हिला सके, यह तीन काल में नहीं, ऐसा कहते हैं। यह जड़ है, यह तो मिट्टी है ऐसे-ऐसे हो, वह जड़ के कारण से (होता है), आत्मा उसे हिला नहीं सकता, आत्मा रोटी के टुकड़े नहीं कर सकता, अरे... अरे!

अपने अज्ञानभाव को, राग को पुण्य-पाप के भाव को करे और धर्मी जीव है वह राग को जाननेवाला ज्ञान है, वह ज्ञाता-दृष्टारूप के ज्ञानपरिणाम को, आनन्द के परिणाम को करे, परन्तु परवस्तु का तो करे नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–६२

इसी बात को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि:–

(अनुष्टुप्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।६२।।

श्लोकार्थ : [आत्मा ज्ञानं] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, [स्वयं ज्ञानं] स्वयं ज्ञान ही है; [ज्ञानात् अन्यत् किम् करोति] वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? [आत्मा परभावस्य कर्ता] आत्मा परभाव का कर्ता है, [अयं] ऐसा मानना (तथा कहना), सो [व्यवहारिणाम् मोहः] व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है।।६२।।

प्रवचन नं. १९७, कलश-६२, गाथा-९८ से १०० दिनांक १६-०२-१९७९, शुक्रवार, माघ कृष्ण-४

(समयसार) ६२ कलश। यह (श्लोक) तो शिक्षण में लड़कों में शिक्षण में चलता है।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।६२।।

यह **आत्मा...** तो ज्ञानस्वरूप है। '**स्वयं ज्ञानं**' पहले कहा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, पश्चात् कहते हैं स्वयं **ज्ञान ही है।** ज्ञानस्वरूप है, यह अभी भेद से, वह ज्ञानस्वरूप ही चैतन्यस्वरूप वह '**ज्ञानात् अन्यत् किम् करोति' वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे?** यहाँ तो ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? ऐसा तो जाने कि वह राग का भी कर्ता नहीं, परन्तु यहाँ तो जड़ का कहना है, पाठ तो ऐसा है '**ज्ञानात् अन्यत्**' अर्थात् क्या कहा, समझ में आया? आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञानमय है, **ज्ञानस्वरूप है...** अथवा ज्ञान **स्वयं ही ज्ञान है।** वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे? यहाँ दया, दान और व्रत के परिणाम करे, यह यहाँ सिद्ध नहीं करना। वह न करे, ऐसा सिद्ध नहीं करना। यहाँ

तो पर-जड़ के परिणाम को क्या करे, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? शब्द तो ऐसा आया है—'**ज्ञानात् अन्यत् किम करोति**' ज्ञान से अन्य क्या करे अर्थात्? भले वह पुण्य-पाप, दया, दान, राग-द्वेष आदि करे अज्ञानभाव से, परन्तु पर का तो कुछ नहीं कर सकता, अन्य क्या करे? **आत्मा परभाव का कर्ता है...** घट का-घड़े का, वस्त्र का, दाल-भात का, रोटी का, सब्जी का, कपड़े का करे, ऐसा मानना वह तो भ्रम अज्ञान है। आहाहा! परभाव का कर्ता, **ऐसा मानना और कहना...** परभाव शब्द से जड़ कर्म, और घट-पट आदि एक यह परभाव, परभाव अर्थात् विकारी परिणाम परभाव नहीं लेना। समझ में आया? आत्मा परभाव का अर्थात् पुद्गल का घट-पट का या कर्म-जड़ का वह कर्ता है, ऐसा मानना, वह तो **व्यवहारी जीवों का (मोह) अज्ञान है।** आहाहा! समझ में आया?

अब कहते हैं कि व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं। ९८ गाथा।

गाथा-९८

तथा हि –

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि।।९८।।

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिः कर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमन्तःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः।।९८।।

अब कहते हैं कि व्यवहारी जन ऐसा कहते हैं :-

घट-पट-रथादिक वस्तुऐं, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें।
नोकर्म विधविध जगत में, आत्मा करे व्यवहार से।।९८।।

गाथार्थ : [व्यवहारेण तु] व्यवहार से अर्थात् व्यवहारी जन मानते हैं कि [इह] जगत में [आत्मा] आत्मा [घटपटरथान् द्रव्याणि] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को, [च] और [करणानि] इन्द्रियों को, [विविधानि] अनेक प्रकार के [कर्माणि] क्रोधादि द्रव्यकर्मों को [च नोकर्माणि] और शरीरादिक नोकर्मों को [करोति] करता है।

टीका : जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार के द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्म को करता हुआ (व्यवहारी जनों को) प्रतिभासित होता है, इसलिए उसी प्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरंग कर्म को भी-(उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं, इसलिए उनमें अन्तर न होने से-करता है, ऐसा व्यवहारी जनों का व्यामोह (भ्रान्ति, अज्ञान) है।

भावार्थ : घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्यों को आत्मा करता है, ऐसा मानना, सो व्यवहारी जनों का व्यवहार या अज्ञान है।।९८।।

गाथा - ९८ पर प्रवचन

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।।९८।।

घट-पट-रथादिक वस्तुऐं, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें।
नोकर्म विधविध जगत में, आत्मा करे व्यवहार से।।९८।।

टीका :- जिसने अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की) क्रियारूप व्यापार के द्वारा... आहाहा! हाथ की यह क्रिया अभी तो ऐसी गिनी है। परन्तु उसकी अपनी और इच्छारूप विकल्प, वह आत्मा घट-घड़ा करे, पट को करे, रोटी को करे, मकान को करे, लकड़ी का काम करे, **वह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्म को करता हुआ, (व्यवहारीजनों को) प्रतिभासित होता है...** अज्ञानी को यह भासित होता है। आहाहा! यह घड़ा, वस्त्र, रथ, यह बाहर का अज्ञानी ऐसा मानता है कि हम करते हैं। वह पर को कर नहीं सकता। यह तो पूरी दुनिया को यह घट-पट **आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्म को करता हुआ, (व्यवहारीजनों को) प्रतिभासित होता है...** दुकान में बैठा, यह धन्धा और यह सब क्रिया मैं करता हूँ, पैसा लेना-देना, माल लेना-देना। नहीं? चूना सफेद आता है न? वह चूना, चूने की बोरियाँ रखना, चूने की बोरियाँ बेचना और देना, कहते हैं कि वह काम कर नहीं सकता। परन्तु व्यवहारी अज्ञानी मानता है। आहाहा!

उसी प्रकार जैसे यह घट-पट-रथ आदि परद्रव्य की क्रिया को करता है, ऐसा व्यवहारी जीवों का अज्ञान है। **उसी प्रकार आत्मा क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप...** जड़, जड़, क्रोधादि, यहाँ भावकर्म नहीं लेना, चारित्रमोह-दर्शनमोह कर्म जो है न जड़, वह **क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरंग कर्म को भी...** बाह्य में घट-पट-रथ आदि करूँ और अन्तर में कर्म को करूँ, जड़ कर्म, हों! आहाहा! यह **दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं इसलिए...** आहाहा! घट-पट-रथ या यह रोटी, मकान, वह परद्रव्यस्वरूप है, ऐसे अन्दर में जड़कर्म बँधते हैं, वह जड़ हैं, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि, जैसे बाह्य

को करूँ, ऐसा माने, मिथ्यात्व मोह है; वैसे अन्तर में जड़कर्म को मैं करता हूँ, वह भी मोह, मिथ्यात्व मोह है। आहाहा!

उसी प्रकार आत्मा क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरंग कर्म को भी... वह बाह्य कर्म था, घट-पट-रथ आदि बाह्य था। यह अन्तरंग जड़। **दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं इसलिए उनमें अन्तर न होने से...** आहाहा! घट, पट, रथ, रोटी, दाल, भात, सब्जी, यह कपड़े का व्यापार, कपड़ा-बपड़ा लेना और देना, वह क्रिया अज्ञानी ऐसा मानता है कि हम करते हैं, वह अज्ञान है। उसी प्रकार अन्तरंग कर्म जड़, उसे मैं करता हूँ, ऐसी मान्यता भी भ्रम-अज्ञान है। लोहे-बोहे का नहीं भंगार का तुम्हारे, मनहर को भंगार, भंगार, भंगार लेते-देते हैं। दूसरे को देते हैं, कहते हैं कि वह क्रिया परद्रव्य की करता हूँ, यह मानना वह मोह-मिथ्या भ्रम है। ऐसा अन्तरंग कर्म जड़ जो है, उसे भी करता हूँ, तो दोनों कर्म पर है, चाहे तो बाह्य घट, पट, रथ आदिक हो और चाहे तो अन्दर जड़ कर्म हो। आहाहा! ऐसा काम है।

तो आत्मा तो पंगु हुआ, पर का कुछ कर नहीं सकता। ताकत कहाँ गयी इसकी? यह प्रश्न उठा था कलश में कि भाई! अनन्त शक्ति है, इसलिए कोई एक शक्ति ऐसी भी होगी, कि पर का करे? कि 'नहीं'। पर का कर सके, ऐसी कोई आत्मा में शक्ति-गुण नहीं है। आहाहा! यह कपड़े सिलना, यह कुम्हार घड़े को करे, बुनकर कपड़े को बुने, यह महिलायें पापड़ और वड़ी को करे, होशियार हो तो करे या नहीं उसमें? पापड़ और वड़ी को न करे, तब कौन करे? जैसे बाह्य कर्म पर हैं, उसे करना, ऐसा मानना वह अज्ञानी का मोह है; उसी प्रकार अन्तर कर्म जो जड़ है, उसे मैं करता हूँ, यह भी अज्ञानी का मोह है। आहाहा!

कठिन काम! यह तो दुनिया से अलग प्रकार लगता है। पर की दया पाल सकता हूँ, वह परद्रव्य का कर्म हुआ। समझ में आया? और उसमें राग हुआ और उसके कारण कर्म बँधा, उस कर्मबन्धन को मैंने किया... राग किया हो अज्ञानी ने, वहाँ तक बराबर है। अज्ञानी ने, हों! अज्ञानभाव से, यह राग-इच्छा आदि को करे, परन्तु अज्ञानभाव से वह जड़कर्म को, घट, पट, रथादिक के परकर्म को नहीं करता। आहाहा! परद्रव्यस्वरूप

क्रोध, मान, माया, लोभ, जड़, हों! जड़। क्रोध, मान, माया, परद्रव्य (स्वरूप) समस्त अन्तरंग कर्म को भी **दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप है...** घट, पट, रथादि और जड़कर्म दोनों परद्रव्यस्वरूप है। **इसलिए उनमें अन्तर न होने से-करता है, ऐसा व्यवहारीजनों का व्यामोह (भ्रान्ति), अज्ञान है...** आहाहा! यह धन्धे-बन्धे में बैठा हो, दुकान में सब करता नहीं? भाषा करे, हाथ हिलावे, चावल की बोरी भरी हो, उसमें बंबी डालकर, बंबी होती है न चावल की? यह उसे फिर सीधी डाले तब तो उसमें कणकी और सब इकट्ठा आवे, परन्तु ऐसे-ऐसे आड़ी डाले ऐसे तो चावल, अखण्ड चावल आवे। कहो, यह कर सकता है या नहीं? आहाहा! यह चावल होते हैं न, बारीक कणी अधिक हो अन्दर, तो बनिया को उसमें से वह भाव कम दे, हो भले कणी, फिर बंबी मारे, ऐसे न मारे, सीधी न मारे, ऐसे-ऐसे इसलिए उसमें से पूरे चावल निकले। वह कर सकता है? बंबी नहीं मार सकता? वह तो परद्रव्य कहा, परन्तु अन्तरंग में जो आठ कर्म जो जड़ है, उन्हें भी मैं करता हूँ, यह अज्ञानी का मोह है। आहाहा!

भावार्थ - घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि... वह जड़, हों! घट-पट और कर्म जड़, नोकर्म शरीर-वाणी आदि **इत्यादि परद्रव्यों को आत्मा करता है।** आहाहा! यह **ऐसा मानना, सो व्यवहारीजनों का व्यवहार या अज्ञान है।** आहाहा! पूरे दिन काम करना और कहे कि यह करता है और ऐसा माने तो वह मूढ़ है। आहाहा! व्यवहारी लोगों की यह मान्यता, सत्यार्थ नहीं है, ऐसा अब कहते हैं (गाथा) ९९ में।

गाथा-९९

स न सन् -

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता।।९९।।

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्, न च द्रव्यान्तरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति। ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति।।९९।।

अब यह कहते हैं कि व्यवहारीजनों की यह मान्यता यथार्थ नहीं है :-

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है।।९९।।

गाथार्थ : [यदि च] यदि [सः] आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्यों को [कुर्यात्] करे तो वह [नियमेन] नियम से [तन्मयः] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [भवेत्] हो जाये; [यस्मात् न तन्मयः] किन्तु तन्मय नहीं है, [तेन] इसलिए [सः] वह [तेषां] उनका [कर्ता] कर्ता [न भवति] नहीं है।

टीका : यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो, परिणाम-परिणामीभाव अन्य किसी प्रकार से न बन सकने से, वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये; परन्तु वह तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (-दोष) आ जायेगा। इसलिए आत्मा व्याप्यव्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।

भावार्थ : यदि एक द्रव्य का कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें, क्योंकि कर्ताकर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्य में ही हो सकता है। इसी प्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये, तो उस द्रव्य का ही नाश हो जाये,

यह बड़ा दोष आ जायेगा। इसलिए एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं है।।९९।।

गाथा - ९९ पर प्रवचन

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।।९९।।

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है।।९९।।

टीका - यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे... घट, पट, रथ, रोटी, दाल, भात, सब्जी, वस्त्र आदि का व्यापार और धन्धा, ऐसा करे, परद्रव्य को लेने-देने की क्रिया करे, तो **अन्य किसी प्रकार से परिणामपरिणामी भाव न बन सकने से...** आहाहा! यह परिणामी आत्मा और परिणाम पर का करे, तो परिणामी और परिणाम दोनों एक हो गये। स्वयं और पर दोनों एक हो गये। आहाहा! समझ में आया?

अन्य किसी प्रकार से परिणामपरिणामी भाव न बन सकने से वह आत्मा निश्चय से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये... अर्थात् क्या कहा? कि घट को, वस्त्र को, रथ को, कपड़े को, रोटी को, दाल, भात, सब्जी को, वह परवस्तु है, उसे यदि आत्मा करे तो वहाँ तन्मय हो जाये, उसमें एकाकार हो जाये; भिन्न रहे नहीं। आहाहा! ऐसा तो नहीं होता। अरे! ऐसी व्याख्या। **करे तो अन्य किसी प्रकार से परिणामपरिणामी भाव न बन सकने से...** क्या कहा यह? जैसे कि रोटी की अवस्था वह परिणाम है और आत्मा करे परिणामी, तो परिणामी का वह परिणाम तो अभेद हो गया। वह तो परिणाम रोटी की पर्याय का परिणाम, वह परमाणु परिणामी, उससे परिणाम है। वह परिणामी और परिणाम वह है परन्तु उसके परिणाम को यह करे तो, यह परिणामी उसके परिणाम को करने पर उसमें एकाकार हो जाये; भिन्न न रहे। आहाहा! ऐसा कहे, है?

निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे,... परद्रव्य शब्द से जड़कर्म

और घट, पट, रथ आदि बाह्य चीज़ें, यह पुस्तक बनाना, पुस्तक लिखना, यह लिखे, लिखे न, वह क्रिया जो लिखने की है, उसे यदि आत्मा करे तो वह परिणाम लिखने का परिणाम और स्वयं परिणामी, तो परिणाम परिणामी अभेद हो गया, तो एकाकार हुआ, पर के साथ तन्मय हो गया, परन्तु ऐसा नहीं है। वह कर्म—लिखने का परिणाम, उसका परिणामी परमाणु, उसके साथ परिणामी-परिणाम है, परन्तु परिणामी स्वयं (आत्मा) और लिखने के परिणाम मैंने किये, तब तो वह परिणामी और परिणाम भिन्न नहीं होते और यह तो दोनों ही भिन्न हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो पूरे दिन यह करो, यह करो, यह करो, अमुक को मदद करो, एक-दूसरे को ऐसा करो, जिसके साथ रहना है, उसे मदद करो, उसे अपने जैसा बनाओ। आहाहा! और ऐसा उपदेश देते हैं न अभी (वह) लोगों को अच्छा लगता है। आहाहा! यहाँ तो आहार, पानी, वस्त्र, पैसा, मकान, वस्त्र एक-दूसरे को दे सके, वह परिणाम और परिणामी दोनों एक हो गये। समझ में आया? यह देखो! यह है वस्त्र, ऐसा तो यह परिणाम है और परिणामी परमाणु है। परन्तु यदि आत्मा इसे करे तो यह परिणाम और आत्मा परिणामी, एकमेक हो जाये। ऐसा है। ऐसा तत्त्व, कहो, जैन वीतरागमार्ग।

यह टोपी है, वह ऐसे-ऐसे यहाँ पहनते हैं ऐसे, वे उसके परिणाम हुए, और परिणामी आत्मा, वह टोपी को व्यवस्थित करे वह परिणाम, उसे परिणामी आत्मा करे, तो आत्मा इस टोपी के साथ तन्मय हो जाये। टोपी पहन सके नहीं। कहो, कान्तिभाई! क्या है यह? ओहोहो! पूरे दिन दुकान में धन्धा करते हैं, धमाल चलावे, मिथ्यात्वभाव को सेवन करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अज्ञानियों की यह भ्रान्ति और व्यामोह है। आहाहा! परन्तु यह तुम्हारे घड़ी-बड़ी का करता ही नहीं? भाई को क्या है? उन्हें स्टील, स्टील तो यहाँ है, परन्तु वहाँ कुछ होगा न मुम्बई? इन चिमनभाई को स्टील का होगा। आहाहा! यह स्टील का कारखाना, उसे मैं चलाता हूँ, अरे रे! अभी कारखाना बहुत होते हैं, पाँच-पचास हजार हो तो कारखाना, छोटा कारखाना, पेन का कारखाना, अमुक का कारखाना, अमुक का कारखाना, कहते हैं और उस कारखाने को मैं चलाता हूँ। यह तो कहते हैं कि वह परवस्तु के परिणाम परवस्तु से हुए हैं, इसलिए वह परिणाम और परिणामी तन्मय है। परन्तु उस परिणाम को तू करे तो तू परिणामी और वह

परिणाम तो उसमें तन्मय एकमेक हो गया, परद्रव्य में वह एकाकार हो गया। आहाहा!

ऐसा कहाँ कोई सुनने के लिये निवृत्त न हो, कहते हैं... यह सोनगढ़ ने नया निकाला, ऐसा कहते हैं। परन्तु यह नया, किसका है यह? भगवान ने जब अनन्त द्रव्य कहे, भगवान तीर्थंकरदेव ने अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु कहे, तो अनन्त अनन्तरूप से कब रहे? कि दूसरे के परिणाम को दूसरा करे, तब तो अनन्तपना रहे नहीं, परन्तु दूसरे परद्रव्य का नाश हुआ। उसके परिणाम को यह करे तो, उस परिणामी का नाश हुआ, क्योंकि परिणाम बिना का परिणामी होता नहीं। आहाहा! क्या कहा यह?

कोई भी द्रव्य किसी भी समय परिणमन बिना का नहीं होता, तब वहाँ वह परमाणु जो परिणमन हुए घट-पट-रथ का, उस परिणाम का परिणामी वे परमाणु उसके कर्ता, और ऐसा न मानकर परिणाम उसके, उसका मैं कर्ता, तो यह परिणामी और यह परिणाम दोनों तन्मय एकमेक हो गये। आहाहा! ऐसी बात है। कोई भी द्रव्य, किसी समय परिणमन की अनन्त गुण की परिणमन दशा, अनन्त एक समय में, कोई भी द्रव्य अनन्त पर्याय का परिणमन बिना का नहीं होता। उसके बदले यह ऐसा कहे कि उसके परिणाम, उसके परिणामी ने नहीं किये, परन्तु मैंने किये। आहाहा! कुम्हार कहे कि घड़ा मैंने किया, सुथार कहे कि रथ-गाड़ी मैंने की। बुनकर कहे कि कपड़ा मैंने बुना। यह सब मान्यता भ्रम है, अज्ञान है। क्योंकि ऐसा न हो तो पर के साथ एकमेक हुए द्रव्य, तब तो वह यह उसके परिणाम करे, यह परिणाम उसके करे, यह परिणाम इसके करे तो द्रव्य का अभाव हो गया। क्योंकि परिणाम बिना का द्रव्य तो होता नहीं। अब यह ऐसा कहे कि इस परिणाम को इसने किया, इसके दूसरे ने किये, तब तो वह परिणाम बिना का द्रव्य, परिणाम इसने किये? आहाहा! बहुत कठिन काम!

एक नोट है, वह हाथ में से ऐसे आगे जाये, वह परिणाम है, वह नोट का है। ऐसे जाने का, उसमें यह कहे कि मैंने किये, तो वह परिणाम और परिणामी आत्मा, दोनों एक हो गये। नोट के साथ तन्मय हो गया। बराबर है? बाहर तो कितने ही यह कहे, सोनगढ़ में वे भोले लोग हाँ करते हैं, ऊपर कहे वह हाँ... हाँ... हाँ...। अरे भगवान! बापू! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव के यह भाव हैं, जिनेश्वरदेव ऐसा कहते

हैं। आहाहा! बर्तन गन्दे हैं उन्हें मैं माँजता हूँ, क्या कहलाता है? वह माँज सकता है? माँज सकता हूँ, साफ कर सके, तो वह साफ होने का परिणाम है, उसका परिणामी वह परमाणु है। यह कहे कि मुझसे साफ हुआ, तो वह परिणाम और यह परिणामी, दोनों एक हो गये। परिणामी और परिणाम भिन्न नहीं हो सकते। आहाहा! ऐसा है।

वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये... देखा! यदि पर के परिणाम की पर्याय दूसरा करे तो वह दूसरी चीज़ उसमें एकाकार हो जाये, भिन्न रहे नहीं। आहाहा! क्या लॉजिक और न्याय! नियम से तन्मय हो जाये, ऐसा निश्चय से परद्रव्य हो जाये। आहाहा! यह रोटी बेलन से आटा ऐसा चौड़ा हुआ, ऐसा मानना, तो बेलन, वह परिणामी और रोटी चौड़ी हुई, वह परिणाम, वह परिणाम और परिणामी बेलन आटे में एकाकार हो गया, आटे के साथ तन्मय हो गया, पृथक् रहा नहीं। आहाहा! इसी प्रकार शीशपेन की अणी निकालने से जो परिणाम हुए ऐसे अणी के, उस परिणाम का कर्ता तो उसका परिणामी परमाणु है और यह कहे कि मैंने यह परिणाम किये तो वह परिणाम और परिणामी दोनों, यह स्वयं उसमें तन्मय हो गया, उसमें एकमेक हो गया, भिन्न नहीं रहा। आहाहा!

यह मोहमयी नगरी मुम्बई, उसमें ऐसी बातें कहाँ? लोगों ने तत्त्व को सुना नहीं। भगवान को क्या कहना है और तत्त्व की मर्यादा क्या है? प्रत्येक अनन्त आत्मायें और अनन्त परमाणुओं की मर्यादा क्या? उसकी मर्यादा उस काल में जो परिणाम हों, वह परिणाम उसका और उसका वह परिणामी, और उसे परिणाम बिना का माने तो भी उसने द्रव्य को माना नहीं। आहाहा! वेदान्त कहता है न कि पर्याय-बर्याय परिणमन होता नहीं; और अकेले परिणाम को माने और परिणामी को न माने, तो वह बौद्ध हो गया। बौद्धमत हो गया। ऐसा पठन कठिन पड़े, दूसरा क्या हो? सब श्लोक बहुत ऊँचे हैं।

क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जायेगा। आहाहा! आत्मा जड़कर्म और यह अन्य रथ, पट आदि बाह्य के परिणाम को, उसकी पर्याय को यदि आत्मा करे तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो गया,

तो वहाँ उस द्रव्य का नाश हो जाये। आहाहा! कहो, प्रेमचन्दजी! ऐसी बात है। बहुत कठिन! यह सब महासिद्धान्त है, थोड़े शब्दों में। आहाहा! यह बर्तन में नाम लिखते हैं न? यह लिखने के परिणाम जो हुए हैं, वे परमाणु के हुए हैं, वह टांकी ने किये नहीं हैं। टांकी यदि परिणामी और अक्षर खुदते हैं, वे परिणाम, तो दोनों एक द्रव्य हो गये। आहाहा! यह बर्तन में करते हैं न, नाम... नाम... नाम सब करते हैं न, वह परिणाम जो अक्षर के हुए ताँबा, पीतल में, वह परिणाम हुआ है-वह पर्याय हुई है और उस पर्याय के परमाणु परिणामी कर्ता हैं। आहाहा! उसके बदले वह कहे कि यह टांकी से अक्षर हुए और मैंने ऐसा किया, ध्यान रखा, इसलिए अक्षर हुए तो वे परिणाम और परिणामी तन्मय एकमेक हो गये तो द्रव्य भिन्न नहीं रहा। आहाहा! यह तो पागल जैसा है! जैन का मार्ग, जैन में रहे उन्हें भी सुनने को नहीं मिला। आहाहा!

क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जायेगा। सामने के परिणाम स्वयं करे तो स्वयं परिणामी होकर उस परिणाम में तन्मय हो गया, तो अपने द्रव्य का नाश हो गया, वह परद्रव्य हो गया। अपना द्रव्य रहा नहीं। आहाहा! आहाहा! क्या यह सिद्धान्त! मण का ढाई तो चार पैसे का सेर, फिर उसके चाहे जितने भंगभेद करो। आहाहा! इसी प्रकार कोई भी परमाणु के परिणाम, उस परिणामी बिना का परिणाम होता नहीं और परिणाम बिना का परिणामी होता नहीं। उसके बदले उस परिणाम को दूसरा कहे कि मैं करूँ, तो वह स्वयं उसके परिणाम में तन्मय हो गया, अर्थात् अपना अभाव हो गया और वह इसने मुझे कुछ किया, वह परमाणु वह परिणाम मेरे परिणाम यह शरीर के किये तो वह परमाणु यहाँ शरीर में तन्मय एकाकार हो गये। आहाहा! परमाणु भिन्न रहे नहीं, तो अनन्त, अनन्तरूप नहीं रहे। आहाहा! अनन्त भगवान ने कहे परमाणु, तो अनन्तपने कब रहे? कि दूसरे की पर्याय को दूसरा द्रव्य न करे तो अनन्त अनन्तपने रहे। आहाहा! परन्तु दूसरे के परिणाम को दूसरा करे तो स्वयं सामने के परिणाम में तन्मय हो गया, इसलिए अपना नाश हो गया।

मुमुक्षु : पृथक् रहकर करे तो द्विक्रियावादी का प्रसंग आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कर ही नहीं सकता न, भिन्न रहकर कर नहीं सकता, वह तो यहाँ, करे तो वह परिणाम और वह परिणामी दोनों अभेद हो जाये, तो अपना तो नाश हो गया। आहाहा! गले उतारना भारी कठिन! ऐसा किया न, ऐसा किया न, यह किया। आहाहा!

इसलिए आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है। क्या कहा यह? इसलिए यह आत्मा व्याप्य अर्थात् पर की अवस्था, और स्वयं व्यापक, ऐसा नहीं है, है? आत्मा व्याप्यव्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है, अपने परिणाम व्याप्य और स्वयं उसका कर्ता, परन्तु परद्रव्य का व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा है नहीं। इसमें तो, एक व्यक्ति अपने नहीं आता वह अमृतलाल झरिया, झरिया। वह तो कहे, बाबा हो जाये तो समझ में आये। बाबा ही है सुन न! कोई चीज़ तेरी है कि तू माने वह मेरी है? आहाहा!

यह बहुत बड़ा सिद्धान्त है, हों! किसी भी परमाणु की पर्याय हो, वह पर्याय बिना का यदि रहे और वह पर्याय दूसरा करे, तो उस द्रव्य का नाश हो जाये और वह परिणाम आत्मा करे तो आत्मा परिणामी परिणाम में मिल गया वहाँ, तो परिणामी और परिणाम दोनों भिन्न नहीं रहे, इसलिए वह स्वयं वहाँ मिल गया। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : बहुत सरस।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए आत्मा व्याप्य... अर्थात् अवस्था, परिणाम, **व्यापक...** अर्थात् द्रव्य, उस **भाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।** परद्रव्य की पर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक अर्थात् कर्ता, व्यापक अर्थात् कर्ता और परद्रव्य की पर्याय उसका व्याप्य, ऐसा नहीं होता। कहो, समझ में आया? अरे! अरे! ऐसी बातें अब! ऐसा जैनधर्म।

भावार्थ - यदि एक द्रव्य का कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें... बहुत सादी भाषा में रखा है। दूसरे द्रव्य के परिणाम, दूसरा द्रव्य करे तो, दोनों द्रव्य एक हो जायें, **क्योंकि कर्ताकर्म भाव अथवा...** कर्ता और कार्य **अथवा परिणामपरिणामीभाव...** कर्म अर्थात् परिणाम, कर्ता अर्थात् परिणामी, **एक द्रव्य में ही हो सकता है।** आहाहा!

प्रत्येक परमाणु का कर्ताकर्मपना उस द्रव्य में होता है, अन्यथा नहीं होता। यह तो सर्वविशुद्ध में आया, उत्पाद उत्पाद का कारण '**दवियं**'।

अजीव के परिणाम किसी भी परमाणु के, स्कन्ध के दूसरा उत्पादक और वह उत्पाद्य, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा के परिणाम, राग-द्वेष वह कर्म व्यापक होकर राग-द्वेष व्याप्य करे, ऐसा नहीं है। अभी यह ऐसा सिद्ध करना है, और फिर जब स्वभाव की सिद्धि करनी हो, तब जिसे स्वभाव की दृष्टि हुई, उसका कर्म व्यापक और विकारी व्याप्य, वह तो वहाँ डाल दिया। आहाहा!

यहाँ तो मात्र अभी द्रव्य की भिन्नता है, उसे सिद्ध करते हैं। परन्तु जब स्वभाव की बात करे, चैतन्यस्वरूप भगवान वह तो आनन्द और ज्ञानमूर्ति प्रभु है। उसका व्याप्य विकार कैसे हो?—ऐसा कहते हैं। उसका व्याप्य तो निर्मल परिणाम उसका व्याप्य, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आनन्द उसका व्याप्य और आत्मा उसका व्यापक। और वहाँ जो राग हो, ऐसा कोई आत्मा में गुण नहीं कि उससे राग हो, इसलिए वह राग पर्याय में होता है, इसलिए पर्यायदृष्टि, व्यवहारदृष्टि कर्म में डालकर कर्म व्यापक और राग उसका व्याप्य, स्वभावदृष्टि से (यह बात है)। आहाहा!

अब यह बनियों को ऐसा सब कब याद रखना? अभी तत्त्व क्या है, उसकी खबर नहीं होती, तत्त्व में क्या होता है, कैसे होता है और उसे धर्म हो जाये? मिथ्या मोह है मिथ्यात्व होता है। मिथ्यात्व की भ्रमणा हो, उसे अधर्म होता है। दूसरे के द्रव्य की दया पाल सकता हूँ, दूसरे जीव की दया पाल सकता हूँ, तो वह दया के परिणाम जो यहाँ हुए, उसका व्याप्य वहाँ हुआ, व्यापक यह और व्याप्य वहाँ हुआ, दोनों एक हो गये, पर की दया आत्मा पाल सकता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : परद्रव्य को जान सकता है परन्तु कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने का तो सब तीन काल—तीन लोक जाने, यह भी कहना व्यवहार है। परद्रव्य को जाने, पर को जाने, यह कहना व्यवहार है। वास्तव में तो वह स्वयं अपनी पर्याय, द्रव्य-गुण को जानता है। आहाहा! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा! अपूर्व बात है। आहाहा!

कर्ता-कर्मपना और **परिणामपरिणामी भाव...** परिणाम अर्थात् पर्याय और परिणामी अर्थात् द्रव्य, **एक द्रव्य में ही हो सकता है।** आहाहा! जीव के परिणाम, वह कर्म करे तो कर्म परिणामी और परिणाम व्याप्य, दोनों कर्म और राग दोनों एक हो गये। समझ में आया? क्या कहा यह? कर्म जड़ है, वह परिणामी और यहाँ विकार परिणाम हुआ, वह उसका परिणाम, तब तो वह कर्म ही स्वयं भिन्न, आत्मा से भिन्न चीज़ नहीं रही, आत्मा के परिणाम में कर्म तन्मय हो गया। आहाहा!

फिर से—यह एक प्रश्न हुआ था तब, बहुत वर्ष हुए। वहाँ (संवत्) १९९९ में राजकोट में एक सोमचन्दभाई थे न एक, खारा, उन्होंने कहा कि निश्चय क्या? एक ओर तुम कहो कि कर्म व्यापक और राग व्याप्य; एक ओर कहते हो कि आत्मा व्यापक और राग व्याप्य, एक प्रश्न हुआ। ७५ गाथा में आता है, ७५ गाथा में ऐसा ही आता है कि आत्मा व्यापक कर्ता और निर्मल परिणाम कार्य। मलिन परिणाम कार्य और कर्ता कर्म, यह स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से कहा है। आहाहा! पण्डितजी!

यदि दूसरे द्रव्य के परिणाम, पर्याय दूसरा द्रव्य करे तो वह पर्याय—परिणाम और परिणामी दोनों एक हो जायें। परद्रव्य से भिन्न न रह सके और यह तो परद्रव्य से भिन्न त्रिकाल रहा हुआ है। आहाहा! तथा कोई भी द्रव्य किसी काल में परिणमन की पर्याय बिना का हो तो वह पर्याय बिना का द्रव्य, तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो ही नहीं सकता, उस पर्याय का कर्ता द्रव्य हो जाये वह पर, और यह परिणाम—बिना का परिणामी रहा। समझ में आया?

आत्मा में जो पर्याय है, वह परिणमन बिना की, पर्याय बिना का कभी द्रव्य होता नहीं, यदि वह परिणमन बिना का द्रव्य हो तो वह परिणमन पर का है, और वह पर उसका परिणामी है। आत्मा का परिणमन वह नहीं, तो आत्मा का नाश हो जाये और कर्म उसमें इसमें मिल जाये। क्योंकि वह इस पर्याय का वह कर्ता अर्थात् वह कर्म तन्मय हो जाये आत्मा में। आहाहा! अब ऐसी कहाँ निवृत्ति, धन्धा, स्त्री, पुत्र को सम्हालना, धन्धा करना या यह करना? आहाहा! और मोहमयीनगरी मुम्बई तो... सिद्धान्त समझ में आता है? **इस प्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये तो उस**

द्रव्य का ही नाश हो जाये... आहाहा! यह आत्मा के परिणाम हैं, उसे कर्म करे तो यह परिणामी कर्म और परिणाम दोनों एक हो गये, यह आत्मा रहा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो अभी पुण्य-पाप के भाव जीव करे, ऐसा सिद्ध करना है। परद्रव्य से भिन्न सिद्ध करना है। समझ में आया? अभी यहाँ ज्ञानी राग का कर्ता नहीं, यह यहाँ अभी सिद्ध नहीं करना। यहाँ तो अभी परद्रव्य से प्रत्येक द्रव्य भिन्न, और प्रत्येक द्रव्य के परिणाम और परिणामी एकमेक है, यह उसके परिणाम का कर्ता दूसरा हो तो दोनों द्रव्य का नाश हो जाता है। आहाहा! है? **इस प्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये...** इस प्रकार... आहाहा! कपड़ा कपड़ा है, वह परमाणु का पिण्ड है, उसकी कपड़ा एक अवस्था है। अब वह अवस्था कपड़े की बुनकर कहता है कि मैंने की, तो वह परिणाम और परिणामी दोनों एक हो गये, अपनी भिन्नता रही नहीं, बुनकर, आहाहा! इसी प्रकार यह महिलायें पापड़ बनावे, वड़ी बनावे, बहुत होशियार हो तो बहुत ऐसे-ऐसे खाट में रखे और वह लकड़ी, खाट की क्या कहलाती है? खाट की आवे अन्दर छोर-छोर, उसमें पाट रहे, पटिया रहे और बैठी हो ऐसे, दूसरा मानो, ओहोहो! क्या होशियार? क्या वडी करना आता है, और पापड़ बनाना आता है, यह कहते हैं कि उसके परिणाम जो पापड़ के हुए, या वडी के हुए उस परिणाम का कर्ता तू हो तो परिणाम और परिणामी दोनों एकमेक हो जाये, परन्तु उस पापड़ के परिणाम का कर्ता पापड़ के परमाणु हैं। परमाणु हैं, वे परिणामी हैं और पर्याय उसका परिणाम है। परमाणु वे व्यापक हैं और पर्याय उसका व्याप्य है। वह व्याप्य आत्मा का हो जाये तो वह द्रव्य भिन्न रहता नहीं। तू यदि उसके परिणाम को करे तो तेरा द्रव्य भिन्न रहता नहीं, वहाँ तेरा (द्रव्य) दूसरे के साथ मिल जाता है।

अरे! क्या होगी ऐसी (बात)! एक बार इन्दौर में पण्डित इकट्ठे हुए थे, पचास पण्डित, उन लोगों ने इससे विरुद्ध करने के लिये यहाँ का सोनगढ़ का, कहा कि 'परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं।' यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य के परिणाम का कर्ता माने, वह आत्मा नहीं। आहाहा! वह परद्रव्य के परिणाम का कर्ता माने, वह अपना द्रव्य भिन्न मानता नहीं, वह परद्रव्य में मिल जाना है, ऐसा उसने माना। आहाहा! अरे रे! परन्तु ऐसा कहाँ?

इसलिए दोष आता है, यह **बड़ा दोष आ जायेगा। इसलिए एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं है।** एक द्रव्य के परिणाम का दूसरे द्रव्य (को) कर्ता कहना उचित नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म सिद्धान्त! यह तो बाहर के काम करते, दूसरे को बतावे कि देखो! मैं यह करता हूँ। देखो, मैं यह करता हूँ, अज्ञान को प्रसिद्ध करता है, अर्थात् स्वयं काम करे अर्थात् जाने कि कर्ता काम का, मैं कैसा काम करता हूँ। आहाहा! अभिमान है मिथ्यात्व का। आहाहा!

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्य-व्यापकभाव से ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है। आहाहा! १००वीं गाथा अलौकिक है। व्याप्य-व्यापक अर्थात् कि परिणाम और परिणामी इस प्रकार भी पर का कर्ता नहीं है। आत्मा उसके अपने परिणाम का कर्ता और परिणामी स्वयं, पर के परिणाम का कर्ता आत्मा तो परिणामी वहाँ अभेद हो जाता है। वह तो बात कही, ठीक। अब तदुपरान्त यहाँ तो सिद्ध करना है। आहाहा! **व्याप्य-व्यापकभाव से तो कर्ता नहीं...** व्याप्य व्यापक समझ में आया? व्याप्य अर्थात् परिणाम, व्यापक अर्थात् परिणामी द्रव्य। व्याप्य अर्थात् कार्य और व्यापक अर्थात् कार्य का करनेवाला द्रव्य। आहाहा! **व्याप्य-व्यापकभाव से तो कर्ता नहीं परन्तु निमित्तनैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं...** आहाहा! यह रोटी और घट, पट को रथ को बुनकर को यह कहते हैं कि जो दशा होती है उसमें निमित्त स्वयं और नैमित्तिक, इस प्रकार भी नहीं है। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है। आहाहा!

गाथा-१००

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति-

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता।।१००।।

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गात् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। योगोपयोगयोस्त्वात्म-विकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्ताऽस्तु न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्।।१००।।

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्यव्यापकभाव से ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है :-

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे।
उपयोगयोग निमित्तकर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने।।१००।।

गाथार्थ : [जीवः] जीव [घटं] घट को [न करोति] नहीं करता, [पटं न एव] पट को नहीं करता, [शेषकानि] शेष कोई [द्रव्याणि] द्रव्यों को [न एव] नहीं करता; [च] परन्तु [योगोपयोगौ] जीव के योग और उपयोग [उत्पादकौ] घटादि को उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं, [तयोः] उनका [कर्ता] कर्ता [भवति] जीव होता है।

टीका : वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म है, उसको यह आत्मा व्याप्यव्यापकभाव से तो नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये; तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उसको नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जायेगा। अनित्य (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूप

से उसके (–परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्ता हैं। (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मप्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान के कारण योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।

भावार्थ : योग अर्थात् (मन–वचन–काय के निमित्त से होनेवाला) आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना–जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक को निमित्त हैं, इसलिए उन्हें तो घटादिक तथ्था क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जाये परन्तु आत्मा को उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा को संसार–अवस्था में अज्ञान से मात्र योग–उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि–द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है, इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य का परिणाम अन्य द्रव्य के परिणाम का निमित्तकर्ता कहलाता है। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणाम का कर्ता है; अन्य के परिणाम का अन्यद्रव्य कर्ता नहीं होता।।१००।।

गाथा - १०० पर प्रवचन

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।।१००।।

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे।
उपयोगयोग निमित्तकर्त्ता, जीव तत्कर्ता बने।।१००।।

आहाहा! १००वीं गाथा चली थी तब (संवत्) १९९१ में जामनगर में लोग बहुत, तब सम्प्रदाय छोड़ा नहीं था सम्प्रदाय में थे न ९१। पश्चात्, यहाँ आकर सम्प्रदाय छोड़ा। डॉक्टर थे बड़े प्राणजीवन डॉक्टर नहीं? ढाई हजार वेतन था, व्याख्यान में यह १००वीं गाथा चलती थी, सुनी। महाराज! मेरा सोलेरियम छह लाख का देखने आओ

न, यह तो तुम्हारे दृष्टान्त में न्याय में काम आयेगा। जामनगर में है। छह लाख का सोलेरियम—बड़ी मशीन है ऐसे घुमाकर सूर्य की धूप दे न, यह मगशिर की बात है, (संवत्) १९९१ के बाद यहाँ आये थे न, यह १००वीं गाथा।

मुमुक्षु : सभा में वाँचन होता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सभा-सभा। सम्प्रदाय में सभा, ९० में यह वाँचन किया और ९९ गाथा, ९० में अमुक वाँचन किया था और ९९ गाथा तक वहाँ वाँचन किया था राजकोट, राजकोट। चातुर्मास था न अन्तिम, ९०, सदर में, तब वहाँ वाँचन किया था, प्राय: ९९ तक १००वीं (गाथा) यहाँ से शुरु की थी, ऐसा कुछ था, जामनगर। आहाहा!

टीका :- वास्तव में जो घट और पट और **क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म है।** यह जड़ की बात है, हों! क्रोध, भाव क्रोध की बात नहीं। घट-पट आदि और क्रोध जड़ कर्म, परकर्म है, **उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता।** अर्थात् कि व्यापक स्वयं कर्ता होकर वे परिणाम उसका व्याप्य, वह उसका कार्य, ऐसा तो नहीं है। आहाहा! यह सब व्यापारी, सब होशियार होकर करते होंगे, नहीं? आहाहा! वास्तव में घट, पट—वस्त्र, चाहे जो परद्रव्य जड़ या क्रोधादि कर्म जड़, वे **परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं, उन्हें यह आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तो नहीं करता।** परिणाम और परिणामी वह परिणाम उसका परिणामी आत्मा, ऐसा तो नहीं है, आत्मा कर्ता और कर्म वह, ऐसा तो नहीं है। **क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये,...** ऐसा करे तो पर में एकाकार हो जाये। पृथक् द्रव्य रहे नहीं। आहाहा!

इन्दौर में एक चर्चा हुई थी, पचास पण्डित इकट्ठे हुए थे, विरोध, यहाँ का विरोध करने के लिये इसलिए—'परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं।' ऐसा बेचारे क्या करे, किसी प्रकार अपना मान रहता न हो, अभी तक चलाया हो, अब वह सब खोटा है, मिथ्यात्व है, ऐसा कठिन पड़े न? कठिन पड़े बेचारे....

मुमुक्षु : आपने तो श्वेताम्बर में से दिगम्बर का डंका बजाया।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर तो वस्तु ही है यह। श्वेताम्बर, वह वस्तु ही कहाँ है, जैनधर्म। सूक्ष्म बात है। आहाहा! कहो, वजुभाई! यह सब स्थानकवासी के सेठिया गले

तक घुस गये वहाँ। आहाहा! यह हमारे जादवजीभाई को वे सब कलकत्ता में नहीं थे? गौशाला में पैसे दो, तुम्हारा कल्याण होगा, गायों को निभाओ, कबूतर को ज्वार दो, कुत्ते को रोटियाँ डालो। यहाँ कहते हैं कि तुम्हारे नहीं करते यहाँ, अभी तक था, पहले, तो पोपटभाई की ओर से यहाँ कुत्ते को रोटियाँ डालते सुना है। अब अपने को कुछ खबर नहीं। पोपटभाई तुम्हारे। कौन डाले? बापू! कठिन काम पड़े।

वास्तव में तो आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य, उसके परद्रव्य हैं, उनके अतिरिक्त यह आत्मा, वह पर का कुछ भी करे तो पर में एकाकार हो जाये, **तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा।** क्या कहते हैं? आत्मा है, वह कायम नित्य है, यदि आत्मा उसे निमित्त होकर करे, तो सदा उसे पर का कर्तापना नित्य में रहे, आत्मा भी निमित्तरूप से आत्मा निमित्तरूप से करता नहीं, उपादानरूप से तो करे नहीं, यह तो बात हो गयी। आहाहा! नैमित्तिकभाव से भी उसे करता नहीं, क्योंकि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आवे। आत्मा नित्य है, प्रभु। यदि सामने की (पर की) पर्याय को निमित्तरूप से करे जीव द्रव्य, हों! पर्याय की बात बाद में लेंगे। जीव द्रव्य है, वस्तु जो है, वह यदि सामने को (पर को) निमित्तपने करे तो सदा उसका कर्तापना, निमित्त में उसे जब-जब जहाँ कार्य होगा, वहाँ-वहाँ द्रव्य को उपस्थित रहना पड़ेगा। आहाहा!

ऐसी व्याख्या! **निमित्तनैमित्तिक भाव से भी करता नहीं, क्योंकि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व,... (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जायेगा।** आहाहा! जगत की जितनी अवस्थायें हों, उनमें यदि आत्मा निमित्तरूप से हो, तब तो जहाँ-जहाँ अवस्था हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को उपस्थित रहना पड़ेगा। यह नित्य है, आत्मा नित्य है, वह तो निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। उपादानरूप से तो नहीं। आहाहा!

विशेष आयेगा, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९८, गाथा-१००, दिनांक १७-०२-१९७९, शनिवार, माघ कृष्ण-५

समयसार, १०० गाथा, **वास्तव में...** यहाँ वजन है। वास्तव में घट का कार्य होता है, जिस समय वह वास्तव में कार्य घट का नहीं, मिट्टी का है। घड़ा रथ या वस्त्र आदि **घटादिक तथा क्रोधादिक...** अर्थात् जड़कर्म, वह **परद्रव्यस्वरूप कर्म है,...** परद्रव्यस्वरूप कार्य है। आहाहा! कितना डाला है, देखो! क्या कहते हैं? घड़ा जो कार्य है, उस समय कार्य है, उस समय में है ही। अब उसे निमित्त किसे कहना, इतना प्रश्न है। समझ में आया? इसी प्रकार वस्त्र हुआ है, वह कार्य वस्त्र है, उसे निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न है। तथा रथ और गाड़ी आदि है-कार्य है, उसका निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार रोटी आदि कार्य है, (वह) रोटी, आटा का कार्य है, कार्य तो है, उस समय में वह कार्य होनेवाला वह हुआ है, यह तो प्राप्य में से निकाला। आहाहा! क्या कहा यह? घड़ा जो है, वह मिट्टी का कार्य है, मिट्टी का कार्य है; कुम्हार का नहीं, वह तो नहीं परन्तु अब घड़ा जो कार्य है, वह तो उस समय में कार्य हुआ ही है, अब उसमें निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न है। समझ में आया? इसी प्रकार वस्त्र, गाड़ी, रथ, रोटी, भाषा, भाषा है न? यह भाषा की पर्याय है, भाषा की पर्याय है। आहाहा! उसे निमित्त किसे कहना यह प्रश्न है। है उसके काल में, भाषा की पर्याय उसके काल में है। आहाहा! समझ में आया? **वास्तव में....** वास्तव में है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह हाथ जो हिलता है ऐसे, उसकी अवस्था वास्तव में है जड़ की। मात्र वह कार्य है, वह वहाँ निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न उठा है, निमित्त से होता है, यह प्रश्न तो पहले उड़ा दिया। परन्तु जिस समय में जिस द्रव्य का जो परिणाम अर्थात् कर्म अर्थात् कार्य है, आहाहा! उसे यह आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तो करता नहीं, अर्थात् घट का कार्य व्याप्य अर्थात् कार्य और कुम्हार कर्ता / व्यापक, ऐसा तो नहीं है।

दूसरे प्रकार से (कहें तो) घड़ा का कार्य है, वह परिणाम है और उसका परिणामी कुम्हार है, ऐसा नहीं है। आहाहा! घड़ा कार्य है, उसका कर्ता कुम्हार है, ऐसा तो नहीं। समझ में आया? आहाहा! **वास्तव में...** 'किल' शब्द है न? 'किल' अर्थात्

वास्तव में, यथार्थ में, आहाहा! जड़ आदि के परिणाम जिस काल में होनेवाले हैं, प्राप्य, उस काल में है। उसे यह आत्मा, यह जड़ के, जड़कर्म बँधे उसमें जड़कर्म बँधे, वह कर्म परमाणुओं का कार्य है, जड़कर्म बँधता है, वह जड़कर्म का कार्य परमाणुओं का है, उसे आत्मा व्याप्य-व्यापकरूप से अर्थात् वह परिणाम और आत्मा परिणामी, वह तो नहीं। वह कर्म के परिणाम हुए, वह परिणाम और परिणामी परमाणु, परन्तु वे परिणाम कार्य और परिणाम तथा आत्मा परिणामी, ऐसा तो नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह जो भाषा होती है और यह होंठ हिलते हैं, वह कार्य जड़ का है। आहाहा! वह परिणाम उसका है, उसका परिणामी वे परमाणु हैं, परन्तु उस कार्य का परिणाम और आत्मा उसका परिणामी, वह परिणाम कार्य और आत्मा उसका कर्ता, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा सूक्ष्म अब। कहो, पण्डितजी? यहाँ तो प्रश्न हुआ, यहाँ कर्म / कार्य है ऊपर गया, प्राप्य के ऊपर लक्ष्य गया, क्रमबद्ध, क्रमबद्ध में घट का कार्य घट के समय में घट है। आहाहा! इसी प्रकार रोटी का कार्य रोटी के समय उसका कार्य रोटी का है, उसका कर्ता बेलन है या स्त्री है, वह कर्ता, यह बात है नहीं, अर्थात् वह परिणाम-परिणामी का तो निषेध किया अर्थात् कि व्याप्य-व्यापक का निषेध किया, अर्थात् कर्ता-कर्म का निषेध किया। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! जैनधर्म बहुत सूक्ष्म है। लोगों को सुनने को मिला नहीं। पड़े वे वाड़ा में पड़े रहे ऐसे के ऐसे। आहाहा!

वीतराग जैन परमेश्वर अनन्त द्रव्य कहते हैं, उस-उस द्रव्य के उस-उस समय के वे परिणाम वहाँ हैं, उसे दूसरा द्रव्य करे, तब तो वे परिणाम और परिणामी एक हो जाने से द्रव्य का नाश हो जाये। आहाहा! अब ऐसी बातें। परजीव की दया का, आयुष्य स्थिति है वह है, परजीव बचा, वह उसका कार्य तो वहाँ है उसके कारण, अब उसे निमित्त किसे कहना? वह दूसरे से बचा है, वह बात तो है नहीं, आहाहा! दूसरे ने उसकी दया पालन की, इसलिए बचा है, ऐसा तो है नहीं, ऐसा हो तो वह परिणाम और आत्मा परिणामी दोनों एक हो जायें। यह कार्य, उसका कर्ता वह परमाणु है, इसलिए व्याप्य-व्यापक उसमें उसका है। कर्ता-कार्य, कर्ता-कर्म, परिणामी-परिणाम उसमें हैं, जड़ का जड़ में, चैतन्य का चैतन्य में। आहाहा! उन जड़ के परिणाम का कर्ता आत्मा

तो नहीं, परन्तु उसका निमित्त कर्ता कहना हो तो वह किसे कहना? आहाहा! चेतनजी! क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : 'है' ऐसा कहकर चालू कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए भाई को पूछा इसमें 'कर्म' शब्द पड़ा है, परन्तु वह कर्म का अर्थ ही है, कार्य। आहाहा!

सूक्ष्म बात, बापू! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म! लोगों को—वाड़ावालों को मिला नहीं, ऐसे के ऐसे अन्धकार-अन्धकार में निकाला जगत ने। आहाहा! यह तो मैं करूँ, मैं करूँ। धन्धे के माल में कपड़ा है, वह बिकता है वापस कपड़ा वहाँ से जाता है, वह कार्य कपड़े का कपड़े से हुआ है, वह कार्य तो वहाँ है, अब निमित्त किसे कहना, इतना प्रश्न उठता है। वह उपादान का कार्य तो वहाँ से उससे हुआ है, आहाहा! समझ में आया? **उन्हें आत्मा व्याप्य...** अर्थात् कार्य और **व्यापक...** अर्थात् कर्ता। व्याप्य अर्थात् परिणाम और व्यापक अर्थात् परिणामी, इस **भाव से नहीं करता।** यह तो भगवान की वाणी सूक्ष्म है, भाई! यह कहीं वार्ता नहीं। आहाहा!

क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये... क्या कहते हैं? कि घट के परिणाम को मिट्टी करती है, वह मिट्टी व्यापक—कर्ता और घड़ा (उसका) कार्य, परन्तु यदि आत्मा वह व्यापक होकर उसका कार्य करे, तब तो दोनों द्रव्य एक हो जाये, उस मिट्टी में-घड़े में कुम्हार का आत्मा तन्मय हो जाये, एकाकार हो जाये। आहाहा! यह हाथ हिलता है, यह हाथ, वह तो उसका कार्य तो वहाँ उससे—हाथ से है ही, परन्तु वह कार्य यदि आत्मा करे, तो आत्मा वहाँ प्रविष्ट हो जाये साथ में तो आत्मा का नाश हो जाये। समझ में आया? आहाहा! अब ऐसी बातें, यह आत्मा हाथ हिला सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। यह हिलाने का कार्य तो है, हिलने का कार्य तो उसका उससे है, वह यदि आत्मा से हो तो आत्मा और पुद्गलद्रव्य दोनों एक हो जायें, तो आत्मा का नाश हो जाये। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह तन्मयपने का प्रसंग, तन्मय अर्थात् एकमेक हो जाये। आहाहा! यह दाढ़ जो हिलती है अन्दर, वह दाढ़ का हिलना उस दाढ़ का कर्म-कार्य दाढ़ में है। वह आत्मा यदि दाढ़ को हिलावे तो वह परिणाम और

यह परिणामी दोनों एक हो जायें, तो दाढ़ के परिणाम और आत्मा एक होने से आत्मा का नाश हो जाये। आहाहा! क्या हो? वीतराग मार्ग कोई दूसरे प्रकार का है पूरा। यहाँ तो (अज्ञानी) कहे यह दया पालो और यह करो और यह करो। क्या करे? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जगत के घट, पट, रथ आदि है न, भाई! सभी द्रव्य। समझ में आया? आहाहा! यह टोपी है, वह ऐसे-ऐसे जो व्यवस्थित पहनते हैं, वह कार्य तो टोपी का है, हाथ का नहीं, आत्मा का नहीं। यह टोपी ऐसे-ऐसे हो, उसका जो कार्य है, वह कर्म है, कर्म अर्थात् कार्य वह है, है। वह आत्मा से नहीं। आत्मा ने टोपी ऐसे खेंची, इसलिए रही, ऐसी बात एकदम झूठी है। अरर्र! ऐसा कहाँ बैठे? समझ में आया?

यहाँ यह शब्द १००वीं गाथा में डाला, पूरा सिद्धान्त! जैनदर्शन का पूरा रहस्य!! आहाहा! कि भगवान ने जो अनन्त द्रव्य कहे तो अनन्त द्रव्य में जिस द्रव्य का जो कार्य जिस समय में होता है, उसका दूसरा द्रव्य कर्ता नहीं, दूसरे द्रव्य का वह परिणाम नहीं, दूसरे द्रव्य का वह कार्य नहीं, इतना सिद्ध करके अब निमित्त किसे कहना, बस इतना। निमित्त से होता है, यह बात तो उड़ा दी है। समझ में आया?

मुमुक्षु : निमित्त शोधने की क्या आवश्यकता पड़ी?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी चीज़ है, दो चीज़ है न? ज्ञान स्व-परप्रकाशक है न? ज्ञान स्व को भी जाने और पर को भी जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। परचीज़ है, परन्तु परचीज़ है, उसमें पर के कार्य इसने किये, ऐसा नहीं है। अरे! आहाहा! समझ में आया? यदि पर के कार्य, यह कपड़े का कार्य, टोपी का कार्य, यह होंठ हिले उसका कार्य तो है, कहते हैं, उसका उसमें है। उसमें यदि आत्मा उसे करे तो वह परिणाम और परिणामी आत्मा दोनों एक हो जाये। आत्मा उसमें—जड़ में मिल जाये। आहाहा! कहो, बाबूभाई, आहाहा!

ऐसी बातें हैं, जगत से निराली हैं। दुनिया गहल-पागल। सब चतुर कहलाये न, वे सब पागल हैं, गहल। यहाँ परमात्मा कहते हैं कि हम जो कहते हैं, तुझे खबर नहीं। तू पागल है। आहाहा! ऐई! पण्डितजी! आहाहा! बहुत गाथा रखी है, ओहोहो! यह तो

प्राप्य, विकार्य को देखता था न एक-एक गाथा में दो-दो बार है। ७६-७७-७८-७९-१०७ दो-दो बार, हों! क्योंकि दो बार डालना और वह स्वयं अपना प्राप्य, विकार्य और सामने का प्राप्य विकार्य, आहा! क्या क्रमबद्ध की शैली! आहाहा!

जूते का कार्य, चमार क्या कहलाता है वह? मोची, मोची करे, उसका आत्मा (करे) तो उस जूते के कार्य का परिणाम और कार्य उसका कर्ता, वह तो दोनों तन्मय हो जायें—इकट्ठे। आहाहा! ऐसी बात किसे बैठे? सुनने को मिलती नहीं। बैठे तो कहाँ से बेचारे को। क्या करे? आहाहा! समझ में आया? मोची-कुम्हार, जितने सोनी, वह स्वर्ण का कार्य होता है न गहना, वह गहना है, कहते हैं वह सोने का कार्य है, सोने का कार्य, कार्यरूप से वह है। वह गहना हुआ, वह सोने का कार्य है। आहाहा! वह सोनी ने किया नहीं। अरे... अरे...! ऐसी बातें अब। सोनी करे तो सोनी परिणामी और उसका परिणाम, वह तो दोनों एकमेक हो जाये। आहाहा! बाबूभाई! यह ऐसी बातें सुनना, वह जैन में जन्मे हो बेचारों ने सुनी न हो वाड़ा में जन्मे उन्होंने। आहाहा! अभी व्यवहार श्रद्धा की खबर नहीं होती, निश्चय तो कहाँ रहा? समझ में आया?

यह घट-पट आदि अर्थात् अनन्त पदार्थ जड़ के, उनके कार्यकाल में वह कार्य है, कर्म है, कार्य है, आहा! उसे आत्मा व्याप्य-व्यापक (भाव से) तो करता नहीं, उस जड़ के, किसी के वाणी के, शरीर के, घट पट के, वस्त्र के, रोटी के... आहाहा! कुम्हार तावड़ी करे, क्या (कहलाता है) वह कहलाये? क्या कहलाता है वह? दाल-भात पकाने की हण्डी, तुम्हारी (भाषा) भूल जाते हैं। वह हण्डी है, वह मिट्टी का कार्य हुआ है। कुम्हार यदि वह कार्य करे तो कुम्हार वहाँ एकमेक हो जाये। आहाहा! ऐसा वह कहाँ वस्तु। ऐई! चिमनभाई! ऐसी भगवान की पुकार है। जिनेश्वरदेव, केवली तीर्थंकरदेव (की पुकार है) आहाहा!

यह घट-पट आदि और क्रोध अर्थात् जड़ कर्म हों कर्म, जड़ कर्म का कार्य जड़ से तो है, उस काल में उसका कर्ता आत्मा है, ऐसा नहीं है। जड़ कर्म आत्मा बाँधे, ऐसा नहीं है। क्योंकि वह बाँधने का कार्य तो जड़ में उस समय में वह है, उसे आत्मा करे तो आत्मा वहाँ एकमेक हो जाये, उसके परिणाम में परिणामी मिल जाये, उसके कार्य

में कर्ता मिल जाये। आहाहा! अरे! ऐसी बातें अब, यह क्या होगा? यह कहते हैं यह जैनधर्म की बात होगी यह? भाई! अभी तक सुना दया पालना, व्रत करना, अपवास करना, रात्रिभोजन नहीं करना, ऐसा सब सुनते हैं, कहते हैं, धूल भी नहीं सुन न अब। वह सब क्रिया करते हैं... करते हैं... करते हैं.... यह मिथ्या अभिमान है। समझ में आया? आहाहा!

इस (एक) लाईन में तो कितना भरा है अन्दर! **उन्हें आत्मा...** उन्हें यह आत्मा, या किसी का आत्मा कार्य-कारणरूप से, परिणाम-परिणामीरूप से, कर्ता-कर्मरूप से **व्याप्य व्यापकभाव से नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का...** परद्रव्य के साथ एकमेक होने का, **प्रसंग आ जाये।** कहो, बराबर है? भाषा तो सादी है, प्रभु! भाव तो है वह है। अरे! ऐसी कहाँ निवृत्ति बनियों को। ऐई मनहर! पैसे के कारण, धन्धे के कारण, निवृत्ति कहाँ इसमें, पूरे दिन होली सुलगती हो फिर, पास में दो करोड़, पाँच करोड़ इकट्ठे हुए, वह देख लो तुम्हारे तो, वह पागल। आहाहा! कहते हैं कि वह पैसा जो आया, वह कार्य हुआ, वह पैसे का कार्य है, उसे आत्मा ऐसा माने कि मैंने कमाया, इसलिए पैसे आये (तो वह) मूढ़ है। आहाहा!

ऐसा कहाँ होगा? भगवान के मार्ग में ऐसा होगा? यह क्या है यह? यह भगवान की वाणी है। सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, संवत् ४९ में, दो हजार वर्ष हुए, वहाँ से यह वाणी आयी है। आहाहा! भगवान का पुकार है जगत के समक्ष कि तुम भिन्न आत्माओं, भिन्न के कार्य करो, ऐसा मानो (तो) तुम्हारे आत्मा का नाश हो जाता है। आहाहा! बाबूभाई! यह सब धन्धा होशियार व्यक्ति करे न सब, दुकान पर बैठा हो और लोहे का व्यापार, लोहे के, कपड़े के व्यापारी, यह हीरा-माणेक के झबेरी। कहाँ गये शान्तिभाई, नहीं आये? जवाहरात हीरा-माणेक ऐसे देना और देना और लेना इसका। इसका यह मूल्य है और इसका यह मूल्य है, ऐसी भाषा, उस भाषा का भी तू कर्ता नहीं। भाषा की पर्याय होती है, वह तो भाषा के कारण से होती है। आहाहा!

तथा... यह तो वहाँ एक बात रही। अब इससे आगे जाना चाहते हैं। **वह**

निमित्त-नैमित्तिकभाव से ही उनको नहीं करता... आहाहा! जो कार्य जड़ का जिस समय में है, उस समय में है। उसका दूसरा कर्ता नहीं, यदि दूसरा करे तो दोनों एकमेक हो जाये, यह बात वहाँ रही। अब कहते हैं, निमित्त-नैमित्तिकभाव से वह कार्य वहाँ हुआ है, परन्तु दूसरा आत्मा उसका निमित्त कर्ता हो, ऐसा है या नहीं? आहाहा! निमित्तरूप से है या नहीं आत्मा? उपादानरूप से तो कार्य उसका उसमें जड़ का जड़ में, वाणी का वाणी में, शरीर का शरीर में। आहाहा! **तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको नहीं करता...** यह रोटी जो होती है, उस रोटी के परिणाम का परिणामी कर्ता परमाणु है। यह स्त्री यदि रोटी करे तो वह स्त्री का आत्मा रोटी में एकमेक हो जाये, तो आत्मा का नाश हो जाये। परन्तु अब तब रोटी हुई, वह तो उसका कार्य हुआ, उस समय निमित्त, किसका निमित्त? कि यदि आत्मा का निमित्त कहो तो आत्मा तो शाश्वत् रहनेवाला है, तो जगत के कार्य के समय उसे (कायम) उपस्थित रहना पड़ेगा। आहाहा!

सूक्ष्म बातें हैं, भगवान! आहाहा! गाथा १००वीं बहुत कठिन है। **निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको नहीं करता...** अर्थात् क्या कहा? कि घड़ा हुआ, रोटी हुई, कपड़ा हुआ, गाड़ी हुई, यह भाषा हुई, होंठ हिला, यह सब कार्य उससे जड़ का जड़ से हुआ, परन्तु उसके निमित्तरूप से आत्मा और वह नैमित्तिक कार्य, ऐसा कहलाये या नहीं? वह कार्य नैमित्तिक और आत्मा निमित्त, इतना निमित्त-नैमित्तिकरूप से है या नहीं? आहाहा! निमित्त से हुआ नहीं, हुआ है तो उससे, परन्तु इसे निमित्त—आत्मा को निमित्त कहा जाये या नहीं? कि यह निमित्त और यह नैमित्तिक उससे हुआ, ऐसा निमित्त यहाँ कहना या नहीं? आहाहा! ऐ... बाबूभाई! यह सब होशियारी कहाँ गयी सब बनियों की सब? आहाहा! पाँच-पाँच हजार पैदा करे महीने में, व्यवस्था करे कि ऐसे बराबर ध्यान रखे, बहियाँ बराबर लिखे, ग्राहक को सम्हाले, नहीं?

मुमुक्षु : अभिमान है अभिमान।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! भगवान वीतराग का पुकार है, जिनेश्वरदेव का जगत के समक्ष (फरमान है) कि एक बार तू सुन तो सही प्रभु! यह सब कार्य के काल में, कार्य

तो वहाँ होता है, उस कार्य का तू कर्ता नहीं, तू कर्ता हो तो वह कर्ता-कर्म दोनों एक हो जाये। आहाहा! परन्तु अब निमित्तरूप से कर्ता या नहीं? उसकी उपस्थिति है उतना तो है या नहीं? आत्मा की उपस्थिति है, बस! कार्य तो भले उससे हुआ। समझ में आया? अरे रे! ऐसी बातें करे। चिमनभाई! सुनने को मिलती नहीं, भाषा क्या कहें? प्रभु का मार्ग ऐसा अलग है। वीर का मार्ग, वह मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं है। जिनेश्वर के अतिरिक्त, परमेश्वर वीतराग के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। उनके वाड़ावालों को भी खबर नहीं तो दूसरे की तो बातें क्या करना?

आहाहा! कहो दास, क्या है यह, यह तुम्हारे मील के काम किये नहीं सब तुमने, मुफ्त में पैसे देते होंगे हजार-बारह सौ वेतन? यह हजार-बारह सौ रुपये जो आवें, वह आने का कार्य तो रुपयों का-जड़ का है, वह आत्मा उसका लाने का कार्य करे तो आत्मा उसमें एकमेक हो जाने से आत्मा का नाश हो जाये। ऐ रसिकभाई! ऐसा सुना है कहीं? ऐ मनहर! यह बहुत पैसेवाला है। पैसे इकट्ठे किये हैं, ऐसा लोग मानते हैं। आहाहा! धूल भी नहीं, कहते हैं यहाँ तो। पैसे के काल में पैसे यहाँ इस ओर आये, वह तो पैसे के परमाणु का कार्य है। वह आत्मा यहाँ पैसा लाया, यह तो है ही नहीं, परन्तु कहते हैं पैसा आया उसमें आत्मा का निमित्तपना तो है या नहीं? आये तो उसके कारण से, उसके कार्य से होकर आये, परन्तु आत्मा को निमित्त कहना या नहीं? कि, नहीं? ले! उसका उपादान तो नहीं परन्तु उसका निमित्त भी नहीं? आहाहा! अब पागल जैसा लगे यह तो पागल। ऐसी बातें हमारे जैन धर्म में होगी? बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव का पुकार है, महाविदेह में, यह वाणी महाविदेह की है। आहाहा! समझ में आया? गाथा बहुत ऊँची आयी है। रामजीभाई मौके से नहीं हैं। मंगलवार को आनेवाले हैं। मंगलवार को आयेंगे। आहाहा! यह पृष्ठ जो ऐसा ऊँचा होता है न, देखो! यह पर्याय होती है, परमाणु तो कायम रहनेवाले है। यह उसकी पर्याय है, यह पर्याय अर्थात् कार्य है। यह कार्य अँगुली करे तो अँगुली उसमें एकमेक हो जाये; आत्मा उसे ऊँचा करे तो आत्मा कर्ता और उसका कार्य दोनों एकमेक हो तो आत्मा उसमें नाश हो और मिल जाये, यह! अरे! ऐसी बातें! समझ में आया? कहो, वजुभाई! क्या यह मकान-बकान किये न अभी तक? वांकानेर में बड़े इंजीनियर

थे। मकान-बँगले बनाये होंगे। यह विशाल मकान हुआ, इन्होंने किया होगा? ध्यान तो ये रखते थे। अरे! यह मकान का यह जो कार्य हुआ, वह तो उस समय में उसके परमाणु का कार्य है, अरे प्रभु! यह कैसे बैठे जगत को? उसका कर्ता आत्मा, इंजीनियर और कारीगर उसका कर्ता नहीं। उस समय में उन परमाणुओं का कार्य वहाँ है, उस समय में वह होनेवाला, वह हुआ है, परमाणुओं से हुआ है, जड़ से हुआ है। अरर! उसे (कारीगर) और चतुर इंजीनियर करे तो इंजीनियर उसमें घुस जाये साथ में, उसके परिणाम में। उसका परिणाम हो तो परिणाम वहाँ चला जाये, बाबूभाई! आहाहा! अरे रे! ऐसी बात अभी (यह बात) विच्छेद हो गयी। सम्प्रदाय में दया पालो और यह करो। अरर्र! मार डाला जगत को।

यहाँ कहते हैं कि पर की दया (के) परिणाम जो होते हैं, वह पर की दया से जीना हो, वह परिणाम आत्मा करे तो आत्मा उसके परिणाम दया के जो दशा है न सामने की, उसमें तन्मय हो जाये, इसलिए पर की दया आत्मा पाल नहीं सकता। अरर्र! कठिन बात! बाबूभाई! वहाँ उसका आयुष्य और आत्मा को इकट्ठा रहने का कार्य है, वह कार्य उसका वहाँ है, उसका यह आत्मा कहे कि मैं इसे बचाऊँ तो तेरे परिणाम, वे परिणाम तेरे और तू परिणामी, दोनों एकमेक हो जायेंगे। अरर्र! अब भी उसमें निमित्त कौन कहलाये? दया पालने में दया हुई तो उससे, परन्तु इस आत्मा को निमित्त कर्ता कहलाये या नहीं? उपादान कर्ता उसके कार्य का कर्ता वहाँ हुआ, परन्तु इसे—आत्मा को निमित्तकर्ता कहना, निमित्त-नैमित्तिक कहना या नहीं? आहाहा! सामने पड़ा है या नहीं? पुस्तक में सामने लेख है या नहीं? यह तो भगवान के लेख हैं, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सीमन्धर परमात्मा की वाणी है। प्रवचनसार! प्रवचनसार अर्थात् दिव्यध्वनि का सार। भगवान की ओमध्वनि निकली, उसका यह सार है। आहाहा!

तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको करता नहीं... 'भी' क्यों कहा? कि वह उसका कार्य आत्मा और आत्मा उसका कर्ता, ऐसा तो है नहीं, परन्तु **निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको करता नहीं...** आहाहा! यह काम जब होता है, वह जड़ का जड़ के समय वह हिलने के परिणाम, यह अँगुली के परिणाम, भाषा के परिणाम, यह

होंठ हिलने के उस-उस काल में उसके परिणाम हों उससे। आहाहा! वह-वह प्राप्य और उसका वह परमाणु उसे पहुँचता है। आहाहा! प्राप्य के ऊपर (ध्यान) गया था आज। आता है न (समयसार गाथा) ७६, ७७, ७८ प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य तीन बोल हैं। सूक्ष्म बात है बापू! आहाहा! वह परमाणु की वह पर्याय, वह-वह उसका प्राप्य है अर्थात् होनेवाला वह हुआ, उसे परमाणु पहुँचता है, दूसरा आत्मा उसके कार्य को (नहीं) करता। आहाहा! पंगु? इन सबमें पंगु? वह कुछ नहीं कर सकता? पंगु? आहाहा! पर के लिये पंगु। प्रभु! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

परन्तु पर के कार्य उसके काल में हुए, उसमें आत्मा को निमित्त और नैमित्तिक, ऐसा सम्बन्ध कहना या नहीं? आहाहा! समझ में आया? यह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी उनको करता नहीं। आहाहा! निमित्तरूप से भी उनका कर्ता आत्मा नहीं। आहाहा! क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आवे। आहाहा! यदि आत्मा निमित्त कर्ता उस अवस्था के काल में निमित्त कर्ता हो, तब तो जहाँ-जहाँ जड़ की अवस्था हो, वहाँ-वहाँ द्रव्य की उपस्थिति रहना चाहिए, तो उससे पृथक् नहीं पड़ सकेगा। आहाहा!

यह होशियार नामा लिखता है या नहीं? पाँच-पाँच हजार का वेतन हो, बड़े करोड़पति में। इन सुमनभाई को आठ हजार वेतन मिलता है न, लो न? बड़ा है न, जामनगर का बनिया है न व्यापारी, साढ़े तीन करोड़ की आमदनी है, वर्ष की साढ़े तीन करोड़ की आमदनी बनिये को। उसमें नौकर है, अपने सुमनभाई, रामजीभाई का (पुत्र)। आठ हजार देते हैं, आठ हजार मासिक। आहाहा! वह आठ हजार का पैसा वह सेठ दे सकता है? यह आत्मा पैसे को ले सकता है? क्या है परन्तु तब यह सब? दे सकने का कार्य नहीं कर सकता, ले सकने का नहीं कर सकता। परन्तु देने-लेने के समय का कार्य तो उसके परमाणु का, उन परमाणुओं से हुआ। परन्तु आत्मा को निमित्तरूप से तो कहना या नहीं, आत्मा को, उस कार्य के समय आत्मा निमित्त है, कर्ता, इतना तो कहना या नहीं? आहाहा!

यह किस प्रकार का उपदेश यह, ऐ रसिकभाई! कलकत्ता में सुना नहीं होगा कभी यह। आहाहा! समझ में आया? पहले तो यह सिद्धान्त सिद्ध किया भगवान ने,

कि जो कुछ जड़ में जड़ की पर्याय का कार्य जड़ के कारण जिस समय में जो कार्य होता है, वह है, बस। इसलिए आत्मा उसका कर्ता नहीं। नहीं तो एक कार्य का दूसरा कर्ता हो जाये तो दूसरा जीव वहाँ मिल जाये, अब वह कार्य तो वहाँ हुआ, कहते हैं, परन्तु अब आत्मा को निमित्तकर्ता, तो निमित्त है साथ में खड़ा है, दुकान पर बैठा है और व्यवस्थित काम लेता है, यह सब नौकरों से। लो, दस-बीस नौकर बड़े, गये थे न हम तब उन रामजीभाई ने, रामजी हंसराज मुम्बई में नहीं? अमरेलीवाले, तब गये थे और नौकर सब ही तीन-तीन हजार वेतनवाले। नौकर के ठाठ पड़े थे। चरण कराये थे वहाँ, हम गये तो सब खड़े हो गये। तीन-तीन हजार मासिक वेतन और बड़ा कारखाना, रामजी हंसराज अमरेलीवाले। गुजर गये बेचारे। यह सब काम नौकरों से लेना, वह काम आत्मा कर सकता है या नहीं? आहाहा! वहाँ सेठ जब जाये, तब खड़े हो जायें, लो! यह खड़े होने का कार्य सेठ के कारण हुआ या नहीं? पहले क्यों नहीं था? पहले बैठने की पर्याय का कार्य था, फिर खड़े होने का कार्य जड़ का है वह तो। आहाहा! अरेरे! यह कैसे जँचे? यह नौकर का आत्मा भी इस खड़े होने के कार्य को भी नहीं करता।

प्रभु! कठिन काम है, भाई! यह तो पागल जैसा गिने, ऐसा है पागल, पागल दुनिया परमात्मप्रकाश में लिखा है न, दुनिया पागल, उसे सत्य बात को कहनेवाला पागल दिखता है, ऐसा है। परमात्मप्रकाश में कथन है। यह सब अरबोंपति, करोड़ोंपति, सब पागल हैं, हमने किया... हमने किया... हमने किया...। बापू के पास नहीं था और बाहुबल से इकट्ठा किया। और उद्योगपति नहीं कहते? पाँच-पचास करोड़ इकट्ठे किये हों और उद्योगपति। इसका बाप कुछ करता नहीं था और इसने उद्योग बढ़ाया। धूल भी नहीं किया, सुन न! आहाहा! यह उद्योग के बाहर के कार्य का तू पति-स्वामी है, मूढ़ है, तेरे आत्मा का तू नाश कर डालता है। आहाहा! परन्तु उस कार्य के समय आत्मा है, उसे निमित्त कर्ता कहना या नहीं अब? कार्य तो भले उससे हुआ।

बहुत सूक्ष्म गाथा। यह १००वीं गाथा (संवत्) १९९१ में जामनगर में वाँचन हुई थी। जामनगर है न, बड़े डॉक्टर थे पहले। प्राणजीवन डॉक्टर थे। ढाई हजार वेतन। माणेकचन्दभाई के पुत्र। हमारे तो सबकी पहिचान है न, ६६ वर्ष तो दीक्षा को हुए हैं।

सब कितने ही परिचित हुए। यह १००वीं गाथा वाँचते थे, सम्प्रदाय में थे तब तो ९१ का मगसर महीना यह १००वीं गाथा चलती थी। हम तो सम्प्रदाय में भी यह वाँचते थे। यह प्राणजीवन डॉक्टर (कहे), महाराज! यह तुम न्याय से यह बात करते हो, वह तुम्हारे न्याय में काम आयेगा, मेरे दवाखाने में देखने आओ। एक छह लाख की मशीन है वहाँ जामनगर, क्या कहलाता है? सोलेरियम, सोलेरियम छह लाख की मशीन है जामनगर। तब छह लाख की, हों! (संवत्) १९९१ की बात है, अभी उसे ही चालीस वर्ष हो गये। ऐई पूरी मशीन चले। ऐसे सब फोड़े-बोड़े हो न लड़कों को, उन्हें सूर्य की किरणें लगाकर ऐसे करे, मशीन देखी थी वहाँ। यह सब मशीन हिलना और ऐसे करे तो मशीन हिले न, वह कार्य आत्मा का है?

यह गाथा चलती थी। डॉक्टर आते थे, सब आते थे। बड़ा महेरबानजी वहाँ पारसी, डॉक्टर था, डॉक्टर नहीं दीवान। महेरबानजी दीवान था, वहाँ वह भी व्याख्यान में आता था। सब आवे तो सही, सब बड़े नाम धरानेवाले। समझे कुछ नहीं। आहाहा! महेरबानजी पारसी थे, ऐसे लौकिक नीतिवाला, हजार (रुपये) वेतन था (दो सौ बढ़ाया) दरबार ने बारह सौ कर दिये। हजार वेतन था। यह ९१ की बात है, हों! ९१ के पहले की बात है, ९०। हजार का बारह सौ किया। देखा कि यह बारह सौ किसने किया? मुझे पूछे बिना किसने किया यह? साहेब, दरबार ने किया। दरबार ने किया अर्थात् क्या? दरबार का काम हो तो मैं कुछ ढीला करूँ, दूसरा करूँ, इसलिए यह दो सौ भरे, निकाल डालो दो सौ। ऐई! ऐसा था। महेरबानजी पारसी था। आता था, व्याख्यान में आता था, उसका लड़का व्याख्यान में आता था। दो सौ भरकर तुमको ऐसा करना है कि राज्य का काम आवे तो मुझे कुछ ढीला / दूसरा करना, मैं यह नहीं कर सकूँगा। मैं तो रैयत का काम जो कायदेसर होगा, उतना राज्य का करूँगा, दो सौ रुपये निकाल दिये। वे उस दरबार ने चढ़ाये हुए निकाल दिये। वे बेचारे सुनने आते थे। परन्तु यह १००वीं गाथा, सूक्ष्म बहुत हो। आहाहा!

यह बाहर के किसी भी कार्य का कर्ता आत्मा तो नहीं, क्योंकि वह कार्य उस काल में उससे निश्चय होने का था, वह हुआ। उस कार्य के काल में आत्मा को निमित्त

और नैमित्तिक इतना सम्बन्ध तो कहना या नहीं ? देवीलालजी ! उसे करता नहीं, क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक भी नहीं। आहाहा ! अरे रे ! भगवान ! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की पुकार जगत के समक्ष यह है। आहाहा ! क्योंकि निमित्त-नैमित्तिकरूप से नहीं करता। क्योंकि यदि **ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आयेगा...** तो जगत की अवस्था जहाँ-जहाँ हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को उपस्थित रहना ही पड़ेगा। आत्मा उससे पृथक् नहीं हो सकेगा। आहाहा !

क्या न्याय ! लॉजिक-न्याय से सिद्ध करते हैं। न्यायम् यह मार्ग है प्रभु का। 'नि' धातु है, 'नि' अर्थात् जैसा सत्य स्वरूप है, उसमें ज्ञान को ले जाना, इसका नाम न्याय। आहाहा ! क्या कहा, समझ में आया ?

कार्यकाल में कार्य परमाणु जड़ में होने काल में उसका होगा, उसमें आत्मा उसे कर नहीं सकता। एक बात। परन्तु होने के काल में हो, उसमें आत्मा को निमित्त कहना या नहीं ? आहाहा ! अलग चीज़ है, उतना निमित्त तो कहो कि भाई ! यह एक है निमित्त इसमें ? हुआ है उसके काल में वह कार्य, समझ में आया ? आहाहा ! कहो, कान्तिभाई ! सब सुना है, मैं करता हूँ, मैं करता हूँ पूरे दिन सब होता है वहाँ व्यापार और धन्धा। भरत को कहे कि कर यह अमुक, कर अमुक, ढींकड़ा कर यह तो दृष्टान्त। सब है न घर-घर में। आहाहा ! बापू ! वीतराग जिनेश्वरदेव तीन लोक के नाथ का पंथ कोई अलग प्रकार का है, कहीं दुनिया में इसके साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा !

कितना भरा है इतने में, **निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उनको) नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जायेगा....** जगत की जहाँ-जहाँ अवस्था का कार्य हो, वहाँ-वहाँ आत्मा का निमित्तपना वहाँ होना चाहिए, ऐसा हो। तो आत्मा पृथक् नहीं पड़ सकेगा। आहाहा ! समझ में आया ? बापू ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहाहा !

प्रभु का मारग है शूरों का यह कायर का काम नहीं वहाँ। समझ में आया ? आहाहा ! 'वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल, औषध जो भवरोग के, कायर को प्रतिकूल।' आहाहा ! जिसका कलेजा कायर है, नपुंसक है, पावैया, हीजड़े, पर का कार्य करनेवाले

माननेवालों को प्रभु नपुंसक कहते हैं, पावैया—आहाहा! क्या गाथा है! 'क्लीब'—नपुंसक कहते हैं। आहाहा! जैसे नपुंसक को प्रजा नहीं होती, उसी प्रकार पर का कार्य करूँ और निमित्तपना माने, उसे धर्म की प्रजा नहीं होती। आहाहा! उसे धर्मदशा नहीं होती। अरे! ऐसी बातें अब। बात-बात में अन्तर! पागल ही माने ऐसा है। आहाहा!

यदि आत्मा को निमित्तकर्तारूप कहो तो जगत के जितने कार्य हों, वहाँ-वहाँ उसे निमित्तपने उपस्थित रहना पड़े। आहाहा! **अनित्य निमित्तरूप से उसका कर्ता है।** क्या कहते हैं अब? **अनित्य (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके कर्ता हैं...** सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या कहते हैं? परमाणु से लेकर यह स्कन्ध के कपड़े-रस आदि पूरी दुनिया की चीज़ें, उन चीज़ों का कार्य तो उस काल में उसके समय में वह होता है, उसमें आत्मा कर नहीं सकता, यह बात तो ठीक। परन्तु आत्मा की उपस्थिति रहना हो, इतना तो कहो, उस कार्य के काल में उपस्थित होता है, बस। कार्य करता नहीं परन्तु वह उपस्थित होता है, निमित्त और नैमित्तिक इतना सम्बन्ध तो है या नहीं? कि नहीं। यदि ऐसा सम्बन्ध हो तो जगत की प्रत्येक अवस्था के काल में उस जीव को वहाँ उपस्थित रहना पड़े, और इससे वह रागरहित होकर आत्मा का धर्म नहीं कर सकेगा। आहाहा! ऐसी बात अब कहाँ एक-एक बात में अन्तर, एक घण्टे में कितनी बातें आवे? आहाहा!

तब क्या है अब? **(जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूप से...** परद्रव्यस्वरूप कार्य के कर्ता हैं, (ऐसा) कहा जाता है। क्या कहा यह? कि जो यह घट-पट रथादि जड़ के कार्य होते हैं, उस काल में वे होंगे, अब उन्हें आत्मा है—नित्य है, इसलिए उनका निमित्तकर्ता नहीं। तब अब निमित्तपना किसे लागू पड़े? कि जो प्राणी, विकल्प / राग है और योग का कर्ता होता है अज्ञानी। आहाहा! वह राग विकल्प उठा है, उसका जो कर्ता होता है और योग का कम्पन है, उसका जो कर्ता होता है अज्ञानी, वह योग और राग उस कार्यकाल में निमित्त कर्ता, योग को और राग को निमित्तकर्ता कहा जाता है।

फिर से, चिमनभाई! बराबर मौके से उपस्थित हैं, ठीक है इसमें। मुम्बई में

होली सुलगी, वहाँ तो सब। अरे रे! वीतरागमार्ग क्या है प्रभु का। कहते हैं कि जगत के कार्यकाल में, कार्य तो उसका उससे होता है, दूसरे से नहीं होता। आत्मा से। तो आत्मा उसे निमित्तरूप से है, ऐसा कहना या नहीं? ऐसा भी नहीं है। क्योंकि आत्मा निमित्तरूप से हो तो नित्य प्रत्येक अवस्थाओं में उसे रहना चाहिए। तो ऐसा तो होता नहीं। तब अब निमित्तपना कहना किसे? उपादान तो उसका कार्य उसमें हुआ और उस काल में हुआ, निमित्त आया, इसलिए हुआ, यह तो प्रश्न है नहीं। उस काल में कार्य उसके जड़ के जड़ के काल में उसके कार्य हुए। आहाहा! कपड़ा जड़ के कारण वहाँ बुना गया। आहाहा! घड़ा मिट्टी के कारण वहाँ हुआ, आहाहा! गाड़ी और रथ, वह लकड़ी के कारण वहाँ हुए। सुथार और कुम्हार के कारण से नहीं। आहाहा! परन्तु उस कार्य के समय आत्मा को निमित्त कहो, तो आत्मा नित्य है, तो उस कार्य में उसे निमित्तरूप से कायम रहना चाहिए, इसलिए (आत्मा) निमित्त भी नहीं। तब अब निमित्त कहना किसे? उपादान तो एक ओर रह गया। उसक कार्यकाल में वहाँ (कार्य) हुआ। आहाहा!

कि निमित्त उसे कहना कि **अनित्य ऐसे (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग...** उपयोग अर्थात् इच्छा। इच्छा जो राग होता है न? उस राग का जो कर्ता अज्ञानी होता है, वह दया, दान का, व्रत का विकल्प उठा है, उसका अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव उसका राग और मिथ्यादृष्टि का कम्पन / योग, उस कम्पन का कर्ता होता है, वह योग और राग इस जगत के कार्यकाल में उस योग और राग को निमित्त कर्ता का आरोप दिया जाता है। आहाहा!

यह तो गाथा आवे तब आवे न? यह कहीं...। योग और उपयोग निमित्तरूप से परद्रव्य के कार्य कर्ता हैं, निमित्तरूप से कर्ता हैं, वह कार्य तो वहाँ इनका नहीं परन्तु निमित्तरूप से कर्ता ये कहे जाते हैं। कौन? कि राग और योग का कम्पन वह इसके निमित्तपने उन्हें कहा जाता है; आत्मा को नहीं। आहाहा!

अब यह योग और राग को निमित्त कहा जाता है, किसके? कि जो कोई राग और योग का कम्पन मेरा कार्य है, वह कर्ता (होकर) अज्ञानी मूढ़ मानता है, उसके

योग और राग उस कार्यकाल में निमित्त कहे जाते हैं। आहाहा! समझ में आया? **योग और उपयोग ही (रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपना विकल्प...** राग **और (आत्मप्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण...** देखा! आहाहा! आत्मा भी अज्ञानी, वह दया के परिणाम राग हैं, उन्हें करे, वह राग मेरा कर्तव्य है, ऐसा माने, योग कम्पन है, वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा माने। वह अज्ञानी का योग और राग कार्यकाल में उसे निमित्त योग और राग को कहा जाता है।

ऐसा कहाँ से निकाला, कोई कहे? कहता है, भाई! हम तो अभी तक समझते थे कि दया पालो, व्रत करो, सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, ऐसा था, रात्रिभोजन न करो, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन करो, छह परबी कन्दमूल न खाओ। अरे भगवान! यह सब बातें सुन न! यह सब कार्य है, वे जड़ के-जड़ के छूटने के हों, उस काल में उसके कार्य होते हैं, उसमें वह कार्य मैंने किया, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है परन्तु उस कार्य में निमित्तरूप से आत्मा को मानो तो उस निमित्त को कायम रहना पड़ेगा। उससे कभी पृथक् नहीं होगा। परन्तु अज्ञानी के योग और राग का कर्ता अज्ञानी होता है। जो अनित्य है, योग का कम्पन और दया-दान के परिणाम, वे मेरे कर्तव्य हैं। और मेरा कार्य है, ऐसा जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मानता है, उसका योग और राग उसके कार्यकाल में, कार्यकाल तो उसका उससे हुआ, परन्तु इस अज्ञानी के योग और राग कर्ता होनेवाला, उसके योग और राग को निमित्त कहा जाता है। समझ में आया? है या नहीं उसमें? अरे! संसार की बहियाँ देखनी हो, मिलान करना हो तो मिलावे चतुर, केरोसिन जलाये रात्रि में मिलावे, नामा मिलावे। यह भगवान क्या कहते हैं, इसका नामा मिलाया है कभी यहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी के योग और उपयोग को निमित्तकर्ता का उपचार भी लागू नहीं पड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अभी देरी है, लम्बी बात है अभी। धर्मी जीव, जिसे आत्मज्ञान है, वह राग और योग का कर्ता नहीं। उस जीव को तो राग और योग ज्ञान में निमित्त होते हैं, यह अभी आगे आये तब (बात करेंगे)। सूक्ष्म बात, बापू! यह तो तीन

लोक के नाथ जिनेश्वर परमेश्वर की यह वाणी है। आहाहा! यह कहीं ऐरे-गैरे की (बात) नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान प्रभु महाविदेह में विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में गये थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र रचे। भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा!

रागादि विकार... जो कुछ राग होता है न, दया का, दान का, व्रत का, उस राग का जो कर्ता होता है अज्ञानी, और उसका कम्पन होता है प्रदेश का, उसका जो कर्ता होता है अज्ञानी, वह अज्ञानी कर्ता हो वह राग और योग दूसरे के कार्यकाल में उसे निमित्त कहा जाता है, क्योंकि वह तो नाशवान है, अनित्य है और वह टलेगा तो फिर नहीं कर सकेगा, निमित्त भी नहीं होगा। यहाँ तो जब तक योग और राग का कर्ता है, तब तक पर के कार्यकाल में तो वहाँ कार्य होगा ही और निमित्तकर्ता इसे कहने में आयेगा। विशेष बात है.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९९, गाथा-१००, दिनांक १८-०२-१९७९, रविवार, माघ कृष्ण-६

समयसार १०० गाथा। फिर से। वहाँ वह वापस मिलान खाये। एकदम छठी लाईन है। वास्तव में निश्चय से यथार्थरूप से घट का, पट का, वस्त्र का, रथ का, गाड़ा का या परद्रव्यस्वरूप किसी भी पर्याय का आत्मा कर्ता नहीं है। घड़ा हो या वस्त्र हो, रोटी हो या रथ हो या गाडा हो या यह हाथ की अवस्था हो, उसे आत्मा नहीं करता। किस प्रकार? और 'क्रोधादि' जो कर्मबन्धन है न? कर्म का बन्धन जो है, जड़ का, उसके परिणाम को भी आत्मा करता नहीं। **वास्तव में जो घटादिक...** अर्थात् घट से, घड़े से लेकर जगत की सभी चीज़ें पर और क्रोध अर्थात् अन्दर जड़कर्म का बन्धन, आहाहा! उसे, वह परद्रव्यस्वरूप कर्म है, वह परद्रव्यस्वरूप कार्य है, इसका अर्थ यह हुआ कि उस समय वह कार्य उसका घट—घड़ा वह कार्य है, वस्त्र का कार्य, मकान का कार्य, गाड़ा का कार्य, या रोटी का कार्य उस समय वह कार्य है। उसे यह आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तो करता नहीं। आहाहा!

उस परचीज़ के परिणाम को, वह परिणाम कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा तो नहीं। तथा परिणाम कर्म और आत्मा करनेवाला, ऐसा भी नहीं, तथा परद्रव्य के परिणाम और आत्मा परिणामी, वह परिणामी-परिणाम ऐसा भी नहीं। अरर्र! आहाहा! यह व्याप्य-व्यापकभाव से अर्थात्? व्याप्य अर्थात् कार्य—अवस्था और व्यापक अर्थात् उसका करनेवाला, ऐसा परपदार्थ के परिणाम 'है', परपदार्थ के परिणाम 'है', उस समय आत्मा उसका कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा है नहीं। व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता है नहीं। आहाहा! **क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये...** जगत की जड़ चीज़ों के परिणाम हैं, वहाँ परिणाम उसका है, उसे यदि आत्मा करे तो आत्मा वह परद्रव्य में एकमेक हो जाये। आहाहा! समझ में आया? यह शरीर जो हिलता है, ऐसे-ऐसे, वह उसका कार्य परमाणु का, वह है, उस समय में वह कार्य है। उसे आत्मा यदि व्याप्य अर्थात् कार्य और स्वयं कर्ता, ऐसा हो, तो आत्मा उसमें—जड़ में एकमेक हो जाये। आहाहा.... ऐसा है। **क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये...** एक बात। समझ में आया?

पर जीव बचता है, उसका आयुष्य और आत्मा की उसमें रहने की योग्यता, इस प्रमाण का कार्य वहाँ है। उस कार्य को यदि आत्मा करे अर्थात् पर की दया के भाव करे राग, परन्तु पर की दया पाल सके, तब तो पर के परिणाम में तो व्याप्य और आत्मा व्यापक—तन्मय हो जाये, पर की दया के परिणाम का राग करे भले, परन्तु वह उसका कार्य करे तो उसका यह पर, परद्रव्य और यह आत्मा एकमेक हो जाये। समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! यह गाथा १००वीं सूक्ष्म है। ऐसा तो नहीं, अर्थात् कि जो परपदार्थ के जिस समय के परिणाम हैं, वे परिणाम तो वहाँ हैं, उन्हें आत्मा कर्ता होकर वह कार्य करे तो आत्मा उस द्रव्य में तन्मय अर्थात् एकमेक हो जाये, इसलिए ऐसा बनता नहीं। आहाहा!

कैसे होगा प्रवीणभाई? यह तुम्हारे लोहे-बोहे के धन्धे में क्या होता है? लोहे का टुकड़ा ऐसे जाता हो, वह उसका परिणाम है, उस परिणाम का करनेवाला वे लोहे के परमाणु परिणामी हैं। यदि आत्मा उस परिणाम को करे, तो आत्मा लोहे में एकमेक हो जाये। आहाहा! ऐसा काम है। यह तो ठीक, कहते हैं, वह तो नहीं, परन्तु **निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी (उनको) नहीं करता...** आहाहा! इस जगत के जड़ के कार्यकाल में—आत्मा यदि साथ में उपस्थित हो तो वह आत्मा निमित्त हो और उसका कार्य तो उसमें हुआ है। आत्मा निमित्त और यह नैमित्तिक कार्य हो, ऐसा भी नहीं है। सूक्ष्म बात है, प्रवीणभाई! आये हैं बराबर रविवार को यह आते हैं। रविवार को भावनगरवाले आवें, तब ऐसा सूक्ष्म आता है। रात्रि में आया था, अब वह तो आवे तब वापस सही। कहीं हर बार आता है अन्दर से? रात्रि में बहुत अलौकिक बात आयी थी। पौन घण्टे, परन्तु अब वह तो आवे तब हो और यह तो अभी यह लेख है न अभी। आहाहा! भाई! प्रभु का मार्ग कोई ऐसा है।

कहते हैं कि पर के कार्य के काल में वह कार्य पर से होता है, उसमें आत्मा उस कार्य का कर्ता हो और वह कार्य उसका हो तब तो वह आत्मा उसमें मिल जाये, वह आत्मा पृथक् नहीं रह सके। परन्तु उस जड़ के कार्य के काल में, काल में कार्य तो वहाँ हुआ, परन्तु उसमें यदि आत्मा निमित्त हो, वह नैमित्तिक कार्य, और आत्मा निमित्त हो, तो आत्मा नित्य है, तो नित्य उसका कर्तृत्व, जहाँ-जहाँ अवस्था हो, वहाँ-वहाँ आत्मा

को उपस्थित रहना पड़े। आहाहा! बाबूभाई! ऐसा सूक्ष्म है। अरे प्रभु! क्या मार्ग, वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

ईश्वर कर्ता तो नहीं, परन्तु यहाँ तक कहाँ ले जाना है इसे। कोई परद्रव्य अथवा जगत के तत्त्व का ईश्वर तो कर्ता नहीं, परन्तु जगत के तत्त्व हैं, उनका जो कार्यकाल हो और कार्य हो, उसमें उनका दूसरा आत्मा भी उनका कर्ता नहीं; यह तो ठीक,परन्तु वह परकार्य हो, उसमें आत्मा निमित्त है और यह नैमित्तिक है, ऐसा भी नहीं है। **क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा। (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आयेगा...** आत्मा नित्य वस्तु है और वह यदि कार्य के काल में आत्मा निमित्त हो तो प्रत्येक अवस्था में आत्मा की उपस्थिति रहना चाहिए। आहाहा! पर से पृथक् नहीं हो सकेगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। आहाहा! नैमित्तिकरूप से भी करता नहीं, वैसा करे तो नित्य, कायम कर्ता, निमित्तरूप से कायम कर्ता, निमित्तरूप से, हों! कार्यकाल तो वहाँ हुआ है, परन्तु निमित्तरूप से भी यदि कर्ता हो तो आत्मा को जड़ की प्रत्येक अवस्थारूप से, निमित्तरूप से रहना पड़ेगा। आहाहा! समझ में आया? दो बातें।

तब है क्या अब? **अनित्य (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग...** मात्र आत्मा का जो कम्पन है न प्रदेश योग और इच्छा, वह राग, यह राग और कम्पन जो है, वह जगत के जड़ के कार्य के काल में वह तो कार्य तो हुआ है वहाँ, उस समय में योग का भाव और राग का भाव, उस चीज़ के कार्य में निमित्त कर्ता कहा जाता है। कहो, हिम्मतभाई! इसमें तुम दो भाई की बातें करते, कहाँ यहाँ अन्दर आयी है वार्ता! आहाहा! क्या कहा यह? प्रभु ऐसा कहते हैं त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमात्मा वीतरागदेव की वाणी, वह सन्तों की वाणी, आड़तिया होकर वाणी की बात करते हैं। दिगम्बर सन्त, सर्वज्ञ का जो भाव है, वाणी है, उसकी बात आड़तिया होकर करते हैं, भगवान ऐसा कहते हैं।

आहाहा! कि शरीर के, वाणी के आदि के कार्य हों, उस काल में उसका कार्य हो। यह दाल-भात, रोटी के टुकड़े हों दाढ़ के बीच, वे दाढ़ से तो नहीं, परन्तु उसके टुकड़े उसके काल में हों, उसमें आत्मा वह कर्ता और उस रोटी के टुकड़े हुए, वह

उसका कार्य, ऐसा तो नहीं, यदि ऐसा हो तो आत्मा उस टुकड़े—रोटी के टुकड़े में इकट्ठा मिल जाये और पृथक् नहीं रह सके। आहाहा! और वह रोटी के टुकड़े के काल में कार्य वह टुकड़े तो हुए उससे, दाढ़ से नहीं और आत्मा यदि उसे निमित्त कहें तो जहाँ-जहाँ जड़ की अवस्था जड़ से हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को निमित्तरूप से उपस्थित रहना पड़ेगा। आहाहा! ऐसा है। इसलिए ऐसा तो नहीं। तब है क्या? उसे निमित्तपने क्या? वह उपादान कार्य तो वहाँ हुआ उससे, परन्तु उसमें वह दूसरी चीज़ निमित्तरूप से कहना किसे? कि निमित्तरूप से उसे कहना कि योग जो आत्मा का प्रदेश कंपता है, और जो राग (इच्छा) है, उसे उस कार्यकाल में उसके कार्यकाल में वह कार्य हुआ है, उसे यह योग और राग, उसको निमित्तरूप से कहा जाता है। वे किसके? कि जो योग और राग का कर्ता होता है अज्ञानी, उसके योग और राग उसके कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग। अरे रे! प्रभु! इसे कान में नहीं पड़े, वह कहाँ जाये?

मैं करूँ... मैं करूँ... जहाँ-जहाँ यह काम जड़ के हों, वे सब काम मैंने किये। आहाहा! एक नोट है नोट, वह नोट ऐसे जाता है। वह उसकी अवस्था है, उस अवस्था का कार्य नोट के परमाणु ने किया है। अब वह नोट ऐसे जाता है, उस कार्यकाल में आत्मा यदि उसका कर्ता हो, तो उस कार्यकाल में आत्मा को अन्दर मिल जाना पड़ेगा, इसलिए उसका कर्ता वह है नहीं। अब आत्मा है, उसके कार्य का कर्ता वह नहीं, परन्तु अब उस कार्य के कर्तापने—निमित्तपने आत्मा है या नहीं? कि निमित्तपने भी नहीं। आहाहा! निमित्तपने भी हो तो जहाँ-जहाँ एक रोटी के टुकड़े हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को रहना पड़े, भले कार्य उससे न हो। आहाहा! तब, निमित्त कहना किसे? दूसरी चीज़ एक निमित्त है, ऐसा कहना किसे? कि जो जीव का कम्पन भाव है योग का, इस शरीर का नहीं। योग का कम्पन है और इच्छा जो राग है, उस राग और कम्पन को जड़ के कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। किसका? कि जो राग और योग का कर्ता मिथ्यादृष्टि है, उसके योग और राग कार्य के काल में उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! इतना सब अब। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा!

भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है। उनके ज्ञान में यह

चीज़ जानने में आयी है, वैसी वे फरमाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य ने शास्त्र लिखे, इसलिए वे प्रमाणित हैं न शास्त्र?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसका कुछ नहीं, वह निमित्त से कथन है। यह वह शास्त्र के परमाणु की पर्याय रची, उसमें आत्मा उसके कार्य का कर्ता, ऐसा तो नहीं। अन्त में शब्द आता है न? परन्तु वह कर्ता, यह कार्य यदि आत्मा का हो तो आत्मा कर्ता और वह कार्य में मिल जाना चाहिए, इन अक्षरों में मिल जाना चाहिए आत्मा। आत्मा भिन्न नहीं रह सकेगा। इसलिए उसका कार्यकाल में व्याप्य-व्यापकभाव से कर्ताकर्मरूप से परिणामी परिणाम परिणामीपने तो कर्ता नहीं। परन्तु उसके कार्यकाल में आत्मा निमित्त है, ऐसा यदि कहो तो जहाँ-जहाँ परमाणु की अवस्था होती है, वहाँ-वहाँ आत्मा को निमित्तरूप से उपस्थित रहना पड़ेगा, वह भी नहीं होता। आहाहा! कहो, चिमनभाई! बराबर अभी रुके हैं। इसमें ऐसा आता है।

तब? कि वे परमाणु के अक्षर जो बने टीका के, वह तो उसके परमाणु की पर्याय उस काल में होनेवाली थी, उससे हुई। अब उसे आत्मा को निमित्त वहाँ नहीं, तो निमित्त कहना किसे? उन अक्षरों में योग और राग को निमित्त कहा जाता है। परन्तु किसका? ज्ञानी कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य ज्ञानी हैं, उनका योग और राग, उनका योग और राग, उन्हें है ही नहीं। उस ज्ञानी को तो... आहाहा! जिसे आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान ऐसा जिनस्वरूपी दृष्टि में आ गया, उसकी पर्याय में वीतरागता वर्तती है, और उस वीतरागता में योग और कम्पन, योग और राग वीतरागता में ज्ञान में निमित्त है, परन्तु उस योग और कम्पन के कर्तापने में निमित्त नहीं। आहाहा! ऐसा है, यह वह कहीं बात, यह परमेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई! आहाहा!

यह कहते हैं कि टीका के काल में परमाणु की क्रिया हुई। उस काल में हम आत्मा तो कर्ता नहीं क्योंकि आत्मा कर्ता हो तो परिणाम-परिणामी एक हो जाये, वह कार्य और आत्मा कर्ता, दोनों एक हो जाये। परन्तु अब आत्मा निमित्तरूप से भी नहीं। निमित्तरूप से भी यदि होवे तो जहाँ-जहाँ परमाणु की पर्याय हो, वहाँ-वहाँ हमारे उपस्थित रहना पड़े। तब है क्या? वह परमाणु की जब टीका की पर्याय हुई, आहाहा!

वहाँ-वहाँ योग और राग को निमित्त कहना। निमित्त, कार्य तो वहाँ है, परन्तु उस योग को निमित्त (राग) किसका? जो मिथ्यादृष्टि योग और राग का कर्ता होता है, उसका योग और राग, उसे निमित्त कहा जाता है। इसमें कितना याद रहे, प्रवीणभाई? आया है न तुम्हारा मनीष। वहाँ शिक्षा अधिकारी है। यह शिक्षा अलग प्रकार की है। आहाहा! समझ में आया? 'प्रभु का मारग है शूरों का' यह वीर का काम है, बापू! आहाहा! यह कायर का काम नहीं। अज्ञानी को मूढ़ता के... आहाहा! अक्षर लिखते हैं न ऐसे, वे अक्षर लिखते हैं, वह परमाणु की पर्याय है, उस पर्याय का आत्मा कर्ता, वह पर्याय-अक्षर लिखने का नहीं। एक बात।

यदि वह परिणाम और परिणामी, उसका परिणामी का परिणाम होगा? अक्षर लिखने का तो आत्मा परिणामी है, उसमें मिल जाये, पृथक् न रहे, इसलिए वे लिखने के परिणाम की अवस्था का कर्ता आत्मा व्याप्य-व्यापकरूप से, परिणाम-परिणामीरूप से कर्ता-कर्म नहीं, परन्तु वह अक्षर के लिखने के काल में आत्मा को यदि निमित्त कहें, जो जहाँ-जहाँ अक्षर होनेवाले हों, वहाँ-वहाँ उसे—आत्मा को रहना पड़ेगा। आहाहा! दो बात। तब वे अक्षर लिखने के काल में अक्षरों की पर्याय अक्षर से हुई, उसमें आत्मा का योग और राग निमित्त कहा जाता है, क्योंकि योग और राग अनित्य है और वे भी किसके? जो राग और योग के ऊपर की जिसे दृष्टि है, आहाहा! उस इच्छा और योग पर जिसकी दृष्टि है, वह राग और योग का जो कर्ता मिथ्यादृष्टि है, उसका योग और राग कार्यकाल में निमित्त कर्तारूप से कहा जाता है। एक शब्द बदले तो पूरा न्याय बदल जाये, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? है?

योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके (-परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्ता हैं।(रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणाम) अपने विकल्प को... हाँ, इस रागादि विकल्प और प्रदेशों को **अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण...** देखो! आहाहा! यह लिखने के काल में जो इच्छा हुई और योग कम्पित हुआ, उसका अज्ञानी कर्ता है। इसलिए वह अज्ञानी कर्ता, उसका योग और राग, वह अक्षर लिखने में निमित्तरूप से कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसा कहना, कठिन कहना और समझ में आया (कहना) आहाहा! अपने व्यापार को कदाचित्... क्या कही

भाषा? कि अज्ञानी आत्मा, जिसकी वीतराग मूर्ति प्रभु है, आत्मा तो जिनस्वरूप है।

घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन।
मत मदिरा के पान सों, मतवाला समझे न॥

घट-घट अन्तर जिनस्वरूपी प्रभु आत्मा तो, जिनस्वरूपी वीतरागस्वरूपी, अकषाय स्वरूपी, वह आत्मा। आहाहा! वह आत्मा इन अक्षरों के कार्यकाल में वह आत्मा ऐसा जो है वीतराग द्रव्य, वह तो निमित्त नहीं। तब? कि उस समय के जो योग और राग, वह जो वीतरागस्वरूप आत्मा है, उसकी जिसे दृष्टि नहीं, आहाहा! जिनस्वरूपी भगवान है, उसकी जिसे दृष्टि नहीं और उसकी दृष्टि इच्छा और योग के कम्पन में पड़ी है, ऐसे योग और कम्पन का करनेवाला कदाचित् आत्मा कर्ता हो, है? **अज्ञान से करने के कारण...** आहाहा!

अब ऐसा सब निर्णय करना न, और इसके बिना धर्म हो जाये? सामायिक हो गयी और प्रौषध हो गये और प्रतिक्रमण, धूल भी नहीं तेरे। आहाहा! कहते हैं कि **रागादि विकारयुक्त चैतन्य परिणामरूप...** वह अपने विकल्प को करे अज्ञानी, और आत्मा के तो कम्पन **अपने व्यापार को कदाचित्....** अर्थात् कि जब तक मिथ्यादृष्टि है तब तक, **अज्ञान से (आत्मा) करने के कारण...** आहाहा! यह इच्छा और योग के कम्पन को, जो विकार है, उसे स्वरूप के अज्ञान के कारण उसका कर्ता अज्ञानी कदाचित् अज्ञानभाव में कर्ता कहलाता है, राग और योग का। और वह राग तथा योग, अक्षरों के लिखने के काल में उस राग और योग को निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भाषा कोई कठिन नहीं, परन्तु भाव तो भले (जो है, वह है)। समझ में आया?

अपने को करता हुआ, उसे **योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो।** है? आहाहा! योग और उपयोग का कर्ता आत्मा कदाचित् भले हो, **तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।** आत्मा जो है, वह जगत के अक्षरों के लिखने के काल में वह आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। आहाहा! परन्तु अज्ञानी राग और योग का कर्ता है, वह योग और राग को उस अक्षर के लिखने के काल में, योग और राग को निमित्त कहा जाता है। जिस राग और योग का

कर्ता अज्ञानी कर्ता है उसका। आहाहा! इतनी सब बातें अब, इसमें कितनी शर्तें। हैं? देखो, **योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके कर्ता हैं।** है न चौथी लाईन? योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके कर्ता हैं।

अब वह **(रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणाम)...** अपने विकल्प को और कम्पन को **अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से (आत्मा) करने के कारण योग और उपयोग का कर्ता तो (आत्मा) (कदाचित्) भले हो...** आत्मा राग का और कम्पन का अज्ञान से भले कर्ता हो, परन्तु वह आत्मा पर को तो निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। आहाहा! यहाँ तो विवाद सब उपादान-निमित्त का झगड़ा यह। ऐ, पण्डितजी! सोनगढ़ वाले, वे उपादान को एक को मानते हैं, निमित्त को मानते नहीं। निमित्त को मानते हैं परन्तु निमित्त कर्ता मानते नहीं, तेरी बात सच्ची है। आहाहा! भाई! वीतराग मार्ग के तत्त्व, वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ने कहे, उन्हें समझने के लिये महाप्रयत्न है, वह कहीं साधारण रीति से पकड़ में आये ऐसा नहीं है। आहाहा!

पहले में क्या कहा? कि योग उपयोग ही निमित्तरूप से उसके कर्ता हैं। कर्ता हैं, इसका अर्थ कि निमित्तरूप से है, ऐसा। घड़े के कार्यकाल में, वस्त्र के बुनकर के कार्यकाल में, गाडा के कार्यकाल में, रोटी के कार्यकाल में, अक्षर लिखने के कार्यकाल में योग और उपयोग निमित्तरूप से कर्ता कहलाते हैं, परन्तु किसके? कि जो राग और उपयोग का कर्ता अज्ञानी है, उसके योग और राग को उस कार्यकाल में निमित्तरूप से उस अनित्य विकारी दशा को निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है। ऐसा सब याद किस प्रकार रखना! बाबूभाई! कहो, वह पूछे तुम्हारा वह बड़ा लड़का, क्या सुनकर आये? क्या कहे कि यह क्या है। आहाहा! समझ में आया, प्रभु? आहाहा!

यहाँ तो जिनस्वरूपी भगवान आत्मा सब वीतराग मूर्ति हैं। आहाहा! उस वीतराग मूर्ति का जिसे ज्ञान और सम्यक् हुआ, उसे योग और राग, उसके ज्ञान में निमित्त है। ज्ञान अपने उपादान से होता है, परन्तु उस ज्ञान में योग और राग निमित्त है ऐसे, परन्तु योग और राग में स्वयं निमित्त है, ऐसा अज्ञानी को है; ज्ञानी को नहीं। आहाहा!

फिर से, यह तो वीतरागमार्ग, बापू! बहुत गम्भीर! आहाहा! हाथ में रोटी उठाई, वह उठने का कार्य तो रोटी में जो हुआ, वह रोटी के कारण से हुआ, वह हाथ के कारण

से नहीं, अब वह उठने के कार्य में आत्मा को यदि कर्ता कहें तो वह कार्य उसका और कर्ता यह, तो उस कार्य में मिल जाये आत्मा, इसलिए रोटी का टुकड़ा उठना, उसमें आत्मा कर्ता नहीं है। अब आत्मा का जो योग और कम्पन है, उसे यहाँ कर्ता कहा जाता है, परन्तु किसका? कि जो योग और राग का कर्ता अज्ञानी होता है कदाचित् अज्ञान में, उसके योग और राग को, यह रोटी उठी, उसके कार्य में निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! दोनों चिमनभाई साथ में बैठे हैं। ऐसा है। और बनिया को निवृत्ति नहीं होती धन्धे के कारण, स्त्री-पुत्र पालने में रहे और धन्धे में रहे और कभी घण्टे भर सुनने जाये तो वह ऊपर जो दे, (कहे) जय नारायण। वीतराग मार्ग बहुत अलग भाई! आहाहा!

यह पहली बात तो कही कि योग और उपयोग ही निमित्तरूप से कर्ता है, ऐसा कहा। अब कहते हैं कि किसका? जड़ के कार्यकाल में निमित्त किसका योग और उपयोग? कि जो योग और उपयोग का कर्ता होता है उसका। राग और कम्पन का जो कर्ता होता है, उसका राग और योग, उस कार्य में निमित्त कर्ता का आरोप रूप से कहलाता है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

आज रविवार को आता है तुम्हारे ऐसा सूक्ष्म। मनसुखभाई! आहाहा! ऐसा है, पागल जैसी बात लगे, पागल जैसी बात लगे। वह ऐसा करे कि पूरे दिन 'यह करो, यह करो, यह करो, यह करो, व्रत पालो, अपवास करो, दान करो, दया पालो, भगवान की भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, गजरथ निकालो, ऐसा समझ में तो आये। क्या समझना था उसमें धूल में? वह तो जड़ के कार्य जड़ कार्यकाल में हों, उसमें तू कहाँ उन्हें कर सकता है? आहाहा! परन्तु वह गजरथ का कार्य तो जड़ के जड़ से होते हैं, उसमें आत्मा को निमित्त... आत्मा उस कार्य का कर्ता नहीं। यदि कर्ता हो तो उस कार्य में कर्ता मिल जाये, इकट्ठा हो जाये, तब कहे, अलग रहकर आत्मा निमित्त होता है या नहीं? वह अलग रहकर यदि निमित्त हो तो जहाँ-जहाँ वैसे कार्य हो, वहाँ आत्मा को उपस्थित रहना पड़े, इसलिए आत्मा निमित्तरूप से ही नहीं है। तब अब उसमें निमित्त कोई है या नहीं? कि हाँ, योग और उपयोग। राग और कम्पन उसमें निमित्तरूप से कहे जाते हैं। कि किसके? कि जो राग का और योग का कर्ता होता है उसके। आहाहा!

आहाहा! पण्डितों को कठिन पड़े ऐसा है यह। कर्ता, परद्रव्य का कर्ता, परद्रव्य का कर्ता। इन्दौर में हुआ था, इन्दौर पचास पण्डित इकट्ठे हुए, इन्दौर। परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर नहीं। अब यहाँ, अरे भगवान! तू यह क्या करता है? लोगों को बेचारों को कुछ खबर नहीं होती, धन्धे के कारण यह निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन उसमें वह ऊपर (बैठा) कहे, जय नारायण, हाँ। सत्य क्या है और असत्य क्या है, उसकी कुछ विवेक की भिन्नता की खबर नहीं होती। समझ में आया? आहाहा!

यह नोट—पैसा है न, नोट, उसे पचास हजार, पच्चीस हजार दिये मन्दिर खाते दिये। लो, यह गिनने लगो ऐसे, यह नोट की अवस्था जो होती है, ऐसे जाने की, वह कार्य तो उस नोट के परमाणु का है, अब उस नोट का कार्य जो ऐसे जाने का होता है, उसे यदि आत्मा कर्ता कहो तो आत्मा कर्ता और वह कार्य, दोनों एक हो जाये, अर्थात् आत्मा उसमें—नोट में मिल जाये। अब ऐसा तो नहीं है। परन्तु उसे आत्मा कर्ता कहो, निमित्तरूप से कर्ता कहो, उपादानरूप से कर्ता का निषेध हो गया। समझ में आया? वह नोट ऐसे जाता है, उसका उपादानरूप से कर्ता हो, वहाँ इकट्ठा मिल गया। अब निमित्तरूप से वह जाता है, उसमें आत्मा, ऐसे हाथ में था और ऐसे-ऐसे तो आत्मा को निमित्तरूप से उसे नोट जाता है, उसको कर्ता कहा जाये या नहीं? कि नहीं। आत्मा को यदि निमित्त कहो तो जहाँ-जहाँ ऐसे कार्य हों, वहाँ-वहाँ आत्मा को उपस्थित रहना पड़ेगा। इसलिए आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। तब अब कर्ता इसमें कुछ उसे निमित्तरूप से कुछ कहा जाता है या नहीं? है तो कार्य उसके काल में होनेवाला वह। आहाहा! तब कहे, 'हाँ' योग और राग, उस कार्यकाल में उसका योग और राग था, वह उसे निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है।

निमित्तरूप से कर्ता का अर्थ? वहाँ ऐसे जाता है, इसलिए यह निमित्त है, इसलिए नोट ऐसे जाता है, ऐसा नहीं। मात्र जाने के काल में योग और राग को निमित्त कहा जाता है। परन्तु निमित्त से वहाँ ऐसे जाये और इस कार्य को करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तब कहे, परन्तु निमित्तरूप से कोई है या नहीं, कोई चीज़? वह चीज़ तो उसके काल में हुई, दूसरी चीज़ है? कि है। योग और राग उसका निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है। वह भी किसका? कि अज्ञानी कदाचित् जब तक मिथ्यादृष्टि है, तब तक

इच्छा और योग का कर्ता होता है, उसका योग और राग, कार्य तो वहाँ हुआ ही है, उस काल में उसे निमित्तकर्ता योग और राग को कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

(रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को—राग को **और (आत्मा प्रदेशों के चलनरूप)** कम्पन को **कदाचित् अज्ञान से...** कदाचित् क्यों कहा कि जहाँ तक अज्ञानी है, वहाँ तक राग और योग का कर्ता है। परन्तु जो ज्ञानी हुआ... आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान जिनस्वरूपी, वीतरागमूर्ति प्रभु है, उसका जिसे ज्ञान हुआ, उसकी पर्याय में वीतरागपर्याय हुई और वह वीतरागीपर्याय कार्यकाल में निमित्तरूप से भी वीतरागीपर्याय कर्ता नहीं। कब? वह धर्मी की वीतरागीपर्याय। सम्यग्दर्शन की पर्याय में, उस राग और योग का यहाँ ज्ञान हुआ अपने से, उसमें योग और राग को यहाँ ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। अरे रे! ऐसा बड़ा काम अब! आहाहा! और उस योग और राग का कर्ता जब तक हो, तब तक वह-वह कार्य तो हुआ ही है वहाँ, उसके योग और राग का कर्ता कहलाता है तथा योग और राग का कर्ता अज्ञानी है इसलिए।

अब जब आत्मा का ज्ञान हुआ, जिसे सम्यग्दर्शन... आहाहा! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, निर्मलानन्द, आनन्दकन्द है, वह मलिनपना उसमें नहीं और मलिन की पर्याय भी उसमें नहीं। आहाहा! योग और राग वह उसके स्वरूप में नहीं। आहाहा! यह राग और योग उसके स्वरूप में नहीं, उसके स्वरूप में तो वीतरागता भरी है। भगवान आत्मा में तो वीतरागता ठसाठस भरी है। आहाहा! उस वीतरागता की जिसे दृष्टि हुई, सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, उसे योग और राग उसका नहीं, वह योग और राग, उसका ज्ञान है, वह उसका है। क्या कहा, समझ में आया? कहो, चेतनजी!

धर्मी जीव का ज्ञान और आनन्द और वीतरागीपर्याय उसकी है। उसका योग और राग, उसका नहीं है। आहाहा! कहो, पुंजाभाई! ऐसा है, बापू! यह तुम भी सही मौके से आये हो न बराबर... छोड़कर। रुकनेवाले हो। आहाहा! अरे बापू! यह क्या चीज़? भाई! तू वीतरागी नाथ है न नाथ! परमेश्वर है प्रभु! प्रभु वीतरागी स्वरूप को ही यहाँ आत्मा कहा जाता है। आहाहा! भगवान! (तू) तो वीतराग स्वरूप है न, प्रभु! उस

वीतराग स्वरूप का जिसे ज्ञान हुआ, उसके ज्ञान में वह राग और योग का कर्ता तो नहीं होता, पर की क्रिया का कर्ता तो नहीं, परन्तु योग और राग का कर्ता नहीं होता, परन्तु उसे योग और राग होता है, परन्तु दृष्टि पड़ी है ज्ञानानन्दस्वरूप के ऊपर, इसलिए वीतरागी ज्ञान हुआ है, उसमें योग और राग निमित्त कहे जाते हैं, उपादान तो अपने से राग का ज्ञान ऐसे हुआ है। आहाहा! समझ में आया? कहो, अनोपचन्दभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा!

कहाँ गये हमारे भाई? आहाहा... इसमें वाद और विवाद करे, बापू! 'सद्गुरु कहे सहज का धन्धा, वाद-विवाद करे सो अन्धा' आहाहा! सहज का धन्धा भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु अकषायस्वभाव से भरपूर भरचक भरपूर... भरपूर... आता है न भाई? इत्यादि शक्तियों से भरपूर भरा हुआ। वह ४७ शक्तियाँ ली न, फिर कहा इत्यादि शक्तियों से भरपूर। कलश में है। आहाहा! भगवान आत्मा में तो जीवत्व, चिति, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, कर्ता, कर्म आदि अनन्त शक्तियाँ, गुणरूपशक्ति, वीतरागस्वभावरूप शक्तियाँ, उनसे 'भर' सुभर-सुभर है प्रायः।

मुमुक्षु : सुनिर्भर।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनिर्भर है। आहाहा!

भगवान आत्मा तो वीतरागी गुणों का भरपूर, भरपूर भगवान है। आहाहा! उसमें राग कैसा और योग का कम्पन कैसा उसमें? आहाहा! रात्रि की बात, यह तो आवे तब सही। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रत्येक पर्याय का प्रयोजन वीतरागता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में, अभी यहाँ, समय नहीं मिलता, समय दस मिनिट वह पौन घण्टे चला। चिमनभाई थे या नहीं?

यहाँ तो वीतरागपर्यायवाला जीव, अर्थात् कि सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् कि द्रव्यस्वभाव जो जिनस्वरूपी है, उसकी दृष्टि हुई है, वह जीव। उसकी पर्याय में तो उसे वीतरागी समकित, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी स्वरूपाचरण होता है। वह वीतरागी पर्याय योग और राग का कर्ता नहीं, और इसलिए वह योग और राग का कर्ता नहीं,

इसलिए वह सामने के कार्यकाल में भी ज्ञानी के योग और राग उसके नहीं, इसलिए वह निमित्तरूप से भी नहीं... आहाहा!

तब? अब बात गुलाँट खाती है, कि आत्मा जिनस्वरूपी प्रभु ऐसा जिसने ध्रुव का ध्येय पकड़ा। आहाहा! उसकी श्रद्धा-ज्ञान में वीतरागी पर्याय आयी, और उस वीतरागी पर्याय का ज्ञान भी वीतरागी आया। उस ज्ञान में वह ज्ञान, योग और राग का कर्ता तो नहीं, पर का कर्ता तो नहीं, पर का निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। आहाहा! परन्तु वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान परिणाम हुए, उसमें राग और योग जो कमजोरी से होते हैं, उसका यहाँ ज्ञान में उसे निमित्त कहा जाता है। उपादान स्वयं अपने से ज्ञान और वीतरागी दशा हुई, परन्तु उसे योग और राग को उसमें यहाँ निमित्त कहा जाता है। आहाहा! कहो दास! ऐसी बातें हैं।

उसमें वाद और विवाद बापू दुनिया में। तीन लोक का नाथ, जिनेश्वरदेव की यह पुकार है। आहाहा! दिव्यध्वनि में यह वाणी आयी। ये कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि भगवान के पास गये थे। कुन्दकुन्दाचार्य, दो हजार वर्ष पहले। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। आहाहा! ....ऐसी वाणी अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! परन्तु इतने वर्ष बहुत निकाले वह सुना होगा न वाड़ा में यह बात सुनी थी? ऐई, सुजानमलजी! थोड़ा, परन्तु सत्य होना चाहिए। लम्बा-लम्बा बड़ा करे और असत्य का पूंछड़ा बड़ा। आहाहा! कहो, जतीशभाई! आहाहा!

यह अज्ञानी का योग अर्थात् कम्पन और राग उसके कार्यकाल में, कार्य तो वहाँ होता है जड़ का, उसके योग और राग को निमित्तकर्ता कहा जाता है। अब वह भी योग और राग का आत्मा कर्ता हो अज्ञानरूप से, परन्तु पर का कर्ता तो वह नहीं। वह आत्मा पर का कर्ता तो नहीं। अज्ञानरूप से योग और राग का कर्ता है। आहाहा!

अब ऐसा उपदेश। इसमें क्या नये सुननेवाले को क्या कुछ, क्या कहते हैं यह? दिगम्बर धर्म का यह स्वरूप है। आहाहा! आहाहा! जैसे बाह्य में मुनि को वस्त्र का टुकड़ा नहीं होता, उसी प्रकार अन्तर में राग का कण नहीं होता जिसे द्रव्य में। आहाहा! दया, दान, व्रत का विकल्प भी जिसके स्वरूप में नहीं, ऐसा जो स्वरूप भगवान आत्मा, उसकी जिसे दृष्टि हुई है, उसका जिसे ज्ञान हुआ है, उसका जिसे अनुभव हुआ है, उस

अनुभव के ज्ञान में और वीतरागी पर्याय में योग और राग का तो वह कर्ता नहीं। तो पर का कर्ता तो नहीं। परन्तु योग और राग और उस काल में जो कार्य पर में होता है, वह ज्ञानी के ज्ञान में वह निमित्त कहने में आता है, ऐसे निमित्त कहने में आता है, ऐसे निमित्त नहीं। आहाहा! इसमें याद कितना रखना, प्रवीणभाई? ऐसी बात है।

मुमुक्षु : शास्त्र रचने में दूसरा निमित्त कौन? शास्त्र रचने में दूसरा निमित्त कौन, यह तो बताओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई निमित्त-बिमित्त नहीं। यह तो कहा, रचने में तो रचना काल में तो कार्य जड़ से होता है, मात्र निमित्त कौन? कि जो योग और राग उसे निमित्त कहा जाता है, किसके? जो राग और योग का कर्ता होता है अज्ञानी उसके। ज्ञानी जो करता है, वह कुन्दकुन्दाचार्य तो कहते हैं कि उसमें हम निमित्तरूप से भी नहीं हैं। हमारे ज्ञान में यह जो लेखन, वह क्रिया और राग जो हुआ, हमारे ज्ञान में वह निमित्त हुआ, ज्ञान तो हमारे से हुआ है, ज्ञान तो हमारे आत्मा से हुआ है, परन्तु राग और इच्छा का जो कम्पन है और जो यह लिखने की क्रिया हुई, वह हमारे ज्ञान में ऐसे निमित्त हुई, उसका ज्ञान हमने किया, देवीलालजी!

मुमुक्षु : आपने दृष्टि अपेक्षा से बात की, परन्तु चारित्र अपेक्षा से निमित्त कहो?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त कोई है ही नहीं। निमित्त कहा न? योग और वह तो निमित्त कहा। चीज़ तो उससे हुई, परन्तु निमित्त कौन? कि योग और राग, किसका? कि जिसने योग और राग मेरा माना है, उसका। कहो, पण्डितजी! यह तुम्हारे प्रोफेसर में कहीं नहीं आया था ऐसा? नहीं। आहाहा! प्रभु!

मुमुक्षु : तो फिर आप ऐसा कहो कि कुन्दकुन्दाचार्य के योग, राग निमित्त नहीं, परन्तु नोकर्म का योग और राग निमित्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई नहीं, यह भी नहीं।

जड़ के कार्य के तो जड़ के कार्य में आत्मा तो निमित्त नहीं; आत्मा कर्ता और यह कर्ता का कार्य, ऐसा तो नहीं, परन्तु कार्य उसके काल में हुआ, उस समय में आत्मा के द्रव्य को निमित्त कहना, यह भी नहीं। अब तब कि निमित्त कहीं कोई चीज़ कहनी

है या नहीं?—कि है; वह कार्यकाल तो उस समय में वह पर्याय होनेवाली है, उस उससे हुई है, परन्तु उसका निमित्त कौन? कि राग, इच्छा और योग, वह निमित्त कहने में आता है। किसका? कि जिसने राग और योग अपना माना उसका। तथापि वह राग और योग का कर्ता अज्ञानी होता है, परन्तु पर का कर्ता तो है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

ईश्वर कर्ता तो नहीं, परन्तु कहाँ तक ले गये? कि आत्मा भी कर्ता नहीं, पर के कार्य का। आहाहा! अकर्तापना, क्रमबद्ध में अकर्तापना आया है न? भगवान आत्मा जिनस्वरूपी प्रभु, जिसका जिनस्वरूप ध्रुव, ऐसा जिसे ध्यान में—ज्ञान में आया, उसके परिणाम में तो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् वीतराग स्वरूपाचरण आदि रागरहित दशा होती है। वह दशावान पर के कार्य में वह स्वयं दशावान ऐसा है, वह निमित्त नहीं, परन्तु उसके योग और राग, वे भी उसमें निमित्त नहीं। आहाहा! जो योग और राग का कर्ता होता है, उस अज्ञानी के योग और राग उसे निमित्त कहे जाते हैं। आहाहा! कब? कि अब गुलाँट खाती है बात, जो जिनस्वरूपी प्रभु वीतराग की मूर्ति आत्मा प्रभु अन्दर है। आहाहा! उसका जिसे अनुभव और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, उस जीव को उसके योग और राग पर में निमित्त तो है नहीं, परन्तु वह योग और राग इस ज्ञान में निमित्त है। समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो सूक्ष्म है। भाई! तीन लोक के नाथ भगवान महावीर, सीमन्धर प्रभु तो विराजते हैं। आहाहा! रात्रि में तो यह ख्याल आया था थोड़ा सीमन्धर भगवान यह आत्मा है। सीमन्धर—वीतरागी स्वभाव की मर्यादा का धारक भगवान है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जिसे ज्ञान हुआ, उसकी जिसे श्रद्धा हुई, उसमें जिसकी आंशिक रमणता हुई, उस ज्ञानी का ज्ञान, योग और राग में निमित्त नहीं और पर के कार्य में निमित्त नहीं, परन्तु अपना ज्ञान जो अपने से स्व-परप्रकाशक हुआ, उसमें योग और राग को यहाँ निमित्त ऐसा कहा जाता है। उपादान तो स्वयं से हुआ है। आहाहा! ऐसा उपदेश अब! क्या इसमें निवृत्ति नहीं मिलती बनिये को पूरे दिन धन्धा... धन्धा... धन्धा... पाप का और थोड़ा समय मिले वहाँ स्त्री-पुत्र को सम्हालने में रहे, प्रसन्न करने में (रहे)। आहाहा! अब इसमें उसे कहाँ बेचारे को! ऊपर पाट पर बैठा

हुआ जो कहे, उसे जय नारायण। तुलना करने का अवसर कहाँ प्रभु? आहाहा! सत्य और असत्य का मिलान किस प्रकार करना? आहाहा!

१००वीं गाथा, अलौकिक बात है बापू! यह तो समयसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी, निमित्त से कथन है, वाणी उनकी नहीं, वाणी वाणी की है। आहाहा! पीछे से यह गाथा (कलश) आती है न? यह टीका मैंने रची, ऐसे मोह से न नाचो, यह टीका की पर्याय परमाणु से हुई है, भाई! मुझसे नहीं। आहाहा! यहाँ तो ऐसा कहा, कार्यकाल तो है ही वहाँ, परन्तु योग और राग को निमित्त कहा जाता है। **(रागादि विकायुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को और....** प्रदेश और उसके व्यापार को **आत्मा कदाचित् करने के कारण...** जहाँ तक इच्छा है, वहाँ तक योग और कम्पन का कर्ता है। योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता नहीं। कदाचित् हो, तथापि **परद्रव्यस्वरूप कर्म का तो कर्ता निमित्तरूप से भी आत्मा नहीं है।** आहाहा! गजब बात है। तू भगवान है न, प्रभु! भगवान, तुझे भगवानरूप से बुलाते हैं। ७२ गाथा में आता है न 'भगवान आत्मा।'

राग और दया, दान का विकल्प भी प्रभु! तुझमें नहीं और उसका कर्ता भी तू नहीं। आहाहा! पर की दया और पर को मारूँ, उसका कर्ता तो तू नहीं। परन्तु वह राग जो आया, उसका भी कर्ता तू नहीं। तेरा ज्ञान स्व-परप्रकाशक, जो स्व के आश्रय से प्रगट हुआ, उसमें यह राग आया ज्ञान में, उसमें उपादान तो तेरा, उसमें राग को यहाँ निमित्त कहा जाता है। आहाहा! है ऐसी बात, सुनी थी कहीं श्वेताम्बर-स्थानकवासी में? आहाहा!

दिगम्बर सन्त... आहाहा! केवली के पथानुगामी केवली की वाणी सीधी कहते हैं। अरे! उनके वाडा में जन्मे, उन्हें इसकी खबर नहीं होती। कहो, शान्तिभाई? आहाहा! हो गया समय, हों! यह कहते हैं, अज्ञानी भले उसके योग और राग का कर्ता कदाचित् हो परन्तु आत्मा तो कर्ता है ही नहीं। परद्रव्य की पर्याय का आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। आहाहा!

विशेष कहा जायेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २००, गाथा-१००, दिनांक १९-०२-१९७९, सोमवार, माघ कृष्ण-७

समयसार, गाथा १००, अन्तिम है न थोड़ा सा? सूक्ष्म बात है, यह अपूर्व बात है। कि यह जड़ के कार्य और यह पर आत्मा के कार्य, तो उसके समय में उनके होते हैं, परन्तु उस काल में निमित्त किसे कहना? तो कहते हैं कि कार्य तो उसके कारण उसका होता है, जड़ की जड़ में पर्याय और आत्मा की आत्मा में पर्याय जिस काल में उसे कार्य होता है, वह होनेवाला है। वह तो उसके कारण से—उपादान से हुआ है, परन्तु अब निमित्त किसे कहना? तो कहते हैं कि भाई! आत्मा उस कार्य में निमित्त भी नहीं है। यदि आत्मा निमित्त हो तो प्रत्येक अवस्था में उसे उपस्थित रहना पड़ेगा। जयन्तीभाई! यह तो तुम्हारे वैष्णव में तो यह कुछ है नहीं अन्दर का। भाग्यशाली, वह आ गये इस ओर। कहो, आनन्दभाई। आहाहा!

यह चीज़, यहाँ तो कहते हैं कि जो यह शरीर आदि, वाणी या कर्म अन्दर या घट / घड़ा, वस्त्र, मकान इत्यादि, आहाहा! वे जड़ के कार्य के समय तो वह जड़ अपने कार्यरूप से होता है, उसकी पर्याय का काल है, वह उसके काल में होता है, अब उसमें निमित्त किसे कहना? ईश्वर कर्ता तो कहीं चला गया। आहाहा! पर के कार्य ईश्वर ने किये, यह तो नहीं, परन्तु पर के कार्य पर ने किये, आहाहा! उस समय निमित्त किसे कहना? कि निमित्त उसे कहना कि आत्मा है, वह उसे निमित्त नहीं, क्योंकि आत्मा नित्य वस्तु भगवान है, यदि उसे निमित्तरूप से आत्मा को कहो तो जहाँ-जहाँ अवस्थायें जड़ की या चैतन्य की होगी, वहाँ-वहाँ उसे उपस्थित रहना पड़ेगा। तब ज्ञानी का आत्मा तो नहीं, परन्तु ज्ञानी के निर्मल परिणाम हैं, धर्मी के सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि परिणाम जो द्रव्य के अवलम्बन से हुए, उन निर्मल परिणाम को—उस कार्य में निमित्त कहा जाये या नहीं? अरे! अरे! ऐसी बातें भाई! 'नहीं।' तब अब निमित्त कहना किसे हमारे? दूसरी चीज़ तो है। कि जो प्राणी अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसकी (जिसे) खबर नहीं और दया, दान के परिणाम राग जो है, उसका जो कर्ता होता है और कम्पन जो योग है, उसका कर्ता होता है, वह पर्याय योग और राग, उसका कर्ता वह होता है, वह योग और राग सामने के कार्य के काल में, निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। ऐसी शर्तें

बहुत। आहाहा! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने तीन काल, तीन लोक देखे और वाणी में यह आया। आहाहा!

यही अन्तिम आया। **योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो....** अन्तिम लाईन है न? वह योग अर्थात् आत्मा के प्रदेश कँपते हैं और उपयोग अर्थात् यहाँ राग लेना है, उपयोग अर्थात् वह शुद्ध उपयोग, वह नहीं। राग का जो उपयोग है, जो उपयोग राग में जुड़ा हुआ है, वह उपयोग और कम्पन, उसे कदाचित् अज्ञान से आत्मा कर्ता होने से, योग और उपयोग का तो आत्मा भी कदाचित् कर्ता भले हो। आहाहा! जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग, उसका अज्ञानी अज्ञानरूप से भले कर्ता हो। आहाहा!

तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी) आत्मा **नहीं है।** आहाहा! ऐसी बात अब कहाँ! यह धन्धे के काम होते हैं न सब, आनन्दभाई के हीरे के, माणेक के, हीरे के काम हैं। वह तो हीरा जानेवाला होता है, तब अपनी पर्याय के काल में वहाँ जाता है। अब कहते हैं कि उसमें निमित्त किसे कहना? साथ में दूसरी चीज़ है या नहीं? आहाहा! तब कहे, आत्मा दूसरा है, उसे भी निमित्त, उसे नहीं कहा जाता। क्योंकि जगत की सब अवस्थाओं में यदि आत्मा निमित्त हो तो नित्य वहाँ कायम रहना पड़ेगा। आहाहा! परन्तु उस काल में जो प्राणी, जो इच्छा हुई है, उसका जो अज्ञानी कर्ता होता है और कम्पन का जो अज्ञानी कर्ता होता है, वह उसका कर्ता हो अज्ञानरूप से, परन्तु वह आत्मा पर के कार्य में निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। उस योग और राग का जो अज्ञानी कर्ता होता है, उस योग और राग को उस कार्य के कार्यकाल में तो कार्य वहाँ हुआ है, परन्तु वह योग और राग का कर्ता होता है, उसे उसमें निमित्त कर्तारूप से कहा जाता है। आहाहा!

निमित्तमात्र भिन्न चीज़ है और निमित्तकर्ता भिन्न चीज़ है। यह क्या कहा? कि पर का जीवन और मरने का जो समय है, पर का, उस काल में वहाँ होता है, ज्ञानी को ऐसा विकल्प आवे कि इसे मैं बचाऊँ या मारूँ, ऐसा विकल्प, कर्ता नहीं। उस विकल्प का कर्ता भी नहीं। धर्मी है, उसे वह विकल्प आवे परन्तु उस विकल्प का भी वह कर्ता

नहीं, एक बात। और वह दूसरे के जीवन-मरण और उसे सुख-दुःख की सामग्री का काल था तो उसे सुख-दुःख की सामग्री आयी उसकी, तब ज्ञानी ऐसा माने कि इसमें तो मैं निमित्तमात्र हूँ। निमित्तकर्ता अलग और निमित्तमात्र अलग। दोनों में बड़ा अन्तर है। देवीलालजी! अरे! अब ऐसी बातें! भगवान का मार्ग बहुत अलग! ऐसे कार्यकाल में योग और राग का कर्ता हो वह, उस योग और राग को उसे निमित्त कहा जाता है और वह अज्ञानी योग और राग का अज्ञानरूप से कर्ता होता है, इसलिए उस योग और राग के कार्यकाल में निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है। ज्ञानी को नहीं, तथा आत्मा को नहीं। समझ में आया?

जो जड़ के और पर आत्मा के कार्य तो उस समय में होनेवाला वह होता है। अब उसमें निमित्त कौन? कि आत्मा निमित्त नहीं। एक बात। तब निमित्त कहना किसे? कि ज्ञानी है, उसे वह राग तो आता है, तथापि वह राग का कर्ता नहीं, इसलिए वह जीवन-मरण के वहाँ कार्यकाल में ज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ; निमित्तकर्ता नहीं। भाई! आता है न? बन्ध अधिकार में, बन्ध अधिकार में आता है। समयसार नहीं यहाँ। वह नहीं, टीका जयसेनाचार्य की टीका। यह समयसार वह तो दिखता है। टीका में है टीका में, परन्तु बन्ध अधिकार की बात हो गयी है, बहुत बार बात हो गयी है, २५१, २५२ गाथा, ५३, ५४, बन्ध अधिकार की गाथा में। धर्मी जीव जो है, जिसकी दृष्टि द्रव्य—ध्रुव पर है, उस सम्यग्दृष्टि को पर्यायदृष्टि उड़ गयी है तथा राग और योग का कर्तापना भी जिसे उड़ गया है। आहाहा! ऐसा जो धर्मी जीव, जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान त्रिकाली चैतन्य के अवलम्बन से जो हुआ है, उस निर्मल परिणाम में, निर्मल परिणाम तो सामने (वाले के) कार्यकाल में निमित्त भी नहीं, निमित्तकर्ता भी नहीं। आहाहा! मात्र उसे विकल्प उठा है और वह वस्तु सामने जीवन सामनेवाले का हुआ, वह तो उसके कारण से है, देह छूटा, वह उसके कारण से छूटा है। उसे आहार-पानी, पैसे की सामग्री उसे गयी इसके हाथ से, वह उसके काल में गयी। ज्ञानी ऐसा मानता है कि उसमें तो मैं निमित्तमात्र हूँ, वह तो उसके कारण से वह हुआ है। निमित्तकर्ता नहीं।

अरे! अरे! ऐसी क्या बात! निमित्तकर्ता तो सामने कार्य हुआ है, उसके जो योग,

राग और इच्छा और दया-दान के विकल्प का कर्ता जो होता है, उस राग को सामने (वाले) का निमित्तकर्ता कहा जाता है। ज्ञानी को निमित्त कहा जाता है, कर्ता नहीं। अरे! अरे! समझ में आया? यह पूरे दिन काम में लेना और कहना कुछ काम करता ही नहीं। कहो, कठिन काम है। यह अन्त में कहा। योग और उपयोग का तो आत्मा भी कदाचित् भले अज्ञानरूप से कर्ता हो। परन्तु आत्मा... तो भी परद्रव्यस्वरूप कर्म, जो सामने जीवन होता है, मरण होता है, पैसे जाये, पैसे आये, घट-पट-रथ रचे जायें, उसके कार्य का तो आत्मा कर्ता निमित्तरूप से भी नहीं है। समझ में आया इसमें? आहाहा!

भावार्थ :- यह तो धीर का काम है, भाई! आहाहा! वीतराग जिनेश्वर परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है। यह साधारण जनता को तो सुनने को भी नहीं मिलता। आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य शास्त्र रचने में निमित्तमात्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्तमात्र है, कर्ता नहीं।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य का ज्ञान निमित्तमात्र या राग निमित्त है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग, विकल्प उठा, वह निमित्त है। ज्ञान में तो राग और सामने क्रिया हो, वह ज्ञान में ऐसे निमित्त है। आहाहा! अब ऐसी बात सुनना और पचाना... कहो, कान्तिभाई! यह इनके प्लेन में थे बड़े। यह प्लेन अलग प्रकार का है यह। आहाहा!

यह तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का प्रवचनसार—जो दिव्यध्वनि (का) सार वह यह समयसार। आहाहा! भाई! इसकी बात सुनने को मिलना भी पूर्व के पुण्य के योग बिना मिले नहीं, प्रभु! आहाहा! बहुत ऊँचा काम! जगत के माने हुए भाव से यह पूरी बात अलग है। आहाहा! यह गाथा ही बहुत ऊँची है।

ऐसा मान बैठे (कि) हम धर्मी हैं और हम ज्ञानी हैं, ऐसा माने परन्तु अन्दर में जो राग आवे और उसका कर्तापने माने और सामने क्रिया होती है, उसमें मैं निमित्तकर्ता तो हूँ न? आहाहा! तो वह भाव अज्ञानभाव है, मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! कहो, मनहर! आज तो सवेरे याद आया था। गाँडाभाई ऐसे तपेले में ऐसे-ऐसे करते थे, वह

देखा था पालेज में, पालेज। वह चुनीलाल मोतीलाल की दुकान में थे न, उसे कंसारा का धन्धा था हमारे गाँडाभाई को। टाँकी से नाम लिखे न उसका नाम। वह बराबर देखा है। आज सवेरे याद आया था। परन्तु कहते हैं, अरर्र! यह नाम वह बर्तन ले न यह कहे हमारा नाम इसमें लिखो। आहाहा! कहते हैं कि वह तो वहाँ कार्यकाल जड़ का उस प्रकार से अक्षर पड़ने का कार्यकाल था, वह अक्षर हुआ, टाँकी ने किया नहीं, आत्मा ने किया नहीं, आत्मा के राग ने और योग ने किया नहीं, परन्तु वह करने के काल में जिसका राग और योग का कर्ता जीव जो है अज्ञानी, वह हो, अज्ञानरूप से, उस योग और राग को निमित्तकर्ता आरोप से कथन किया जाता है। परन्तु आत्मा तो उसमें निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

भावार्थ :- (योग अर्थात् मन, वचन, काया के निमित्तवाला) आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन (चलन).... कम्पन। योग की व्याख्या कही। सामने कार्य के काल में योग निमित्त है। किसका? कि जो योग का कर्ता होता है उसका। उस निमित्त का अर्थ ही है दूसरी चीज़, ऐसा। वहाँ कार्य होता है, इसलिए यहाँ योग का कर्ता होता है, उसे योग का निमित्तकर्ता सामनेवाले को कहा जाता है। ऐसी उपादान और निमित्त की व्याख्या।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर, वीतराग त्रिलोकनाथ ने जानी हुई आयी हुई बात है। **(योग अर्थात् मन, वचन, काया के निमित्तवाला)....** अर्थात् मन, वचन और काया पुद्गल है न, वह तो निमित्त है। उसमें **आत्मप्रदेशों का चलन...** कम्पन, आत्मप्रदेश अन्दर कँपते हैं, उसे योग कहते हैं। उपयोग अर्थात्? जानने-देखने का उपयोग, वह यहाँ नहीं। यहाँ **उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना—जुड़ना।** यहाँ योग और उपयोग पर के कार्यकाल में निमित्तकर्ता जो कहलाते हैं, वह उपयोग अर्थात् क्या? कि ज्ञान का राग के साथ जुड़ना, उसे यहाँ उपयोग कहा जाता है। आहाहा! उपयोग अर्थात् ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसका कषाय अर्थात् पुण्य-पाप के राग के साथ उपयुक्त होना, ज्ञान (का) राग के साथ जुड़ जाना। आहाहा! उसे यहाँ उपयोग, यहाँ उपयोग उसे कहा गया है।

यह योग और उपयोग... घड़ा होने में; घड़ा तो घड़े से होता है, रथ रथ से होता

है, रोटी रोटी से होती है, दाल-भात, दाल-भात से होते हैं, उसकी पर्याय उससे होती है, परन्तु उसके निमित्त **घटादिक और क्रोधादिक...** क्रोधादिक अर्थात् जड़कर्म, जड़कर्म जो बँधते हैं, मोहनीयकर्म, वह क्रोधादि अर्थात् यहाँ जड़ आठ कर्म जड़, उस जड़ में आठ कर्म की पर्याय के जड़ में और बाहर के कार्यकाल में उसे **क्रोधादिक के निमित्त हैं।** कौन? योग और उपयोग, मन, वचन और काया जो यह पुद्गल है, वह तो निमित्त है और अन्दर कम्पन होना, वह उपादान अपना है। उस कम्पन को योग कहते हैं और ज्ञान का राग में और दया, दान के विकल्प में जुड़ जाना, उसे उपयोग कहते हैं। आहाहा! पुंजाभाई! इसमें कहीं नैरोबी में भी मिले, ऐसा कहीं नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु का। अरे रे! अकेला आया, अकेला जायेगा, अकेला रहेगा। आहाहा! पर के साथ कहीं तुझे सम्बन्ध नहीं। पर के कार्यकाल में भी तू निमित्त आत्मा, ऐसा सम्बन्ध नहीं है। कहते हैं। आहाहा!

मात्र वह योग और उपयोग, उपयोग अर्थात् जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह पुण्य और पाप शुभाशुभभावरूपी कषाय में जुड़ जाता है, जुड़ान हो जाये, जुड़ान हो जाये। आहाहा! वह योग और उपयोग घट, पट, रथ, दाल, भात, सब्जी की पर्याय होती है। आहाहा! वह और क्रोधादिक जड़कर्म बँधते हैं, उसमें यह योग और उपयोग निमित्त है। निमित्त है अर्थात् कि उससे हुआ है, ऐसा नहीं। हुआ है तो सामने से स्वयं के कारण से। आहाहा! मात्र वह कम्पन और ज्ञान में इच्छा, लोभ, रागादि का जुड़ना, वह उपयोग और योग, उस-उस घटादि के कार्य में और जड़कर्म के बन्धन के कार्य में, कार्य तो वहाँ उसके काल में (हुआ है, मात्र) इसे निमित्त कहा जाता है। **परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता।** आहाहा! भगवान आत्मा तो नित्यानन्द प्रभु, उसे वह घट-पट के कार्यकाल में और कर्मबन्धन के कार्यकाल में आत्मा को तो निमित्त भी नहीं कहा जाता। आहाहा!

सूक्ष्म बहुत, भाई! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा! अरे! सुनने को मिले नहीं, वह कब विचार करे और कब बैठाये? यह मनुष्यपना चला जाता है और देह छूटेगी (तो) अकेला चला जायेगा। आहाहा! अकेले कितने ही चले गये बेचारे, सब छोड़कर। उसका था कहाँ? आहाहा! जहाँ-तहाँ उस कार्यकाल में उसके योग और राग निमित्त

होते हैं और इसलिए उसका कर्ता होता है, इसलिए ऐसा मानता है कि मैं उसका निमित्तकर्ता हूँ। आहाहा! **परन्तु आत्मा को...** उनका **कर्ता नहीं कहा जा सकता।** ले, और यह योग को, राग को निमित्त कहा जाता है परन्तु भगवान आत्मा तो निर्मल नित्य है, उसे उस कार्यकाल में उसे—आत्मा को भी निमित्त नहीं कहा जाता। धीरे से तो कहा जाता है, भाई! यह कहीं वार्ता नहीं। यह तो तीन लोक के नाथ परमेश्वर ने जो सिद्धान्त देखा, सिद्ध हुई चीज़ें, उनका यह कथन है। आहाहा! चिमनभाई!

इस **आत्मा को संसार अवस्था में...** आत्मा को (कर्ता) नहीं कहा जाता परन्तु अब कहे किस प्रकार? कि अब **आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान से मात्र...** आहाहा! अपने स्वरूप का भान नहीं है, इसलिए **अज्ञान से मात्र...** अज्ञान से मात्र **योग और उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।** आहाहा! आत्मा को मात्र योग-उपयोग का कर्ता अज्ञानपने में कहा जाता है, पर का कर्ता तो है ही नहीं, निमित्तरूप से। आहा! कहो, सुजानमलजी! यह सब होशियार नौकर हों और आदमी हों और काम करते हैं न सब कैसे?

मुमुक्षु : अभिमान करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारा लड़का बड़ा काम करता है न?

मुमुक्षु : अभिमान से....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह तो पूरी दुनिया की बात है। आहाहा! ओहोहो!

प्रभु का मार्ग वह वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है, भाई! दुनिया के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं और इसलिए इस बात को लोग एकान्त कहकर उड़ा देते हैं। आहाहा! यह सोनगढ़वालों ने एकान्त मार्ग निकाला, निश्चयाभास। अरे प्रभु! सुन भाई! परमात्मा का यह वर्णन है। किसका है यह? साक्षात् भगवान विराजते हैं, वहाँ गये थे और वहाँ से (आकर) यह शास्त्र रचे हैं। भगवान का यह सन्देश है।

जिनवर ऐसा कहते हैं, ऐसा आता है न, बलुभाई! पर को जिला-मार सकता हूँ माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा जिनवर कहते हैं, सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं। आता है न? आहाहा! ओहोहो! जयन्तीभाई को तो अमेरिका—बमेरिका में कुछ सुनने को मिलता

नहीं वहाँ। यह सब व्यर्थ के हैरान होते हैं न! क्यों आनन्दभाई? भाई वहाँ जाते हैं न? कहते हैं, दो-चार महीने जाते हैं वहाँ। आहाहा!

आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान से मात्र योग और उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है। आहाहा! धर्मी को तो धर्म के परिणाम से भी पर के कार्यकाल में निमित्तकर्ता नहीं कहा जाता, परन्तु उसे रागादि जो होते हैं, वे उस ज्ञान में उसे निमित्त हैं, इसलिए उस राग को सामने में निमित्तपना कहा जाता है, निमित्तपना; निमित्तकर्ता नहीं। समझ में आया इसमें? आहाहा!

अरे, ऐसा मार्ग! भाई! यह तो परमात्मा, यह आत्मा का स्वभाव ही केवलज्ञान है। आत्मा प्रत्येक भगवान सर्वज्ञस्वरूपी ही भगवान है। अरे! कैसे बैठे इसे? अल्पज्ञ नहीं, राग तो नहीं, पुण्य तो नहीं परन्तु अल्पज्ञ नहीं। आहाह! भगवान! तू तो सर्वज्ञस्वरूपी है, प्रभु! वस्तु है न? उसका जो ज्ञानस्वभाव है, वह ज्ञान अपूर्ण कैसे हो? विपरीत नहीं और अपूर्ण कैसे हो? आहाहा! यह आत्मा, उसका सर्वज्ञ अर्थात् पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, त्रिकाल, हों! आहाहा! वह सर्वज्ञस्वभावी जो आत्मा प्रभु, वह तो पर के कार्यकाल में निमित्त भी नहीं। आहाहा! ऐसे सर्वज्ञ की पर्याय लोकालोक को निमित्त कहलाती है। भाई! निमित्तकर्ता नहीं। लोकालोक को भगवान जानते हैं और वह जानने का स्वभाव ही सब भगवान आत्मा का—प्रभु का पूर्ण है। उस स्वभाव की दृष्टि से देखे तो वह पर के कार्यकाल में तो निमित्तरूप से भी आत्मा नहीं है।

और जिसे सर्वज्ञपना प्रगट हुआ; जो स्वभाव था, वह प्रगट हुआ, भगवान तो सर्वज्ञस्वरूपी ही है प्रभु। वह सर्वज्ञपर्याय प्रगट हुई, वह लोकालोक को निमित्त है, निमित्तकर्ता नहीं और लोकालोक, वह ज्ञान में निमित्त है; लोकालोक ज्ञान का कर्ता नहीं, निमित्तकर्ता नहीं, भाई! आहाहा! आता है न अन्तिम सर्वविशुद्ध, सर्वविशुद्ध में आता है, भाई देवीलाल? यह केवलज्ञान जैसा अपना स्वभाव पूर्ण प्रभु का है, सब भगवान हैं। भाई! वह सर्वज्ञस्वरूपी ही तू है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! राग और पुण्य दया, दान के विकल्प तो तेरे नहीं, और तुझमें नहीं, परन्तु तुझमें तो अल्पज्ञपना भी नहीं। आहाहा! यहाँ तो सर्वज्ञ ने देखा हुआ कहा, उसमें सर्वज्ञस्वभाव तेरा है। आहाहा!

कठिन काम! पहले तो ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल, उसमें उसे अन्दर बैठाना... आहाहा!

इसलिए कहते हैं कि सर्वज्ञस्वभावी प्रभु तू है न! इसका अर्थ कि रागादि होते हैं या पर आदि होते हैं, उसका तू जाननेवाला-देखनेवाला स्वभाव, हों! नियमसार में तो ऐसा भी लिया है न भाई! कि आत्मा में जो ज्ञान-दर्शन है, वह आत्मा के त्रिकाली को जाने-देखे (ऐसा) उसका अपना स्वभाव है। क्या कहा यह? नियमसार में है।— आत्मा का जो ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, वह स्वभाव, त्रिकाली द्रव्य को जानने-देखनेवाला स्वरूप है। आहाहा! सब जीवों की बात है यह, हों! आहाहा! परन्तु उसकी पर्याय में जो अज्ञान और राग-द्वेष है, जिससे उसे सर्वज्ञस्वभावी—सर्वज्ञस्वभावी आत्मा हूँ, ऐसा राग के अज्ञान के कारण, राग में जुड़ान के कारण, सर्वज्ञस्वभावी के जुड़ान बिना,... समझ में आया? सर्वज्ञस्वभावी भगवान के साथ जुड़ान बिना, राग और कम्पन के साथ जुड़ान होने से पर्याय में, आहहा! और उसका वह कर्ता होने से, आहाहा! वह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा तो पर के कार्यकाल में निमित्त भी नहीं। आहाहा! और ऐसे देखो तो सर्वज्ञ पर्याय जहाँ प्रगट हुई, उसमें लोकालोक निमित्त; निमित्तकर्ता नहीं और लोकालोक में केवलज्ञान निमित्त। वह केवलज्ञान पर्याय उस लोकालोक को निमित्त, परन्तु केवलज्ञान पर्याय लोकालोक की कर्ता नहीं। अरे! ऐसा क्या? निमित्त क्या और निमित्तकर्ता क्या? चिमनभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

अरे रे! अनादि काल से, धनी अपना धनी को धारण नहीं किया इसने। आहाहा! ज्ञानस्वभावी, दर्शनस्वभावी, आनन्दस्वभावी भगवान को इसने धारण नहीं किया, उसे इसने नहीं माना, आहाहा! इस कारण यह भटक मरता है, ८४ के अवतार कर-करके। आहाहा! भले साधु हो, पंच महाव्रत पालन करे परन्तु वह तो राग है। इस स्वभाव को जानने का था, वह नहीं जाना। सर्वज्ञदर्शी, सर्वदर्शी स्वभाव जो वह शक्ति है, ऐसी सर्वदर्शी और सर्वज्ञ शक्ति है आत्मा में। ४७ में आता है। वह स्वभाव ही सर्वदर्शी सर्वज्ञ है। तब पर्याय में जो प्रगट हुआ, आहाहा! वह त्रिकाली सर्वज्ञदर्शी स्वभाव, वह तो परकार्य में लोकालोक को निमित्त भी नहीं, भाई! क्या कहा, समझ में आया? जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वभाव, वह लोकालोक को निमित्त भी नहीं, परन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वभाव में

से सर्वज्ञ सर्वदर्शी पर्याय हुई, वह पर्याय लोकालोक को निमित्त कहलाती है; निमित्तकर्ता नहीं। आहाहा! और जो केवलज्ञान और केवलदर्शन, उसमें लोकालोक निमित्त है, तथापि लोकालोक केवलज्ञान की पर्याय का कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें अब! वह साधारण सुनकर बैठे हों और मानो कि हम समझ गये, अब। यह मार्ग अलग प्रभु तेरा, भाई! आहाहा! वह यहाँ कहा। आहाहा!

भगवान सर्वज्ञ—सर्वदर्शी, वह आत्मा। वह आत्मा तो घट-पट आदि के कार्यकाल में कार्य तो उससे हुआ, घड़ा कुम्हार से हुआ नहीं, मिट्टी से हुआ। रोटी स्त्री से हुई नहीं, तवे से हुई नहीं, बेलन से हुई नहीं, वह तो उसके आटा से वह रोटी हुई है। आहाहा! इसी प्रकार जगत के जितने जड़ के कार्य और आत्मा के कार्य उसमें है, उस कार्यकाल में सर्वज्ञस्वभावी भगवान सर्वदर्शीस्वभावी आत्मा तो निमित्तरूप से भी नहीं है, कहते हैं। आहाहा! मात्र अज्ञानी जो राग और विकल्प और योग का, वहाँ दृष्टि है, ध्रुव पर दृष्टि नहीं। समझ में आया? उस इच्छा और योग पर दृष्टि है, पर्यायबुद्धि है, उसे ध्रुव स्वरूप मैं त्रिकाली हूँ, यह बुद्धि नहीं, ऐसे पर्यायबुद्धिवाले का राग-योग का वह पर्यायबुद्धिवाला कर्ता होता है, वह योग और राग के सामने कार्यकाल तो वह हुआ है, वह है, तब इसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा!

गजब बातें हैं! कितनों ने तो सुनी नहीं हो पहले कभी। ऐसी बातें हैं। निवृत्ति कहाँ है? पूरे दिन धन्धा-पानी पाप का धन्धा पूरे दिन। धर्म तो नहीं परन्तु पुण्य का भी ठिकाना नहीं वहाँ। पुण्य तो दो-चार घण्टे सत् समागम... परन्तु सत् समागम मिलना अभी मुश्किल है। किसी सत् समागम कहना? आहाहा! यह साधु होने के लिये यह सत् समागम है, ऐसा तो कुछ नहीं। अभी तो दृष्टि मिथ्यात्व है। यह राग की पर्याय का कर्ता होता है, पर के कार्य मैं हूँ तो होते हैं, ऐसे माननेवाले तो मिथ्यादृष्टि हैं। वह सत्संग नहीं, वह तो असत्संग है। आहाहा! अब यहाँ धर्म तो नहीं परन्तु सत्समागम जो चौबीस घण्टे में चार-पाँच घण्टे तो चाहिए, वह भी नहीं कि जिससे इसे पुण्य बँधे। आहाहा! अब पुण्य बँधने का ठिकाना न हो, उसे जाना कहाँ प्रभु! भाई! मार्ग ऐसा है! आहाहा!

ओहोहो! क्या गाथा! १०० गाथा में तो १०० नम्बर किये। शून्य की कीमत

ऐकड़ा आया वहाँ बढ़ गयी। १०० हो गया, १००। १०० यह। आहाहा! इसे विचार में इसके ज्ञान में इसे निगलना चाहिए। मनन-मनन करना चाहिए। यद्यपि मनन है, वह अभी राग है, दुःख है। आहाहा! परन्तु वह मनन आता है। अनादि से भिन्न दशा की श्रद्धा है, उससे सत्य क्या है, यह सुनकर उसका विचार और मनन आता है, परन्तु उस मनन का विकल्प है, वह भी दुःखरूप है। आहाहा! उस मनन के विकल्प का जो कर्ता होता है, वह अज्ञानी है। आहाहा! उसका आत्मा पर के कार्य में तो निमित्त नहीं, मात्र अज्ञानी मनन का कर्ता होता है, इसलिए वह जिसका निमित्त होता है, उसका उसमें निमित्तकर्ता कहा जाता है।

धर्मी जीव को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभाव, ऐसा जो तत्त्व प्रभु का, सच्चिदानन्द प्रभु सत्-चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द जिसका त्रिकाली ज्ञान और त्रिकाली आनन्द जिसका स्वभाव, ऐसे सच्चिदानन्द प्रभु को जिसने जाना और माना, और जिसका जिसे स्वीकार हुआ, ऐसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का स्वीकार होकर सत्कार हुआ, उसके परिणाम में तो निर्मलता आती है, शान्ति आती है, आनन्द आता है। आहाहा!

इस परिणाम में उसे जरा योग और राग होता है, वह उसके परिणाम में वह ऐसे निमित्त है। समझ में आया? जयन्तीभाई! सूक्ष्म बातें हैं, बापू! आहाहा! क्या कहा यह? सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु प्रत्येक आत्मा है। ऐसे सर्वज्ञ—सर्वदर्शी ध्रुव की जिसे दृष्टि हुई, परिणाम को ध्रुव में स्थापित किया, उसके जो परिणाम निर्मल हुए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि, वे परिणाम पर के कार्य में निमित्त तो नहीं, परन्तु उस परिणाम में योग और राग उस ओर निमित्त है। ज्ञान तो स्वयं से हुआ है परन्तु उसमें योग और राग और जो कार्य हुआ, वह इस ज्ञान में निमित्त है। ऐसा है यह तो। समझ में आया?

क्योंकि ज्ञायक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु का जिसे अन्तर्मुख होकर स्वीकार हुआ और दर्शन-ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, आहाहा! वह निर्मल पर्याय पर के कार्य में निमित्त तो नहीं, निमित्तकर्ता नहीं परन्तु वह ज्ञान में रागादि हों और पर कार्य जानने में आवे, उस ज्ञान में वे परकार्य और राग निमित्त होते हैं, ऐसे। उपादान तो स्वयं से ज्ञान हुआ है। समझ में आया? उथल-पुथल की बातें हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : गौणरूप से निमित्त है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं... नहीं.... नहीं.... निमित्त है। यह ज्ञान स्वयं स्व-परप्रकाशक है न ? स्व-परप्रकाशक हुआ, इसलिए पर प्रकाश में वह निमित्त है इतना, निमित्त हुआ अर्थात् कि उससे हुआ है, यह कहाँ आया ?

मुमुक्षु : मुख्यरूप से निमित्त है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं.... नहीं.... नहीं.... यह नहीं, ऐसा नहीं। ऐसे नहीं पकड़ में आता। पहले तो यह कह दिया कि केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है, अर्थात् क्या ? लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है, अर्थात् क्या ? है, इतना बस। और लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है और केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है, अर्थात् क्या ? एक दूसरी चीज़ है, बस इतना। वह क्योंकि ज्ञान में स्व-परप्रकाशक पर्याय प्रगट हुई है, उसमें सामने की चीज़ निमित्त का यहाँ ज्ञान प्रगट हुआ है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है।

अरे रे ! ऐसा सूक्ष्म, बापू ! क्या करें ! वीतराग का मार्ग बहुत एक ओर रह गया। अभी तो बड़ी गड़बड़ चली और सत्य की बात को अभी तो एकान्त कहकर उड़ा देते हैं। .... करे, क्या करे ? उसे खबर नहीं न ! आहाहा ! उस ओर, **यहाँ तात्पर्य यह है कि....** है ? जितना समझ में आये, उतना समझना, बापू ! यह तो परम अमृतसागर भगवान ने अमृतसागर उछाला है। परमात्मा ने अन्दर दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा आया 'ओमकार दिव्यध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' साधारण का काम कच्चा नहीं, गणधर जो हो, वह उसके अर्थ को विचारे। आहाहा ! 'अरु रचि आगम उपदेश' और आगम उपदेश की रचना करे—निमित्त से। आहाहा ! भाषा क्या कहलाये ! 'भविक जीव संशय निवारे' जो योग्य और पात्र जीव होंगे, वे यह वाणी सुनकर अपनी ओर का लक्ष्य करके... आहाहा ! संशय का नाश करे। कान्तिभाई ! आहाहा ! क्या है यह ? किस घर की बात यह ? भाई ! भगवान के घर की बात है, बापू !

तात्पर्य यह है कि—द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है... द्रव्यदृष्टि से, द्रव्य जो वस्तु है, उसकी दृष्टि से देखें, तब तो उस परद्रव्य का कोई भी निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। निमित्तरूप से, इस निमित्तपने का अर्थ कार्य तो वहाँ हुआ

ही है। आहाहा! कुम्हार समकिती हो, होता है या नहीं? तो घड़ा तो मिट्टी से हुआ है वहाँ। वह समकिती ज्ञानी, वह द्रव्यदृष्टिवन्त है; इसलिए वह उसका—घड़े का निमित्तकर्ता भी नहीं। कुम्हार भी समकिती होता है न? वह कहाँ जाति अवरोधक है? आहाहा! तो उस समकिती को विकल्प उठा जरा, घड़ा होता है उसमें वहाँ लक्ष्य, परन्तु उस विकल्प का भी कर्ता नहीं; इसलिए उस घड़े के कार्य का निमित्तरूप से भी वह कर्ता नहीं। आहाहा! समकिती महिला हो और रोटी होती हो, वह तो रोटी तो हुई, वह आटा का कार्य है, वह हुआ है। अब उसमें समकिती जो है, उसे स्व का जो ज्ञान हुआ है, उसमें ही परसम्बन्धी का ज्ञान भी साथ में हुआ है, तो उस ज्ञान में वह निमित्त कहलाता है। परन्तु उस कार्य में वह धर्मी और उसके परिणाम निर्मल, वे निमित्तरूप से भी नहीं कहलाते। आहाहा! ऐसी बातें अब! समझ में आया? पानी का घड़ा भरकर कुँए में से जो समकिती (महिला) है, ध्रुव के ऊपर दृष्टि के कारण सम्यग्ज्ञान हुआ है, उस कार्य का उसका आत्मा तो निमित्त नहीं परन्तु उसके निर्मल परिणाम भी निमित्त नहीं। मात्र विकल्प उठा है, इसलिए निमित्त (है, वह) विकल्प का कर्ता नहीं, इसलिए वह उसमें तो निमित्तमात्र हूँ, ऐसा वह जानता है। निमित्तकर्ता नहीं, ऐसा है। आहाहा!

अरे! परम सत्य प्रभु, यह कान में न पड़े, प्रभु! तेरा क्या होगा? आहाहा! यह अरबोंपति, जिन्हें यह सत्य कान में पड़ा नहीं, उसे तो विचार कहाँ से आवे? कहते हैं। आहाहा! वह मरकर, माँस आदि न खाता हो तो पशु में जाये, गधा और गधी हो, या गाय का बच्चा, बकरी का बच्चा। आहाहा! प्रभु! प्रभु! यह मार्ग ऐसा है, भाई! आहाहा! क्योंकि वहाँ क्षण में और पल में राग और योग का कर्ता होता है, पर का तो कर्ता नहीं। आहाहा! इस मिथ्यात्व के पोषण में, अनन्त जन्म-मरण निगोद के करने की सामर्थ्य है उसमें। भाई! भव और भव के भाव बिना का तू प्रभु। क्या कहा यह? चार गति के भव और उनका भाव भटकने का, उस भाव और भव रहित तू है। आहाहा! ऐसी जिसे खबर नहीं, ऐसा जिसे ज्ञान नहीं, वह राग और पुण्य के परिणाम में, मैं उनका कर्ता हूँ। आहाहा! दया के परिणाम का कर्ता हूँ। दया कर तो नहीं सकता, यह तो कहा न, वह तो वहाँ दया का कार्य तो वहाँ हुआ है, उसका आयुष्य और शरीर रहनेवाले थे, वह तो वहाँ हुआ है, वह कार्य है, परन्तु यह कहे कि मैं यहाँ आया, इसलिए बचा, यह

मिथ्यादृष्टि मानता है। परन्तु ज्ञानी को विकल्प आया, परन्तु उस विकल्प का भी कर्ता नहीं, सामने का अपने ज्ञान में विकल्प ऐसे निमित्त हो जानने में और वह कार्य हुआ, वह भी यहाँ जानने में निमित्त हो, क्योंकि स्व-परप्रकाशक पर्याय स्वयं से प्रगट हुई है, उसमें वह निमित्त कहा जाता है। सूक्ष्म बहुत, भाई! आज तो बहुत सूक्ष्म आया। यह तो तीन दिन से चलता है।

द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्ता नहीं। परन्तु पर्यायदृष्टि से.... देखा! पर्यायदृष्टि से अर्थात् अज्ञानी राग और योग का कर्ता हो, वह पर्यायदृष्टि से, **किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है।** आहाहा! समझ में आया? **इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्ता कहलाते हैं।** अज्ञानी के। ऐसा लिया न? यह तो किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय, अर्थात् अज्ञान के समय। क्या कहा यह? अज्ञान के समय जब तक अज्ञानी है, तब तक वह किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय में वह किसी समय अर्थात् कि राग का कर्ता होता है, वह अज्ञानदशावाला उस समय। यह तो निगलने जैसा है, बापू! आहाहा! अभी एक भाई सुना था, मस्तिष्क घूम गया था जरा। वे जमुनादास नहीं। मस्तिष्क अस्थिर हो गया है और वस्त्र निकाल डालता है और नग्न हो गया, मैं साधु हो गया, मुझे केवल(ज्ञान) होगा, ऐसा बोलता है। आहाहा! यह बात जिसे पर में बहुत लढण होता है न, फिर मस्तिष्क ठिकाने नहीं रहता। आहाहा!

अर्थात् कि **द्रव्य की पर्याय किसी समय...** अर्थात् कि अज्ञान के समय **किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है, इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्ता कहलाते हैं।** निमित्त होता है न? इसलिए निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा!

क्या भरा है! कुन्दकुन्दाचार्य और उनके टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य, गजब बात है! **परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है...** यह राग और योग का कर्ता स्वयं है, **अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता...** अन्य के परिणाम का तो अन्य द्रव्य कर्ता नहीं। समझ में आया? यह अज्ञान के समय राग का कर्ता हो, उस काल

में वह कार्यकाल तो वहाँ है, उसे यह अज्ञान किसी समय अर्थात् कि अज्ञान जब तक है, तब तक तो उसे कर्ता-निमित्तकर्ता कहा जाता है, परन्तु जब उसे आत्मा का ज्ञान हुआ, आहाहा! तो राग और योग का कर्तापना मिटकर ज्ञान में स्व को और राग-योग को जानने की पर्याय प्रगट हुई, उस समय तो वह निमित्तकर्ता भी नहीं है। आहाहा!

द्रव्य अपने ही परिणाम का कर्ता, **अन्य के परिणाम का कर्ता अन्य द्रव्य...** द्रव्य **कर्ता नहीं।** समझ में आया? अन्य के परिणाम तो परिणाम काल में हुए, उसका द्रव्य— आत्मद्रव्य कर्ता नहीं है। उसकी पर्याय अज्ञानकाल में जहाँ तक है, वहाँ तक राग— योग का कर्ता होनेवाला पर के कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहलाता है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०१, गाथा-१००, दिनांक २१-०२-१९७९, बुधवार, माघ कृष्ण-९

(समयसार) १००वीं गाथा फिर से १००... १००.... सौ टका। आहाहा!

टीका:—यह निमित्त-उपादान के सब झगड़ों का हल है इसमें। अपने बात हो गयी है। परन्तु रामजीभाई नये आये हैं न अभी। हमारे हीरालालजी।

वास्तव में... यहाँ से है, '**यत्किल**' शब्द है न संस्कृत में? वास्तव में घट-पट आदि जड़ पदार्थ आदि, अन्य क्रोधादि जड़कर्म-जड़कर्म, जड़कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि जड़कर्म, वह **परद्रव्यस्वरूप कर्म,....** वह है। अर्थात् कार्य तो वहाँ है। अब उसकी बात। वास्तव में तो वह ज्ञानावरणादि की कर्म की पर्याय, घटपटादि की पर्याय का निज क्षण है, इसलिए वह कार्य है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा! कार्य तो 'है' अब यहाँ निमित्त किसे कहना, यह अपेक्षा। निमित्त से होता है, यह प्रश्न यहाँ नहीं है।

यह तो कहा, घट, पट, वस्त्र, कपड़ा ऊँचा-नीचा होना, कोई भी चीज़, वह उसके निज क्षण में वह कार्य है। है न? परद्रव्यस्वरूप कार्य है। भले संस्कृत टीका में 'है' शब्द पड़ा नहीं। परन्तु वस्तु है, ऐसा लेना है। '**यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म**' बस 'कर्म' कर्म अर्थात् (कार्य) है, ऐसा। समझ में आया? यह हाथ आदि, यह अवस्था ऐसे होती है, ऐसे होती है, वह कार्य है, परद्रव्य का कार्य है, घट का कार्य है, पट का कार्य है। रोटी का कार्य है। सुतार के गाड़ा का कार्य वह कार्य है। वह कार्य यहाँ है। है, उस समय है, यह प्रश्न पहला है। समझ में आया? आहाहा!

'**किल**' **वास्तव में...** उस-उस समय में घट का घटरूप से कार्य है, पट का पटरूप से कार्य है, रथ का रथरूप से कार्य है, कर्म का कर्मरूप से कार्य है। **उन्हें आत्मा...** आहाहा! कितना स्पष्टीकरण है। गड़बड़-गड़बड़ बहुत करे बेचारे। क्या करे? **उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता।** अर्थात् कि घड़े के परिणाम, वे व्याप्य और आत्मा व्यापक—कर्ता, ऐसा तो नहीं। इसी प्रकार पट का कार्य, यह आत्मा कर्ता और पट का कार्य व्याप्य अथवा पट का कर्म और आत्मा कर्ता अथवा पट के और घट के परिणाम,

उन्हें परिणामी आत्मा और उसका परिणाम, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

यह बोलने की भाषा होती है, कहते हैं कि उस भाषा का कार्य तो है। जैसे पैर हिलते हैं, वह कार्य है। रोटी का कार्य कार्यरूप से है। आहाहा! अक्षर लिखे जाते हैं, वह अक्षर का कार्य अक्षररूप से तो है। अब है उसकी अपेक्षा, और आत्मा को उसके (साथ) सम्बन्ध क्या है? आहाहा! उस काल में वह कार्य तो है। उसमें आत्मा, वह कर्म और आत्मा कर्ता—ऐसा नहीं। वह कार्य—व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं। वह परिणाम—कार्य वह परिणाम और आत्मा परिणामी—ऐसा परिणामी-परिणामपना नहीं। वह व्याप्यभाव से तो कर्ता नहीं। देखा?

अब निमित्त की व्याख्या लेते हैं। आहाहा! परन्तु वह कार्य तो है। उस काल में निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न उठा, बस! नया होता है, यह प्रश्न नहीं। कार्य तो है। वह तो पहले से कहा न! आहाहा! यह 'है' यह प्रश्न है नहीं। बाद में हो तो भी है। 'है' का प्रश्न यहाँ है नहीं? 'है' इतनी बात यहाँ की, नया होता है उस समय, परन्तु है। समझ में आया? आदि जड़—आदि सब लिये हैं। और कर्म आदि जड़ आदि, कर्म जड़ है।

आत्मा तो कहीं पर का कर्ता आत्मा, आत्मा दूसरे आत्मा का कर्ता, यह तो प्रश्न यहाँ है नहीं, तो भी आत्मा का भी कार्य जो सामने है, वह है, उसे दूसरा आत्मा, उसके परिणाम का परिणामी होकर परिणाम करे, व्यापक होकर व्याप्य करे, कर्ता होकर कार्य करे—ऐसा तो है नहीं। आहाहा! समझ में आया? **क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये। तो परद्रव्य में स्वयं मिल जाये और अपनी भिन्नता रहे नहीं।** आहाहा! घट के परिणाम को यदि कुम्हार करे, तो कुम्हार घट में इकट्ठा मिल जाये, उसकी अस्ति भिन्न न रहे। आहाहा! पट के परिणाम को बुनकर करे तो बुनकर कपड़े में मिल जाये। सुतार गाड़ा को करे, व्याप्य-व्यापकरूप से, तो वहाँ गाड़ा के कार्य में सुतार मिल जाये, तो सुतार भिन्न रहे नहीं। आहाहा! समझ में आया? एक बोल हुआ। तन्मयपने का प्रसंग आवे। आहाहा!

क्या स्पष्टीकरण! अभी जगत के सब विवाद उठाते हैं। ऐई! निमित्त से होता है निमित्त से होता है। सुन तो सही अब! निमित्त आवे तो होता है, यह प्रश्न यहाँ है नहीं।

यहाँ तो कार्यकाल में निमित्त किसे कहना, यह प्रश्न है। समझ में आया? आहाहा! पर की दया पलती है, वह कार्य तो वहाँ आयुष्य और जीव जो है, वह कार्य तो है। अब उसमें, वह कार्य है, उस परिणाम को आत्मा परिणामी होकर करे, कर्ता होकर करे, व्यापक होकर करे, तो आत्मा उसमें मिल जाये, पृथक् नहीं रह सके। आहाहा!

आत्मा पर की दया का कार्य करे... गजब बात है, तो आत्मा कर्ता और वह कार्य, ऐसे दोनों मिल जायें, तन्मय हो जाये। आहाहा! आत्मा, वह जीव और शरीर है, उन्हें हिंसा (से) पृथक् करे, भिन्न करने का हिंसा का कार्य करे, तो वह कार्य तो उस काल में हुआ है, उसे भिन्न होने का, अब आत्मा यदि उसे करे तो आत्मा वहाँ इकट्ठा मिल जाये—तन्मय हो जाये। आहाहा! समझ में आया?

तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उनको) नहीं करता... आहाहा! वह कार्य जो है घट का, पट का, रथ का, गाडा का, रोटी का, सब्जी का। आहाहा! यह हाथ हिलने का, भाषा होने का, कर्मबन्धन के रजकणों का कर्मरूप पर्यायरूप से होने का वह कार्य तो है। अब उसे निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी आत्मा करता नहीं। आहाहा! उपादान अर्थात् उसका कार्य और आत्मा कर्ता, यह तो है नहीं, परन्तु अब उस कार्य में आत्मा निमित्त है, इतना कार्य तो है सही वहाँ? निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी, 'भी' अर्थात्? वह तो नहीं—कर्ता-कर्म तो नहीं, परन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी नहीं। आहाहा! **निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उन्हें नहीं करता)...** कुम्हार की आत्मा निमित्त और घड़ा उसका नैमित्तिक, इस प्रकार से नहीं है। आहाहा! यह स्त्री का आत्मा निमित्त और रोटी की पर्याय नैमित्तिक, ऐसा नहीं है। यह कफ निकलने का कार्य है, वह तो वहाँ कार्य है ही, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब उसे आत्मा कर्ता होकर उसे निकाले, ऐसा हो तो आत्मा उस कफ में एकमेक हो जाये। ऐई! आहाहा! गजब बात है न? १००वीं गाथा है न! १००, यह १०० टका दोनों स्वतन्त्र हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। **निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उन्हें नहीं करता)...** आत्मा... वह कार्य हुए पर के, उस काल में आत्मा निमित्त होकर करे? निमित्त न हो उसे, क्यों? **क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा।** तो जहाँ-जहाँ कार्यकाल हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को

निमित्तरूप से रहना चाहिए, उसकी उपस्थिति वहाँ रहनी चाहिए, यदि निमित्तरूप से भी हो आत्मा, तो आत्मा तो नित्य है। आहाहा! क्या शैली! यह बात तो अपने हो गयी थी। परन्तु यह तो अधिक, वह जन्मक्षण करके डाला है।

वास्तव में तो वह उत्पाद उत्पाद के कारण से है। घट की पर्याय उत्पादरूप है, वह उत्पाद के कारण से है, मिट्टी के कारण से नहीं, व्यय के कारण से नहीं। आहाहा! परन्तु अब उस कार्य में निमित्त किसे, निमित्त किसे कहना? दूसरी चीज़ है। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक दोनों को जानने का स्वभाव है। तब अब यहाँ जो कार्य हुआ, उसमें निमित्त कोई चीज़ है या नहीं? तब कहते हैं, यदि आत्मा निमित्त हो तो जहाँ-जहाँ कार्य हो, वहाँ-वहाँ आत्मा को उस अवस्था काल में रहना पड़ेगा, तो आत्मा पृथक् नहीं हो सकेगा। तो ऐसा नहीं है। शशीभाई! यह तुम्हारे लिये लिया है, कल तो बहुत चल गया था, परसों चला था थोड़ा सा। रामजीभाई आये, रामजीभाई के लिये फिर से लिया। आहाहा!

यह लोग विवाद करते हैं न, बापू! भगवान! वस्तु की स्थिति की मर्यादा क्या है, यह तो पहले समझ में ले। जिस काल में जो कार्य वहाँ होनेवाला है, वह होनेवाला है। वह तो है ही, ऐसा कहा बस। अब तब प्रश्न क्या है? अब उस काल में कोई निमित्तपना ज्ञान करने के लिये दूसरी कोई चीज़ है या नहीं? कि यदि उसे आत्मा व्यापकरूप से—कर्तारूप से—परिणामीरूप से परिणाम को व्यापकरूप से व्याप्य और कर्तारूप से कर्म करे तो आत्मा उसमें मिल जाये, तो पृथक् रहे नहीं; इसलिए ऐसा है नहीं। अब नैमित्तिक कार्य तो वहाँ है, परन्तु अब यदि आत्मा निमित्त हो तो आत्मा को जहाँ-जहाँ नैमित्तिक कार्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा की उपस्थिति रहनी चाहिए, ऐसा! यह सब होशियार लोग काम नहीं करते होंगे ऐसे? आहाहा! शशीभाई!

निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी (उनको नहीं करता)... आहाहा! वीतराग सर्वज्ञदेव के सिद्धान्त दिव्यध्वनि द्वारा निकले, वह इस बात को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! **क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जायेगा...** देखा! जगत के जड़ आदि के कार्यकाल में। आहाहा! आत्मा को

सदा निमित्तरूप से वहाँ रहना चाहिए, ऐसा **प्रसंग आ जाएगा...** इसलिए ऐसा है नहीं। आहाहा!

अब तीसरा बोल, **अनित्य...** अर्थात् **जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे योग और उपयोग ही...** देखा यहाँ? **योग और उपयोग ही...** योग अर्थात् कि प्रदेश का कम्पन और उपयोग अर्थात् राग में ज्ञान को जोड़ना, ऐसा जो उपयोग। उपयोग अर्थात् शुद्धोपयोग—यह प्रश्न यहाँ नहीं है। वह राग की पर्याय, वह ज्ञान राग में जुड़े, वह उपयोग, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

अनित्य (अर्थात्) **जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे...** कार्य तो कार्यकाल में है ही, अब यहाँ निमित्त, यदि आत्मा को निमित्त कहें तो, सब अवस्थाओं में उसकी उपस्थिति रहना चाहिए। तो ऐसा नहीं होता। तब अब अनित्य ऐसे योग और उपयोग, यह वाणी, मन और देह जो परमाणु है, वह तो निमित्त और कम्पन होता है, वह उपादान अपने में। वह कम्पन है और जो इच्छा और ज्ञान इच्छा में जुड़ता है, उसे यहाँ उपयोग कहते हैं, तो जो योग और उपयोग अनित्य है, उस-उस कार्य के काल में, उस-उस योग और उपयोग को निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा!

यह तुम्हारे क्या पण्डाल-बण्डाल बँधता है, उसमें? आहाहा! पण्डाल के कार्यकाल में पण्डाल का कार्य वहाँ होता है। इसे बाँधनेवाला ऐसा माने कि वह मुझसे होता है तो वह स्वयं वहाँ मिल जाये उसमें। अब आत्मा को कहें नित्य आत्मा, भिन्न रहकर उसे निमित्त हो, तो भी नित्य है, इसलिए उसे उसमें कायम रहना पड़ेगा, इसलिए वह आत्मा निमित्त भी नहीं है।

अब अनित्य ऐसे जो राग और कम्पन, वे कार्य के काल में, उसका योग और उपयोग उत्पन्न होने का उसका कार्यकाल है। वह उसे निमित्तकर्तारूप से कहा जाता है, निमित्तकर्ता, हों! निमित्त, अकेला निमित्त नहीं। समझ में आया? क्योंकि वहाँ कार्य हुआ है न? इसलिए योग और राग को निमित्तकर्तारूप से कहा जाता है। आहाहा! **अनित्य ऐसे सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते, ऐसे योग और उपयोग ही,...** देखा? उपयोग ही। वह नित्य आत्मा नहीं, आत्मा परिणामी, परिणामीरूप से कर्ता कर्म नहीं,

मात्र यह योग और उपयोग ही, है संस्कृत इसमें, *'अनित्यौ योगोपयोगयेव''* उपयोग एव' ऐसा शब्द संस्कृत में है। आहाहा! क्या टीका! **योग और उपयोग...** निमित्तरूप से **उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्म के)...** काल में निमित्तरूप से **कर्ता है।** ऐसा ज्ञान करना। आहाहा! समझ में आया? रोटी के ग्रास होकर अन्दर टुकड़े होते हैं, वह कार्य तो वहाँ होता है। अब उस कार्य को आत्मा व्यापक होकर व्याप्य करे तो आत्मा वहाँ मिल जाये; इसलिए वह है नहीं।

आत्मा नित्य है, वह नित्य यदि (निमित्तरूप से) रहे तो प्रत्येक कार्य के काल में उसे उपस्थित रहना पड़ेगा, वह नहीं। अब यह टुकड़े होते हैं उसमें, कार्य तो वहाँ हुआ ही है, रोटी के टुकड़े का, सब्जी के टुकड़े का, उसमें योग और उपयोग ही निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। है? **योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्ता है।** निमित्तरूप से अर्थात्? निमित्त से होता है, ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है? है तो है। यह विवाद पूरा यह शब्द है न? निमित्त आया, इसलिए मानो निमित्त से यहाँ हुआ, (ऐसा नहीं) यहाँ है तो है। आहाहा! योग और राग का उपयोग, उसे, उसके कार्य के काल में इस ओर को निमित्तकर्ता कहा जाता है। इसलिए वह आया, इसलिए यहाँ हुआ, ऐसा भी नहीं है, तब तो उससे हुआ। आहाहा! शशीभाई! भाई आये हैं न हसमुखभाई। यह समझने जैसी बात है। पूरे उपादान और निमित्त के झगड़े पृथक् हो जायें, ऐसा है। आहाहा!

(रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को... अब, वह तो निमित्तकर्ता कहा, किसे? कि **(रागादि विकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मा के प्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से आत्मा करने के कारण...** देखा? यह राग और कम्पन को अज्ञानी, अज्ञानपने के समय कर्ता होने से, आहाहा! उस कार्यकाल में उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। अज्ञानी राग और योग अर्थात् ज्ञान में जुड़ने का राग और कम्पन का अज्ञानी कदाचित् अर्थात् अज्ञान काल में कर्ता होने से उसे कार्यकाल में उस योग और राग को कर्ता होने से, ऐसे अज्ञानी के योग और राग, उसे कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। कहो, हीरालालजी!

आहाहा! गजब बात है। ओहोहो! १०० गाथा में कितना समाहित कर दिया है!

लोगों को मध्यस्थ से-शान्ति से विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए।

मुमुक्षु : लोग मध्यस्थ ज्ञान करे, ऐसा होता ही नहीं, अज्ञानी ऐसा ही करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! सुनने आते हैं, तब उसके लिये ऐसा कहे न कि सुनने तो तू आया है, भाई! तो अब सुन तो सही! यह क्या कहा जाता है, उस ओर तेरा लक्ष्य तो जाये, ऐसा इसका अर्थ यह है। आहाहा! वह स्वयं अपने परिणाम का कदाचित् अर्थात् जब तक अज्ञान है, तब तक आत्मा कर्ता होने से, आहाहा! वह भी यह सिद्धान्त किया कि ज्ञान में राग का जुड़ना, ऐसा जो उपयोग और कम्पन, वह भी अज्ञान से, अज्ञान है तब तक, अज्ञान से उसका वह कर्ता होता है, वास्तव में वह वस्तु है, उसका कर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो... आहाहा! क्या कहा यह? उसे यहाँ कर्ता हो, और वह उपादानरूप से कर्ता हो, और पर में निमित्तरूप से कर्ता उसे कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर के कार्य तो उसके उपादानकाल में कार्य हुआ, अब यहाँ भी राग और योग का अज्ञानी को अशुद्ध उपादान से कार्य हुआ अज्ञानी को। आहाहा! उसे पर कार्यकाल में, अज्ञानी योग और राग का कर्ता जो अज्ञानरूप से होता है, इसलिए उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है और इसलिए वह योग और राग का कर्ता अज्ञानभाव से आत्मा है, ऐसा कहा जाता है। उपादानरूप से कर्ता है और पर में निमित्तरूप से कर्ता कहा जाता है, ऐसा कहना है। आहाहा!

क्या कहा यह? जड़ के काम का कार्यकाल तो वहाँ है। अब यहाँ आत्मा अज्ञानी जो राग और योग का कर्ता अज्ञानभाव से करता है, इसलिए तब उसे कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है और यह योग और राग का उपादान कर्ता है। जो योग और राग का उपादान कर्ता अज्ञान से है, उसके योग और राग को कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! हीरालालजी! बहुत सरस आया है। हों! आहाहा! वह कहे, टूटा तब कोई कहे कि लकड़ी से यह टूटा नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसी बातें हैं अब। आहाहा!

यह वीतराग का तत्त्व! उपयोग का और योग का **तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो....** यह उपादान। अज्ञानरूप से राग ज्ञान में जुड़े और कम्पन का कर्ता अज्ञानी उपादानरूप से है, और पर के कार्यकाल में उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है, वह उपादान कर्ता जो अज्ञानी है, उसे पर के कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? जो आया था, वही आवे, ऐसा कुछ नहीं है। यह तो दूसरा। आहाहा!

मुमुक्षु : पहले प्राप्य की बात ली और आज जन्मक्षण की बात ली।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले प्राप्य की ली। वह तो आवे तब आवे न! वह कर्म जो है न, वह प्राप्य है उस काल का, ऐसा भाई! लिया था तब। आज कहा न पहले, घटादि और क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप व्याप्य है, प्राप्य है, उसी समय का वह प्राप्य है, उसे वह द्रव्य पहुँचता है, उस समय में वही है। आहाहा! यह जो जन्म-क्षण लिया, वह प्राप्य है। आहाहा! प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य आता है न? ७६ से ७९ और १०७ गाथा में आता है। प्राप्य का अर्थ यह है कि जिस द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय हो, वह उसका प्राप्य है, उसे वह पहुँचता है। वह पर्याय उस द्रव्य की। आहाहा!

अपने व्यापार को... अपने व्यापार को, वापस, हों! उपादानरूप से। पर के व्यापार को तो निमित्त कर्तारूप से। आहाहा! यह हाथ हिले, दाढ़ हिले, यह होंठ हिले, उसका कार्यकाल तो वहाँ है ही, परन्तु आत्मा उसके परिणाम को करे और परिणामी तो दोनों एकमेक हो जायें, परिणाम और परिणामी भिन्न न हो, कर्ता-कर्म भिन्न न हो, व्याप्य-व्यापकपना भिन्न न हो। व्याप्य-व्यापक कहो, कर्ता-कर्म कहो, परिणामी-परिणाम कहो (यह) भिन्न नहीं होते।

यदि वह परिणाम और परिणामी, यह कर्म और व्यापक कर्ता, यह व्याप्य और व्यापक वह तो दोनों एक हो जायें। इसलिए यह बात तो है नहीं। मात्र कार्य तो है वहाँ, प्राप्यरूप से है, जन्मक्षण है जड़ का। आहाहा! उस समय योग और राग, योग और राग, उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। क्यों? कि अज्ञानी अपने उपादानरूप से राग और योग को करता है इसलिए। आहाहा! समझ में आया? भाई! यह थोड़ा दूसरा आया वापस। कहीं वह का वह आवे? आहाहा! क्या गाथा? आहाहा!

वास्तव में... तो, ऐसा कहा न, वास्तव में शब्द है न, '**किल**' घट की पर्याय उत्पाद, उत्पाद से है, वह मिट्टी से भी नहीं और पिण्ड के व्यय से भी नहीं। आहाहा! क्योंकि पर्याय उत्पन्न हुई, वह सत् है, सत् है, उसे कोई हेतु (नहीं होता)। 'है' उसको हेतु क्या? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े लोगों को, परन्तु वस्तुस्थिति यह है, वस्तु की मर्यादा यह है। आहाहा! और क्रमबद्ध में भी यही हुआ न? क्रमबद्ध में पर्याय तो 'है' कहते हैं। वह है, ऐसा जो निर्णय करे, वह अकर्ता हो जाये। राग का भी अकर्ता हो और वास्तव में तो पर्याय भी 'भाव' गुण के कारण वह पर्याय उस काल में होती है, इसलिए फिर करना है, यह भी वहाँ नहीं। आहाहा! हाँ, उसे जानता है, ऐसा कहना, वह भी जानने की भी पर्याय है, वह जानने की पर्याय भी षट्कारकरूप से परिणमित होती हुई स्वयं खड़ी होती है। आहाहा! क्या वीतरागी तत्त्व! सर्वज्ञ परमेश्वर.... आहाहा!

मुमुक्षु : षट्कारक में तो कर्तापना आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता है न? पर्याय, पर्याय का कर्ता कहा न? और इसीलिए तो कहा है न पर्याय, पर्याय की कर्ता और सम्यग्दर्शन की पर्याय, पर्याय की कर्ता, परन्तु पर्याय का लक्ष्य द्रव्य पर जाता है। आश्रय, उसका ध्येय द्रव्य है, ऐसे कर्ता होकर जाता है। आहाहा! सम्यग्दर्शन का ध्येय द्रव्य है, ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव। परन्तु कहते हैं कि वह सम्यग्दर्शन की पर्याय भूतार्थ का आश्रय लेती है। भूतार्थ है न? आश्रय लेती है परन्तु वह स्वतन्त्र कर्ता होकर आश्रय लेती है। आहाहा!

मुमुक्षु : अकर्ता कहना और वापस कर्ता कहा दोनों...

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि में भी कहा था न, वहाँ कहा था व्याख्यान में ३८ गाथा में, प्रवचनसार की। भूत और भविष्य की पर्याय असद्भूत है, असद्भूत है, परन्तु ज्ञान में नियत निश्चय है, इसलिए व्यवहार से भूतार्थ है। व्यवहार से भूतार्थ है, हों! ज्ञान में नियत है। आहाहा!

जब भगवान आत्मा की पर्याय एक समय की उत्पाद स्वयं से हुआ, उसमें लोकालोक की पर्याय उसमें जानने में आती है। वह अपनी पर्याय के कर्ताकर्म से जानने में आता है। वह पर्यायें सामने हैं, इसलिए यहाँ कार्य हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! जब

वह असद्भूत पर्याय भी जब ज्ञान में नियतरूप से वर्तमान विद्यमान है, ऐसा कहा तो फिर प्रभु तो एक समय में विद्यमान में पूरा पड़ा है न! आहाहा!

एक समय में प्रभु विद्यमान है, उसका आश्रय लेना, वह तो 'है', उसका आश्रय लेना। आहाहा! वे तो—भूत-भविष्य की पर्यायें नहीं, उसे ज्ञान में नियत प्रत्यक्ष होता है, प्रत्यक्ष होता है, इसलिए उस पर्याय को नहीं होने पर भी उसे व्यवहार से है, ऐसा कहते हैं, भूतार्थ है। विद्यमान है। यह प्रभु तो एक समय में पूर्णानन्द का नाथ विद्यमान है न! आहाहा! अनन्त गुण का सागर भगवान आत्मा जिसके गुण की संख्या का पार नहीं। आहाहा! जिसकी एक समय की पर्याय का पार नहीं, अनन्त है न? समय भले एक है। आहाहा!

ऐसे विद्यमान भगवान आत्मा को विद्यमानरूप से है, 'है' रूप से है, जिसमें कार्य 'है' उसरूप से है, तब उसे निमित्त कहा जाता है, उसमें यह 'है' आत्मा, उसे दृष्टि में लेना। है, उसे दृष्टि में लेना, वह तो वस्तु है। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानी **कदाचित् अज्ञान से करता है, इसलिए योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता हो...** देखा? कर्ता पर के लिये वह निमित्तकर्ता, परन्तु स्वयं कर्ता उपादान से स्वयं है, अज्ञान से। स्वयं योग और उपयोग का कर्ता, निमित्तरूप से ऐसा नहीं। उपादानरूप से पर्याय में, द्रव्यरूप से उनका कर्ता नहीं, परन्तु पर्याय पर्यायरूप से जो योग है उपादान से, अशुद्ध उपादान से कर्ता है। आहाहा! वास्तव में तो वह योग और राग पर्याय, पर्याय का कर्ता है, द्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र है। द्रव्य तो निमित्त है, निमित्त है अर्थात् कि उससे हुआ नहीं, ऐसा। आहाहा!

योग और राग के काल में वहाँ उपादान, उसका अशुद्ध उपादान से हुआ है। इसलिए अज्ञानभाव से कर्ता हो, परन्तु वह आत्मा तो पर का कर्ता नहीं, ऐसा कहते हैं। है? **तथापि परद्रव्यस्वरूप पर का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।** आहाहा! क्या कहना है? कि जब तक मिथ्यादृष्टि जीव है, तब तक उसे द्रव्यस्वभाव की खबर नहीं, इसलिए उसकी पर्याय में राग—दया, दान आदि का राग और कम्पन, उसका वह अज्ञानभाव से पर्याय का कर्ता हो। आहाहा! द्रव्य तो उसका भी कर्ता नहीं।

द्रव्य जो है, वह इस योग और राग का भी कर्ता नहीं। आहाहा! यह सूक्ष्म। समझ में आया?

इसलिए कहा कि **योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है...** आहाहा! अधिकार बहुत (अच्छा है)। आहाहा! सब झगड़े मिट जायें ऐसा है। गाथा में आया है न विरुद्ध का यहाँ का, ४६ गाथा का, यह अध्यात्मी व्यवहार को मानते नहीं परन्तु यह व्यवहार है यहाँ, ४६ गाथा समयसार की। व्यवहार नहीं, किसने कहा?

मुमुक्षु : परन्तु निश्चय हो, वहाँ व्यवहार होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार है यह किसने इनकार (किया)। परन्तु व्यवहार धर्म है और व्यवहार के आश्रय से धर्म है, ऐसा नहीं है। व्यवहार न हो, तब तो पर्याय भी नहीं। व्यवहार अर्थात् पर्याय, पर्याय स्वयं व्यवहार है। परन्तु उसके आश्रय से धर्म और व्यवहार, मोक्षमार्ग है, और वह मोक्षमार्ग है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कल वाँचा नहीं? उसमें आया है, जैनदर्शन (पत्रिका) में परसों देखा था, कल वाँचा नहीं। यह इतना लिया। आहाहा! ४६ गाथा में आता है न? ऐसा कि यदि व्यवहार न हो तो त्रस-स्थावर जीव ही न हो तो उन्हें घात करूँ, जैसे राख को मसले, वैसा हो जाये। व्यवहार नहीं? त्रस और स्थावर जीव निमित्त-निमित्तरूप से सम्बन्ध भी नहीं? आहाहा! एकेन्द्रियपना, दोइन्द्रियपना, त्रिइन्द्रियपना, ऐसा पर्याय में व्यवहार से नहीं? निश्चय द्रव्य में नहीं? पर्याय में नहीं? उस काल में द्रव्य तो द्रव्य है, वह शुद्ध है परन्तु पर्याय एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिययप से वह नहीं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो निमित्तरूप से भी नहीं है...** आहाहा! तब? द्रव्य है, वह तो निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं, परन्तु ज्ञानी जो सम्यग्दृष्टि का ज्ञान है, वह भी निमित्तरूप से कर्ता नहीं। मात्र उस काल में योग और राग के काल में और कार्यकाल में उसमें ज्ञान निमित्त कहलाता है, क्या कहा यह? धर्मी का ज्ञान योग और राग के काल में उसमें ज्ञान निमित्त कहलाता है योग और राग में तथा उस कार्यकाल में भी ज्ञानी का ज्ञान निमित्त कहलाता है, परन्तु निमित्तकर्ता नहीं। अरे! अरे!

ऐसी बातें।

यह तो कहा नहीं था? कि केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है, अर्थात् क्या परन्तु? यह वह ज्ञान निमित्त है, इसलिए लोकालोक को किया है उसने? और लोकालोक केवलज्ञान में निमित्त है, इसलिए लोकालोक ने केवलज्ञान किया है? उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का ज्ञान योग और राग को करता नहीं, परन्तु योग और राग में उसका ज्ञान निमित्त कहलाता है और जो क्रियाकाल, कार्यकाल हो पर में, उसमें ज्ञान निमित्त कहलाता है और वह योग और राग और जो कार्य होता है, वह ज्ञानी के ज्ञान में स्व-परप्रकाशक स्वयं परिणमा है उसमें, इस ज्ञान को ऐसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! ऐसा है, शान्तिभाई! बहुत सूक्ष्म।

मुमुक्षु : आत्मा स्वयं ही सूक्ष्म है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु, वस्तु सूक्ष्म! आहाहा! वह तो ज्ञान का सागर है। आहाहा! ज्ञान का सागर प्रभु है, ऐसा ज्ञान हुआ तो ज्ञान राग-योग को ज्ञेयरूप से जानता है, इसलिए उसे योग और राग को यह ज्ञान निमित्त कहलाता है, उपादान नहीं और कार्यकाल जो जगत का है, उसमें ज्ञान निमित्त कहलाता है और वह योग और राग और कार्य ज्ञान में निमित्त कहलाता है पर्याय में। द्रव्य के साथ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है नहीं। यह तो पर्याय की बात है। आहाहा! अब ऐसा सब कहाँ? समझ में आया?

भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वरूप है, इसलिए जहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञानस्वरूप हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, वह तो योग और राग का कर्ता तो नहीं, पर के कार्य का कर्ता तो नहीं, परन्तु योग और राग को पर के कार्यकाल में निमित्त कहा जाता है, निमित्तकर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

निमित्त और निमित्तकर्ता में बड़ा अन्तर है। आहाहा! यह तो कहा नहीं? केवलज्ञान निमित्त है लोकालोक को, अर्थात् क्या? लोकालोक उससे हुआ है? तो लोकालोक केवलज्ञान को निमित्त है। लोकालोक ने केवलज्ञान किया है? निमित्त का अर्थ ही (यह कि) एक चीज़ है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! आहाहा!

भावार्थ :- योग अर्थात् (मन-वचन-काया के निमित्तवाला) यह कर्म जड़,

जड़ के **निमित्तवाला आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन (चलन) है...** कम्पन, आत्मप्रदेशों का कम्पन—योग, **और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपर्युक्त होना-जुड़ना,...** वह यह उपयोग, हों! वह उपयोग जानने-देखने का उपयोग, वह नहीं। **यह योग और उपयोग...** घट-पट-रथ-घड़ा हो, रोटी हो, मकान हो या जड़कर्म हो, उसमें यह **निमित्त है।** यह योग और उपयोग उसमें निमित्त है। कार्य तो हुआ है वहाँ, यह योग और उपयोग उसे निमित्त है, **इसलिए उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जावे...** देखा! आहाहा!

परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो द्रव्य नित्य है। आत्मा को तो कर्ता नहीं कहा जा सकता। परन्तु ज्ञानी के ज्ञान को भी उनका कर्ता, निमित्तरूप से नहीं कहा जा सकता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दृष्टि कुम्हार हो, वह घड़े की पर्याय में निमित्तकर्ता नहीं है। घड़े की पर्याय तो पर्याय काल में उसका उत्पाद तो उसके काल में हुआ है, परन्तु ज्ञानी निमित्त कर्ता भी नहीं परन्तु सामने का ज्ञान में उसके ज्ञान में जो योग और राग है, वह निमित्त हुआ ऐसे ज्ञान में, और घट हुआ, वह भी ज्ञान में निमित्त हुआ ऐसे। आहाहा! कहो, हीरालालजी! बराबर, आज गाथा ऐसी कठिन आयी है। आहाहा! सबका फडया है।

अरे! दुनिया कहाँ पड़ी है, क्या है, उसका जिसे अभी मनन और विचार भी नहीं। आहाहा! कहाँ चला जाता है भटकने? आहाहा! कहते हैं कि **उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक...** क्रोध अर्थात् कौन? यह जड़, हों! **निमित्तकर्ता कहा जाये, परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता।** आहाहा!

घड़ा, वस्त्र, दाल, भात, रोटी, सब्जी कार्य हो, उसमें आत्मा को तो कर्ता नहीं कहा जा सकता। आहाहा! योग और राग को निमित्त है, इसलिए उसे निमित्त कहा जाता है। **आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान से...** तब कहे, वह आत्मा करे, कुछ करता है या नहीं वह? पर का कर्ता नहीं, पर का निमित्त से भी कर्ता नहीं, **आत्मा को संसार अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है।** आहाहा!

राग, इच्छा और कम्पन, अज्ञान अवस्था में संसारी जीव को—मिथ्यादृष्टि को

उस राग और योग का कर्ता कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु अब जरा, परन्तु भाव तो भाई! (जो है, वह है)। आहाहा! तीर्थंकरदेव जिनेश्वर परमात्मा त्रिलोकनाथ की वाणी में आया है और वह सत् यह है। उसे सन्त इस वाणी द्वारा जगत को कहते हैं। आहाहा! परन्तु उस वाणी की पर्याय के वे कर्ता नहीं हैं। वाणी के काल में वाणी उत्पन्न हुई, वह वाणी का कार्य। आहाहा! उसमें आत्मा वाणी का कर्ता नहीं। आत्मज्ञानी है, वह भी निमित्तरूप से कर्ता नहीं। अज्ञानी जो योग और राग का कर्ता है, वह उस योग और राग और भाषा के काल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। आत्मा को तो निमित्तकर्ता भी नहीं (कहा जाता)। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है। देखा! आहाहा! वस्तुदृष्टि से देखें तब तो किसी द्रव्य का कोई निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। **परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय...** अवस्था दृष्टि से देखें तो द्रव्य की पर्याय किसी अर्थात् अज्ञान के समय, **किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है।** आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू! अब इसमें निवृत्ति कहाँ? धन्धेवाले को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं होती। स्त्री को पुत्र सम्हालना और पकाने के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, अब उसमें यह निर्णय करना। जिन्दगी चली जाती है ऐसी की ऐसी। आहाहा!

परमात्मा तीन लोक के नाथ, जिनेश्वर का यह हुकम है, उनकी यह आज्ञा है कि जो कार्यकाल हो, आहाहा! लड़का जो बड़ा होता है, शरीर... शरीर बड़ा होता है न, आत्मा कहाँ? वह कार्य उसमें है, उस कार्य का उसका आत्मा भी कर्ता नहीं। वह दूसरा आत्मा उसे यह बड़ा (होने की) क्रिया का कर्ता नहीं। यह बड़ी जवान अवस्था हुई उसकी, उसका आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं। तब? वह जवान-बड़ी अवस्था हुई, उसमें योग और राग को निमित्तकर्ता कहा जाता है, कार्य तो है ही वहाँ। अब वह योग और राग किसका? कि जो अज्ञानी है उसका। क्योंकि ज्ञानी को योग-राग है ही नहीं। ज्ञानी को तो ज्ञान है, योग-राग का वह ज्ञान है। योग-राग का ज्ञान है, वह अवस्था बालक बड़ा हुआ, उसका भी यहाँ ज्ञान है। ज्ञान में वह निमित्त है, परन्तु यह

आत्मा उसमें निमित्त नहीं। अरे... अरे! ऐसी बात! ऐई! तो फिर यह लड़कों को बड़ा करना या नहीं करना, क्या करना? ऐ चिमनभाई!

मुमुक्षु : माँ-बाप न हो तो बड़ा नहीं होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह तो परमाणु है तो उसकी अवस्था उस काल में होने की है वह होगी ही। शशीभाई! ऐसा कठिन है, बापू! धन्य काल! धन्य अवसर!! भाई! परमात्मा तीन लोक के नाथ का यह कथन है। आहाहा!

जैसे कि यह मन्दिर होता है, प्रतिमा स्थापित करते हैं यह कार्य तो वहाँ होने का था, वह उससे—जड़ से हुआ है। उसमें आत्मा निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं अथवा वह कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा नहीं है, वह व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है, (वह) परिणाम और आत्मा परिणामी, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उसमें आत्मा निमित्तरूप से भी इस मन्दिर की पर्याय का कर्ता नहीं, निमित्तरूप से हो तो वहाँ सदा कार्यकाल में रहना पड़ेगा। ज्ञानी का ज्ञान भी वहाँ निमित्तरूप से कर्ता नहीं। आहाहा! ऐई! यह तो जहाँ हमने किया, हमने किया, हमने किया, हमने मन्दिर बनाये, हमने प्रतिमा स्थापित की, हमने यह किया। अरे भगवान! सुन तो सही प्रभु एक बार, तेरी मर्यादा कहाँ है? आहाहा! आहाहा!

द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है। इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणाम के निमित्तकर्ता कहलाते हैं... अज्ञानी के, हों! **परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है...** आहाहा! **अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता....** वह सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव भी यह प्रतिमा, मन्दिर का स्थापन जो होता है, उसमें उसका ज्ञान निमित्त कहलाता है, परन्तु उसका निमित्तकर्ता भी वह ज्ञान नहीं है। अरेरे! यह बात कठिन, भाई! लो, अब एक घण्टा हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०१

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् -

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।१०१।।

ये पुदगलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।१०१।।

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणाम-वत्पुदगलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभव-द्ब्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्ब्याप्य जानात्येव। एवं ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्।

एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरण-वेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभ-नोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।।१०१।।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है:-

ज्ञानावरणआदिक सभी, पुद्गलदरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वह ज्ञानि है।।१०१।।

गाथार्थ : [ये] यो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गल द्रव्यों के [परिणामाः] परिणाम [भवन्ति] हैं, [तानि] उन्हें [यः आत्मा] जो आत्मा [न करोति] नहीं करता, परन्तु [जानाति] जानता है, [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है।

टीका : जैसे दूध-दही जो कि गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस के मीठे-खट्टे परिणाम हैं, उन्हें गोरस का तटस्थ दृष्टा पुरुष करता नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले

पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं है; किन्तु जैसे वह गोरस का दृष्टा, स्वतः (देखनेवाले से) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस-परिणाम के दर्शन में व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है, इसी प्रकार ज्ञानी, स्वतः (जाननेवाले से) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला, पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है, ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर, मात्र जानता ही है। इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।

और इसी प्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्र का (कर्म की गाथा का) विभाग करके कथन करने से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के सात सूत्र तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना; और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना।।१०१।।

प्रवचन नं. २०२, गाथा-१०१, दिनांक २२-०२-१९७९, गुरुवार, माघ कृष्ण-१०

श्री समयसार, गाथा १०१। १००वीं गाथा हो गयी। **अब यह कहते हैं कि ज्ञानी, ज्ञान का ही कर्ता है....** १००वीं गाथा में ऐसा आया कि परपदार्थ की जो पर्याय होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं। शरीर, वाणी, मन आदि परपदार्थ सब, उनकी पर्याय जिस समय में (जो होनेवाली) है, वह उसका कार्य उसके समय में जड़ का (कार्य) जड़ में होता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं। परन्तु अज्ञानी जिसे राग और कम्पन का कर्ता दृष्टि में है अज्ञानी, विकल्प जो है कुछ दया, दान, आदि के और कम्पन है, उसका जो कर्ता है, वह उसके कार्यकाल में निमित्तकर्ता कहा जाता है। समझ में आया?

ज्ञानी तो उस समय में जो कार्य होता है, उसमें उसके ज्ञान को निमित्त कहा जाता है और वह जो कार्य होता है जड़ आदि, वह ज्ञानी के स्व-परप्रकाशक ज्ञान में निमित्त कहा जाता है। बहुत सूक्ष्म है, भाई! आहाहा!

परद्रव्य का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। इस आत्मा के अतिरिक्त यह शरीर, वाणी, मन, कर्म, जड़ आदि, खाने-पीने की क्रिया आदि सब जड़ की क्रिया—वह जड़ का कार्य, जड़ में जड़ के समय में स्वयं से वह कार्य वहाँ जड़ में होता है, उसमें अज्ञानी निमित्त (कर्ता बनता है)। अज्ञानी उस (जड़ के) कार्य नहीं करता, परन्तु कार्यकाल में

अज्ञानी राग और कम्पन का कर्ता बनने से (जड़ के) कार्यकाल में उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। ऐसी बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

ज्ञानी, जिसकी दृष्टि आत्मज्ञान के ऊपर है और मैं आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, उसे-ज्ञानी को वह राग और योग आदि होते हैं, वह सब उसके ज्ञान में निमित्त (रूप से) आते हैं। आहाहा! और योग और राग का कार्य जो पर का होता है, उसमें ज्ञानी का ज्ञान निमित्त कहा जाता है और योग और राग और परकार्य, ज्ञानी अपने स्व-परप्रकाशकरूप से परिणमता है, उसमें वह निमित्त कहा जाता है। यह (बात) तो १००वीं गाथा में आ गयी।

अब यहाँ तो यह कहते हैं कि **ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।** जिसे धर्म (प्रगट हुआ), आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध सच्चिदानन्द ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है, उसकी जिसे दृष्टि हुई, और जिसकी पर्याय—अवस्था में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और स्वरूपाचरण की वीतराग की पर्याय उत्पन्न हुई, उसका नाम धर्म है और उसका नाम ज्ञानी कहते हैं। ऐसी बात है!

वह ज्ञानी! यहाँ तो ज्ञानी की व्याख्या की, ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो अपना चैतन्यस्वरूप है, उसका जिसे अन्तर-अनुभव हुआ, मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ। दया, दान, व्रत आदि के विकल्प, वह भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसा धर्मीजीव, जिसकी पर्याय में वीतरागपर्यायरूपी धर्म प्रगट हुआ है, उस वीतरागपर्याय को धर्म कहते हैं। वह धर्मी-ज्ञानी, अपना ज्ञान अर्थात् अपनी निर्मल वीतरागीपर्याय। आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी अपनी पर्याय है, उसका वह कर्ता है। हसमुखभाई! सूक्ष्म बहुत, बापू! यह दुनिया से प्रभु की चीज़ पूरी अलग, चीज़ पूरी अलग!! यह कहते हैं।

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

आहा! मूल श्लोक कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि का।

नीचे उसका (हरिगीत)

ज्ञानावरणआदिक सभी, पुद्गलदरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वह ज्ञानी है।।१०१।।

टीका :- १०१ (गाथा की) टीका। **जैसे दूध-दही जो कि गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस के मीठे-खट्टे परिणाम हैं...** आहाहा! गोरस है गोरस, उसमें दूध और दही वह गोरस के परिणाम हैं। वह गोरस की पर्याय है। समझ में आया? अभी तो दृष्टान्त है।

मुमुक्षु : गोरस अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : गोरस है न, (वह) गाय का रस (है न), फिर दूध और दही तो उसकी पर्याय है। आहाहा! गोरस जो सामान्य है, उसके दूध और दही गोरस के परिणाम हैं, दूध और दही (स्वयं) गोरस नहीं। यद्यपि दही और दूध गोरस द्वारा व्याप्त होकर—गोरस द्वारा होनेवाले, व्याप्त अर्थात् पर्याय में होनेवाले, उत्पन्न होनेवाले, उस समय गोरस में से दूध और दही की पर्याय उत्पन्न होने का कार्य है, वह गोरस का कार्य है। (वह) गोरस में से खट्टे-मीठे जो दही, दूध के परिणाम हुए, वे परिणाम गोरस के हुए हैं, उन्हें गोरस का तटस्थ देखनेवाला पुरुष करता नहीं है। आहाहा! गोरस में से जो दूध और दही, खट्टे-मीठे परिणाम हुए, उसे गोरस का देखनेवाला उनका कर्ता नहीं। (क्या कहते हैं)? कोई पुरुष बैठा हो उस कार्यकाल के समय (वह) देखता है—गोरस का देखनेवाला कि खट्टे-मीठे परिणाम (दूध और दही की पर्याय) गोरस से हुई है। उस परिणाम का कर्ता गोरस है। उसे देखनेवाला बैठा है, वह गोरस के परिणाम का कर्ता नहीं है। आहाहा! है?

उन्हें गोरस का तटस्थ दृष्टा.... तटस्थ (अर्थात्) दृष्टा, देखा? तटस्थ (तट+स्थ) गोरस के खट्टे-मीठे परिणाम में तटस्थ (अर्थात्) भिन्न, भिन्न-तटस्थ है, जैसे किनारे (बैठा हुआ पुरुष तरंगों को देखता है)। उसी प्रकार यह खट्टे-मीठे परिणाम को किनारे बैठा हुआ, गोरस का (देखनेवाला) मनुष्य तटस्थ **पुरुष कर्ता नहीं....** उन गोरस के खट्टे-मीठे परिणाम को देखनेवाला तटस्थ जो है, वह उनका कर्ता नहीं है। इसी प्रकार यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त.... जैसे गोरस द्वारा व्याप्त खट्टे-मीठे परिणाम, वह गोरस का कार्य है, गोरस का देखनेवाला

जो है, उसका वह कार्य नहीं, आहाहा! इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के **ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर,...** आहाहा! (क्या कहते हैं)? पुद्गलद्रव्य पदार्थ है, वह ज्ञानावरणादि पर्यायरूप से परिणमता है—वह पुद्गलद्रव्य जो है, वह ज्ञानावरणादि पर्यायकाल में उन ज्ञानावरणादिरूप परिणमता है, उसका वह काल है। आहाहा! और उस पुद्गलद्रव्य के ज्ञानावरणादि आठ कर्म की पर्याय है, वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है और उसका कर्ता पुद्गलद्रव्य और पुद्गलद्रव्य का वह कार्य है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू! वीतराग मार्ग।

यहाँ तो समय-समय के जो परिणाम पुद्गलद्रव्य के-ज्ञानावरणादि के (हुए), उस समय उसमें व्याप्त हुआ है पुद्गलद्रव्य (जैसे) गोरस व्याप्त हुआ है खट्टे-मीठे (परिणाम) दही और दूध में; उसी प्रकार ज्ञानावरणादि पर्याय में व्याप्त हुआ है पुद्गलद्रव्य। आहाहा! उस पुद्गलद्रव्य से होनेवाले उस समय में उसका प्राप्य अथवा उसी समय में ज्ञानावरणादि पर्याय उत्पन्न होने का उसका स्वकाल—जन्मक्षण था। आहाहा! आत्मा ने राग-द्वेष किये, इसलिए वहाँ आगे ज्ञानावरण आदि की पर्याय को होना पड़ा, ऐसा नहीं है।

यहाँ तो दूसरी बात कहनी है कि जैसे गोरस के खट्टे-मीठे परिणाम, वे गोरस का कार्य है, उन गोरस के देखनेवाले का वह कार्य नहीं है। आहाहा! गोरस के देखनेवाले के ज्ञान में वे परिणाम निमित्त हैं, और वे परिणाम जो खट्टे-मीठे के हुए, उन परिणाम में ज्ञानी का ज्ञान निमित्त है। अरे रे! कठिन पड़े, ऐसा मार्ग है। यहाँ तो कर्मबन्धन जो हुआ ज्ञानावरणादि—ज्ञानी की बात है न? तो ज्ञानावरणादि पर्याय हुई, शास्त्र में आता है कि भाई! समकिती को भी इतना ज्ञानावरणादि का बन्धन है, ऐसा उसके ख्याल में आया—सुना, तो वह ज्ञानावरणादि की पर्याय पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। है? परिणाम हैं, उनका ज्ञानी कर्ता नहीं है। उस ज्ञानावरणादि पर्याय का धर्मी कर्ता नहीं है। यद्यपि अज्ञानी भी कर्ता नहीं है, यह तो कहेंगे। मिथ्यादृष्टि भी उस परिणाम का कर्ता नहीं है, परन्तु उस परिणाम में उसका जो राग है, वह निमित्त होता है, तो निमित्तकर्ता कहा जाता है। परन्तु ज्ञानी को जो परिणाम हुए कर्म के, उन कर्म के परिणाम का वह ज्ञाता है। धर्मी तो उसके ज्ञान परिणाम का कर्ता है। आहाहा!

शास्त्र में आठों कर्मों की बातें आवे, इस आत्मा ने कर्म बाँधा और आत्मा ने भोगा और वह भी उस समय में जो आठ या सात कर्मबन्धन की पर्याय यहाँ होती है, वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है, पुद्गलद्रव्य का व्याप्य है, पुद्गलद्रव्य ने प्राप्य किया है। आहाहा! उस समय की जो पर्याय आठ कर्म की हुई, वह 'प्राप्य' वह पुद्गल का प्राप्य है। उसे पुद्गलद्रव्य पहुँचता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है, बापू!

उन्हें ज्ञानी करता नहीं... जिसे राग और कम्पन से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसी धर्मदृष्टि हुई है, धर्मी की धर्मदृष्टि हुई है। क्या? कि मैं राग और कम्पन से मेरी चीज़ भिन्न है, मैं तो ज्ञानानन्द-सहजात्मस्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि और ज्ञान, निर्मलपर्याय उत्पन्न हुई—वीतरागी सम्यग्दर्शन और वीतरागी ज्ञान और वीतरागी स्वरूपाचरण-स्थिरता, उसे यहाँ ज्ञानी अथवा धर्मी कहा जाता है। वह धर्मी, ज्ञानावरणी आदि पुद्गल के परिणाम हैं, उनका वह धर्मी कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! समयसार अर्थात्? आहाहा!

ज्ञानी करता नहीं, धर्मी उसे करे नहीं। ख्याल में आया—शास्त्र में ऐसा कथन था कि समकिती को भी इतना जरा कर्मबन्धन है—होता है, तो उस परिणाम का आत्मा कर्ता नहीं, परन्तु वे परिणाम अपने ज्ञान में निमित्त होते हैं। आहाहा! समझ में आया? धर्मी-सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, चैतन्यरूप, शुद्ध चैतन्य का ज्ञान और अनुभव हुआ हो, वह धर्मी है, वह ज्ञानी अपनी ज्ञानपर्याय जो हुई, समकित पर्याय हुई—स्वरूप के स्थिरता के अंश की जो पर्याय हुई, उसका वह (ज्ञानी) कर्ता है, परन्तु उस समय में कर्मबन्धन पर्याय हुई, उसका वह कर्ता नहीं, कर्ता तो नहीं परन्तु उसमें निमित्तकर्ता आत्मा नहीं। क्या कहा, समझ में आया?

पुद्गल जो है, वह कर्मरूप हुआ तो वह तो पुद्गल का कार्य है, उसमें अज्ञानी जो मिथ्यादृष्टि है, (वह मानता है) कि राग मेरा है—दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम मेरे हैं और मुझे (उनसे) धर्म होता है, ऐसा (माननेवाला) मिथ्यादृष्टि जीव, उस पुद्गल कर्मबन्धन के परिणाम में परिणाम का वह भी कर्ता तो नहीं, परन्तु वह मिथ्यादृष्टि राग और कम्पन का कर्ता होता है, इस कारण से बन्धन के परिणाम में अज्ञानी का राग और योग निमित्त कहा जाता है, निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! अब ऐसा!

जैन में कर्म के लिये तो कठिन, भारी। आत्मा कर्म को बाँधे और आत्मा कर्म को तोड़े! जड़ की पर्याय, आत्मा करे और जड़ की पर्याय का नाश करे, यह सब भ्रम है। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा!

ज्ञानी उसका कर्ता नहीं। **किन्तु जिस प्रकार वह गोरस का दृष्टा...** गोरस का दृष्टा—गोरस को देखनेवाला दूध और दही, खट्टे-मीठे परिणाम हुए, उनका देखनेवाला **स्वतः देखनेवाले से व्याप्त होकर....** आहाहा! स्वतः देखनेवाले से व्याप्त होकर अपने परिणाम में व्याप्त होकर—**स्वतः देखनेवाले से व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस के परिणाम के दर्शन में व्याप्त होकर...** गोरस के परिणाम को देखता है, वह देखनेवाले के परिणाम में व्याप्त होकर। ऐसा, अब हसमुखभाई मुम्बई में उसमें कहाँ सिरफोड़ पूरे दिन, पाप के परिणाम, पूरे दिन यह किया और यह किया। अरे रे!

प्रभु तो यहाँ ऐसा कहते हैं कि जो कर्मबन्धन की पर्याय जिस समय में प्राप्यरूप से परमाणु उसे पहुँचते हैं—उस कर्मबन्धन की पर्याय को परमाणु पहुँचते हैं अथवा वह कर्म की पर्याय उस क्षण में उत्पन्न होनेवाली कर्म की-पुद्गल की पर्याय में जन्मक्षण था। उस पर्याय का, अज्ञानी आत्मा भी कर्ता तो नहीं। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि, वह अपने राग और योग का कर्ता है, और वे राग और योग के परिणाम तो, परिणाम काल में कार्य तो हुआ, उसमें राग और योग को निमित्त कहा जाता है। निमित्तकर्ता कहा जाता है। ऐसी बातें हैं, बहुत सूक्ष्म, बापू! प्रभु का मार्ग! वीतराग जिनेश्वर की शैली! समय-समय के परिणाम, कर्म की पर्याय में—पुद्गल की पर्याय क्रमबद्ध जो पर्याय होनेवाली थी, वह क्रमबद्ध भी हुई, प्राप्य भी हुआ, जन्मक्षण भी हुआ।

क्या कहते हैं? कि पुद्गलद्रव्य जो जड़ है, उसमें जब ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि जब बँधते हैं, वह पर्याय, वह परमाणु की, उस समय में वह होनेवाली—उत्पाद होने का वह काल था—जन्मक्षण था अथवा वह ज्ञानावरणी आदि पर्याय हुई, उसे पुद्गल प्राप्य अर्थात् पहुँचता है, आत्मा नहीं। आहाहा! अथवा वह पुद्गलद्रव्य की जो पर्याय हुई, उस समय उस जन्मक्षण में हुई, उसमें पुद्गलद्रव्य उसका कर्ता है। उसका कर्ता अज्ञानी भी नहीं। अज्ञानी राग और पुण्य-पाप, दया आदि का कर्ता होता है। तो अज्ञानी

के राग आदि, पर में उपादान तो नहीं, वह तो पर्याय तो वहाँ हुई, मात्र अज्ञानी के योग और राग निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। अब ज्ञानी, धर्मी जो राग और योग के कम्पन से भिन्न मेरी चीज़ है, आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है—धर्म की पहली सीढ़ी! आहाहा! मैं तो यह दया, दान, व्रत आदि के परिणाम—राग का भी मैं कर्ता नहीं; मैं तो ज्ञान हूँ। आहाहा!

वह ज्ञान और आनन्द मैं हूँ, ऐसे परिणाम जो हुए, उस वीतरागी पर्याय का, वह ज्ञानी कर्ता है और वह वीतरागी पर्याय, ज्ञानावरणी आदि पर्याय उसने सुनी कि यहाँ है, तो उस परिणाम में उसका ज्ञानपरिणाम निमित्त है और उसके ज्ञानपरिणाम में वह पुद्गलपरिणाम कर्म-कार्य निमित्तरूप से हुआ, उसे यहाँ निमित्त कहो, वह दूसरी बात है। समझ में आया? अरेरे! ऐसी बातें। निमित्त तो, लोकालोक केवलज्ञान को निमित्त है। केवलज्ञानी भगवान को सर्वज्ञपना हुआ तो उस सर्वज्ञपने में लोकालोक निमित्त है। निमित्त का अर्थ वह तो एक चीज़ है, ऐसा ज्ञान कराते हैं, ऐसा निमित्त का अर्थ है। अर्थात् क्या? केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है और लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है, पारस्परिक निमित्त है। वह तो एक चीज़ है, उसका ज्ञान कराते हैं। निमित्त है तो निमित्त से हुआ, ऐसा नहीं, तो निमित्त कहाँ रहा? समझ में आया? अभी बड़ी गड़बड़ है।

केवलज्ञान, परमात्मा को—अरिहन्त सर्वज्ञ को हुआ, उस ज्ञान की पर्याय में लोकालोक निमित्त है और अपनी ज्ञानपर्याय लोकालोक में निमित्त है, बस चीज़ है ऐसी। इसी प्रकार धर्मी को, ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि जीव है, उसे अपने परिणाम जो वीतरागी ज्ञान-श्रद्धापर्याय आदि हुए, उनका वह कर्ता है और वहाँ जो राग और योग हुए हैं, उस राग और योग में यह ज्ञान निमित्त है और अपने परिणाम ज्ञान में राग और योग यहाँ निमित्त है। निमित्त अर्थात् 'है'। आहाहा! ऐसा मार्ग अब। बनियों को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। यह और कोई रामजीभाई जैसे (समय निकाले)। दूसरे बहुत तो पूरे दिन धन्धा और यह और वह। आहाहा!

भगवान! तू तो राग और कम्पन से भी निवृत्तस्वरूप है। यह तेरी चीज़ तो दया,

दान, व्रत, भक्ति के जो विकल्प—राग है, उससे भी तेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। आहाहा! उस राग का भी धर्मी कर्ता नहीं। धर्म, जिसे आत्मदृष्टि हुई, उसे राग होता है, उसका वह कर्ता नहीं। परन्तु राग होता है, उस राग सम्बन्धी का स्वपरप्रकाशक ज्ञान स्वयं से हुआ है, उसमें राग निमित्त कहा जाता है। ऐसा है, गाथा तो १०१ है। यह तो सादी गाथा है यह।

जैसे गोरस का दृष्टान्त, देखनेवाले से व्याप्त होकर—**व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस परिणाम के दर्शन में व्याप्त होकर मात्र देखता ही है...** गोरस जो है, (वह) दूधरूप और दहीरूप हुआ तो वह पर्याय गोरस की है और गोरस का प्राप्य है और गोरस का क्षण वह है कि दूध और दही—खट्टे-मीठे (पने की) पर्याय जो है, उस पर्याय का गोरस का देखनेवाला कर्ता नहीं है, परन्तु गोरस का देखनेवाला अपने परिणाम को देखता है और जो देखता है, ऐसा जो अपना परिणाम, उसमें व्याप्त है। परन्तु दूध-दही में व्याप्त तो गोरस है, उसमें गोरस के देखनेवाले की पर्याय उसमें व्याप्त नहीं। आहाहा! उसे देखनेवाले का जो परिणाम है, उस परिणाम में गोरस का देखनेवाला व्याप्त है, दूध-दही में व्याप्त नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

मात्र देखता ही है... भाषा देखो! आहाहा! उस दूध-दही की दशा होती है गोरस में से, उसे—गोरस को देखनेवाला मात्र देखता ही है, उसका कर्ता नहीं, और उसमें गोरस का देखनेवाला, व्याप्त नहीं तो उसमें पसरता ही नहीं, परन्तु उसका देखनेवाला गोरस का जो परिणाम हुआ—देखने का, उसमें व्याप्त है। आहाहा! यह तो दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त।

मुमुक्षु : दृष्टान्त कठिन लगा!

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन लगा।

मुमुक्षु : दूध से दही के परिणाम में जामन किसने डाला?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने डाला नहीं। डाले कौन? जामन डाला इसलिए दूध का दही हुआ, ऐसा नहीं है।

यह गोरस की दूध-दही की पर्याय का है तो उसका (गोरस का) कार्य। प्राप्य,

विकार्य और निर्वृत्य (समयसार गाथा) ७६-७७-७८। उस समय दूध-दही के प्राप्य होनेवाले में गोरस व्याप्त है, होनेवाला कार्य, वह कार्य होने का था। आहाहा! अरे रे! जगत की चीज़ ऐसी ही है। वीतराग जैनदर्शन तो बहुत सूक्ष्म, भाई! दुनिया के साथ कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। वाडावालों को भी खबर नहीं। अभी सम्प्रदाय में पड़े हों, उन्हें क्या चीज़ है (इसकी खबर नहीं।) आहाहा!

यह गोरस के परिणाम जो हुए, खट्टे-मीठे उसमें गोरस व्याप्त है, उसमें गोरस पसरा है और उसे देखनेवाला है, उसका दर्शन जो हुआ देखने का परिणाम, उसमें वह देखनेवाला व्याप्त है। पर में व्याप्त नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञानी... ज्ञानी अर्थात् धर्मी—जिसे आत्मा, राग और कम्पन से भिन्न आत्मा का ज्ञान हुआ है, उसका नाम धर्मी कहा जाता है। धर्मी कोई यह दया, दान, व्रत पालन करे और भक्ति करे और यात्रा करे, इसलिए वह धर्मी है—ऐसा नहीं है। वह तो सब राग है। आहाहा! ऐई! उस राग से मेरी चीज़ भिन्न है और मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, ऐसी वीतरागीपर्याय—सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ हो, उसे यहाँ धर्मी और ज्ञानी कहा जाता है। वह ज्ञानी, उसे राग होता है (तो भी) वह राग का कर्ता नहीं। उसे कर्मबन्धन होता है, उस पर्याय का (वह) कर्ता नहीं, परन्तु जो ज्ञानी, अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान, अपने द्रव्य के आश्रय से जो उत्पन्न हुआ है, उसमें राग निमित्त कहा जाता है और जो कर्मबन्धन के परिणाम ख्याल में आये, वे भी अपने ज्ञान में निमित्त कहे जाते हैं और कर्मबन्धन के परिणाम हुए और जो राग हुआ, उसमें ज्ञान निमित्त कहा जाता है, निमित्तकर्ता नहीं। आहाहा! अब इतनी शर्तें आयी हैं। कहो, हसुभाई! कहा इसमें निवृत्ति कहाँ, बापू! आहाहा! अरे रे! भाई! भगवान तीन लोक के नाथ (ऐसा फरमाते हैं)।

अनन्त द्रव्य हैं, तो प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायरूप से उस-उस समय में व्याप्त होकर परिणमता है। आहाहा! दूसरा द्रव्य उसे करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह तो ठीक, परन्तु अपने में जो योग—कम्पन होता है—यह मन, वचन, शरीर है, वह निमित्त और कम्पन है, वह उपादान, अपने में अपने से। वह कम्पन और

अन्दर दया, दान, व्रत आदि का राग हुआ, वह कम्पन और राग जो विकृत है, उसका कर्ता जो आत्मा होता है, यह कार्य मेरा है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी—अधर्मी है। आहाहा! वह अधर्मी जीव भी कर्मबन्धन की पर्याय जो हुई, उसका तो वह भी कर्ता नहीं। आहाहा! मात्र उसे निमित्त, उपादान वहाँ हुआ ही है। बस। इस ओर में अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि राग का कर्ता है, इस कारण से राग और योग को निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहाहा! गजब बात है। उपादान और निमित्त की बातें। आहाहा! हीरालालजी! समझ में आया या नहीं? यह तो ऐसी बात है, बापू! आहाहा!

हाथ टूट गया है न। देखा है न, भाई! आहा! हाथ टूटा तो भी उंकार किया नहीं, आँख में आँसू नहीं और उंकार नहीं। आहाहा! इतना हिम्मतवान। आहाहा! तब कहते हैं कि वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! वास्तव में तो वह परिणाम जो जड़ का होता है, उस पर्याय का प्राप्य वास्तव में तो उस क्षण में ही वह होनेवाली थी। आहाहा! आत्मा उस क्षण में जो राग का कर्ता हो, योग का कर्ता हो, तो उस कार्य में निमित्तकर्ता कहा जाता है। परन्तु राग और योग से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसे ज्ञान की पर्याय में कर्ता हो तो उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु निमित्तकर्ता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! बहुत सूक्ष्म, भाई! लोगों ने बाहर में अकेला व्यवहार खींच-खींचकर दया, दान, व्रत और भक्ति और तपस्या, पूजा और यात्रा में धर्म मनवा दिया है कि जो राग है। वह तो विकल्प-राग है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि उस राग का कर्ता जो होता है, उस समय जो कर्मबन्धन हुआ, वह तो उसमें पुद्गल की पर्याय हुई, परन्तु राग का कर्ता जो मिथ्यादृष्टि है तो उस राग के बन्धन में निमित्तकर्ता कहा जाता है—निमित्त अकेला नहीं, निमित्तकर्ता। और ज्ञानी को राग और कम्पन से भिन्न भगवान आत्मा है, ऐसा ज्ञान (होने से) धर्म जो वीतरागी पर्याय हुई, वह धर्मी, उस कर्मबन्धन की पर्याय में कर्म की पर्याय का कर्ता तो नहीं परन्तु उसका निमित्तकर्ता भी नहीं। आहाहा!

धर्मी जीव को अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान जो हुआ, उस ज्ञान में योग और कम्पन की—बन्धन की पर्याय का ख्याल आया तो वह अपने ज्ञान में निमित्त है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : आप स्पष्ट करके समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है। यह चन्दुभाई आये, देखो! यह सब सुनते हैं या नहीं? आहाहा! बापू! (यह) वीतराग का मार्ग! अन्यत्र वीतराग के सिवाय कहीं है नहीं, परन्तु उनका मार्ग समझना... आहाहा! बहुत दुर्लभ। अशक्य तो नहीं, दुर्लभ तो है, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे, सीमन्धर भगवान प्रभु महाविदेह में विराजते हैं। संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये, और उनकी टीका अमृतचन्द्राचार्य—दिगम्बर मुनि हजार वर्ष पहले हुए, उन्होंने यह टीका की है। आहाहा!

तो कहते हैं, इसमें कहते हैं और कहते हैं—कहा है न कि यह अक्षर जो बने हैं, उनकी पर्याय के काल में—प्राप्त के काल में अक्षर बने हैं, योग और राग हमारा नहीं तो इसमें हम निमित्तकर्ता भी नहीं।

मुमुक्षु : हमारा नहीं तो किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार का, पुद्गल का। निमित्त के आधीन हुए, अपने आधीन नहीं तो वे पुद्गल के हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई!

अरे रे! जन्म-मरण कर-करके कचूमर निकल गया है इसका। चौरासी के अवतार कर-करके, बापू! यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं, बाकी तो व्रत, तप, भक्ति और यात्रा तो ऐसे अनन्त बार किये हैं। आहाहा! समझ में आया?

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' मुनिव्रत धारण किये, पंच महाव्रत लिये, २८ मूलगुण पालन किये, हजारों रानियाँ छोड़ी, राजकुटुम्ब छोड़ा। आहाहा!

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' आहाहा! ग्रैवेयक। ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, परन्तु आत्मज्ञान बिना कुछ भी सुख नहीं मिला। यह राग की—महाव्रत की क्रिया, वह राग है—आस्रव है—अधर्म है। आहाहा! उससे भिन्न आत्मा है, उसका आत्मदर्शन—आत्मज्ञान—आत्मा आनन्दस्वरूप का आचरण हुआ नहीं, तो यह सुखी

नहीं हुआ, ऐसा कहते हैं। 'आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पाया'—पंच महाव्रत के परिणाम भी दुःख हैं—आस्रव है—राग है। आहाहा! समझ में आया? बहुत कठिन काम, भाई!

आहाहा! एक-एक श्लोक में कितनी बात सिद्ध करते हैं!!

ज्ञानी, धर्मी जिसे कम्पन और राग से भी भेदज्ञान हुआ है, उसका नाम धर्मी और ज्ञानी है। कम्पन-योग का उसमें निमित्त, मन-वचन-काया के पुद्गल, परन्तु उपादान कम्पन पर्याय में, आहाहा! वह कम्पन के या दया, दान, राग के शुभाशुभभाव से आत्मा का भेदज्ञान हुआ है, उसे ज्ञानी कहा जाता है। तथा राग और योग मेरे हैं—मैं उनका कर्ता हूँ, उसे अज्ञानी और अधर्मी कहा जाता है। आहाहा! हीरालालजी! ऐसा है, बापू! भाग्यशाली यह रह गये ऐसी चीज़ में और... ऐसा हुआ। आहाहा! मनुष्यपना रहा है न! टुकड़ा गया, तो कहीं मनुष्यपना गया नहीं, और उसमें भगवान आत्मा तो अन्दर भिन्न पड़ा है। आहाहा! उसका तो अवयव और अंश टूटता नहीं। अवयव—अंश टूटता नहीं है। आहाहा!

हाँ, यह भगवान आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु अन्दर वीतरागस्वरूप, उसमें राग मेरा है, दया, दान के विकल्प हैं, वह मेरा है तो आत्मा की शान्ति टूट गयी—आत्मा का अवयव टूट गया वहाँ। आहाहा! चन्दुभाई! ऐसा है, भाई! सूक्ष्म बात पड़े, प्रभु! खबर नहीं? समाज को यह शैली सुनने को मिली नहीं। वह तो व्रत करो और... अपवास करो... यात्रा करो... भक्ति करो और मन्दिर बनाओ और रथयात्रा निकालो, ऐसा मिले बेचारे को। आहाहा!

पर की क्रिया कर सकता है, ऐसा माने और उसमें होनेवाला शुभभाव, वह भी मानो धर्म है, ऐसा मानता है। आहाहा! यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि यह मन्दिर बने पच्चीस लाख का या पचास लाख का या करोड़ का, वह तो उसकी पर्याय प्राप्य उस पुद्गल की उस क्षण में होनेवाली ही थी, वह हुई है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा जो वहाँ है और कदाचित् उसका शुभभाव है तो वह पुण्य है और उसका जो कर्ता अपने को माने तो मिथ्यादृष्टि है।

परन्तु जिसे राग से और इस क्रिया से भिन्न अपने आत्मा को जाना है—मैं तो

ज्ञान—ज्ञाता-दृष्टा ज्ञानस्वरूप हूँ—मैं तो आनन्द और वीतरागमूर्ति आत्मा हूँ—जिन। 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट-घट अन्तर जैन; मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न।'—घट-घट अन्तर जिन बसे—जिनस्वरूपी भगवान तो जिनस्वरूप से अन्दर विराजता है, वीतरागमूर्ति। आहाहा! उसका जिसे ज्ञान नहीं और उससे विरुद्ध जो दया, दान, व्रतादि का ज्ञान और उसका कर्ता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि की मिथ्यात्व (रूप) यह क्रिया जो हुई, उसमें उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। उपादान तो वह पर्याय में है, उसके कारण से हुई है, उसमें मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व उसमें निमित्त कहा जाता है।

धर्मी जीव जो है। आहाहा! यह कहा न ज्ञानी—धर्मी जीव, वह तो राग से भी अपनी चीज भिन्न है, ऐसा भान और ज्ञान हुआ, वह ज्ञान और आनन्द परिणाम का वह कर्ता और उस समय में शुभराग आया तो वह शुभराग इस ज्ञान में निमित्त हुआ। ज्ञान, ज्ञान स्व-परप्रकाशक स्वयं से हुआ है, उसमें राग निमित्त हुआ और अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपने से हुआ है, उसमें यह क्रिया हुई, वह निमित्त हुई। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म की बाहर की पहिचान क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की पहिचान वीतरागता।

मुमुक्षु : बाहर की पहिचान?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर की पहिचान वीतरागता। पर्याय बाहर है न? शम, संवेग, निर्वेद आता है न, वह वीतरागता है। सूक्ष्म बात है, भाई! शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, अनुकम्पा, यह अकषायी भाव है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

अनन्त-अनन्त काल में अनन्त बार मुनि हुआ, अनन्त बार व्रत लिया; अनन्त बार भक्ति की, समवसरण में—भगवान के समवसरण में महाविदेह में तो अनन्त बार जन्मा, तो महाविदेह में तो तीर्थंकर का कभी भी विरह नहीं, उन तीर्थंकर के समवसरण में भी अनन्त बार गया, भगवान की वाणी सुनी, परन्तु राग को अपना माना और मिथ्यात्व तोड़ा नहीं। आहाहा! सुनने में जो शुभराग आया, वह राग मेरा है, ऐसी दृष्टि मिथ्यात्व है। क्या है यह वह ऐसी बात! समझ में आया? चन्दुभाई!

ऐसा कहाँ से निकाला, ऐसा एक व्यक्ति कहता था। नया पन्थ निकाला होगा यह ? अरे, भगवान! अनादि तीर्थंकर केवली परमात्मा त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर हुए, उनका यह अभिप्राय—यह मत है और भगवान विराजते हैं महाविदेह में, यह उनके कथन हैं और उनका यह अभिप्राय है। आहाहा! कठिन लगे, बापू!

आहाहा! एक-एक श्लोक में (गाथा में) कितना भरा है! ओहोहो! गजब सन्तों की शैली! दिगम्बर मुनियों की कोई (अलौकिक) शैली!! आहाहा!

ज्ञानी अर्थात् धर्मी, जैसे गोरस का पर्याय दूध-दही को देखनेवाला, गोरस के परिणाम को देखनेवाला, गोरस को देखनेवाला व्याप्त है। परन्तु दूध-दही के परिणाम में व्याप्त नहीं है। ऐसा वह धर्मी, कर्म जो बन्धन होता है, शास्त्र में आता है, चौथे गुणस्थान में इतने बँधते हैं, पाँचवें गुणस्थान में इतना बाँधे और छठवें में... यह सुनने में आता है। आहाहा! उस धर्मी जीव को अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप का भान है तो उस ज्ञान में ज्ञानी को वह कर्मबन्धन की पर्याय ख्याल में आयी कि यहाँ है, तो अपने ज्ञान में वह निमित्त हुआ। आहाहा! उसमें (ज्ञानी) निमित्तकर्ता तो नहीं, (मात्र) निमित्त, और वह चीज़ यहाँ निमित्त। आहाहा! इसका अर्थ कि वह चीज़ वहाँ बनती है तो वह स्वयं से होती है, इसलिए वहाँ निमित्त कोई दूसरी चीज़ कर्ता है, ऐसा नहीं है। उपादान कर्ता तो नहीं, परन्तु निमित्तकर्ता भी नहीं। अब यहाँ आत्मा में ज्ञान हुआ, वह स्वयं से, वह अपनी ज्ञान पर्याय तो (वह) अपने से हुई। उसमें वह (कर्म) निमित्त है तो निमित्त से ज्ञान हुआ, ऐसा है नहीं। तो उसमें राग और योग भी अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान धर्मी को हुआ, उसमें निमित्त है। निमित्त है तो राग और योग से ज्ञान हुआ, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया भाई! ऐ हीरालालजी! ऐसी बातें हैं, भगवान! भगवान हो प्रभु तुम! भगवान है न अन्दर। आहाहा!

जिसे आत्मा कहते हैं, वह तो भगवान है। रागादि कहते हैं, वह तो पुण्य-पाप तत्त्व भिन्न है। आहाहा! वह भिन्न है, शरीर-वाणी-कर्म तो अजीवतत्त्व भिन्न है। नौ तत्त्व है या नहीं ? तो शरीर-वाणी-कर्म तो अजीव तत्त्व में गये और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयकषाय के परिणाम तो पापतत्त्व में गये और दया, दान, भक्ति, पूजा, यात्रा आदि के

परिणाम पुण्यतत्त्व में गये। भगवान तो इस पुण्य-पाप तत्त्व से ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार ज्ञानी का ज्ञान, राग—पुण्य-पाप के भाव से भिन्न है। ज्ञानी को अपना ज्ञान हुआ तो भिन्न है ही—भिन्न है ही—भिन्न है और भिन्नता का भान हुआ। आहाहा! उसमें आता है न प्रज्ञाछैनी, राग और स्वभाव के बीच दरार है—सन्धि है। आहाहा! क्या कहते हैं? जैसे पत्थर में—राजकोट में एक बार देखा था, दिशा को गये थे न.... बड़ा पत्थर, उसमें डोरा हो, उसमें सुरंग डाले, पत्थर उड़ जाये। उसी प्रकार आत्मा में—भगवान सच्चिदानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा है—जिनस्वरूपी, उसकी पर्याय में जो राग है, राग-विकल्प दया-दान के, (वह) राग और आत्मा के बीच सन्धि है—सांध है, (दोनों) एक नहीं हो गये। समझ में आया? कहो, चिमनभाई! यह सब तुम्हारे मुम्बई में? कैसा क्या हुआ कोई भाई ने.... गाथायें लिखी हैं लालचन्दभाई ने १५-१९ और ऐसी कुछ लिखी है न.... क्या आता है... आहाहा!

ज्ञानी... अर्थात् धर्मी **स्वतः...** जाननेवाले को **व्याप्त होकर....** ज्ञान जो हुआ। यह स्वतः क्यों कहा कि राग निमित्त है तो राग से यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। यहाँ तो स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से स्वतः हुआ है। राग और योग है तो यहाँ निमित्त यहाँ हुआ तो उसका अधिकार है उसमें, ऐसा नहीं है। उसका जानना और अपना जानना, ऐसा स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वतः हुआ है। समझ में आया? धर्मी को स्वतः ज्ञान हुआ है।

वह **व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले पुद्गलद्रव्य के परिणाम जिसका निमित्त है...** देखो! क्या कहते हैं कि अपने स्वभाव में जो आत्मा के ज्ञानपरिणाम हुए, राग से और कम्पन से और पर से भिन्न होकर, तो उनका जो ज्ञानपरिणाम हुआ स्व-परप्रकाशक धर्मी को, उसमें व्याप्त होकर—उसमें व्याप्त होकर। है? उसे **पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है...** यह योग, राग और कर्मबन्धन जो हुए, वैसा यहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञान स्वयं से हुआ, उसमें वे निमित्त कहे जाते हैं। ऐसा है। गाथा... चन्दुभाई! बराबर ठीक आ गये हैं।

मुमुक्षु : निमित्तमात्र, निमित्तकर्ता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता-फर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें? ऐसा है, बापू धीरे-धीरे निगलने जैसा है, बापू!

अरे रे! ऐसा जन्म-मरण करके अपने स्वच्छन्द से अज्ञानी ने धर्म माना है, ऐसे मिथ्यात्वभाव में अनन्त भव किये, भाई! अनन्त भव हुए। आहाहा! यह भवभ्रमण मिटाने की चीज़ भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप, पुण्य-पाप के तत्त्व से भिन्न तत्त्व, आहाहा! और अजीवतत्त्व से भिन्न तत्त्व और अजीव का कार्य और पुण्य-पाप के कार्य से यह आत्मा भिन्न तत्त्व है। ऐसा भान हुआ तो अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान में, योग और राग तथा पर को निमित्त कहा जाता है। उपादान तो स्वतः अपने से (ज्ञान) हुआ। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है...** जिसका किसका (निमित्त)? स्वतः ज्ञानी जाननेवाला-जानपने में व्याप्त होकर उसमें, आहाहा! उसमें तो घर में बैठे और बहुत समझ में आये, ऐसा नहीं है। हीरालालजी!... आहाहा!

मात्र जानता ही है... देखो! ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर। कैसे ज्ञान में? जो राग और योग और परकर्म बन्धन की पर्याय हुई, वह अपने ज्ञान में—अपने स्व-परप्रकाशकज्ञान में व्याप्त है, उसमें वह निमित्त है, **ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर...** अपना ज्ञान जो हुआ, उस ज्ञान में व्याप्त होकर—अपना भी ज्ञान हुआ और पर का भी ज्ञान हुआ। अपने में रहकर अपना (ज्ञान) हुआ और राग का हुआ और पर का हुआ, ऐसे **ज्ञान में व्याप्त होकर मात्र जानता ही है...** आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।** धर्मी तो अपने वीतरागी पर्याय ज्ञान का कर्ता है।

विशेष आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०३, गाथा-१०१, दिनांक २३-०२-१९७९, शुक्रवार, माघ कृष्ण-१२

श्री समयसार, गाथा १०१। यहाँ तक आ गया है पहले....

फिर से, **जैसे दूध-दही जो कि गोरस के द्वारा व्याप्त होकर, उत्पन्न होनेवाले गोरस के ही खट्टे-मीठे परिणाम हैं...** क्या कहते हैं? गोरस जो है गोरस, उसमें दूध और दही, खट्टे-मीठे परिणाम हैं, वे गोरस के हैं—गोरस की पर्याय है। गोरस के परिणाम हैं और **उन्हें गोरस का तटस्थ दृष्टापुरुष कर्ता नहीं है...** उस गोरस में से दूध-दही की पर्याय / परिणाम हुए तो गोरस का देखनेवाला तटस्थ (पुरुष) उन परिणाम को कर्ता नहीं है। खट्टे-मीठे परिणाम का वह कर्ता नहीं है। यह तो अभी दृष्टान्त है।

इसी प्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त... ज्ञानावरणी जो कर्म है, वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। आहाहा! उसे **व्याप्त होकर...** पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरणी की पर्यायरूप पुद्गलद्रव्य व्याप्त अर्थात् कर्ता होकर, स्वतः **उत्पन्न होनेवाले पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं...** वह तो ज्ञानावरणी आदि कर्म की पर्याय, पुद्गल की पर्याय है। **उन्हें ज्ञानी करता नहीं है।** आहाहा! जिसे धर्मी कहते हैं, उसकी दृष्टि तो द्रव्यस्वभाव के ऊपर है। सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी, जिसकी दृष्टि द्रव्य-ज्ञायकस्वभाव पर होने से उसे तो ज्ञान के परिणाम होते हैं। यह ज्ञानावरणीय प्रकृति है, ऐसा ख्याल में—सुनने में आया तो ज्ञानी अपने ज्ञानपरिणाम का कर्ता है और उसमें वे परिणाम निमित्त हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। समझ में आया?

गोरस के मीठे-खट्टे परिणाम, वे गोरस से उत्पन्न हुए हैं। (उनका) देखनेवाला खट्टे-मीठे परिणाम का कर्ता नहीं है। देखनेवाला तो देखने के परिणाम का कर्ता है। ऐसा धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसे अपनी दृष्टि में द्रव्यस्वभाव आया है और द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से जिसे अन्तर सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है तो उस सम्यग्ज्ञान में ज्ञानावरणीय कर्म है, ऐसा ख्याल में आया—शास्त्र से सुना यह इत्यादि से तो, उस ज्ञान में, ज्ञानावरणीय कर्म निमित्त होता है, ज्ञानी ज्ञान परिणाम का कर्ता है परन्तु उस ज्ञानावरणीय पर्याय का कर्ता ज्ञानी / धर्मी नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? **उन्हें ज्ञानी कर्ता नहीं है।** आहाहा!

शास्त्र में से सुनने में आया कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानावरणीय है। है, ऐसा सुना तो ज्ञानी को अपने ज्ञान में वे कर्म के परिणाम, स्वपरप्रकाशक अपना ज्ञान हुआ, उसमें वे परिणाम निमित्त हुए। बहुत सूक्ष्म बात, भाई! उसे धर्मी कहते हैं। जो ज्ञानावरणीय कर्म बँधते हैं, उनका मैं कर्ता हूँ, वह तो मिथ्यादृष्टि जीव—अज्ञानी है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी उसे कहते हैं कि जिसे अपने स्वरूप का ज्ञान है और उस समय में ज्ञानावरणी की पर्याय जो है—जड़ की, उसका भी यहाँ ज्ञान है। वह ज्ञान अपने से, अपने में है, वह अपने में जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान ज्ञानी को है, उसमें ज्ञानावरणी की पर्याय निमित्त होती है—ज्ञान में निमित्त होती है। ऐसा सूक्ष्म काम! लोगों को (तो) बाहर से धर्म मान लेना है, दया-दान-व्रत-भक्ति-तप, वह तो सब राग है। यह कहेंगे अभी कि वह राग है, ज्ञानी-धर्मी उसका कर्ता नहीं, परन्तु ज्ञानी (को) अपने में स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपने द्रव्य के आश्रय से हुआ है, उसमें वह दया, दान आदि के विकल्प हैं, वे ज्ञान में निमित्त हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अपूर्व, यह तो अनन्त काल में इसने यथार्थरूप से कभी सुना ही नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप है, वह रागरूप नहीं, कर्मरूप नहीं, शरीररूप नहीं, मनरूप नहीं, वाणीरूप नहीं। आहाहा!

इसलिए अपना स्वरूप जो ज्ञायक है, उसका सम्यग्दृष्टि को—ज्ञानी को उसका ज्ञान हुआ है कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ—मैं जाननेवाला हूँ; जब ऐसे जाननेवाले का ज्ञान हुआ तो अपना भी ज्ञान हुआ और उस समय ज्ञानावरणीय—कर्म के परिणाम का ज्ञान अपने से हुआ है, उसमें वह निमित्त है तो ज्ञानी वह अपने ज्ञान-परिणाम का कर्ता है, परन्तु ज्ञानावरणी पर्याय का ज्ञानी कर्ता नहीं है। ऐसी बात है। कल तो आ गया था इतना।

किन्तु जैसे वह गोरस का दृष्टा.... गोरस के जो दूध-दही के परिणाम हुए, उन्हें गोरस का दृष्टा—देखनेवाला जो है, **स्वतः (देखनेवाले से) व्याप्त होकर...** देखनेवाले-देखनेवाले के परिणाम में व्याप्त होकर, गोरस के दूध-दही आदि परिणाम हुए, उनका देखनेवाला जो है, वह तो देखने के परिणाम में वह व्याप्त है, उन गोरस के परिणाम वह

व्याप्त नहीं है। पण्डितजी! ऐसा सूक्ष्म है। दुनिया कुछ माने और कुछ बैठी है, उसमें धर्म कहाँ रहा? आहाहा!

वह **दर्शन में व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है...** आहाहा! गोरस के परिणाम दूध-दही जो हुए, उन्हें गोरस का दृष्टा—देखनेवाला, अपने देखने के परिणाम में व्याप्त है, परन्तु दूध-दही के परिणाम का कर्ता नहीं और उसका व्याप्य भी आत्मा नहीं। आहाहा! है? **मात्र देखता ही है।** कौन? कि उस गोरस के जो दूध-दही परिणाम हुए, उन्हें गोरस का देखनेवाला मात्र देखता ही है, और देखनेवाले के परिणाम उस देखनेवाले के परिणाम देखनेवाले से व्याप्त है। आहाहा! और गोरस के परिणाम गोरस से व्याप्त है। अब ऐसी बात। प्रियंकरजी!

उसी प्रकार ज्ञानी.... धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं—ज्ञानी कहो या सम्यग्दृष्टि को। सम्यग्दृष्टि **स्वतः (जाननेवाले से) व्याप्त होकर...** अपने स्वरूप के जानने के परिणाम, उन परिणाम से समकिती व्याप्त होकर—वह उसका कर्ता होकर, वह ज्ञानपरिणाम उसका कार्य है। आहाहा! ऐसी बातें, अब कहीं.... ऐई! दुनिया कहीं चल गयी है और (यह) माल कहीं रह गया।

अपने से (ज्ञानी से) **व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला...** धर्मी-ज्ञानी स्वतः जाननेवाला, अपने से जाननेवाले में व्याप्त होकर—अपने ज्ञानपरिणाम में ज्ञानी व्याप्त होकर—धर्मी अपने ज्ञानपरिणाम जो हुए, उनमें व्याप्त होकर, आहाहा! व्याप्त अर्थात् वे ज्ञानपरिणाम कार्य हैं, आत्मा कर्ता है। गोरस के परिणाम कार्य है, गोरस उनका कर्ता है।

यहाँ धर्मी को स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ, उसमें गोरस के परिणाम निमित्त हैं और वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक अपने से हुआ है, वह ज्ञानपरिणाम गोरस के परिणाम में निमित्त है। ऐई! आहाहा! निमित्त का अर्थ—कि 'है' इतना। आहाहा! मार्ग कठिन, बापू! वीतराग सर्वज्ञदेव का धर्म अभी तो सुनने में (भी) मुश्किल पड़ता है।

बाहर में ऐसे व्रत करना, अपवास करना, यात्रा करना, पूजा करना, भक्ति करना, मन्दिर बनाना, वह धर्म है। वह कोई धर्म-धर्म है नहीं।

मुमुक्षु : प्रतिमा ले वह?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो व्रत कहा न, प्रतिमा ले लेना, वह तो विकल्प है—राग है। यहाँ तो धर्मी, पश्चात् राग की बात कहेंगे, अभी तो ज्ञानावरणी के जो परिणाम हुए—ज्ञानावरणी जो पुद्गल है, उसके वे परिणाम हैं। उनका (दूध का) गोरस कर्ता है।

आत्मा-धर्मी उसे कहते हैं कि अपने में ज्ञान करे और उसे परिणाम जो पर का है, उसका भी यहाँ ज्ञान होता है, और उस स्वपरप्रकाशक ज्ञान का ज्ञानी कर्ता होकर अपने परिणाम में व्याप्त होते हैं, परन्तु कर्म की पर्याय में वे व्याप्त नहीं होता। हसुभाई! इसमें कहाँ इसमें टाईल्स-फाईल्स में उसमें कहीं सूझ पड़ती नहीं रुपयों में। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई! आहाहा!

स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी,
तातैं वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेय शक्ति द्विविधा प्रकाशी,
निजरूपा पररूपा भासी॥

—क्या कहा? आहाहा! ज्ञेय—आत्मा ज्ञेय है और एक शरीर, वाणी, कर्म आदि की पर्याय ज्ञेय है। तो ज्ञेय दो प्रकार के हुए। 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी'—अपने को जानना, वह हमारी शक्ति है और पर को जानना, वह हमारी शक्ति है। 'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी।'—अर्थात् मानो कि पर को प्रकाशित करता है और पर से अपने में ज्ञान हुआ, ऐसी भ्रमणा अज्ञानियों को होती है। आहाहा! समझ में आया?

'स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी' आत्मा तो स्व और पर को प्रकाशित करे, वह परिणाम उसका है—वह धर्मी के परिणाम—ज्ञानी के परिणाम, ज्ञान के परिणाम। उन परिणाम में आत्मा व्याप्त होता है। परन्तु गोरस का देखनेवाला अपने परिणाम में व्याप्त होता है, परन्तु गोरस में व्याप्त नहीं होता, जैसे जाननेवाला ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञानपरिणाम में व्याप्त होता है, परन्तु कर्म के परिणाम में व्याप्त नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? है?

इसी प्रकार... धर्मी **ज्ञानी...** अर्थात् धर्मी-सम्यग्दृष्टि **स्वतः (जाननेवाले से)...**

स्वत: 'जाननेवाले', ऐसा वापस। वे कर्म के परिणाम जाने तो वह हैं, इसलिए जाने, ऐसा नहीं है। स्वत: अपने से स्वपरप्रकाशक के परिणाम उत्पन्न हुए हैं। आहाहा! अरेरे! अभी बात—धर्म सुनना कठिन पड़े। आहाहा! धर्म चीज़ बहुत ही अलौकिक है।

यह कहते हैं, **व्याप्त होकर, पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है...** क्या कहते हैं? धर्मी जीव, अपने को और पर को जानने के परिणाम करता है, उन परिणाम में व्याप्त है। उन परिणाम में ज्ञानावरणी की पर्याय निमित्त है। आहाहा! समझ में आया? निमित्त का अर्थ :— दूसरी एक चीज़ है, ऐसा। यहाँ स्वपरप्रकाशक (ज्ञान) हुआ तो वह निमित्त से हुआ, ऐसा है नहीं। गोरस के परिणाम का देखनेवाले को ज्ञान हुआ—दर्शन परिणाम, वह गोरस के परिणाम से देखने के परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानावरणी की पर्याय का यहाँ ज्ञान हुआ तो ज्ञानावरणी की पर्याय से ज्ञान नहीं हुआ। आहाहा! वह ज्ञान हुआ है धर्मी को अपनी स्वपरप्रकाशक शक्ति से अपना ज्ञान हुआ और ज्ञानावरणी पर्याय का भी ज्ञान हुआ। तो वह ज्ञानावरणी की पर्याय है निमित्तरूप से तो, उससे ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। अरे रे! इतने नियम और इतनी शर्तें! निवृत्त कब हो? आहाहा!

ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर, **पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है...** किसका? कि ऐसे ज्ञान में आहाहा! अपने आत्मा में स्वपरप्रकाशक ज्ञान, स्वदृष्टि से उत्पन्न हुआ—अपने ज्ञायकभाव की दृष्टि से धर्मी को स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ—उस पर्याय में आत्मा व्याप्त हुआ और **ज्ञान में व्याप्त होकर मात्र जानता ही है।** आहाहा! यह कर्म की पर्याय, शास्त्र में आता है कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानावरणी की पर्याय है, तो ज्ञानी तो मात्र जानता ही है। आहाहा! धर्मी तो जाननेवाला ही है। मुझे ज्ञानावरणी का बन्धन है और ज्ञानावरणी के परिणाम का मैं कर्ता हूँ, ऐसा है नहीं। और ज्ञानावरणी की पर्याय मेरे ज्ञान में निमित्त है, तो उससे यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। शशीभाई! ऐसी बातें हैं। अब ऐसा समाज में... मार्ग ऐसा है, भाई!

तेरी शक्ति तो स्वपरप्रकाशक है, तेरी शक्ति स्व का भी करे और पर का भी करे, ऐसी कोई शक्ति—स्वभाव तेरा नहीं है। समझ में आया? कर्म का बन्धन आत्मा करे

और आत्मा ज्ञान भी करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! आत्मा तो कर्मबन्धन की (जो) पर्याय है, उसका अपने में ज्ञान करने से जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में वह प्रकृति निमित्त पड़ी है, निमित्त अर्थात् कि एक चीज़ है। इसलिए उसका ज्ञानावरणी पर्याय यहाँ ज्ञान में निमित्त हुई तो उस परिणाम से—वह पर का—ज्ञानावरणी की प्रकाशक पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। कहो, हीरालालजी! कितना याद रखना। है?

मुमुक्षु : निमित्त अनुकूल परिणमन करता है साथ-साथ में....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसके कारण से उसमें है। अनुकूल का अर्थ कर्ता, परन्तु कर्ता उसका बिल्कुल नहीं। (देखो न!) अन्दर है अन्दर, उससे यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं, वह ज्ञान में निमित्त है, तो उससे ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : उसने जनाने का काम किया और आत्मा ने जानने का काम किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने जनवाने का कार्य किया और इसने जानने का कार्य किया। जानने का अर्थात् निमित्त। यह तो वह पहले कहा—पहले आया था न, दोपहर में आया था, ज्ञेय। सब ज्ञेय और एक ओर भगवान ज्ञान। आहाहा!

इस जगत में अनन्त द्रव्य हैं, सब द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञेय, उसमें एक आत्मा ज्ञाता। समझ में आया? भाई! अभी मार्ग बहुत गड़बड़ हो गया है सम्प्रदाय में। इसलिए यह बात सुनना भी मुश्किल पड़ता है।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसकी अन्तरस्वसन्मुख होकर ज्ञान हुआ है और उस ज्ञान में जो प्रकृति—कर्म की बँधती है परिणाम, उसका भी ज्ञान हुआ है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे ज्ञान में **व्याप्त होकर मात्र जानता ही है, वह ज्ञानी, ज्ञान का ही कर्ता है....** वापस यह सिद्ध किया। धर्मी तो अपना ज्ञान करता है और पर का ज्ञान करता है, उन ज्ञान के परिणाम का धर्मी कर्ता है। कर्म की पर्याय का कर्ता, आत्मा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो कल आ गया था, इतना। इतना तो कल आया था।

और इसी प्रकार 'ज्ञानावरण' पद बदलकर कर्म-सूत्र का विभाग (कर्म की गाथा का) विभाग करके कथन करने से दर्शनावरण... लेना। दर्शनावरणी कर्म की

पर्याय जो पुद्गल से होती है। यह परिणाम व्याप्य और पुद्गल उसका व्यापक। आत्मा अपने स्वपरप्रकाशक में दर्शनावरणी पर्याय अपने ज्ञान में निमित्त है और दर्शनावरणी पर्याय का ज्ञान यहाँ होता है—अपना ज्ञान होता है और दर्शनावरणी पर्याय का ज्ञान यहाँ होता है, परन्तु दर्शनावरणी पर्याय का ज्ञानी—धर्मी कर्ता नहीं है। धर्मी दर्शनावरणी पर्याय के ज्ञान का कर्ता है और अपने ज्ञान का कर्ता है। वह तो ज्ञानपरिणाम का कर्ता है। कहो, शशीभाई! ऐसा है।

इसी प्रकार **वेदनीय...** वेदनीयकर्म भी बँधता है, साता-असाता वह कर्म की पर्याय है, वह पुद्गल की पर्याय है, व्याप्य-कार्य है, तो धर्मी जीव वेदनीय कर्म की पर्याय को अपने में अपने से जानने में स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ, ऐसे ज्ञान में वेदनीयकर्म को वह जानता है। आहाहा! प्रियंकरजी! आज तो यह हिन्दी चलता है थोड़ा, परन्तु भाव तो जो हो, वह आवे न, दूसरा कहाँ से लायें? भाई! अरे रे! अभी तो धर्म कहीं दूर, अधर्म के नाम से धर्म... धर्म... धर्म बस। आहाहा! यह कहेंगे अभी।

मोहनीय... कर्म लेना। मोहनीयकर्म की जो पर्याय है, वह कर्म से व्याप्त है—पुद्गल से व्याप्त है। धर्मी मोहनीयकर्म की पर्याय के कर्ता नहीं हैं। धर्मी उसे कहते हैं कि अपना जो ज्ञानस्वभाव आनन्दस्वभाव जो है, उसका अनुभव हुआ और ज्ञान और आनन्द के परिणाम प्रगट हुए, उस ज्ञानपरिणाम में मोहनीयकर्म को निमित्त कहो, परन्तु वे परिणाम जो उत्पन्न हुए हैं, वे स्वयं अपने से। वह स्वतः स्वपरप्रकाशक परिणाम उत्पन्न हुए, उसमें मोहनीयकर्म का निमित्त कहो और मोहनीयकर्म में यह ज्ञान निमित्त कहो। आहाहा! परन्तु... धर्मी मोहनीयकर्म की पर्याय के कर्ता नहीं। आहाहा! चौथे गुणस्थान में आयुष्य न हो, तब सात कर्म बँधते हैं; आयुष्य हो, तब आठ बाँधे परन्तु कहते हैं कि धर्मी को जो वह आठ कर्म की पर्याय हुई, वह तो अपने ज्ञान में जानने में आया; मैंने बाँधी है और मुझे बन्धन हुआ है, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! जिनवरदेव का मार्ग कोई अलौकिक है। अन्यमत में तो कहीं है नहीं—वीतराग के अतिरिक्त कहीं यह बात है नहीं। सम्प्रदाय में भी अभी तो यह बात गुम हो गयी है। बस दया पालन करो, भक्ति करो, व्रत पालो, प्रतिमा लो, महाव्रत लो यह धर्म। वह तो सब राग है। यहाँ कहेंगे बाद में.... मोहनीय।

आयु... आयुष्य बँधा, ख्याल में आया या किसी सन्त ने कहा कि तुझे भविष्य का आयुष्य बँधा है। उस आयुष्य का परिणाम पुद्गल का परिणाम है। धर्मी, उस परिणाम को जानते हैं, और अपने को जानते हैं। वे आयुकर्म के परिणाम धर्मी बाँधते हैं, ऐसा है नहीं तथा वह आयुष्यकर्म बँधा और उसका ज्ञान यहाँ हुआ तो वह आयुष्य के कारण हुआ, ऐसा है नहीं। अपने में स्वतः स्वपरप्रकाशक परिणाम से पर को जानने के और स्व को जानने के परिणाम कर्ता होकर हुए हैं। समझ में आया? कठिन तो है, भाई! परन्तु क्या हो?

मुमुक्षु : आयुष्य का जितना बन्ध हो उतना शरीर में रुकना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, उसके कारण से है नहीं। अपनी योग्यता से वहाँ रहता है, कर्म के कारण से नहीं। आहाहा! वह अपने कारण से योग्यता है, उसके (कर्म के) कारण से नहीं। और योग्यता भी बन्ध के कारण से रागादि हुए, उस राग का भी ज्ञानी तो ज्ञाता है। यह आयेगा अभी। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग जिनेश्वरदेव का पंथ जगत से न्यारा है। यहाँ आयेगा बाद में, हों!

आयुष्य है तो आत्मा को शरीर में रहना पड़ता है, ऐसा है नहीं। अपनी पर्याय की योग्यता से आत्मा रहा है और उस समय में आयुष्य जो है, उस आयुष्य के परिणाम का ज्ञानी ज्ञाता है—जाननेवाला है और अपने को जानता है। आयुकर्म बँधा, उसे भी जानता है। स्वपरप्रकाशक शक्ति अपने परिणाम से उत्पन्न हुई है, वह स्वपरप्रकाशक परिणाम, वह धर्मी का कार्य है। आयुष्य जो बँधा, वह धर्मी का कार्य नहीं। उसमें है न भैया? आहाहा!

नाम.... नामकर्म बँधा, एक तीर्थंकर प्रकृति बँधी नामकर्म में। तो समकिती ज्ञानी उस परिणाम का जाननेवाला है, आहाहा! परन्तु उस प्रकृति का कर्ता नहीं और जिस भाव के निमित्त से वह प्रकृति बँधी, उस भाव का भी ज्ञानी कर्ता नहीं है। आहाहा!

षोडशकारण भावना, वह तो राग है—षोडशकारण (भावना से) जो तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव तो राग है। बन्धन का कारण तो राग है, तो ज्ञानी उस राग का भी कर्ता नहीं और प्रकृति बँधी, उस परिणाम का कर्ता भी ज्ञानी नहीं। आहाहा! ज्ञानी—

धर्मी उसे कहते हैं कि जो अपना और पर का ज्ञानरूप परिणमन हुआ, उस ज्ञान में, वह प्रकृति बँधी है, यह ख्याल में आया, उसे केवली ने कहा कि तुम्हारे तीर्थंकरप्रकृति बँधी है, तुम तीर्थंकर होनेवाले हो। आहाहा! तो कहते हैं कि तीर्थंकरप्रकृति बँधी तो वह पुद्गल का परिणाम है, वह आत्मा ने बाँधी है—ऐसा नहीं है। तथा उस समय में अपना स्वपरप्रकाशक ज्ञान जो हुआ, उसमें प्रकृति के परिणाम निमित्त हुए। जो परिणाम प्रकृति बँधी, उससे यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। उसका कर्ता तो नहीं परन्तु वह प्रकृति बँधी, उसका—प्रकृति का यहाँ ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। ज्ञान तो अपने से स्वपरप्रकाशक, स्व के आश्रय से हुआ, उसमें प्रकृति के परिणाम निमित्त कहे जाते हैं। आहाहा! ऐसी बात अब कहाँ समझना, निवृत्ति कहाँ! पूरी जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर का यह हुकम, यह उनका फरमान है कि यह तीर्थंकरप्रकृति तुम बाँधोगे तो उस परिणाम के तुम ज्ञाता हो। आहाहा! वह प्रकृति तुमने बाँधी है, ऐसा नहीं है, वह तो परमाणु की पर्याय है, आहाहा! और उसमें जो भाव निमित्त हुआ बन्धन में, वह भाव राग—अधर्म है, वह धर्म नहीं, धर्म से बन्धन नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु निश्चित तो हो गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या?

मुमुक्षु : कि इस भव में यह तीर्थंकर होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीर्थंकर उससे होगा? वह जिसे भाव से (तीर्थंकरप्रकृति) बँधी है, उस भाव का नाश करेगा, तब तीर्थंकरप्रकृति का उदय केवलज्ञान में आयेगा, तो उस प्रकृति ने क्या किया? आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! वीतराग दिगम्बर दर्शन—जैनदर्शन कोई अलौकिक बात है! अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। आहाहा! समझ में आया?

षोडश-भावना—भाव (से) तीर्थंकरगोत्र बँधा, उसमें क्या है?

मुमुक्षु : भावना तो भावे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग आया। बन्धन का कारण धर्म है? धर्म से बन्धन

होता है? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आत्मा के आनन्द के परिणाम हैं, उनसे बन्धन होता है? तो (जो) बन्धन हुआ तो राग से हुआ, (इसलिए) राग है, वह तो विकार है, और वह विकार है तो ज्ञाता का ज्ञेय है—ज्ञानी को विकार जो दिखता है, वह विकार का ज्ञान करता है; विकार मेरा है—ऐसा ज्ञानी मानता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : षोडशकारण भावना कौन भाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाता कहाँ है? यह भाषा है। उसे राग-विकल्प आता है। समकिती को वह विकल्प आता है, परन्तु उस विकल्प के काल में अपने स्वपरप्रकाशक ज्ञान में वह विकल्प निमित्त है और उस विकल्प के कर्ता धर्मी नहीं है। उसका ज्ञान और अपना ज्ञान उसका कर्ता, ज्ञान में व्यापक है, (इसलिए) वह ज्ञान का कर्ता है। आहाहा! ऐसा है!

मुमुक्षु : ज्ञानी को राग होता है और उसका कर्ता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी को राग होता ही नहीं। ज्ञानी को राग का ज्ञान होता है, ऐसी बातें, बापू! बहुत कठिन काम। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय में राग का ज्ञान होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग नहीं, वह राग मेरा यही नहीं न, (मैं तो) ज्ञान का कर्ता हूँ। तो राग है तो मेरे ज्ञान में राग का ज्ञान होता है, ऐसा भी है नहीं न! यह अभी 'राग' (का बोल) आयेगा तब कहेंगे, यहाँ तो अभी 'नाम' और 'कर्म' आया न, इसलिए जरा तीर्थंकरगोत्र लिया।

नामकर्म में पाँचों शरीर आते हैं। पाँचों शरीर, उन पाँचों शरीर का यह बँधे कर्म, उसमें धर्मी समकिती ज्ञानी, उनका जाननेवाला है। वे परिणाम हुए बन्धन के पाँच शरीर के नामकर्म में, तो उनका तो मैं जाननेवाला हूँ, मुझे जानता हूँ और उसे भी जानता हूँ, वह जाननेवाले के परिणामों के साथ मुझे कार्य-कर्म कर्तव्य है। व्याप्य-व्यापक उनके साथ है। आहाहा! व्याप्य अर्थात् कार्य और व्यापक अर्थात् कर्ता। आहाहा! समझ में आया? यह प्रकृति बँधी, ऐसा ख्याल में आया, तो उसका ज्ञान हुआ, तो (वह ज्ञान) उससे हुआ नहीं, अपने ज्ञान का ज्ञान करने से स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ, आहाहा! उस

ज्ञान में वह निमित्त कहने में आया। तो निमित्त है तो यहाँ पर का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। अपने से स्वपरप्रकाशक ज्ञान होने में जो परिणाम हुए, उसमें आत्मा व्यापक है, उस परिणाम का कर्ता और परिणाम उसका कार्य है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! सन्तों ने, दिगम्बर मुनि... आहाहा! केवली के मार्गानुसारी केवली को खड़ा रखा है अन्दर। आहाहा!

यह ऐसी वाणी अन्यत्र कहीं श्वेताम्बर में ऐसा नहीं है, स्थानकवासी में नहीं है, अन्यमत में तो कहाँ से लावे? आहाहा! यह तो वस्तु का स्वरूप भगवान तीन लोक के नाथ प्रकाशित करते हैं, उसे सन्त कहते हैं। वे सन्त, आढ़तिया होकर जगत को सर्वज्ञ का माल बाहर प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो भाई! (जो है, वह है!) कहो, आणंदजीलाल! ऐसे हों, वहाँ वे पत्र, पीतल के, बर्तन—में तो ऐसा कुछ आवे नहीं वहाँ, आहाहा!

मुमुक्षु : पैसा तो आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे आते नहीं। इसके पास तो ममता आती है। पैसे तो दूर रह जाते हैं। पैसे के अस्तित्व में (पैसा है), आत्मा के अस्तित्व में पैसे का अस्तित्व आता है? आत्मा के अस्तित्व में यह पैसा मेरा, ऐसी ममता उसके अस्तित्व में-पर्याय में आयी है, तो वह ममता तो दुःखरूप है।

मुमुक्षु : पैसा किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा जड़ का, जड़ के पैसे जड़ में; आत्मा के पैसे तीन काल में नहीं हैं। यहाँ तो अभी इसमें (इससे आगे बात) आयेगी। आहाहा!

गोत्र... गोत्र कब बँधता है, तो वह कर्म की पर्याय है, उस परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं। मात्र अपने स्वपरप्रकाशक ज्ञान में गोत्रकर्म ख्याल में आया—उसका ज्ञान हुआ। आहाहा!

अन्तराय... अन्तराय कर्म, आता है न, ख्याल में आया—ज्ञानी को ख्याल में आता है कि है—तो उसका ज्ञान हुआ। वह अन्तराय कर्म, ज्ञानी आत्मा बाँधता है, ऐसा नहीं है तथा अन्तरायकर्म की पर्याय है तो यहाँ उसका ज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। अपने

में स्वपरप्रकाशक ज्ञान होने में अपने परिणाम व्याप्य और आत्मा व्यापक है। स्वपरप्रकाशक ज्ञान है परिणाम और आत्मा परिणामी है। स्वपरप्रकाशक ज्ञान कर्म और आत्मा कर्ता—व्यापक है। आहाहा! है? तथापि उसके साथ **मोह,** यह सात कर्मसूत्रों के साथ लेना, मोह अर्थात् यह दर्शनमोह यहाँ नहीं लेना, यहाँ तो ज्ञानी की बात है न! पर में जरा असावधानी हो जाती है, राग—चारित्रमोह से **मोह,** उसका भी ज्ञानी जाननेवाला है। आहाहा!

राग— जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह राग। महाव्रत के परिणाम, वह राग; महाव्रत के, बारह व्रत के परिणाम, वह राग; भगवान की यात्रा के परिणाम, वह राग; भगवान की भक्ति-पूजा के भाव, वह राग। आहाहा! वे राग के परिणाम हुए, वे आत्मा के नहीं, ज्ञानी ऐसा जानता है। मैं तो राग का जाननेवाला और अपना जाननेवाला, वह परिणाम मेरा कार्य है। राग मेरा कार्य नहीं। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! परमात्मा का मार्ग सनातन जैन दर्शन, यह उसका प्रवाह है। समझ में आया? ऐसी बात श्वेताम्बर है नहीं, क्योंकि श्वेताम्बर तो भगवान (महावीर का) दिगम्बर धर्म था उसमें से, (आज से) दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर में से निकला है। श्रद्धा भ्रष्ट होकर (निकला है)। उसमें से स्थानकवासी (सम्प्रदाय) अभी निकला है, चार सौ वर्ष पहले।

मुमुक्षु : उसमें—श्वेताम्बर शास्त्र में ऐसा लिखा है कि श्वेताम्बर में से दिगम्बर पन्थ हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अज्ञानी तो कहे ही न? श्वेताम्बर, श्वेताम्बर पन्थ है, वह गृहितमिथ्यात्व है। गोम्मटसार में पाठ है। मोक्षमार्गप्रकाशक में पाठ में स्पष्ट पाठ है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है, बापू?

राग—धर्मी को राग जो कमजोरी से पर्याय में आता है तो राग का जाननेवाला है ज्ञानी। राग व्याप्य—कार्य और ज्ञानी कर्ता, ऐसा नहीं है। राग परिणाम (और) आत्मा परिणामी, ऐसा नहीं है। राग व्याप्य (और) आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है। आहाहा! धर्मी को राग का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान व्याप्य, आत्मा व्यापक—ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान हुआ वह परिणाम, आत्मा परिणामी; राग का ज्ञान हुआ वह कार्य (और) आत्मा कर्ता। आहाहा!

पर परिणाम और आत्मा परिणामी, ऐसा सम्बन्ध हो जाये तो आत्मा पररूप हो जायेगा। आहाहा! समझ में आया? धीरे से तो कहा जाता है, भाई! परन्तु क्या हो? यह मार्ग ही ऐसा है! वीतराग त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य प्रभु के निकट, प्रभु विराजते हैं महाविदेहक्षेत्र में, सीमन्धर भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह (शास्त्र) बनाये हैं। भगवान की वाणी यह है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तो वह ऐसा कहते हैं कि टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) तो भगवान के पास नहीं गये थे, परन्तु अपने (शुद्धात्म) भगवान के पास गये थे न! आहाहा!

सच्चिदानन्द प्रभु—सत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार भगवान आत्मा, उसके समीप जो गये थे, तब उसके भान में कहते हैं कि जो राग है, उसका हमको ज्ञान होता है। वह ज्ञान भी राग है तो उसका ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। हमको उसका ज्ञान होता है और हमारा ज्ञाना, वह हमारे से होता है। स्वतः, ऐसा आया न पहले? देखनेवाले को, ऐसा आया न? **स्वतः व्याप्त होकर....** ऐसा आया न? यह स्वतः जाननेवाले से व्याप्त होकर, स्वतः व्याप्त होकर—आहाहा! भाषा... वह कहीं (ओहोहो!) टीका! प्रियंकरजी! ऐसी बातें! यहाँ तो महाव्रत और बारह व्रत, राग, उसे माने धर्म, (वह) मिथ्यादृष्टि है, अज्ञान है। वे संसार में भटकनेवाले भाव हैं। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि राग हुआ, तो उसी समय में राग का ज्ञान हुआ। राग हुआ और फिर उसका ज्ञान हुआ, ऐसा है नहीं। राग हुआ, उसी समय में राग का ज्ञान और अपना ज्ञान होता है। धर्मी को—सम्यग्दृष्टि को अपना ज्ञान और राग हुआ उसका ज्ञान, राग के काल में अपना ज्ञान और पर का ज्ञान, राग का ज्ञान राग के काल में होता है। आहाहा! समझ में आया?

बहुत से भाव दिमाग में आ जाते हैं, आकर वापस चले जाते हैं, ऐसे करते करते। गम्भीर और बहुत (भाव) मस्तिष्क में आते हों, और आ गया तो एक आ गया तो अभी (वापस) चला गया।

मुमुक्षु : विकल्प का स्वकाल है न!

मुमुक्षु २ : प्रत्येक पर्याय का स्वकाल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का स्वकाल है। वह राग को जानना, वह भी ज्ञान का स्वकाल है और राग को जानने की पर्याय और अपने को जानने की पर्याय, वह षट्कारक से परिणमित होकर स्वयं से उत्पन्न होती है।

जिसमें अपना ज्ञान हुआ कि मैं आनन्द ज्ञान शुद्ध चैतन्य हूँ, और राग का ज्ञान हुआ, वह पर्याय एक समय की षट्कारक—पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय अपादान, पर्याय आधार—यह षट्कारक की पर्याय अपने से उत्पन्न होती है। आहाहा! तो राग से आत्मा की पर्याय व्याप्त नहीं होती। राग का ज्ञान जो अपने से अपने में हुआ, उसमें व्याप्त होता है। कहो, हसुभाई! इसमें याद रहना मुश्किल। प्रवीणभाई पूछे कि हसुभाई, क्या सुनकर आये? क्या कहना इसमें? कौन जाने? कहे, बहुत सूक्ष्म बात। आहाहा!

मुमुक्षु : अभ्यास करे तो सब खबर पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! इसकी ताकत है, (यह समझने की) अपनी ताकत है। अपने को और पर को जानने की वह तो स्वयं की ताकत है। आहाहा!

यह तो दोपहर में चलता है न कि अपने ज्ञान के अतिरिक्त सब द्रव्य जो हैं, उन सब द्रव्यों को जानने की पर्याय—सब द्रव्यरूप नहीं परिणमती, परन्तु उनके ज्ञानरूप परिणमती है। सभी द्रव्य गुण पर्याय का ज्ञान यहाँ हुआ, उस ज्ञान का परिणमन, उन सबके ज्ञान का परिणमन, वह आत्मा है। आहाहा! सर्व को जाननेवाला, वह आत्मा है, तो वह सर्व को एक समय में जाने। वह जानने के परिणाम आत्मा करता है, इसलिए वह आत्मा। आहाहा!

राग... चाहे तो दया का राग हो तो भी वह तो हिंसा है—अपने स्वरूप की हिंसा है। आहाहा! क्योंकि राग है, वह अहिंसा नहीं है। राग की उत्पत्ति होना, वह तो स्वरूप की हिंसा है। ज्ञानी, राग को जानता है। पर की दया तो कर नहीं सकता, परन्तु राग का कर्ता भी ज्ञानी नहीं है। आहाहा! यह राग हुआ, उसका ज्ञान उसी समय में ज्ञानी को अपने स्वपरप्रकाशक (ज्ञान) परिणाम में व्याप्त होकर हुआ है, राग से नहीं, राग का

नहीं, राग व्याप्त नहीं और राग व्यापक होकर यहाँ ज्ञान परिणाम व्याप्य होते हैं, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! बहुत भरा है न यह तो। कहीं पार नहीं आता। यह मस्तिष्क में जितना ज्ञान में आता है, उतना सब बातों में (वाणी में) नहीं आ सकता, इतनी बातें हैं भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी, अज्ञानी के राग को कैसे जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे न जाने, कहा न? सभी द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने न? उसमें सामने का राग वह सब आ गया या नहीं? सामनेवाले का मिथ्यात्व। वह ज्ञान का—पर्याय का स्वभाव है कि सर्व को जाने, तब तो वह ज्ञान स्वयं पूर्ण कहलाता है। पूरा कहने में आता है। समझ में आया?

ज्ञान की पर्याय, सब अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने, तब तो वह ज्ञानपर्याय अपनी पूरी हुई और सबको जाना, वह एक आत्मा हुआ, तब तो आत्मा हुआ। आहाहा! ऐसा भाई! जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ वीतराग की वाणी कोई अलौकिक है भाई! आहाहा! आहाहा!

परमात्मा-परमेश्वर की (वाणी) सुनकर इन सन्तों ने... कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे महाविदेह में; दो हजार वर्ष हुए, संवत् ४९ (में)। आठ दिन वहाँ रहे थे प्रभु के निकट, प्रभु विराजते हैं (वे) वहाँ से आकर यह (परमागम) बनाये हैं। भगवान ऐसा कहते थे। आहाहा! कि तुझे भी मेरी भक्ति का राग आता है, उस राग का तू जाननेवाला है, राग का कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अज्ञानी तो राग का कर्ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी तो मानता है, मानता है। अन्ततः वास्तव में तो कर्ता होता नहीं, परन्तु मानता है। आहाहा! यह अपने आ गया है। मानता है, नहीं आया? ९४-९५ गाथा में, उन गाथाओं में आ गया है पहले। माने तो अज्ञानी चाहे जो माने। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञान का पुंज—ज्ञान का पिण्ड प्रभु है। जिसमें ज्ञान की अपरिमित शक्ति पड़ी है। मर्यादा बाहर अमर्यादित स्वभाव, उस स्वभाव का जिसे सम्यग्दर्शन में—सम्यग्ज्ञान में भान हुआ। आहाहा! उस सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में, आहाहा!

यह उस चारित्र अधिकार में आता है या नहीं? चारित्र को क्या कहा? यह कहा नहीं था मोक्षपाहुड़ में? भाषा याद रहे, चारित्रपाहुड़ में अपरिमित है।

मुमुक्षु : अक्षय और अमेय।

पूज्य गुरुदेवश्री : अक्षय, अमेय, हाँ! यह भाषा। आत्मा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय हुई, (उस) पर्याय को अक्षय और अमेय कहा है। बात हो गयी है, यहाँ बाद में बहुत (कहा जा चुका है), भगवान आत्मा के द्रव्य और गुण तो अक्षय और अमेय है, परन्तु उसकी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (पर्याय) हुई, वह वीतरागी पर्याय—धर्म हुआ, उसे मोक्षपाहुड़ में वहाँ—अष्टपाहुड़ (है), अष्टपाहुड़ (उसमें) चारित्रपाहुड़ में अक्षय-अमेय कहा है। वह पर्याय अक्षय है और अमेय—वह मर्यादा बिना की शक्ति है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। अनजाने को तो ऐसा लगे (कि) यह क्या मार्ग!

यह कुछ करना—भक्ति करना, यात्रा करना, पूजा करना, मन्दिर बनाना और मन्दिर में सवेरे-शाम पूजा करना! यह बापू! यह जड़ की क्रिया जड़ में है और उसमें राग होता है, वह भी पर में है, आत्मा में नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : राग तो पुद्गल के परिणाम कहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निश्चय से पुद्गल ही है। पहले पुद्गल के परिणाम कहे, ७६, ७७ में, बाद में पुद्गल ही कह दिया है। पूरा शब्द पुद्गल प्रयोग किया है। आहाहा! दो द्रव्य—एक ओर पुद्गलद्रव्य और एक ओर भगवान आत्मद्रव्य। आहाहा!

राग भी पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! यदि भगवान के परिणाम हों तो छूटे नहीं कभी। आहाहा! उस राग का कर्ता भी आत्मा नहीं, परन्तु धर्मी जीव—सम्यग्दृष्टि, उस राग का जाननेवाला रहता है—राग का ज्ञान करता है, और स्व का ज्ञान करता है, वह ज्ञान परिणाम आत्मा का कार्य है, परन्तु धर्मी का राग कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा है नहीं। ऐसा है अलक-मलक जैसी बातें लगे यह। अगम्य-गम्य की। वाडा में पड़े हों उन्हें कुछ खबर भी नहीं होती। अभी के साधु और पण्डित बातें यह सब बाहर की करते हैं—यह करो... यह करो, व्रत करो और अपवास करो। आहाहा!

मुमुक्षु : राग करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग करो, राग करो, राग करो, राग करो, राग करो। करो... करो, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! 'करे वह मरे'—राग का कर्ता हो, वह आत्मा का मरण करता है—आत्मा का नाश कर देता है। यह आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसका अभाव कर देता है। आहाहा! समझ में आया? कठिन बात, भाई! पचना बहुत कठिन। आहाहा! यह वहाँ तक राग आया न? राग।

द्वेष... द्वेष के परिणाम जो होते हैं जरा, उसका भी ज्ञाता, ज्ञानी तो ज्ञाता है। उसका जाननेवाला है। अपना स्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु का सम्यग्दृष्टि को अन्तरज्ञान हुआ है, इस कारण द्वेष के परिणाम जरा आये, उसका भी ज्ञाता है—उस द्वेष के परिणाम का ज्ञान, वह ज्ञानी का ज्ञान व्याप्य है। द्वेष उसका व्याप्य और आत्मा व्यापक—ऐसा है नहीं। द्वेष परिणाम और आत्मा परिणामी, (तब तो) परिणामी और परिणाम एक हो जाते हैं, तो द्वेष में आत्मा एक हो जाता है आत्मा... आहाहा! परन्तु द्वेष आया, उसका जो स्वपरप्रकाशक ज्ञान हुआ, वह परिणाम और आत्मा परिणामी तो एक है, अभेद है। समझ में आया? विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०४, गाथा-१०१, दिनांक २४-०२-१९७९, शनिवार, माघ कृष्ण-१३

समयसार, १०१ गाथा का यहाँ तक आया था, द्वेष तक आया है। **द्वेष...** क्या कहते हैं? कि आत्मा जो है, वह अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति है। सच्चिदानन्द—सत् शाश्वत् चिदानन्द—ज्ञान और आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का वह आत्मा का स्वरूप है। ऐसा जिसे, राग के दया, दान, विकल्प जो राग हैं न? उससे भिन्न होकर आत्मा का ज्ञान हुआ हो, उसे जो कुछ रागादि आते हैं, उस राग का राग में स्पर्श किये बिना राग को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! चिदानन्द ज्ञानमूर्ति प्रकाश, करोड़ों सूर्य का प्रकाश है, वह जड़ है। भगवान आत्मा का प्रकाश वह करोड़ों सूर्य से भी भिन्न प्रकार का प्रकाश अन्दर है। आहाहा! दोपहर में आयेगा और तुमने वह कहा था न, वह सब? ऐसा सब क्या कि मैं एक को जानूँ और पर को जानूँ और यह जानूँ। दोपहर में इसका उत्तर आयेगा। यह आत्मा कितना और कैसा है, वह बतलाते हैं। आहाहा! अभी तो इतनी बात।

यह देह है, वह तो मिट्टी जड़ धूल है। अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव होता है, वह भी राग और विकार है। आहाहा! उस विकार से अन्दर निर्विकारी भगवान भिन्न है, यह भगवान अर्थात् आत्मा, हों! भगवान हो गये, वे उनके पास। यह आत्मा राग के विकल्प जो होते हैं, व्रत, तप, भक्ति, दान, वह सब राग है, यह राग, वह आत्मा नहीं। इसलिए राग से भिन्न पड़कर, अन्दर में ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द प्रभु पूर्ण स्वरूप में स्वसन्मुख होकर, आनन्द का वेदन आवे, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आवे, उसे धर्मी और ज्ञानी कहते हैं। इतनी सब शर्तें! आहाहा!

उस धर्मी को अर्थात् कि आत्मा वस्तु है, उसका जो धर्म अर्थात् वत्थु सहावो, जो अनन्त-अनन्त ज्ञान, अनन्त-अनन्त शान्ति, अनन्त-अनन्त प्रभुता ऐसी जो वस्तु है धर्मी, उसका वह धर्म है स्वभाव, और उस स्वभाव का एकाग्र होकर धर्म की दशा शक्ति में से व्यक्ति / प्रगट हो, उसे वर्तमान धर्म कहते हैं। द्रव्य धर्मी त्रिकाल, उसके गुण धर्म त्रिकाल, यह द्रव्य-गुण-पर्याय लिये। आहाहा! वह त्रिकाली भगवान जो आत्मा

सच्चिदानन्द प्रभु, उसका राग के विकल्प से पृथक् होकर और स्वभाव की एकता में वेदन जो आवे, उस वेदन में तो अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन। आहाहा! अतीन्द्रिय जो वीर्य पुरुषार्थ है त्रिकाली, उसने भी पर्याय में अनन्त गुण की निर्मल पर्याय की रचना की, वह अतीन्द्रिय वीर्य है। ऐसा जो पर्याय का स्वभाव, वीतरागी परिणाम होना। क्योंकि वीतरागी स्वरूप प्रभु है, उसके अवलम्बन से वीतरागी परिणाम हों, उसे यहाँ धर्म कहते हैं और उसे यहाँ धर्मी कहते हैं, उसे यहाँ ज्ञानी कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात कहीं (नहीं है)।

यह ज्ञानी को क्रोध आवे, कहते हैं, अल्प है, सर्वज्ञ नहीं, वीतराग पूर्ण नहीं, जरा क्रोध आवे, तथापि उस दृष्टि में क्रोध उसका विषय नहीं है। दृष्टि का विषय तो ज्ञायक पूर्ण है, इसलिए क्रोध आया, उसे स्व सन्मुख की सन्मुखता की दृष्टि में जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में क्रोध को जानने में आवे, ऐसी बातें हैं।

अज्ञानी को जो रागादि आवे, उसे स्वभाव चैतन्य वीतरागमूर्ति प्रभु है, उसकी खबर नहीं, इसलिए वह दया, दान, व्रतादि का राग, उसका वह कर्ता होता है। स्वभाव है वीतरागमूर्ति, वह राग का कर्ता, भान हुआ, वह राग का कर्ता कैसे हो? आहाहा!

स्वरूप चैतन्य जागृतस्वरूप कोटाकोटि सूर्य से भी जिसका प्रकाश अनन्तगुणा, कोटाकोटि चन्द्रों से भी जिसकी शीतलता अनन्तगुणी भिन्न है। आकाश के एक आकाश है परन्तु ऐसे अनन्त आकाश की गम्भीरता से भी भगवान अन्दर गुण का अपार, ऐसी गम्भीरता है, ऐसा भगवान आत्मा अन्दर उसका जिसे सन्मुख होकर, निमित्त और राग तथा पर्याय से विमुख होकर, जिसे धर्म—सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है, आहाहा! उस ज्ञानी को, उसे ज्ञानी कहो या धर्मी कहो, कोई वापस ऐसा जाने कि ज्ञानी अर्थात् बहुत ज्ञान हो गया हो, वह ज्ञानी, धर्मी भले दूसरा हो, ऐसा। (तो ऐसा नहीं है)। आहाहा! उस ज्ञानी को जरा क्रोध आवे तो उस क्रोध का स्वपरप्रकाशक ज्ञातारूप से प्रगट हुई दशा में क्रोध को जानता है, उसके ज्ञान में क्रोध निमित्त होता है। उपादान तो क्रोध सम्बन्धी का ज्ञान और अपना ज्ञान, वह अपने से प्रगट हुआ है। आहाहा! इस प्रकार क्रोध।

इसी प्रकार **मान....** मान का अंश आवे, तो भी ज्ञानी—धर्मी निर्मान ऐसे आत्मा

के पूर्ण स्वरूप का जिसका आश्रय है, इसलिए वह ज्ञान प्रगट हुआ है स्वपरप्रकाशक स्वतः, उसमें मान आवे उसका भी यहाँ ज्ञान होता है। वह उसका ज्ञान कहना, यह अपेक्षित है, वरना उसका ज्ञान, वह अपना ज्ञान है। आहाहा! उस ज्ञान में 'मान' जानने में आवे धर्मी को, परन्तु वह मान का स्वामी नहीं होता। आहाहा! ऐसी शर्तें सब। हसुभाई! यह कहाँ उस टुकड़े की खबर पड़े नहीं। आहाहा! वह तो धूल कहीं रह गयी, परन्तु यहाँ तो राग आवे दया, दान का, वह भी विकल्प और राग, वह भी जहर है। अमृतस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर, उसे जो राग आवे, वह भी जहर है। आहाहा!

यह अपने आ गया न भाई! मन का विषय धर्मास्ति आदि करे, इन्द्रिय का विषय रूपी करे, आहाहा! और परम अमृतरूप विज्ञानघन मृतक कलेवर में मूर्छित हो। भगवान अन्दर अमृतस्वरूप, परम अमृतरूप विज्ञानघन है वह। उसे छोड़कर यह (शरीर) मृतक कलेवर /मुर्दा है, यह तो जड़, मिट्टी, धूल मुर्दा है। यह मिट्टी है। इस मृतक कलेवर में अमृतरूप विज्ञानघन मूर्छित हो गया है, वह अज्ञानरूप से मिथ्या भ्रान्तिरूप से... आहाहा! मूर्छित हो गया है, उसे पाप के परिणाम होते हैं। पाप के परिणाम तो रागादिक भी है, परन्तु यह तो उसमें मूर्छित है, यह मिथ्यात्व के पाप के परिणाम हैं। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

ज्ञानी को मान आया तो भी उस मान का... क्योंकि आत्मा है, उसमें अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं संख्या से, परन्तु कोई एक गुण विकार करे, ऐसा गुण नहीं है। आहाहा! समझ में आया इसमें कुछ? अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... को चाहे जितना करो, इतने वे गुण आत्मा में हैं। जैसे ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता इत्यादि। परन्तु अनन्त गुण में कोई एक गुण ऐसा नहीं (कि) गुण विकार करे। आहाहा!

मुमुक्षु : गुण में विकार हो तो मिट ही नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह हो सकता ही नहीं न! वह गुण ही वस्तु का वास्तविक वस्तु और वास्तविक जो शक्ति-गुण है, वह तो पवित्र निर्मल और शुद्ध ही है। आहाहा!

वह शुद्ध स्वभाव है, वह अशुद्धता को कैसे करे? क्योंकि उससे विरुद्ध यह तो अनन्त... अनन्त... शुद्धता और राग अशुद्ध, वह जरा अमुक गुण की अशुद्धता। आहाहा! उसे मेरा कार्य है और मैं कर्ता हूँ—ऐसा माननेवाले को अनन्त गुण पिण्ड शुद्ध चैतन्यघन का उसे अनादर है। आहाहा! ऐसा कैसा उपदेश ऐसा।

बापू! परम सत्य मार्ग तो यह है। आहा! वह दूसरे आते हैं न तुम्हारे मामा एक, नहीं? दूसरे एक बड़े काका के पुत्र हैं तुम्हारे। नारायणभाई, वे हैं न? वे आते हैं। आते थे पोपटभाई के समय बहुत आते थे नारायणभाई। आहाहा! तो यह बात बहुत कठिन, बापू! जन्म-मरण ८४ की योनि में कर रहा है, जो दुःखी है। क्योंकि अमृतस्वरूप भगवान आत्मा इसे दृष्टि में आया नहीं। इसकी दृष्टि तो यह राग, पुण्य और पाप तथा उनके फल यह धूल आदि, आहाहा! यह जहरीली दृष्टि है। जिसे पुण्य और पाप मेरे हैं, उसे यह फल मेरे, यह जहरीली दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि कहो या जहरीली दृष्टि कहो। आहाहा!

परन्तु भगवान आत्मा इस जहरीले विकारी परिणाम से भिन्न है, अमृतस्वरूप है, ऐसा जिसे स्वस्वरूप का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में स्वपरप्रकाशक परिणति खड़ी होती है। उसमें जरा यह मान आया, उसका भी वह ज्ञान करता है। बाकी ज्ञान तो उस समय में मान आवे, उस समय में ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती स्वतः खड़ी होती है। वह मान है, इसलिए मान का ज्ञान होता है—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें!

इसी प्रकार **माया....** माया, माया का—कपट का अंश जरा आवे, तो भी धर्मी को तो उसी काल में स्वपरप्रकाशक ऐसा जो ज्ञायकभाव, उसका भान है; इसलिए उस पर्याय में स्वपरप्रकाशक पर्याय प्रगट हो, उसमें माया को जाने, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

इसी प्रकार **लोभ....** है? जरा लोभ आता है, परन्तु निर्लोभी वरीतरागी मूर्ति प्रभु है, उसका जहाँ ज्ञान है, उस ज्ञान में लोभ के काल में भी वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक अपने से स्वतः परिणमता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त करना, वह भी लोभ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष की लक्ष्मी। लक्ष्मी तो कहीं धूल में रह गयी।

मुमुक्षु : मोक्ष की प्रापित करना, वह लोभ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इच्छा, वह भी नहीं। इच्छा, वह भी मोक्ष की इच्छा से मोक्ष अटकता है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! बोल वाँचन होते हैं पीछे के, है न? (गाथा) १०१ के।

नोकर्म.... अर्थात् क्या? कि जो माता के गर्भ में जब आता है न, तब उसे छह पर्याप्ति बँधती है—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन। इन छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गल हैं, उसे यहाँ नोकर्म कहा जाता है। अरे! ऐसी बातें हैं। कितना तो पहला जानना हो, यह तो कॉलेज है और कितना ही पहले जानपना हो तो यह समझ में आये ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? काया तो फिर आयेगी, 'काया' जो यह औदारिक आदि जो काय है, वह तो काय में आयेगी, परन्तु इस नोकर्म में आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन के योग्य पुद्गल स्कन्ध हे और औदारिक, वैक्रियिक और आहारक के योग्य जो पुद्गल है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक वह काया-शरीर में आयेंगे, परन्तु यहाँ तो उनके योग्य पुद्गलस्कन्ध जो है। आहाहा! स्कन्ध अर्थात् परमाणुओं का पिण्ड जो है, उसे यहाँ नोकर्म कहा गया है। आहाहा! गजब!

माता के गर्भ में हो न समकिती! आत्मज्ञानसहित। कहते हैं कि वहाँ आहारकशरीर के, इन्द्रिय के योग्य जो पुद्गल है, उसे वह जानने का काम वहाँ करता है। मैं ऐसे जानूँ और ऐसे, भले वह न हो। आहाहा! क्योंकि वस्तु जो है, वह तो ज्ञान की मूर्ति प्रभु है, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप आत्मा, उस प्रज्ञा का ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का वहाँ ज्ञान कार्य, भले उसे खबर भी न हो कि यह यह है न, परन्तु वह वस्तु तो उस प्रकार से बनती है। जो वस्तु का श्रद्धा और ज्ञान हुआ, वह कहीं व्यर्थ पड़े नहीं रहते वहाँ। समझ में आया इसमें? आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन का जहाँ भान हुआ और ज्ञान हुआ और श्रद्धा हुई, वह चाहे जिस काल में वह कहीं श्रद्धा-ज्ञान व्यर्थ पड़े हैं, ऐसा नहीं। उनका कार्य है। आहाहा! कहो देवीलालजी! ऐसा कैसा उपदेश, यह किस जाति का?

वह तो कहे, भाई! भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, मन्दिर बनाना, ऐसा सीधा सट्ट था। धूल में भी कुछ नहीं, सुन न अब! पर का कर सकता नहीं और पर में

तुझे राग होता है शुभ-अशुभ, वह भी जहर है, दुःख है, उसका कर्ता होता है तो अमृतसागर का अनादर होता है। आहाहा! यह टीका तो, आया हो तत्प्रमाण फिर कहा जाये न! यहाँ सूक्ष्म पड़े परन्तु... आहाहा!

नोकर्म.... वैसे तो 'नोकर्म' दूसरे द्रव्यकर्म, भावकर्म (के अतिरिक्त) बाह्य चीज़ को नोकर्म कहा जाता है, परन्तु अभी इसमें इतना लेना, औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर, आहारकशरीर के योग्य जो पुद्गल हैं, वह शरीर नहीं; उसके योग्य जो पुद्गल हैं और आहार, शरीर, इन्द्रिय,... आहाहा! शरीर के योग्य पुद्गल लिये। शरीर, वह काया में आयेगा। समझ में आया? अरेरे! अब ऐसी बातें! किसके घर की कुछ खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : अपने घर की।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भाई! तेरे घर की बात है। तूने सुनी नहीं, तूने की नहीं। आहाहा!

बाहर की सिरपच्ची कर-करके मर गया। परन्तु तू तो ज्ञाता है न, प्रभु! वे सब चीज़ें तो ज्ञाता की परज्ञेय हैं न! स्वज्ञेय तो स्वयं है। आहाहा! तू ज्ञाता, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है न! प्रज्ञा (अर्थात्) ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। अरे! कैसे जँचे? कभी सुना नहीं। ज्ञान और आनन्द, वह तेरा रूप है न! और वे सब चीज़ें राग से लेकर सब पूरी दुनिया, वह परज्ञेयरूप से उसका ज्ञान करनेवाला तू है, वे ज्ञेय अर्थात् ज्ञात होनेयोग्य वह चीज़ है। आहाहा! देव, गुरु और आत्मा भी उनका, वह ज्ञान में ज्ञेयरूप से है, वह मेरे माननेरूप से इसके स्वरूप में नहीं, और यहाँ वे नहीं। आहाहा! समझ में आया?

किस प्रकार का ऐसा धर्म! कोई कहे, सोनगढ़वालों ने नया निकाला, ऐसा (लोग) कहते हैं।

मुमुक्षु : नया ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! भाई! मार्ग तो यह है, प्रभु! अनादि का यह स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

यह 'नोकर्म' शरीर के योग्य जो पुद्गल परमाणु हैं, आहार के योग्य जो आहार

आवे न, वे पुद्गल हैं। इन्द्रिय के योग्य, यह इन्द्रियाँ हों, उनके योग्य जो पुद्गल हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास। यह श्वास है, पुद्गल है, यह भी श्वास और वह यहाँ नहीं लेना। यहाँ श्वास के योग्य जो पुद्गल हैं, उन्हें लेना। आहाहा! समझ में आया? मन के योग्य परमाणु हैं, भाषा के योग्य परमाणु हैं। उसमें आ गया है, ५० से ५५ (गाथा) भाई! ५० से ५५ में नोकर्म की व्याख्या अन्दर में आयी है। आहाहा! यह गाथा २९ (बोल की) आती है न? आहाहा!

कहते हैं कि प्रभु तू आत्मा आनन्द का नाथ है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर और भण्डार अपरिमित आनन्द, मर्यादा बिना का आनन्द, मर्यादा बिना का प्रभु तू इतने में भले हो परन्तु तेरा ज्ञान तो अपरिमित—मर्यादा बिना का है, ऐसे-ऐसे अनन्त गुण मर्यादा बिना के, संख्या से तो मर्यादा नहीं परन्तु शक्ति से मर्यादा नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो भगवान आत्मा, आहाहा! उसका जहाँ ज्ञान होता है, तब उस ज्ञान में नोकर्म के योग्य पुद्गल हैं, उनका ज्ञानी ज्ञान करता है। आहाहा! समझ में आया?

यह माता के गर्भ में होता है न, तो भी यह वास्तव में तो ऐसा है। एक बात ऐसी है कि यह बात मस्तिष्क में नहीं आती कि सवा नौ महीने रहे तो उपयोगरूप होता होगा या नहीं? यह कोई यह शास्त्राधार (मिला नहीं)। विचार तो सब आ गये हो न! समझ में आया? सवेरे....

मुमुक्षु : शक्यता क्या लगती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्यता तो वह नौ महीने तक कुछ ख्याल कि आधार बिना बोला नहीं जाता। यह कोई नया नहीं हमारे तो कहीं। यह तो उपयोग का सवा नौ महीने में उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह निर्विकल्प उपयोग हो जाता है या नहीं, उसकी बात है। आहाहा! समझ में आया? यह कैसे कहा यह? कि उस काल में भी आहार, शरीर के योग्य है, उसका ज्ञान स्वयं स्वतः ज्ञान का स्वभाव है, वह ज्ञान करता है, बस! समझ में आया? परन्तु उस समय कितने समय में वहाँ उपयोग शुद्ध उपयोग हो जाता है, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान, कोई आधार चाहिए, आधार बिना नहीं कहा जाता।

मुमुक्षु : आप कहो वह आधार।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ आना चाहिए न अन्दर? आये बिना। ऐसे तो दूसरे बहुत बोल हैं जो मस्तिष्क में विचार में आये परन्तु बैठते न हों।

मुमुक्षु : शास्त्र का आधार नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं यह अपने को देखने में आता नहीं, होगा कहीं-कहीं, परन्तु देखने में नहीं आता। आहाहा!

मुमुक्षु : आठ वर्ष पहले तो निर्विकल्प उपयोग नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ वर्ष पहले यह समकित ही नहीं होता न, पहले समकित लेकर आवे तो होता है, उसे तो आवे ही। तीर्थंकर तो हैं, वह अलग बात। यह तो एक आत्मा भगवान जगा है और जगा अन्दर से हहलतो उठा, जागता उठा, वह जागता उठा, वह जिसे आहार, शरीर, श्वास, भाषा और मन बँधता है या उसके योग्य पुद्गल स्कन्ध हैं, उन्हें भी ज्ञान में उन्हें भले मैं उसे जानूँ परन्तु उसका स्वभाव ही स्वतः जानने का है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याप्ति के परमाणु को ग्रहण नहीं करे परन्तु जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है, बापू! आहाहा! 'नोकर्म'।

मन, **मन...** अब। यह एक मन है हृदय में। जैसे आँख है यहाँ जड़, मिट्टी, यह ऐसा एक मन जड़ है। यहाँ अनन्त परमाणु का पिण्ड, खिले कमल के आकार यहाँ हृदय में मन है, जड़ है। आहाहा! उसे भी ज्ञानी अपने ज्ञान में उसे जानता है। आहाहा! भाव मन तो राग-द्वेष में आ गया सब। समझ में आया? मार्ग बहुत अलौकिक है, बापू! तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव केवलज्ञान से तीन काल-तीन लोक देखे। आहाहा! और उनका ज्ञान हुआ और वाणी, वाणी के कारण से निकली। आहाहा! वह वाणी भी पूज्य है, ऐसा आया है न, दूसरे कलश में समयसार (में)। आहाहा! उस वाणी में भी ऐसा आया वहाँ कि तेरा प्रभु अन्दर पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान शुद्ध चैतन्य, उसका स्वीकार कर। जो तुझे अनादि से राग, निमित्त और पर्याय का स्वीकार है, वह मिथ्या स्वीकार है। आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु का स्वीकार-सत्कार उपादेय कर, कि जिससे रागादि

'हेय' हो जायेंगे। यदि राग को उपादेय किया तो प्रभु चैतन्य को हेय किया, परमात्मप्रकाश (में ऐसा आया है)। आहाहा!

मुमुक्षु : उस अचेतन वाणी को पूज्य कहे तो आत्मा को क्या कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अपेक्षा से, कथन निमित्त से कहा व्यवहार से। वाणी में निमित्त सर्वज्ञ है न, इस अपेक्षा से व्यवहार से (वह) पूज्य है। निश्चय से तो भगवान आत्मा ही पूज्य है। व्यवहारनय व्यवहार से पूज्य है। उसमें—पद्मनन्दि में आता है। पद्मनन्दि पंचविंशति है न, उसमें आता है भाई! उस गाथा में यहाँ बहुत बार कहा गया है, व्यवहार पूज्य है, ऐसा आता है। व्यवहारनय से, व्यवहारनय से व्यवहार पूज्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुदेव! यह बात आप कहो, वह रुचे ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से व्यवहार पूज्य अर्थात्? नहीं, वह तो एक अध्यात्म पंचसंग्रह है न दीपचन्दजी का, उसमें एक लेख है कि बहुत वैसा करना नहीं कि व्यवहार हेय है... हेय है... हेय... है, ज्ञान रखना, ज्ञान रखना, यदि अत्यन्त हेय... हेय करने जायेगा तो भगवान भी—साक्षात् तीर्थंकर भी अपूज्य होंगे। यह तो उसमें है। दीपचन्दजी के अध्यात्म पंचसंग्रह में। व्यवहार से व्यवहार पूज्य है, इतना रखना। आहाहा! अपेक्षा, क्या मार्ग! उसमें स्पष्टीकरण किया है कि व्यवहार.... व्यवहार.... व्यवहार... हेय है। वह व्यवहार अधर्म है, राग है वह, परन्तु तीन लोक का नाथ भी पूज्य नहीं, ऐसा होगा उसमें; इसलिए उसकी मर्यादा रखकर कहना।

मुमुक्षु : हिम्मत रखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो एक जानने के लिये बात हुई। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू!

मन.... वह जड़ है। आत्मा उस जड़ का जाननेवाला है। मन का उपयोग करनेवाला नहीं। आहाहा! उसी प्रकार वचन यह वाणी, जड़ है। जड़ है, आत्मा नहीं, पुद्गल है। उस वाणी को ज्ञानी जाने, वाणी को मैं करता हूँ—ऐसा वह नहीं मानता तथा वाणी मेरी है, ऐसा वह नहीं मानता। वाणी का ज्ञान जो है, वह मेरा है पर्याय में। समझ में आया?

बापू! यह मार्ग कोई ऐसा है। ओहोहो! यह दुनिया को सुनने को मिलता नहीं और एक तो बनिया धन्धे के कारण निवृत्त नहीं होते, पूरे दिन पाप में-प्रपंच में पड़े हों। ऐई! भले दो, पाँच, दस करोड़ रुपये हों, परन्तु सब...

मुमुक्षु : पैसा वह पाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप, अकेला पाप। कमाने में पाप, ब्याज उपजाने में पाप, लड़के के विवाह में खर्च करना लाख और दो लाख, (वह) पाप।

मुमुक्षु : रोटी खाने में पाप होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटियाँ खाने में पाप। ऐसी बात है, भाई! आहाहा! अब इसे ऐसी बातें! गजब भाई! यह तो अनन्त काल का अनजान मार्ग, उसे परिचित करना है, भाई! आहाहा! उसकी अचिन्त्यता और अलौकिकता ही हो न! आहाहा!

वाणी जड़। यहाँ कहे, जड़ को जानता है। वह वहाँ वाणी को पूज्य कहा, आया मस्तिष्क में। व्यवहार से, वीतराग की वाणी है न, सर्वज्ञ परमात्मा, शब्द है न उसमें कहीं अनुभव, क्या शब्द नहीं कलशटीका में?

मुमुक्षु : अनुसारी।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुसारी, अनुसारी का अर्थ यह किया है कलशटीका में, 'सर्वज्ञ अनुसारिणी है न?' सर्वज्ञस्वरूप है, उसे निमित्तरूप से अनुसरकर वाणी है न? आहाहा! दूसरा कलश है न? अनुसारिणी है, वह नहीं, मुझे कहना था यह 'पश्यन्ति।' क्या कहना है? प्रत्यग आत्मा, उसे जीवद्रव्य जिसमें से कहा जाता है, उसका स्वरूप, उसका अनुभव पश्यन्ति—पश्यन्ति का अर्थ अनुभवशील है। आहाहा! यह ऐसा लिया है यहाँ। यह कहना था यहाँ मुझे। भावार्थ ऐसा है कि कोई कहेगा कि दिव्यध्वनि तो पुद्गलात्मक—अचेतन है, अचेतन को नमस्कार निषिद्ध है। उसका समाधान :- अर्थ ऐसा कि वाणी सर्वज्ञस्वरूप अनुसारिणी, परन्तु उस पश्यन्ति में ऐसा लिया, अनुभवनशील है। वाणी अनुभवनशील है, अर्थात् कि भगवान को अनुसरकर होती है। आहाहा! क्या अपेक्षा है, वह समझ में आया? वाणी सर्वज्ञस्वरूप अनुसारिणी तो अर्थ में कहा। ऐसा माने बिना भी चले नहीं। आहाहा! वाणी जड़ है, आहाहा! इसमें—(टेप में) उतरे, वह

जड़ उतरता है या आत्मा? यह आवाज आती है, वह जड़ है, मिट्टी-परमाणु है। मिट्टी परमाणु है। शब्दवर्गणा में से भाषा उठती है। आत्मा में से भाषा नहीं होती। अरे रे!

मुमुक्षु : सर्वज्ञ अनुसार वाणी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो निमित्त की बात की। बाकी तो भाषा की पर्याय के अनुसार वह भाषावर्गणा के अनुसार वह भाषा हुई है। आहाहा!

यह **काय...** काया। अब इस काया में यह लेना। औदारिक, वैक्रियिक आदि। समझ में आया? आहाहा! उसमें—२९ बोल में तो पाँच शरीर लिये हैं वहाँ। औदारिक, वैक्रियिक (आदि) पाँच शरीर। २९ बोल उसमें—५० से ५५ गाथा। यह काया जड़ है। यह मिट्टी, यह काया मृतक कलेवर है, यह मुर्दा। चैतन्य भगवान जो अन्दर है, वह तो जड़ से भिन्न है अन्दर। आहाहा! समझ में आया? यह शरीर है, यह तो कहा न अभी, ९६ गाथा में, 'परम अमृतरूप विज्ञानघन मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो गया है।' यह शरीर मानो मेरा, मुझे रखना। कहो, हसुभाई! तब नहीं होता था वह बीमार पड़े तब, खबर है न? कैसे स्वप्न आते थे? वे भाई बीमार पड़े थे बहुत, एक बार मौके से मैं वहाँ था। ऐसे स्वप्न आवे कि मानो ऐसा होगा और ऐसा होगा। वह तो जगत की विकृत लीला ऐसी है।

मुमुक्षु : आपके दर्शन से शान्त हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होने के काल में हुआ है। आहाहा!

वापस कैलाशचन्दजी (वाराणसी) ऐसा लिखते हैं कि तुम दूसरों को सबको मिथ्यादृष्टि ठहराते हो और तुम्हारे अनुयायी 'स्वामीजी के कारण से पैसे मिलते हैं, पैसेवाले होते हैं, वे मिथ्यादृष्टि नहीं?' ऐसा कहते हैं। ऐई! क्या कहा? कोई कहे उसे जानना चाहिए न! कैलाशचन्दजी ऐसा कहते हैं कि तुम जब दूसरों को मिथ्यादृष्टि ठहराते हो, तब तुम ऐसा कहते हैं कि स्वामीजी के कारण हमारे पैसे आते हैं, हमें ऐसा हुआ, तो तुम मिथ्यादृष्टि नहीं? सुजानमलजी!

मुमुक्षु : स्वामीजी के कारण से होता है, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि, और व्यवहार का कथन हो तो नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने तो चाहे जो बात करो, तो उसमें क्या हुआ? बात करते हैं, ऐसा सुनने में क्या बाधा है! और उसकी बात सच्ची है, इस हिसाब से। पर के कारण पैसा (नहीं आता), वह तो अपने अन्दर पुण्य पड़ा होता है, उसके कारण वह पैसे का योग होता है। वह कहीं चतुराई के कारण नहीं और वास्तव में तो पुण्य के कारण कहना है, वह भी निमित्त से कथन है, परन्तु वे परमाणु ही उस जाति के वहाँ आनेवाले थे, उनके कारण से वहाँ आये हैं, उपादान से (आये हैं)। आहाहा!

अरे! मार्ग बहुत.... जन्म-मरण के अन्त की बातें, बापू! अनन्त-अनन्त काल अवतार करके कचूमर निकल गया, परन्तु भूल गया। कौवे, कुत्ते के, बिल्ली के, नारकी के, हाथी और घोड़ा, लट के भव अनन्त-अनन्त किये। अनन्त काल में उस प्रत्येक के अनन्त भव किये, भाई! तू अनादि का है, भाई! तो कहाँ रहा तू? इस परिभ्रमण के शरीर भटकने में रहा, भाई! आहाहा! तू अरबोंपति भी अनन्त बार हुआ और सौ बार माँगे और एक ग्रास मिले, ऐसा भिखारी भी अनन्त बार हुआ, बापू! यह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा! तुझे तेरी खबर नहीं थी (कि) तू कौन है? कहाँ है? आहाहा! विशेष अब दोपहर में आयेगा, ऐसी सब बात! 'एक जाने, वह सर्व जाने' 'सर्व जाने वह एक जाने' कैसे कहा इसका? रात्रि में कहा था न तुमने? उसका उत्तर आयेगा। अभी तो यह तो चलता है। आहाहा!

काय... काय औदारिक काय, वैक्रियिक काय आदि। आहाहा! यह उसे जाननेवाला भगवान है। जिसने अपने को जाना है, वह स्वयं काया को जानने का काम करता है। काया मेरी है, ऐसा नहीं, तथा काया है; इसलिए काया से कुछ कार्य कर सकता हूँ, ऐसा भी नहीं तथा काया है, इसलिए यहाँ ज्ञान हुआ है, काया के कारण—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसके कारण ज्ञान तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण नहीं हुआ। हुआ है स्वपरप्रकाशक अपने सामर्थ्य से, परन्तु यहाँ बतलाना है कि उसमें निमित्त कौन, यह बतलाना है। आहाहा! समझ में आया? भाई! यह तो जन्म-मरण रहित के तीन लोक के नाथ जिनेश्वर, वीतराग

परमेश्वर की यह वाणी है, उनका मार्ग जगत से पूरा ही अलग है। आहाहा! अरे! 'वाडा बाँधकर बैठे अपना पंथ करने को।' यह वाडा नहीं, यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ के कथनों की वाणी का सार है यह। आहाहा! समयसार है न? आहाहा!

श्रोत्र... यह कान, कान / श्रोत्र। यह कान है, वह तो जड़ है। यह ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है, उसका धर्मी को ज्ञान हुआ तो उस कान में कानसम्बन्धी का ज्ञान अपने को होता है, वह भी अपने स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य में कान निमित्तरूप है; उपादान तो स्वयं कान का ज्ञान स्वयं से हुआ है। यह कान तो मिट्टी-जड़ है।

मुमुक्षु : अन्दर उघाड़ है, वह तो जीव का है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं, वह भाव इन्द्रिय, वह इन्द्रिय नहीं। तीनों को इन्द्रिय कहना, परन्तु बात सूक्ष्म पड़े, भाई! यह जड़ है यह, इन्द्रिय और अन्दर जो एक-एक विषय को जाने ऐसा ज्ञान का उघाड़, एक-एक को जाने, गन्ध को सूंघे नाक, रूप को देखे आँख, अन्दर आँख, हों यह नहीं, यह तो जड़ है। अन्दर जानने का उघाड़, वह भावेन्द्रिय भी नहीं। जो 'इन्दिय जिणिता' में तीन लिये, ३१ गाथा। जड़ इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय से दिखते विषय चाहे तो स्त्री, कुटुम्ब, परिवार हो तो भी वह उसे इन्द्रिय कहा जाता है। इन्द्रिय का विषय, वह इन्द्रिय। अरे! तीन लोक के नाथ भगवान तीर्थंकरदेव और समवसरण, वह भी इन्द्रिय कहलाता है। आहाहा! अणीन्द्रिय तो यहाँ अन्दर भगवान है, कहते हैं। इसकी अपेक्षा से, हों! उसकी अपेक्षा से तो अणीन्द्रिय है न भगवान? आहाहा! ऐसा मार्ग है। यह 'श्रोत्र' भी यह कहते हैं कि वह जड़ है, हों! भगवान तो सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान हुआ, इसलिए वह कान भी, कान का भी वह ज्ञान करता है। कान मेरे हैं, ऐसा तो नहीं, तथा कान द्वारा मैं जानता हूँ, ऐसा भी नहीं, तथा कान है, इसलिए मुझे कान सम्बन्धी का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं। आहाहा!

अब यहाँ कहाँ पहुँचना! बेचारे को निवृत्ति नहीं मिलती इस पाप के कारण पूरे दिन। धर्म तो कहीं रह गया, पुण्य भी नहीं होता। आहाहा! है? आहाहा! यह कान जड़ है।

चक्षु... यह जड़ है। यह कोडा मिट्टी है न, उसे ज्ञानी ज्ञान में जानता है कि यह आँख है, आँख द्वारा ज्ञानी जानता नहीं तथा आँख है, इसलिए यहाँ आँख का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं। उस समय ज्ञान का स्वपरप्रकाशक परिणाम षट्कारकरूप से परिणमता ज्ञान खड़ा होता है। ओहोहो! अब, इसमें कहाँ, धर्म को किसे कहना!

घ्राण... जड़ है, यह मिट्टी है। यह तो श्मशान में राख होती है या नहीं? यह कहीं आत्मा नहीं। आत्मा, जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है, वह नाक का ज्ञान करे, नाक मेरी है, ऐसा नहीं तथा नाक द्वारा मैं सूँघता हूँ, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा बहुत सूक्ष्म! जशुभाई! आहाहा!

हसमुखभाई नहीं, आये नहीं? भावनगर। नहीं आये। दोपहर में आयेंगे। शनिवार है न? दोपहर में आयेंगे। भाई तो आये हैं, हों! हीरालाल! सवेरे आते हैं। हाथ कट गया न, एक बार जयपुर जाना पड़ेगा, ऐसा कहते थे। वह कट गया है न, इतना कट गया है सब। चालीस-पचास लाख होंगे, पचास-साठ लाख रुपये। पैंतालीस वर्ष की उम्र और नरम... नरम... नरम...। पुत्र का विवाह करने गये थे। बड़े गृहस्थ व्यक्ति। पैंतालीस वर्ष की उम्र है, उसमें ऐसे (रेल के) डिब्बे को स्पर्श कर खड़े होंगे, सगे-सम्बन्धी मिलने आये होंगे वह तब ट्रेन चल पड़ी। वे ऐसे पकड़ने गये होंगे, वे गिर गये। टुकड़े यह तो टुकड़े। खबर पड़ी, परन्तु ऊंहकार किया नहीं, आँख में पानी की एक बूँद आयी नहीं। आते हैं, सवेरे आते हैं। ऐसा बेचारा नरम व्यक्ति है, बुद्धिशाली व्यक्ति है। पैसे पाँच-सात लाख की आमदनी है, परन्तु नरम (व्यक्ति है)। कहो, 'ज्ञायक' उनके हाथ का टुकड़ा हुआ, 'ज्ञायक' ऐई! हसुभाई! ऐसा बोले थे। 'मैं तो जाननेवाला हूँ'। आहाहा! और यहाँ तक बोल गये कि मेरे नाम से जितने पैसे आवे, ऐसे तो बनिये के सब भाग पड़े न इनकम टैक्स के लिये, वरना है तो दो भाई। दोनों भाई को कोई बनिया न भरे, इनकम टैक्स भरना पड़े न, इसलिए लड़का, लड़के का लड़का सबके नाम से लिखे।

मेरे नाम से जितने इसमें आवे तो देह छूट जाये तो शास्त्र में दे देना। मेरे नाम से जितने हैं, मेरा देह यदि छूट जाये तो वहाँ देते हैं पैसे बहुत, ८० हजार दिये थे एकबार, एकबार तीस हजार दिये, एकबार पच्चीस हजार दिये, देते हैं, पैसा तो बहुत देते हैं,

बहुत उदार है। परन्तु यहाँ अन्त में रह गया। वरना तो देह छूट जाती। यहाँ से इतना कट गया। इतना-इतना टुकड़ा है। आहाहा! यह देह की स्थिति उस काल में उस प्रकार से होनेवाली थी आहाहा! और उस काल में वास्तव में कटा, उसका यहाँ ज्ञान होने का था। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! ऐसा धर्म कहाँ से निकाला! कहते हैं। वे ईश्वरकर्ता मानते हैं न, ईश्वर की भक्ति करो, ईश्वर को... ईश्वर की। यहाँ और कहे, कोई ईश्वर कर्ता नहीं। तब भगवान की पूजा करो राग, वह सब राग है सुन! यह तो वह भगवान अन्दर बैठा है। आहाहा! उसे जिसने जाना, उसे यह 'घ्राण' इन्द्रिय भी जानने में आती है, ज्ञान होता है।

रसन.... यह जीभ, रस। यह रसन का भी जीभ को ज्ञान है। जिसने आत्मा का ज्ञान किया, उसे इस रसन का ज्ञान है, रसन इसका नहीं। जीभ आत्मा की नहीं। वह तो जड़-मिट्टी है। आहाहा!

स्पर्श.... यह स्पर्श, यह जड़ है, यह स्पर्श तो। उसका ज्ञान स्वरूप में उसका ज्ञान हो। अपना ज्ञान हो, तब उसे पर का भी ज्ञान होता है। ऐसे **सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना और इसी प्रकार इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना....** जितने विकल्पों के प्रकार और जितने अन्य के प्रकार हैं, सबको इस प्रकार से विचारकर भिन्न जानना। आहाहा!

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है... क्या कहते हैं? अज्ञानी है, आत्मा का ज्ञान नहीं, धर्मी नहीं, मिथ्यादृष्टि है, वह भी किसी परद्रव्य— यह शरीर की क्रिया कर सके, वाणी कर सके, पर का कर सके, वह है नहीं। आहाहा! अज्ञानी जो है, आत्मा का ज्ञान नहीं, ऐसे मिथ्यादृष्टि भी कहीं शरीर की क्रिया कर सके या वाणी बोल सके। (ऐसा नहीं)। आहाहा! वह पर का तो कर सकता ही नहीं। आहाहा! अज्ञानी भी पुत्र को उत्पन्न करे, पुत्र को पालन करे, पुत्र को पढ़ावे (ऐसा नहीं है)। यह क्या सब तुम्हारे लड़के पढ़े? भाई ने पढ़ाया नहीं था, सुमनभाई को? पैंतीस हजार खर्च करके। पाप से पैसे किये थे रामजीभाई ने वकालत करके, यह पैंतीस हजार लड़के में खर्च किये। अमेरिका में पढ़ने के लिये। ऐई! अभी हैं छह, सात, आठ हजार का मासिक वेतन है। आता है यहाँ। वह यह कर सकता होगा? आहाहा!

कौन दे बापू? अज्ञानी भी पर का लेने-देने की वह क्रिया अज्ञानी भी नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। क्योंकि मिट्टी जड़ है, यह पैसा तो जड़ है-धूल है। उसे ऐसे जाना और आना नोट का, वह आत्मा कर सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। गजब काम भाई ऐसा! आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा स्वयं पैसारूप हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा, पैसे के लेने-देने की क्रिया में तन्मय हो जाये तो स्वयं पृथक् नहीं रहे, जड़ हो जाये। समझ में आया? अज्ञानी भी, ऐसा। ज्ञानी तो राग का कर्ता नहीं, पर का तो कर्ता नहीं, परन्तु अज्ञानी भी पर का तो कर्ता नहीं। ऐसा लेना है। अज्ञानी करे तो यह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध शुभाशुभभाव, इस विकार को करे, परन्तु पर का कर सकता, (ऐसा नहीं)। आहाहा! धन्धे-पानी की क्रिया, यह टाईल्स की क्रिया तुम्हारे थान की, थान, क्या कहलाता है वह? थाणा, थाणा। वहाँ उतरे थे न तब तुम्हारे यहाँ? वह सब आत्मा अज्ञानी भी नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अज्ञानी भले न कर सके, आत्मा तो कर सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, आत्मा के अतिरिक्त। आत्मा करे तो वह अपने पुण्य-पाप भाव को अज्ञानभाव से करे, अज्ञानभाव से, आहाहा! परन्तु पर का नहीं कर सकता, लड़कों का, स्त्री का, यह दूसरे का विवाह (आत्मा कर नहीं सकता है) आहाहा!

मुमुक्षु : यह पैसे सब पानी में गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी, कब थे पैसे? रामजीभाई के पैसे कब थे। आहाहा! समझ में आया? पैसे तो जड़ के थे। आहाहा! वह यहाँ तो कहते हैं कि जड़ का तो कुछ कर नहीं सकता। विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०२

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ह्न

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा।।१०२।।

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मन्द-तीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिन्दानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्य-त्वाद्भवति कर्म, स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भव-त्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनु-भाव्यः एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्।।१०२।।

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है:-

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उसहि का कर्ता बने।
उसका बने वह कर्म, आत्मा उसहि का वेदक बने।।१०२।।

गाथार्थ : [आत्मा] आत्मा [यं] जिस [शुभम् अशुभम्] शुभ या अशुभ [भावं] (अपने) भाव को [करोति] करता है, [तस्य] उस भाव का [सः] वह [खलु] वास्तव में [कर्ता] कर्ता होता है, [तत्] वह (भाव) [तस्य] उसका [कर्म] कर्म [भवति] होता है [सः आत्मा तु] और वह आत्मा [तस्य] उसका (उस भावरूप कर्म का) [वेदकः] भोक्ता होता है।

टीका : अपना अचलित विज्ञानघनस्वरूप एक स्वाद होने पर भी, इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से मन्द और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनस्वरूप) स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभभाव को करता है,

वह आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का व्यापक होने से उसका कर्ता होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उस समय तन्यमता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है। इस प्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है।

भावार्थ : पुद्गलकर्म का उदय होने पर, ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञान का ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञान के कारण कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभभावों का कर्ता होता है। इस प्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भाव का और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भाव का कर्ता है; परभाव का कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है।।१०२।।

प्रवचन नं. २०५, गाथा-१०२, दिनांक २५-०२-१९७९, रविवार, माघ कृष्ण-१४

---

१०२ गाथा। अब **अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है....** वस्तु यह है, परन्तु अन्दर डालेंगे बहुत गहरा। अज्ञानी भी, ऐसा कि ज्ञानी तो पर को करता नहीं, ज्ञानी तो राग को भी करता नहीं। क्योंकि ज्ञानस्वभाव पर दृष्टि होने से—शुद्ध उपादान की दृष्टि होने से, यह राग है, वह अशुद्ध उपादान है। इसलिए उसका वह कर्ता नहीं, परन्तु अज्ञानी भी पर का कर्ता नहीं, यहाँ तो कहते हैं। ज्ञानी राग का कर्ता नहीं। पर का तो कर्ता नहीं। अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का, हों! कर्ता नहीं। आहाहा!

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।।१०२।।

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उसहि का कर्ता बने।
उसका बने वह कर्म, आत्मा उसहि का वेदक बने।।१०२।।

बात यह है। अब इसके फल की पहली बात करेंगे।

टीका :- अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी... आहाहा!

पाठ में है, उससे पहली बात, उससे दूसरी बात करके, फिर यह कहेंगे। भगवान आत्मा, अपना चलित न हो, ऐसा विज्ञानघन, वह तो विज्ञानघन है। आहाहा! विज्ञानघनरूप एक स्वाद है, उसका तो अतीन्द्रिय आनन्द का विज्ञानघन एक ही स्वाद है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

स्वाद तो दाल-भात, रसगुल्ला और मेसूख का स्वाद कहते हैं लोग। वह कहीं उसका स्वाद उसे नहीं आता। उस पर लक्ष्य करके राग करता है, उसका यहाँ स्वाद है। स्त्री के विषय में भी स्त्री के शरीर का भोग अज्ञानी को नहीं है, उसके प्रति राग होता है, राग और स्वभाव का भेद (नहीं) पकड़कर राग को अनुभव करता है। स्वभाव तो विज्ञानघन एक स्वाद आनन्दरूप है, प्रभु! आहाहा! है?

अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण... पानी का पूर चलता हो प्रवाह एकरूप से ऐसे चले, परन्तु बीच में नाला और नल आवे, खण्ड पड़ जाये, भाग पड़ जाये। क्या कहे, यह नाला आता है न बीच में? पानी एकरूप चला आता हो, नाला आवे बीच में (तो) भाग पड़ जाते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा विज्ञानघन एकरूप उसका स्वाद है, आहाहा! परन्तु बीच में पर के और अपने एकपने के अध्यास से यह खण्ड करता है, भेद डालता है। आहाहा! क्या कहते हैं? समझ में आया?

जैसे नदी बहती आती हो तो पानी एकरूप ऐसे हो, परन्तु बीच में नाला आवे, नाला, खण्ड पड़ जाते हैं, पानी के दो-तीन खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार भगवान आत्मा का एक धारा विज्ञानघन रस है। आहाहा! परन्तु अनादि **अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से...** एकपने में से दो को अनुभव करता है—ऐसा कहना है। क्या दो? अपने एकपने के अध्यास से यह राग और पुण्य-पाप के भाव और स्वयं विज्ञानघन होने पर भी, वह राग और विज्ञानघन, वह अपने को, पर को और अपने एकपने के कारण, इसकी मान्यता यह है कि यह राग है, वह मैं हूँ। आहाहा! शुभ-अशुभराग और स्वयं दोनों एक है, ऐसा मानता है। यह शुभ-अशुभराग और विज्ञानघन प्रभु 'अनादि अज्ञान के कारण दोनों को एक मानता है।' समझ में आया?

अध्यास के कारण, वस्तुस्वरूप में वह नहीं, परन्तु अध्यास अनादि का, अपना स्वभाव और राग की एकता का, आहाहा! **मन्द और तीव्र स्वादयुक्त....** आहाहा! शुभभाव मन्द भाव है, अशुभ तीव्र है, ऐसे **मन्द और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं के द्वारा....** देखा? क्या कहते हैं, शुभराग होता है शुभराग—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शुभराग वह और अशुभराग—हिंसा, झूठ, चोरी का रागभाव। कहते हैं कि विज्ञानघन भगवान एक होने पर भी, कर्म की दो दशा को वह अनुभव करता है, कर्म की एक दशा भी नहीं वापस। आहाहा! सूक्ष्म है।

मन्द और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्म के विपाक की.... कर्म का कर्म नहीं, कर्म का अनुभव नहीं यहाँ, पाठ तो ऐसा है कि **पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं....** अर्थात् वास्तव में शुभ और अशुभभाव, वह पुद्गलकर्म के निमित्त से हुए, इसलिए वह पुद्गलकर्म का फल है शुभ और अशुभभाव, ऐसा कहा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी व्याख्या है। **विपाक की दो दशाओं,...** ऐसा कहा न? **पुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं....** इसका अर्थ यह हुआ कि जो आत्मा का पाक है, वह आनन्द है, आहाहा! भगवान आत्मा में से तो अतीन्द्रिय आनन्द का पाक पकता है, ऐसा वह प्रभु है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के एकरूप स्वभाव के अज्ञानपने से कर्म के विपाक के मन्द और तीव्र दो भाव, उन्हें एक में से तोड़कर इसने दो रूप कर डाला। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : एक का दो रूप किस प्रकार हो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभ और अशुभ। मन्द, वह शुभ।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : दो है। शुभ के समय अशुभ नहीं और अशुभ के समय शुभ नहीं, इसलिए दो कहे हैं। जब मन्द परिणाम शुभभाव है, तब अशुभ नहीं; अशुभ है, तब शुभ नहीं। वह तो एकरूप है, उसके यहाँ दो प्रकार हैं, ऐसा कहना है। सूक्ष्म बात!

भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का विज्ञानघनस्वरूप प्रभु है, उसकी दृष्टि का, अनादि से अभाव के कारण, कर्म के पाक के दो प्रकार शुभ-अशुभभाव... वास्तव में

तो कर्म में साता-असाता का उदय आया, उसे कहीं आत्मा शुभाशुभभाव उसे कहीं स्पर्शता नहीं, परन्तु उसके विपाक का निमित्त है और यहाँ शुभाशुभभाव अपने अशुद्ध उपादान से करता है, ऐसा सिद्ध करना है। शुद्ध उपादान तो विज्ञानघन आनन्दकन्द प्रभु, उसका स्वाद तो एकरूप अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद एकरूप वस्तु है। आहाहा! परन्तु अज्ञानी एकरूप स्वाद के ऊपर की दृष्टि का अस्तित्व का-होनेपने का निषेध करके, आहाहा! कर्म के पाक के दो प्रकार जो शुभ-अशुभभाव, उन **दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वभाव को भेदता हुआ...** देखो! आहाहा!

यह कर्म का पाक तो अन्दर गया था, परन्तु यहाँ पाक लेना है, वह शुभाशुभ भाव, वह कर्म का फल है। आत्मा, आत्मा का वह पाक नहीं है। आत्मा का पाक तो आनन्द होता है। आहाहा! और यह तो दुःखरूप शुभ-अशुभभाव दोनों दुःखरूप कर्म के पाक के निमित्त से यहाँ हुए हों इतना। उसका फल, ऐसा कहा। यह भगवान आत्मा इस ओर से देखो तो विज्ञानघन स्वाद अकेला है, और ऐसे से देखो तो उसे ऐसे छोड़कर शुभ-अशुभभाव दो दशायें करता हुआ। है न? **दो दशाओं के द्वारा अपने स्वाद को भेदता हुआ।** आहाहा!

जो भगवान आत्मा आनन्द अतीन्द्रिय स्वाद सच्चिदानन्द प्रभु, उसका तो आनन्द का स्वाद एकरूप है। आहाहा! तथापि अनादि से उसका आश्रय नहीं, उसका आदर नहीं, उसकी अस्ति का स्वीकार नहीं, आहाहा! विज्ञानघन ऐसा जो आनन्द का स्वाद, परन्तु वह वस्तु है, उसकी स्वीकृति नहीं, अस्ति की मौजूदगी की, ऐसा अस्तित्ववाला तत्त्व है, उसका जहाँ स्वीकार नहीं, अज्ञान के कारण उसके स्वीकार से विरुद्ध, आहाहा! कर्म के पाक के दो प्रकार शुभ और अशुभ, ऐसी दो दशाओं द्वारा, है? **अपने स्वाद को भेदता हुआ।** ओहोहो! शुभ-अशुभभाव के स्वाद में चैतन्य के स्वाद को भेदता हुआ, हसुभाई! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! धन्धे के.....

भगवान की धारा तो, कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव जो विज्ञानघन और आनन्दकन्द प्रभु है, उसका एक ही स्वाद, आया पहले? एक स्वाद अन्दर में, पहली लाईन! उसका एकरूप स्वाद है। आहाहा! परन्तु उसकी अस्ति के स्वीकार बिना जब उसकी अस्ति

का स्वीकार नहीं, तो वह है, ऐसा कहीं स्वीकार तो करना पड़ेगा न? आहाहा! भगवान विज्ञानघन अतीन्द्रिय आनन्दकन्द आत्मा प्रभु है। अरे! कैसे जँचे? आहाहा!

यहाँ ऐसे बीड़ी पीवे, वहाँ मानो तलब चढ़ जाये, ऐसे अपलक्षण, उसे अब आत्मा.... (भगवान कहना)। भाई! प्रभु है तो, तू एकरूप आत्मा ज्ञान, विज्ञानघन और आनन्द के स्वादवाला तू प्रभु, परन्तु उसकी ओर का स्वीकार नहीं, इसलिए कहीं अपनी अस्ति का स्वीकार तो करेगा? वह स्वीकार यहाँ किया इस ओर, शुभ-अशुभभाव दो दशाओं द्वारा, अपने को इन दो दशाओं द्वारा, आनन्दकन्द विज्ञानघन प्रभु एकरूप स्वाद है, उस स्वाद को दो दशाओं द्वारा तोड़ डाला है। समझ में आया?

भाई! यह कोई कथा-वार्ता नहीं, यह तो धर्म की चीज है। धर्म कोई एक ऐसी चीज़ नहीं कि व्रत पालन किये और भक्ति की, पूजा की और लाख, दो लाख का दान दिया, इसलिए धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं। कहते हैं। वह यह कहते हैं, आत्मा का आनन्दघन स्वभाव है, उसका अन्तर में स्वीकार करे, आहाहा! और उसमें आनन्द का—अतीन्द्रिय (आनन्द) का स्वाद आवे, तब उसे धर्म होता है। ऐसी बात है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : किसी का कष्ट मिटाये तो धर्म होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं होता। पुण्य पर्व की नहीं, वह मकरसंक्रान्ति आवे, तब चिल्लाहट मचाये। पुण्य परवणी, दो दान, अमुक करो, धूल में भी नहीं दान तेरा। वह जड़ की चीज़, वह जड़-मिट्टी है, ऐसा मानकर दे तो वह महा भ्रमणा है उसकी, मिथ्यात्व है, सत्य से विरुद्ध की भ्रमणा है। समझ में आया? आहाहा!

भगवान का तो विज्ञानघन एक स्वाद होने पर भी, उसके अस्तित्व का—विद्यमानता का स्वीकार नहीं होने से अनादि अज्ञान के कारण वह कर्म के पाक के दो फल शुभ और अशुभ साता-असाता का फल, यह ऐसा कहना है। समझ में आया? साता-असाता संयोग देते हैं, वह अलग वस्तु है, अभी तो ऐसा कहना है। समझ में आया? संयोग आवे परन्तु यहाँ साता-असाता का फल जो है न वेदना, यह बात लेनी है। आहाहा! एकरूप स्वाद में साता-असाता के प्रकार शुभ और अशुभ ऐसे दो कर्ता

हुआ, दो हुए यहाँ एक समय शुभ और उसी समय अशुभ, ऐसा नहीं, इसलिए दो हुए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! एकरूप तो भगवान आत्मा आनन्द का विज्ञानघन, वह एकरूप है, तब सामने द्विधा करनी है न, बतानी है। आहाहा!

ऐसा मार्ग लोगों ने बेचारों ने सुना नहीं। यह यात्रा करो, भक्ति करो, व्रत करो और अपवास करो, हो गया (धर्म)। मार डाला आत्मा को। वे तो सब विकल्प और राग है। यह तो वही कहते हैं यहाँ। उस राग के भाव के भेद से एकरूप स्वाद को दो रूप कर डाला इसने। आहाहा! मन्द और तीव्र।

भाई! समयसार है, वह अलौकिक चीज़ है! उसकी एक-एक गाथा! एक-एक पद अलौकिक है, प्रभु! आहाहा! **दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वाद को...** देखो। आहाहा! यह शुभ-अशुभ के स्वाद के कारण, विज्ञानघन एक स्वाद है, उसके दो कर डाले। **भेदता हुआ अज्ञानरूप...** आहाहा! **शुभ या अशुभभाव को करता है।** देखा? शुभ और अशुभ।

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है। पाठ तो है दूसरा, पर को भी करता नहीं, परन्तु स्व को करता है, वह क्या करता है, यह पहले बताकर। पाठ तो यह है। '**जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।**' परन्तु वह शुभ-अशुभभाव, उनका दोपना किस प्रकार है, ऐसा बतलाने के लिये ऐसा विज्ञानघन भगवान है, अतीन्द्रिय आनन्द का दल प्रभु है। अतीन्द्रिय प्रभुता, ईश्वरता का वह कन्द है। आहाहा! उसका स्वभाव रागरूप न होना, और राग से आत्मा में वीतरागता न होना, ऐसा उसका स्वभाव है।

ऐसे अकार्यकारणस्वभावरूप प्रभु विज्ञानघन, आहाहा! जिसे राग शुभ हो, वह कारण और स्वाद आवे, वह उसका कार्य, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसका कार्य तो एकरूप स्वाद आवे, ऐसा होना चाहिए। आहाहा! उस कर्ताकर्म में लिया है न भाई ६९-७० (गाथा)? जो ज्ञातादृष्टा, उदासीन अवस्था है, उसे छोड़कर; छोड़कर अर्थात् जो हुई है, उसे छोड़कर है? पाठ तो ऐसा है। ६९-७० (गाथा) जो उत्पन्न होना चाहिए— विज्ञानघन आनन्द की दशा उत्पन्न होना चाहिए, उसे उत्पन्न नहीं करता, आहाहा! शुभ और अशुभभाव के राग को उत्पन्न करता है, वह विज्ञानघन स्वाद का भेद कर डालता

है। आहाहा! हीरालालजी! ऐसी बात है। ऐसा उपदेश किस प्रकार का? आहाहा!

प्रभु! यह तेरे घर की बात है। तेरा घर अन्दर ऐसा है कि वह तो विज्ञानघन और अतीन्द्रिय आनन्दकन्द है, वही तेरा घर है। आहाहा! यह बाहरचला होता है। आहाहा! सेठिया का पुत्र ऐसा हो स्वच्छन्दी बाहरचला (व्यभिचारी) हो, लक्ष्मी खर्च करे जहाँ-तहाँ, उसके पिता कहे, भाई! इस प्रकार तू लक्ष्मी को जहाँ-तहाँ दूसरे को दे देता है, अरेरे! (घर में) खानदान की पुत्री है, उसे छोड़कर भाई तू इस रस्ते कहाँ चढ़ा? इसी प्रकार तीन लोक के नाथ पुकार करते हैं, प्रभु! तेरे घर में विज्ञानघन का स्वाद है न! वह शक्ति स्वभाव है... है... है। वह शक्ति स्वभाव वस्तु ही है वह सब। यहाँ तो विज्ञानघन आनन्द है, वह शक्ति ही एक शक्ति है, उसका यहाँ ज्ञान हुआ, राग होने पर भी एक स्वाद होने पर भी, वापस पर्याय में उसका एक स्वाद आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। इसके बिना विज्ञानघन आनन्द है, ऐसा जाना किसने? आहाहा! समझ में आया इसमें? आनन्दकन्द प्रभु का यह आनन्द है, ऐसी पर्याय में आनन्द आये बिना आनन्दकन्द है, ऐसा जाना किसने? बस, उसकी ही यहाँ बात है। आहाहा!

यह तो प्रश्न नहीं किया था भाई ने—त्रिभुवनभाई वारिया ने? यह कारणपरमात्मा है और कार्य क्यों नहीं आता? तुम उसे कारणपरमात्मा कहते हो और कारण हो तो कार्य आवे? भाई! कारणपरमात्मा विज्ञानघन है, यह स्वीकार करे उसे है या न स्वीकार करे उसे है? उसे वह स्वीकार तो करता है, नहीं तो उसे कहाँ है? क्या कहा यह? है ही नहीं, उसके लिये है ही नहीं। दूसरा भले कहे। क्या कहा यह? कि कारणपरमात्मा कहो या विज्ञानघन स्वादरूप से है प्रभु, आहाहा! उसे जो स्वीकार करता है, श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करता है, उसे वह है। और उसे है, ऐसा जब कार्य आया सम्यग्दर्शन का स्वाद, वह कारण का कार्य आया, उसे जानना। परन्तु जो कारण ऐसा भगवान है, उसका स्वीकार ही नहीं तो यह है, ऐसा ही नहीं है। यह है, पुण्य और पाप के परिणाम वे वहाँ हैं। उसमें वह कहाँ से वहाँ आवे? उसे कहीं से मान्यता में वह आवे। समझ में आया? आहाहा!

बात तो यहाँ (ऐसी है) **अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं....** ऐसा सिद्ध

करना है, उसमें यह डाला। आत्मा, वह जड़कर्म का कर्ता नहीं, जड़कर्म को करता नहीं और जड़ को भोगता नहीं। वह अपने शुभाशुभभाव को करे और शुभाशुभ को भोगे। आहाहा! अभी यह सिद्ध करना है। पाठ यह है न, '**तस्स दु वेदगो**' ऐसे तो सर्वविशुद्धि में ऐसा आया बौद्ध के अधिकार में, (कि) एक पर्याय करे और दूसरी पर्याय भोगे, वह पर्याय नहीं। यह तो वहाँ दूसरी शैली करनी है। बौद्ध के अधिकार में। जो द्रव्य करता है, वही भविष्य में द्रव्य भोगता है, उसका विषय वहाँ भोगता है। परन्तु जो पर्याय करती है, वह पर्याय भोगती नहीं, वह दूसरी पर्याय यह संयोगों की अपेक्षा से बात है। क्या कहा?

यह संयोग की यहाँ बात नहीं, यहाँ तो अन्दर के भाव की बात है। जिस पर्याय में पाप बँधा, उस पर्याय में पाप के भोगने के काल में संयोग के काल में वह पर्याय तो नहीं। वह का वह है और भोगता है। परन्तु जो पर्याय करती है, वह पर्याय भोगती नहीं, वह दूसरी पर्याय (भोगती है)। यह संयोगों की अपेक्षा से बात है। क्या कहा? वह संयोग की यह बात नहीं। यहाँ तो अन्दर के भाव की बात है। क्या कहा? जिस पर्याय में पाप बँधा, वह पर्याय पाप के भोगने के काल में, संयोग के काल में तो वह पर्याय तो नहीं, संयोग को, हों!—पाप में प्रतिकूल संयोग, पुण्य हो तो अनुकूल संयोग।

यहाँ जो पर्याय करती है, वह पर्याय भोगती नहीं, परन्तु जो द्रव्य करता है, वह द्रव्य वहाँ भोगता है। ऐसा स्याद्वाद अधिकार है। है न भाई? स्याद्वाद इस प्रकार है। यहाँ दूसरी बात है। आहाहा! यहाँ तो स्वयं विज्ञानघन का रस है जो तोड़ता है और शुभाशुभभाव को करता है और वेदता भी वह है, कहेंगे। जो भाव को करता है, उसे ही उसी समय में वेदता है। उसका फल बाद में वेदा जायेगा, उसकी यहाँ बात नहीं है। पश्चात् उस संयोगी चीज़ की अपेक्षा से बात है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा नया लगे सब नया। बापू! क्या करे? यहाँ तो स्वयं वेदता है। आहाहा! करता है आत्मा पर्याय, वह पर्याय वेदती है पर्याय। यह यहाँ तो कहते हैं जो पर्याय करती है, उसका फल संयोग आयेगा, तब उसे वेदता है, वह पर्याय उसे वेदती है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! स्याद्वाद की शैली तो देखो, प्रभु! आहाहा! स्वाद को भेदता हुआ... **वह आत्मा उस समय तन्मयरूप**

से उस भाव का व्यापक होने से.... एकरूप राग में एकाकार हो गया है। आहाहा! सूक्ष्म बात, बापू! धर्म कोई ऐसी चीज़ नहीं कि ऐसे साधारण बाह्य से (हो जाये)। समय मिलता नहीं। आहाहा!

तन्मयरूप से उस भाव का व्यापक होने से उसका कर्ता होता है.... वास्तव में तो उस पर्याय में तन्मय है पर्याय में, वह पर्याय कर्ता होती है, आत्मा तो नित्य द्रव्य है। परन्तु यहाँ समझाना है, वह किस प्रकार? आहाहा! उस समय, **आत्मा उस समय तन्मयरूप से उस भाव का व्यापक होने से....** भाषा तो ऐसी है 'आत्मा', परन्तु उसे द्रव्य और पर्याय दो सिद्ध करना है न? यह बात है। बाकी तो वह एक समय का जो शुभाशुभभाव है, वह षट्कारक के परिणमन होकर खड़ी हुई है। आहाहा! आत्मा की—द्रव्य की उसे अपेक्षा नहीं है। परन्तु यहाँ तो पर्याय का वेदन बतलाना है न? वेदन पर्याय का कर्तापना पर्याय का, द्रव्य का करना तो वह तो है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, भाई! यह तो समयसार है। आहाहा!

भगवान आत्मा, स्वयं ऐसा कहते हैं कि आत्मा, आहाहा! उस वक्त—उस समय **तन्मयरूप से उस भाव का व्यापक होने से....** वह आत्मा उस विकार के परिणाम में कर्ता अर्थात व्यापक होने से, वह आत्मा उस राग में पसरता होने से उसे व्यापक कहा जाता है। आहाहा!

यह कहा न यह? वह पर्याय, क्योंकि द्रव्य तो है, वह है। द्रव्य तो मोक्ष के मार्ग को भी करता नहीं और द्रव्य तो मोक्ष को भी करता नहीं, ऐसा द्रव्य सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। समझ में आया? समकिती-ज्ञानी को, 'यह आत्मा है, वह मैं हूँ', ऐसा कहा यह। आहाहा! बीच में शुभाशुभभाव आवे, उसका वह जाननेवाला-देखनेवाला ज्ञानधारा में रहे और रागधारा को जाने। आहाहा! ज्ञानधारा में आया न, कहा पर्याय में? प्रगट। परन्तु कौन आवे? द्रव्य नहीं आवे, परिणति है न? यहाँ तो उसे आया ऐसा कहना है न? आत्मा व्यापक है। क्योंकि वह स्वयं आत्मा की पर्याय है, वह स्वयं व्यापक है न? ऐसा उसका गिना है। सभी जगह एक प्रथा लेने जाये तो नहीं बैठे ऐसा।

वरना तो शुभाशुभभाव, आहाहा! उत्पाद के काल में उत्पाद है, उस उत्पाद को द्रव्य की भी अपेक्षा नहीं, पूर्व के व्यय की अपेक्षा नहीं और ध्रुव की अपेक्षा नहीं तथा कर्म की अपेक्षा नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह शुभ और अशुभभाव तो उसकी ओर अज्ञानी (एक) स्वाद को भेदकर दो करता है, ऐसा बतलाना है न? इसलिए उसका आत्मा अज्ञानी का यह दया, दान के राग को शुभाशुभभाव में व्यापक होने से और व्याप्य आत्मा, वह पुण्य-पाप के भाव में पसरता होने से, विज्ञानघन का नकार करना है न? ऐसा यह आत्मा, आत्मा की (पर्याय) उसमें व्यापक होती है। समझ में आया? भाई! धर्म की चीज़ बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! जिनेश्वर तीन लोक का नाथ परमेश्वर ने जो कुछ कहा है, वह कोई अलौकिक बातें हैं। यह अभी तो कहीं है नहीं। आहाहा! वाडावाले को भी खबर नहीं तो दूसरे का तो क्या कहना? आहाहा!

कहते हैं, यहाँ कर्ता सिद्ध करना है न? व्यापक है, वह कर्ता है। है? **भाव का व्यापक होने से कर्ता....** ऐसा कहना है न, सिद्ध करना है न? व्यापक होने से। आहाहा! अर्थात् क्या कहा? कि शुभ और अशुभभाव, वह वास्तव में कर्म के विपाक का फल है, है अपने से हुआ, परन्तु उस निमित्त में से निमित्त के लक्ष्य से हुआ है। आत्मा के लक्ष्य से शुभाशुभभाव नहीं होता। भगवान आत्मा के आश्रय से तो अतीन्द्रिय आनन्द आता है। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द को छोड़कर... यह तो वहाँ कहा न? उदासीन अवस्था को छोड़कर। यह वह अवस्था थी? यह क्या अपेक्षा है? आहाहा! गम्भीर... गम्भीर वस्तु है।

भगवान आत्मा विज्ञानघन और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप एकरूप स्वाद होने पर भी, स्वरूप के अज्ञान के कारण शुभाशुभभाव में आकर, आनन्द के एकरूप स्वाद को भेदता हुआ, व्यापक होकर वह पुण्य-पाप का कर्ता होता है। आहाहा! समझ में आाय? **और वह भाव भी उस समय तन्मयरूप से उस आत्मा का व्याप्य होने से....** व्याप्य / कर्म, कर्म सिद्ध करना है न? आहाहा! वह आत्मा और वह भाव। कौन सा भाव? शुभ-अशुभभाव। वह भाव व्यापकरूप से आत्मा पसरा है जिसे आत्मा, इस

अपेक्षा से उसे कर्ता कहा जाता है और वह भाव भी उस समय, **उस समय तन्मयरूप से उस आत्मा का व्याप्य होने से...** आत्मा का कार्य होने से **उसे वह कर्म...** अर्थात् कार्य है। आहाहा! अज्ञानी आत्मा का पुण्य-पाप का भाव, वह उसका कार्य है और व्यापक होने से वह उसका कर्ता है। आहाहा! ऐसा अब बहुत सूक्ष्म पड़े, एक-एक बात, मूल पूरे धर्म की बात पूरी बदल गयी है। जो जिससे धर्म हो, वह धर्म क्या? बात ही सब डूब गयी। आहाहा! यह बाहर की बातें रह गयी। आहाहा! धमाल... धमाल... धमाल...

उस आत्मा का व्याप्य होने से.... उस आत्मा का व्याप्य होने से, ऐसा कहा न? उसमें ऐसा कहा था **आत्मा उस समय व्यापक होने से....** यहाँ ऐसा कहा कि वह आत्मा का व्याप्य होने से। पर्याय उसकी अभेद है, ऐसा बतलाना है न, अशुद्ध उपादान। अशुद्ध उपादान, आहाहा! उसका है वह अशुद्ध उपादान।

प्रवचनसार में आया न पहली गाथाओं में? शुभरूप से परिणमे, तब तन्मय शुभ है, पर्याय, हों! द्रव्य नहीं। एक पण्डित और ऐसा कहता है कि शुभ (रूप से) जब आत्मा परिणमता है, तब आत्मा शुभरूप पूरा हो जाता है। तन्मय है न? परन्तु तन्मय तो पर्याय की अपेक्षा से बात है। वस्तु शुद्ध है, वह तो त्रिकाली निरावरण अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! उसे तो राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं, पर्याय को वर्तमान अंश और राग के साथ सम्बन्ध है। कर्म जड़ है, वह तो निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, अशुद्ध.... समझ में आया? आहाहा!

वस्तु है भगवान पूर्णानन्द का नाथ, वह तो सकल निरावरण है, अखण्ड है, एक है, एकरूप है। आहाहा! उसमें कोई भेद नहीं और वह वास्तव में तो आत्मा जो यह है, वह पर्याय में आता नहीं। समझ में आया? पर्याय पर्याय में रहती है; वस्तु वस्तु में रहती है। परन्तु यहाँ उस आत्मा का विकार हुआ, ऐसा बतलाना है अशुद्ध उपादान से। संस्कृत टीका में है, भाई! यह जयसेनाचार्य की टीका में शुद्ध और अशुद्ध उपादान दोनों यहाँ वर्णन किये हैं। अशुद्ध उपादान का वर्णन टीका में, उसमें टीका है न संस्कृत, उसमें। आहाहा! और वहाँ फिर कह दिया कि इस प्रकार सर्वत्र शुद्ध और अशुद्ध उपादान की स्थिति है, सर्वत्र लागू कर दिया है। यह टीका में है, १०१-१०२। आहाहा!

यह कर्ताकर्म सिद्ध किया।

आत्मा का विज्ञानघन, आनन्द स्वभाव को भूलकर अज्ञानरूप से उस स्वरूप के ज्ञान बिना अज्ञानरूप से पुण्य और पाप के दो भाव को आत्मा व्यापक होकर करता होने से वह उसका कार्य है, वह उसका कर्ता है और यह कार्य है उसका, इसलिए उसका वह कर्म है। व्याप्य वह है, है? व्यापक, वह कर्ता और व्याप्य, वह कार्य। आहाहा! व्याप्य-व्यापक आता है न? समझ में आया? आहाहा! व्याप्य-व्यापक होने से उसका कार्य है।

और, इतनी कर्ता तक बात ली। **और वही आत्मा उस समय तन्मयरूप से भाव का भावक होने से....** अब भोक्ता का बात है, उस समय आत्मा तन्मयरूप से भाव का भावक, वह भाव का भावक—करनेवाला होने से, उसका अनुभव करनेवाला होने से। आहाहा! उस समय उस राग को अनुभव करनेवाला होने से अर्थात् भोक्ता होता है। आहाहा! अनुभव करनेवाला होने से उसका भोक्ता। उसी समय कर्ता और उसी समय भोक्ता। आहाहा! क्या कहा यह? जिस समय वह व्यापक होकर राग को करता है, उस राग को उसी क्षण दुःखरूप वेदता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अज्ञानी की बात है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसी की बात है न। समझ में आया?

जिस क्षण स्वरूप को भूलकर कुछ शुभ-अशुभ कोई भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम हों, उस शुभभाव को व्यापक होने से कर्ता और वह आत्मा का व्याप्य होने से कर्म, और वही उसी समय, आहाहा! और उसी समय उस भाव का भावक होने से, उस भावक का भाव वैसा होने से उसका भोक्ता है अर्थात् अनुभव करता है। आहाहा! ऐसा है। अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि क्या होगा यह? यह कैसी बात! यह भी अभी तो यह बात कठिन हो पड़ी है, बापू! आहाहा!

भाव का भावक होने से, आहाहा! उसमें ऐसा था, वह भाव का व्यापक होने से कर्ता, व्यापक है न? यहाँ उस भाव का भावक होने से।

मुमुक्षु : व्याप्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बाद में, व्याप्य नहीं। तन्मयरूप से उस भाव का व्यापक होने से उसका कर्ता, ऊपर। और यहाँ उस भाव का भावक होने से, उसका अनुभव करनेवाला, ऐसा। व्याप्य-व्यापक यह अभी नहीं। समझ में आया?

फिर से, कि आत्मा उस समय शुभाशुभभाव में तन्मयरूप से उस भाव का व्यापक होने से उसका वह कर्ता और यहाँ उस समय वह तन्मयरूप से भाव का भावक होने से, उसका भोक्ता, अनुभव करनेवाला अर्थात् भोक्ता। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : व्याप्य-व्यापक में कर्ताकर्म आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्ता-कर्म आया। यहाँ भोक्ता-भोग्य आया। दोनों की शैली पूरी अलग कर डाली। वह तो भावक है, इसलिए उसे आत्मा अनुभव करता है,इसलिए उसका अनुभव करनेवाला वह। और वह भाव भी, अब वह व्याप्य था न कर्म का? अब यहाँ भाव्य लेना है, भोगने का भाव्य है वहाँ। आहाहा! व्याप्य अलग, वह व्याप्य तो पर्याय कार्यरूप हुआ और व्यापक है, वह कर्ता हुआ। यहाँ भावक का भाव अनुभव करनेवाला होने से वह भोक्ता है और वह भाव भी उस समय तन्मयरूप से वह आत्मा का भाव्य होने से, देखा? उसमें ऐसा कहा, आत्मा का व्याप्य होने से। कर्ता-कर्म में ऐसा लेने से, आत्मा का व्याप्य होने से कार्य है। वह आत्मा का भाव्य होने से उसका भाव्य है इसलिए भोक्ता है, ऐसा। हीरालालजी! यह अपने आप समझ में आये, ऐसा नहीं है। पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : इसीलिए तो यहाँ आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ओहोहो! भगवान आत्मा विज्ञानघन आनन्द के स्वाद को भेदता हुआ शुभाशुभभाव को व्यापकरूप से कर्ता और व्यापकरूप से वह कार्य उसका कर्ता हुआ और वह भाव भावक का भाव होने से, उस भावक के भाव को भोगता हुआ और वह भाव, आहाहा! है? वह **अनुभव करनेवाला होता है और वह भाव भी उस समय...** उस आत्मा का भाव्य होने से, आहाहा! कर्म-कार्य के समय व्याप्य होने से; और यहाँ भोगने के समय भाव्य होने से। अरे... अरे! ऐसा है। यह तो अलौकिक बातें हैं। तत्त्व की बात ही पूरी अलौकिक, बापू! आहाहा!

अनुभाव्य (भोग्य) होता है.... ऐसा। वह कर्म है तो यह भोग्य है। आहाहा! वह व्याप्य होने से कर्म है और भाव्य होने से भोग्य है। व्याप्य होने से कार्य है, भोगनेयोग्य होने से भाव्य है। आहाहा! भाव्य होने से भोग्य है। भाव्य होने से भोग्य है। क्या कहा यह? बनिया कहे, परन्तु यह तो धर्म क्या? इसमें कहीं धर्म-बर्म नहीं। यह वस्तु ऐसी है, ऐसा जाने तो सही, धर्म कहाँ था?

भगवान आत्मा, वास्तव में तो पर्याय में सब है परन्तु वे साथ में हैं न, अभेद गिनकर (बात की है)। व्यापक होकर विज्ञानघन के स्वाद को तोड़ता हुआ, अज्ञानरूप से व्यापक होकर पुण्य-पाप का कर्ता होता है और वह शुभाशुभभाव, वह आत्मा का व्याप्य होने से, वह उसका कार्य अर्थात् कर्म है। वह भाव आत्मा का भावकभाव होने से, आहाहा! भावकभाव होने से। उसका अनुभव करनेवाला है, आहाहा! और वह भाव, भाव्य होने से,... है? भोक्ता है, भोग्य है। भाव्य होने से भोग्य है। ऐसा है।

मुमुक्षु : शुभाशुभ को भोगे या हर्ष-शोक को भोगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शुभाशुभ को भोगे, यही आया न अन्दर। भोगता है। टीका में तो साता-असाता ली है जयसेनाचार्य ने, भाई! यद्यपि साता-असाता का तो संयोग है, तथापि उसका लक्ष्य वहाँ जाता है, और वह उस भाव को भोगता है, इतना। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : शुभाशुभ को करे और हर्ष-शोक को भोगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह एक ही है। जो शुभाशुभ करता है, वही हर्ष-शोक है, वह उसका ही भोक्ता है। यह यहाँ शब्द आ गया, वही पाठ है न! '**आदा स तस्स खलु कत्ता सो तस्स दु वेदगो।**' उसका वह वेदक है। शुभाशुभभाव का कर्ता अज्ञानी, वही शुभाशुभभाव का वेदक है, एक ही है, समय एक ही है, और वह की वही चीज़ है।

इस प्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है। लो! यह सिद्ध करना है वापस। आहाहा! कर्म को करे और कर्म को—जड़ को भोगे, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। कर्म जड़ है, उसे आत्मा करे और कर्म के फल को जड़ को भोगे, ऐसा नहीं है। वह यहाँ विपाकरूप से पुण्य-पाप हुए, उसे व्यापक से करे और व्याप्यपना कर्म करे और

यह भावक का भाव स्वयं करे कर्म को—जड़ को, भावक का भाव होने से अनुभव करता है और वह भाव्य होने से भोग्य है। आहाहा! इतना सब याद रखना। बहुत अच्छी गाथा आयी है।

भावार्थ :- पुद्गलकर्म का उदय होने पर,.... उस जड़ को, वह जड़ रहा, **ज्ञानी उसे जानता ही है....** अर्थात् कि उदय होने पर जो भाव हुआ अन्दर, उसे ज्ञानी जानता ही है। समझ में आया? पुद्गलकर्म का उदय होने पर, इसका अर्थ यह कि अन्दर जो शुभाशुभभाव हुआ, उसे ज्ञानी जानता ही है। **अर्थात् ज्ञान का ही कर्ता होता है।** धर्मी उसे कहते हैं, आहाहा! कि जो शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव, उन्हें स्वयं ज्ञान में रहकर, आनन्द में रहकर जानता है। आहाहा! **वह ज्ञान का ही कर्ता होता है...** अर्थात् आत्मा के स्वभाव का, ऐसा। ज्ञानी शुभाशुभभाव के राग के काल में स्वयं शुद्धस्वरूप, शुद्ध उपादान जो है, उसकी परिणति को करता हुआ, आहाहा! वह शुभाशुभभाव को जानता है, और जानने का ज्ञान, वह उसका कार्य है। आहाहा! समझ में आया? शुभाशुभभाव उसका कार्य नहीं। धर्मी का शुभाशुभ कार्य नहीं। आहाहा!

यहाँ तो अभी यह शुभ क्रिया सब करे, वह धर्म और ऐसा मनवा लिया गया है और यह बात बाहर आयी तब कहे, एकान्त है। प्रभु! तुझे एकान्त लगे, भाई! यह सम्यक् एकान्त है। एकान्त है सही, परन्तु सम्यक् एकान्त है। आहाहा! **ज्ञान का ही कर्ता होता है....** धर्मी तो स्वरूप जो ज्ञान आत्मा, उसका वह कर्ता—रचनेवाला होता है। आहाहा! यद्यपि ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती हुई खड़ी होती है, परन्तु यहाँ आत्मा उसे—ज्ञान को करे, ऐसा कहना है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञान का कर्ता होता है अर्थात् कि अपने आनन्द की दशा, यहाँ ज्ञान प्रधान से कथन है न? इसलिए वह राग है, उसे यहाँ जानता है, उस जानने के परिणाम का वह कर्ता है। राग का कर्ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **ज्ञान का ही कर्ता होता है....** वास्तव में तो कारक पर्याय में होते हैं। होना और जाना ऐसा न, वह सब ऐसे षट्कारक (पर्याय में हैं)। ध्रुव हैं, वे तो ध्रुव पड़े हैं, कूटस्थ हैं। समझ में आया?

छह कारक जो अन्दर हैं गुणरूप, वे तो कूटस्थ हैं। उसमें कहीं पलटना या

बदलना, करना या भोगना, ऐसा उसमें कुछ है ही नहीं। परन्तु उसे आत्मा की पर्याय गिनकर, अशुद्ध उपादान की गिनकर उसे करता है, उसका कार्य करता है, उसका कर्ता होता है, भावक होकर भाव्य करता है और भाव्य होकर उसे भोगता है। आहाहा!

अज्ञानी अज्ञान के कारण कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले.... वह तो निमित्त है, हों! **अपने अज्ञानरूप शुभाशुभभावों का कर्ता होता है।** निमित्त का अर्थ ही वहाँ एक चीज़ है इतना, उससे यहाँ शुभाशुभभाव हुए, ऐसा नहीं। शुभाशुभभाव अपनी पर्याय में स्वकाल में षट्कारक के परिणमन से खड़े होते हैं। उसे कर्म के निमित्त की भी अपेक्षा नहीं। परन्तु वह निमित्त सामने एक चीज़ है न, उसका ज्ञान कराते हैं, यह ऐसा जहाँ आवे वहाँ चिपट जाता है कि जो यह निमित्त आया, कर्म के निमित्त से। आहाहा! **निमित्त से होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभभावों का कर्ता होता है।**

इस प्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भाव का कर्ता है। आहाहा! धर्मी अपने ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि का कर्ता, अज्ञानी अपने माने हुए हैं, ऐसे शुभाशुभभाव का कर्ता और भोक्ता है। **और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भाव का कर्ता है। परभाव का कर्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी नहीं है।** लो! आहाहा! अज्ञानी कहीं जड़ का कर्ता, परमाणु को करे, इस शरीर के कार्य करे—वह तो अज्ञानी भी नहीं करता। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०३

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत -

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ।।१०३।।

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिन्स्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रान्तः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ।।१०३।।

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिन्श्चिच्चिदात्मन्य-चिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः, स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वा संक्रामेत । द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वाऽसंक्रामन्श्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् ? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ।।१०३।।

अब यह कहते हैं कि परभाव को कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता:-

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य प्रणमाये अरे!।।१०३।।

गाथार्थ : [यः] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [यस्मिन् द्रव्ये] जिस द्रव्य में और [गुणे] गुण में वर्तती है, [सः] वह [अन्यस्मिन् तु] अन्य [द्रव्ये] द्रव्य में तथा गुण में [न संक्रामति] संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती); [अन्यत् असंक्रान्तः] अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई, [सः] वह (वस्तु), [तत् द्रव्यम्] अन्य वस्तु को [कथं] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकती है?

टीका : जगत् में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निज रस से ही अनादि से ही वर्तती है वह, वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने द्रव्य-गुण में ही) वर्तती है, परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती; और द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह, अन्य वस्तु को

कैसे परिणमित करा सकती है? (कभी नहीं करा सकती।) इसलिए परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।

भावार्थ : जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी नहीं बदल सकता, यह वस्तु की मर्यादा है।।१०३।।

प्रवचन नं. २०६, गाथा-१०३-१०४, दिनांक २७-०२-१९७९, मंगलवार, फाल्गुन शुक्ल - १

समयसार १०३ गाथा। **अब यह कहते हैं कि परभाव को कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता।**

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।।१०३।।

हरिगीत—

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह परद्रव्य प्रणमाये अरे!।।१०३।।

टीका :- जगत में जो कोई जितनी वस्तु... जितनी वस्तु। **जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप...** है। दोनों। पहली बात ऐसी ली। **जगत में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से ही वर्तती है....** प्रत्येक द्रव्य अपने चैतन्य, चैतन्य में; अचैतन्य, अचैतन्य में अपने गुण-पर्याय में वर्तता है।

वह वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से.... प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु अपने गुण और पर्याय में वर्तता है, इस अचलित मर्यादा को तोड़ना अशक्य है, इसलिए उस-उस परमाणु की और उस-उस आत्मा की उस-उस समय की अवस्था दूसरा कोई करे और दूसरे का यह करे, यह मर्यादा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : परस्पर उपकार तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस उपकार का अर्थ निमित्त। उस उपकार का अर्थ निमित्त है। यह वहाँ सब डालते हैं न, अभी अब लोक का (सिम्बल) डालकर यह परस्परोग्रहो (जीवानाम्) पत्र-पत्रिकाओं में सब डालते हैं अभी। यह उपग्रह का—उपकार का अर्थ निमित्त है। उस समय निमित्त है, इतना। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ कर नहीं सकता क्योंकि वह द्रव्य अपने गुण-पर्याय में अनादि से (वर्तता है)। **अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से....** आहाहा! यह हाथ का हिलना, वह तो इसके परमाणु इसके गुण और पर्याय में वे वर्तते हैं। उसे आत्मा हिला सके, ऐसी वस्तु की स्थिति-मर्यादा नहीं है।

मुमुक्षु : हम तो अँगुली को हिलाते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन हिलावे? यह हिलती है, वह उसके कारण से। यह ऐसा कठिन काम है। यह होंठ हिलते हैं, होंठ, वे स्वयं अपने परमाणु हैं, उसके गुण-पर्याय में वे वर्तते हैं। उन्हें आत्मा वर्ता सकता है, होंठ हिला सकता है, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

आत्मा पर की दया पाल सके... पर की अवस्था आयुष्य और शरीर उसका कार्य है वहाँ, उसे दूसरा कहे कि मैं इसे आयुष्य देता हूँ और जिला देता हूँ, आहाहा! कठिन काम है। यहाँ यह कहते हैं। जितनी वस्तु और जितने स्वरूप हों, ऐसा कहते हैं, वे स्वयं द्रव्य में और गुण में अर्थात् गुण और पर्याय निज रस से ही अनादि से वर्तते हैं। आहाहा! आत्मा, आत्मा अपने गुण-पर्यायरूप वर्तता है, यह परमाणु भी उनके गुण-पर्यायरूप वर्तते हैं। आत्मा के कारण नहीं, तथा उसके कारण आत्मा में नहीं। आहाहा! यह गाथा ऊँची है।

'अण्णमसंकंतो' 'अण्णमसंकंतो' एक शब्द पूरा है। आहाहा! घड़े को कुम्हार बना नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। क्योंकि कुम्हार अन्य द्रव्य है, घड़ा अन्य द्रव्य की पर्याय है, वह कुम्हार अन्दर संक्रमित नहीं होता, अन्दर प्रविष्ट नहीं होता; इसलिए घड़े को कुम्हार बना नहीं सकता।

मुमुक्षु : हमारा किया हुआ सब पानी में जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : किया क्या? अभिमान किया था। आहाहा! कठिन काम है। यह वकालात की थी न? यह वकालात और सर्वत्र भाषा और यह वह पानी में गया, कहते हैं, ऐसा कहते हैं। परन्तु वह भाषा ही कब की थी? भाषा तो जड़ है। जड़ की पर्याय की मर्यादा उसके तो गुण-पर्याय में वे परमाणु वर्तते हैं। आत्मा उसकी पर्याय में वर्तावे? आहाहा!

मुमुक्षु : रुपये लिये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये लिये, वह भी मुफ्त के। वे रुपये तो उस समय आनेवाले थे। कहो, हसुभाई! हसमुखभाई नहीं आये नहीं आज? भावनगर। समझ में आया? आहाहा! महासिद्धान्त है।

जगत में जो कोई जितनी वस्तु.... जितनी जैसी गुण-पर्यायवाली जितनी और वह इतना, वह चैतन्यस्वरूप और अचैतन्यस्वरूप, वापस ऐसा, वे **द्रव्य में और गुण में निज रस से....** अपनी शक्ति से अपने स्वभाव से प्रत्येक वस्तु अपने गुण और पर्याय में **अनादि से ही वर्तती है।** गुण अर्थात् यहाँ पर्याय की बात है। समझ में आया? आहाहा! कठिन काम है।

उस व्यवहार को तो अभी लगा पड़ा है, वहाँ। यह अभी एक का दूसरा कर्ता नहीं, दया पाल सकता नहीं, यह मन्दिर आत्मा बना सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। अब हो गया मन्दिर इसलिए, आहाहा! वे-वे परमाणु और वह-वह अचैतन्य उसका स्वभाव, उसमें वे परमाणु वर्त रहे हैं। अचलित—चलित नहीं, उस स्थिति में वर्त रहे हैं, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा एक निगोद के शरीर में अनन्त जीव, वह एक-एक जीव अपने गुण-पर्याय में वर्त रहे हैं। एक जगह में अनन्त जीव और वहाँ अनन्त तैजस, कार्मण परमाणु, प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय में वर्त रहा है। आहाहा! कहो, वे कितने इकट्ठे होने पर भी एक जगह में....

मुमुक्षु : संस्था का काम करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है ? संस्था का काम करता है ? रामजीभाई प्रमुख हैं अभी, लोग कहते हैं।

मुमुक्षु : लोग भी कहते हैं और आप भी कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई ! हसुभाई ! क्या है यह ? कौन करता है ? कठिन काम है।

मुमुक्षु : होनेवाला हो, वह होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हाथ हिलता है, कहते हैं कि वह परमाणु के गुण-पर्याय में वे परमाणु वर्तते हैं, उसे दूसरा आत्मा वर्तावे, यह अचलित। है ? **वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य है...** आहाहा ! समझ में आया ? ऐसी बात है।

कहे, निमित्त होकर हो और निमित्त से तो करते हैं न हम, यह भाई कहते थे ढेबरभाई। ऐसी जब बात आवे, कहे, निमित्त तो होने का न ? निमित्त अर्थात् क्या ? जो कुछ कार्य होता है, वहाँ वह हो वह अपने कार्य में वर्तता है, अपने गुण-पर्याय में वह उसके गुण-पर्याय में वर्तता है।

मुमुक्षु : वे तो कुछ दूसरा मानते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : माना करे, कल आये थे न, छगनभाई आये थे, चले गये। छगन जोशी आये थे और आये थे। दर्शन करने आया हूँ, कहे। आहाहा !

एक-एक परमाणु में जो अनन्त गुण, उनकी वर्तमान पर्याय में वे वर्तते हैं। उसकी मर्यादा को दूसरा परमाणु या दूसरा आत्मा उसकी मर्यादा को तोड़े, यह हो नहीं सकता। आहाहा ! ऐसी बात है। वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति। आहाहा ! तीन काल—तीन लोक में यह अचल स्थिति वस्तु की। आहाहा ! अनादि से कहा है न वहाँ ? आहाहा ! **उसमें ही...** अपने उतने द्रव्य-गुण में अर्थात् पर्याय में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में **वर्तती है।** मिट्टी अपने गुण और पर्याय घट में वर्तती है। घट का वर्तन है, वह मिट्टी से है, घट का होना—वर्तना, वह कहीं कुम्हार से नहीं। आहाहा ! रोटी का होना, वह उसके परमाणु के गुण और पर्याय में वे रोटी के परमाणु वर्तते हैं। इस मर्यादा को तोड़ना, दूसरा कहे कि मैं रोटी को ऐसा करूँ और ऐसा करूँ, वह सब अज्ञान है।

मुमुक्षु : होशियार महिला हो तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार-बोशियार उसके पास पर्याय में वर्तकर उसके पास रह गयी। होशियारी वहाँ जाती है वहाँ? कहो, क्या है इसमें चन्दुभाई? यह सब डॉक्टर होशियार हों, वे सब रग पकड़कर करे ऐसा, बराबर खून आवे तो कहे कि ऐसा.... आहाहा!

प्रत्येक परमाणु में, प्रत्येक आत्मा उस-उस समय में उस समय उसके गुण-पर्याय में वर्तते हैं, यह अचलित वस्तु की स्थिति तोड़ना अशक्य है। आहाहा! परिवार का पालन-पोषण आत्मा करता है, यह वस्तु की स्थिति अशक्य है। वह कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : पिता, पुत्र का कुछ नहीं कर सकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कौन करता है, कौन पुत्र का? पुत्र कब था इसे? यह पुत्र का आत्मा भिन्न, उसके शरीर के रजकण भिन्न, तू भिन्न और तेरा शरीर भिन्न। पुत्र किसका?

मुमुक्षु : पिता का नाम लिखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पिता का नाम लिखे, वह लिखे तो ऐसा ही लिखे न? आहाहा! पुत्र का आत्मा और उसके शरीर के रजकण, उस काल में उसके गुण-पर्याय में वर्तते रहे हैं, उन्हें दूसरा कहे कि मैं इसे सुधारूँ और इसे बड़ा करूँ, यह मिथ्यात्व भ्रम है। आहाहा! ऐसा काम! दुनिया से अलग प्रकार है।

अपने उतने द्रव्य-गुण में ही वर्तती है परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती.... क्या कहा? प्रत्येक वस्तु अपनी पर्याय में, गुण तो त्रिकाल है, परन्तु प्रत्येक वस्तु उस-उस काल में उस-उस पर्याय में वर्तती उस वस्तु की मर्यादा तोड़ना अशक्य होने से, अपने उतने द्रव्य-गुणों में वर्तती है, अपने उतने गुण-पर्याय में वह-वह द्रव्य वर्तता है, परन्तु द्रव्यान्तर—दूसरे द्रव्य को या दूसरे गुण-पर्याय को संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। दूसरे द्रव्य में गुणरूप से या द्रव्यरूप से या दूसरे की पर्याय में दूसरा द्रव्य संक्रमण अर्थात् एकमेक नहीं होता। आहाहा!

यह तो अक्षर लिखे जाते हैं, तो कहते हैं कि अक्षर के परमाणुओं में, उसके

गुण-पर्याय में वर्तते वे परमाणु हैं, उन्हें वह कलम है, उसे वर्ताती है, यह बात खोटी है। इसी प्रकार कलम ऐसे हिलती है, वह उसकी अपनी पर्याय में वर्तती है। उसे हाथ हिलाता है, (यह) खोटी बात है। इसी प्रकार हाथ जहाँ ऐसे हिलता है, वह अपने परमाणु की पर्याय में वर्तता है, उसे यह आत्मा ऐसा कहे कि मैं यह हाथ को वर्ताता हूँ, (ऐसा नहीं) आहाहा! ऐसा है।

सम्प्रदाय में तो ऐसा करो, यह करो और वैसा करो, अपवास करो, व्रत करो, यह छोड़ो, अमुक करो, अमुक करो। आहाहा! मिथ्यात्वदशा में भी वह आत्मा अपनी पर्याय में वर्तता है, माने भले, परन्तु वह तो अपने गुण-पर्याय में वर्तता है, वह पर के कारण नहीं और पर की मर्यादा जो पर में अपने गुण-पर्याय में वर्तता है, उसे यह तोड़ सकता है (ऐसा नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : विग्रहगति में जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह गति, यह भी निमित्त से बात है, यह वे-वे परमाणु उस समय उस पर्याय को प्राप्त होते हैं, उन्हें कोई तोड़ नहीं सकता, यह निमित्त से कथन है। पूर्व के सातावेदनीय के उदय से पैसा आया, सुविधा आवे, यह सब निमित्त से कथन है, बाकी बाह्य पदार्थ जो है, वह स्वयं अपने गुण-पर्याय में वर्तनेवाले वर्त रहे हैं, वे साता के उदय के कारण भी नहीं। आहाहा!

एक परमाणु भी अपने गुण-पर्याय में वर्तता है और दूसरा परमाणु साथ में है, वह उसकी पर्याय को वर्तावे, (ऐसा है नहीं)। चार गुण यहाँ हो और छह गुण वे हों तो यहाँ छह गुण हो, दो गुण अधिक, पाठ है शास्त्र में। चार गुणवाला परमाणु हो, छह गुणवाले परमाणु के साथ मिलता है तो छह गुण हो जाता है, परन्तु वह उसके कारण होता है, ऐसा नहीं है। छह गुण यहाँ है, इसलिए छह गुण यहाँ प्रवर्ताता है, ऐसा नहीं है। वह स्वयं ही अपने में उस समय छह गुण की पर्याय, छह पर्यायरूप परिणमता है, उसे दूसरा परमाणु अधिकवाला उसे परिणमाता है, ऐसा नहीं है। कहो, इसमें ऐसी बात है। टाईल्स का एक-एक रजकण... ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : जैसा रंग छिड़के वैसा हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह छिड़क सकता ही नहीं न! यह उसका एक-एक रजकण, वह-वह अपनी पर्याय में वर्तता है और दूसरा छिड़के और वह करे, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा! ऐसा है। अपने उतने द्रव्य-गुण में वर्तता है, परन्तु द्रव्यान्तर अर्थात् दूसरे द्रव्य की पर्याय में अर्थात् दूसरे के गुण में या द्रव्य में दूसरे के द्रव्य में या दूसरे की पर्याय में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। एक तत्त्व अपने गुण-पर्यायरूप से वर्तता है, वह तत्त्व अन्य द्रव्य और अन्य पर्याय में वर्तता नहीं। आहाहा!

गाथा... अत्यन्त प्रत्येक पर्याय उस-उस काल में स्वतन्त्र उस द्रव्य की है, ऐसा सिद्ध करते हैं। आहाहा! कर्म के कारण नहीं, वहाँ उसका आधार वहाँ दिया है न पीछे सर्वविशुद्ध में, सर्वविशुद्ध में इसका आधार तो दिया है आगे, कि देखो १०३ में ऐसा कहा गया है, आगे आता है, आता है। और **द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई...** जब एक वस्तु दूसरे के गुण-द्रव्यरूप से और दूसरे की पर्यायरूप से संक्रमित न हो तो **अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है ?** आहाहा! अभी बड़ी गड़बड़ चलती है न? निश्चय से तो नहीं करता परन्तु व्यवहार से कर सकता है, ऐसा कहते हैं। करे क्या, धूल करे व्यवहार से? व्यवहार से बोला जाता है, कथन से बोला जाता है। वह बोलने की भाषा को आत्मा करे? **(कभी नहीं करा सकती)।** एक वस्तु दूसरी वस्तु के द्रव्यरूप से या पर्यायरूप से संक्रमित नहीं हो सकती, इसलिए उसका कुछ नहीं कर सकती। **इसलिए परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।** यह परभाव शब्द से परद्रव्य की पर्याय की बात है। अभी परभाव अर्थात् विकारी भाव की बात नहीं है। आहाहा!

भावार्थ :- जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता। आहाहा! जीव राग में वर्ते तो उस काल में शुभराग हो तो सातावेदनीय बँधे, परन्तु यह कहते हैं कि राग उसकी पर्याय है, वह उसमें संक्रमित नहीं हुई, उस समय के परमाणु सातारूप से अपने गुण की पर्यायपने परिणमित हुए हैं, रहे हैं, वे राग के कारण हुए हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! आयुष्य का बन्धन हो, वह जो उसका भाव है, उसमें वह आत्मा वर्तता है, परन्तु उस भाव के कारण आयुष्य बँधा परमाणु की पर्याय में वर्ते, ऐसा नहीं होता।

आहाहा! जैसे कर्म बाँधे, वैसे भोगना, ऐसा लोग नहीं कहते? यहाँ तो कहते हैं कि बाँधता ही नहीं और भोगता ही नहीं, यह अपने-अपने भाव को करे और अपने-अपने भाव को भोगे। आहा! यह तो ऊपर पहले कह गये। भाव का व्यापक होने से स्वयं कर्ता और भाव उसका व्याप्य होने से उसका कार्य। पूरा हो गया। आहाहा! कठिन बात, भाई!

जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता, यह वस्तु की मर्यादा है... यह वस्तु की मर्यादा है। किसी के आँगन में कोई जाये, किसी की पर्याय में कोई जाये, आँगन में जाये, लो न पर्याय में, द्रव्य में भले नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा!

उपरोक्त कारण से आत्मा वास्तव में पुद्गलकर्म का अकर्ता सिद्ध हुआ। यह कहते हैं, लो!

गाथा-१०४

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता-

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वन्स्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता।।१०४।।

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः, द्रव्यान्तरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति।

तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते, द्रव्यान्तरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणाम-कर्ता।।१०४।।

उपरोक्त कारण से आत्मा वास्तव में पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैं:-

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण पुद्गलमयी कर्मों विषै।
इन उभय को उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने?।।१०४।।

गाथार्थ : [आत्मा] आत्मा [पुद्गलमये कर्मणि] पुद्गलमय कर्म में [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्य को तथा गुण को [न करोति] नहीं करता; [तस्मिन्] उसमें [तद् उभयम्] उन दोनों को [अकुर्वन्] न करता हुआ [सः] वह [तस्य कर्ता] उसका कर्ता [कथं] कैसे हो सकता है?

टीका : जैसे-मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के

गुण में निज रस से ही वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने को या अपने गुण को डालता या मिलाता नहीं है, क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है; द्रव्यान्तररूप में (अन्यद्रव्यरूप में) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण–दोनों को उस घटरूपी कर्म में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता; इसी प्रकार–पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुण में निज रस से ही वर्तता है, उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुण को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है, क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होना अशक्य है; द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण–दोनों को ज्ञानावरणादि कर्म में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उसका कर्ता कैसे हो सकता है? (कभी भी नहीं हो सकता।) इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ।।१०४।।

गाथा-१०४ पर प्रवचन

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता।।१०४।।

आत्मा करे नहिं द्रव्य–गुण पुद्गलमयी कर्मों विषै।
इन उभय को उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने?।।१०४।।

गुण शब्द से यहाँ पर्याय लेना—समझना।

टीका :- जैसे-मिट्टीमय घटरूपी कर्म.... आहाहा! मिट्टीमय घटरूपी कर्म, **जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के गुण में (पर्याय में) निजरस से वर्तता है।** आहाहा! मिट्टीमय घटरूपी कार्य, आहाहा! जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और उसकी पर्याय में निजरस से ही वर्तता है, निजशक्ति से ही वर्तता है, निजशक्ति से वर्तता है, पर के कारण से वर्तता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! घड़ा कुम्हार बनाता है, यह तीन काल में मिथ्या बात है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर की दया पाल सके वह तो कब कि यहाँ की पर्याय संक्रमित होकर वहाँ जाये तो। यह तो होता नहीं। फिर पर की दया पालना या पर को

मारना, वह कहाँ रहा इसमें ? भाव करे, वह भाव करे, उस भाव में वर्ते, परन्तु उस भाव में वर्ता—मारने का भाव, उसमें वर्ते, परन्तु इससे दूसरे को मार सकता है, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ऐसा सब काम है।

मुमुक्षु : ....दूसरे को जिलावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जिलावे ? यह तो कल्पनायें हैं। आहाहा! कठिन काम है।

मिट्टीमय घटरूपी.... देखा, भाषा कैसी ली है ? मिट्टी का कार्य है, ऐसा भी न लेकर, मिट्टीमय घटरूपी कार्य, मिट्टीमय घटरूपी कार्य, ऐसा। **जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और...** उसके **गुण में...** अर्थात् उसकी पर्याय में **निज रस से ही वर्तता है।** वह मिट्टी अपनी शक्ति से ही घटरूप हुई है। घटरूप हुई, वह अपनी शक्ति से ही हुई, है निजरस से हुआ है। आहाहा! ऐसा है बहुत... यह सब महासिद्धान्त हैं। **उसमें कुम्हार अपने को या अपने गुण को (पर्याय को) डालता या मिलाता नहीं है।** आहाहा! ऐसा है।

आत्मा में अनादि से अज्ञानरूप से जो राग-द्वेष और मिथ्यात्व होता है, वह द्रव्य उसकी पर्याय में वर्तता है। परन्तु उसे कर्म का उदय यहाँ मिथ्यात्व करावे और राग-द्वेष करावे, ऐसा नहीं होता। पर के कारण विकार नहीं होता, ऐसा कहते हैं। अभी बड़ा विवाद है न! श्वेताम्बर के सामने और अपने उसमें भी—दिगम्बर में भी कितने ही पण्डित (भी), निमित्त से भी होता है किसी समय, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जो कुछ आत्मा में द्रव्यपना और उसकी पर्यायपना, भले पुण्य-पाप के पर्यायरूप हो, उसमें वर्तता वह कर्म के उदय के कारण यहाँ वर्तता है, ऐसा नहीं है। कर्म का उदय जड़ की पर्याय है, उसकी पर्याय में वर्तते वे परमाणु हैं, वह पर्याय इसे वर्तावे, ऐसा स्वरूप में नहीं है। आहाहा! यह ज्ञानावरणीय कर्म, वह ज्ञान की हीन दशा करे, ऐसा नहीं होता। ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान, जड़ है आवरण, वह ज्ञान को आवृत्त करे, यह तीन काल में नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वह ज्ञान स्वयं ही हीनरूप से अपनी पर्यायरूप से वर्तता हुआ, पर की अपेक्षा उसमें नहीं। आहाहा! भाषा कहना, ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को आवृत्त करता है। यहाँ कहते हैं कि वह कर्म ज्ञान की पर्याय स्वयं से हीन हो, उसमें वह वर्ते, परन्तु वह कर्म उसे हीनपने वर्तावे, ऐसा है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्तरंग-बहिरंग व्याप्ति कैसे कहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्याप्ति बहिरंग है ही नहीं। बहिर अर्थात् बाहर है बस, वह निमित्त है इतना, परन्तु उससे यहाँ होता है, ऐसा नहीं है। (संवत्) २०१३ के वर्ष में यही विवाद था न? निमित्त से भी किसी समय होता है। परन्तु किसी समय होता है अर्थात् क्या? किस समय वह द्रव्य अपनी पर्याय में नहीं वर्तता कि जिससे दूसरा द्रव्य उसे उस पर्याय में वर्तावे? आहाहा! कुम्हार की इच्छा हो तो घड़ा बनावे, इच्छा हो तो कोडियुं बनावे, ऐसा है ही नहीं। कठिन काम, भाई! आहाहा!

एक तत्त्व—वस्तु है, वह सत् है, उसके अनन्त गुण हैं और उसकी एक समय की अनन्त पर्यायें हैं। बस, वह द्रव्य अपने गुण और पर्याय में वर्ते, उसकी मर्यादा तोड़ना अशक्य है। दूसरा कोई उसे पर्याय में वर्ता दे? आहाहा! अन्तरायकर्म का कठोर उदय आया, इसलिए यहाँ वीर्य में हीनपना हुआ वीर्यान्तराय के कारण, तो कहते हैं, वीर्यान्तराय है, वह जड़ की पर्याय है, वह उसके गुण-पर्याय में वर्तता है, उस पर के कारण हीनपने वर्तता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

यह सब व्यापारी-ब्यापारी सब तूफान करते होंगे, नहीं कर सकते हों? आहाहा! उद्योगपति, नहीं कहते? हमारे माता-पिता कुछ छोड़ नहीं गये थे, बापू! और स्वयं अपने बाहुबल से यह सब इकट्ठा किया। क्या किया धूल? आहाहा! उद्योगपति शान्ति शाहू, अमुक उद्योगपति। उद्योगपति? आहाहा!

अपने द्रव्य और पर्याय में वर्तता द्रव्य अपना, जो दूसरे के द्रव्य, उसके गुण और पर्याय में वर्तता द्रव्य, उसे यह क्या कर सकता है? काल दोनों का एक है न, इसके द्रव्य-गुणरूप यह प्रवर्तता है और यहाँ अपने गुण-पर्यायरूप वर्तता है, परन्तु काल तो एक है, उसमें करे क्या? आहाहा! ऐसा है। **कुम्हार अपने को या अपने गुण (पर्याय) को डालता, मिलाता नहीं है...** तीन बोल लिये। इस घड़े की पर्याय में कुम्हार अपनी पर्याय को डालता नहीं, मिलाता नहीं, मिलाता नहीं। आहाहा! **क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से निषेध है।** आहाहा! कुम्हार अपनी पर्याय को मिट्टी के घड़े के अन्दर रखे, ऐसा है नहीं तीन काल में, कहते हैं। कुम्हार की पर्याय कुम्हार के आत्मा में वर्तती रहती है। मिट्टी की पर्याय घड़ा, वह

मिट्टी में वर्तता रहता है, और वह दूसरा उसकी पर्याय को यहाँ डाले जरा, ऐसा आकार घड़े का हो, ऐसा हो, ऐसा हो, उसमें पर का कुछ भी असर नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

इस मकान के परमाणु, इसकी पर्यायपने प्रवर्त रहे हैं, उसे कोई इंजीनियर या प्रमुख होकर या कारीगर उसे कुछ करे, यह होता नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अपने तो मिस्त्री रखे थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : रखे कौन? कहो, रायचन्दभाई! ऐसी बातें हैं। वहाँ तो पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाते हैं, इससे अधिक बढ़ेगा (खर्च), कहते हैं, बात होती थी। आहाहा! बापू! कौन करे भाई? आहाहा! अनन्त परमाणुओं का पिण्ड, उसमें एक-एक परमाणु अपने गुण और पर्याय में वर्तनेवाला, उस मर्यादा को कौन तोड़े? आहाहा! एक-एक परमाणु अपनी मर्यादा में वर्तता हुआ, उस एक समय में इकट्ठे अनन्त जीव हैं निगोद में, और उनके साथ अनन्त तैजस और कार्मण के परमाणु हैं, परन्तु वह एक-एक आत्मा अपने गुण-पर्याय में वर्तता है। दूसरा आत्मा है, वह उसके गुण-पर्याय में वर्तता है। ये दोनों इकट्ठे वर्तते हैं, ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत कठिन! ऐसे निगोद के जीव को आत्मा बचा सके, ऐसा नहीं है। क्योंकि अपनी पर्याय वहाँ डालता नहीं, वह क्या कर सकता है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

पानी के परमाणु हैं, वे ऐसे जो पड़ते हैं ऐसे, वह उसके परमाणु की पर्यायरूप से वर्त रहे हैं। आहाहा! आत्मा ने पानी को उठाकर पीया, यह बात मिथ्या है, कहते हैं।

मुमुक्षु : पानी कौन पीता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पीता है? आहाहा! वह-वह परमाणु अपनी पर्याय में और गुण में वर्तनेवाले, वे दूसरे को—दूसरे में वर्ते, ऐसा तीन काल में नहीं होता, दूसरे वर्तावे और दूसरे में वर्ते। आहाहा! बहुत अभिमान, बड़ा अभिमान है अन्दर। यह किया और यह किया और यह किया। आहाहा! मिथ्या अहंकार।

किसी वस्तु का द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण होने का.... पलटकर पर में जाने का, आहाहा! **वस्तुस्थिति से ही निषेध है।** वस्तु की मर्यादा से ही वह निषेध है। आहाहा! **द्रव्यान्तररूप से (अन्य द्रव्यरूप में) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को**

परिणमित करना अशक्य होने से,... क्या कहा यह? अन्य द्रव्यरूप से बदले बिना अन्दर में गये बिना, (ऐसी) वस्तुस्थिति बिना अन्य वस्तु को परिणमित कराना अशक्य है। दूसरे चीज़ को कब बदलावे कि उसमें यदि वह मिल जाये तो। किसी में तो कोई चीज़ मिलती नहीं। प्रत्येक परमाणु भिन्न-भिन्न, प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न अपना काम कर रहा है। आहाहा!

अपने द्रव्य और गुण (पर्याय)—दोनों को उस घटरूपी कर्म में न डालता हुआ... है? अपने द्रव्य और गुण दोनों उस घटरूपी कर्म में नहीं डालता, घड़ारूपी कार्य है, उसमें कुम्हार अपने गुण और पर्याय को डालता नहीं वहाँ। अपने गुण-पर्याय को वहाँ डालता नहीं, तो घड़े को किस प्रकार करे? आहाहा! ऐसा **वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता, ऐसा अब कहते हैं।** कुम्हार घड़े का कर्ता हमको तो प्रतिभासित नहीं होता। आहाहा! दुकान के पेढी में माल लेने आवे, माल दे न ऐसे, लो, यह खजूर पाँच सेर और यह अमुक यह शक्कर, कहते हैं कि वह सब परमाणु अपनी पर्याय से उस काल में उस रीति से प्रवर्तते हैं, उसमें दूसरा उसे प्रवर्ताता है, ऐसा नहीं है। वस्तु की मर्यादा भी यह तो जो है, स्वयं द्रव्य अपने गुण-पर्याय में है, बस इतना। आहाहा! तीनों काल में तीनों, कर्म और आत्मा, एक क्षेत्र में रहे होने पर भी अपने-अपने द्रव्य-पर्याय में रहे हुए हैं। एक-दूसरे में निमित्त-नैमित्तिक कहलाते हैं।

विकार करे तो वह निमित्त कहलाये, न करे तो है वह अपनी पर्याय में खिर जाता है। यहाँ आया है न? 'द्रव्यमोह उदय सते' भाव मोहरूप न परिणमे तो वह उदय खिर जाता है, टीका में है, उसमें (प्रवचनसार गाथा) ४५। आहाहा! जड़कर्म का-मोह का उदय है, वह उसकी पर्याय में वर्तता है और इसलिए वह यहाँ विकार को करावे, ऐसा कुछ है नहीं। ऐसा उदय होने पर भी स्वभावसन्मुख होकर मोहरूप न परिणमे तो वह कर्मरूप से उदय हुआ, इसलिए परिणमावे, ऐसा नहीं है। आहाहा! निन्दा और स्तुति के शब्द, उसके अपने गुण-पर्याय में वर्तनेवाले हैं, आहाहा! वह निन्दा करनेवाला भी उन्हें कर नहीं सकता निन्दा के शब्दों को। आहाहा! प्रशंसा करनेवाला जो है, वह प्रशंसा के शब्दों को वह प्रशंसा करनेवाला कर नहीं सकता। आहाहा! इसलिए है और आ गया है और वापस आता है। निन्दा-स्तुति दूसरे करें, उसमें तुझे क्या होता है? कहे,

वह परमाणु की पर्यायरूप उसमें वर्तता है, उसमें तुझे क्या है ? तेरी निन्दा कौन करे ? आहाहा !

द्रव्य और गुण घड़ारूपी कर्म में नहीं डालता, घटरूपी कर्म, कर्म अर्थात् कार्य— मिट्टी का कार्य जो घड़ा है, उसमें कुम्हार कहीं अपनी पर्याय को राग है, वह राग अन्दर डाले ? अच्छा घड़ा बनावे ऐसे रंग-बिरंगी। वह क्या कहलाता है आसोज का ? गगरी अन्दर छिद्रवाली और गगरी, यह वापस चित्रामण, वह करे चारों ओर चित्रामण करे, पुरुष के और ऐसे, ऐसे। कहते हैं कि वह कुछ कर नहीं सकता पर में। आहाहा !

अरे रे ! **कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता।** आहाहा ! **इसी प्रकार—पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निज रस से ही वर्तता है।** वापस जो लिया, यह कर्म में लिया वापस। आहाहा ! बड़ा विवाद यह है न उसमें। यह प्रश्न चला था न वहाँ उसमें ? कि ज्ञानावरणी के कारण आत्मा में ज्ञान की हीनाधिक दशा हो। वर्णीजी के साथ। उन्होंने पूछा, महाराज ! कानजीस्वामी तो ऐसा कहते हैं कि ज्ञान की हीन-अधिक अवस्था तो स्वयं से होती है, ज्ञानावरणी से नहीं। (उन्होंने कहा) नहीं, अंगधारी कहे तो भी नहीं। आहाहा ! (संवत्) २०१३ के वर्ष की बात है न ! बाईस वर्ष हुए। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानावरणी आदि कर्म जो पुद्गलद्रव्य का और पुद्गल की पर्याय में निज रस से वर्तता है। ज्ञानावरणी कर्म तो अपनी पर्याय में वर्तता है, द्रव्य में अर्थात् कि उसकी पर्याय में। आहाहा ! **उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुण को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है।** आत्मा, वह राग में भले वर्ता, परन्तु इससे वह कर्म की पर्याय में वह राग प्रविष्ठ हुआ या प्रविष्ठ हो जायेगा और राग संक्रमण करके ज्ञानावरणी का बनाया है, ऐसा नहीं। आहाहा ! यह तो ऐसे पर का कर्ता नहीं, ऐसा सिद्ध करना है न ? आहाहा ! **क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होना अशक्य है।** आहाहा !

आत्मा स्वयं अपनी पर्याय में वर्तता है, द्रव्य में तो है ही, फिर विकारीरूप से या अविकारीरूप से, परन्तु उसे ज्ञानावरणी जो बँधता है, उसमें वह स्वयं उसकी पर्याय में वर्तनेवाले वे परमाणु, उन्हें आत्मा बाँधे, आत्मा ज्ञानावरणीकर्म को बाँधे, यह तीन काल

में नहीं है। तथा ज्ञानावरणी में यहाँ स्वयं के कारण से क्षयोपशम हुआ, इसलिए वहाँ ज्ञानावरणी में क्षयोपशमदशा इसके कारण हुई, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है। पूरे दिन करते हैं और फिर कहे कुछ करता नहीं। एक समय करता नहीं। आहाहा! लड़के चतुर हों और दुकान चलाने बैठावे। कैसी दुकान चलती है, ओहोहो! ५००-५०० की एक दिन का आमदनी आवे या हजार रुपये की आमदनी। लड़के बहुत होशियार, कहे कर्मी पके।

मुमुक्षु : कर्मी पके न, धर्मी नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मी पके, वह यह काम किया, इसलिए कर्मी पके, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परन्तु वह काम कर सकते नहीं। आहाहा!

होशियार महिला हो, और अच्छी पुड़िया बनावे, अच्छी वड़ी बनावे, अच्छे पापड़ बनावे और यह क्या कहलाये? तोरण, तोरण में मोती व्यवस्थित लगावे ऐसे शरीर के आकार, हाथी के आकार, घोड़े के आकार, ऐसा जहाँ-जहाँ हो, तो यहाँ कहते हैं कि वह बात खोटी है। क्योंकि इस हार में नहीं लगाते तोरण में? हाथी का रूप रचते हैं, घोड़े का, मनुष्य का। आहाहा! परमाणु को इस प्रकार से रचते हैं, कहते हैं कि उसमें इसने कुछ किया नहीं। इसने किया राग, उस राग में वह वर्तती थी। वह राग उसमें वर्तता नहीं था, उस क्रिया में राग नहीं वर्तता था, उसमें तो उसके परमाणु की पर्याय उसमें वर्तती थी। आहाहा! बहुत कठिन काम। पूरी दुनिया से अलग जाति पड़े। पश्चात् एकान्त कहते हैं न, परन्तु यह पूरी बात (में) ही अन्तर है। वे व्यवहार के विवाद कहते हैं... बहुत निकाला साधुओं ने। 'परिज्ञानमानत्वाद् प्रयोजनवान' है, व्यवहार, परिज्ञान। कहा, प्रयोजन आवश्यक का है, वह वस्तु कि जिससे हमारी शुद्धि बढ़े, शुद्धि के अंश को सद्भूत व्यवहार कहा है, अशुद्धता को नहीं वहाँ। यहाँ ऐसा कहते हैं दोनों बात। आहाहा!

त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव वह उपादेय है। बाकी तो पुण्य-पाप, संवर, आस्रव, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, वह बहिर्तत्त्व है। बहिर्तत्त्व, अन्तर तत्त्व से बहिर्तत्त्व है, इसलिए वह हेय है। संवर, निर्जरा हेय है। उसमें कहते हैं मोक्षमार्गप्रकाशक में, संवर उपादेय है और निर्जरा हितकर है।

मुमुक्षु : वह तो प्रगट करने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद से वह कथन समझाते हैं। आहाहा! बहिर्तत्त्व संवर-निर्जरा, वह बहिर्तत्त्व; मोक्ष, वह बहिर्तत्त्व और उसमें तो ऐसा भी लिया कि अन्तःतत्त्व और बहिर्तत्त्व दोनों को जाने, वह व्यवहार समकित है। नियमसार में (यह बात) है। अन्तःतत्त्व भगवान ज्ञायक और बहिर्तत्त्व वह पर्याय, उसे माने, वह व्यवहार समकित है। दो हुए न, दो हुए। वहाँ अन्तर्तत्त्व और बहिर्तत्त्व, वह व्यवहार समकित है। आहाहा! वह संवर, निर्जरा और मोक्ष, वह बहिर्तत्त्व है, आत्मा अन्तर्तत्त्व है। आस्रव और वह तो बहिर्तत्त्व हैं ही वे। आहाहा! वह बहिर्तत्त्व और अन्तर्तत्त्व दोनों को जो माने, वह व्यवहार है। व्यवहार समकित है। एक को ज्ञायकरूप से अत्यन्त पूर्णपने माने, उसका नाम निश्चय समकित है। आहाहा! संवर-निर्जरा को मिलाकर माने तो वह व्यवहार समकित है, ऐसा कहा। चन्दुभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा, पूर्ण ज्ञानघन, विज्ञानघन, पूर्ण अमृत का सागर प्रभु, वह ही एक उपादेय है। बाकी पुण्य-पाप-आस्रव-बन्ध तो ठीक, परन्तु संवर-निर्जरा-मोक्ष, वह बहिर्तत्त्व। आहाहा! क्योंकि अन्तर्तत्त्व में वे नहीं। अन्तर्तत्त्व में वह स्पर्शता ही नहीं, द्रव्य उस पर्याय को स्पर्शता ही नहीं। पर्याय द्रव्य को स्पर्शती नहीं। आहाहा! पर की बात तो यहाँ क्या करना? कहते हैं। पर का तो कुछ भी यह करे नहीं, परन्तु अपने में भी भेद डालकर आत्मा को भी—त्रिकाली को भी माने और बहिर्तत्त्व को भी इकट्ठा माने, तो वे भी दो हो गये तो व्यवहार समकित है, निश्चय समकित नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञेयतत्त्व और ज्ञानतत्त्व की श्रद्धा, वह बहिर्तत्त्व?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भेद, वह तो ज्ञानप्रधान कथन, परन्तु इकट्ठा कह दिया अन्दर। ज्ञानी है न, वह यहाँ बात हुई है बहुत बार, हुई है। उसका ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान और आत्मा दो, दो का एकरूप होकर श्रद्धा है, वह निश्चय श्रद्धा, इकट्ठा गिनकर अभेद—भेद किये बिना, ज्ञान और ज्ञेय दोनों का भेद किये बिना दोनों को एक ही ऐसे करके अभेद रीति से लेना, उसमें वहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। दृष्टिप्रधान कथन में ऐसा होता है और यह चरणानुयोग (चूलिका) में है न? उसमें है सर्वविशुद्धि अधिकार में,

चरणानुयोग में। आहाहा! यहाँ तो एकरूप दृष्टि के विषय की अपेक्षा से कहा, एकरूप त्रिकाल नित्यानन्द प्रभु, वही समकित का विषय है।

वहाँ तो ऐसा भी कहा न ३२० में? ३२० गाथा। पर्याय जानती है, संवर-निर्जरा की पर्याय भी जानती है कि 'मैं त्रिकाल सकल निरावरण, वस्तु त्रिकाली निरावरण, अखण्ड हूँ।' पर्याय का खण्ड भी मेरे स्वरूप में नहीं। आहाहा! एक हूँ, द्रव्य और पर्याय—दो, यह भी नहीं। आहाहा! प्रत्यक्ष प्रतिभासमय हूँ, मेरी निर्मल पर्याय द्वारा मैं प्रत्यक्ष कर सकता हूँ, वह आत्मा है। आहाहा! प्रकाश नाम की शक्ति है न उसमें? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कर सकता हूँ। आहाहा! अविनश्वर हूँ, कभी मेरा पलटा होकर पलट जाये, ऐसा मेरा रूप ही नहीं। मैं तो ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... पारिणामिक परमभाव लक्षण, शुद्ध पारिणामिक त्रिकाली सहज स्वभाव ऐसा जो परमभाव, ऐसा जानता है कि यह मैं हूँ। आहाहा! संवर, निर्जरा के साथ वर्तती जो ज्ञान की पर्याय, वह पर्याय ऐसा कहती है कि मैं तो यह हूँ। संवर-निर्जरा की पर्याय के साथ ज्ञान की पर्याय है न इकट्ठी, तो भूतार्थ को श्रद्धा करे अर्थात् एक ही पर्याय उस ओर झुकी है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : जानने में वे सातों ही उपादेय या हेय?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब उपादेय अर्थात् जाननेयोग्य में आ गया सब। वह पूरा वस्तु—आत्मा ज्ञान और उसका जो ज्ञेय, उसका हुआ ज्ञान इसमें, वह उपादेय है।

यह खड़कते (जमाते है)। क्या कहलाता है वह माल खड़के न सब? गोदाम में, गोदाम में नहीं परन्तु ऐसे-ऐसे व्यापार दुकान में डिब्बे पूरे रखे खाली, और उसमें एक-एक में भरा हो किसी में बादाम, किसी में पिस्ता, पूरे घोड़े हों न लकड़ी के, लकड़ी के घोड़े। हमारे यहाँ यह था न दुकान में। डिब्बे खाली रखे और उसमें एक में बादाम हो, एक में पिस्ता हो, एक में चिरौंजी हो, अमुक हो, ढींकणा हो, ऊपर नाम लिखा हो, कहो, वहाँ रहा है या नहीं, डिब्बे में अध्धर? यहाँ ना करते हैं कि वह बादाम डिब्बे में रही नहीं, डिब्बे के आधार से बादाम वहाँ रही नहीं। बादाम के एक-एक रजकण अपने अन्दर आधार से वहाँ रहे हैं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। नया लगे लोगों को।

अपने द्रव्य... और आत्मा **या अपने गुण को...** अर्थात् कि पर्याय को **वास्तव में**

डालता—मिलाता नहीं, क्योंकि किसी वस्तु का द्रव्यान्तर (रूप से)... या पर्यायान्तर (रूप से) **संक्रमित होना अशक्य है।** आहाहा! **द्रव्यान्तररूप से संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमाना अशक्य है।** आहाहा! पलटे बिना पलटन स्वयं करके उसमें प्रविष्ट हो जाये अन्दर में, तब तो कुछ करे पर को, परन्तु वह पलटकर अन्दर में संक्रमण तो कर नहीं सकता। आहाहा! वास्तव में तो दूसरे को स्पर्श भी नहीं करता द्रव्य। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म को चूमता है, गुण-पर्याय को, परन्तु अन्य द्रव्य को और गुण-पर्याय को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। अग्नि यहाँ स्पर्श नहीं करती यहाँ। अग्नि के रजकण भिन्न, ये रजकण भिन्न और यहाँ गर्म हो, जो गर्म होने की पर्याय स्वयं वर्तती है, उससे हुआ है। अग्नि के कारण नहीं। समझ में आया? आहाहा!

अपने द्रव्य और गुण दोनों को वह ज्ञानावरणी आदि कर्म में नहीं डालता आत्मा,... आत्मा कर्म का कर्ता और आत्मा कर्म का भोक्ता, यह है नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! अपने भाव का कर्ता और अपने भाव का कारण—भोक्ता, अज्ञान में राग-द्वेष का कर्ता और राग-द्वेष का भोक्ता है। ज्ञान में वीतरागी पर्याय... क्योंकि उसमें कुछ परकर्म में डालता हुआ, **ऐसा आत्मा परमार्थ से उसका कर्ता कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।** कभी नहीं हो सकता **इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ।** आहाहा!

आठ कर्म बाँध और उसका ऐसा हुआ और इतनी प्रकृति पहले गुणस्थान में बँधती है न, चौथे में इतनी बँधती है न, पाँचवें में इतनी बँधती है। वहाँ तो जो होता है, वह ज्ञान कराया है १४८ (कर्म) प्रकृति बँधते हैं अधिक में, ऐसा उत्कृष्ट में १२२ बँधते हैं, सत्ता में इतनी बँधती है, वह इतनी बँधती है, क्या वह तो निमित्त की बातें—कथन है। वह-वह परमाणु, वह-वह पर्याय उस काल में वैसे परिणमती है, उसे दूसरा किस प्रकार परिणमावे? यदि परिणमावे तो वस्तु की मर्यादा टूट जाती है। आहाहा! **इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य-अर्थात् आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता कहना, सो उपचार है...** अर्थात् व्यवहार है। उस व्यवहार को १०५-१०६ गाथा में कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०५

अतोऽन्यस्तूपचार: -

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार-मेत्तेण।।१०५।।

जीवे हेतुभूते बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण।।१०५।।

इह खलु पौद्गलिककर्मण: स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्त-भूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्प:। स तूपचार एव न तु परमार्थ:।।१०५।।

इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य-अर्थात् आत्मा को पुद्गलकर्मों का कर्ता कहना सो-उपचार है, अब यह कहते हैं :-

जीव हेतुभूत हुआ अरे! परिणाम देख जु बन्ध का।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्मा ने किया।।१०५।।

गाथार्थ : [जीवे] जीव [हेतुभूते] निमित्तभूत होने पर [बन्धस्य तु] कर्मबन्ध का [परिणामम्] परिणाम होता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर, '[जीवेन] जीव ने [कर्म कृतं] कर्म किया' इस प्रकार [उपचारमात्रेण] उपचारमात्र से [भण्यते] कहा जाता है।

टीका : इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होनेवाले ऐसे अज्ञानभावरूप परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

भावार्थ : कदाचित् होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभाव में कर्ताकर्मभाव कहना, सो उपचार है।।१०५।।

प्रवचन नं. २०७, गाथा-१०५-१०६, दिनांक २८-०२-१९७९, बुधवार, फाल्गुन शुक्ल - २

समयसार, १०५ गाथा।

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार-मेत्तेण।।१०५।।

नीचे हरिगीत

जीव हेतुभूत हुआ अरे! परिणाम देख जु बन्ध का।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्मा ने किया।।१०५।।

टीका :- इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी,... आहाहा! क्योंकि आत्मा ज्ञायकस्वभाव, वह ज्ञायकस्वभाव वह किसी बन्धन में निमित्त (नहीं) होता, उसे बन्धन नहीं होता, निमित्त हो ऐसा ज्ञायक में नहीं है। क्या कहा, समझ में आया? यह चैतन्यमूर्ति ज्ञायक आत्मा है, यह उसका जिसे अनुभव हुआ हो, वह भी बन्ध में निमित्त नहीं है। यहाँ तो कहा कि वास्तव में भगवान आत्मा, स्वभाव से जानन-देखन आनन्द आदि स्वभाव से, पौद्गलिक कर्म का निमित्त (नहीं है), बन्धन हो तो उसके कारण से, बन्धन कर्म का हो तो उसकी पर्याय के परिणमन के काल में वहाँ होता है, परन्तु उसे निमित्तभूत आत्मा नहीं हो सकता, अर्थात् कि उसे बन्धन नहीं हो सकता। आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य वस्तु जो ज्ञायक आनन्दकन्द प्रभु, उसका जहाँ अन्तर अनुभव हुआ और आश्रय लिया। यहाँ तो समुच्चय बात करते हैं, परन्तु उसका अर्थ यह है कि ज्ञायक चैतन्य प्रभु जिसने उसका आश्रय लिया, उसे तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्मल होते हैं, इसलिए उसे बन्धन नहीं होता; बन्धन नहीं होता, इसलिए बन्धन में वह निमित्त भी नहीं है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

भगवान आत्मा तो चैतन्य ज्ञायकस्वरूप जाननस्वभावी, आनन्द स्वभावी अन्तर अनन्त-अनन्त ईश्वर प्रभुता स्वभावी आत्मा, वह आत्मा है और जिसे आत्मा का ज्ञान और अनुभव हुआ है, तो वह आत्मा है, वह नये कर्म उसे बँधते नहीं और इसलिए निमित्त भी होता नहीं, नये बँधते नहीं, इसलिए निमित्त होता नहीं।

धर्मी जीव को भी, आहाहा! ज्ञायकस्वभाव चैतन्य हूँ, उसकी जो सत्ता की अस्ति निर्मल पूर्णानन्द प्रभु, ऐसा जिसे भान हुआ और दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ, उसे बन्धन नहीं, इसलिए बन्धन में निमित्तपना हो, यह नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। इस पहली लाईन में यह कहते हैं। मूल में कहना है तो दूसरा, जीव हेतुभूत होने पर वह परिणाम होता है और हेतुपने उसका पहले यह नकार नहीं। नकार होता नहीं। जीव के परिणाम बन्ध में हेतु देखकर निमित्त, परन्तु इससे पहले बन्ध के परिणाम हैं, वे आत्मा का स्वभाव ही नहीं है और निमित्त होना, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप... आहाहा! पर में निमित्त होना और पर निमित्त से इसमें कुछ होना, ऐसा जिसके स्वरूप में नहीं है। वह तो अकार्यकारण नाम के गुण से परिपूर्ण भरपूर प्रभु है। आहाहा! इसलिए वह आत्मा जो है, ऐसा जिसे भान हुआ, ज्ञान हुआ, उसकी रमणता हुई, उसे बन्धन नहीं, तो फिर बन्धन नहीं तो उसे निमित्त होना, यह उसमें उसे है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। क्या करना इसमें? करना यह कि इससे पहली बात यह लेते हैं—कि यह सब बन्धन होता है, वह यहाँ परमाणु की पर्याय काल में, उसमें अज्ञानी का राग-द्वेष निमित्त है। वह निमित्त तो निमित्त है, परन्तु वह निमित्त है, इसलिए वहाँ हुआ है, ऐसा नहीं है। वहाँ तो उस परमाणु की कर्म पर्याय का काल था, इसलिए हुआ है। मात्र अज्ञानी के राग-द्वेष को निमित्त, उपचार से उसे कहा जाता है कि यह वह निमित्तपना था न, इसलिए उपचार से कहने में आता है कि इसने कर्म किया, इसने कर्म बाँधा। आहाहा!

इस लोक में वास्तव में आत्मा... जो है, इस लोक में तो सभी बहुत द्रव्य हैं, ऐसा कहते हैं, परन्तु उसमें यह आत्मा जो है, वह तो **स्वभाव से...** ही, उसका स्वभाव ही ऐसा है जानना-देखना आनन्द जिसका स्वभाव है, वह **पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं होने पर भी...** नया बन्धन, बन्धन होता है, वह तो उसकी पर्याय की योग्यता से पर्याय परिणमे। कर्म बन्धन हो, वह तो परमाणु की उस काल में क्रमबद्ध परिणाम का उसका स्वभाव है, इस प्रकार से परिणमता है, परन्तु आत्मा द्रव्य उसे निमित्त भी नहीं होता अर्थात् कि उसे बन्धन नहीं होता, ऐसा इसका अर्थ है। आहाहा! समझ में आया?

पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं होने पर भी... अर्थात् वस्तु है भगवान

आत्मा, उसे बन्धन है नहीं, क्योंकि वह अबन्धस्वरूप है। आहाहा! परमार्थ से मुक्तस्वरूप प्रभु है, इसलिए उसे सकल निरावरण कोई भी आवरण वस्तु को नहीं है, वस्तु को क्या आवरण हो? वस्तु को आवरण हो तो वस्तु, अवस्तु हो जाये। आहाहा! 'सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय', ऐसा जो तत्त्व आत्मा, वह तत्त्व कर्म के बन्धन में निमित्तभूत हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। अर्थात् कि वास्तव में तो उसका—आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि उसे बन्धन ही नहीं होता। बन्धन नहीं होता; इसलिए निमित्तपना उसका हो नहीं सकता। आहाहा! यह तो ऐसी बातें हैं, भाई!

आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म.... पौद्गलिक कर्म तो उस समय पुद्गल के कारण से पर्याय होती है, परन्तु उसका निमित्तभूत भी आत्मा नहीं है अर्थात् कि उसे कर्मबन्धन नहीं है। क्या कहा, चन्दुभाई? उसे बन्धन नहीं, अबद्धस्वरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा तो अबद्धस्पृष्ट, १४वीं-१५वीं गाथा में आया है न? १४वीं, १५वीं गाथा में, 'जो पस्सई अप्पाणं' वह है ऐसा, अबद्ध अर्थात् मुक्त ही है। 'जो पस्सई अप्पाणं अबद्धपुट्ठं' परमाणुओं का भी जिसे संयोग सम्बन्ध नहीं और विशेष से रहित सामान्य है, यह संयुक्त से रहित असंयुक्त है, उसे रागादि का सम्बन्ध है ही नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा जिसे ज्ञात हुआ, पराश्रयभाव से छूटकर, व्यवहार अर्थात् पराश्रयभाव है, उससे छूटकर स्वआश्रय भाव में आया, वह आत्मा, उसे बन्धन नहीं होता; बन्धन नहीं होता इसलिए उसे निमित्तपना भी नहीं होता। आहाहा! यह सूक्ष्म बहुत, भाई! पहली इस एक लाईन में यह है, पश्चात् गाथा का कहना है, वह बाद में कहेंगे, पहला जो गाथा में कहना है, उससे पहले उपोद्घात किया है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञायकस्वरूप भगवान... इसने कभी अभ्यास भी किया ही नहीं न, संसार के पाप के कारण, धन्धा, कहाँ निवृत्त है, पूरे दिन पाप, यह धन्धा, यह किया और यह किया और यह किया, उसमें और लड़कों को अमेरिका में भेजे तो मानो कि, ओहोहो! क्या किया मानो हमने ऐसा। वह और पाँच-दस हजार का वेतन आवे तब तो अरे! वहाँ तो भंगी को भी दस हजार आते हैं। अमेरिका में भंगी हो न, भंगी, वह भंगी वह निकालनेवाला—विष्टा निकालनेवाला हो न, पायखाना में सेठिया तो स्वयं कुछ नहीं निकाले। दस-दस हजार का वेतन हो, मोटर में आता है। परन्तु यहाँ का जरा हो न उसे,

दस हजार का वेतन अर्थात् ओहोहो! शान्तिभाई! जगत पूरा भरमा गया है। यह भरमाये, ऐसा इसका स्वभाव नहीं, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय में भरमाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी पर्याय भी ऐसी नहीं कि जिसे कुछ बन्धन हो, उसका निमित्त होना, ऐसी इसकी पर्याय ही नहीं। ज्ञायकभाव की पर्याय ज्ञायकभावरूप होती है। आहाहा! समझ में आया? आहा! पहला शब्द कितना अर्थ समझने जैसा, उसमें हेतुभूत कहा न? बन्धन तो होता है, उसके कारण से, उसमें हेतु, निमित्त, परन्तु निमित्त कौन? कि अज्ञानी के राग-द्वेष निमित्त; ज्ञानी का आत्मा निमित्त नहीं। आहाहा! समझ में आया?

वास्तव में आत्मा, अपना स्वभाव ज्ञायक और आनन्द, शान्त और वीतरागस्वभाव (है)। वीतरागस्वभाव को बन्धन कैसा? वह तो बन्धरहित अबन्धस्वरूप है। आहाहा! तब अबन्धस्वरूप है तो बन्धन में निमित्त... बन्धन नहीं तो उसका निमित्तपना भी उसमें नहीं। आहाहा!

ऐसा उपदेश अब। वह कहे दया पालो, व्रत करो और भक्ति करो।

मुमुक्षु : परन्तु दया पालने में क्या दिक्कत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु वह यह दया आत्मा की, इसकी खबर नहीं। आहाहा! यह तो आत्मा की दया की बात है। प्रभु! तू कौन है? कि तू ज्ञायक है, और ज्ञायक का भान होने पर भी पर्याय में वीतरागता आवे और वीतरागता आवे, उसे बन्धन नहीं होता और बन्धन नहीं हो तो फिर उसे (बन्ध को) वीतरागपना, उसे निमित्त होगा? अज्ञानी के राग-द्वेष निमित्त होते हैं। ज्ञानी की वीतरागता निमित्त नहीं होती इसलिए बन्धन नहीं होता। आहाहा!

पहली लाईन में यह कहा सीधा। है उससे उल्टा—जीव में हेतुभूत, ऐसा कहा न, राग जो हो, वहाँ तो बन्धन उसके कारण से होता है, परन्तु यह निमित्त देखकर उसे उपचार से उसका कर्ता कहा जाता है। वास्तव में तो बन्धन का कर्ता तो बन्धन है। परमाणु की पर्याय बँधती है, वह उसके ही कारण से, परन्तु उसमें निमित्तपना देखकर,

किसका? कि अज्ञानी के अज्ञान और राग-द्वेष का निमित्तपना देखकर, उसे बन्धन में निमित्तरूप करके, वह उपचार से, यह कार्य किया है, ऐसा कहने में आता है। यथार्थरूप से तो कर्मबन्धन की पर्याय कर्म के कारण हुई है। आहाहा! परन्तु, है?

ऐसा होने पर भी, अनादि-अज्ञान के कारण... वापस यह लिया कि अज्ञान... वस्तु तो ऐसी है अनादि, कि पुद्गलकर्म को निमित्त न हो, ऐसी चीज़ है, ऐसी अनादि ऐसी चीज़ है परन्तु अनादि अज्ञान के कारण वापस। आहाहा! समझ में आया? अनादि अज्ञान के कारण अब। वस्तु तो अनादि से ऐसी है कि ज्ञायकभाव है और वह ज्ञायकभाव है, उसे बन्धन नहीं होता और बन्धन नहीं होता तो बन्धन का निमित्त ज्ञायकभाव नहीं हो सकता। अब बात गुलांट खाती है। पाठ में जो है, वह कहना है। परन्तु अनादि अज्ञान के कारण। अब वापस वह अज्ञान भी अनादि का है। आहाहा!

ज्ञायक प्रभु अन्दर चैतन्य रत्न हीरा अनन्त-अनन्त गुण के शुद्धपने के पवित्रपने का पिण्ड है वह। आहाहा! जिसमें अनन्त प्रभुता भरी है। एक-एक गुण में अनन्त प्रभुता और ईश्वरता है, ऐसा वह प्रभुगुण है, वह ईश्वर स्वयं ही ईश्वरगुण है, उसका कोई कर्ता ईश्वर है, ऐसा नहीं है। उसका गुण भी ईश्वर है और उन अनन्त गुणों को ईश्वर का रूप है। अनन्त गुण में ईश्वर का रूप है। अर्थात् सब ईश्वर हैं। अनन्त गुण जो अमाप हैं, वे सब ईश्वर हैं। उस ईश्वर का धारक एक भगवान आत्मा है। वह आधेय और आधार भी जिसमें नहीं एक न्याय से तो। आहाहा! समझ में आया? वह स्वयं ही जगत के अनन्त गुणमय है। गुण आधेय है और भगवान (आत्मा) आधार है, द्रव्य। यहाँ तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पवित्र शुद्ध चैतन्यघन, वह आत्मा है, ऐसा गुणवाला, ऐसा भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! वह आत्मा स्वभाव के कारण बन्धन में निमित्त हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! है?

स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं होने पर भी,... आहाहा! **अनादि अज्ञान के कारण....** ऐसा उसका मूलस्वभाव होने पर भी, अनादि अज्ञान के (कारण) उसे अपनी खबर नहीं कि मैं कौन हूँ और कितना हूँ और कहाँ हूँ। आहाहा! उस स्वरूप के स्वभाव के अज्ञान के कारण; कर्म के कारण नहीं। ऐसा नहीं (कहा), ऐसा

स्वभाव है परन्तु कर्म के कारण वह ऐसे आच्छादित हुआ है, ऐसा नहीं है, यह बड़ी गड़बड़ उठी है न अभी? अपने अज्ञान के कारण। आहाहा! जो स्वरूप है, उसमें दृष्टि न रखकर, जिसमें नहीं, ऐसे राग-द्वेष पर जिसकी दृष्टि है, उस अज्ञान के कारण करता है। आहाहा! समझ में आया? **पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए...** अज्ञान के कारण, पौद्गलिक कर्म तो उसके कारण से बँधा है, उसकी पर्याय से, परन्तु यह निमित्तरूप होते हुए, यह निमित्तरूप होते हुए अर्थात् निमित्त हुआ न, ऐसा। यहाँ हुआ है तो अपने आप परन्तु यहाँ निमित्त क्या हुआ? उसे सम्बन्ध निमित्त-नैमित्तिक का हो गया न? निमित्तरूप होने पर; निमित्तरूप होने का अर्थ क्या? पौद्गलिक कर्म तो उस प्रकार से उस पर्याय में क्रमबद्ध से जो परमाणु कर्मरूप होनेवाले हैं, वे होनेवाले हैं, हुए हैं, अब यहाँ निमित्तभूत होने पर; उपादानभूत तो वहाँ गया। आहाहा! क्या कहा यह? कि कर्म जो अज्ञानी को बँधता है, वह तो उसके उपादान की उसकी पर्याय से वहाँ बँधा, अब यहाँ उसका निमित्त कौन है, यह बतलाना है। अज्ञानी का अज्ञान वह निमित्त है। आहाहा! निमित्त है, उपादान तो उसकी पर्याय के उसके काल में वहाँ हुआ है। बहुत सूक्ष्म ऐसा। वह सीधा-सट्ट था सब, लो! 'इच्छामि पडिक्कमणं इरिया विरिया विराणाये गमणा गमणे (तस्सउत्तरि करणेणं)', हो गयी सामायिक। 'तस्स उत्तरि करणेणं।' धूल में भी नहीं कुछ भी। आहाहा!

भगवान अन्दर विराजता है, प्रभु अनन्त गुण का पवित्र धाम, उसमें आया न श्रीमद् में? 'स्वयं ज्योति सुखधाम' अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान है वह प्रभु तो। आहा! दुःख उत्पत्ति हो, ऐसा उसका स्थान है ही नहीं। आहाहा! स्वयं ज्योति है। चैतन्य ज्योति स्वयं आप है। 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन', वहाँ प्रदेश डाले हैं।—शुद्ध है, ज्ञानपिण्ड है, 'चैतन्यघन' अर्थात् असंख्य प्रदेशी है, 'स्वयं ज्योति' अपना—अपने से है, ऐसा का ऐसा अनादि से और 'सुखधाम', अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान है, वह वहाँ पके तो अतीन्द्रिय आनन्द पके, ऐसा वह खेत है। आहाहा! राग-द्वेष पके, ऐसा खेत आत्मा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! स्वाश्रय भूलकर पर आश्रय में जाता है—व्यवहार में, तब उसे अज्ञान होकर राग-द्वेष होते हैं। आहाहा!

अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को.... पौद्गलिक कर्म को, ऐसा

कहा न? तो पौद्गलिक कर्म की अस्ति तो सिद्ध की उपादान से, उसकी। क्या कहा यह? वहाँ सिद्ध....

मुमुक्षु : पौद्गलिक कर्म को उपादान से सिद्ध किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ऐसा। वह पौद्गलिक कर्म, ऐसा सिद्ध किया न! उसे **निमित्तरूप होते हुए...** लो, उसे निमित्तरूप दूसरी चीज़ जो संयोगी है आत्मा का विकारभाव, वह निमित्तभूत उसे होते हुए, ऐसे अज्ञानभाव से परिणमता होने से, **निमित्तरूप होते हुए ऐसे अज्ञानभाव से परिणमता होने से....** आहाहा! कर्म तो कर्म पौद्गलिक कर्म तो वहाँ है, अब यहाँ उसे निमित्त कौन हुआ? कि निमित्तरूप ऐसे अज्ञानभाव से परिणमता होने से। वह अपने स्वरूप के भान बिना यह पुण्य और पाप का, दया और दान आदि के विकल्प मेरे हैं, इस प्रकार अज्ञानभाव से परिणमता, आहाहा! अज्ञानभाव से होता हुआ। दूसरी भाषा तो पहले आ गयी थी, एक बार (कि) इस प्रकार मानता है, वस्तु ऐसी होती नहीं। पहले यह आ गया था भाई! पहले श्लोक में, यह मानता है, ९६-९७ में गाथा में आ गया है। आहाहा! मैं राग हूँ, ऐसी मान्यता खड़ी की है, यह मान्यता, वह वस्तु स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : तो किसमें है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय के स्वरूप में अज्ञान है। आहाहा! पर्यायदृष्टिवाले को वह अज्ञान है, द्रव्यदृष्टिवाले को अज्ञान नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें हैं, भाई! जैन धर्म वीतराग मार्ग जिस प्रकार से है, उस प्रकार से समझना, वह अलौकिक बातें हैं।

पहला स्वभाव से निमित्तभूत हो, ऐसा तो उसका स्वरूप नहीं। अब अज्ञान के कारण पौद्गलिककर्म को निमित्त-निमित्तरूप होने पर, किसे? कि पुद्गल बँधे हैं उसे। कैसा? कि ऐसे अज्ञानभाव से परिणमता होने से, अज्ञानभाव से स्वभाव में विरुद्ध करके राग और द्वेष, मिथ्यात्वादिरूप परिणमता हुआ, आहाहा! सम्यक् चैतन्य शुद्ध है, उसका भान नहीं, इसलिए सम्यग्दर्शन नहीं। मिथ्यादर्शन है। क्योंकि त्रिकाली शुद्ध चैतन्य है, उसे न मानकर जो राग के कण खड़े होते हैं, जो स्वरूप में नहीं अथवा उसका एक भी

गुण नहीं। अनन्त गुण अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं, उसका एक भी गुण नहीं कि अवस्था में विकृत हो, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा होने पर भी, अज्ञान के कारण—ऐसा कहते हैं। आहाहा! पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए, आहाहा! कितना समाहित किया है! पौद्गलिक कर्म वहाँ हुआ तो है। अब उसे निमित्त है कौन? कि अपने को भूला हुआ अज्ञान के कारण, अज्ञानभाव से परिणमता हुआ, अज्ञान के कारण अज्ञानरूप परिणमता हुआ, ऐसा। आहाहा! स्वरूप के भान बिना अभानरूप से परिणमता हुआ। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। **अज्ञानभाव से परिणमता होने से....** वापस पर्याय ली अब। द्रव्य का तो इनकार किया पहले। द्रव्य का स्वभाव तो निमित्तरूप होना, ऐसा है ही नहीं, परन्तु **अज्ञानभाव से परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर....** पौद्गलिक कर्म हुआ है, उसमें निमित्तभूत होने पर, **पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है,....** ऐसा अज्ञानी मानते हैं। यह उपचार है, ऐसा कहते हैं। मैंने यह राग-द्वेष किये, इसलिए वहाँ पौद्गलिक कर्म उत्पन्न हुआ है, ऐसा नहीं है, तथापि यह राग-द्वेष किये, इसलिए वहाँ पौद्गलिक उत्पन्न हुआ, निमित्त हुआ, इसलिए वहाँ हुआ (ऐसा नहीं) है? पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया है ऐसा निर्विकल्प... आहाहा! भगवान आत्मा, विकल्परहित निर्विकल्प प्रभु है, विज्ञानघन स्वभाव है, जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं, जिसमें विकल्प—राग उत्पन्न हो, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सामने है न पुस्तक! **विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट....** आहाहा! विज्ञानघन प्रभु। यह वह विज्ञान कहते हैं लोग, वह नहीं, हों! वह यह तो स्वयं विज्ञानघन है। इसमें तो संसार का विकल्प नहीं, इसमें तो वास्तव में वर्तमान पर्याय का खण्ड जो भेद है, वह इसमें नहीं, ऐसा विज्ञानघन प्रभु, वहाँ से भ्रष्ट हुआ, उसका आश्रय न लेकर—निश्चय का आश्रय न लेकर, व्यवहार का आश्रय किया, व्यवहार पराश्रय है, वह स्वभाव से भ्रष्ट हुआ। आहाहा! समझ में आया?

शब्द थोड़े परन्तु माल बहुत है, भाई! आहाहा! यह वाँचन किया है या नहीं हसुभाई कभी यह? वाँचन किया है परन्तु इस प्रकार से नहीं समझ में आया हो। हमारा मास्टर था पढ़ने के समय, एक नरोत्तम ब्राह्मण था। फिर स्त्री यहाँ नहीं थी, इसलिए

विवाह हो या न हो, नहीं था, इसलिए घर में पकावे रात्रि में। फिर होशियार लड़के हों न, पकाने के समय बुलावे, बैठो तुम, वह पकाते हों न, सबकी ऐसी परीक्षा ले न, ऐसा समझावे। परन्तु पहले पढ़कर आना, ऐसा कहे। यह पाठ पढ़कर आना। यह तुमको क्या समझ में आया और मैं इसका अर्थ क्या करता हूँ, उसका अन्तर तुमको दिखाई देगा। भाई! समझ में आया? चन्दुभाई! एक नरोत्तम ब्राह्मण था, बहुत वर्ष पहले की—७५ वर्ष पहले की बात है।

मुमुक्षु : हमको वाँचकर आना, ऐसा आप कहते हो!

पूज्य गुरुदेवश्री : कितना ही उसे वाँचन चाहिए, तो इसे समझ पड़े। यह तो कॉलेज है। आहाहा!

समयसार अर्थात्? आहाहा! उसमें पास हुआ, वह केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। आहाहा! वे ऐसा कहते थे।

मुमुक्षु : पास तो गुरु करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका आत्मा करे। कौन गुरु? गुरु कहाँ, गुरु का आत्मा अलग, इसका आत्मा अलग। आहाहा! गुरु को निमित्त बनाना हो तो वह तो राग हो और राग तो इसके स्वभाव में है नहीं। आहाहा! मोक्षपाहुड़ में यहाँ तक कहा है सोलहवीं गाथा में, '**परदव्वादो दुग्गई**' भगवान ऐसा कहते हैं कि तू मेरे सामने देखेगा तो तेरी चैतन्यगति नहीं होगी; दुर्गति-दुर्गति—राग होगा। आहाहा! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में यह आया कि तू मेरे सामने देखेगा, हम परद्रव्य हैं, पराश्रय होगा। व्यवहार का आश्रय होगा, राग होगा, तेरा आश्रय करेगा, तेरे सामने देखेगा तो निश्चय का आश्रय होगा, तुझे वीतरागता आयेगी। आहाहा! व्यवहार पराश्रय, आता है न अन्त में? पराश्रय है न? तुझसे पर है, इसलिए हमारा आश्रय लेने से व्यवहार का आश्रय लिया। आहाहा! और इससे तुझे चैतन्य की जो ज्ञानानन्द आनन्द की गति का परिणमन चाहिए, वह नहीं होकर। जो राग, गति से विरुद्ध राग दुर्गति का है, वह चैतन्य की गति नहीं। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारे सामने देखने से तुझे दुर्गति होगी। तेरी गति जो चैतन्य की है, वह नहीं रहेगी, ऐसा। दुर्गति अर्थात् राग; राग वह दुर्गति, वह चैतन्य की गति नहीं है। आहाहा!

कहो, यह भक्तिवालों को ऐसा लगे कि भक्ति से धर्म होगा और हम भगवान की भक्ति बहुत करते हैं। आहाहा! ऐसी तो भक्ति अनन्त बार समवसरण में की है। महाविदेह में अनन्त बार जन्मा है।

मुमुक्षु : निश्चय भक्ति बिना की वह भक्ति ही नहीं कहलाती।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह व्यवहार से भक्ति कब कहलाती है? कि निश्चय स्वभाव हो, परन्तु यह तो अकेली भक्ति करो, परन्तु ऐसी भक्ति तो अनन्त बार की है। साक्षात् ऐसे समवसरण में हीरा के थाल, कल्पवृक्ष के फूल, (मणिरत्न के दीपक) जय भगवान, वह तो परद्रव्य की ओर लक्ष्य रखते हों, वह तो राग है। वह राग, वह आत्मा के अनन्त गुण पवित्र हैं, उनकी वह गति-परिणमन नहीं है। आहाहा!

अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों का पिण्ड स्वयं है, पवित्र, विज्ञानघन प्रभु है। उसका वह राग कार्य नहीं। उसे भूलकर तू यहाँ पर में प्रयोग करने जाता है, राग होता है। यह वीतराग मार्ग! तू तेरे सामने देख, ऐसा कहते हैं। हमारे सामने देखने की अपेक्षा तेरे सन्मुख देख अर्थात् कि तेरा आश्रय ले, अर्थात् कि तू विज्ञानघन है, वहाँ तेरी दृष्टि रख। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

ऐसा निमित्तपना हो, किसे कहा जाये? कि वह बँधा है न, उसमें निमित्तभूत होता है, अज्ञान राग-द्वेष, इसलिए पुद्गल उत्पन्न हुआ मानो, ऐसा इसने माना है, हुआ है तो उसके कारण से वहाँ, परन्तु मैं निमित्त हूँ न, इसलिए हुआ न? यह प्रश्न था पहले वहाँ राजकोट में, ऐसा कि परमाणु वहाँ बँधते हैं, राग यहाँ है तो बँधते हैं न? राग न हो तो कहीं बँधते हैं? इसलिए इतना राग के कारण से बँधते हैं न? ऐसा नहीं है। बँधने का तो उसके उपादान की पर्याय उसमें है। मात्र उसका निमित्त किसे कहना? कि अज्ञानी का अज्ञान, राग-द्वेष का अज्ञान निमित्तरूप देखकर यह 'मैंने' किया, ऐसा उपचार से मानता है, वह कौन? निर्विकल्प विज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट (है, वह) मानता है। आहाहा! है? अभेद विज्ञानघन स्वभाव प्रभु, उसमें से भ्रष्ट हुआ और राग का कर्ता हुआ। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत आदि विकल्प है, उसका कर्ता होकर विज्ञानस्वभाव से भ्रष्ट हुआ, विकल्प परायण है, यहाँ से भ्रष्ट हुआ और यहाँ तत्पर है। आहाहा! क्या कहा, समझ में आया?

विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट और विकल्प परायण, यह स्वभाव से भ्रष्ट हुआ, तब तत्पर कहीं है या नहीं? कि राग का विकल्प है, उसमें अज्ञानी तत्पर है। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है। आहाहा! भाव बहुत गहरे भरे हुए बहुत, ओहोहो! निर्विकल्प विज्ञानघान स्वभाव प्रभु के अज्ञान के कारण, बन्धन में मैं निमित्त हूँ, इसलिए वह कर्म मैंने किया, ऐसा उपचार मुझे लागू पड़ता है। यह अज्ञानी को उपचार लागू पड़ता है। वास्तव में उसका यथार्थ कार्य तो उसका नहीं परन्तु मैं निमित्त हुआ तब वहाँ होता है न? होता है तो उसके पर्याय प्रमाण, परन्तु मैं निमित्त होऊँ तब होता है न? इसके बिना कहाँ होता है? इसके बिना परमाणु में तो बन्धन की पर्याय की योग्यता ही नहीं है उसमें। आहाहा!

यह प्रश्न चला था वहाँ राजकोट। यहाँ राग हुआ है, तब वहाँ बन्धन होता है न? ऐसा नहीं, बन्धन की पर्याय तो उस काल में हुई, परन्तु उसे निमित्त था राग, उसे ऐसा मानता है कि राग मैं हूँ, तो यह बन्धन हुआ न? नहीं तो कैसे होता? परन्तु वह बन्धन की पर्याय का काल है और तू मात्र उसमें निमित्त, राग निमित्त है। आहाहा! ऐसा उपदेश और ऐसी बातें, लो!

विज्ञानघन स्वभाव भगवान से अज्ञान के कारण भ्रष्ट हुआ और राग के विकल्प का सूक्ष्म विकल्प भी हो, परन्तु उसमें परायण अर्थात् तत्पर हुआ, यहाँ से भ्रष्ट हुआ, वहाँ तत्पर हुआ। **अज्ञानियों का विकल्प है।** वह विकल्प में तत्पर है, ऐसे अज्ञानियों का वह विकल्प है, क्या? कि इसे मैं निमित्तरूप हूँ, इसलिए वहाँ होता है न, ऐसा। ऐसा अज्ञानियों का विकल्प है। **वह विकल्प उपचार ही है...** वह विकल्प उपचार है। अज्ञानी निमित्तभूत हुआ, इसलिए निमित्त हुआ वह उपचार बोलता है, वह यथार्थ नहीं। यथार्थ तो बन्धन के परिणाम बन्धन से हुए, परन्तु मैं निमित्त हूँ, इसलिए हुआ, इसलिए ऐसा उपचार बन्धन में मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी उपचार से मानता है। उपचार से कहो या व्यवहार से कहो।

मुमुक्षु : वह अज्ञानी उपचार से मानता है या अज्ञान से।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उपचार से। वास्तव में उसे कहाँ है? पर का तो उसमें है ही नहीं, मानता है उपचार से, ऐसा यहाँ आचार्य को सिद्ध करना है न? मैं निमित्त हूँ

न, ऐसा कहा है न? पहले यह वस्तु निमित्तभूत नहीं, तथापि मैं निमित्त हूँ, ऐसा कहा न, इसलिए अज्ञान हुआ न? इससे यह हुआ इसलिए वहाँ हुआ न? इसलिए मैं उसका उपचार से कर्ता हूँ, यह अज्ञानी को लागू पड़ता है। आहाहा! ऐसा है। **परमार्थ नहीं।** यह निमित्त से हुआ वहाँ ऐसा कहना इतना उपचार है, परमार्थ है नहीं। आहाहा!

भावार्थ :- मूल बात तो ऐसी है कि क्रमबद्ध में तो जिस परमाणु की जिस समय में परिणमने की योग्यता है, वह परिणमता है। अब यहाँ अज्ञानी का राग-द्वेष निमित्त है, इसलिए यह निमित्त है, इसलिए वहाँ हुआ न, ऐसा मानकर मैं उसका कर्ता हूँ, यह उपचार से कहा जाता है। वास्तव में तो उसका कर्ता नहीं, परन्तु अज्ञानी का निमित्तपना है, इसलिए मैं उपचार से कर्ता हूँ, ऐसा वह मानता है। अज्ञानी उपचार से हूँ, ऐसा मानता है। ज्ञानी तो उपचार से भी नहीं उसे, क्योंकि बन्धन ही जहाँ नहीं, फिर व्यवहार का उपचार और निमित्त हूँ, यह आया ही कहाँ? आहाहा! ऐसी अटपटी बातें सब। **कदाचित् होनेवाले....** कदाचित् क्यों लिया? कि अज्ञानभाव के कारण होता है, वहाँ **कदाचित् होनेवाले निमित्त नैमित्तिकभाव...** नैमित्तिक बन्धन होना वह, और निमित्त उसका अज्ञानभाव, वह **कदाचित् होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव में कर्ताकर्मभाव कहना....** है? **वह उपचार है।** आहाहा!

कदाचित् होनेवाले.... अज्ञानभाव के काल में, ऐसा कदाचित् **निमित्त-नैमित्तिकभाव में कर्ताकर्मभाव कहना....** वास्तव में तो कर्ता-कर्मभाव है ही नहीं परन्तु अज्ञानभाव से नैमित्तिकदशा वहाँ होती है, वहाँ राग उसका निमित्त देखकर, कर्ताकर्मभाव कहना, कर्ताकर्म कहना, कि मैं राग का कर्ता और यह मेरा कार्य। कर्मबन्धन, राग मैंने किया तो कर्मबन्धन हुआ न, ऐसा कहना वह उपचार है, व्यवहार है, यथार्थ नहीं, अयथार्थ है। आहाहा! ऐसी ही एक गाथा गयी, लो। आहाहा!

यह उपचार किस प्रकार है.... (यह) अब कहते हैं, देखो! ऐसा सिद्ध करते हैं। आचार्य स्वयं सिद्ध करते हैं न? वह माने चाहे जैसा परन्तु वह माने परन्तु कहीं पर में प्रवेश करता है? यह तो गाथा आ गयी। संक्रमण करता है, तीसरी गाथा में आ गया। किसी द्रव्य की पर्याय किसी द्रव्य की पर्याय में संक्रमित होती है, पलटाती है और वहाँ

जाती है और प्रवेश करती है? आहाहा! संक्रमण किये बिना उसे करे, यह बात खोटी है। संक्रमण होता नहीं और कर्ता मानता है, वह बात तो खोटी है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन के सब काम चलते हैं जड़ के, उस जड़ के काम में मैं निमित्त तो हूँ न? मैं निमित्त तो हूँ न? आहाहा! ऐसा अज्ञानी उपचार से भी पर का कर्ता मानता है। वह यथार्थ में तो उसका कर्ता है ही नहीं, परन्तु मैं निमित्त हुआ, तब यह बँधा या नहीं? राग नहीं होता तो कैसे बँधता? परन्तु नहीं होता तो, यह प्रश्न ही कहाँ है यहाँ? यहाँ राग है और वहाँ बन्धन हुआ है, इसका प्रश्न है। आहाहा! ऐसा कि मैंने राग नहीं किया होता तो बँधता, इसलिए निमित्त से बँधा है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बड़ी भूल है अभी। निमित्त-नैमित्तिक की बड़ी भूल। जिसे जिस द्रव्य की जो पर्याय उस समय में वही होनेवाली है, इतना निर्णय न करे, उसे यह निमित्त आया, इसलिए हुआ—यह बड़ा भ्रम है। आहाहा!

किसी भी द्रव्य की उस समय की जन्मक्षण की पर्याय उस समय का जन्म—उत्पत्ति का काल उसका है, इसलिए उस परमाणु की कर्मबन्धन की पर्याय कहो, शरीर की कहो, उसका उत्पत्ति का काल—क्षण है, इसलिए वह उसमें होती है। अज्ञानी निमित्त देखकर, मैंने किया—ऐसा उपचार से मानता है, भगवान कहते हैं कि वह उपचार है, बस! वह कहीं उसने किया? मैं निमित्त हूँ इसलिए किया ऐसा? निमित्त हूँ इसलिए हुआ और राग नहीं किया होता तो वहाँ होता? परन्तु राग नहीं किया होता तो (की) बात, यह प्रश्न यहाँ कहाँ है? यहाँ तो राग हुआ है और वहाँ भी कर्मबन्धन हुआ है, उसे यह निमित्त से मैंने किया, ऐसा वह मानता है, वह उपचार है। आहाहा! ऐसी बात है। कितनी सरल बात थी, सामायिक करे और प्रतिक्रमण किया...

मुमुक्षु : सरल अर्थात् राग।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अज्ञानी को कुछ भान नहीं होता। आहाहा!

गाथा-१०६

कथमिति चेत् -

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन।।१०६।।

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयम-परिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः।

तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो, न परमार्थः।।१०६।।

अब, यह उपचार कैसे है, सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैं:-

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से।।१०६।।

गाथार्थ : [योधैः] योद्धाओं के द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जाने पर, '[राज्ञा कृतम्] राजा ने युद्ध किया' [इति] इस प्रकार [लोकः] लोक [जल्पते] (व्यवहार से) कहते हैं, [तथा] उसी प्रकार '[ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेन कृतं] जीव ने किया' [व्यवहारेण] ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

टीका : जैसे युद्धपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्धपरिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं हैं; इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले ऐसे 'आत्मा में आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है।

भावार्थ : योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'राजा ने युद्ध किया', इस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म किया'।।१०६।।

गाथा-१०६ पर प्रवचन

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण।।१०६।।

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से।।१०६।।

व्यवहार से योद्धाओ, **जैसे युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमते हुए योद्धाओं...** आहाहा! लड़ने जाये योद्धा, युद्ध के परिणाम से **परिणमते हुए योद्धाओं के द्वारा किये जाने पर, युद्ध परिणाम में स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजा में, 'राजा ने युद्ध किया'....** ऐसा बोला जाता है। आहाहा! युद्ध में परिणमते जीव—योद्धाओं ने युद्ध किया, उस **युद्ध परिणाम से स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजा....** आहाहा! राजा तो घर में बैठा हो और खाता हो, यह युद्ध लड़ते हों वहाँ ऐसा बोले न कि राजा आया है लड़ने, राजा लड़ने आया है, राजा। आहाहा!

पहले ऐसा था, युद्ध चले न कहीं युद्ध करना हो तो शाम को गायों के झुण्ड जंगल में हो न जंगल में, वे वापस मुड़ती हो गाँव में तो वे युद्ध वाले आये हों, वे गायों को वापस मोड़ते हैं, गाँव में घुसने नहीं देते, तब प्रजा को खबर पड़े, वहाँ राजा को खबर पड़े कि कोई लड़ने आया है और गायें शाम को आवें न, ऐसे वह लड़नेवाला वहाँ कहने नहीं जाता, परन्तु उन गायों को वापस मोड़ता है, इसलिए घुसने का समय हो और वापस मोड़ता है, तब राजा को खबर पड़ती है कि कोई लड़ने आया है और वह फिर भेजा है दूसरे मनुष्य को तो उससे वे चले जाते हैं, भाग जाते हैं। इस प्रकार परिणमित हुए हैं तो योद्धा अपने परिणाम से, कहीं राजा उस परिणाम से नहीं परिणमा, परन्तु राजा का इतना हुकम था, इतना गिनकर, राजा ने किया—ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

दृष्टान्त में तो दो-तीन कहे। मेघ—बादल, काचबी (-मेघधनुष) होवे तो उस बादल को निमित्त कहा जाता है। उसके बिना निमित्त कहा जाये? परन्तु वह मेघधनुष हुआ है, वह कहीं उनसे हुआ नहीं। मेघधनुष होता है न ऐसा? वहाँ अपनी पर्याय से होता है, मेघधनुष वह बादल के कारण से नहीं हुआ। जैसे सूर्य की किरणें हों, इसलिए ऐसा हो। सामने सूर्य अस्त होता हो और ऐसा, मेघधनुष ऐसा (विरुद्ध दिशा में) होता, वहाँ नहीं होता। परन्तु वह तो उस काल में वे परमाणु अपने से परिणमित हुए हैं, तब इसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! गजब! सूर्य के कारण नहीं, बादल के कारण नहीं, मेघधनुष होने के परमाणु का उसी समय में उसका मेघधनुष पर्यायरूप होना, ऐसा उसका काल था, इसलिए मेघधनुष हुआ, ऐसा। इसी प्रकार कर्मबन्धन की पर्याय तो उससे हुई, परन्तु अज्ञानी साथ में निमित्त है, इसलिए कहते हैं कि मैंने उसे किया, ऐसा उपचार किया जाता है। आहाहा!

'राजा ने युद्ध किया' ऐसा उपचार है। युद्ध से परिणमते योद्धा युद्ध करते हैं और राजा ने युद्ध किया है, यह कहना उपचार है। कैसा दृष्टान्त लिया, देखो न! **परमार्थ नहीं; इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए....** ज्ञानावरणादिकर्म-परिणाम से स्वयं परिणमते हुए **पुद्गलद्रव्य....** आहाहा! यहाँ पुद्गलद्रव्य परिणमता है या अज्ञानी का आत्मा वहाँ परिणमता है?

मुमुक्षु : पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं ही अपना स्वयं काल है उसका। कर्म परिणाम से स्वयं परिणमते हुए, कर्म परिणाम से स्वयं परिणमते हुए ऐसे **पुद्गलद्रव्य के द्वारा....** आहाहा! **ज्ञानावरणादिकर्म किये जाने पर....** पुद्गलद्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर। आहाहा! वह अधिकार आता है न? अनाथी मुनि का, उसमें एक गाथा है। उसमें से लेते हैं सब, 'अप्पा कत्ता विकत्ताये' आत्मा कर्म का कर्ता है और आत्मा कर्म का भोक्ता है। वह तो भावकर्म को करे अज्ञानभाव से, उसका भोक्ता, ऐसा है। पर का कर्ता और भोक्ता वह तीन काल में नहीं है।

ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा

ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, वह **ज्ञानावरणादिकर्म परिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मा में....** आहाहा! ज्ञानावरणादिरूप अज्ञानी परिणमता है? वह तो परिणमता है, वह तो राग और अज्ञानभाव से, परन्तु यह जो हुआ है, वह तो पुद्गल स्वयं ज्ञानावरणीरूप परिणमा है। आहाहा!

छह कारण से ज्ञानावरणी बँधता है, ऐसा आता है न? आहाहा! वहाँ छह कारण से बँधता है। ऐई पण्डितजी! यह भी वह कहते हैं कि निमित्त हो, उसके कारण बँधता है, वह परिणमे नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! छह कारण से ज्ञानावरणी बँधता है, छह कारण से दर्शनावरणी बँधता है, ऐसे प्रत्येक कर्म के बन्धन के परिणाम हैं, परन्तु वे परिणाम कर्मरूप परिणमते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह 'ज्ञानसागर' में जामनगरवालों को ज्ञानसागर (पुस्तक) देखा है ज्ञानसागर जामनगर का? पूनातर का, पहले ६८ में वह मिला था। ज्ञानसागर है। पूनातर से बनाया हुआ, उसमें सब यह भंग-भेद सब हैं। छह प्रकार से ज्ञानावरणी बँधता है, छह प्रकार वे किये, इसलिए ज्ञानावरणी बँधता है, ऐसा। वह यहाँ इनकार करते हैं। वे तो उपचार के कथन हैं। आहाहा! परन्तु वह छह कारण का ज्ञान की असातना और वह निह्नव छह गुण, यहाँ बोले न, छह बोल, वे नहीं किये होते तो कर्म बँधते? परन्तु वह नहीं किये होते तो नहीं बँधते, यह प्रश्न ही यहाँ कहाँ है? यहाँ तो बँधा हुआ है, उसमें निमित्त कौन है और निमित्त होने पर भी उस कर्मरूप वह परिणमता नहीं, परिणमता है स्वयं के अज्ञान और राग-द्वेष भाव से। आहाहा! ऐसा है, कठिन।

स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर.... आठों ही कर्म, हों! आहाहा! दर्शनमोहरूप कर्म परिणमे, वह पुद्गल स्वयं अपने से परिणमता है, मात्र मिथ्यात्व उसमें निमित्त है। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु मिथ्यात्व स्वभाव.... नहीं होता तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न, यही दिक्कत है न? नहीं होता तो? परन्तु है, अब उसका प्रश्न क्या? है, उसे यहाँ है, यहाँ दर्शनमोह मिथ्यात्व में परमाणु की पर्याय बँधती है, उसे निमित्त कौन? कहे, अज्ञानी का मिथ्यात्व। आहाहा! यह प्रश्न हुआ था

न, राजकोट में हुआ था। वह जब मन्दिर बना न, तब। ऐसा कि मूलशंकरभाई ने प्रश्न किया था, ऐसा राग नहीं होता तो बँधता? इसलिए इतना राग हुआ तो बँधा न? ऐसा प्रश्न था। तब कहा, ऐसा नहीं। नहीं होता तो बँधता, यह प्रश्न ही नहीं। यहाँ राग बँधे, उसकी परमाणु की पर्याय का काल है, इसलिए वहाँ अज्ञान परिणमा है। यहाँ अज्ञानी स्वयं उसे निमित्तभूत से मिथ्यात्वरूप परिणमता है। आहाहा! ऐसा बहुत सूक्ष्म।

ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले.... कौन? आत्मा। वह तो पुद्गल परिणमित हुए हैं वहाँ तो; स्वयं नहीं। ऐसे **आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादिकर्म किया, ऐसा उपचार है।** व्यवहार है, **परमार्थ नहीं।** आहाहा!

भावार्थ :- योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'राजा ने युद्ध किया'। परचीज़ की नहीं। **इसी प्रकार ज्ञानावरणादिकर्म पुद्गल द्रव्य के द्वारा किये जाने पर भी...** आहाहा! पुद्गलद्रव्य को कैसे खबर पड़ी कि इसने ऐसा भाव किया, इसलिए मुझे ऐसा होना पड़ा? परन्तु कोई खबर की, बात यहाँ कहाँ है? खबर की बात तो एक आत्मा ही सिद्ध होगा, छह द्रव्य सिद्ध नहीं होंगे। खबरवाले की बातें करने जायें तो अकेला आत्मा सिद्ध होगा। छह द्रव्य नहीं। खबर नहीं परन्तु उसे उसीरूप से, उसी प्रकार से, उस समय की उसी पर्यायरूप परिणमने का वह स्वभाव है। आहाहा! उसे खबर है कि इसने यहाँ राग-द्वेष किये हैं, इसलिए वह निमित्त है, इसलिए परिणमुं, ऐसा है? आहाहा! एक-एक तत्त्व, भाई! ऐसी सूक्ष्म बात है।

ज्ञानावरणादिकर्म किये जाने पर भी? कौन? पुद्गल ने। **उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म किये'...** वास्तव में है नहीं। आहाहा! १०७।

मुमुक्षु : कहा जाता है या है....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, उपचार है। वह निमित्त है, वह मानता है। मैं हूँ तो वहाँ हुआ न? इसलिए व्यवहार हुआ। वह खोटा, व्यवहार भी खोटा, अज्ञानी का व्यवहार भी खोटा है। आहाहा!

ज्ञानी का व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमना, वह ज्ञानी का व्यवहार; निश्चय तो द्रव्य है। आहाहा! समझ में आया? परमार्थवचनिका में आता है कि

मोक्षमार्ग है, वह व्यवहार है। निश्चयमोक्षमार्ग, हों! व्यवहारमोक्षमार्ग तो है ही नहीं वह तो परमार्थवचनिका में आता है। वास्तव में तो द्रव्य वस्तु जो अखण्डानन्द प्रभु, वह निश्चय का विषय है, परन्तु उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणाम हों, वह व्यवहार है। पर्याय है, इसलिए व्यवहार है, ऐसा। उस द्रव्य की अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा जाता है और राग को मोक्षमार्ग कहना, उसकी अपेक्षा से उसे यहाँ निश्चय कहा जाता है। क्या कहा?

भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप अखण्डानन्द है, उसकी अपेक्षा से तो वे परिणाम हुए, मोक्ष का मार्ग, वह व्यवहार है। द्रव्य निश्चय है, पर्याय व्यवहार है, परन्तु उसे निश्चय कब कहना? कि उस रागादि को व्यवहारमोक्षमार्ग कहा, तब इसे निश्चय कहा, उसकी अपेक्षा से इसे निश्चय कहा, और इसकी अपेक्षा से उसे व्यवहार कहा। इसमें क्या याद रहे?

मुमुक्षु : घड़ीक में व्यवहार कहना और उसी और उसी को वापस निश्चय कहना।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस अपेक्षा से किसे व्यवहार कहना यह? अपेक्षा कौन सी? त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से उस मोक्षमार्ग के परिणाम, वे व्यवहार हैं। पर्याय है, इसलिए व्यवहार है। पंचाध्यायी में तो इस प्रकार लिया है, पर्यायमात्र व्यवहार है। गाथा के अन्दर, पर्याय है, वही व्यवहार है। खण्ड है न? भेद है न? अभेद वस्तु भगवान आत्मा, वह निश्चय है। आहाहा! उस निश्चय स्वभाव की अपेक्षा से आत्मा के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, वह भी पर्याय है; इसलिए व्यवहार है। यहाँ निमित्तरूप जो दया, दान के, व्रत के परिणाम थे; देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के परिणाम, उसे यहाँ निमित्त कहना। समझ में आया? उसकी अपेक्षा से यह उपादान में इसे निश्चय कहना। समझ में आया? आहाहा! और साधन का साध्य कहा है, वह इस अपेक्षा से। साध्य तो साध्य से है, साधन उपचार से कहा है, व्यवहाररत्नत्रय साधन और निश्चय साध्य, यह तो उपचार से कहा है। आहाहा! यथार्थ साधन है नहीं। वह यहाँ कहते हैं। अब १०७ (गाथा)। विशेष कहेंगे, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१०७

अत एतत्स्थितं-

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गल-दव्वं ववहार-णयस्स वत्तव्वं।।१०७।।

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम्।।१०७।।

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयति उत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोप-चारः।।१०७।।

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतु से यह सिद्ध हुआ कि:-

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्गलदरव को आतमा-व्यवहारनयवक्तव्य है।।१०७।।

गाथार्थ : [आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य को [उत्पादयति] उत्पन्न करता है, [करोति च] करता है, [बध्नाति] बाँधता है, [परिणामयति] परिणमित करता है [च] और [गृह्णाति] ग्रहण करता है-यह [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनय का [वक्तव्यम्] कथन है।

टीका : यह आत्मा वास्तव में व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (-पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और न उसे करता है, न बाँधता है; तथा व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने पर भी, ''प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है'' ऐसा जो विकल्प, वह वास्तव में उपचार है।

भावार्थ : व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्तृकर्मत्व कहना, सो उपचार है; इसलिए

आत्मा पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है–इत्यादि कहना, सो उपचार है।।१०७।।

प्रवचन नं. २०८, गाथा-१०७-१०८, दिनांक ०१-०३-१९७९, गुरुवार, फाल्गुन शुक्ल - ३

समयसार, १०७ गाथा। **अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतु से यह सिद्ध हुआ कि....** क्या कहा? जैसे योद्धा युद्ध लड़ते हैं, उसे ऐसा कहना कि राजा लड़ता है, वह तो उपचार-व्यवहार (कथन) है। इसी प्रकार कर्मबन्धन जो होता है, वह उसकी पर्याय की योग्यता से वहाँ होता है, परन्तु साथवाला जो अज्ञानी, उसे निमित्त होता है, उस निमित्त का क्या स्वरूप है, ऐसा बताते हैं। इसकी थोड़ी सूक्ष्म बात है।

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गल-दव्वं ववहार-णयस्स वत्तव्वं।।१०७।।

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्गलदरव को आतमा-व्यवहारनयवक्तव्य है।।१०७।।

टीका :- **यह आत्मा वास्तव में,....** यथार्थरूप से, **व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण....** क्या कहते हैं? कर्म जो है, बँधता है कर्म, वह अवस्था और आत्मा व्यापक, इसका अभाव है। यह भाषा ऐसी। व्याप्यव्यापकभाव का अभाव अर्थात् कर्म जो बँधता है, जड़परमाणु, उसकी पर्याय व्याप्य है और वे परमाणु उसमें व्यापक-कर्ता हैं। आत्मा को उसके साथ व्याप्यव्यापक का अभाव है। अर्थात्? कि कर्मबन्धन की जो पर्याय है, वह आत्मा ने की और आत्मा उसका कर्ता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह तो अन्दर की बात लेते हैं। जैसा भाव करता हो, वैसी वहाँ कर्म की प्रकृति बँधे, तथापि वह प्रकृति परमाणु अपने कारण से बँधते हैं, उसके कारण से नहीं। आहाहा!

वास्तव में व्याप्यव्यापकभाव के अभाव.... व्याप्य अर्थात् अवस्था, परिणाम, व्यापक अर्थात् कर्ता, परिणामी। ऐसे भाव के अभाव के कारण। क्या कहते हैं? यह तो अध्यात्म सिद्धान्त है कि कर्म जो बँधते हैं, वह परमाणु की प्रदेश—संख्या, उसमें स्थिति, अनुभाग और प्रकृति। प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग, शास्त्र में ऐसा आता

है न कि योग के कारण प्रकृति (और) प्रदेश (तथा) कषाय के कारण स्थिति और अनुभाग, ऐसा शास्त्र में आता है। कहते हैं कि वह निमित्त से कथन है, वह सामनेवाले के योग के कारण प्रदेश प्रकृति (बन्ध) होता है उसे, कषाय के कारण स्थिति और अनुभाग उसमें है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है थोड़ी।

व्याप्यव्यापकभाव का अभाव, अर्थात् कर्म की अवस्था हुई, वह परिणाम है और आत्मा उसका परिणामी है; वह अवस्था हुई, वह व्याप्य-कार्य है, आत्मा उसका कर्ता है, इसका अभाव है। समझ में आया? आहाहा! जो अन्दर जितना कम्पन-योग है और कषायभाव है, वहाँ सामने प्रकृति, प्रदेश, (स्थिति) अनुभाग पड़ता है, वह उसके कारण से है, आत्मा उसका कर्ता है और वह उसका कार्य है, ऐसा है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म है, हसुभाई! यह तो अभ्यास करे तो पकड़ में आये ऐसा है। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म! यह तो कर्म आत्मा करे, आत्मा कर्म करे और आत्मा भोगे। कहते हैं कि यह बात खोटी है। कर्म, कर्म से पुद्गल है न वह? पुद्गल है, वह स्वयं से वहाँ बँधता है, अपने से वहाँ स्थिति पड़ती है, प्रदेश की संख्या भी स्वयं के कारण से होती है और प्रकृति का स्वभाव भी उसके कारण से वहाँ होता है। आहाहा!

इसलिए व्याप्यव्यापकभाव के अभाव के कारण, अर्थात् कार्य और कारण के अभाव के कारण। वास्तव में वह परमाणु की पर्याय, कर्म बँधते हैं, वह व्याप्य है, और आत्मा व्यापक है—ऐसा तो नहीं, वह पर्याय कार्य है और आत्मा कर्ता है—ऐसा तो नहीं, वह पर्याय परिणाम है और आत्मा परिणामी है—ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : व्याप्यव्यापक हमारी बोली में आता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा! ऐसा कहाँ परन्तु तुम्हारे पाप के सब थोथा, ऐ हसुभाई! करोड़ों के व्यापार में ऐसा फँस गया अन्दर मजदूर बड़ा।

मुमुक्षु : आप भले मजदूर कहो परन्तु हम तो सेठ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ है। सेठ बेठ और हेठ। एक बार कहा था। जेठमलजी थे न, जेठमलजी लींबड़ी सम्प्रदाय के साधु। एक बार चूड़ा में गये होंगे, इसलिए जरा वे भाई थे वृद्ध, कैसे? रायचन्द दोशी या नहीं, कैसे दोशी? रायचन्द दोशी नहीं, दूसरे थे।

नाम भूल गये, यह नारणभाई के ससुर के पिता, नाम भूल गये, बहुत होशियार व्यक्ति था, बहुत अधिक वृद्ध अवस्था, तो जेठमलजी आये तो कोई खड़े नहीं हुए, इसलिए कहे,.... खड़े तो होओ, फिर यह कहे कि 'जेठी बैठ न हेठी' खड़े होने का हमको क्या कहोगे? यह क्या भूल गये नाम, रायचन्द दोशी तो दूसरे का नाम, भाई याद नहीं आवे परन्तु नारायणभाई के समधी थे। नारायणभाई अपने। नारायणभाई ने दीक्षा ली थी और उसके ससुर के पिता होते हैं, विरमगाम। यह तो बहुत वर्ष की बातें हैं। ७५ वर्ष। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि जो कुछ, आहाहा! यहाँ जैसा राग करे और योग का कम्पन है, उतने प्रमाण में वहाँ कर्म की प्रकृति, स्थिति और अनुभाग बँधता है तो भी वह कर्म की प्रकृति और अनुभाग, स्थिति का आत्मा कर्ता नहीं है। समझ में आया? तो भी यह तुम्हारे बाहर के कामों का कर्ता आत्मा तीन काल में है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : निश्चय से नहीं, व्यवहार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से यह कल्पनामात्र से बोलने के लिये है। व्यवहार कल्पनामात्र है। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक व्यवहार।

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक व्यवहार भी खोटा सब। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। आत्मा को कर्म परमाणु के साथ परिणामी-परिणाम सम्बन्ध नहीं है अथवा कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। जब वहाँ अन्दर जैसा योग और कषाय हो, राग (हो), वैसा वहाँ स्थिति, रस और प्रकृति, प्रदेश (बन्ध) हो तो भी उस परमाणु की पर्याय का आत्मा कर्ता नहीं है। तो यह और बाहर के काम में सब तुम्हारे, यह पैसा लेना-देना, यह ऐसा किया और ऐसे माल लिया, यह दिया, यह सब क्रिया आत्मा नहीं कर सकता—ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह क्रिया जो होती है बाहर की, परपदार्थ की, उसमें वह व्याप्य है और आत्मा व्यापक है, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह हाथ हिलता है, देखो! यह हाथ हिलता है, वह उसके परमाणु की पर्याय के कारण क्रियावतीशक्ति से ऐसे हिलता है। आत्मा उस पर्याय का व्याप्य और व्यापक,

ऐसा नहीं है। वह अवस्था व्याप्य अर्थात् कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा तीन काल में नहीं है। अरेरे! ऐसी बातें अब। कहो, समझ में आया? परन्तु पर के साथ सम्बन्ध क्या है? जब प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। आहाहा! यह कर्म के यहाँ तो अन्तर के जैसे योग और कषाय जीव में हों, यहाँ अज्ञानी की बात है, उतने प्रमाण में सामने प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग पड़ता है, तथापि वह स्थिति, प्रकृति, प्रदेश और अनुभाग का आत्मा कर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : कर्म बँधे तो कहा तो ऐसा ही जाता है न कि आत्मा ने कर्म बाँधे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब, इसके लिये तो कहते हैं कि यह तो निमित्त का कथन व्यवहार है, कल्पना का व्यवहार है, विकल्प। आहाहा!

यह घट का उसमें कहा है न—टीका में? घट, कुम्हार जैसे घट करता नहीं, घट का कार्य मिट्टी से होता है, इसलिए कार्य घट का और कर्ता कुम्हार, इसका अभाव है। व्याप्य-व्यापक अर्थात् कार्य-कारण का उसके साथ अभाव है। घड़ा कुम्हार करता ही नहीं, परन्तु घड़ा अपनी अवस्था से वहाँ मिट्टी में से हुआ है, परन्तु निमित्त कुम्हार है, इसलिए व्यवहार से—उपचार से कथन किया जाता है, कि कुम्हार ने यह घड़ा बनाया, बाकी वास्तविक है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : किस कुम्हार ने घड़ा किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहे चाहे जो लोग, कि भाई! ऐसा होशियार कुम्हार था, इसलिए घड़ा हुआ। उसने किया नहीं कुछ, घड़ा की पर्याय की नहीं कुछ, मात्र साथ में निमित्त था, इसलिए व्यवहार से उसने किया—ऐसा कल्पना से, व्यवहार से, उपचार से कहने में आता है। व्यवहार से, उपचार से, आरोप से.... ऐसी बातें कठिन, भाई!

मुमुक्षु : यह मकान कारीगर ने नहीं बाँधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : इन रामजीभाई ने बाँधा है यह? प्रमुख थे तब ये। इस मकान के परमाणु, परमाणु की पर्याय इस प्रकार से उसकी परमाणु से हुई है। यह पर्याय है और उसका कर्ता वह परमाणु है परन्तु यह साथ में लोग हो कि यह वजुभाई थे और रामजीभाई थे, इस कार्य के करनेवाले, यह निमित्त से कथन है। बाकी वह यह मकान

बना, उसका कार्य आत्मा ने किया, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! इसमें तो बहुत....

देखो, **प्राप्य....** अब सिद्धान्त स्थापित करते हैं। यह तो बापू! बहुत सूक्ष्म। यह कर्म जो परमाणु हैं, उसमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव है परमाणु का और स्थिति है उसकी अवधि—अमुक काल रहे, उसके प्रदेश हैं परमाणु की संख्या। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग चार। वे चार पड़ते हैं, वह परमाणु में, उसमें वे परमाणु उन चार की अवस्था के वे कर्ता हैं। आहाहा! आत्मा उनका कर्ता नहीं। क्यों? कि 'प्राप्य' कि उन परमाणुओं में जिस समय में वह अनुभाग—स्थिति पड़ती है, उस समय उनका कार्य उनमें था ही, उनका कार्य था, उसे वे परमाणु पहुँचते हैं। आहाहा! कुम्हार पहुँचता नहीं। रोटी होती है, वह रोटी के परमाणुओं का प्राप्य है। रोटी हुई न, वह प्राप्य कहलाता है, परमाणु—रोटी के परमाणु उसे प्राप्त करते हैं। बाई उसे—रोटी को प्राप्त करती है, यह बात बोलने में कथन है, वस्तु है नहीं।

मुमुक्षु : खराब रोटी बनावे तो किसे उलहाना देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे करे? कोई खराब नहीं, वह तो उसके कारण से हुई है। आहाहा!

प्राप्य... कर्म की अवस्था जिस समय में बँधती है, उस बन्ध की अवस्था, वह प्राप्य है, उस समय का वह कार्य है, उसे वे परमाणु—कर्म के परमाणु प्राप्त करते हैं; आत्मा नहीं। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! यह सब हीरा-माणेक और यह सब जो पूरे दिन करते हैं न? धन्धा ऐसा किया और ऐसा किया। पानी घुमावे। 'प्राप्य' यहाँ तो जैसा योग और कषाय हो, उस प्रकार से प्रकृति की स्थिति और अनुभाग और प्रदेश होते हैं तो भी उस-उस हुई कर्म की प्रकृति की पर्याय की स्थिति की पर्याय का आत्मा कर्ता नहीं है। आहाहा! कहो, पूरे दिन यह सब टाईल्स का धन्धा करे, पत्थर ऐसे करे और वैसे करे, वह तो अज्ञान है, माना हुआ है। ऐसी बात है, भाई!

'प्राप्य' यह शब्द ७६, ७७, ७८, ७९ (गाथा) में आया है यह, वह यहाँ १०७ में आया है यह, और यह शब्द प्रवचनसार में ५२ वीं गाथा में आया, ५२ में आ गया न? प्राप्य, विकार्य। आहाहा! मूल तो ऐसा कहना है कि अक्षर लिखते हैं न ऐसे अक्षर, वह

अक्षर की पर्याय है, वह व्याप्य है—कार्य है, उसका कर्ता वह परमाणु है। अक्षर पड़ा न अक्षर, 'वीतरागाय नमः' वह अक्षर पड़ा सामने, वह हुआ है, वह उसके परमाणुओं ने उसकी पर्याय की है। आहाहा! लिखनेवाला उसका कार्य करता है, ऐसा नहीं। अरे... अरे..! ऐसी बातें अब। यहाँ तो नजदीक में जैसा योग और कषाय हो, वैसे प्रमाण में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग होने पर भी उस पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। तो फिर यह दूर जो रही चीजें पूरी.... आहाहा! समझ में आया? प्राप्य अर्थात् उस समय में वह कार्य परमाणु के स्थिति, अनुभाग, प्रदेश और प्रकृति की अवस्था वहाँ होनेवाली थी ही वह, वह हुई है, हुई है, उसे परमाणु प्राप्त करते हैं; आत्मा नहीं। आहाहा!

विकार्य.... उन परमाणुओं में जो स्थिति आदि पड़ी, वह पूर्व की अवस्था बदलकर हुई, उसका नाम विकार्य, परन्तु वह उसकी पर्याय है, कर्म की पर्याय, जड़ की है।

निर्वर्त्य.... वह कर्म की पर्याय उत्पन्न हुई। पहले ध्रुवरूप से पर्याय है, उसे प्राप्त की, पश्चात् पूर्व की पर्याय बदलकर विकार्य हुआ और यह उत्पन्न हुई, इन तीनों का कर्ता वे परमाणु और पुद्गल है। आहाहा! ऐसा है, अब कठिन काम। बाह्य से लें तो सामने जीव है, उसका आयुष्य और शरीर, उसका प्राप्य है वहाँ, उसका उसे शरीर और आयुष्य की पर्याय को प्राप्य उसके परमाणु हैं। दूसरा ऐसा कहे कि मैंने उसकी दया पालन की, मिथ्यादृष्टि-मूढ है, ऐसा है। वीतरागमार्ग, भाई! जिनेश्वर का मार्ग कोई अलग प्रकार है, वह कहीं है नहीं इसके अतिरिक्त। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! आहाहा!

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य.... ओहोहो! यह शब्द जहाँ हो वहाँ स्वतन्त्रता के लिये डाले हैं। **ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक....** परमाणु जो बँधते हैं कर्म के, उन **(पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता....** आत्मा उसे ग्रहण नहीं करता। आहाहा! ऐसा कहा जाता है कि योग के कारण परमाणु ग्रहे, प्रकृति और प्रदेश। वह तो निमित्त के कथन व्यवहार के, उपचार का कथन है; वास्तविक है नहीं। आहाहा! जहाँ-तहाँ आता है न द्रव्यसंग्रह में सब आता है। योग से प्रकृति, प्रदेश पड़ता है, उसमें परमाणु की प्रकृति का स्वभाव होता है और उसके प्रदेश की संख्या होती है, वह योग

का निमित्त। उपादान तो उसका है, उसके कारण से वहाँ होता है, आत्मा के कारण से नहीं और कर्म में स्थिति पड़ती है सत्तर कोड़ाकोड़ी की या थोड़ी आदि, वह अवधि कर्म की स्थिति, उसका कर्ता, उसकी स्थिति का, उसके परमाणु हैं; आत्मा में यहाँ कषाय हुआ, इसलिए उसमें स्थिति पड़ी, ऐसा नहीं है। अरे! अरे! अनुभाग। कर्म का अनुभाग—फल, वह भी वहाँ उसकी योग्यता से वहाँ प्राप्य है। आहाहा!

जहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध अत्यन्त नजदीक का है, उसमें भी वह उसका कर्ता नहीं, तो फिर यह दूसरे सब कार्य बाह्य के हिलने के, चलने के, बोलने के, उन कार्यों का आत्मा कर्ता है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जीव राग करे तो वहाँ उसी प्रकार का कर्म बँधता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, कहा वहाँ ऐसे प्रमाण में होता है, तथापि उसका कर्ता वह स्वतन्त्र द्रव्य है। यह तो कहा वहाँ। योग और कषाय से, योग से प्रकृति-प्रदेश, कषाय से स्थिति-अनुभाग, ऐसे शब्द शास्त्र में आते हैं, परन्तु यह तो कहते हैं कि निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार से कथन किया है। वास्तविक उसमें कर्म में स्थितिबन्ध पड़े या प्रदेश की संख्या बढ़े या प्रकृति हो, वहाँ स्वभाव, उसका कर्ता आत्मा नहीं है। कहो, देवीलालजी! आहाहा!

प्राप्य अर्थात् है पर्याय होने की, होने के काल में वह उसे प्राप्य, वे परमाणु पहुँचते हैं, 'विकार्य' पूर्व की अवस्था बदलकर हुआ, इसलिए विकार्य उसमें वे उसके परमाणु बदलते हैं। निर्वर्त्य—उपजना, ये तीनों एक ही पर्याय के बोल हैं। **ऐसे पुद्गलद्रव्यस्वरूप....** पुद्गलजड़द्रव्यस्वरूप **कर्म को ग्रहण नहीं करता....** ऐसे कर्म को आत्मा ग्रहण नहीं करता। प्रदेश को ग्रहण नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? **परिणमित नहीं करता...** आहाहा! उसके अनुभाग को वह करता नहीं। **उत्पन्न नहीं करता....** उस पर्याय को वह आत्मा उत्पन्न नहीं करता अर्थात् कि **न उसे करता है, न बाँधता है...** आहाहा! अनुभाग बन्ध हो, उसे वह (आत्मा) बाँधता नहीं। आहाहा!

एक रुपया है न? यह रुपया दिया तो ऐसे। अब कहते हैं कि उस रुपये के परमाणु की जो दशा, उस समय ऐसे जाने की अवस्था, वह उसका प्राप्य है और यहाँ

वह आ गया अर्थात् था, विकार्य दशा हुई, पलटना; और उस समय वह उत्पन्न हुई। वह पैसा-नोट दी और गयी, ऐसी उसकी पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है, परन्तु यहाँ उसे (नोट) दिया, इसलिए गया, ऐसा नहीं है। ऐसा है, कहो रमणीकभाई! बुजुर्ग ने यह सुना नहीं था वहाँ तुम्हारे—आहाहा! ऐसा मार्ग।

देखो, अँगुली है न यह, ऐसे हुई, अब यह हुई उसकी पर्याय वह ऐसी होने की थी, वह हुई है, उसे परमाणु पहुँचते हैं, वह प्राप्य कहलाता है और ऐसे थी और ऐसे हुई, वह बदली, इसलिए विकार्य कहलाता है और हुई है, वही उत्पन्न हुई है, वह निपजी है, वह उसके कारण से। वह आत्मा के कारण से या आत्मा ने उसे—अँगुली को हिलाया, (ऐसा) तीन काल—तीन लोक में नहीं।

मुमुक्षु : मुर्दा उसकी अँगुली हिलावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुर्दे के परमाणु अन्दर उसकी पर्याय से परिणमते हैं। आहाहा! ऐसा है। बहुत संक्षिप्त डाला। पुद्गलद्रव्यकर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमाता नहीं, परमाणु की पर्याय पलटाकर परिणमाता नहीं, उपजाता नहीं, करता नहीं, बाँधता नहीं।

व्याप्यव्यापक भाव का अभाव होने पर भी... आत्मा उस कर्म की पर्याय में कार्यकारण का अभाव होने पर भी, कर्ताकर्म का अभाव होने पर भी **प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है,....** यह सब व्यवहार कहने में आता है। उपचार है, वास्तविक स्वरूप है नहीं। आहाहा!

यह रोटी है, रोटी, इसका टुकड़ा होकर ऐसे मुँह में आवे, तो कहते हैं कि उस रोटी के परमाणु जो हैं, उनका टुकड़ा हुआ न, टुकड़ा, यहाँ उस समय वह प्राप्य वह अवस्था होनेवाली थी, टुकड़ा रोटी का होनेवाला था, वह प्राप्य। उसे वे परमाणु—रोटी के परमाणु प्राप्य करते हैं। आहाहा! और यहाँ से ऐसे आया, वह पर्याय बदली, वह भी परमाणु ने बदलायी है, हाथ ने नहीं। और उसमें उत्पन्न हुई है, वह परमाणु की अवस्था यहाँ टुकड़ा होने की, वह परमाणु ने उत्पन्न की है, हाथ ने नहीं, दाढ़ ने नहीं, मुख ने नहीं। अरे! ऐसा बैठना कठिन पड़े। मार्ग ऐसा है, बापू! भगवान है, उन तीर्थंकर ने तो अनन्त द्रव्य देखे हैं। भगवान त्रिकाल सर्वज्ञ है, परमेश्वर है, जिनेश्वर है, उन्होंने तो एक

समय में तीन काल-तीन लोक देखे हैं। तो तीन काल के देखनेवालों ने यह उन्होंने देखा कि जगत के परपदार्थ के जो कार्य होते हैं, वे उनसे होते हैं। दूसरा ऐसा कहे कि मुझसे हुआ, वह तो व्यवहार का कथन, उपचार का कथन है; वास्तविक है नहीं। आहाहा!

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है,.... देखो! **परिणमित करता है....** अनुभाग आया। **उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है....** ऐसे पाँच बोल हैं। **ऐसा जो विकल्प...** वास्तव में तो इन चार में करता है, ऐसा लेना। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग चार को करता है, इसलिए वे पाँच बोल हो गये। समझ में आया? आहाहा! बाँधे, ऐसा जो विकल्प है, अज्ञानी का ऐसा जो विकल्प है कि इस परमाणु की पर्याय में मैं हूँ, वे हुए, मैं निमित्त हूँ न? योग, कषाय मेरा निमित्त है न, इसलिए वहाँ हुआ। यह बात तो अज्ञानी की है। ज्ञानी को तो आत्मस्वरूप का भान है कि मैं तो ज्ञातादृष्टा हूँ, इसलिए उसके परिणाम बन्ध में निमित्त हो, यह नहीं है। उसे बन्ध ही नहीं है। आहाहा!

धर्मी, जिसे आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, शुद्ध चैतन्य भगवान है, ऐसा जहाँ भान हुआ है धर्मी को, उस धर्मी के परिणाम वीतरागी परिणाम होते हैं कि जिससे उससे बन्धन हो, और निमित्त हो, ऐसा नहीं है। हाँ! धर्मी जीव को आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा शुद्ध चैतन्य अखण्ड अभेद हूँ, ऐसा भान है, उसे उस समय राग हो और प्रकृति भी थोड़ी बँधे, परन्तु तो भी वह राग और प्रकृति, वे उसके ज्ञान में निमित्त हैं, ज्ञान तो स्वयं से हुआ है। सम्यग्दर्शन में ज्ञान स्वयं से—आत्मा से हुआ है, तथापि वह ज्ञान उपादान स्वयं से हुआ, तो भी यह जो प्रकृति और प्रदेश और राग आदि है, वे ज्ञान में निमित्त कहलाते हैं, इस प्रकृति-प्रदेश में आत्मा निमित्त है, यह नहीं। ज्ञानी का आत्मा निमित्त है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अज्ञानी का आत्मा जो योग और राग को करता है अज्ञानी, उसे जो प्रकृति की स्थिति पड़ती है, उसमें वह योग और राग निमित्त है, परन्तु वह निमित्त से कहा कि इस योग और राग के कारण वह पड़ता है, यह व्यवहार है। आहाहा! इसमें निवृत्ति ले न, निवृत्ति ले तब हो ऐसा है, ऐसे का ऐसा यह कहीं.... वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म।

इरिया, विरिया में आता है न ? इच्छामि पडिक्कमणा में, ठाणा उठाणम् जीविया उवरोविया तस्समिच्छामि दुक्कडम्, यह आता है ? यह कहाँ अर्थ की खबर—भान है ? कहते हैं, पहाड़ा बोल जाये न। किसी जीव को या किसी को एक स्थान से दूसरे स्थान में रखा हो तो यहाँ कहते हैं कि वह एक स्थान से दूसरे स्थान में तू रख सकता ही नहीं। आहाहा! उस जीव को एक स्थान से दूसरे स्थान में जाये, वह जीव की पर्याय है, उस जाति की उसके कारण, ऐसे अन्यत्र गया है, वह यहाँ से जीव को ऐसे धकेला, इसलिए आगे गया है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : सम्हालकर लेना और रखना, ऐसा पाठ तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो निमित्त के कथन हैं। कौन सम्हाले और कौन ले ? वह तो यत्न रखने का भाव आया बाकी....

मुमुक्षु : सामने से तो यह कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र में ऐसा पाठ आता है, नीचे जीव हों तो पैर को ऊँचा करना। पैर ऊँचा कर सकता है आत्मा ? कर नहीं सकता, भाई! यहाँ तो मात्र वहाँ प्रमाद न हो, इतना बतलाने के लिये बात की है। बहुत कठिन काम, बापू! अभी के सम्प्रदाय से तो पूरी बात अलग है। आहाहा! वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म। आहाहा!

यहाँ तो, यहाँ योग और राग हो, उसके प्रमाण में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग पड़े, तथापि उस अनुभाग कर्म की स्थिति, अनुभाग का प्राप्य कर्म वह आत्मा का नहीं है, वह कर्म का है। आहाहा! तथापि निमित्त देखकर कहना कि इसकी स्थिति को इसको मैंने किया, वह तो उपचार—व्यवहार-आरोप है। आरोपित कथन है, यथार्थ कथन नहीं। आहाहा!

ऐसा जो विकल्प वह वास्तव में उपचार है... उपचार अर्थात् यह दवा करे और उपचार करे, वह होगा ? कैसे दवा करता है, तब नहीं उपचार करता ? ऐसा नहीं, यहाँ उपचार अर्थात् व्यवहार, कल्पना। है नहीं, उसे कहना, कल्पना है। आहाहा! बड़े उद्योगपति होते हैं, यह धन्धा करे। पोपटभाई के बापू के पास कहाँ था ऐसा सब ऐसा ? अभी सब हो गया, करोड़ों रुपये हैं। यह ध्यान रखकर प्राप्त नहीं किया होगा ? व्यापार।

आहाहा! वे परमाणु जिस जगह जानेवाले हों, उसके कार्य का कर्ता वे परमाणु हैं। अरे... अरे! जड़ उसका प्राप्य है। उस काल में वह ऐसा जाने का जो प्राप्य कार्य था, उसे परमाणु पहुँचते हैं। वह कहे कि मैंने ऐसे इसमें दिये, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा! ऐसा है। इसलिए एक गाथा का बहुत उपचार कर दिया। प्राप्य, विकार, निर्वर्त्य डाला। ७६, ७७, ७८, ७९ में। आहाहा!

उस समय में कर्म में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, परिस्थिति प्रवर्तने का काल ही है उसका। आहाहा! उसका जन्मक्षण ही वह है। आहाहा! जो वह कर्म की पर्याय उत्पन्न हुई, वह उत्पन्न होने का उसका जन्मक्षण है। आत्मा ने उसे—कर्म की पर्याय को उपजाया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ तो पूरे दिन मुम्बई देखो तो, ओहोहो! धमाल... धमाल... धमाल... पूरे दिन मोहमयी नगरी। यह किया और यह किया। उस सट्टेवाले को एक बार देखा था, भाई! शेयर बाजार नहीं वह। समुद्र के किनारे सट्टा का करते न? कोलाबा, कोलाबा एक बार देखा था। मैं वह माल लेने गया न हमारी दुकान का, पालेज से माल लेने गया था। उसमें एक मारवाड़ी था। धमाल... धमाल करता। वह उसका यह भाव है, इसका यह भाव है। ऐसा करो, पागल-पागल लगे। परन्तु यह बात तो ६८ के पहले की बात है। संवत् १९६८ के पहले की यह सब बात है। कोलाबा था न और वहाँ लंदन से तार आता था, फिर उसके ऊपर से यह लेन-देन करे। ऐसा काम था, उस दिन की बात है। परन्तु एक मारवाड़ी था, यह वह भी ऐसे तुम्हारे ढींचको था। यह करो, ऐसा करो, वैसा करो, क्या करता है कहा ऐसा। यह सब पागल, लिया-दिया बहुत करे।

यह भाषा होती है, उसे आत्मा नहीं करता, ऐसा कहते हैं। यह भाषा होती है, उसे परमाणु पहुँचते हैं, उसके प्राप्य को। आहाहा! यह आत्मा भाषा करता है, ऐसा कहना वह तो उपचार और विकल्प का कल्पना का कथन है, वास्तविक है नहीं। आहाहा! बहुत डाला है इसमें तो, यह क्योंकि यहाँ जैसा योग और राग का कर्ता अज्ञानी है, इससे उसे कर्मबन्धन होता है, वह कर्मबन्धन और स्थिति के जो प्रकृति प्रदेश हैं, उसका कार्य तो उसका उसने किया है, तथापि इस आत्मा ने किया—ऐसा कहना वह व्यवहार और उपचार है। वास्तव में तो कल्पना है। आहाहा!

देखो, यह चश्मा है न? ऐसा हुआ, वह यहाँ होने का उसका प्राप्य अवस्था होने की थी, इसलिए यहाँ ऊँचा आकर वह स्वयं हुआ है, वह उसका प्राप्य है।

मुमुक्षु : चश्मा ऊँचा अँगुली से हुआ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अँगुली से हुआ नहीं। आहाहा! उसका प्राप्य ही उस समय वह था और स्वयं यहाँ बदलकर यहाँ आया, वह विकार्य भी उसका था; और उपजा, निर्वर्त्य, वह उसका था। उसके कार्य को आत्मा ने या अँगुली ने किया, यह निमित्त के कल्पना के कथन हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह कल्पना अवस्तु है या वस्तु है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कल्पना है, कल्पना मिथ्यात्व की कल्पना है। परन्तु मिथ्यात्व की कल्पना जो प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य उसका है। आहाहा! वह कल्पना पर के लिये कहना, वह उपचार है, ऐसा कहना है। वह पर प्रकृति और स्थिति, अनुभाग पड़े, उसे आत्मा ने किया, ऐसा कहना उपचार है, परन्तु स्वयं राग-द्वेष और योग को किया, वह तो यथार्थ है, अज्ञानभाव से, अज्ञानभाव से अशुद्ध उपादान को किया, वह अज्ञानभाव से बराबर है। सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म!

१०७वीं गाथा का (न्याय) भाई ने पहले थे फूलचन्दजी, जैनतत्त्व मीमांसा। यहाँ आये थे। ऐसा कहे, दूसरे के कार्य तो स्वतन्त्र उससे होते हैं परन्तु साथवाला है, उससे होते हैं, ऐसा कहना, वह कल्पना और उपचार है। इस गाथा का न्याय दिया था। नयी तत्त्व मीमांसा में कि पुराने में भी होगा, खबर नहीं। आहाहा! कार्य इस पुस्तक का पृष्ठ फिरता है और ऐसा किया न, उघाड़ा है, वह कार्य हुआ है, वह परमाणु के कारण से। इस अँगुली के कारण से नहीं। उसकी उस समय ऐसा होने का प्राप्य अवस्था होने की थी, उसे परमाणु पहुँचते हैं। ऐसी थी और बदलकर विकार्य हुआ और निर्वर्त्य उसके परमाणु ने वह कार्य किया है। इस अँगुली से ऐसा हुआ, ऐसा कहना, वह कल्पना का-उपचार का-व्यवहार का कथन है। आहाहा! तो यह सब पूरे दिन धन्धा करे, लड़कों से अनुभव कराकर करे, कैसे स्वयं बहुत ५०-६० वर्ष काम किया हो, लड़के छोटे हों तो उन्हें अनुभव दे न कि देखो! ऐसा करना, तुम्हारे ऐसा करना, ऐसा। आहाहा! सब गप्प है, कहते हैं। आहाहा!

वीतरागमार्ग परमेश्वर, जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है। अभी तो सम्प्रदाय में भी गड़बड़ उठी है। इसकी ऐसे दया पालो और गौशाला करो और पैसा यहाँ दो और इन सब क्रियाओं का कर्ता मानता है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! क्योंकि उस क्रिया की अवस्था उस काल में उसके परमाणु में होनेवाली थी, वह हुई है। उसे आत्मा ने किया, पैसे दिये-लिये, यह सब कल्पना का उपचार, व्यवहार है। सच्ची बात नहीं है। ओहोहो! रायचन्दभाई! इन रायचन्दभाई ने तो अभी दो लाख दिये, नहीं? नैरोबी, पन्द्रह लाख का मन्दिर हुआ न, नैरोबी-अफ्रीका, नैरोबी। दो हजार वर्ष में दिगम्बर जैन (मन्दिर) वहाँ नहीं था। ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को मुहूर्त किया, पन्द्रह लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं। वैसे तो अभी अधिक होगा, बीस लाख। दो लाख और दो हजार इन्होंने दिये हैं। इन्हें पुत्र नहीं और पति-पत्नी दो हैं और माँ है, ये तीन हैं, इसलिए फिर पैसा.... दो लाख दो हजार का मन्दिर में खातमुहूर्त किया अफ्रीका-नैरोबी में। कहते हैं कि, परन्तु वह पैसे मैंने दिये, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! परन्तु दे कौन और ले कौन? वे जानेवाले हों वे जाते हैं, वे गये बिना रहते ही नहीं। अपने कहावत नहीं यहाँ गुजराती में? दाने-दाने पर खानेवाले का नाम है, ऐसा कहते हैं अपने गुजराती में। दाने-दाने में वहाँ खानेवाले का नाम है? परन्तु जो परमाणु वहाँ आनेवाले हैं, वे आनेवाले हैं और नहीं आनेवाले, वे नहीं आनेवाले हैं। आहाहा! ऐसा है। यह तो दृष्टान्त है। ढाई रुपये का मण तो चार पैसे सेर। फिर दृष्टान्त उसके लेने हों तो पन्द्रह सेर का कितना तो पन्द्रह आना। यह सब दृष्टान्त लिये जाते हैं। वस्तुस्थिति यह है, किसी भी पदार्थ की अवस्था उस काल में उसे जन्मक्षण हो, वह हो, उसे आत्मा करे यह बात अत्यन्त खोटी है। ऐसा बोला जाता है व्यवहार से कि इसने किया। वह कल्पना और उपचार से कथन है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री ने बिगाड़ा हो काम और नुकसान हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नुकसान हो तो भी वह पर्याय होनेवाली थी ऐसी। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग! प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है। परमाणु में पर्याय उत्पन्न होने का काल है, इसलिए वहाँ प्रकृति कर्म की होती है। आहाहा! यहाँ इसने राग किया, इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं है। राग तो निमित्तमात्र से, उपचार से कथन है। आहाहा!

भावार्थ :- व्याप्यव्यापकभाव के बिना.... अर्थात् कि कर्ताकर्म बिना, **कर्तृकर्मत्व कहना...** ऐसा, कर्ताकर्म बिना, आत्मा कर्ता नहीं और वह उसका कार्य नहीं, इसके बिना **कर्तृकर्मत्व कहना, सो उपचार है,....** आहाहा! थोड़े शब्दों में बहुत भर दिया है। यह तो पूरे दिन हम करते हैं और हम करते हैं। आहाहा! **इसलिए आत्मा पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करता है...** योग से ग्रहण करता है, यह उपचार है। कषाय से स्थिति-रस पड़ता है, यह उपचार है, व्यवहार। परिणमाता है उसे, और कर्मपने की अवस्थारूप से **परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, इत्यादि कहना सो उपचारमात्र है।** आहाहा!

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है? इसका कोई दृष्टान्त दो तो हमको समझ में आये, ऐसा कहता है।

गाथा-१०८

कथमिति चेत् -

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः।।१०८।।

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्य-व्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः, तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः।।१०८।।

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:-

गुणदोषउत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्ता, जीव कहा व्यवहार से।।१०८।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [राजा] राजा को [दोषगुणोत्पादकः इति] प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहार से [आलपितः] कहा है, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव को [द्रव्यगुणोत्पादक] पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुण को उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहार से [भणितः] कहा गया है।

टीका : जैसे प्रजा के गुण-दोषों में और प्रजा में व्याप्यव्यापकभाव होने से स्व-भाव से ही (प्रजा के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी-यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, तथापि यह उपचार से कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है'; इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों में और पुद्गलद्रव्य में व्याप्यव्यापकभाव होने से स्व-भाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी-यद्यपि उन गुण-दोषों में

और जीव में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है तथापि–'उनका उत्पादक जीव है', ऐसा उपचार किया जाता है।

भावार्थ : जगत् में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा।' इस कहावत से प्रजा के गुण–दोषों को उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है। इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण–दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है। परमार्थदृष्टि से देखा जाय तो यह यथार्थ नहीं, किन्तु उपचार है।।१०८।।

गाथा-१०८ पर प्रवचन

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो।।१०८।।

गुणदोषउत्पादक कहा ज्यों भूप को व्यवहार से।
त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्ता, जीव कहा व्यवहार से।।१०८।।

गुण शब्द से यहाँ पर्याय है।

टीका :- जैसे प्रजा के गुणदोषों में.... ऐसा नहीं कहते? कि जैसा राजा वैसी प्रजा, ऐसा बोलते हैं।

मुमुक्षु : यथा राजा तथा प्रजा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कथनमात्र है। राजा महापापी हो और वह अन्दर (प्रजा) धर्मी हो। उसमें क्या हो? यह तो कथनमात्र है, ऐसा कहा। राजा जैसा होता है, वैसा उसका असर प्रजा में पड़ता है, (जैसा) राजा ऐसी प्रजा, यह निमित्त का कथन है। बाकी राजा, वह प्रजा, राजा की पर्याय दूसरी और उसकी—प्रजा की पर्याय दूसरी है। आहाहा! है?

प्रजा के गुणदोषों में और प्रजा में व्याप्यव्यापकभाव होने से.... क्या कहा? कि प्रजा जो है, वह दोष करती है, उसमें व्याप्य उसका है और व्यापक वह कर्ता है, उसका प्रजा, प्रजा जो दोष करती है, वह दोष उसका व्याप्य अर्थात् कार्य है और उसका कर्ता वह अज्ञानी आत्मा है। **व्याप्यव्यापकभाव होने से स्वभाव से ही (प्रजा के अपने भाव**

से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी.... वह प्रजा के अपने भाव से, पर्याय — निर्मल पर्याय या दोष, दोनों की उत्पत्ति होने से, आहाहा! **यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है....** प्रजा के गुण की दशा और अवगुण की दशा उसे और राजा को अभाव है। राजा के कारण कोई प्रजा गुण-दोष नहीं करती। आहाहा! है? राजा को अभाव है। क्या कहा यह? कि जैसा राजा वैसी प्रजा—ऐसा जो कहने में आवे और प्रजा के गुण-दोष राजा है, इसलिए हुए हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा! राजा (के) नरक में जानेवाले के परिणाम हों, प्रजा मोक्ष जानेवाले की पर्यायवाली हो। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। यह तो दृष्टान्त, राजा वैसी प्रजा, यह व्यवहार किया ऐसा, व्यवहार से बोला जाता है ऐसा। वास्तविक ऐसा है नहीं। उसका प्रजा के भाव से गुण-दोष की उत्पत्ति होने से, प्रजा के भाव से गुण और अवगुण की उत्पत्ति प्रजा के भाव से है, कहीं राजा के कारण से नहीं। **यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है....** प्रजा के गुण-दोष की पर्याय को और राजा को व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, इसलिए कार्य और कर्ता का अभाव है। गुण-दोष का कार्य राजा से हुआ, ऐसा नहीं, **तथापि यह उपचार से कहा जाता है कि उनका उत्पादक राजा है....** देखा? निमित्त देखकर उपचार किया जाता है। जैसा राजा वैसी प्रजा। आहाहा!

मुमुक्षु : बाप वैसा बेटा।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाप वैसा बेटा, यह सब खोटी बात। बाप हो नरक में जानेवाला हो; पुत्र मोक्ष में जानेवाला हो। बाप हो मोक्ष में जानेवाला हो और पुत्र नरक में जानेवाला हो। आहाहा! उसका बाप हो, वैसा बेटा हो, सब बातें यह तो। आहाहा! तीव्र क्रोध, मान, कषाय सेवन किये हों तो वह मरकर उसका बाप हो, वह पशु में जाये और पुत्र राग मन्द आदि किया हो तो पुण्य हो तो कोई स्वर्ग में जाये, मनुष्य में जाये। उसके साथ क्या सम्बन्ध है? यह स्त्री मरकर पशु हो और पति मरकर स्वर्ग में जाये, उसमें क्या है? स्त्री मरकर स्वर्ग में जाये, पति मरकर नरक में जाये। जिसे अर्धांगना कहे, वह अर्धांगना। धूल भी नहीं अर्धांगना, सुन न! मेरा आधा अंग और तेरा आधा

अंग, ऐसा होकर हम दोनों एक हैं। आहाहा! मार डाला! पर को अपना मानकर (मार डाला) कहते हैं। आहाहा!

वह कहा था न एक बार? बहुत वर्ष की बात है। ८६ के वर्ष में चातुर्मास था न अमरेली। अमरेली—लीलाधरभाई! तुम्हारे मकान के साथ उपाश्रय है न? वहाँ चातुर्मास था (संवत्) १९८६ में। इनके पिता उस समय वहाँ थे। फिर वहाँ अमरेली। क्या कहना था? वहाँ रहते वहाँ उनका कार्य होता था कुछ, चाहे जो, तो भी वह कार्य हम करते हैं, ऐसा मानते कि भाई! यह कुछ करते हैं, हों! मकान में पानी-बानी डालते, नया मकान था न वहाँ। कौन करे? करनेवाला दूसरा और जाननेवाला दूसरा। कहना था कुछ दूसरा। ना, ना करते थे वहाँ, यह तो बात कह दी। आहाहा!

पर की पर्याय को मैं करता हूँ, ऐसा कथन है वह उपचार है, आरोपित है। परद्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होती है, उस समय में वहाँ होनेवाली है। आहाहा! वह उसके कारण से, उसके द्रव्य से होनेवाली है, दूसरे से नहीं। आहाहा! उत्पत्ति होने पर, **यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, तथापि उपचार से कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है'...** आहाहा!

स्व-भाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही).... आहाहा! क्या कहते हैं? जो कर्म बँधते हैं, उसे अपने स्वभाव से **गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी...** आहाहा! कर्म के असाता आदि पड़े और साता आदि पड़े, यशकीर्ति पड़े और अपयशकीर्ति बँधे। आहाहा! उस कर्म की प्रकृति के गुण-दोषों को और आत्मा को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु इससे कर्ताकर्म है नहीं। आहाहा! यह अज्ञानी के कारण से, हों! अज्ञानी जो राग और योग का कर्ता होता है, उसे निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। कर्ता रूप से, हो! ज्ञानी निमित्त कहलाता है, परन्तु वह कर्ता नहीं। आहाहा! समकिती हो, व्यापार-धन्धा समकिती, वह बैठा हो पेढ़ी पर, वह यह लेना-देना हो उस क्रिया का कर्ता नहीं। वह तो जाननेवाला है। स्वयं अपने को जानने का काम करता है। उसमें वह निमित्त होता है। उस कार्य में निमित्त होता है, ऐसा नहीं। परन्तु वह अपने ज्ञान में वह निमित्त होता है अरे... अरे! अब ऐसी बातें! निमित्त होता है अर्थात् कि उससे होता है, ऐसा नहीं। ज्ञानी का काम ज्ञान तो अपना स्वपरप्रकाशक स्वयं पर्याय प्राप्त होकर स्वयं

की है। आहाहा! उसमें जो राग आया, उसका ज्ञान हुआ, प्रकृति बँधेगी, उसका ख्याल आया सुनने में, सुनकर प्रकृति का ज्ञान हो, उसका कर्ता तो नहीं, परन्तु राग और योग का भी ज्ञानी कर्ता नहीं। आहाहा!

पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को... पुद्गल के गुण-दोष अर्थात् क्या? पुद्गल को गुण-दोष होता है? परन्तु पुद्गल में साता आदि बँधे और असाता बँधे, वह गुण-दोष कहलाता है। यशकीर्ति बँधे, वह गुण कहलाता है; अपयशकीर्ति बँधे, वह दोष कहलाता है। आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति बँधे, वह गुण कहलाता है, आहाहा! और नरक का आयुष्य बँधे, उस परिणाम को दोष कहा जाता है। इस प्रकार उसको दोष कहा जाता है। परमाणु को दोष नहीं कहा जाता, कहते हैं। आहाहा! इसमें बहुत फेरफार करने का बहुत। **पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को....** पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को, है? **और पुद्गलद्रव्य को व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव...** होने से... आहाहा! यह परमाणु में यशकीर्ति बँधे, सातावेदनीय बँधे, तीर्थंकरप्रकृति बँधे, आहारकशरीर बँधे, प्रकृति में, हों! और अज्ञान से अपयशकीर्ति बँधे, नरकगति का आयुष्य बँधे, वह सब दोष कहलाते हैं, वे पुद्गल के दोष और गुण, वह पुद्गल करता है। अरे रे! समझ में आया इसमें? है?

पुद्गलद्रव्य के दोषों को और पुद्गल को व्याप्यव्यापकभाव होने से स्व-भाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने ही भाव से) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी... आहाहा! प्रकृति की, कर्म की वह पर्याय उस काल में प्राप्त होनेवाली है, उसे वह प्रकृति करती है, आत्मा नहीं। इस प्रकार **उत्पत्ति होने पर भी यद्यपि गुण-दोषों में और जीव में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है....** कर्म की प्रकृति के साता आदि बँधना या असातापना हुआ; यशकीर्ति, अपयशकीर्ति इत्यादि। ऐसे गुण-दोषों में और जीव में व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है, अर्थात् कि कर्ताकर्म का अभाव है, वह पर्याय कार्य और आत्मा कर्ता, ऐसा तो है नहीं। **तथापि उसका उत्पादक जीव है, ऐसा उपचार किया जाता है।** उपचार करने में, निमित्त का ज्ञान कराने को आरोप है। उपचार अर्थात् यह दया करे उपचार, वह है? यह दया करना, वह उपचार है। मिटना, न मिटना, वह उसकी पर्याय के आधार से है। उपचार कहते हैं न, कुछ उपचार करो, उपचार करो अर्थात् व्यवहार करो वहाँ तो होने का होगा वह होगा। वह कहीं दवा से वहाँ रोग मिट जाता

है ? आहाहा ! ऐसा काम बहुत कठिन लोगों को। ऐसा उपचार करने में आता है। आहाहा !

भावार्थ :- जगत में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। ऐसा बोला जाता है न ? वह तो उपचार का कथन है। कहाँ राजा और कहाँ प्रजा ? आहाहा ! राजा मुसलमान हो, माँस खाता हो; प्रजा आर्य मनुष्य हो और मदिरा-माँस को स्पर्श भी न करती हो प्रजा। परन्तु बाहर में निमित्त से ऐसी भाषा कही जाती है। **इस कहावत से प्रजा के गुण-दोषों का उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है।** वह कर्म के साथ मिलाना है। **इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को...** आहाहा ! यह प्रकृति में जो यशकीर्ति, अपयशकीर्ति आदि बँधते हैं, उनका **उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है।** आहाहा ! यह **परमार्थदृष्टि से देखने पर तो यह यथार्थ नहीं है,....** यह सत्य नहीं है। आहाहा !

शरीर की पर्याय मुम्बई से यहाँ आने की हुई, वह परमाणु की पर्याय है, उस पर्याय का कर्ता वह परमाणु है।

मुमुक्षु : प्लेन नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्लने-फ्लेन का कुछ नहीं, यह परमार्थ नहीं। कहा न यह सत्य नहीं। यह गाड़ी में आये या प्लेन में आये, यह सत्य नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा है। निमित्त का कथन है। **इसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है।** जैसे प्रजा के दोषों को राजा का कहा जाता है, इसी प्रकार कर्म में हुई पर्याय के गुण-अवगुण की दशा को आत्मा द्वारा किया जावे, यह परमार्थ दृष्टि से देखने पर सत्य नहीं है। वस्तु की स्थिति से देखने पर यह बात सच्ची नहीं है।

मुमुक्षु : शास्त्र में लिखा है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र-बास्त्र कौन लिखे ? शास्त्र में अक्षर की पर्याय होती है, उसका कर्ता वे अक्षर हैं। आहाहा ! वह प्राप्य उसका है। वे परमाणु उस समय और अक्षररूप से परिणमनेवाले थे, वे हुए हैं। आहाहा ! कलम से हुए नहीं, लिखने वाले ने किये नहीं। आहाहा ! छापनेवाले ने छापा नहीं। छापनेवाले ने राग किया है। इसे मैं छापता हूँ, ऐसा अभिमान करता है, ऐसा काम है। विशेष कहा जायेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

कलश–६३

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:–

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्र–रय–मोह–निवर्हणाय,
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गल–कर्म–कर्तृ।।६३।।

श्लोकार्थ : '[यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति] यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता [तर्हि] तो फिर [तत् कः कुरुते] उसे कौन करता है?' [इति अभिशंकया एव] ऐसी आशंका करके, [एतर्हि] अब [तीव्र–रय–मोह–निवर्हणाय] तीव्र वेगवाले मोह का (कर्तृकर्मत्व के अज्ञान का) नाश करने के लिए, यह कहते हैं कि– [पुद्गलकर्मकर्तृ संकीर्त्यते] 'पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है;' [शृणुत] इसलिए (हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों!) इसे सुनो।।६३।।

प्रवचन नं. २०९, श्लोक-६३, गाथा-१०९-११२, दिनांक ०२-०३-१९७९, शुक्रवार, फाल्गुन शुक्ल-४

श्री समयसार कलश ६३ –

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्र–रय–मोह–निवर्हणाय,
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गल–कर्म–कर्तृ।।६३।।

'यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति' शिष्य का प्रश्न है। समझने का इच्छुक है, इसलिए उसे सुन, ऐसा कहेंगे। **'शृणुत'** कहा न? **'शृणुत'** सुन! **पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता। यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता तो फिर उसे कौन करता है? 'इति अभिशंकया एव' ऐसी आशंका करके,....** आशंका अर्थात् शंका नहीं, परन्तु मुझे

समझ में नहीं आया-इसका नाम आशंका है। शंका अर्थात् तुम्हारा कहना खोटा है - ऐसी शंका, वह नहीं। आशंका कही है। हमें यह कैसे है, क्या है, यह समझ में नहीं आता। **ऐसी आशंका करके,... 'तीव्र-रय-मोह-निवर्हणाय' तीव्र वेगवाले मोह का (कर्तृकर्मत्व के अज्ञान का) नाश करने के लिए,...** आहाहा!

यह कहते हैं कि - 'पुद्गलकर्मकर्तृ संकीर्त्यते' पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है; 'शृणुत' शब्द आया है न इसमें, लो! **'वन्दितु'** में नहीं आया, **'वोच्छामि'** आया है। पहली गाथा। कहूँगा, यहाँ तो सुन, यह आया है। क्योंकि वस्तु है न? आत्मा, वह द्रव्य है, वह कर्ता नहीं - ऐसा सिद्ध करना है। द्रव्य तो शुद्ध है। आहा! वह कर्ता राग का या कर्म का, गुणस्थान का कर्ता वह है ही नहीं। आहाहा! जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व गया है, वह तो ठीक परन्तु मिथ्यात्व हो तो भी कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव है, उन मिथ्यात्वादि गुणस्थान कर्म को करता है, आत्मा नहीं। आहाहा! यह कहते हैं देखो!

'शृणुत' इसलिए (हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों!) इसे सुनो। आहा!

गाथा-१०९ से ११२

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।

एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

सामान्यप्रत्यया: खलु चत्वारो भण्यण्ते बन्धकर्तार:।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्या:।।१०९।।

तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्प:।
मिथ्यादृष्ट्यादि: यावत् सयोगिनश्चरमान्त:।।११०।।

एते अचेतना: खलु पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा।।१११।।

गुणसञ्ज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि।।११२।।

पुद्गलकर्मण: किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषा: मिथ्यात्वाविरति-कषाययोगा बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वार: कर्तार:, ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोग-केवल्यन्तास्त्रयोदशकर्तार:। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यन्तमचेतना: सन्तस्त्रयोदश कर्तार: केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किञ्चनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्रापतितम् ?

अथायं तर्कः – पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टि–र्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेकः, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावा–भावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोऽपि, कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम?

अथैतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वन्ति कर्माणि, ततः पुद्गलकर्मणाम–कर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारः। ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ।।१०९–११२।।

अब यह कहते हैं कि पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है:–

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बन्ध के कर्ता कहे।
–मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग कषाय ये ही जानने।।१०९।।

फिर उनहि का दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकार का।
–मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका।।११०।।

पुद्गलकरम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है।।१११।।

परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करे इन कर्म को।
तिससे अकर्ता जीव है, गुणस्थान करते कर्म को।।११२।।

गाथार्थ : [चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सामान्य प्रत्यय[१] [खलु] निश्चय से [बन्धकर्तारः] बन्ध के कर्ता [भण्यन्ते] कहे जाते हैं, वे– [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण [च] तथा [कषाययोगौ] कषाय और योग [बौद्धव्याः] जानना। [पुनः अपि च] और फिर [तेषां] उनका, [अयं] यह [त्रयोदशविकल्पः] तेरह प्रकार का [भेदः तु] भेद [भणितः] कहा गया है–[मिथ्यादृष्ट्यादिः] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [सयोगिनः चरमान्तः यावत्] सयोगकेवली (गुणस्थान) के चरम समय पर्यन्त का, [एते] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [खलु] जो कि निश्चय से [अचेतनाः] अचेतन हैं, [यस्मात्] क्योंकि [पुद्गलकर्मोदयसम्भवाः] पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न

---

१. प्रत्यय = कर्मबन्ध के कारण अर्थात् आस्रव।

होते हैं [ते] वे [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कुर्वन्ति] करते हैं तो भले करें; [तेषां] उनका (कर्मों का) [वेदकः अपि] भोक्ता भी [आत्मा न] आत्मा नहीं है। [यस्मात्] क्योंकि [एते] यह [गुणसंज्ञिताः तु] 'गुण' नामक [प्रत्ययाः] प्रत्यय [कर्म] कर्म [कुर्वन्ति] करते हैं, [तस्मात्] इसलिए [जीवः] जीव तो [अकर्ता] कर्मों का अकर्ता है [च] और [गुणाः] 'गुण' ही [कर्माणि] कर्मों को [कुर्वन्ति] करते हैं।

टीका : वास्तव में पुद्गलकर्म का, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है; उसके विशेष– मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्ध के सामान्य हेतु होने से चार कर्ता हैं; वे ही भेदरूप किये जाने पर (अर्थात् उन्हीं के भेद करने पर), मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह कर्ता है। अब, जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं, ऐसे तेरह कर्ता ही केवल व्याप्यव्यापकभाव से यदि कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें; इसमें जीव का क्या आया? (कुछ भी नहीं)।

यहाँ यह तर्क है कि ''पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव सवयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।''

(इसका समाधान यह है कि:–) यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिए यह सिद्ध हुआ कि–जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय हैं जो कि 'गुण' शब्द से (गुणस्थान नाम से) कहे जाते हैं, वे ही मात्र कर्मों को करते हैं, इसलिए जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म का, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है।

भावार्थ : शास्त्रों में प्रत्ययों को बन्ध का कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं, इसलिए ये गुणस्थान बन्ध के कर्ता हैं अर्थात् पुद्गलकर्म के कर्ता हैं। और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता है, जीव नहीं। जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता मानना अज्ञान है।।१०९ से ११२।।

गाथा-१०९ से ११२ पर प्रवचन

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।१०९।।

तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।।११०।।

एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा।।१११।।

गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि।।११२।।

आहाहा! हरिगीत

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बन्ध के कर्ता कहे।
-मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग कषाय ये ही जानने।।१०९।।

फिर उनहि का दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकार का।
-मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका।।११०।।

पुद्गलकरम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है।।१११।।

परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करे इन कर्म को।
तिससे अकर्ता जीव है, गुणस्थान करते कर्म को।।११२।।

टीका :- वास्तव में पुद्गलकर्म का, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है;.... आहाहा! वह दूसरी जाति। ये तेरह गुणस्थान के अचेतन परिणाम हैं। ये सब अचेतन पुद्गल हैं- ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। भगवान आत्मा में ये कहाँ हैं? यह तो ६८ गाथा में आ गया है। गुणस्थान आत्मा में नहीं है।

पुद्गलकर्म का, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है;.... एक बात। **उसके विशेष....** चार हैं। एक तो पुद्गल, उसके विशेष चार। **मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग**

बन्ध के सामान्य हेतु होने से चार कर्ता हैं;.... पहले एक कर्ता है कहा, पश्चात् उसके चार भेद किये। **वे ही भेदरूप किये जाने पर....** उन चार के भेद करने पर, एक के चार और चार के तेरह। आहाहा! **(अर्थात् उन्हीं के भेद करने पर), मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह कर्ता है।** आहाहा! यहाँ तो उन्हें यहाँ तक समझाना है कि भाई! द्रव्य है न, जो शुद्ध चैतन्यद्रव्य, उसका लक्ष्य कर तो यह मिथ्यात्व है, वह सब नाश हो जायेगा, ये सब कर्ता हैं, वह कर्तापना तुझमें नहीं रहेगा। आहाहा!

चैतन्य शुद्ध द्रव्य है, उसमें मिथ्यात्व से लेकर तेरह गुणस्थान, वे उसके स्वरूप में नहीं हैं। वे तो पुद्गलकर्म के कारण होने से चार और तेरह भेद पड़े हैं। वह पुद्गलकर्म करता है तो करो, तुझे क्या है? आहाहा! ऐसा कहकर जीव शुद्ध द्रव्य है, वह सिद्ध करना है। शुद्ध जीवद्रव्य है, वह इनका कर्ता नहीं। आहाहा! तेरह हैं वह.. आया न?

अब, जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से.... अब तेरह तो नाम दिये। पहला पुद्गलकर्म बन्ध का कारण कहा, उसके चार भेद कहे-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग; उसके तेरह भाग सयोगीकेवली तक। **जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से....** तेरह प्रकार तो पुद्गलकर्म का पाक है। उसमें भगवान आत्मा के आनन्द का पाक नहीं है। आहा! अभी इन्होंने इसकी अशुद्ध पर्यायें हैं, वे सब पुद्गल में डाल दी है। है?

कहते हैं कि **जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं....** यह तेरह गुणस्थान अचेतन हैं। यह तो ६८ गाथा में आ गया है। जड़ है, वह करे तो करो। चैतन्य भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु! आहाहा! यहाँ तो मिथ्यात्व से लिया है। समकित हो और बन्ध न पड़े, (वह तो बराबर), परन्तु यहाँ तो मिथ्यात्व (लिया है)। यह वस्तु का स्वरूप, वस्तु ऐसी बनी हुई है, वस्तु ऐसी शुद्ध चैतन्यघन है कि मिथ्यात्व आदि भी उसमें नहीं है। वह सब पुद्गलकर्म के विपाक का फल मिथ्यात्व आदि है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा? सम्यग्दर्शन के पश्चात् तो ऐसा कहते हैं कि भाई! वे अचेतन हैं और अचेतन वह कर्ता है परन्तु यहाँ तो अभी मिथ्यात्व से लेकर कहा है। मिथ्यात्व है, वह पुद्गलकर्म के विपाक का फल है। तेरे आत्मा में से विपाक

हो, मिथ्यात्व हो-ऐसी वस्तु नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उसे शुद्ध की दृष्टि करानी है। वस्तु शुद्ध है। मिथ्यात्व, वह भी पुद्गलकर्म के विपाक का फल है; वह चैतन्य का फल नहीं है। आहाहा! शुद्ध जाने, वह शुद्ध को अनुभव करे; अशुद्ध जाने, वह अशुद्ध को पावे, आता है या नहीं? आहाहा! बहुत सूक्ष्म!

वस्तु है, द्रव्य जो वस्तु है, वह तो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध पारिणामिकपरमभाव लक्षण निजपरमात्मद्रव्य है। आहाहा! वह द्रव्य कर्म को कहाँ करे? उसकी पर्याय के भेद पड़ते हैं, पर्याय के भेद, वे भी पुद्गलकर्म का पाक है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! मिथ्यात्व है, वह भी दर्शनमोह का पाक है; अव्रत है, वह चारित्रमोह का पाक है। वे सब कर्म के पाक के तेरह भेद हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है जरा अन्दर। यहाँ तो इससे भी आगे ले जायेंगे।

जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से.... कौन? मिथ्यात्व से लेकर संयोगी-तेरह गुणस्थान, वे कर्म के **विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं....** सयोगी गुणस्थान अचेतन हैं। गुणस्थान है न? आहाहा! चैतन्यमूर्ति भगवान पूर्ण स्वरूप परमपारिणामिकस्वभाव... आहाहा! उसमें वह कहाँ है?

जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं - ऐसे तेरह कर्ता.... हैं। ये तेरह—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, विरताविरति, विरति, सप्तम, आठ, नौ, दस, ग्यारह, बारह, तेरह **अचेतन हैं - ऐसे तेरह कर्ता....** अचेतन, ऐसे ये तेरह कर्ता। पुद्गलकर्म के पाक ऐसे जो अचेतन तेरह गुणस्थान। आहाहा! **केवल व्याप्यव्यापकभाव से यदि कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें;...** आहाहा! अर्थात्? केवल व्याप्यव्यापकभाव से (अर्थात्) ये व्यापक होकर नया कुछ कर्म-व्याप्य बँधे तो वह उसमें जाता है। व्याप्यव्यापक उसमें (जाता है)। वास्तव में तो पर में—प्रत्येक द्रव्य का व्यापक द्रव्य है और पर्याय व्याप्य है, वह यहाँ नहीं लेना।

यहाँ तो यह कहते हैं कि तेरह गुणस्थान जो हैं, वे व्यापक हैं और नये कर्म बाँधते हैं, वह व्याप्य है। वह कर्म व्यापक है और नया कर्म, वह व्याप्य है। तेरह गुणस्थान हैं, वे तो कर्म के पाक का फल है। अब यह कहते हैं कि नये कर्म बाँधने में भले वे बाँधें।

व्याप्यव्यापक होकर, वह विकारी भाव है, वह पसरकर भले नये कर्म-व्याप्य को बाँधे-ऐसा यहाँ सम्बन्ध लेना है। आहा! नहीं तो, व्याप्यव्यापक भाव तो एक द्रव्य में (होता है)। कर्ता, वह व्यापक; कर्म / कार्य, वह व्याप्य - ऐसा होता है। परन्तु यहाँ तो एकदम अत्यन्त शुद्ध वस्तु लेनी है एकदम। चैतन्यद्रव्य लेना है। द्रव्य (चैतन्यस्वरूप) है। तेरह गुणस्थान अचेतन हैं, चेतन नहीं। तेरह गुणस्थान अचेतन हैं, चेतन नहीं। आहाहा!

आत्मा का जो चैतन्यस्वभाव है, वह स्वयं तेरह गुणस्थान को कैसे करे? वे (गुणस्थान) तो अचेतन हैं। उन्हें तो करे नहीं परन्तु नया कर्म बाँधे, वह कहाँ है? अचेतन गुणस्थान ही जहाँ चैतन्य के नहीं, वे तो नये बाँधे वह तो वहाँ रहा नहीं। थोड़ी देर क्यों कहा है? कि जिसे यह सुनने की इच्छा थी और शुद्धद्रव्य के ऊपर आश्रय करने का भाव हो, उसे कोई मिथ्यात्वादि हों तो भी अल्पकाल में मिट जायेंगे, सब टल जायेगा। आहाहा!

करें तो भले करें;.... ये तेरह गुणस्थान पुद्गल हैं, वे नये कर्म को करे तो करो। ऐसा कहते हैं। आहा! **ऐसे तेरह कर्ता ही केवल व्याप्यव्यापकभाव से यदि कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें; इसमें जीव का क्या आया?** जो द्रव्य है, वह तो शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द प्रभु है। वह नया कर्म बँधा तो यह तो कहते हैं, वह गुणस्थान के कारण नया बँधा है। वह व्याप्यव्यापक उसमें गया। आत्मा कहीं उसमें आता नहीं। आहाहा! आत्मा तो तेरह अचेतन गुणस्थान में आता नहीं तो फिर नये बन्धन में तो वह कैसे (करे)? आहाहा! सूक्ष्म है, जरा अटपटा है।

जयसेनाचार्य ने इसमें लिखा है न? हल्दी और फिटकरी, लाल रंग दो से होता है, एक से नहीं होता - ऐसा लिखा है। ऐसे कि लड़का एक से नहीं होता, दो जनें हों- आदमी और स्त्री। ऐसे दो का पुत्र है, एक का पुत्र नहीं। ऐसा कहकर यहाँ पुद्गलकर्म का कार्य है - ऐसा उन्हें बताना है। चैतन्य की पर्याय है, उसकी योग्यता परन्तु पुद्गल शामिल है, तब वह कार्य हुआ है - ऐसा कहते हैं। वह उस टीका में है। आहाहा!

तेरह कर्ता ही.... वापिस है। मिथ्यात्व सासादन, मिश्र, अविरतिसम्यग्दृष्टि, विरताविरति श्रावक और विरति मुनि, अप्रमत्त सातवाँ (गुणस्थान) आदि तेरह, ये तेरह

गुणस्थान अचेतन हैं। यह ६८ (गाथा) में आ गया है। जौ से जौ होता है - ऐसा आ गया है। पुद्गल से पुद्गल होता है। जो **पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं, ऐसे तेरह कर्ता ही केवल...** इसमें ले, देखा? कर्म के कारण यह गुणस्थान हुआ। यहाँ दूसरी बात है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब पुद्गल है। इस अपेक्षा से, अन्य अपेक्षा लेने जाये तो पर्याय तो इसकी है और स्वयं क्रमबद्ध में की है परन्तु इसके स्वरूप में नहीं है। जिसे स्वरूप का लक्ष्य करना है, उसे भले मिथ्यात्व आदि हो, तथापि स्वरूप के लक्ष्य से वे सब तेरह कर्ता हैं और स्वयं ज्ञाता हो जाता है। इसलिए मिथ्यात्व मिट जाता है और अन्य भी टल जाता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

इसमें जीव का क्या आया? पुद्गलकर्म को करे पुद्गल तो करो, तेरह के तेरह व्याप्यव्यापक से, कर्ता-कर्म से (करे तो करो)। ठीक! आहाहा! तेरह गुणस्थान कर्ता और नया बँधता है, वह उनका कर्म। आहाहा! यह थोड़ी देर चले। वस्तु जो ऐसी पूर्ण है, उसके ऊपर जो इसका लक्ष्य गया... आहाहा! तो उसे ये तेरह गुणस्थान कर्ता होकर करे परन्तु जीव को क्या आया? जीव तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसका आश्रय बढ़ने से लक्ष्य वहाँ होगा तो यह मिथ्यात्वादि भी मिट जायेंगे। ये तेरह गुणस्थान टल जायेंगे और तेरह गुणस्थान इसमें नहीं रहेंगे। आहाहा! मिथ्यात्व भी नहीं रहेगा। शुद्धद्रव्य क्या करे? जब इसे द्रव्य बैठे-ऐसा कहना है। चैतन्य शुद्धद्रव्य वस्तु है, वह तो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय—ऐसा द्रव्य है, उसका जिसे लक्ष्य होता है, उसे भले कहते हैं कि यह तेरह हैं, वे भले करें थोड़े बहुत काल, परन्तु उसमें जीव को क्या आया? आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि तो कर्ता नहीं, गुणस्थान का भी कर्ता नहीं। वैसा यह है, इसके गुणस्थान हैं, उन्हें अचेतन कहकर, कर्म का पाक गिनकर, जीवद्रव्य का स्वभाव है, उसका वह पाक कहाँ है? भगवान तो आनन्दमूर्ति प्रभु है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। आहाहा! सुख समुद्र, स्तुति में नहीं आया था? 'गुण भरियो सुख दरियो' आहा! अतीन्द्रिय

आनन्द का समुद्र है। स्तुति में आया था, स्तुति में। 'गुण भरियो सुख दरियो।' आहाहा!

इस पैसे-वैसे में सुख नहीं, ऐसा कहते हैं। स्त्री, पुत्र और यह मकान और इज्जत इसमें सुख नहीं - ऐसा कहते हैं। सुख तो यहाँ तुझमें है। इतना सुख भरा है कि यदि तेरा वहाँ लक्ष्य लाये.. आहाहा! मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थान थोड़ी देर करे तो करो, तेरे जीव को फिर कुछ है नहीं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, हों! आहाहा! आत्मा द्रव्य है—ऐसा जो अस्ति, परमानन्द की मूर्ति प्रभु है। प्रत्येक का आत्मा, हों! वह है, वह मिथ्यात्व को कैसे करे? मिथ्यात्व है, वह पुद्गल कर्म का पाक है। आहाहा! भाषा ऐसी ली है। ऐसा कहा न? सुनो! ऐसा कहा था न? सुनने का अर्थ क्या किया था? है?

हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषों! सुनो! सुनो! अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, सुन, भाई! बात तो यह है कि वह ज्ञान का इच्छुक है, उसे कहते हैं सुन, आहा! तू ऐसी चीज़ अन्दर जीवद्रव्य है कि जिसमें तेरह गुणस्थान नहीं और इससे उस गुणस्थान को, तू प्रभु चैतन्य है तो गुणस्थान को अचेतन कहते हैं। आहाहा! वह अचेतन नये कर्म को थोड़े काल करे तो करो। जीव को क्या आया? आहाहा!

यह गाथायें अलग प्रकार की हैं। अशुद्धनिश्चय से जो पर्याय होती है, उसे व्यवहार गिनकर और पुद्गलकर्म का पाक गिना। यहाँ अकेला द्रव्यस्वभाव जो है चैतन्यमूर्ति ज्ञान का कन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द वस्तु है। आहा! उस वस्तु में फिर यह मिथ्यात्व और गुणस्थान-फुणस्थान उसमें कहाँ है? आहाहा! इसलिए ये सब पुद्गलकर्म के विपाक हैं। पुद्गलकर्म का फल है, चैतन्य का नहीं। आहाहा! इसे लक्ष्य बदलाते हैं। सुन! - कहकर लक्ष्य बदलाते हैं। आहा! भगवान कहते हैं, अन्दर भले मिथ्यात्वादि गुणस्थान हो। आहाहा! ऐसे अन्दर में शुद्धचैतन्यमूर्ति भगवान पूर्ण आनन्द है, जो उसका लक्ष्य करने जायेगा तो यह तेरह गुणस्थान थोड़े समय बन्धन का कर्ता हों तो हो; तेरे जीवद्रव्य का कुछ नहीं। आहाहा! ओहोहो!

एक ओर कहते हैं कि निश्चय से, राग का कर्ता निश्चय से जीव है। १८९ गाथा प्रवचनसार। निश्चय से है, निश्चयनय से है। राग और पुण्य-पाप के परिणाम का निश्चयनय से कर्ता है, १८९ गाथा। वहाँ इसकी पर्याय में है - ऐसा बतलाना है। परन्तु

यहाँ तो वस्तु जहाँ ऐसी अन्दर पूर्णानन्द जहाँ है, (वहाँ) अन्दर पर्याय भी नहीं। आहाहा! क्षायिकभाव या उपशमभाव भी जिसमें नहीं—ऐसा सहज परमपारिणामिकस्वभावरूप पिण्ड प्रभु... आहाहा! सहज परमस्वभावभाव का पिण्ड आत्मा, वह क्या करे? कहते हैं। गुणस्थान को क्या करे? और वह नये कर्म को क्या करे? आहाहा! थोड़ा अटपटा है।

मुमुक्षु : आप स्पष्ट कर दो...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इतना तो करते हैं। '**शृणु**' इसमें शब्द है। हे ज्ञान के इच्छुक सुन! ऐसा कहा है न? '**वंदित्तु**' में सुन—ऐसा नहीं आया, वहाँ '**वोच्छामि**' आया है। (अर्थात् कि) कहूँगा। यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं कि यदि तुझे इसमें शंका पड़े कि पुद्गलकर्म का कर्ता कौन? आत्मा कर्ता नहीं तो यह पुद्गलकर्म तो होता है, कहते हैं। सुन, सुन! तुझे समझना हो तो समझ कि यह पुद्गलकर्म है-तेरह गुणस्थान, यह पुद्गलकर्म का विपाक है; इसलिए वे अचेतन हैं। वे अचेतन थोड़े अचेतन को-नये बन्धन को व्याप्यव्यापक होकर करें, (उसमें) जीवद्रव्य को क्या है? आहाहा! जीवद्रव्य व्यापक होकर गुणस्थान करे, वह तो है नहीं तो फिर नया कर्म बाँधे, वह तो इसमें-द्रव्यस्वभाव में है ही नहीं। आहाहा! कथन अलग प्रकार के हैं।

केवल व्याप्यव्यापकभाव से.... देखा? **तेरह कर्ता ही केवल व्याप्यव्यापकभाव से....** आत्मा को क्या सम्बन्ध है? आहाहा! **कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें;....** आहाहा! **इसमें जीव का क्या आया?** भगवान तो जो चिदानन्दघन है, उसमें कुछ हीनता या न्यूनता है नहीं। आहाहा! उसमें से वापस कोई ऐसा निकले कि देखा? विकार होता है, वह कर्म के कारण होता है। यहाँ तो स्वभाव की स्थिति सिद्ध करनी है कि भगवान! तेरा स्वभाव चैतन्यस्वभाव है और इन तेरह गुणस्थान का अचेतनस्वभाव है - ऐसा भिन्न करना है। आहाहा! समझ में आया?

वहाँ (प्रवचनसार) १८९ गाथा में शुद्धनिश्चय से कहा है। शुद्धनिश्चय से राग का कर्ता जीव है अर्थात् राग की पर्याय में उसका अपना विपरीत बल है परन्तु यहाँ दूसरी अपेक्षा है। यहाँ तो द्रव्यस्वभाव अनादि-अनन्त द्रव्यस्वभाव ऐसा द्रव्यस्वभाव है कि जिसे गुणस्थान स्पर्श नहीं करते। आहाहा! वे गुणस्थान, पुद्गलकर्म का पाक होने

से अचेतन हैं; प्रभु चेतन है। वे अचेतन नये कर्म के अचेतन को व्याप्यव्यापकभाव से करे तो करो, चेतन को क्या है। आहा! चेतनजी! यह कहा था, तब कहा था, पहले कहा था। आहाहा! यहाँ आशय ऐसा है।

(शिष्य) कहता है कि पुद्गलकर्म तो करे नहीं, तब करता कौन है? ऐसा पूछा न? है तो सही, पुद्गलकर्म बँधता है, पुद्गलकर्म है और तुम कहते हो कि उस कर्म को आत्मा नहीं करता। तब उसका कर्ता कौन है? यदि तुझे समझना हो तो इस प्रकार सुन, ज्ञान के इच्छुक! '**शृणु**' एक '**शृणु**' उसमें आता है। गाथा श्लोक आता है न? धवल में।....

यहाँ तो यह कहना है न अपेक्षा से! यह महाप्रभु अन्दर है तुझे भले न बैठे परन्तु यह महाप्रभु है अन्दर चैतन्य आनन्द का कन्द, कन्द है। आहाहा! तेरह गुणस्थान उसमें नहीं और तेरह गुणस्थान हैं, वे आस्रव हैं, वे पुद्गलकर्म का पाक है। वे आस्रव हैं और थोड़े नये आस्रव को करे तो करो। द्रव्य को क्या है? आहाहा! देवीलालजी! अटपटा है। इसमें से वापस उपादान में होता है, निमित्त से होता है, यह निकालकर निकाले तो वह यहाँ काम नहीं। यहाँ तो शुद्ध उपादान प्रभु है, अशुद्ध उपादान, वह निमित्त के आधीन होता है; इसलिए अशुद्ध उपादान को यहाँ अचेतन कह दिया है।

मुमुक्षु : पुद्गल कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल कहा, अचेतन कहा न? पुद्गलकर्म को कहा, उसके इकट्ठे चार भेद कहे, उसके इकट्ठे तेरह कहे, वे सब अचेतन हैं। आहाहा! चैतन्यवस्तु जो, अन्दर चेतन चेतना है... आहाहा! जिसमें अकेला शाश्वत् चैतन्यस्वभाव पड़ा है। शाश्वत् चैतन्यस्वभाव, वह स्वयं कर्म को कैसे करे? आहाहा! ऐसा कहकर, जो समझा नहीं और आशंका से पूछता है, उसे कहते हैं, भाई! ध्यान तो रख, मैं कहता हूँ, वह किस अपेक्षा से है? आहाहा! प्रभु! तेरा द्रव्य जो वस्तु है, तुझे उसका विश्वास नहीं, अव्यक्तरूप से भी विश्वास नहीं। उसे यहाँ विश्वास कराते हैं। आहाहा! ऐसे तेरह गुणस्थान होने पर भी अचेतन होने से (उन्हें करता नहीं)। चेतन तो चेतन है, चेतन में अचेतन आये नहीं और चेतन अचेतन में आता नहीं। आहा! कठिन काम है? क्या आया? **(कुछ भी नहीं)**।

अब यह सामनेवाले का **यहाँ यह तर्क है कि 'पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ...** जीव स्वयं ही वेदता है न? शंकाकार शिष्य कहता है। '**पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।**' भोगता हुआ। तुम कर्ता नहीं कहो परन्तु वेदता (भोगता) कौन है? जड़ वेदता है? आहाहा! जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है, वेदता हुआ, हों! है? '**पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ...**' जो तेरह अचेतन कहे हैं न? उन्हें वेदता—'**भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।**' **(इसका समाधान यह है कि:-) यह तर्क वास्तव में अविवेक है,...** जड़ को आत्मा भोगता नहीं, जड़ को आत्मा करता नहीं।

मुमुक्षु : विकार को करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अचेतन आ गया। जड़ को भोगता नहीं। यह विकार यहाँ जड़ है। तेरह गुणस्थान जड़ कहे, फिर (विकार की क्या बात)? तेरहवाँ गुणस्थान तेरा नहीं। यह अपने धीरुभाई गाते हैं। धीरुभाई नहीं, तलकचन्दभाई लाठीवाले। आहाहा!

जो चेतनद्रव्य है, चेतनद्रव्य जो है, वह सब उसके गुण चैतन्यस्वरूप हैं और वह भी अखण्ड, अभेद, पूर्ण है - ऐसा जो जीवद्रव्य... आहाहा! वे तेरह गुणस्थान कर्म को करें और थोड़ा बँधे तो भले बाँधो। उससे वस्तु को क्या है? आहाहा!

यहाँ तो मस्तिष्क में एक आया था, तब कहा था कि ऐसा जीव लिया है कि जो अभी है मिथ्यात्व में, परन्तु यह पुद्गल, पुद्गल को करता है और जीव नहीं करता, यह कैसे है? यह तुम क्या कहते हो? मुझे समझ में नहीं आता, शंका नहीं परन्तु आशंका (की है)। कि सुन भाई! आहाहा! वे अचेतन मिथ्यात्वादि भाव हैं, वे पुद्गल को करें तो करो। तब शिष्य कहता है, परन्तु प्रभु! तुमने कर्ता उसे नहीं कहा परन्तु भोगता कौन है? जड़ भोगता है? अचेतन को वेदता कौन है? पुद्गलकर्म के फल को वेदता कौन है? आत्मा वेदता है, इसलिए कर्ता इसे (आत्मा को) कहना चाहिए। कहते हैं, सुन, सुन! यह तेरा अविवेक है। उस पुद्गलकर्म को आत्मा वेदता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से... पुद्गलकर्म भावक, उसका जो भाव्य, यह तेरह गुणस्थान आदि, उसका अभाव होने से। **भाव्यभावकभाव का अभाव होने से...** भावक जो कर्म, उसका भाव्य जो तेरह गुणस्थान, वह पुद्गल, उसके परिणाम - ऐसा जो भाव... आहा! उसका अभाव होने से... आत्मा में उसका अभाव है। आहाहा! कर्म के पाक से हुए अचेतन गुणस्थान का भेद, वह वास्तव में भाव्य है, वह कर्म भावक है, उसका वह भाव्य है। वह कर्म भोगे तो भोगो; आत्मा को क्या है? आहाहा! अटपटा है।

क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से... प्रभु! चैतन्यद्रव्य है, उसमें जो यह पुद्गल, रागादि का भाव, कर्म का भाव-विपाक है, उसे आत्मा कैसे वेदे? आहा! क्योंकि वह भावक का भाव्य का भाव है। भगवान ज्ञायक और उसका वह भाव है- ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। आहाहा!

भगवान अन्दर आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द से ठसाठस भरा हुआ शाश्वत्, शाश्वत् वज्र.. आहाहा! शाश्वत् हीरा है, प्रभु! वह अचेतन में कैसे आवे? आहाहा! वह अचेतन जो है, वह तो पुद्गल का कार्य है और उससे थोड़ा नया बँधे तो भले बाँधो। तब शिष्य कहता है परन्तु तुमने कर्म का कर्ता तो भले उड़ाया, परन्तु वेदता कौन है? जड़ वेदता है दुःख को? सुन, सुन! कहते हैं। इस राग को वेदे, वह भाव्यभावक है, वह पर का है, उसे आत्मा नहीं वेदता। वह तो ज्ञायकमूर्ति पूर्णानन्द है, वह इसे वेदे? आहा! यहाँ तो द्रव्य को निराला सिद्ध करना है। देवीलालजी! ऐसा है।

भाव्यभावकभाव का अभाव होने से... यह कर्म है, वह भावक है और इसका भाव्य वह कर्म का है। उसका तो भगवान आत्मा में अभाव है। भावकभाव्य का भाव (अर्थात्) कर्म भावक है, उसका भाव्य जो दुःख का आना, दुःखादि या सुख कल्पना, वह सब भावक का भाव्य है। उसके भाव का जीव में तो अभाव है। आहाहा! क्या अपेक्षा है, वह अपेक्षा समझनी चाहिए न? फिर सब जगह रख दे कि देखो! उपादान से होता है और निमित्त से होता है (-ऐसा कहा है)। चौदह गुणस्थान तो निमित्त हैं। उनके अपने उपादान की अन्दर नहीं शुद्ध उपादान। क्या अपेक्षा है? बापू!

यहाँ तो भगवान द्रव्य सकल निरावरण अखण्ड प्रतिभासमय परमात्मा स्वयं है। वह परमात्मा स्वयं गुणस्थान में कहाँ आता है ? इसलिए यह चैतन्य है तो उन गुणस्थान को अचेतन कहा। वे अचेतन थोड़े नये कर्म को बाँधे तो बाँधो। आहाहा! उसमें तो यह आया कि जिसका लक्ष्य जो चैतन्यद्रव्य पर यदि जाता है, वह अभी मिथ्यात्व है, भाई! तब कहा था, पहले भी कहा था। आहाहा! चैतन्यहीरा ज्ञान का रसकन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ... आहाहा! वह तो आनन्द का पिण्ड है। आनन्द का पिण्ड आत्मा, ज्ञान का पिण्ड आत्मा, शान्ति का पिण्ड, वह ध्रुव चीज़ है। आहाहा! वह चैतन्य है, इन गुणस्थान अचेतन कर्म के पाक के फल को वह कैसे करे ? आहाहा! वे अचेतन गुणस्थान जो हैं, वे नये कर्म को व्याप्यव्यापक होकर करे तो करो। आहाहा! एक ओर पुद्गल कहा और एक ओर सामने चैतन्य रखा है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : इसलिए ऐसा कहा न कि आत्मा दुःख को वेदे नहीं, जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसकी खोटी बात। यहाँ दूसरी बात है। यह दूसरी बात है। यहाँ तो कर्ता नहीं कहना तो फिर वेदने का कहाँ से आया ? यह तो मिथ्यादृष्टि से लेकर तेरहवाले को, कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं - ऐसा कहना है। यह तो कहते (हैं कि) समकिती है, उसे अब सुख का ही वेदन होता है, दुःख का वेदन नहीं होता। तो राग है, वह दुःख का वेदन है, एक समय में दोनों हैं, यह अपेक्षा अलग है और वह अपेक्षा अलग है। वह तो फिर सम्यग्दृष्टि को जहाँ हो वहाँ ऐसा लिया जाता है कि उसे सुख का वेदन है। (ऐसा कहकर) मुख्य की बात ली हो, गौण जो दुःख का वेदन है, वह सम्यग्दृष्टि के विषय में न ले। ज्ञान का विषय जब चलता हो, तब सब साथ में ले। ज्ञानधारा और कर्मधारा दो नहीं आयी ? कर्मधारा, वह दुःखरूप है; ज्ञानधारा, वह सुखरूप है। आहाहा!

यहाँ (जो कहते हैं) वह यहाँ तो अभी मिथ्यात्व भी जीव में नहीं और मिथ्यात्व, नये मिथ्यात्व को थोड़ा करे, उसमें आत्मा को क्या आया ? ऐई! आहाहा! वह भी इस थोड़े समय करे, हों! उसे छूट जानेवाला है। जिसे आत्मद्रव्य जो है, वह कर्म करता नहीं और अचेतन करता है, वह चैतन्य से भिन्न है और वह अचेतन नये कर्म को करे

तो करो और वेदता है — ऐसा यदि तू कहता है तो वह तेरा अविवेक है। विकार को वेदना, वह जीव का स्वरूप नहीं है। आहाहा! (वेदे) तो विकारी द्रव्य हो गया। द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। आहाहा! ऐसे प्रकार होते हैं। किस अपेक्षा से कहा है, (वह समझना चाहिए।)

द्रव्यस्वभाव भगवान महाप्रभु बिराजता है। आहा! वह महात्मा है, छोटा आत्मा नहीं। महात्मा है, महात्मा प्रभु अन्दर है। आहाहा! जिसमें कोटाकोटी सूर्य से भी चैतन्य के प्रकाश का पार नहीं। अपरिमित चैतन्यधातु आया था न भाई! बेहद चैतन्यधातु वहाँ रुक गयी है। रुक गयी है, वह वस्तु नहीं रुकी, वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! पर्याय रुकी है, यहाँ रुकी उस अवस्था को अचेतन कहकर चैतन्य से भिन्न किया है। आहा! सूक्ष्म है, थोड़ा अटपटा है। धीमे से तो कहा जाता है। इसमें से फिर ऐसा ही निकाल डाले, एकान्त ही कर डाले कि मिथ्यात्व, मिथ्यात्व आत्मा को करता है, वह कर्म कराता है। यहाँ तो वस्तु का जो त्रिकाली स्वरूप है, उसका लक्ष्य कराने के लिये यह मिथ्यात्वादि सभी गुणस्थान उसमें नहीं और इसलिए वे अचेतन हैं। चैतन्य के सामने वे अचेतन हैं और अचेतन, अचेतन को थोड़ा करे तो करो, द्रव्यस्वभाव को क्या आया है? आहाहा!

क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव.... भाव्यभावकभाव का अभाव। सब भा.. भा.. भ.. भा.. है। कर्म जो है पुद्गल, तेरह गुणस्थान वे पुद्गल हैं, वे भावक हैं और उनका भाव्य (अर्थात्) नया कुछ कर्म आवे, उसे भाव्य कहा जाता है। ऐसे भावक का जो भाव्य, ऐसा जो भाव, भावक का भाव्य - ऐसा जो भाव, उसका स्वरूप में अभाव है। क्या कहा?

भगवान चैतन्यस्वरूप के समक्ष जो गुणस्थान हैं, वे भावक हैं और उनका भाव्य नया बँधे, वह उनका भाव्य है। अथवा कर्म भावक है और तेरह गुणस्थान उसका भाव्य है। आहाहा! ऐसे भावक के भाव्य का भाव, उसका प्रभु में अभाव है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किस अपेक्षा से कहा जानना चाहिए न! इसलिए यह

जयसेनाचार्य ने ऐसा (कहा कि) पुत्र है, वह दो का होकर है। ऐसा कि पर्याय इसकी है और दूसरा पुद्गलकर्म है — ऐसा उसमें इस जगह टीका में लिखा है परन्तु उसका एकान्त ले ले तो ऐसा भी नहीं है।

वास्तव में तो पर्याय है, उस काल में विकृत अवस्था उस-उस समय में, उस-उस काल में उत्पन्न होती है। वह उत्पन्न (उस-उस काल में होती है वह) भी किसे (कहा जाये)? कि जिसका लक्ष्य द्रव्य है। क्रमबद्ध का लक्ष्य (हुआ है) उसे द्रव्य लक्ष्य है। क्रमबद्ध के लक्ष्यवाला अकर्ता है और अकर्ता है; इसलिए ज्ञातादृष्टा है और ज्ञातादृष्टा है, वह ज्ञान को जानता है, अन्दर ज्ञायक को जानता है। उसे रागादि का भाव उसका नहीं है, वह पर का है - ऐसा कहकर निकाल दिया है, ऐसा। समझ में आया? उसे फिर वह राग कर्म ही कराता है (-ऐसा कहा है)। उसके किसी गुण में ऐसा कोई गुण नहीं; द्रव्य तो ऐसा है परन्तु द्रव्य के अनन्त गुण में का गुण नहीं की राग तो करे, ऐसा कोई एक भी गुण नहीं। अनन्त-अनन्त गुण हैं। उन अनन्त-अनन्त गुण का कन्द रसकन्द प्रभु द्रव्य है। आहाहा! यह कहते हैं कि गुणस्थान को कैसे करे? और गुणस्थान कर्म को करे तो करो। आहाहा! और वेदे तो उस वेदने में वहाँ जाता है। आत्मा उसे राग को, दुःख को वेदे (-ऐसा है नहीं)। कर्म का फल है, उसे आत्मा वेदता नहीं। वह तो कर्म - पर वेदा जाता है। आहाहा! यहाँ तो आनन्द का वेदन है। यहाँ तो अभी सुननेवाले को लक्ष्य द्रव्य पर कराकर, और यह कर्म कौन बाँधता है, यह उसे समझाना है। आहाहा!

'पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।' ऐसा शिष्य ने तर्क किया है। **(इसका समाधान यह है कि-) यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभाव का अभाव होने से आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है,...** आहाहा! जीवद्रव्य है, वह मिथ्यात्व को, राग को भोगे किस प्रकार? वस्तु है वह। आहाहा!

मुमुक्षु : एक पर्याय की बात की और एक द्रव्य त्रिकाल की बात की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो बात इतनी करे न! उसे तो ऐसे वेदन करता है न! परन्तु

वह वस्तु है, वह कहाँ वेदती है? वह इसमें है ही कहाँ? वहाँ जा न! आहाहा! राग वेदन में आता है, वह तो पुद्गल का वेदन है। अरे रे! ऐसा है। क्योंकि प्रभु आत्मा में कहाँ है? राग का करना नहीं, वैसे राग का वेदना वस्तु में कहाँ है? आहाहा! ऐसा चैतन्य प्रभु महात्मा-बड़ा महात्मा महा आत्मा स्वयं अन्दर है, वह विकार को कैसे करे और विकार को कैसे भोगे? आहाहा! कठिन है; (इसलिए) जरा धीरे-धीरे तो कहा जाता है। मार्ग ऐसा है, बापू! आहाहा!

यह तो परम सत्य त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव की वाणी है। आहाहा! प्रभु! तू द्रव्यस्वभाव है न तेरा, ऐसा कहते हैं। तेरा द्रव्यस्वभाव है, वह तो त्रिकाल निरावरण है न! उसे आवरण हो, तब तो उसे गुणस्थान के भेद पड़े। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! वह तो पर्याय को राग का सम्बन्ध है, द्रव्य को राग का सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! आहाहा! समझ में आये उतना समझना, बापू! यह तो वीतराग परमेश्वर (द्वारा कहा गया) गहन विषय है। आहा!

कहते हैं कि प्रभु! जो पूर्ण चैतन्यद्रव्य है, उसके हिसाब से तो यह तेरह गुणस्थान पुद्गल हैं, अचेतन हैं, कर्म के पाक के हैं। आहाहा! वहाँ प्रभु का पाक नहीं है। आहाहा! प्रभु तो आनन्द का नाथ है। उसके पाक में तो वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द पके। आहाहा! उसमें राग पके, वह नहीं। वह तो पुद्गल का पाक है। इसलिए तू वेदन करनेवाला आत्मा है तो करता वह है—ऐसा जो तू कहना चाहता है तो वह तेरा तर्क खोटा है। जैसे कर्ता नहीं, वैसे उसका वेदक भी नहीं। सुजानमलजी! ऐसी बात है। आहाहा!

निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि.... मिथ्यात्व को तो पुद्गल कहा। मिथ्यात्वपरिणाम, अव्रतपरिणाम, कषायपरिणाम.. आहाहा! सजोग में भी जो योग परिणाम है, वे सब पुद्गल कहे। पुद्गल के परिणाम पाक, पुद्गल कहा। आहाहा! वह तो उसमें आता है न? ७६-७७ (गाथा) पुद्गलपरिणाम कहकर फिर पुद्गल कह दिया, वह पुद्गलद्रव्य है। आहा! आहाहा!

तेरा नाथ अन्दर बिराजता है, चैतन्य हीरा, चैतन्य स्फटिक रत्न, उस स्फटिक

रत्न में काली, हरी झाँई (उठती है), वह तेरी कहाँ है? आहा! जब सिद्ध करना हो (तब ऐसा कहे) काली, लाल झाँई तो उसकी योग्यता है तो हुई है। वह तो पर्याय को सिद्ध करनी हो, तब (ऐसा कहते हैं) परन्तु यहाँ जहाँ द्रव्य ही अकेला सिद्ध करना है। आहाहा! नहीं तो स्फटिकमणि में काले, नीले फूल हों, उसकी झाँई पड़ती है, वह कहीं उनके कारण नहीं पड़ती, उसकी अपनी योग्यता है, पर्याय की उसकी स्वयं की योग्यता है। लकड़ी में यहाँ रखोगे तो नहीं पड़ेगी, उसमें योग्यता नहीं है। वह दियासलाई का दृष्टान्त कहा था न? बीड़ी पीवे तो उस ओर जले और इस ओर ठण्डा हो। दियासलाई का छोर ठण्डा हो, (आगे का भाग) गर्म हो और लोहा हो, पाँच हाथ का लम्बा सरिया (हो उसे) चार अंगुल अग्नि में रखो तो ठेठ तक (गर्मी) जायेगी।

मुमुक्षु : लकड़ी में नहीं जाती।

पूज्य गुरुदेवश्री : लकड़ी को नहीं लगती। लकड़ी को तो यह दो-तीन अंगुल की सली भी यहाँ सुलगे तो यहाँ गर्म नहीं होता। उसकी अपनी योग्यता है और लोहा वहाँ पाँच हाथ का हो और चार अंगुल अग्नि में रखो-इतना ऐसा (रखो तो) एकदम गर्म ठेठ (तक हो जायेगा)। पकड़ा नहीं जा सकेगा। वह उसकी अपनी योग्यता है। समझ में आया?

इसी प्रकार जब विकार को इसकी पर्याय में सिद्ध करना हो, तब उसकी अपनी योग्यता में है। आहाहा! परन्तु यहाँ तो पर्याय नहीं, यह तो द्रव्य सिद्ध (करना है)। अकेला द्रव्य अन्दर शुद्ध है। आहाहा! चैतन्य हीरा सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय... आहाहा! ऐसा जो शुद्ध पारिणामिकपरमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ, खण्ड ज्ञान वह मैं नहीं। आहा! सम्यग्दृष्टि ऐसा भाता है परन्तु यह तो सम्यग्दर्शन के पहले भी उसे यह समझाते हैं। ऐई! आहाहा! प्रभु! तू बड़ा महाप्रभु है। तू उसकी बात तो भूल गया और इसका करे और यह करे और यह वेदे और यह करे... क्या है? जो राग को करता नहीं, गुणस्थान को करता नहीं और वेदता नहीं, वह बात अन्दर पड़ी तो पड़ी रही पूरी चीज़। आहाहा! समझ में आया? शान्तिभाई! ऐसा तुम्हारे हीरा-माणिक में कहीं नहीं आया होगा। आहाहा! इसे टाईल्स में नहीं आया होगा।

मुमुक्षु : हमारी वकीलात में नहीं आया होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारी वकालात में कहाँ से आवे? आहाहा!

आहाहा! **पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है?** जब उसका भोक्ता भी नहीं तो कर्ता कैसे होगा? आहाहा! **इसलिए यह सिद्ध हुआ....** उसका फल यह आया कि **जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय....** प्रत्यय कहो या आस्रव कहो। पुद्गल-द्रव्यमय-एक तो एक बात यहाँ से उठायी। पुद्गलद्रव्यमय। पहले कहा था न? वास्तव में पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है। वह यहाँ लिया। **पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययों के भेदरूप....** पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग, ये सामान्य प्रत्यय अर्थात् आस्रव, इनके भेदरूप तेरह विशेष आस्रव। **जो कि 'गुण' शब्द से (गुणस्थान नाम से) कहे जाते हैं....** गुण अर्थात् गुणस्थान, गुण अर्थात् गुणस्थान। आहाहा! ऐसा (समझने की) निवृत्ति कहाँ है लोगों को? आहा! उसमें महिलाओं को बेचारियों को लड़के सम्हालना। एक-दो वर्ष का हो और एक चार वर्ष का हो और एक छह वर्ष का हो और एक आठ वर्ष का हो। छह-सात लड़के सम्हाले। अर र र! ....इसमें जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

प्रभु! तू एक चैतन्यरत्न है, वह अचेतन में कैसे आवे प्रभु? चैतन्य हीरा, वह अचेतन रेत में-धूल में कैसे आवे? आहाहा! ऐसा कहते हैं। अचेतन कहा न? भाई! चैतन्य रत्न हीरा प्रभु! वे गुणस्थान अचेतन हैं, उस धूल में हीरा कहाँ से आवे? आहाहा! और जब वेदन को तू कहता हो तो भी हम कहते हैं कि भगवान जो आनन्द का नाथ प्रभु है, वह अचेतन के वेदन में कहाँ से आवे? आहाहा!

मुमुक्षु : दोनों भिन्न है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभु बड़ा महाद्रव्य, द्रव्य अर्थात् क्या? बापू! आहाहा!

यहाँ तो तेरह गुणस्थान की पर्याय को पुद्गल का कार्य है (-ऐसा कहा है)। आहाहा! वह चैतन्यवस्तु महाप्रभु महात्मा है, वह महा आत्मा महाप्रभु है। आहाहा! आता है-महापदार्थ। आहाहा! भाई! वह वस्तु महापदार्थ प्रभु है। भले तुझे ऐसी शंका

पड़ी कि कर्म कौन करे ? भाई ! महाप्रभु चैतन्य है, उसमें अचेतनपना कहाँ से आवे कि जिससे अचेतन को आत्मा करे ? आहाहा ! वह महाप्रभु चैतन्य है, वह अचेतन वेदन में कहाँ से आवे ? आहाहा ! वह भगवान पूर्णानन्द का नाथ है। यह तो मिथ्यादृष्टि को भी मिथ्यात्व से लेकर उसका कर्ता पर है, यह द्रव्य नहीं - ऐसा कहा है। समझ में आया ? परन्तु किसे ? कि जिसे यह क्या है, यह जानने की इच्छा है और लक्ष्य द्रव्य पर करना है उसे। आहाहा !

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि - जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययों.... मिथ्यात्व आदि चार आस्रव **के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय हैं जो कि 'गुण' शब्द से (गुणस्थान नाम से) कहे जाते हैं, वे ही मात्र कर्मों को करते हैं,....** आहाहा ! भगवान द्रव्यस्वभाव गुणस्थान को नहीं करता तो पुद्गलकर्म को कैसे करे ? नये बाँधे कैसे ? उसे बाँधना-बाँधना कहाँ है ? आहाहा ! **मात्र कर्मों को करते हैं, इसलिए जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं;....** गुण अर्थात् गुणस्थान, तेरह गुणस्थान। **उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं;....** ये तेरह गुणस्थान तो पुद्गल के परिणाम कहे थे, वे पुद्गलद्रव्य हैं। आहाहा। यह तो पहले पुद्गलद्रव्य कहा था। आहाहा ! वास्तव में पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता कहा था।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म का, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है। आहाहा ! तेरह गुणस्थान के वे-वे परिणाम, वे अचेतन हैं और वे अचेतन, अचेतन का कर्ता है और नया थोड़ा कदाचित् बाँधे तो भी वह अचेतन-अचेतन का कर्ता है। आत्मा चैतन्यद्रव्य भगवान है, उसे कुछ लेना-देना नहीं है - ऐसा वह चैतन्यद्रव्य है, ऐसा यहाँ लक्ष्य कराना है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. २१०, गाथा-१०९-११५, दिनांक ०३-०३-१९७९, शनिवार, फाल्गुन शुक्ल - ५

श्री समयसार, १०९, १०, ११, १२, (गाथाओं का) भावार्थ है। भावार्थ है न? सूक्ष्म बात है। **शास्त्र में....** सिद्धान्त में। **प्रत्ययों को...** प्रत्ययों अर्थात् आस्रवों—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग आदि **प्रत्ययों को बन्ध का कर्ता कहा गया है।** क्या कहते हैं? सिद्धान्त में—भगवान की वाणी में प्रत्ययों अर्थात् आस्रव, (वह) प्रत्यय है न आस्रव, (अर्थात् क्या?) जिस भाव से नये कर्म आते हैं, उस भाव को यहाँ आस्रव कहा गया है। प्रत्यय अर्थात् आस्रव।

भगवान ने मिथ्याश्रद्धा, अविरतिभाव, प्रमादभाव, कषायभाव और योगभाव को सिद्धान्त में बन्ध का कर्ता कहा है। वह बन्ध के करनेवाले हैं, नये कर्म बाँधते हैं। **गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं...** यह सिद्ध करना है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग बन्ध—बन्ध के कारण हैं। इसी प्रकार गुणस्थान भी बन्ध के कारण हैं, तेरह गुणस्थान। आहाहा! सूक्ष्म बात है। **गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं...** वे सामान्य प्रत्यय कहे। आहाहा! मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। यह विशेष प्रत्यय हैं।

इसलिए वे गुणस्थान बन्ध के कर्ता हैं। आहाहा! अभी गुणस्थान के नाम न आवें तो अब उसे बन्ध के कर्ता (कहना)। आहाहा! जैसे सीढ़ी चढ़ने में जैसे सोपान होते हैं, वहाँ मंजिल पर चढ़ने में; उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में चौदह प्रकार के स्थान होते हैं—चौदह प्रकार के भाव, उन भाव में तेरह प्रकार के भाव हैं, वे मिथ्यात्वादि चार आस्रव हैं। उनके विशेष भेद ये हैं। विशेष भेद हैं, इसलिए गुणस्थान बन्ध के कर्ता हैं। **अर्थात् पुद्गलकर्म के कर्ता हैं....** यह गुणस्थान जो तेरह कहे, वे नये कर्म के बन्ध के कर्ता हैं। यहाँ शुद्धनिश्चयनय से कथन है। और वे गुणस्थान आदि अशुद्धनिश्चय से पर्याय में हैं। और इस कारण से उन्हें व्यवहार भी कहा जाता है। यहाँ तो शुद्धनिश्चयनय का कथन है। आहाहा!

भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन अनन्त गुण की राशि—पिण्ड प्रभु, उसमें यह आस्रव है नहीं। यह चैतन्यस्वरूप है, उसमें आस्रव अचेतन है, वे हैं नहीं। ऐसी बात!

अब! क्या कहते हैं इसमें? आत्मा चैतन्यस्वरूप है, ज्ञायकस्वरूप, जाननस्वभाव, आनन्दस्वभाव, तो उसमें परद्रव्य तो नहीं। शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, वह तो उसमें है नहीं, वह तो भिन्न चीज़ है, परन्तु उसमें जो पर्याय में भेद पड़ते हैं—मिथ्याश्रद्धा, अविरतिभाव, व्रत का विकल्प आदि, वह भी आस्रव ही है, नये बन्ध के कारण हैं। समझ में आया? अरे रे! प्रभु!

मिथ्यात्व आदि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय... आस्रव। अब इतना तो कहा, तो अब है क्या? कि इस आत्मा में राग, द्वेष, पुण्य, पाप के भाव उत्पन्न होते हैं, वे हैं क्या? कि वे अचेतन हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ, वह रागादि भाव में आता नहीं। राग और राग का कर्ता (होना) आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें यह स्वभाव नहीं। आहाहा! तो जो तेरह गुणस्थान मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग-सामान्य और विशेष तेरह, वे अचेतन हैं। आहाहा! वे बन्ध के कर्ता कहे, क्यों?—कि वे अचेतन हैं। वे चैतन्य भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो पर्याय है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा नहीं? वह तो अशुद्धनिश्चयनय से पर्याय है। अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार में जाता है। व्यवहार का यहाँ निषेध करना है। सूक्ष्म बात है, बापू! धर्म वह कोई चीज़ ऐसी है, अभी तो सुनने को मिलना मुश्किल है। आहाहा! इससे तो यह चौरासी के अवतार (में) भटक मरा है। कहते हैं, उस आस्रव के कारण, वह आस्रव मेरे हैं, ऐसी मान्यता के कारण चार गति में भटकने के चौरासी के अवतार अनन्त बार हुए, और जब तक वह मिथ्यात्वभाव है, आस्रव मेरे हैं, तब तक उसे अनन्त संसार में भटकना पड़ेगा। आहाहा!

दो बातें की। तीन बातें की ऐसे तो। क्या तीन? कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग यह सामान्य संक्षिप्त में ऐसे संक्षिप्त में आस्रव है और तेरह गुणस्थान इनके विशेष हैं, वे भी प्रत्यय—आस्रव हैं... इतनी बात। अब वे कर्मबन्धन के कारण हैं, आत्मा नहीं। कहते हैं, तब कैसे? कि वे अचेतन हैं—अचेतन हैं। आहाहा! भगवान

आत्मा, चैतन्यबिम्ब चैतन्य के प्रकाश का नूर, उसका पूर है प्रभु अन्दर। यह राग-द्वेष-गुणस्थान आदि चैतन्यज्ञायकभाव का जिसमें अभाव है। आहाहा! इस कारण से ये गुणस्थान और मिथ्यात्व—अव्रत आदि अचेतन कहे गये हैं।

एक ओर भगवान चेतन तथा एक ओर यह पर्याय में राग आदि—गुणस्थान अचेतन। ऐसा कठिन है, कहो हसुभाई! बहुत कठिन काम, बापू! जन्म-मरणरहित होने का कोई मार्ग! यह तो भटकने के मार्ग में पड़ी है दुनिया। पूरी चौरासी के अवतार में भटकेगी। आहाहा! कहीं राजा मरकर सूकर-सूकर होता है। आहा! सेठिया मरकर गाय होता है। आहाहा! क्योंकि वस्तु क्या है, उसकी खबर नहीं—आत्मा क्या चीज़ है? तो आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का कन्द है। वह चैतन्यस्वभावी आत्मा, उसमें जो यह पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव होते हैं, वे भाव हैं, वे अचेतन हैं। आहाहा! गले उतरना कठिन पड़े ऐसा सुनते हुए। जितना अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध के भाव, उन्हें यहाँ आस्रव कहा है। क्योंकि वे परिणाम नये बन्ध के कारण हैं। नये बन्ध के वे कारण हैं। आहाहा! ऐसा सिद्ध करके फिर कहते हैं, वे बन्ध के कारण हैं क्यों? कि वे अचेतन हैं। आहाहा!

दया का भाव आना, (वह) दया राग है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन और कुटुम्ब-कबीले को सम्हालने का भाव आवे, वह तो पाप, परन्तु दया का भाव आवे, वह पुण्य, परन्तु वह भी बन्ध का कारण है। क्यों बन्ध का कारण है? भगवान चेतन है, वहाँ वह राग है, वह अचेतन है, उसमें चैतन्य की किरण नहीं। जैसे सूर्य की किरण में प्रकाश होता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप प्रकाश की मूर्ति प्रभु की किरण उस राग में नहीं आती, राग अचेतन है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम, बारह व्रत के परिणाम... आहाहा! वे अचेतन हैं, उसमें चेतन का अभाव है। आहाहा! समझ में आया?

वह **प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं...** आहाहा! अचेतन कहकर रागादि भाव पुद्गलमय ही हैं। सूक्ष्म बात है, प्रभु! इसने कभी सुना नहीं, कभी किया नहीं, यह दुनिया के ढोंग कर-करके मर गया, पाप कर-करके पूरे दिन चार गति में। आहाहा! सुनने को मिले तो वापस ऐसा मिले कि तुम यह व्रत करो, तप करो, यह करो, पूजा

करो, भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण होगा.... तो यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही! यह पूजा, भक्ति... आहाहा! दया, दान, व्रत और तप के भाव जो हैं, वे तो राग हैं और वह राग है, वह आस्रव है। क्यों?—कि वह अचेतन है, चेतन नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! हीरा तो अचेतन है, परन्तु हीरा के पैसा लिये—लेने के भाव हुए हों, वे अचेतन हैं—ममता, और दान के लिये खर्च किये राग मन्द करके, वह राग अचेतन है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : उसमें कहाँ ज्ञान है?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? ज्ञान नहीं, इसलिए अचेतन है। आहाहा! उसका भाई है न, मधु, उसने यह मकान लिया न नवनीतभाई का। अस्सी हजार रुपये निकाले थे वहाँ भावनगर, सस्ता साहित्य। निकालते हैं न वहाँ!

मुमुक्षु : एक लाख दिये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाख, लाख दिये थे। अस्सी हजार तो भाई हीराभाई ने—हीरालाल ने दिये थे। एक लाख दिये थे। यहाँ बात यह है, परन्तु लाख वह क्या चीज़ है? वह तो अचेतन-जड़ है, अब तुझे देने का भाव आया, वह भी राग है, वह भी अचेतन है। आनन्दभाई! ऐसा है।

अन्दर वस्तु चैतन्यस्वरूप, ज्ञान का सागर प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर चैतन्यस्वभाव से भरपूर भगवान की अनन्त काल में कभी खबर नहीं की। कभी खबर ही नहीं की। आहाहा! आहाहा! इसलिए भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का हुकम है कि प्रभु! एक बार सुन तो सही। अरे! मनुष्यदेह मिला... ऐसे अवतार चला जाता है, बापू! आहाहा!

यह आत्मा अन्दर चैतन्यस्वरूप आनन्दकन्द वह पुण्य और पाप के आस्रव—भाव से भिन्न है और उससे पुण्य-पाप के भाव अचेतन होने से भिन्न हैं। भिन्न हैं। आ जाता है गुजराती। समझ में आया? चाहे तो शुभविकल्प आवे या अशुभराग, दोनों भाव अचेतन है। चैतन्य भगवान आत्मा का उनमें अभाव है। आहाहा!

जैसे शक्कर की डली है, शक्कर। उसमें ऊपर में कुछ मैल हो (क्योंकि)

बालक है न, ऐसे शक्कर खाता है न ऊपर हाथ लगावे तो मैल हो तो मैल है, वह शक्कर नहीं है, मैल तो भिन्न चीज़ है; उसी प्रकार शक्कर अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का शक्कर का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! और उसमें यह पुण्य और पाप मैल, वे अचेतन हैं। आहाहा! यह शरीर-बरीर तो अचेतन कहीं रह गया, यह तो धूल, जड़, मिट्टी है। आहाहा! पैसे अचेतन और धूल हैं।

मुमुक्षु : बाजरा कैसे आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाजरा-बाजरा अचेतन है, वह उसके कारण से आना हो तो आता है, पैसे से बाजरा नहीं आता। पैसा वह दूसरी चीज़ है, बाजरा दूसरी चीज़ है। बाजरा कहते हैं न हिन्दी में? आहाहा! थोड़े में बहुत भर दिया है। एक ओर राम तथा एक ओर गाँव, एक ओर प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु जिसमें पवित्र अनन्त गुण चैतन्य के भरे हैं, उससे पुण्य और पाप के भाव, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और तेरह ही गुणस्थान, सबको यहाँ अचेतन कहा है अर्थात् पुद्गल कहा है। है? **अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही है....** पुद्गलद्रव्यमय ही है, ऐसा। आहाहा! यह अशुद्धनिश्चयनय से है न?

यह राग, गुणस्थान, मिथ्यात्व, अव्रत, व्रत के विकल्प आदि सब पुद्गलद्रव्यमय ही है, जड़ है। आहाहा! जड़ तो दूसरे चार द्रव्य भी हैं—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल। परन्तु यह पुद्गलद्रव्य ही है—ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा! अब यह अचेतन चीज है, वह अपनी है, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, झूठी श्रद्धा है। झूठी अर्थात्, झूठे भव के करने के कारण अनन्त हैं। झूठी श्रद्धा में अनन्त भव करने का गर्भ है। आहाहा! अरे! प्रभु! क्या करे? विपरीत मान्यता में अनन्त चौरासी के अवतार करने का गर्भ है। ओहोहो!

इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता है.... आहाहा! यह अचेतन जो तेरह गुणस्थान, मिथ्यात्व आदि पुद्गलद्रव्य है, वही पुद्गलद्रव्य के कर्ता हैं, नये कर्मबन्ध के वे कर्ता हैं; आत्मा नहीं। आहाहा! इसमें नये लोगों को तो समझना क्या! सुना न हो कभी कुछ। पूरे दिन संसार के पाप अकेले, धर्म तो नहीं परन्तु

पुण्य का भी ठिकाना नहीं। यहाँ किसी समय सहज पुण्य करे कि दे लाख या पचास हजार, लाख-दो लाख, पाँच हजार-दस हजार.... परन्तु वह 'ऐरण की चोरी और सुई का दान'—ऐरण की चोरी है। स्वर्णकार के यहाँ ऐरण होता है न लोहे का, उसकी चोरी और सुई का दान, उसमें कहाँ मिलान खाये?

मुमुक्षु : पैसा खर्च करे और पुण्य भी नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा खर्च करने में भी यदि वह राग मन्द करे तो पुण्य, वह पुण्य कितना? थोड़ा। और पाप तो बहुत बड़ा—तेईस घण्टे-बाईस घण्टे पाप करता हो, उसमें ऐरण की चोरी और सुई का दान। किरणभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! वहाँ कहीं सुनाई दे ऐसा नहीं मुम्बई में! आहाहा! ऐई!

मुमुक्षु : करना क्या हमारे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? आत्मा ज्ञायकस्वरूप है और उसके ऊपर दृष्टि कर अन्दर। इसके बिना तेरे जन्म-मरण नहीं मिटेंगे। मर गया तू तिर्यंच के भव, नरक के भव, पशु के अनन्त शरीर कर-करके, कीड़ा, कौवा, कंथवा, ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये, प्रभु! अब यह भव न करना हो तो.... आत्मा अन्दर चैतन्यमूर्ति, राग से रहित है, उसकी अन्दर अनुभव-दृष्टि कर। आहाहा! ऐसा काम है। आहाहा!

यहाँ तो अभी निवृत्त हो नहीं चौबीस घण्टे में, उसे यह कहते हैं कि तुझे विकल्प उठे जो दया-दान आदि का, उससे भिन्न है। उसके वहाँ जा। यहाँ खड़ा न रह—खड़ा इसमें न रह, ऐसा कहते हैं। कहो, रायचन्दभाई! इन रायचन्दभाई ने दो लाख रुपये दिये हैं अभी वहाँ नैरोबी, मन्दिर किया है न मन्दिर, यह ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस का खातमुहूर्त था। मन्दिर (बननेवाला) है, पन्द्रह लाख रुपये का अफ्रीका-नैरोबी (में)। इन रायचन्दभाई ने दो लाख दो हजार दिये, मात्र उसका उसमें मन्दिर का खातमुहूर्त करने में। पुत्र-पुत्री नहीं, पति-पत्नी और माँ तीन व्यक्ति हैं। अभी ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को मुहूर्त हुआ न? खात (मुहूर्त)। अफ्रीका में। दो हजार वर्ष में वहाँ दिगम्बर मन्दिर नहीं था, अभी (अब) वह तैयार होनेवाला है। ज्येष्ठ शुक्ल-११ है, क्या कहा जाता है? भीम ग्यारस से खातमुहूर्त इनके हाथ से खातमुहूर्त हुआ है। दो लाख दो हजार, दिये इन्होंने। परन्तु

उससे क्या? वह राग की मन्दता—राग की मन्दता हो तो पुण्य होता है, (वह कहीं धर्म नहीं है)।

मुमुक्षु : कितने रुपये दो तो धर्म हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! करोड़ दे तो भी क्या है? उसमें (यदि) करोड़ रुपये मेरे हैं ऐसा मानकर दे तब तो मिथ्यात्व है, पाप-मिथ्यात्व का पाप है। आहाहा! कठिन काम भाई! जन्म-मरण से रहित होने का रास्ता, बापू! (अलौकिक है)। आहाहा!

आहाहा! प्रभु कहते हैं—प्रभु कहते हैं कि एक बार सुन तो सही प्रभु! आहाहा! प्रभु! तू तेरे अनन्त काल के परिभ्रमण के भाव का क्या स्वरूप है, यह सुन तो सही। आहाहा! प्रभु! तू चैतन्यमूर्ति और अन्दर अनन्त-अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु है, चैतन्य हीरा, आहाहा! जिसकी कीमत नहीं होती, अनमोल चीज़ है अन्दर, भगवत्स्वरूप है—जिनस्वरूप है। आहाहा!

घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन,
मत मदिरा के पान सों, मतवाला समझे न।

आहाहा! यह वीतरागस्वरूप विराजता है अन्दर तू अभी, हों! त्रिकाल उसका स्वरूप ही वीतरागस्वरूप ही जहाँ है—चैतन्यस्वरूप, वीतरागस्वरूप अकषायस्वरूप परमानन्दस्वरूप परम प्रभुतास्वरूप—ऐसा भगवान अन्दर में द्रव्यस्वभाव है। उससे विरुद्ध में यह पुण्य और पाप और तेरह ही गुणस्थान आदि भाव आस्रव, वे नये बन्ध के कारण हैं—संसार में परिभ्रमण का कारण है। ओहोहो! कठिन काम! सोनगढ़वाले ही ऐसा कहते हैं या दूसरे कहते हैं? ऐसा कहते हैं लोग, ऐसा। अरे भगवान! परन्तु सुन तो सही तू, देख तो सही जरा! संसार के नामा जाँचता है और तेरे पास मेरे दस हजार (लेना) है, वह कहे कि परन्तु पाँच हजार मेरी बहियों में निकलते हैं तुम्हारे लेना! यह कहे कि दस हजार निकलते हैं। लाओ, निकालो। वहाँ मिलान करे बनिया, केरोसीन जलाकर। यहाँ नामा मिलाना हो, भगवान क्या कहते हैं और मैं क्या मानता हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : आवे नहीं तो मिलावे किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो कहते हैं न कि अब ऐसा मनुष्यभव मिला, उसमें ऐसे भव के अभाव की बात यदि नहीं सुनी। वास्तव में तो भव का अभाव करने के लिये यह भव है। आहाहा! भव का अभाव करने की यह चीज़ है। आहाहा!

इतने में भी समाहित कर दिया। **इससे यह सिद्ध हुआ...** इससे अर्थात् यह मिथ्यात्व, अविरति, व्रत, विकल्प आदि जो सब है, वह आस्रव है, बन्ध का कारण है क्योंकि वह अचेतन है, क्योंकि वह पुद्गल है। आहाहा! वह जीव नहीं।

मुमुक्षु : आप कहते हो जीव विकार करे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य विकार करे नहीं—द्रव्य—वस्तु वह विकार करे? वह तो पर्याय में विकार होता है, वह अचेतन है—जड़ है। आहाहा! चैतन्य हीरा—सूर्य के किसी प्रकाश में अन्धकार होगा? सूर्य की कितनी किरणें निकलती हैं? हजारों, कोई किरण कोयले के जैसी होगी कोई? इसी प्रकार भगवान आत्मा (में) ऐसे तो अनन्त-अनन्त सूर्य के प्रकाश की किरणें गौण हैं। यहाँ तो ऐसा अनन्त प्रकाश का नूर भरा पड़ा है अन्दर। आहाहा! परन्तु उसके सामने देखने का भी कहाँ है, पर में देख-देखकर पूरी जिन्दगी निकाली—अनन्त भव। आहाहा! यह अन्दर भगवान विराजता है, प्रभु इस देह-देवल में (विराजता है), यह शरीर, स्त्री, पुरुष—यह तो जड़ के हैं। यह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा, परमब्रह्म, आनन्दकन्द, ज्ञायक की मूर्ति, अनन्त गुण पवित्रता की खान, ऐसा भगवान आत्मा, उसमें जो पर्याय में ऐसे पुण्य-पाप के आस्रवभाव होते हैं, वे अचेतन हैं, आहाहा! वे चैतन्य की जाति के नहीं, इस कारण से उसे पुद्गलद्रव्य कहा गया है। तो वह पुद्गलद्रव्य पुद्गलद्रव्य का कर्ता है। नये बन्धन का वह पुद्गलद्रव्य पुद्गल का कर्ता है, आत्मा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा कि मिथ्यात्वभाव है न, वह भी मिथ्यात्वभाव है, वह अचेतन, आस्रव है और वह पुद्गलद्रव्य है। आहाहा! भगवान तो इस मिथ्यात्व से भिन्न है अन्दर। आहाहा! मिथ्यात्व है, उसे यहाँ पहले बताते हैं। समझ में आया? वह तो सीधा था कि व्रत करो, तप करो, दया करो, दान करो। पूजा, दान, शील, तप, भावना ये धर्म के चार प्रकार। हो गया, लो! यहाँ कहते हैं कि दान का भाव तेरा लाख हो, वह

पुद्गल है। ब्रह्मचर्य—शील वह शरीर का पालने का भाव, वह राग और पुद्गल है। यह उपवास करूँ आदि के विकल्प हैं, वे भी पुद्गल हैं। अरर्र! दान, शील, तप, भावना अर्थात् यहाँ यह (धर्म) मानते हैं। इच्छा—अपवास किये दो-तीन महीने के अपवास किये, उस उपवास में तेरा विकल्प था, वह राग है। वह तो पुद्गल है। आहाहा!

मुमुक्षु : उपाश्रय में ऐसा सब कहा हो तो मारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहाँ सोनगढ़—यहाँ तो जंगल में पड़े हैं। (लोगों को) जो मानना हो वह माने, यहाँ कहीं कोई कुछ पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं यहाँ। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव, गणधरों और इन्द्रों के बीच यह बात करते थे, महाविदेह में इन्द्र और गणधरों के बीच यह बात करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे, उन्होंने यहाँ आकर यह शास्त्र बनाये, उनका यह पुकार है। आहाहा! उनके पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अमृतचन्द्राचार्य हुए, उनकी यह टीका है। आहाहा! सब खबर थी उन्हें। आता है न शास्त्र—प्रवचनसार में आता है, भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे, पहला आता है शुरुआत में। आहाहा! यह कल वाँचन किया था, आहाहा! उसका भावार्थ है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता (करनेवाला) है; जीव नहीं,... भगवान आत्मा—जीव जो चैतन्यबिम्ब प्रभु जो द्रव्यस्वभाव, आनन्द और ज्ञान है, वह कहीं पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है। पुद्गल का बन्ध। वह रागादि की पर्याय, वह बन्ध पुद्गल है और वह पुद्गल बन्ध का कर्ता है। **जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता मानना अज्ञान है।** यह अन्तिम शब्द, यह भगवान आत्मा वस्तु है, वस्तु, शुद्ध चैतन्य धातु, चैतन्य धातु, जिसमें चैतन्य धार रखा है, ऐसा भगवान चैतन्यमूर्ति ज्ञायकस्वभाव आनन्दमूर्ति को पुद्गलकर्म का कर्ता मानना अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आहाहा!

अब यह कहते हैं कि **जीव और उन प्रत्ययों में एकत्व नहीं है।**

गाथा-११३ से ११५

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं-

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एव-मणण्णत्त-मावण्णं ।।११३।।

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अय-मेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ।।११४।।

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।११५।।

यथा जीवस्यानन्य उपयोग: क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्य: ।
जीवस्याजीवस्य चैव-मनन्यत्व-मापन्नम् ।।११३।।

एवमिह यस्तु जीव: स चैव तु नियमतस्तथाऽजीव: ।
अय-मेकत्वे दोष: प्रत्यय-नोकर्म-कर्मणाम् ।।११४।।

अथ ते अन्य: क्रोधोऽन्य: उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्यया: कर्म नोकर्माप्यन्यत् ।।११५।।

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जड: क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमय-त्वापत्ति: । तथा सति तु य एव जीव: स एवा-जीव इति द्रव्यान्तरलुप्ति: ।

एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोष: । अथैतद्दोष-भयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभाव: क्रोध: इत्यभ्युपगम: तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभाव: क्रोध: तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात् ।

नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वम् ।।११३-११५ ।।

अब यह कहते हैं कि–जीव और उन प्रत्ययों में एकत्व नहीं है:–

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीव का, क्रोध त्यों ही जीव का,
तो दोष आये जीव त्योंहि अजीव के एकत्व का।।११३।।

यों जगत में जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुए।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्व में भी दोष ये।।११४।।

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोगआत्मक अन्य है,
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं।।११५।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [जीवस्य] जीव के [उपयोगः] उपयोग [अनन्यः] अनन्य अर्थात् एकरूप है [तथा] उसी प्रकार [यदि] यदि [क्रोधः अपि] क्रोध भी [अनन्यः] अनन्य हो तो [एवम्] इस प्रकार [जीवस्य] जीव के [च] और [अजीवस्य] अजीव के [अनन्यत्वम्] अनन्यत्व [आपन्नम्] आ गया। [एवम् च] और ऐसा होने पर, [इह] इस जगत में [यः तु] जो [जीवः] जीव है, [सः एव तु] वही [नियमतः] नियम से [तथा] उसी प्रकार [अजीवः] अजीव सिद्ध हुआ; (दोनों के अनन्यत्व होने में यह दोष आया;) [प्रत्ययनोकर्म–कर्मणाम्] प्रत्यय, नोकर्म और कर्म के [एकत्वे] एकत्व में अर्थात् अनन्यत्व में भी [अयम् दोषः] यही दोष आता है। [अथ] अब यदि (इस दोष के भय से) [ते] तेरे मत में [क्रोधः] क्रोध [अन्यः] अन्य है और [उपयोगात्मकः] उपयोगस्वरूप [चेतयिता] आत्मा [अन्यः] अन्य [भवति] है, तो [यथा क्रोधः] जैसे क्रोध है [तथा] वैसे ही [प्रत्ययाः] प्रत्यय, [कर्म] कर्म और [नोकर्म अपि] नोकर्म भी [अन्यत्] आत्मा से अन्य ही हैं।

टीका : जैसे जीव के उपयोगमयत्व के कारण जीव से उपयोग अनन्य (अभिन्न) है, उसी प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है–यदि ऐसी प्रतिपत्ति[१] की जाये, तो चिद्रूप[२] और जड़ के अनन्यत्व के कारण जीव को उपयोगमयता की भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी। और ऐसा होने से तो जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा–इस प्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा। इसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जीव से अनन्य हैं, ऐसी प्रतिपत्ति में भी यही दोष आता है। अब यदि इस दोष के भय से यह स्वीकार

१. प्रतिपत्ति=प्रतीति; प्रतिपादन। २. चिद्रूप=जीव।

किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीव से जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं, क्योंकि उनके जड़स्वभावत्व में अन्तर नहीं है (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है; उसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं)। इस प्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है।

भावार्थ : मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चेतनस्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यों के लोप होने का महा दोष आता है। इसलिए निश्चयनय का यह सिद्धान्त है कि आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है।।११३ से ११५।।

गाथा - ११३ से ११५ पर प्रवचन

गाथा,

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एव-मणण्णत्त-मावण्णं ।।११३।।

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अय-मेयत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ।।११४।।

अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ।।११५।।

नीचे हरिगीत

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीव का, क्रोध त्यों ही जीव का,
तो दोष आये जीव त्योंहि अजीव के एकत्व का।।११३।।

यों जगत में जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुए।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्व में भी दोष ये।।११४।।

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोग आत्मक अन्य है,
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं।।११५।।

आहाहा! बहुत सरस बात है। टीका, इसकी टीका—**जैसे जीव के उपयोगमयत्व के कारण....** जीव तो जानन-देखन उपयोगमय है। आहाहा! भगवान आत्मा तो जानन-देखन उपयोगमय है। है? अभिन्न है—**जीव के उपयोग, वह जीव से अभिन्न है।** आहाहा! **उसी प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है....** इसी प्रकार क्रोध भी अनन्य है—जैसे आत्मा ज्ञायकस्वरूप है, उसका जो उपयोग है जानन-देखन, वह अभिन्न है, उसी प्रकार यदि क्रोध को भी अभिन्न गिनो—जब **जड़ क्रोध भी अनन्य ही है...** यदि ऐसा कहो तो.... **यदि ऐसी प्रतिपत्ति की जाये...** ऐसी यदि प्रतीति की जाये, तो **चिद्रूप (जीव) और जड़ के अनन्यत्व के कारण जीव के उपयोगमयता की भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी।** आहाहा!

क्या कहते हैं? कि जीव जो है वह उपयोगमय है। जानन-देखन उपयोगमय है। इसलिए उपयोग और जीव अनन्य है, अन्य-अन्य नहीं, अभिन्न है। उसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, रागादि यदि आत्मा से अनन्य है तो आत्मा अजीव हो जाये। आहाहा! भगवान आत्मा, जैसे जानन-देखन उपयोगमय है, वह जानन-देखन से तो अनन्य अभिन्न है आत्मा; उसी प्रकार यदि क्रोध, राग, द्वेष—क्रोध शब्द लिया है द्वेष का—द्वेष के दो भाग, क्रोध और मान (तथा) राग के दो भाग माया और लोभ। आहाहा! उसमें यहाँ और इच्छा लो अभी तो अधिक ठीक पड़ेगा। यह इच्छा जो हुई, आहाहा! वह भी आत्मा के साथ अनन्य हो तो क्रोध जड़ है, वह जड़ इच्छा है। वह इच्छा जड़ है। आहाहा! आत्मा ज्ञान-दर्शन के उपयोगस्वरूप है। उस उपयोग से आत्मा अनन्य-अभिन्न है, इसी प्रकार इच्छा आत्मा से अनन्य हो जाये तो इच्छा तो जड़ है, जड़ से अनन्य हो जाये, तो आत्मा जड़ हो जाये। आहाहा! सूक्ष्म विषय है। है?

जैसे जीव के उपयोगमयत्व के कारण... उपयोगमयत्व के कारण, हों! उपयोगमय है। **जीव से उपयोग अनन्य है....** अभिन्न है। उसी प्रकार जड़ इच्छा भी अनन्य ही है, कोई ऐसा माने कि यह इच्छा है, (वह) मुझसे अनन्य है, मेरे साथ वह अभेद है, **ऐसी यदि प्रतिपत्ति....** ऐसी प्रतीति **की जाये तो चिद्रूप (जीव) और जड़ के अनन्यत्व के कारण....** आहाहा! जड़ के अनन्यत्व के कारण—एकमेक होने के कारण, वही अजीव

सिद्ध होगा। आहाहा! कारण, क्योंकि **जीव के उपयोगमयता की भाँति...** जानन-देखन वह आत्मा में अभिन्न है, इसी प्रकार इच्छा हुई वह इच्छा भी आत्मा से अनन्य हो तो आत्मा जड़ हो गया। आहाहा! ऐसा सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा है। आहाहा!

भगवान आत्मा, इच्छा मात्र जो है, यह आत्मा जैसे जानन-देखन उपयोगमय है, वैसे इच्छा आत्मा के साथ अभिन्न हो तो इच्छा जड़ है, तो जीव जड़ हो जायेगा। आहाहा! धर्मकथा सूक्ष्म है। आहाहा! इच्छामात्र, लोभ, मान, क्रोध, माया, राग, हास्य, विषय वासना, कमाने के भाव, दान के भाव, वे सब भाव अचेतन हैं। आहाहा! जैसे यह भगवान आत्मा जानन-देखन उपयोग से अभिन्न है, उसी प्रकार यदि इच्छा और राग आदि कहे, वे अजीव हैं, पुद्गल हैं, उनसे यदि अनन्य—एकमेक हो जीव (तो) जड़ हो जायेगा। गजब बात है। आहाहा! यह 'मोक्ष की इच्छा' भी जड़ है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह तो पुद्गल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भाई! इसने धर्म सुना नहीं, अभी तो हा... हो... बड़ी धमाल, बड़े हाथी निकाले और उस पर चढ़े और रथ निकाले, और दो-पाँच-दस लाख खर्च करे। आहाहा! उसे बड़ी संघवी की पदवी दे। आहाहा!

प्रभु! तेरी बड़ी भूल हुई है, कहते हैं कि तू चैतन्यमूर्ति भगवान आनन्द और प्रकाश की मूर्ति, अनन्त सूर्य का प्रकाश हो, इससे भी तेरा चैतन्य प्रकाश अनन्तगुणा अन्दर पड़ा है। आहाहा! अनन्त चन्द्र की शीतलता से भी तुझमें अनन्त शीतलता—वीतरागी शान्ति पड़ी है—शान्ति पड़ी है और जैसे आकाश की गम्भीरता है, पार नहीं लोक के बाहर आकाश कहाँ पूरा हो गया आकाश? कहीं पूरा नहीं होता। आकाश... आकाश... आकाश.... उसी प्रकार यह तुझमें अनन्त गुण अपार भरे हैं। आहाहा! और समुद्र की गम्भीरता का पार नहीं, ऐसी तेरी गुणशक्ति की गम्भीरता का पार नहीं। ऐसा भगवान आत्मा, महाप्रभु! वह लोभ राग इच्छा पुण्य या पाप आदि भाव मेरे हैं, ऐसा माने तो वह भाव तो पुद्गल है और पुद्गलमय-जड़ है तो तू जड़ हो जायेगा। आहाहा! कठिन काम है, बापू! दुनिया से अलग प्रकार है भाई यहाँ!

मुमुक्षु : भेदज्ञान कराते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे तो ऐसा कहते हैं कि दया पालो, व्रत पालो, भक्ति, पूजा करो। यह साधन है, लो। अब जड़ साधन है? आहाहा!

चिद्रूप जीव, आहाहा! ज्ञानस्वरूप प्रभु वह चैतन्य ज्ञान का पुंज प्रभु, वह इच्छा / राग और पुण्य-पाप के भाव अचेतन-पुद्गल हैं तो वे आत्मा से अनन्य हो जायें तो आत्मा जड़ हो जाये। आहाहा! उससे भी तेरी चीज़ भिन्न है, भगवान! उस भिन्न चीज़ को खोज, अन्दर देख। आहाहा! ऐसी बात है।

जीव, जड़ के अनन्यत्व के कारण, **जीव के उपयोगमयता की भाँति....** जैसे भगवान आत्मा जानन-देखन उपयोगमय है, उसी प्रकार जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी, यह क्रोध, मान, माया, लोभ इच्छा मात्र अपना है तो वह जड़ हो जायेगा। आहाहा! बहुत सूक्ष्म है। इसी प्रकार **ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा...** आहाहा! यह राग दया, दान का, भक्ति का, पूजा का राग, वह राग पुद्गल है, अचेतन है। जैसे आत्मा और उपयोग एक ही है, उसी प्रकार यदि राग को एक ही मानो तो जीव जड़ हो जायेगा। आहाहा! जीव, अजीव हो जायेगा। है? अन्दर है या नहीं? **अजीव सिद्ध होगा, इस प्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा....** क्या कहते हैं यह? जब रागादि पुद्गल है, उन्हें यदि अपना मान लो, तो आत्मा जड़ हो जायेगा और दूसरी चीज़ है, उसका लोप हो जायेगा, क्योंकि जड़ तो यहाँ आ गये। जड़, जीव में आ गये। जड़ चीज़ है बाह्य, उसका लोप हो जायेगा? क्या कहा? समझ में आया?

फिर से। कि भगवान आत्मा वह तो जानन-देखन उपयोगस्वरूप ही प्रभु अनादि है। तो वह तो उपयोग, उसके साथ अनन्य है। अभिन्न है। उसी प्रकार राग, इच्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ भी अपने हों तो वह चीज़ तो अचेतन है, जड़ है, पुद्गल है। पुद्गल है तो, आत्मा जड़ हो गया! तब तो दूसरे जड़ हैं, उनका तो लोप हो गया। जड़ (चीज़ है), वह तुझमें घुस गयी। आहाहा! ऐसा यह सुनने को मिलता नहीं और मुम्बई जैसी नगरी मोहमयी! हो... हा...! हो... हा...! हो... हा...! धमाल... धमाल! आहाहा! कठिन लगे बात तो।

यहाँ तो उसका स्वरूप (बतलाकर) भेदज्ञान कराते हैं। यह राग चाहे तो दया

का हो या भक्ति का हो, परन्तु उपयोग है, वह जानन-देखन उपयोग है। वह उपयोग है, वह आत्मा का है—अनन्य है। अन्य-अन्य उपयोग और अन्य जीव, ऐसा नहीं है। इस प्रकार, जैसे उपयोग अनन्य है, इसी प्रकार रागादि-इच्छा आदि वह आत्मा के साथ अनन्य हो जाये, तो वह जड़ हो जायेगा क्योंकि राग इच्छा जड़ है, इसलिए यहाँ कहा कि बाकी द्रव्य का भी लोप हो जायेगा। जड़ यहाँ आ जायेंगे तो जड़ का लोप हो जायेगा। ऐसा सूक्ष्म है।

यह टीका तो हजार वर्ष पहले की है, दो हजार (वर्ष) पहले के श्लोक हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे।

मुमुक्षु : हमको तो अभी मिला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! एक ही श्लोक में बस है, यहाँ तो। 'जड़ और चैतन्य दोनों प्रगट स्वभाव भिन्न' आहाहा! यह पुण्य का भाव, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा (का) भाव है, वह राग है। अरर्र! यह लोग तो कहते हैं न कि यह राग करो तो धर्म होगा। जड़ करो तो चैतन्य होगा। यहाँ तो यह कहते हैं, बापू! उसमें चैतन्य के नूर के प्रकाश का अंश कहाँ है? राग दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि में चैतन्यस्वरूप के ज्ञान का अंश उसमें है नहीं। है नहीं तो इस कारण से अचेतन हुए, अचेतन हुए तो सही परन्तु अचेतन तो पुद्गल हुए। अचेतन तो पुद्गलद्रव्य है। आहाहा! रागभाव है और वह नये बन्ध का कारण है और वह जड़ जड़ का कारण है।

और ऐसा होने पर जो जीव है वही अजीव सिद्ध होगा... और इस प्रकार ऐसा होने से पर जो जीव है, वही अजीव सिद्ध होगा—सिद्ध अर्थात् अजीव हो गया, ऐसा। **इस प्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा। इसी प्रकार प्रत्यय....** आस्रव, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, शुभाशुभभाव, **नोकर्म,** आहार, शरीर, इन्द्रियाँ, श्वास, भाषा के योग्य पुद्गल **और कर्म....** जड़, वे **भी जीव से...** अन्य है, जीव से अन्य है, परन्तु यदि मानो कि जीव से **अनन्य है...** तो **ऐसी प्रतिपत्ति में भी यही दोष आता है...** क्या कहा? कि जैसे राग, क्रोध आत्मा से अन्य है, (वे) अन्य है। उन्हें अनन्य मानो तो यह दोष आयेगा कि जड़ हो जायेगा।

इसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म.... शरीर आदि, वाणी आदि **जीव से अनन्य**

है... जीव से एकमेक है, जीव के हैं, **ऐसी प्रतिपत्ति...** अंगीकार करने में **भी यही दोष आता है।** आहाहा!

मुमुक्षु : प्रत्यय अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : सभी कहे न प्रत्यय—आस्रव कहे न, और फिर यह कर्म और नोकर्म दूसरी चीज़। प्रत्यय तो मात्र यह पहले गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान का भाव वह प्रत्यय है, आस्रव है और उसमें कर्म और नोकर्म दूसरी, पृथक् चीज़ है। ऐसा कि जब प्रत्यय जो है, वह तेरे हो जाये, तो तू जड़ हो जायेगा और जड़ का लोप हो गया। जब ऐसा है तो ऐसे दूसरे प्रत्यय को तुम मान लो गुणस्थानों को और कर्म को मान लो तो, तुम जड़ हो जाओगे। आहाहा! बहुत कठिन काम है। भेदज्ञान है। बापू! इसमें निवृत्ति कहाँ है? आहाहा! पाप का विस्तार है पूरे दिन। आहाहा!

इसलिए **यदि इस दोष के भय से ऐसा स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है...** है? इस प्रकार दोष आयेगा, इसलिए तुझे यदि समझना हो तो, उपयोगस्वरूप वह जीव अन्य ही है—पृथक् है और जड़स्वभाव राग, द्वेष, क्रोध आदि अन्य ही है। आहाहा! **तो जैसे उपयोगात्मक जीव से जड़स्वभाव क्रोध अन्य है...** उपयोगस्वरूप जानन-देखन ऐसे जीव से यह राग जड़स्वभाव भिन्न है, **उसी प्रकार प्रत्यय....** भिन्न है। आस्रव तेरह, **नोकर्म...** भिन्न है—भाषा आदि अथवा आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा के योग्य पुद्गल भिन्न है। **कर्म भी अन्य ही है...** जड़। आहाहा! इतनी गाथा में, इतना भरा है।

क्या कहा? कि जो रागादि, पुण्य आदि, दया-दान के विकल्प उठते हैं। जैसे उपयोगस्वरूप आत्मा से (उपयोग) अनन्य है; उसी प्रकार राग से आत्मा अनन्य हो जाये तो आत्मा जड़ हो जायेगा, उस जड़ की भिन्नता रहेगी नहीं, जड़ हो जायेगा। तो जड़ का लोप हो जायेगा। आहाहा! तो जैसे क्रोध आत्मा के स्वरूप से अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय अर्थात् तेरह गुणस्थान अन्य है, उसी प्रकार कर्म भी अन्य है और नोकर्म भी अन्य है। आहाहा! समझ में आया? थोड़े में बहुत है परन्तु अब, क्या करे?

यह तो सिद्धान्त है। सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वरदेव के श्रीमुख से निकली हुई वाणी है, अभी तो वाडा में तो मिले, ऐसा नहीं। भारी मुश्किल। जहाँ हो वहाँ व्रत पालन करो

और यह करो.... यह करो.... यह करो...। आहाहा! तपस्या करो। किया न बलुभाई ने, तपस्या की थी न, वर्षीतप किया था। सुना था तुम्हारे मित्र बलुभाई डॉक्टर, वहाँ नहीं आटकोटवाले, वर्षीतप किया था। खरा आदमी लंघन है, कहा, सब तेरा।

मुमुक्षु : आप पारणा में तो गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी वहाँ आहार लेने गये थे वहाँ आटकोट, उनके पिता राजकोट में थे, चुनीलाल।

यह सब लंघन है, भान बिना वर्षीतप किसका तेरा? वह फिर तो समझ में आया कि गजब हुआ। अभी आत्मा क्या चीज़ है, विकल्प क्या चीज़ है, शरीर कौन चीज़ है, उसकी भिन्नता की तो खबर नहीं और तुझे उपवास हो गया? उपवास में तो उप+वास =चैतन्य राग से भिन्न है, ऐसी चीज़ में उप अर्थात् समीप जाकर बसना अन्दर में। आनन्दस्वरूप में बसना, इसका (नाम) उपवास है। यह तो सब अपवास है। अप अर्थात् बुरा वास, राग की इच्छा में रहे, वह तो जड़ में रहे हैं। आहाहा! समझ में आया?

इतनी गाथा में कितना भरा है, लो! **उसी प्रकार प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अन्य ही है क्योंकि उनके जड़ स्वभावात्व में अन्तर नहीं है....** आहाहा! क्या कहते हैं कि जैसे क्रोध जड़स्वभाव है, उसी प्रकार तेरह गुणस्थान भी जड़स्वभाव है और कर्म का भी जड़स्वभाव है और नोकर्म का भी जड़स्वभाव है। आहाहा! यह शरीर का जड़स्वभाव है, कर्म का जड़स्वभाव है, इसी प्रकार पुण्य-पाप राग-द्वेष का जड़स्वभाव है। एक, एक में सब डाल दिया। आहाहा!

मुमुक्षु : सबको संयोग में डाल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोग और यह भाव दोनों एक में डाल दिये। जड़, पैसा, पैसा—क्या होगा यह तुम्हारे हीरा का? यहाँ तो भगवान नौ तत्त्व है न? तो पापतत्त्व, पुण्यतत्त्व भिन्न है, (उनसे) आत्मतत्त्व भिन्न। तो नौ है न? जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तो वह पुण्यतत्त्व भिन्न है, भगवान भिन्न है। वह राग जड़ है, अचेतन है। उसमें ज्ञायक चैतन्य कहाँ आया? और ज्ञायक चैतन्य में जो राग, तेरा मान लिया हुआ वह राग अचेतन पुद्गल है तो तू पुद्गल हो जायेगा, जड़ हो

जायेगा। आहाहा! अन्ध हो जायेगा। कठिन काम है। कर्म भी जड़ है, इस प्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं। प्रत्यय अर्थात् आस्रव—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और तेरह गुणस्थान, वे सब प्रत्यय में डाले हैं।

इस प्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है। ये गुणस्थान के भाव और आत्मा में एकत्व नहीं है, वे अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा!

भावार्थ - मिथ्यात्व, अन्दर आये थे न चार? मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। चार पहले आये थे। पहले-पहले में आ गये थे। **मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव है...** विपरीत मान्यता, हों। मान्यता को यहाँ जड़स्वभाव कहा। परमाणु तो भिन्न। मिथ्या मान्यता है, वह जड़स्वभाव है। आहाहा! **और जीव चैतन्यस्वभाव है।** भगवान तो जाननस्वभाव की मूर्ति प्रभु है।

यदि जड़ और चैतन्य एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यों के लोप होने का महादोष आता है। आहाहा! यह पुण्य और पापतत्त्व भिन्न है, वह जड़ हो जाये, तो जड़ रहता नहीं बाहर में। प्रत्यय से लगाकर सब पदार्थ जड़ हैं। एक ओर आत्मा चैतन्यराजा उपयोगमय राजा आत्मा भिन्न है। आहाहा! वह तो शुद्ध उपयोग जानन-देखन स्वभाववाला आत्मा भिन्न है।

इसके अतिरिक्त सब इस इच्छा से लेकर कर्म, नोकर्म, शरीर, वाणी, मन, पैसा-फैसा सब जड़ है। वह जड़ तेरा हो जाये तो तू जड़ हो जायेगा। पैसे मेरे हैं, नोट मेरे हैं। पैसे मेरे हैं....

मुमुक्षु : इतने वर्ष से पैसे हमारे हैं, ऐसा कहा तो जड़ नहीं हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ हुआ है मान्यता में। नहीं हुआ न? मान्यता में जड़ है। ऐई! ऐसा है। इसलिए **निश्चयनय का यह सिद्धान्त है....** शुद्ध निश्चय का यह सिद्धान्त है कि **आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है।** यह अज्ञानभाव जो रागादि, पुण्य, पाप भाव है, उसे आत्मा में एकत्व है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-११६ से १२०

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति -

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गल-दव्व-मिणं अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ वा।।११७।।

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सय-मपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।११८।।

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ-परिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्य-मिद-मपरिणामि तदा भवति।।११६।।

कार्मण-वर्गणासु चापरिणममानासु कर्म-भावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।११७।।

जीवः परिणामयति पुद्गल-द्रव्याणि कर्म-भावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता।।११८।।

अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम्।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्व-मिति मिथ्या।।११९।।

नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तद्ज्ञानावरणादि-परिणतं जानीत तच्चैव।।१२०।।

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्। तथा सति सन्साराभावः।

अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न सन्साराभावः इति तर्कः।

किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वय-मपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।

स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु।

तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणा-दिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्।।११६-१२०।।

अब, सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुष को अपरिणामी मानते हैं, उन्हें समझाते हैं):-

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे।
तो वो हि पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे!।।११६।।

जो वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे!।।११७।।

जो कर्मभावों परिणमाये जीव पुद्गलद्रव्य को।
क्यों जीव उसको परिणमाये, स्वयं नहिं परिणमत जो?।।११८।।

स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे।
जीव परिणमाये कर्म को, कर्मत्व में-मिथ्या बने।।११९।।

पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियम से कर्म हि बने।
ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत, वो हि तुम जानो उसे।।१२०।।

गाथार्थ : [इदम् पुद्गलद्रव्यम्] यह पुद्गलद्रव्य [जीवे] जीव में [स्वयं] स्वयं

[बद्धं न] नहीं बँधा [कर्मभावेन] और कर्मभाव से [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि] यदि ऐसा माना जाये [तदा] तो वह [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [च] और [कार्मणवर्गणासु] कार्मणवर्गणाएँ [कर्मभावेन] कर्मभाव से [अपरिणममानासु] नहीं परिणमती होने से, [संसारस्य] संसार का [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत का प्रसंग आता है।

और [जीवः] जीव [पुद्गलद्रव्याणि] पुद्गलद्रव्यों को [कर्मभावेन] कर्मभाव से [परिणामयति] परिणमाता है, ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणम-मानानि] स्वयं नहीं परिणमती हुई [तानि] उन वर्गणाओं को [चेतयिता] चेतन आत्मा [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकता है? [अथ] अथवा यदि [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयमेव हि] अपने आप ही [कर्मभावेन] कर्मभाव से [परिणमते] परिणमन करता है, ऐसा माना जाये, तो [जीवः] जीव [कर्म] कर्म को अर्थात् पुद्गलद्रव्य को [कर्मत्वम्] कर्मरूप [परिणामयति] परिणमन करता है, [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है।

[नियमात्] इसलिए जैसे नियम से [कर्मपरिणतं] कर्मरूप (कर्ता के कार्यरूप से) परिणमित [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [कर्म चैव] कर्म ही [भवति] है, [तथा] इसी प्रकार [ज्ञानावरणादिपरिणतं] ज्ञानावरणादिरूप परिणमित [तत्] पुद्गलद्रव्य [तत् च एव] ज्ञानावरणादि ही है [जानीत] ऐसा जानो।

टीका : यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं न बँधकर कर्मभाव से स्वयमेव नहीं परिणमता हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा। ऐसा होने पर, संसार का अभाव होगा। (क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि ''जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा'', तो उसका निराकरण दो पक्षों को लेकर इस प्रकार किया जाता है कि-क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्म भावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। (इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।) और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती;

क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (इसलिए दूसरा पक्षा भी असत्य है।) अतः पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है; उसी प्रकार जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।।११६ से १२०।।

प्रवचन नं. २११, गाथा-११६ से १२०, दिनांक ०४-०३-१९७९, रविवार, फाल्गुन शुक्ल - ६

श्री समयसार, ११५ गाथा हो गयी है। ११६ से १२०।

अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति.... उपोद्घात है न ऊपर, गाथा के ऊपर? सांख्यमतानुयायी शिष्य अर्थात् क्या?—कि पुद्गल और जीव जो है, वह परिणमते नहीं—बदलते नहीं, दूसरा उसे बदलावे, ऐसा कहनेवाला शिष्य सांख्यमत का अनुयायी है। चाहे तो जैन हो।

पुद्गल जो कर्म, यहाँ तो आ गया न (कि) ज्ञानावरणी कर्म जो बँधते हैं, वह पुद्गल की पर्याय है, पुद्गल से बँधता है। आत्मा ने राग-द्वेष किये तो कर्म की पर्याय को होना पड़ा, ऐसा है नहीं। समझ में आया? जड़ और चैतन्य का परिणमन स्वभाव है, बदलने का स्वभाव है, तो स्वयं से बदलता है, पर से बदलता नहीं। यह बात कहते हैं।

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गल-दव्व-मिणं अप्परिणामी तदा होदि।।११६।।

कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संख-समओ वा।।११७।।

जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सय-मपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा।।११८।।

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा।।११९।।

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ-परिणदं मुणसु तच्चेव।।१२०।।

नीचे हरिगीत

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे।
तो वो हि पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे!।।११६।।

जो वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे!।।११७।।

जो कर्मभावों परिणमाये जीव पुद्गलद्रव्य को।
क्यों जीव उसको परिणमाये, स्वयं नहिं परिणमत जो?।।११८।।

स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे।
जीव परिणमाये कर्म को, कर्मत्व में-मिथ्या बने।।११९।।

पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियम से कर्म हि बने।
ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत, वो हि तुम जानो उसे।।१२०।।

थोड़ा सूक्ष्म अधिकार है!

टीका - क्या कहते हैं? सुनो! कि आत्मा में जो राग-द्वेष होते हैं, उस समय जो कर्मबन्धन होता है, वह कर्मबन्धन क्या राग-द्वेष कराता है? वह कर्मबन्धन होता है, वह अपनी—पुद्गल की पर्याय का परिणमन का काल है तो वह ज्ञानावरणीपने होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! ज्ञानावरणीरूप से जो पुद्गल बनता है, तो वह उसके परमाणु की वर्गणा जो है कर्म, वह पर्याय कर्मरूप होने का वह काल है तो वह परिणमता है। समझ में आया? वह कर्म की पर्याय जो होती है, वह आत्मा से होती है, ऐसा नहीं है। वह स्वतन्त्र द्रव्य है। समझ में आया?

ऐसा कहते हैं कि आत्मा कर्ता और भोक्ता कर्म का, तो यह बात है नहीं। आत्मा तो अपने में अज्ञानभाव से करे अज्ञान को (अथवा) ज्ञानभाव से करे ज्ञान को, उसे करे और भोगे। कर्म को आत्मा करे और उसे भोगे, ऐसा नहीं होता। बात जरा सूक्ष्म है।

यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं न बँधकर... ज्ञानावरणी पुद्गल स्वयं अपनी

परिणति से यदि जीव के साथ बन्धन न हो, तो स्वयं न बँधकर, **कर्मभाव से स्वयमेव परिणमता न हो तो।** आहाहा! ज्ञानावरणी आदि आठ कर्म हैं, वे स्वयं अपनी परिणति से परिणमते हैं। आत्मा ने राग-द्वेष किये, मिथ्यात्व किया; इसलिए उन्हें कर्मरूप परिणमना पड़ा, ऐसा है नहीं। ऐसी बात है।

यह तो अन्दर में जितने राग-द्वेष करे, उतने कर्म की पर्याय स्वयं से बँधती है, तो जब अन्तर में ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध में निमित्त की अपेक्षा नहीं। यह देह की क्रिया जो होती है, उसमें आत्मा की अपेक्षा कुछ भी नहीं। वह परमाणु शरीर है, वह अपनी पर्यायरूप परिणमते हैं। ऐसे-ऐसे आत्मा उन्हें हिला सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अन्तर में जितने राग-द्वेष और अज्ञान करे तत्प्रमाण पुद्गलकर्म की पर्याय, पुद्गल से होती है, वह भी अपने राग-द्वेष के कारण से नहीं। जहाँ निमित्त-निमित्त सम्बन्ध नजदीक है तो भी निमित्त से उसमें परिणमन होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तो यह तो पूरे दिन हम करते हैं शरीर का, वाणी का करते हैं शरीर का करते हैं, यह पैसा देता हैं और लेते हैं, यह सब क्रिया जड़ की है, जड़ से स्वतन्त्र होती है, आत्मा से नहीं। कहो, हसमुखभाई! ऐसी बात है। आहाहा! कहते हैं, यह हाथ भगवान को जोड़े, ऐसी-ऐसी क्रिया (जोड़ने की) किसने की? यह हाथ जोड़े, यह किसने किया? आत्मा ने किया? नहीं; वह पर्याय जड़ की है, उस समय उस प्रकार से परिणमित हुई है, आत्मा उसका कर्ता है नहीं। आहाहा!

स्वाहा... भक्ति में-पूजा में करते हैं न, वह स्वाहा की भाषा आत्मा नहीं करता, वह परमाणु भाषावर्गणा की पर्याय स्वाहारूप से परिणमी है। आहाहा! ऐसी बात हैं। है? **यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं न बँधकर...** स्वयं से बँधता है, आत्मा से नहीं। **कर्मभाव से स्वयमेव परिणमता न हो...** अर्थात् दूसरी भाषा में स्वयं न बँधे और स्वयमेव परिणमे नहीं, **तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा।** तो पुद्गल अपरिणामी सिद्ध होता है। नहीं बदलनेवाला सिद्ध होगा, तो नहीं बदलने का स्वभाव नहीं। सबका बदलने का स्वभाव है। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई! लोग कहते हैं न कि आत्मा जैसे कर्म बाँधे, वैसे भोगता है, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा बाँधता भी नहीं, कर्म तो

पुद्गल की पर्याय है तो पुद्गल से बँधती है और कर्म का भोगना आत्मा को है ही नहीं, वह तो जड़ की पर्याय है। भोगे अज्ञानी तो अपने राग-द्वेष को भोगता है, और धर्मी है, वह तो अपने ज्ञान और आनन्द को भोगता है, कर्म का भोग तो अज्ञानी को भी नहीं है। ऐसी बात है।

दुनिया से सब उल्टा है। आहाहा! **और ऐसा होने से, संसार का अभाव होगा...** क्या कहते हैं? पुद्गल (यदि) स्वयं से कर्मरूप न परिणमे, तो जीव के साथ कर्मबन्धन है ही नहीं तो फिर संसार का अभाव हो जायेगा। समझ में आया? कर्म अपने से— पुद्गल अपने से कर्मरूप न परिणमे तब तो आत्मा में (कर्म) तो है नहीं, कुछ निमित्तपना कर्म का तो संसार का अभाव हो जायेगा। है? **(क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे...)** तो आत्मा कर्मरहित होगा, (कर्म) निमित्तरूप से तो है, यह तो निमित्तपना भी नहीं रहा, **(तब फिर संसार किसका?)** आहाहा! **यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि 'जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा...** युक्ति-न्याय से बात है। सूक्ष्म है, भाई! व्यापारी को मुश्किल पड़े, ऐसा है।

जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है... कोई ऐसा कहे कि जीव है, वह पुद्गलकर्म की पर्याय को परिणमाता है, यदि ऐसा कोई कहे। है? **'इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा' तो उसका निराकरण दो पक्षों को लेकर इस प्रकार किया जाता है कि क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है...** आहाहा! क्या कहते हैं? पुद्गल (द्रव्य) कर्मरूप परिणमता नहीं उसे जीव (कर्मरूप) परिणमाता है? आहाहा! यह शरीर ऐसे-ऐसे चलता है तो वह नहीं परिणमते को आत्मा परिणमाता है? वह तो स्वयं से परिणमता है—वह स्वयं परिणमता है, वह आत्मा से नहीं। आहाहा!

यहाँ तो सूक्ष्म में सूक्ष्म नजदीक में जो राग-द्वेष आदि हैं, तत्प्रमाण कर्म बँधते हैं, तो भी वह पुद्गल स्वयं की पर्याय से बँधता है, यह राग-द्वेष से नहीं। निश्चय से तो निमित्त की अपेक्षा भी नहीं। आहाहा! टीका में है। क्या? क्या कहते हैं? ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय आठ कर्म है, वे आठ कर्म पुद्गल की-जड़ की पर्याय है। वह

पुद्गल की पर्याय कर्म की उससे होती है। आत्मा उसे परिणमाता है और आत्मा कर्म बाँधता है, ऐसा है नहीं। अरे... अरे! ऐसी बातें अब।

स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता.... क्या कहा? यदि पुद्गल कर्मरूप न परिणमे तो जीव उसे परिणमा सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह अँगुली ऐसे-ऐसे चलती है, अन्दर अपनी पर्याय से ऐसी होती न हो तो आत्मा उसे नहीं परिणमते हुए को परिणमा सके, ऐसा नहीं है। पूनातर! बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा! यह दाढ़ है दाढ़, रोटी के टुकड़े होते हैं न रोटी के तो कहते हैं कि रोटी के टुकड़े (रूप) परिणमने की शक्ति उसमें है या दाढ़ ने किये हैं? यदि टुकड़े होने की परिणमन शक्ति उसमें न हो तो दूसरा उसे परिणमा सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता और अपने से यदि बने तो दूसरे किसी की अपेक्षा है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप से परिणमाता है? कर्म नहीं परिणमते को क्या जीव उसे परिणमाता है कर्म को? आहाहा! है? तो **प्रथम स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता....** यदि परिणमने की शक्ति उसमें नहीं तो दूसरा उसे परिणमा सके, ऐसा नहीं होता। आहाहा! कठिन काम है। यह चश्मा है न, चश्मा? देखो! तो चश्मा ऐसे-ऐसे (नाक के ऊपर) ऐसा यहाँ आया है, यह उसकी परिणमन शक्ति के कारण से है। अँगुली से या आत्मा से यहाँ ऊपर आया है, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह जिनवर की बात दुनिया से (अलग प्रकार!) शरीर जड़ है, वाणी जड़ है तो वह जड़ की पर्याय जड़ से अपने में से होती है।

क्योंकि जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। यह ज्ञानावरणी आदि में पुद्गल की परिणमने की शक्ति न हो तो दूसरा कोई शक्ति दे सके, ऐसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! जैनधर्म, सूक्ष्म बहुत! लोगों को विचार में नहीं मिलता मनन में! आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म तोड़े। कर्म तो पुद्गल की पर्याय है, उसे आत्मा किस प्रकार बाँधे? और कर्म तो पुद्गल की पर्याय है, तोड़े तो उसकी पर्याय टूटे, आत्मा जड़ की पर्याय को तोड़ सकता है? आहाहा! समझ में आया?

(जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।) स्वयं परिणमने की शक्ति नहीं तो दूसरा अन्य कोई नहीं कर सकता। है ? **वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो...** पुद्गल में ज्ञानावरणीरूप परिणमने की शक्ति न हो **तो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।** आत्मा उसे ज्ञानावरणीरूप परिणमा सके, ऐसा है नहीं। बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा! यह गाथा कर्ता-कर्म की है न ? आहाहा! यह तो अन्तर की बात है, जो खास....

यहाँ राग-द्वेष और अज्ञान करे, उतना कर्म बाँधे, तथापि वह कर्म अपनी पर्याय से बँधता है। यह राग-द्वेष से नहीं। वह तो निमित्त है। कर्म उस समय अपने उपादान से पुद्गल-चीज़ कर्मरूप होती है। आत्मा उसे परिणमा नहीं सकता। यदि उसमें परिणमने की शक्ति न हो तो दूसरा उसे शक्ति नहीं दे सकता। जो स्वयं से परिणमता है, तो दूसरे की अपेक्षा है नहीं। ऐसी बातें हैं। बनियों को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती और यह—न्याय के यह विषय सूक्ष्म। आहाहा! क्या कहा यह ? समझ में आया ?

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय, आयुष्य—कोई कहे कि हमने अमुक परिणाम किये, तो मैंने आयुष्य बाँधा, वह असत्य है। आयुष्य के परमाणु आयुष्यरूप परिणमने की शक्ति से परिणमित हुए हैं, उस आयुकर्म में निमित्त, परिणाम हुए परिणाम परन्तु वे परिणाम तो अब आयुष्य के परिणाम जो बँधे, वह पुद्गल की पर्याय से बँधे हैं। आहाहा! यदि उस पुद्गल की परिणमने की शक्ति न हो तो दूसरा (कोई उसे) शक्ति दे नहीं सकता और यदि अपने में शक्ति हो तो दूसरे की अपेक्षा है नहीं। ऐसा सूक्ष्म है, बापू! वीतरागमार्ग अलौकिक है।

वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो तो उसे अन्य कोई कर नहीं सकता। (इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।) झूठा है। **और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती....** देखो! आहाहा! कर्म है, (वह) अपनी पर्याय से परिणमते हैं, तो दूसरे की अपेक्षा उसे है नहीं और परिणमता नहीं तो दूसरा कोई परिणमा सके, ऐसा है नहीं। अरे... अरे! ऐसी बातें हैं। यह वकीलों के जैसा है न्याय—लॉजिक से बात करते हैं। लॉजिक—न्याय से बात करते हैं। आहाहा!

(इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।) और स्वयं परिणमते हुए को अन्य

परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती.... आठ कर्म की पर्याय पुद्गल द्रव्य से स्वयं से होती है, अपने से अर्थात् पुद्गल से; आत्मा से नहीं।

मुमुक्षु : जीव के विकार से हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न ही नहीं यहाँ। उस समय कर्म की पर्याय परिणमने का स्वकाल है, तो परिणमती है। यहाँ राग-द्वेष हो भले, परन्तु उस निमित्त की अपेक्षा बिना, स्वयं से परिणमते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! जैनधर्म समझना वह बहुत सूक्ष्म बात है। यह तो अभी जड़ की बात है, बाद में जीव की कहेंगे। आहाहा!

मुमुक्षु : आठ कर्मों की अलग-अलग जाति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जाति ही अलग, पर्यायरूप से परिणमना, वह परमाणु में उस समय में वैसी सामर्थ्य है। ज्ञानावरणीरूप से होना—दर्शनावरणीरूप से होना—वेदनीयरूप से होना—आयुष्यरूप से होना—अन्तरायरूप से होना, वह कर्मरूप उन परमाणुओं में वह शक्ति उनमें है उनसे वह पर्याय होती है।

मुमुक्षु : द्रव्यकर्म के रजकण सूक्ष्म और रुपये स्थूल।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटे रुपये को तो... रुपया, तो कहते हैं न कि यह रुपया है, नोट, वह नोट ऐसे जाता है, तो कहते हैं कि तेरा विकल्प आया कि इसे मैं नोट दूँ इसलिए जाता है तो उसमें परिणमन शक्ति नहीं? वह जाने की शक्ति नहीं उसमें कि तूने (देने का भाव) किया तो पैसे गये? (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : तो पहले क्यों नहीं गये थे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले? परन्तु उस समय की पर्याय की बात है न, पहले दूसरी पर्याय थी, पहले दूसरी पर्याय थी, अभी कर्म की पर्याय उसमें है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म काम है।

वीतरागमार्ग जैन परमेश्वर 'प्रत्येक द्रव्य को नित्य परिणामी' कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य अर्थात् कायम रहकर बदलता है, तो बदलता है तो दूसरा उसे बदलावे, ऐसा है नहीं। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

मुमुक्षु : दूसरा समझा तो सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समझा सके तो भाषा, भाषा ही आत्मा की नहीं। आत्मा भाषा नहीं कर सकता तीन काल में। वह (भाषा) पुद्गल की पर्याय है। भाषावर्गणा से भाषा होती है। आत्मा से भाषा नहीं होती।

मुमुक्षु : भाषा से शिष्य समझ तो जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह समझण, उससे वह समझता नहीं। उसके उपादान की योग्यता से वहाँ समझता है। आहाहा! शब्द आया इसलिए वह समझण में आया उसे, ऐसा नहीं है। शब्द जड़ भिन्न चीज़ है और उससे उसे समझ में आता है, (ऐसा नहीं है)। उसे उसकी उपादान की योग्यता से समझ में आता है। आहाहा! ऐसा सब उल्टा है—जगत उल्टा, उससे उल्टा। घड़ा उल्टा हो न घड़ा, तो उसके ऊपर सुल्टा (घड़ा) नहीं बैठता। उल्टे के ऊपर उल्टा ही रहता है।

मुमुक्षु : ऐसे डाले तो बैठे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उसके ऊपर भी दूसरा डालना पड़े। आहाहा! इसी प्रकार एक द्रव्य का उल्टा तर्क है कि एक द्रव्य हम परिणमा सकते हैं—बदला सकते हैं, तो सब द्रव्यों को बदला सकते हैं, ऐसी उसकी मान्यता हुई। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

यह दो बोल हुए। कि पुद्गल, कर्मरूप परिणमने की शक्ति है तो परिणमता है या शक्ति नहीं और परिणमता है? यदि परिणमने की शक्ति है तो दूसरे की अपेक्षा नहीं और परिणमने की शक्ति नहीं तो दूसरा शक्ति दे नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म करना है, उसमें इसका क्या काम है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह ही कहते हैं कि जड़ की पर्याय मुझसे हुई, ऐसा तू माननेवाला—तेरी दृष्टि मिथ्यात्व है और तुझमें राग होता है, वह कर्म से होता है, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। राग और द्वेष, विषयवासना आदि तुझसे उत्पन्न होती है, कर्म के कारण से होती है, वह झूठ है—ऐसा बतलाना है।

मुमुक्षु : राग-द्वेष पुद्गल के परिणाम हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, वह किस अपेक्षा से कहा है? वह तो जीव का

(स्वभाव नहीं है, इस अपेक्षा से बात है)। यहाँ तो अपनी पर्याय रागादि अपने से होते हैं, यह सिद्ध करना है। पश्चात् स्वभाव की दृष्टि बतलानी हो—जो स्वभाव त्रिकाल आनन्दकन्द प्रभु है तो उस दृष्टि की अपेक्षा से विकारी परिणाम पुद्गल का है—ऐसा निमित्त के आधीन होता है, ऐसा कह दिया है। हुए हैं स्वयं से, तो भी अपने स्वभाव में राग-द्वेष करने की शक्ति नहीं। आत्मा आनन्दस्वरूप, सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु, वह विकार करे, ऐसी कोई (शक्ति) अनन्त गुण में ऐसा कोई गुण नहीं। इस कारण से वहाँ स्वभाव की दृष्टि कराने के लिये विकार को—जो कर्म की पर्याय में होता है, उस कर्म के निमित्त के आधीन होकर होता है, ऐसा बतलाकर उसे छोड़ दे। सूक्ष्म बात है। अभी तो वह बात नहीं है।

यहाँ तो मात्र राग और द्वेष और अज्ञान तू तुझसे करता है, यह आयेगा बाद में आगे कि कर्म का उदय आया और तुझे राग करना पड़ा, ऐसा नहीं है। यह स्त्रीवेद का उदय है तो यहाँ वासना हुई, ऐसा नहीं है—पुरुषवेद का उदय वहाँ है तो तुझे वासना हुई, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! स्वतन्त्र, तेरी विकारी पर्याय करने में तू स्वतन्त्र है। कर्म से विकारी पर्याय हुई, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार कर्म में कर्म की पर्याय आत्मा से हुई, ऐसा है नहीं। आहाहा!

स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती.... आहाहा! देखो! अपेक्षा से इनकार किया है। पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणमता है, तो उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, भाई! समय निकालना-निवृत्ति लेना थोड़ी, फिर यह मनन करे तो समझ में आये, ऐसी बात हैं। पूरे दिन धन्धा करता है कि (क्या) जड़ की पर्याय आत्मा कर सकता है या नहीं? (नहीं कर सकता), ऐसा कहते हैं। दुकान पर बैठकर ऐसे यह दिया-यह लिया अमुक दिया-लिया (करता है न?)

मुमुक्षु : जड़ की पर्याय जड़ करता है, ऐसा मानकर धन्धा करें तो उसमें क्या बाधा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु दुकान की (क्रिया) कर सकता ही नहीं न! दुकान की कोई पर्याय पैसा लेना-देना, माल देना-लेना, वह आत्मा कर सकता ही नहीं तीन काल में। वह तो जड़ की पर्याय है। समझ में आया? ऐसी बात है। (कहते हैं कि) स्वयं

परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती। देखो! परमाणु स्वयं से परिणमते हैं। देखो! यह लकड़ी है, तो यह लकड़ी यहाँ पड़ी है, तो यह उसकी परिणमन शक्ति से यहाँ आयी है। अँगुली से नीचे आयी है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : अँगुली न हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु छुए ही कहाँ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श ही नहीं करता कभी, यह तीसरी गाथा है समयसार, (उसमें कहा है) अनन्त आत्मायें और अनन्त परमाणु हैं, भगवान कहते हैं कि एक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को चूमता है। चूमता अर्थात् स्पर्शता है, परन्तु अन्य किसी (द्रव्य को चूमता नहीं)। तीसरी गाथा में है, यह समयसार है न (इसमें) तीसरी (गाथा) में है। देखो, इस टीका की पाँचवीं लाईन है—छठवीं। (कैसे हैं वे सर्व पदार्थ)? वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चूमते हैं, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने में जो गुण-पर्याय है, उसको चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं। अड़ते हैं—अपनी (गुजराती) भाषा, स्पर्शते हैं तो भी जो परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से रहे हैं तो भी वे सदा काल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते।

आहाहा! (इस विश्व में) प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु अपने में जो गुण-पर्यायें हैं, उन्हें चुम्बन करता है, उन्हें स्पर्श करता है—छूता है, तो भी परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते—छूते नहीं। एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आत्मा दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! समझ में आया? भुजिया ऐसे चरपरे-चरपरे होते हैं न? तीखा कहते हैं न? मिर्ची-मिर्ची होती है न? तो वह चरपरी मिर्च है तो वह जीभ को स्पर्श नहीं करती। क्योंकि एक तत्त्व अपने गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। अड़ता नहीं, स्पर्शता नहीं, कभी चूमता नहीं। ओहोहो! एक द्रव्य दूसरे (द्रव्य को) चूमता नहीं। आहाहा! यह बात है।

बालक छोटा हो, वह चूमते हैं न तो कहते हैं कि यह होंठ उस गाल के साथ

होंठ छुआ ही नहीं और होंठ है उसे आत्मा कभी भी स्पर्शा नहीं और गाल गीला हुआ वह स्वयं से हुआ है। कठिन बात है, भाई! जैनधर्म—सर्वज्ञ से जाना हुआ वह अलौकिक बात है। यह तो ऐसा व्यक्ति के लिये यहाँ कहा जाता है न? सांख्यमत के अनुयायी हों। जैन में भी ऐसा कहनेवाले हैं न? कि कर्म अपने से बँधता है, यह आत्मा कर्म बाँधता है तो वह सांख्यमत का अनुयायी है, वह जैन नहीं है। उसे जैन की खबर नहीं है। आहाहा!

यह आया न पहले यहाँ (उपोद्घात में)? **सांख्यमत के अनुयायी शिष्य के प्रति...** जैन में आये हैं परन्तु यदि सांख्यमत के अनुसार अपने परिणाम अपने से है, ऐसा न मानकर, पर का परिणमन मैं कर सकता हूँ और मेरा परिणमन पर कर सकता है—ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि—सांख्यमती हैं, वह जैन नहीं है।

यहाँ आया न, देखो! यह आया। अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं। तीसरी गाथा है, पाँचवीं लाईन है पाँचवीं। आहाहा! प्रत्येक पदार्थ, सभी पदार्थ, सब पदार्थ। है? अपने द्रव्य में—अपने पदार्थ में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं—स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! यह हाथ यहाँ छूता है इस शरीर को?—कि नहीं। अग्नि करे कौन? उस समय की पर्याय ऐसी है, परिणमन होने की योग्यता से परिणमती है, अग्नि से नहीं। बिच्छू का डंक आत्मा को—शरीर को छूता भी नहीं, डंक के परमाणु भिन्न हैं और शरीर के भिन्न हैं। आहाहा! अरे! इसे कहाँ पहुँचना? आहाहा!

तीसरी गाथा। प्रत्येक परमाणु—प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा। एक निगोद (शरीर) में (अनन्तानन्त) निगोद के जीव हैं, अँगुल के असंख्य भाग में निगोद के असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त जीव हैं निगोद में और एक-एक जीव एक श्वास आदि एक है, तथापि एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! निगोद—काई, काई काय, अनन्त काय एक (टुकड़ा) इतनी अमथी में अनन्त काय है, अनन्त शरीर है, अनन्त शरीर तैजस-कार्माण है और औदारिक असंख्य है, एक-एक परमाणु और एक-एक आत्मा एक-दूसरे को कभी स्पर्शते नहीं। आहाहा! यह बात बैठना कठिन। निवृत्ति नहीं मिलती।

मुमुक्षु : ज्ञान में तो जीव पकड़ में आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ाव नहीं जीव को। शरीर को प्राप्त हुए हैं स्वयं-स्वयं, वह मेरा है, ऐसा माना है, ऐसा कहते हैं। शरीर तो मिट्टी है-जड़ है, वह तो मिट्टी है, वह तो श्मशान की राख होगी। वह तेरी चीज़ कहाँ है? क्या तुझमें (वह) है? आहाहा! शरीर को आत्मा चूमता नहीं—छूता नहीं, शरीर को आत्मा कभी स्पर्शा ही नहीं और शरीर आत्मा को कभी भी छूता नहीं।

मुमुक्षु : शरीर और आत्मा को संयोग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोग, वह तो क्रिया—संयोग की बात करते हैं (परन्तु) संयोग-सम्बन्ध ही नहीं है। वह तो अत्यन्त पर है। अत्यन्त पर सम्बन्ध है। आहाहा! 'नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः' (कलश) २०० में आता है न? दो सौं वाँ कलश है। २०० कलश है सर्वोपि सम्बन्धः निषेधाः—एक तत्त्व को, दूसरे तत्त्व को कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

दुनिया में अभी लोगों ने पूरा मार्ग बदल डाला। व्रत करना-व्रत करने के भाव हैं, वह राग है और पर की दया पाले या न पाले, उसके राग से दया पलती नहीं। पर को स्पर्श भी नहीं करे, फिर दया कहाँ से पले? पर का आयुष्य और शरीर को रहने का हो तो उसके कारण से रहता है, दूसरा कहे कि मैं पर की दया पाल सकता हूँ। छू सकता ही नहीं, फिर (पर की) दया कहा पाल सकता है?

मुमुक्षु : पानी में से मक्खी निकाले न अँगुली से?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निकाले, निकाले कौन? सब बातें हैं। विकल्प होता है, अँगुली से निकलने की हो तो निकले। कठिन बात है, भाई! पानी में मक्खी पड़ (गयी), हो और वह मक्खी, वह तुझसे नहीं निकलती, वह अँगुली भी उसे स्पर्श भी नहीं करती, मक्खी को अँगुलियाँ छूती नहीं। वह मक्खी, अपनी शरीर की पर्याय से ऊँची आती है, बाहर निकल जाती है, आहाहा! कैसे बैठे यह?

यह शरीर अनुकूल हो—बाहर के पैसे अनुकूल हों, फिर प्याला फट जाये (अभिमान चढ़ जाये)। यहाँ तो कहते हैं कि एक परमाणु दूसरे परमाणु को कभी भी

छूता नहीं। आहाहा! एक आत्मा एक परमाणु को तथा एक आत्मा दूसरे आत्मा को कभी भी स्पर्श नहीं करता—छूता नहीं। स्पर्शता ही नहीं न!

मुमुक्षु : खट्टा-मीठा हो तो खबर पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह खट्टा हो, उस खट्टे को जानता है। उस खट्टे की पर्याय आत्मा को स्पर्शती नहीं। ऐसा है। दुनिया से उल्टा है सब—उल्टे से उल्टा, दुनिया उल्टी। आहाहा! इस एक शरीर को दूसरा शरीर स्पर्श करे, तीन काल में नहीं होता। शरीर अपनी पर्याय से अपने को स्पर्श करता है, वह दूसरा स्पर्श करे दूसरे के शरीर को, कभी नहीं होता। वह राग करे। वह राग करे, अज्ञान करे, परन्तु शरीर की स्पर्श क्रिया वह कर सकता है, ऐसा है नहीं और वह राग करता है, वह भी कर्म का उदय है तो राग करता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : छद्मस्थ जीव स्पर्श किये बिना किस प्रकार जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह खबर नहीं किन्तु दो भिन्न है या नहीं? अन्य है या नहीं? इतना जानता है या नहीं? अन्य है, वह अन्य का क्या करे?

मुमुक्षु : ख्याल में आता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ख्याल में तो आवे ही नहीं, उसे ख्याल में लाना पड़ेगा। अनन्त द्रव्य हैं या नहीं? अनन्त द्रव्य हैं या एक द्रव्य है? भगवान ने (अरहंत-सर्वज्ञदेव ने) अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु कहे हैं, तो अनन्त हैं तो अनन्तरूप से रहकर अनन्त रहते हैं या एक-दूसरे को स्पर्श कर रहते हैं? आहाहा! कठिन बात है, भाई!

प्रभु का मारग है शूरों का, यह वीर का काम है। आहाहा! अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु परमात्मा ने कहे, तो अनन्त अनन्त में (अनन्तरूप) रहते हैं तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शे तो, दूसरा तीसरे को स्पर्शे तो अनन्त (अनन्तरूप से) नहीं रहकर—भिन्न-भिन्न अनन्त हैं, वे भिन्न-भिन्न नहीं रहते। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ शब्द हैं, **जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता...** आहाहा! यह पैर भी चलते हैं, वे इसकी परिणमन शक्ति से न चले तो आत्मा चलने की शक्ति दे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। पैर, पैर से चलते हैं, आत्मा से नहीं। आहाहा! और पैर

जो जमीन को स्पर्शकर चलते हैं, पैर हैं, जड़-परमाणु (वे पैर के परमाणु) नीचे की जमीन को स्पर्शते हैं? नहीं? इसके बिना चले?

मुमुक्षु : आप रोज इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्शता नहीं, यह ऊपर का प्रश्न है। पैर जमीन को छूता ही नहीं। आहाहा! जमीन के आधार से पैर चलता ही नहीं। ऐसी बात है। वीतराग तत्त्व है—सर्वज्ञ ने देखा है कि अनन्त तत्त्व हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण-पर्याय में हो; दूसरे के गुण-पर्याय में कहाँ से जा सके? गुण-पर्याय अर्थात् उसका परिणमन। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक लिया कि तुझे राग हो, द्वेष हो और कर्मबन्धन हो तो कर्मबन्धन तुझसे हुआ है, ऐसा है नहीं। उस समय में पुद्गल की परिणमन (शक्ति) कर्म होने की सामर्थ्य से वह पर्याय होती है। उसमें उपादान से होती है, तुझसे नहीं। आहाहा! आयुष्य भी बँधता है—भविष्य का आयुष्य बँधता है, तो तुझसे बँधता नहीं, तूने बाँधा नहीं है। आयुष्य के परमाणु की पर्याय से आयुष्य बँधता है। ऐसा सूक्ष्म है, रायचन्दभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : समझने योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है। कहो, पूंजाभाई! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा (कहते हैं कि) एक तत्त्व को, दूसरा तत्त्व कभी स्पर्शता नहीं। अरे रे! आहाहा! मिर्च खाते हैं—ढोकला कहते हैं न, क्या कहते हैं? ढोकला कहते हैं? उसके ऊपर मिर्ची की पाउडर डालते हैं न? मिर्ची चरपरी—ऐसे तो चरपरी है, वह तो मिर्ची में रही, इस होंठ में उसकी चरपराहट आयी नहीं और होंठ उसे (चरपराहट को) स्पर्शता नहीं। आहाहा! यह सिद्धान्त, वीतराग का सिद्धान्त है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव, इन्द्र (प्रभु को सुनने आते हैं)।

वस्तु है, वह भिन्न-भिन्न है, भिन्न है तो भिन्न को स्पर्श कर नहीं सकता, बस! इतना, चाहे आत्मा हो या चाहे परमाणु हो, भिन्न चीज़ को भिन्न चीज़ कोई स्पर्शती ही नहीं तो फिर करे कहाँ से? आहाहा! यही कहते हैं न? **जो शक्ति स्वतः न हो, उसे**

अन्य कोई नहीं कर सकता। यह महासिद्धान्त है। जिस तत्त्व में शक्ति अपने में न हो और उसे दूसरा शक्ति दे सके, ऐसा नहीं है, (ऐसा कहते हैं।) आहाहा!

यह जीभ चलती है, यह आत्मा उसे स्पर्शे तो चले, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। यह परमाणु में परिणमन ऐसी चलने की शक्ति है तो चलती है। उन्हें आत्मा शक्ति दे, ऐसा है नहीं। यह जीभ चलती है और यह जीभ को खांड-शक्कर छूती नहीं और खांड-शक्कर जीभ को छूते नहीं। आहाहा! क्योंकि एक-दूसरे में अभाव है। एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व का अभाव है, अभाव होने से एक तत्त्व को दूसरा (तत्त्व) छूता नहीं (स्पर्शता नहीं) कभी भी। ऐसा कठिन है। यह होशियार मनुष्य व्यापार में, बराबर गद्दी में बैठा हो और ऐसे तड़ामार करे, सम्हाले और ऐसे ले और ऐसे दे और ऐसे करो, और यह करो, यह करो न। आहाहा! प्रभु! तू तेरी चीज़ में क्या है, सुन! उस चीज़ में क्या है, उसके कारण से पलटती है—पलटा मारती है, उसे जाने तो सही! आहाहा! तेरा अभिमान निकल जायेगा। शरीर को, वाणी को, परिवार को, स्त्री को, पुरुष को, पुत्र को मैं पाल सकता हूँ—पोषण कर सकता हूँ। तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : होशियार से वकालत नहीं की थी?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालत, वकालत नहीं की थी, अभिमान किया था। रामजीभाई वकील थे, उस समय पहले नम्बर के थे! जज को वकील ऐसे कानून निकालकर बतावे कि इसका ऐसा और इसका ऐसा है। वकील भी वह तो भाषा थी, वहाँ रामजीभाई ने क्या किया इनके आत्मा ने? (क्या किया?) आहाहा!

मुमुक्षु : भरी दोपहरी तारा दिखावे!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बतावे तो यह बात करता था वह भाई हमारा मणिलाल, कि रामजीभाई ऐसे कि जज को भरी दोपहरी तारे दिखावे। वह थी न, तर्क करे न? परन्तु वह वाणी-वाणी जड़ की है प्रभु! वह वाणी आत्मा की नहीं। आत्मा ने वह वाणी की ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो नजदीक के सम्बन्ध में भी कर नहीं सकता, ऐसा बताते हैं कि जहाँ राग-द्वेष होता है, अज्ञान होता है, वहाँ कर्मबन्धन होता है, तो वह कर्मबन्धन की पर्याय उससे (-पुद्गलद्रव्य से) होती है—स्वयं परमाणु से (होती है) इस राग से नहीं। आहाहा!

जहाँ निकट सम्बन्ध है, वहाँ भी परिणमन उससे होता है तो जो दूर सम्बन्ध है—(जैसे कि) स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति, मकान, वे तो कहीं पर हैं, उन्हें आत्मा कर नहीं सकता तीन काल में। यह मकान (परमागममन्दिर) बना, वह किसी आत्मा ने बनाया है? कारीगर ने। रामजीभाई प्रमुख थे लो, यह हमारे वजुभाई इंजीनियर थे। वह तो मकान की पर्याय परमाणुओं की उस समय में वैसी होने की थी तो हुई है। दूसरा कहे कि मुझसे मकान बना है, यह भ्रमणा है-अज्ञान है। आहाहा! ऐसी बात है।

प्रभु की प्रतिमा पधराते हैं तो उस प्रतिमा के परमाणु भिन्न हैं और तेरा आत्मा भिन्न है, तो उन परमाणुओं की क्रिया तू स्थापित कर सकता है, ऐसा नहीं है। तुझमें शुभराग आता है। आहाहा! कठिन काम है।

यहाँ पर विशेष यहाँ है। जिन परमाणु में और आत्मा में स्वतः अपने से शक्ति न हो, उसे अन्य कोई कर नहीं सकता; इन शब्दों में महासिद्धान्त है। आहाहा! **(इसलिए) प्रथम पक्ष असत्य है**-झूठ है **और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती....** इसलिए दूसरा पक्ष भी झूठा है। क्योंकि इससे जो कर्म बाँधता है (बँधते हैं) स्वयं से तो उसे पर की (अन्य की) अपेक्षा नहीं है। इसने राग किया तो वहाँ मोहनीय कर्म बँधा न, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह बात झूठी है। आहाहा! ऐसे राग न किया होता तो मोहनीयकर्म बँधता? परन्तु यह प्रश्न यहाँ कहाँ है?

यहाँ तो राग किया तो तेरी पर्याय में तूने किया और दर्शनमोह या चारित्रमोह के परमाणु हुए पर्याय में तो वे जड़ में हुए हैं—जड़ से हुए हैं। आहाहा! ज्ञानावरणी, आता है न पण्डितजी? छह कारण से ज्ञानावरणी (कर्म) बँधता है, वे परिणाम अज्ञानी जीव करे, परन्तु वह ज्ञानावरणी बँधता है, वह परमाणु की पर्याय स्वयं से होती है। वह छह कारण ज्ञानावरणी के बन्धन के भाव किये तो यहाँ ज्ञानावरणी (कर्म) बँधा, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार दर्शनावरणी, ऐसे वेदनीय, ऐसे मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। कठिन बात, भाई!

जैसे ईश्वर किसी चीज़ का कर्ता नहीं, उसी प्रकार तू भी किसी परचीज़ की पर्याय का कर्ता नहीं। आहाहा! जड़ है (पर्याय) आहाहा! **स्वयं परिणमते हुए को अन्य**

परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। एक टोपी ओढ़ते हैं या नहीं टोपी? तो कहते हैं कि वह टोपी की पर्याय जो होती है कि वह परमाणु से होती है, अँगुलियों से नहीं, आत्मा से नहीं। आहाहा! कपड़ा ओढ़ते हैं (और) ऐसे-ऐसे करते हैं न, वह भाग होता है उसमें, तो उस पर्याय का कर्ता परमाणु है, अँगुली से ऐसा हुआ ही नहीं और आत्मा से ऐसा होता ही नहीं। ऐसे सिद्धान्त हैं, भाई! आहाहा! इन दो सिद्धान्तों ने तो गजब किया है।

कोई परमाणु या आत्मा परिणमते नहीं तो दूसरा उसे परिणमाता है, ऐसी शक्ति ही दूसरे में नहीं और अपने से परिणमता है तो दूसरे की (अन्य की) अपेक्षा है नहीं। आहाहा! कठिन काम है। अभी (तो) सब बाहर के व्यवहार... व्यवहार कर-करके, यह किया और यह किया और यह किया, धर्म के नाम से भी सब गड़बड़ घोटाला, इसने गजरथ चलाया और इसने मन्दिर बनाया और पदवी मिलती है न? वहाँ क्या धूल भी नहीं। आहाहा! राग किया (हो तो) क्रिया तो जब होती है, तब उसके कारण से होती है। आहाहा!

इस दो शक्ति में सब आ जाता है कि **स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता,...** एक बात (और) प्रत्येक पदार्थ यदि अपने से बदले नहीं तो दूसरा (अन्य द्रव्य) उसे बदला सके, ऐसा नहीं होता है। **क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वतः न हो...** अपने में पलटने की—बदलने की शक्ति न हो, तो **उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।** आहाहा! **इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।** दूसरा, स्वयं परिणमते हुए को—उसके कारण से उसकी वह पर्याय होती है—उपादान से। आहाहा! हाथ की, पैर की, वाणी की, खाने-पीने की (चीज़ की) उस समय जो पर्याय होती है। आहाहा! रोटी के टुकड़े होते हैं ऐसे और वह आत्मा कर सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। और फिर रोटी डालनी है (दाल में) चटनी (के साथ), उसे आत्मा नहीं कर सकता। पागल जैसा है, दुनिया के पास, यहाँ दुनिया पागल है, उसके पास। आहाहा! यह पागल जैसी बात लगे, यह रोटी का इतना टुकड़ा लेकर ऐसा करे न दाल में लेकर चटनी के साथ, तो वह क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : पापड़ के टुकड़े करते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह टुकड़े कर नहीं सकता। पापड़ के टुकड़े होने की पर्याय के काल में वह परिणमन होता है, टुकड़े होते हैं। अरे! एक तिनके के दो टुकड़े करने की आत्मा में सामर्थ्य नहीं—श्रीमद् राजचन्द्रजी का वचन है। एक तिनका, उस तिनके के दो टुकड़े करने की आत्मा में शक्ति नहीं है। क्योंकि वे (टुकड़े) स्वयं से होते हैं, उन्हें दूसरा द्रव्य कैसे करे? आहा! ऐसी बात हैं। **वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।** देखो, भाषा! निमित्त की अपेक्षा नहीं रखती। आहाहा! निमित्त आया तो ऐसे (यह क्रिया) हुई है न? निमित्त हुआ तो ऐसा हुआ है न? ऐसी बात झूठी है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! **इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है।**

क्या कहा? स्वयं अपरिणमते हुए को (कोई दूसरा) परिणमा सके, यह झूठ है और (स्वयं) परिणमते हुए को (कोई दूसरा) परिणमाता है, यह भी झूठ है। कोई भी पदार्थ यदि परिणमता नहीं, उसे दूसरा (द्रव्य) परिणमा सके, यह भी झूठ है। और स्वयं से परिणमता है तो दूसरा परिणमा सके, यह भी झूठ है। लॉजिक है न? आहाहा!

मुमुक्षु : काल प्रत्यासति—नहीं होती तो यह शंका ही नहीं की होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : काल, वह भले हो जीव के साथ, हो तो (भी) उससे नहीं होता। वह तो उससे कहा जाता है कालप्रत्यासती, इसलिए कहा जाता है, उससे होता नहीं—निमित्त से पर में कार्य होता है, यह तीन काल-तीन लोक में नहीं। अपने उपादान की स्वत: शक्ति से अपने में पर्याय का कार्य होता है। आहाहा! तत्त्व ऐसा है, भाई! ऐसा होने से, **इसलिए पुद्गलद्रव्य परिणाम स्वभाववाला स्वयमेव हो।** वह कर्मरूप परिणमता है तो परिणमन उसका स्वभाव है। **ऐसा होने से, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, उसी प्रकार....** दृष्टान्त देते हैं—घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, यह मिट्टी ही घटरूप परिणमी है। कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया—घड़े को कुम्हार ने नहीं किया। आहाहा! घटरूप से परिणमित मिट्टी ही स्वयं घड़ा है। मिट्टी घटरूप परिणमी है, वह मिट्टी ही है, वह कुम्हार नहीं। कुम्हार ने घड़ा बनाया नहीं। आहाहा!

रोटी, स्त्री बनाती है? तो नहीं, नहीं। बेलन घुमा सकती है, आटा बाँधकर बेलन घुमा सकता है आत्मा? तो कहते हैं, नहीं। बेलन से रोटी हुई? तो नहीं।

मुमुक्षु : राजकोट में एक महिला ऐसी थी कि पैर की अँगुलियों से रोटी बनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह खोटा—यह सब झूठी बात है। यह रोटी-रोटी उस समय रोटी होने का काल था (पुद्गलपर्याय का) ऐसी बात है, जगत से अलग! आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल! यह बात बैठे कहाँ से अन्दर? कहते हैं, पूरे दिन 'मैं करूँ-मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे'—गाड़ी चलती हो और गाड़ी के नीचे कुत्ता चलता हो और उसका-गाड़ी का ठाठूं छूए और इसलिए कुत्ते को (लगता है) मानो गाड़ी मुझसे चलती है। ऐसा लगता है कि गाड़ी मुझसे चलती है, इसी प्रकार इस जगत के यह परमाणु आदि, जीव आदि अपनी-अपनी क्रिया से (सब) परिणमते हैं, दूसरा कहे मुझसे होता है। दुकान पर बैठा हो बराबर, फिर माल लेने का-देने का बराबर उसका भाव है, ले जाओ बहिन ले जाओ! यह सब भाषा की पर्याय आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। अरे... अरे... बहुत उल्टा, भाई!

मुमुक्षु : इतने सब लोग बोलते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहीं भाषा-भाषा कौन करे? जड़ की पर्याय जड़ से होती है। आहाहा! मरते समय—देह छूटने के समय, भाव थोड़ा हुआ कि मेरे पास पचास लाख, करोड़, दो करोड़ है। मैं पाँच लाख (धर्मादा के नाम से) दूँ। अरे! मैंने पाप कर-करके किया, तो थोड़ा पुण्य लूँ, परन्तु यह जीभ चलती नहीं, भाषा बन्द हो गयी। भाषा बन्द हो गयी कि आत्मा ने भाषा बन्द की? भाषा? हें ए...ए... पाँच लाख-पाँच लाख (थोड़ी भाषा हुई) और लड़का ऐसा होशियार हो न सब (वह कहे) बापूजी! अभी पैसे को याद नहीं करते। वह जानता है कि पाँच लाख (देने को) कहेंगे, तो देने पड़ेंगे वापस। सब सुखी, सब ऐसे ही हैं सब, हों!

बापूजी! अभी पैसे को याद नहीं करते। परन्तु वह कहता है कि परन्तु पाँच लाख देना है (पूरा बोले), वहाँ तो भाषा बन्द हो गयी—भाषा चली नहीं, हो गया जाओ... भाषा कौन कर सकता है? भाषा बन्द हो गयी न, ऐसा कहते हैं न? भाषा होती है, वह तो भाषा से होती है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत भाई! कठिन!

ऐसा होने जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है, उसी प्रकार.... घटरूप

परिणमित कौन हुआ है? मिट्टी या कुम्हार? घटरूप परिणमन अवस्था किसकी हुई है? मिट्टी की। घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घड़ा है—यह घड़ा है, वह स्वयं है। आहाहा! कुम्हार से घड़ा हुआ नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : मिट्टी, मिट्टीरूप से थी, तब घड़ा क्यों नहीं हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं हुई? उस समय होने की पर्याय नहीं थी, इसलिए नहीं हुई। उसकी पर्याय होने की हो तब कुम्हार निमित्त हो, परन्तु उससे बना नहीं। आहाहा! बना नहीं उससे। आहाहा! पानी का घड़ा रखते हैं और इंढोली के ऊपर, तो कहते हैं कि इंढोली सिर को स्पर्शी नहीं और इंढोली पर घड़ा रहा ही नहीं। घड़ा घड़े की पर्याय में स्वयं से वहाँ रहा है। सिर पर नहीं। अरर्र! ऐसी बात! पागल ही कहे न दुनिया।

यह ऐसे चले (घड़ा) सिर पर लेकर ऐसे, और कोई तो फिर ऐसे का ऐसे ले जाये, वह कोई और लम्बा हो दो-तीन एक हाथ रखे ऐसे पानी के घड़े के ऊपर....

मुमुक्षु : वह अवगाहनशक्ति आकाश की है?

पूज्य गुरुदेवश्री : (नहीं), उसकी अपनी शक्ति—स्वयं की है, आकाश की नहीं। वह एक घड़ा ऐसे चले वह परमाणु की पर्याय गति करने की अपनी शक्ति है। ऐई! हसुभाई! ऐसा सुनने को मिले, ऐसा नहीं वहाँ मुम्बई में, सब होली सुलगती है पूरे दिन। पैसा तो भले (मिले) दो-पाँच करोड़, दस करोड़ जो जाये, धूल में क्या है? आहाहा!

इस प्रकार जड़स्वभाववाले ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमित पुद्गल द्रव्य ही है। यह ज्ञानावरणी परिणमित हुए वह पुद्गलद्रव्य ही है। पुद्गलद्रव्य परिणमित हुए हैं। (जैसे) मिट्टी घटरूप परिणमी है तो मिट्टी ही है। और पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणीरूप परिणमे, वह पुद्गल है। वह आत्मा है नहीं। **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।** विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–६४

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।६४।।

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार [पुद्गलस्य] पुद्गलद्रव्य की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणमनशक्ति [खलु अविघ्ना स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई। [तस्यां स्थितायां] उसके सिद्ध होने पर, [सः आत्मनः यम् भावं करोति] पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है [तस्य सः एव कर्ता] उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

भावार्थ : सर्व द्रव्य परिणमनस्वभाववाले हैं, इसलिए वे अपने–अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं। पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भाव को करता है, उसका वह स्वयं ही कर्ता है।।६४।।

प्रवचन नं. २१२, कलश-६४, गाथा-१२१ से १२५ दिनांक ०५-०३-१९७९, सोमवार, फाल्गुन शुक्ल-५

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता।।६४।।

(कहते हैं) **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की...** क्या कहते हैं यहाँ?—कि जो कर्म बँधते हैं, वह अपनी पर्याय से बँधते हैं। कर्म उसकी पर्याय करता है, यह नहीं। ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय (आदि) आठ प्रकार के कर्म उस समय में, उसकी

परिणमनशक्ति से कर्म होते हैं, आत्मा करे तो होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो उस समय में, वह कर्मवर्गणा जो है, वह उसरूप से परिणमने की योग्यतावाले परिणमते हैं, परमाणु तो बहुत हैं, वे ही उसकी पर्याय में उस काल में ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी इत्यादि आठ कर्म, वे **पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति (से)...** उसका स्वभाव ही परिणमनशक्ति है, उसकी वह कोई आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म के परिणाम करे, ऐसा है नहीं। (इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमनशक्ति) **निर्विघ्न सिद्ध हुई।** निर्विघ्न सिद्ध हुई। किसी का विघ्न नहीं, वह परिणमनशक्ति—परिणमन स्वयं से है। वह अनादि-अनन्त परिणमनशक्ति है। है?

'तस्यां स्थितायां' तस्यां स्थितायां उसमें वह अनादि-अनन्त परिणमन है, इसलिए परमाणु में परिणमन अनादि-अनन्त है। **उसके सिद्ध होने पर 'सः आत्मनः यम् भावं करोति'** यह अपने स्वरूप को **'यम् भावं करोति' पुद्गल द्रव्य अपने जिस भाव को करता है-'तस्य सः एव कर्ता' उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।** पुद्गलद्रव्य अपने जो भाव हैं—वह कर्म की पर्याय पुद्गल करता है, उसका वह कर्ता है, वह आठ कर्म बँधे, उनके परिणाम का कर्ता यह पुद्गल है, आत्मा नहीं। (क्या कहा)? पुद्गल की परिणामशक्ति है अनादि-अनन्त, वह परिणामशक्ति है। इस कारण से उस समय परमाणु कर्मरूप परिणमे, वे स्वयं से परिणमते हैं, तो उस परिणमन के कर्ता वे पुद्गल हैं और परिणाम उसका कार्य है। कहो, समझ में आया इसमें? पुद्गलद्रव्य अपने निज भाव को करता है। **'सः आत्मनः'** है? अपने निज भाव को करता है, उसका पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है। आहाहा! आत्मा कर्म को बाँधे और आत्मा कर्म को भोगे, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं।

भावार्थः—सर्व द्रव्य परिणमनस्वभाववाले हैं,... सभी आत्मायें और परमाणु, सभी द्रव्य, परिणमन—बदलने की शक्तिवाले हैं, **इसलिए वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं।** आहाहा! परमाणु और आत्मायें समय-समय में (अपनी) परिणति में स्वयं ही कर्ता हैं और परिणति उसका कार्य है। **पुद्गलद्रव्य भी अपने निज भाव को कर्ता है,...** जिस भाव को—कर्मपर्याय को करता है, उस भाव का **वह स्वयं ही कर्ता है।**

आहाहा! निकट सम्बन्ध में रहे हुए कर्म भी अपनी पर्याय से परिणमते हैं, ऐसा कहते हैं। यह आत्मा वह कर्म बाँधे और वे परिणमे, ऐसा नहीं है। तो (फिर) दूर जो है— शरीर, वाणी, मन, कर्म की जो परिणति होती है, वह तो उनके कारण से स्वयं होती है, आत्मा से नहीं। आहाहा!

अब जीव का परिणामित्व सिद्ध करते हैं,... पुद्गलद्रव्य का (परिणामित्व) पहले सिद्ध किया (गाथा-११६ से १२०)। अब जीव का परिणामीपना (गाथा १२१ से १२५ में आचार्यदेव सिद्ध करते हैं)।

गाथा-१२१-१२५

जीवस्य परिणामित्वं साधयति -

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि।।१२१।।

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२।।

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।।१२३।।

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति।।१२१।।

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
सन्सारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।१२२।।

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम्।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः।।१२३।।

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या।।१२४।।

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः।।१२५।।

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात्। तथा सति सन्साराभावः।

अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न सन्साराभाव इति तर्कः।

किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्?

न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते।

ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु।

तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादि-परिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादि स्यात्। इति सिद्धं जीवस्य परिणाम-स्वभावत्वम्।।१२१-१२५।।

अब जीव का परिणामित्व सिद्ध करते हैं:-

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं परिणमनहीन बने अरे!।।१२१।।

क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे!।।१२२।।

जो क्रोध-पुद्गलकर्म-जीव को, परिणमाये क्रोध में।
क्यों क्रोध उसको परिणमाये जो स्वयं नहिं परिणमे?।।१२३।।

अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे-तुझ बुद्धि है।
तो क्रोध जीव को परिणमाये क्रोध में-मिथ्या बने।।१२४।।

क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयुक्त माया अरु लोभोपयुत लोभ हि बने।।१२५।।

गाथार्थ : सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं कि भाई! [एषः] यह

[जीवः] जीव [कर्मणि] कर्म में [स्वयं] स्वयं [बद्धः न] नहीं बँधा और [क्रोधादिभिः] क्रोधादिभाव से [स्वयं] स्वयं [न परिणमते] नहीं परिणमता [यदि तव] यदि तेरा यह मत है [तदा] तो वह (जीव) [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; और [जीवे] जीव [स्वयं] स्वयं [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादिभावरूप [अपरिणममाने] नहीं परिणमता होने से, [संसारस्य] संसार का [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्यमत का प्रसंग आता है।

[पुद्गलकर्म क्रोधः] और पुद्गलकर्म जो क्रोध है, वह [जीवं] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है, ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणममानं] स्वयं नहीं परिणमते हुए [तं] उस जीव को [क्रोधः] क्रोध [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकता है? [अथ] अथवा यदि [आत्मा] आत्मा [स्वयम्] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभाव से [परिणमते] परिणमाता है [एषा ते बुद्धिः] ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो [क्रोधः] क्रोध [जीवं] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है।

इसलिए यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है, [मनोपयुक्तः] मान में उपयुक्त आत्मा [मानः एव] मान ही है, [मायोपयुक्तः] माया में उपयुक्त आत्मा [माया] माया है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभ में उपयुक्त आत्मा [लोभः] लोभ [भवति] है।

टीका : यदि जीव कर्म में स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभाव से स्वयंमेव नहीं परिणमता हो, तो वह वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध होगा। ऐसा होने से संसार का अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि ''पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक है, वह जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, इसलिए संसार का अभाव नहीं होता'', तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इस प्रकार किया जाता है कि–पुद्गलकर्म क्रोधादिक है, वह स्वयं अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाता है, या स्वयं परिणते हुए को? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु

की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। (इस प्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।) इसलिए जीव परिणमन-स्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से, जैसे गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मंत्र साधक स्वयं गरुड़ है, उसी प्रकार अज्ञानस्वभाववाले क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है, ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है। इस प्रकार जीव का परिणाम-स्वभावत्व सिद्ध हुआ।

भावार्थ : जीव परिणामस्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है - ऐसा जानना।।१२१ से १२५।।

गाथा - १२१ से १२५ पर प्रवचन

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि।।१२१।।

अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२।।

पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।।१२३।।

अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।।१२४।।

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।।१२५।।

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं परिणमनहीन बने अरे!।।१२१।।

क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे!।।१२२।।

जो क्रोध-पुद्गलकर्म-जीव को, परिणमाये क्रोध में।
क्यों क्रोध उसको परिणमाये जो स्वयं नहिं परिणमे?।।१२३।।

अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे–तुझ बुद्धि है।
तो क्रोध जीव को परिणमाये क्रोध में–मिथ्या बने।।१२४।।

क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव मानोपयोगी मान है।
मायोपयुक्त माया अरु लोभोपयुत लोभ हि बने।।१२५।।

आहाहा! **टीका :- यदि जीव कर्म में स्वयं न बँधता हुआ...** कर्म के स्वयं अपने अपराध से यदि न बँधता हो, आहाहा! आत्मा स्वयं अपराध करता है मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि का। यदि वह स्वयं न करे तो जीव, **कर्म में स्वयं न बँधता हुआ** (अर्थात्) **क्रोधादिभाव (जीव) स्वयमेव नहीं परिणमता हो तो...** यदि क्रोधादि में वह परिणमे नहीं तो **वह वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध होगा।**

क्या कहते हैं ? क्रोध तो शब्द लिया है (परन्तु) क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषयवासना, उसरूप यदि आत्मा न परिणमता हो तो वह परिणमनहीन सिद्ध होगा। विकाररूप से परिणमे नहीं तो वह अपरिणामी सिद्ध होगा। विकाररूप जीव परिणमता है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। विकार जीव का स्वभाव नहीं, इसलिए (विकार) कर्म का कार्य है, यह बात यहाँ अभी सिद्ध नहीं करना है। अभी तो जीव, जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, मिथ्यात्व, विषयवासनादि भी उनरूप आत्मा परिणमता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दूसरी बात थी, कहा न यह तो। वह तो स्वभावदृष्टि कराने के लिये वह बात थी। यहाँ तो इसकी पर्याय का यही कर्ता है, ऐसा स्वयंसिद्ध कर्ता है, यह सिद्ध करना है। आहाहा! पहले यह (आत्मा) स्वयं ही दोष करता है, वह दोष कर्म कराता है, तब तो जीव दोषरहित सिद्ध हो, ऐसा है नहीं। दोष कर्म नहीं कराता। कर्म तो निमित्तमात्र है। और निमित्त के बिना भी अपने अपराध से अज्ञानी जीव क्रोध, मान, माया, राग-द्वेष, दया, दान, पुण्य-पाप के भावरूप होता है। आहाहा!

(जो जीव वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध हो)। **और ऐसा होने से संसार का अभाव होगा।** यदि आत्मा स्वयं विकाररूप न परिणमे तो संसार का अभाव होगा।

विकाररूप परिणमता है—मिथ्यात्वरूप से, राग-द्वेषरूप से, पुण्य-पाप के भावरूप से स्वयं जीव स्वयमेव परिणमता है, स्वयमेव—स्वयं जीव स्वयमेव परिणमता है; कर्म के कारण से विकारयप परिणमता है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जैन में कर्म ही बलवान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही खोटी है, जैनधर्म तो अनुभूतिमात्र है। अपनी अनुभूति—अपना कार्य करे, वही जैनधर्म है। अनुभूति!

मुमुक्षु : किसी समय तो आप शुद्ध उपयोग को जैनधर्म कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनुभूति कहो या शुद्ध उपयोग कहो, सब एक ही बात है। अनुभूति कहो, शुद्ध उपयोग कहो, वीतरागता कहो, अकषायभाव कहो, वह तो एक ही बात है। आहाहा!

यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि 'पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं, वे जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं'.... क्या कहते हैं?—कि तेरी ऐसी मान्यता हो पुद्गलकर्म जो क्रोधादि जड़ है न, जड़, वह जीव को क्रोध-मानरूप परिणमाता है—कर्म का उदय आवे, वैसा यहाँ (जीव को) परिणमाता है। कर्म वह उदय आकर आत्मा को दोष कराता है, नहीं? है? सूक्ष्म बात है! यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक है जड़, जड़। वह जड़ इस जीव को क्रोधादिकभावरूप परिणमाता है। जड़ का उदय जो है, वह आत्मा को विकाररूप परिणमाता है—ऐसा यदि तुम कहते हो तो इससे दो दोष आते हैं। **इसलिए संसार का अभाव नहीं होता**—शिष्य का प्रश्न है तो **उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इस प्रकार किया जाता है।**

सुनो! **पुद्गलकर्म क्रोधादिक है...** जड़ वह स्वयं अपरिणमते से पर द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता। क्या कहा? जो स्वयं परिणमते को जो कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक है, जड़, वह जड़ स्वयं अपरिणमते को (परिणमा नहीं सकता)। जो कोई परिणमता नहीं जीव, उस जीव को क्रोधादिभावरूप से परिणमावे जड़कर्म? आत्मा विकाररूप न परिणमे और क्रोधरूप जड़ है, वह (जीव को) विकाररूप परिणमावे तो उसमें यह कहते हैं, देखो स्वयं **पुद्गलकर्म क्रोधादिक हैं, वह स्वयं अपरिणमते हुए जीव को**

क्रोधादि भावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को ?... या स्वयं परिणमते हुए को पर द्वारा परिणमाया नहीं जा सकता।

क्या कहा ? कि जीव में जो विकार होता है—क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, उसे जड़क्रोध कराता है, आत्मा नहीं परिणमता उसे क्रोध (जड़प्रकृति) परिणमाती है या क्या परिणमते को परिणमाती है ? या नहीं परिणमते को परिणमाता है, क्रोधजड़ ? कि परिणमते को परिणमाता है जड़ ? आहाहा ! न्याय से बात रखी है। है ? पुद्गलकर्म क्रोधादिक है जड़-जड़, वह स्वयं अपरिणमता आत्मा, परिणमता नहीं, ऐसे दूसरे जीव को क्रोधादिकभाव से परिणमाता है जड़ ? जड़कर्म आत्मा में विकारभाव से (अपरिणमते आत्मा को) परिणमाता है या स्वयं परिणमते को ? या स्वयं आत्मा विकार करता है और जड़कर्म परिणमावे ऐसा है ? आहाहा !

दो प्रश्न हुए, (क्या ?) कि जड़कर्म जो है, वह आत्मा विकाररूप परिणमता नहीं, उसे जड़कर्म परिणमाता है ? या स्वयं परिणमता है, उसे जड़कर्म परिणमाता है ?

मुमुक्षु : स्वयं परिणमते को कौन परिणमावे, उसका क्या काम है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो कहते हैं। आत्मा विकाररूप न परिणमता हो और जड़कर्म का उदय उसे विकाररूप परिणमावे, तब तो तेरी अपरिणमित—जो परिणमते नहीं उसे कैसे परिणमा सके ? और परिणमता है स्वयं से—जो विकार (रूप) परिणमता है तो पर की अपेक्षा कहाँ रही ? स्वयं के कारण से विकार करता है, उसमें पर की अपेक्षा है नहीं। लॉजिक से बात करते हैं, भाई ! बनियों में ऐसा आता नहीं, कहीं व्यापार में, धन्धे में अकेला पाप करता है, उसमें ऐसा कहाँ से आवे ? यह तो भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, प्रभु ! तू ऐसा मान ले, कि मैं तो परिणमनहीन हूँ—मुझमें परिणमन नहीं (और) यह जड़ है, वह मुझे परिणमन कराता है—कर्म का उदय है, वह मुझे दोष कराता है, तो यदि ऐसा कहो तो वह परिणमते को परिणमाता है या नहीं परिणमते को परिणमाता है ?

यदि परिणमते को परिणमाता है तो ऐसा होता नहीं। स्वयं परिणमता है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। नहीं परिणमते को परिणमावे तो जो शक्ति स्वतः न हो, उसे अन्य

कोई कर नहीं सकता। पर की शक्ति पर में वह शक्ति दे नहीं सकता। है ? देखो ! यह तो अच्छी बात आयी, कल तो पुद्गल की थी, यह जीव की है।

स्वयं अपरिणमते हुए... यदि आत्मा स्वयं विकाररूप न परिणमता हो तो **पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता...** यदि अपने से आत्मा विकाररूप न परिणमे तो पर से विकाररूप नहीं परिणमाया जा सकता। आहाहा ! समझ में आया ?

स्वयं अपरिणमते हुए को... आत्मा स्वयं से दोष (करता न हो) मिथ्याभ्रान्ति, राग-द्वेष, विषयवासना आदि से स्वयं परिणमता नहीं, उस नहीं परिणमते जीव को पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता—नहीं परिणमनेवाले को **पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता...** जड़ से आत्मा में विकार होता नहीं कभी भी, कहते हैं। हमारे कर्म का उदय आया तो हमारे विकार करना पड़ा, मूढ़ है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हमको (यह) क्रोध आया, वह कर्म का—क्रोध का कठोर उदय आया, तो हमको क्रोध हुआ। तू क्रोधरूप (स्वयं) परिणमा है या उसने तुझे परिणमाया है ? कि तू नहीं परिणमता—अपरिणामी है और तुझे परिणामाया ? तब कहता है कि परिणमते को परिणामाया तो तू विकाररूप परिणमता है, दूसरा क्या परिणमावे ? और यदि नहीं परिणमता हो तो उसे पर परिणमावे, ऐसी शक्ति है नहीं ? आहाहा ! है ? **स्वयं अपरिणमते हुए को पर द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो...** जो परिणमन शक्ति स्वतः न हो, **उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।**

अपने में परिणमनशक्ति न हो तो कर्म परिणमनशक्ति करा दे, ऐसा त्रिकाल में नहीं है। अरे ! ऐसी बातें तो समझना ! वह तो सामायिक करे और प्रतिक्रमण करे, प्रौषध करे, हो गया धर्म। यह भक्ति करे भगवान की लो, अरे, भाई ! अभी तेरी चीज़ में क्या है ? परचीज़ क्या है ? ऐसी भिन्नता की खबर नहीं, वहाँ तो अज्ञान है। आहाहा ! समझ में आया ?

स्वयं अपरिणमते को—अन्य वस्तु में **जो शक्ति स्वतः न हो...** तो—जो आत्मा में परिणमने की शक्ति स्वतः न हो **तो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता...** तो कर्म उसे नहीं कर सकता। भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो सूक्ष्म हैं। आहाहा ! तथा एक जगह ऐसा

कहते हैं कि विकार आत्मा करता ही नहीं, विकार कर्म करता है—यह तो अभी दूसरी चीज़ (अपेक्षा) है। करता है तो वह, परन्तु दृष्टि द्रव्य पर गयी—स्वभाव त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि गयी, तो पर्याय में विकार करने का कोई गुण नहीं, इस कारण से विकार अपना कार्य नहीं, वह जड़ का कार्य है, ऐसा कहने में आया।

परन्तु... यहाँ तो अपनी पर्याय में विकार होता है, वह कर्म से नहीं, इतना सिद्ध करने के बाद, वह स्वभावदृष्टि की बात करते हैं। समझ में आया? आहाहा! **स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती। क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।** आहाहा! विकाररूप परिणमे, उसमें कर्म की अपेक्षा नहीं रखती। समझ में आया? यह दृष्टान्त दिया है न उसमें? स्फटिक है न स्फटिक—स्फटिक रत्न, तो लाल, पीले फूल हों तो उसमें झांई पड़ती है, वह अपनी योग्यता से। पर से नहीं। जो फूल है, उससे स्फटिक में यदि लाल-पीली झांईं पड़ती हो तो, पर से हुई, (ऐसा नहीं) पर से होती ही नहीं; स्वयं की योग्यता से होती है। ऐसे लकड़ी अथवा लकड़े का स्तम्भ लो, उसमें हरे-पीले फूल रखने से झांईं नहीं पड़ती, अपनी योग्यता नहीं है। लकड़ी में लाल-पीले फूल रखो तो वहाँ लाल-पीली झांईं नहीं पड़ती, उसकी योगयता नहीं है, और स्फटिक में योग्यता है तो अपनी योग्यता से लाल-पीली झांई पड़ती है। इसी प्रकार लोहा यदि अग्नि से गर्म हो जाता है तो वह लोहा अग्नि से गर्म हो जाता है, वह अग्नि से नहीं होता। लोहे का (गर्म होने का) स्वभाव है तो हो जाता है। दो। अब तीसरा (दृष्टान्त) मिट्टी का। यह तो दृष्टान्त है, अभी आयेगा। घटरूप मिट्टी परिणमती है तो वह मिट्टी घड़ेरूप है। तो (कुम्हार) घड़े का कर्ता नहीं। घड़ा कार्य है और मिट्टी कर्ता है। घड़े का कर्ता कुम्हार है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सुतार लकड़े को घड़ता नहीं। सोनी गहने बनाता नहीं। आहाहा! बुनकर कपड़ा बुन सकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म में भेद क्यों किया? जीवविपाकी, भवविपाकी..

पूज्य गुरुदेवश्री : जब वह तो कर्म में, अब आता है। आस्रव-आस्रव क्या है, उसमें कोई (विपाक) होता है, वह प्रकृति अभी न हो तो विपाक न आवे—विपाक आवे

तो, वह कर्म की बात है, अन्दर उसके परिणमन की बात है। उसे आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : जीव विपाक में तो जीव को फल दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव विपाकी, विपाक है नहीं उसमें (जीव) अपने विकार से परिणमता है और अपने विकार को टालता है, बस। प्रकृति में भी विपाक क्या है, वह दूसरी चीज़ है। यह तो कितनी प्रकृति सत्ता में पड़ी है तो वह अविपाक कही जाती है। उदय में आता है वह विपाक कहा जाता है। यह तो पर की—जड़ की बात है, उससे आत्मा में कोई विकार हो, कर्म का विपाक आया तो आत्मा में कर्म (से) विकार हो, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा (समझने को) निवृत्ति कहाँ? सत्य का निर्णय करने का समय नहीं मिलता।

जड़, जड़ की (पर्याय को) बनावे, चेतन चेतन को बनावे! चेतन अपने विकारी या अविकारी यह दोनों लेंगे अब, यहाँ तो विकार की बात है, फिर लेंगे कि चेतन अपने निर्मल ज्ञानदर्शन को बनावे, या राग-द्वेष को बनावे, परन्तु पर को तो बना नहीं सकता और पर से अपने में (कुछ भी) बन नहीं सकता। आहाहा! **स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती।** देखो! आहाहा! यदि आत्मा वह स्वयं अपने से विकाररूप परिणमता है तो पर की अपेक्षा उसे है नहीं। आहाहा! **क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती,...** यह महासिद्धान्त। प्रत्येक वस्तु की शक्ति—जिस वस्तु में अपना परिणमन करने की शक्ति है, वह पर की अपेक्षा नहीं रखती। समझ में आया? आहाहा!

यह हाथ चलता है, देखो! तो कहते हैं कि इस हाथ की परिणमनशक्ति उसमें है, उससे है। उसमें यदि शक्ति न हो तो आत्मा उसे चलने की शक्ति दे सके, ऐसा नहीं है। उसके कारण से यह हाथ चलता है, आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! अपने में यदि परिणमनशक्ति न हो तो दूसरा परिणमनशक्ति किस प्रकार दे सके? और अपने में ही यदि परिणमन की शक्ति हो तो दूसरे की अपेक्षा की क्या आवश्यकता रही? आहाहा! सूक्ष्म बहुत!

जैन में तो कर्म... कर्म। रामविजय थे न, यह वे खेड़ावाले नहीं? जेठाभाई थे मन्दिरमार्गी। फिर यहाँ का सुना तो लगा कि... यह तो गजब लगता है, सच्ची बात तो यह लगती है, फिर उन्हें ऐसा हुआ कि यदि यह हमारे सम्प्रदाय में मिले तो अपने बदलना मिटे। फिर साधुओं में पचास प्रश्न रखे। किसी ने उत्तर दिया नहीं। एक व्यक्ति ने दिया, सब खोटा, फिर अन्त में रामविजय को मिले कि अपने चर्चा करेंगे, तब रामविजय भी कहे, पहली बात यह, कि कर्म विकार कराता है या नहीं कराता? कर्म विकार कराता है, यह मान्य हो तो मैं चर्चा करूँगा।

मूल... वहाँ पूरी लाईनफेर है। श्वेताम्बर शैली में—पूरी सिद्धान्त की शैली अलग है। आहाहा! परन्तु अब कठिन पड़े, जिन्दगी पूरी (उसमें) निकाली हो न, माँ-बाप उसमें हो, उसमें पुत्र हो, वे करते हों ऐसे के ऐसे किया करते हो, अब उसमें से... रामविजय को और उसे चर्चा हुई जेठाभाई। आते हैं न, जेठाभाई आते हैं। अपने चर्चा करें (तो) रामविजय कहे, पहली यह शर्त, कर्म से विकार होता है, यह शर्त। यह कहे, यह मान्य नहीं। वह विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। आहाहा! अपने से यदि परिणमता है आत्मा तो वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती, तो कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं रखती। भले निमित्त हो परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं रखती कि वह है; इसलिए परिणमन होना पड़ा—ऐसी अपेक्षा नहीं। समझ में आया?

कसाई जो बकरे काटता है, तो कहते हैं कि उसमें जो मिथ्यात्वभाव है, वह कोई कर्म ने कराया नहीं, उसने किया है। आहाहा! महा तीव्र पाप के वे परिणाम जीव ने किये हैं। कर्म ने कराये हैं, कर्म उदय में आया और ऐसी कषाय करना पड़ी, ऐसा है नहीं। आहाहा! किसी ने थप्पड़ मारी और क्रोध हुआ, तो कहते (हैं कि) क्रोध हुआ, वह तो स्वयं से हुआ है, थप्पड़ मारी; इसलिए उससे क्रोध हुआ, यह बात झूठी है—ऐसा कहते हैं। यदि अपने में क्रोधरूप परिणमने की शक्ति न हो तो थप्पड़ क्या करे? और परिणमने की शक्ति है तो पर की अपेक्षा कहाँ रहे? आहाहा! कहो, रायचन्दभाई! ऐसा अलग है। आहाहा! यह जैन में तो कर्म ही होली घुस गयी है। कर्म करावे... कर्म करावे... कर्म करावे... (होली घुस गयी है।)

मुमुक्षु : इसलिए कर्म की पूजा करते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्मदहन की पूजा जड़ की। यहाँ तो (संवत्) ७१ से कहते आयें है, ७१ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? चौंसठ, लाठी में चातुर्मास था। (कहा) विकार स्वयं से होता है, कर्म से बिल्कुल नहीं, यह बात बाहर निकली ऐ... झंझट लगी! (प्रथम) स्थानकवासी में आया, वह श्वेताम्बर में बात गयी, उन्होंने विरोध किया, दिगम्बर में गयी, दिगम्बरों ने विरोध किया! आहाहा! नहीं! कर्म से विकार होता है। वर्णीजी (गणेशप्रसाद वर्णी) के साथ चर्चा हुई थी न? (संवत्) २०१३ के वर्ष। (वे कहे), निमित्त से होता है। मैंने कहा—देखो, देखो! पंचास्तिकाय ६२ गाथा, सब पण्डित थे, सब बैठे थे। विकार अपने से होता है पर की अपेक्षा—कारक की उसे है नहीं। कर्म के-निमित्त के कारकों की अपेक्षा विकार करनेवाले को है नहीं। तो (बात) नहीं बैठी! (कहने लगे) नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। अपने से हो तो स्वभाव हो जाये इसका, परन्तु वह विकार करने का स्वभाव—परिणमन उसकी शक्ति है। आहाहा! दो बड़ी चर्चायें हुई, एक यह हुई और एक क्रमबद्ध! प्रत्येक पदार्थ क्रमबद्ध है—एक के बाद एक पर्याय होनेवाली वह ही होगी। वे कहें, नहीं, एक के बाद एक सही, परन्तु एक के बाद यही आनेवाली है और यही आवे और यही हो, ऐसा नहीं है। (तो फिर) क्रमबद्ध कहाँ रहा? सूक्ष्म बात, भाई! बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, स्वयं परिणमते को तो पर (अन्य) परिणमनेवाले की अपेक्षा नहीं होती, जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई परिणमा नहीं सकता। स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमानेवाले की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा वह विकार करता है तो कर्म की—निमित्त की अपेक्षा नहीं होती—निमित्त हो, परन्तु वह निमित्त है; इसलिए यहाँ विकाररूप परिणमता हे, ऐसा नहीं है। **क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।** ओहोहो! महासिद्धान्त!

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक समय में जो परिणाम करता हे, वह पर की अपेक्षा नहीं रखती। आहाहा! समझ में आया? यह महासिद्धान्त है। **वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती।** प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणमन (शक्ति से)

परिणमन करता है, वह पर की शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। आहाहा! मास्टर बराबर पढ़ानेवाला हो और लड़का ठोठ निकलता हो, क्योंकि उसकी परिणमनशक्ति नहीं तो, मास्टर क्या करे? विशेष पढ़ने की शक्ति न हो तो मास्टर क्या करे? विशेष पढ़ने का क्षयोपशम नहीं तो उसे—शब्द और शास्त्र क्या करे? आहाहा! समझ में आया?

एक ही मास्टर हो और पचास लड़के हों (उसमें से) जो लड़का एक है वह अपनी योग्यता से पास होता है और एक फेल होता है तो अपने-अपने कारण से; मास्टर के कारण से नहीं। मास्टर तो वह एक ही सबको पढ़ानेवाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : सबको कर्म का क्षयोपशम अलग-अलग है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कर्म नहीं, अपना क्षयोपशम चाहिए, कर्म तो निमित्त-जड़ है, अपने क्षयोपशमभाव की पर्याय की कमी है, अपने कारण से, इस कारण से वह ठोठ विद्यार्थी निकलता है। कर्म के कारण से नहीं।

मुमुक्षु : जैतपुर में पुरुषोत्तम था, भगु पशु कहता ऐकडेएक से दस तक आता है, ग्यारह के बाद (नहीं आता)।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह तो भगु था न? जैतपुर का भगु हलवाई था, एक से दस तक सीखा, फिर आवे नहीं। इसके अतिरिक्त मुझे, दूसरा मिला था अमरेली, दशाश्रीमाली बनिया, परन्तु तगारियाँ खींचे—ऐसे मजदूरी करे! आहाहा! मकान चिनने में (मजदूरी में जाये) यह (संवत्) १९७० की बात है। मैंने उससे पूछा तू दशाश्रीमाली बनिया है और यह क्या? (वह) कहे महाराज! एक से दस तक सीखा हूँ, फिर कहे महाराज! मुझे कुछ आता नहीं। इसलिए मजदूरी करता हूँ। तगारियाँ खींचे और अन्दर मिट्टी-चूना, और अमुक और मकान के काम में इसी प्रकार यह अपने-अपने योग्यता से है। कर्म से नहीं। आहाहा! यह तो महासिद्धान्त है।

आत्मा, अपनी पर्याय में परिणमने की योग्यता स्वयं से है। चाहे तो ज्ञानरूप परिणमो या रागरूप परिणमो, यह आयेगा, आगे आयेगा कलश में। परन्तु वह अपने कारण से है। कर्म है तो राग होता है, ऐसा नहीं है और कर्म का क्षयोपशम हो तो यहाँ ज्ञान बढ़ता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

(इस प्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं) कौन ? कि तू परिणमनेवाले को परिणमाता है, ऐसा कहे तो वह बात झूठी है (और) नहीं परिणमते हुए को तू परिणमा सकता है, यह बात भी झूठी है। नहीं परिणमनेवाले को परिणमा सके, ऐसी शक्ति पर में होती नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें ? यहाँ आकाश है, उस आकाश के यहाँ प्रदेश हैं, उसे ऊँचा कर सकता है कोई ? यहाँ प्रदेश है आकाश के, ऊँचा कर सकता है ? इस लकड़ी को ऊँची कर सकता है ? (नहीं... नहीं)। उसकी परिणमनशक्ति से ऊँची होती है; अँगुली से नहीं, हाथ से नहीं। आहाहा! प्रत्येक परमाणु में अनादि-अनन्त परिणमन शक्ति है, तो वह परमाणु जब परिणमते हैं, उस काल में वे अपने परिणाम के कर्ता हैं। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त परिणमन शक्ति है अनादि-अनन्त, तो जब-जब वह परिणमता है तो वह अपनी परिणमनशक्ति से परिणमता है। पर के कारण से—कर्म से, नोकर्म से, उससे ऐसा है नहीं। आहाहा! इसमें क्या करें, भाई! घर में ऐसा लड़का पका, उसके कारण हमारे ऐसा होना पड़ा, यह सब खोटी बात है। तेरी पर्याय की योग्यता से तू विकार करता है। आहाहा! 'योग्यता हि शरण' आता है नहीं ? आता है 'योग्यता हि शरण'—प्रत्येक द्रव्य की उस-उस समय की योग्यता है, यह बात है। पर के कारण से उसमें कुछ होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(कहते हैं) **इसलिए जीव परिणमनस्वभाववाला...** त्रिकाली **स्वयमेव हो।** जीव बदलने के स्वभाववाला स्वयमेव हो। वह जीव, क्रोध, मान, माया, लोभ करे तो स्वयं अपने से करता है, कर्म से बिल्कुल नहीं। आहाहा! (लोग) कहते हैं न कि भाई! हमारे तो क्षमा रखनी थी परन्तु क्रोध का ऐसा उदय आ गया कर्म का, (इसलिए) मुझे यह (क्रोध) करना पड़ा। झूठ है सब! आहाहा! कमाने का भाव कर्म का उदय है, तब तक हमारे दुकान में कमाना पड़ता है, जुड़ना पड़ता है। सब झूठ बात है। वह वहाँ दुकान (के लिये) विकार करता है तो वह तू तेरे स्वतः परिणाम करनेवाला है, कर्म से वे हुए ही नहीं। धन्धे के-विकार और दुकान पर बैठने के जो भाव होते हैं, वह विकारी वह आत्मा स्वयं अपने से परिणमता है, यह विकार का परिणमानेवाला दुकान का धन्धा भी नहीं और कर्म भी नहीं। धन्धा नोकर्म में जाता है; कर्म कर्म में जाता है। आहाहा!

(इस प्रकार दोनों पक्ष असत्य है) इसलिए जीव परिणमन स्वभाववाला स्वयमेव

हो। बदलने का स्वभाव अनादि-अनन्त है तो उस समय भी विकार का परिणमन स्वयं से है, पर से नहीं। **ऐसा होने से; जैसे, गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मन्त्रसाधक, स्वयं गरुड़ है उसी प्रकार,...** गरुड़ हो जाये, मानो कि मैं (ही) गरुड़ हूँ! आहाहा! उसमें भैंसा का दृष्टान्त दिया, पाड़ा का तो भैंसे का ध्यान करते-करते (मानो कि मैं) भैंसा हो गया,, ऐसा लगता है। **इसी प्रकार अज्ञानस्वभावयुक्त...** अज्ञान स्वभाव उसका। ज्ञानी को क्रोध-मान-माया आते हैं, उसका तो ज्ञान होता है। जरा सूक्ष्म बात है। ज्ञानी को जरा रागादि अस्थिरता होती है, उसे मिथ्यात्व गया है; सम्यग्दर्शन हुआ है—आत्मा का ज्ञान हुआ, उसे जरा राग आता है तो उस राग का कर्ता नहीं परन्तु राग का जाननेवाला रहता है। आहाहा!

यहाँ तो अज्ञानी राग को करता है, ऐसे अज्ञानी की बात ली है। ऐसा लिया है, देखो! **अज्ञानस्वभावयुक्त...** अपने स्वरूप का भान नहीं, ऐसा सहित **क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है...** क्रोध में जिसका उपयोग परिणमित है, **ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है।** (जैसे) मिट्टी से घड़ा हुआ तो घड़ा मिट्टी है... मिट्टी से घड़ा हुआ तो घड़ा मिट्टी है। ऐसे जीव से क्रोध हुआ तो क्रोध जीव है। वह जीव का क्रोध है। आहाहा!

यह जैन में कर्म का झगड़ा बड़ा है, पहले से बड़ा विवाद। (संवत्) १९७१ में यह बात रखी थी तो बड़ी गड़बड़ हो गयी। दामोदर सेठ थे, एक दामनगर के पैसेवाले! दस लाख रुपये तब साठ वर्ष पहले। उन्होंने एकदम विरोध किया। कर्म से विकार नहीं होता? कहाँ, बिल्कुल नहीं। एक प्रतिशत भी नहीं, सौ में सौ प्रतिशत आत्मा विकार और दोष करता है, वह स्वयं से करता है, कर्म की अपेक्षा उससे है नहीं। आहाहा! समझ में आया? और वर्णीजी के साथ भी यह चर्चा हुई थी। वर्णीजी ने कलकत्ता यह पत्र भेजा। यह (कानजीस्वामी) ऐसा कहते हैं कि अपने से विकार होता है, पर से नहीं, बड़ी भूल है। शाहूजी है न? शाहूजी, वे पत्र लाये, गजराजजी के यहाँ भोजन था, भोजन करने के बाद सेठ (शाहूजी) लाये थे, यह पत्र आया है, विकार कैसे होता है? (हमने कहा) वहाँ सब उत्तर दे दिया है। विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। बड़ा पण्डित हो या चाहे जो हो। आहाहा!

अज्ञानी-अज्ञानी की बात है न यहाँ! ज्ञानी को तो आत्मा शुद्ध चैतन्य है, उस पर दृष्टि है, ज्ञानी की-धर्मी जीव की शुद्ध चैतन्य ध्रुव अखण्ड अभेद ज्ञायकभाव पर दृष्टि होने से, वह तो ज्ञान और आनन्द की पर्याय का कर्ता है। आहाहा! छह खण्ड का राज्य करते दिखे, परन्तु वह उसका कर्ता है नहीं, चक्रवर्ती समकिती छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, वह उनका कर्ता है नहीं। उसकी अपने स्वभाव पर दृष्टि होने से, ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम हुए तो जाननेवाला-देखनेवाला है। आहाहा! ऐसा स्वभाव है।

जैसे गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मन्त्रसाधक स्वयं गरुड है; उसी प्रकार अज्ञान स्वभावयुक्त क्रोधादिरूप... क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति इत्यादि, विषयवासना (रूप) **जिसका उपयोग परिणमित हुआ है....** उसका उपयोग उसमें परिणमित हुआ है, **ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है।** देखा? जीव ही स्वयं क्रोधादि है। जीव ही स्वयं क्रोधादि है। मिट्टी से घड़ा हुआ, तो घड़ा, वही मिट्टी है। घड़ा ही मिट्टी है। ऐसे जीव से क्रोध हुआ तो जीव ही क्रोधादि है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। वीतराग का मार्ग जानना, जैन में जन्मे उन्हें भी खबर नहीं, उन्हें ऐसे हाँक रखते हैं, ऊपर (वाले ने) कहा वह 'जय नारायण' (हो गया)। आहाहा!

क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है, ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि... देखा? जीव ही स्वयं क्रोध, मान, माया, लोभ है। है न अन्दर? **'क्रोधोपयोगी क्रोध जीव मानोपयोगी मान है'** जीव ऐसा है। आहाहा! मिट्टी से घड़ा हुआ तो घड़ा मिट्टी ही है। आहाहा! तेल की धार हुई तो वह तेल ही है (तेल की) धार दूसरे ने की, ऐसा नहीं है। आहाहा! बर्तन में घी है? तो कहे, नहीं; 'घी' घी में है। घी, घी में है, वही घी है बर्तन में, बर्तन बर्तन में है, वह तो जड़ है, वह तो दूसरी चीज़ है, उसमें घी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु डाले कौन? वह घी, घी ऊपर रहता है—यहाँ भी घी, घी के आधार से है (बर्तन) छूट जाये तो भी घी, घी के आधार से है।

मुमुक्षु : काशी से एक ब्राह्मण आया था न, उसने प्रयोग किया था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किया अब खोटा सब। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि जो द्रव्य, जो द्रव्य जिस समय में परिणमन करता है, वह परिणमन उस द्रव्य का है। जिस समय जो द्रव्य परिणमन करता है, वह द्रव्य ही है। द्रव्य ही वह है, वह द्रव्य का परिणमन तो द्रव्य वही है। आहाहा! रोटी बनती है तो रोटी आटा है। आटे से बनी है रोटी, तो रोटी आटा ही है। रोटी स्त्री ने बनायी, ऐसी बात है नहीं। आहाहा! देखो न! महासिद्धान्त रखा है न!!

'**अज्ञान स्वभावयुक्त क्रोधादि है**' यह तो अज्ञानी की बात है न? क्रोध, मान, माया, लोभ विकाररूप परिणमता है अज्ञानी, (वह) अपने से स्वतः परिणमता है; कर्म के उदय के कारण से परिणमता है, ऐसा है नहीं। जिसका उपयोग परिणमा है—जिसका उपयोग, ऐसा जीव। जीव का उपयोग परिणमा है, ऐसा जीव। जीव ही स्वयं क्रोधरूप है। आहाहा! एक ओर तो कहना कि जीव तो ज्ञाता-दृष्टा अखण्डानन्द प्रभु है (और) यहाँ विकाररूप परिणमता है तो उसे जीव कहते हैं। आहाहा! वह जीव का परिणाम है न विकार तो... पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत-भक्ति विकार; तो विकाररूप परिणमता है, वह जीव ही है। आहाहा! वह जीव ही है, अजीव नहीं—जड़ नहीं—कर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह कल आया था पुद्गल का, आज आया है जीव का। आहाहा! **जीव ही स्वयं क्रोधादि है....** भाषा देखो, जीव ही निश्चय स्वयं क्रोध, मान, माया, लोभरूप है। आत्मा ही क्रोध, मान, मायारूप है! आहाहा! अज्ञानी राग और क्रोध मानरूप से हो गया, तो अज्ञानी जीव ही क्रोधरूप है। कहो, कर्म क्रोधरूप हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन बात है। बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती, सत्य का निर्णय करने की, ऐसे के ऐसे जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

इस प्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ... जीव का परिणाम स्वभावत्व (सिद्ध हुआ)। आहाहा! यह बहुत सरस गाथा है! ज्ञानी ज्ञान होने के बाद (यह) दूसरी बात है। परन्तु जब तक अज्ञान है, उस अज्ञानरूप से स्वयं से विकाररूप परिणमता है। उस अज्ञान में कर्म के कारण से अज्ञानरूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह प्रश्न हुआ था न वहाँ, कि जब ज्ञान क्षयोपशमरूप से होता है, आत्मा में घट-बढ़ होती

है ज्ञान में हीनाधिकता होती है, वह स्वयं से होती है, ज्ञानावरणी से नहीं। तो वर्णीजी कहे, नहीं, वह ज्ञानावरणी से। यह सब (बात), ऐसी चली थी ऐसा बेचारे! उनका कुछ दोष नहीं! यह प्रथा तीनों सम्प्रदाय में—स्थानकवासी में, मन्दिरमार्गी में, दिगम्बर में तीनों में कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है। आहाहा! ऐसा कहा उन्होंने। कर्म से विकार होता है, कर्म से न हो तो स्वभाव हो जाये।

(कहा) अरे! स्वभाव पर्याय का, परिणमन का स्वभाव है। परिणमन स्वभाव है तो होता है उसमें। कर्म से बिल्कुल नहीं। एक प्रतिशत भी नहीं। पच्चीस प्रतिशत कर्म के और पिचहत्तर प्रतिशत पुरुषार्थ के यहाँ विकार में। एक ओर (व्यक्ति) पचास प्रतिशत कहता था वह यहाँ आया था जीवणधर! आया तो वह सेठ के साथ, हुकमीचन्द सेठ। पचास प्रतिशत निमित्त के और पचास प्रतिशत उपादान के। हराम कहा। सौ प्रतिशत निमित्त के निमित्त में और उपादान के उपादान में। ऐसे भगवान त्रिलोकनाथ के वचन हैं, कहा। मानो न मानो तुम जानो! सेठ आये थे न तीन बार (यह सोनगढ़ में) बीस करोड़ रुपये। साथ में एक जीवणधर पण्डित था। निमित्त से होता है? कहा, ऐसा है नहीं। वह कहे पचास-पचास प्रतिशत रखो न। आहाहा!

एक और हमारे प्रश्न हुआ था। सौ में सौ प्रतिशत रख न विकार करने में सौ में सौ प्रतिशत तेरे और विकार नहीं करने में भी सौ में सौ प्रतिशत तेरे। कर्म है तो विकार होता है, ऐसा नहीं है; कर्म हटे तो अविकारी हुआ, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! यह प्रश्न पहले चला था दामनगर, कि तुम ऐसा कहते हो कि कर्म से यहाँ (जीव में) विकार नहीं होता। तो इतना तो रखो (कि) इक्यावन प्रतिशत विकार करने का पुरुषार्थ अपना और उनपचास प्रतिशत कर्म का। यहाँ, यहाँ अधिक रखो, ऐसा प्रश्न हुआ था। यहाँ तो बहुत प्रश्न होते हैं न पहले से ही। आते हैं न? इक्यावन प्रतिशत रखो कारण... बोल आया न दो प्रतिशत यहाँ बढ़ गये न। आत्मा के पुरुषार्थ में विकार के इक्यावन प्रतिशत कर्म के उनपचास प्रतिशत। कहा—एक प्रतिशत भी कर्म का नहीं (विकार होने में) इक्यावन प्रतिशत क्या, सौ में सौ प्रतिशत विकार करने में (जीव) स्वयं अपने से करता है। बड़ी चर्चा चली थी। यह तीनों सम्प्रदाय में—यह जैनपने में माने, इसलिए पर को ही माननेवाले!

अन्य (मत में) ईश्वर को माने कि ईश्वर कर्ता है। इस जैन में कर्म कर्ता घुस गया।

अब, ईश्वर तो चैतन्य है और यह (कर्म) तो जड़। जड़ेश्वर हो गया अन्दर से! आहाहा! क्या करें भाई? हमारे कर्म का उदय है, हम नहीं छोड़ सकते, कर्म का उदय मन्द पड़े तो हम छोड़ सकते हैं, सब झूठ बात है। अपने स्वयंमेव पुरुषार्थ से विकार करता है और अपने स्वयमेव सुल्टे पुरुषार्थ से विकार का नाश करता है। उसमें पर की अपेक्षा है नहीं। आहाहा! यह तो जीव की बात चलती है। बहुत सरस है। (कल) ऐसे पुद्गल में लिया। आहाहा! उसमें परिणमनशक्ति है न उसमें? कर्म परमाणु हैं, उसमें उन परमाणु में परिणमनशक्ति अनादि-अनन्त है या नहीं? अनादि-अनन्त है या नहीं? (है)। तो जब कर्मरूप परिणमे तो वह परिणमनशक्ति अनादि-अनन्त परिणमनशक्ति उस समय भी है। आहाहा!

कर्मरूप हुए, आहाहा! (यह आत्मा भी विकाररूप हुआ)। परमाणु में परिणमन शक्ति है या नहीं? है, अनादि-अनन्त है, वह ऐसे-ऐसे होता है तो वह परिणमन अनादि-अनन्त है तो वह परिणमन उसका है और उससे वह काम करता है। आत्मा उसे हिला सकता है या आत्मा बोल सकता है, तीन काल तीन लोक में नहीं। आहाहा! ऐसी बात बैठना, धर्म तो अभी स्वतन्त्र है। दोष, वह स्वतन्त्र है और धर्म भी स्वतन्त्र है। दोष, वह अपनी पर्याय में, परलक्ष्य से (जीव) स्वतन्त्र करता है, धर्म अपने लक्ष्य से (जीव) स्वतन्त्र करता है! आहाहा!

(आत्मा) विकार पर के लक्ष्य से स्वतन्त्र करता है, परलक्ष्य किया तो उससे (पर से) हुआ नहीं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-धर्म अपने लक्ष्य से स्वतन्त्र करता है; दर्शनमोह का क्षयोपशम हो तो यहाँ सम्यग्दर्शन होता है—मिथ्यात्व जाये तो दर्शनमोह (जाये) तो समकित होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, पण्डितजी? वहाँ क्या अभी तक सीखे सब वहाँ? यह तो जहाँ हो वहाँ यही मांडते हैं सबको। आहाहा! बहुत सरस बात है!

यदि अपने में परिणमनशक्ति न हो तो दूसरा शक्ति दे सके, यह तीन काल में नहीं

होता। आहाहा! मिट्टी में घड़ा होने की शक्ति न हो तो कुम्हार वह शक्ति नहीं दे सकता। आहाहा! आटे में रोटी होने की आटे की शक्ति न हो तो (रोटी नहीं बनती)। आटे की शक्ति से रोटी होती है, ऐसा न हो तो दूसरे कोई स्त्री आदि रोटी बना सके, ऐसा नहीं है। क्योंकि पर में जो शक्ति नहीं, दूसरा शक्ति दे नहीं सकता और पर में शक्ति है तो पर की शक्ति की अपेक्षा नहीं। आहाहा!

यह तो चार पैसे की सेर तो मण का ढाई रुपया। यह दृष्टान्त, वह तो समझने के लिये, सिद्धान्त यह है कि ढाई रुपये का मण तो चार पैसे का सेर या साड़े सैंतीस का? कि साड़े सैंतीस की साढ़े सैंतीस आना। यह तो सब उसकी चाबी! इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की वर्तमान पर्याय, विकृतरूप या अविकृतरूप से, परमाणु में भी विभावरूप से या स्वभावरूप से, ऐसा। आहाहा! उस-उस समय में उस-उस परिणति का कर्ता वह द्रव्य है; इसलिए वह परिणति, वह द्रव्य है। वह परिणति द्रव्य है। वह परिणति दूसरा द्रव्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यह होशियार मनुष्य सब करते हैं और वह क्या कहे, दुकान का धन्धा। कौन करे भाई? ऐई, पुनातर! धन्धा करे यह? महिलायें होशियार हों तो भरत भरे! तकता नहीं क्या कहलाये? तकता नहीं वह आभला डालकर ऐसा भरे चारों ओर तख्ता। आभला से पूरा-पूरा हो, थोड़ा-थोड़ा दबे इस प्रकार से भरे न, वह सब भरना आता है या नहीं? आवे वह कर सके या न आवे वह कर सके?

यह तो उसकी परिणमने की शक्ति है, इस प्रकार से होता है—हुई है, उसमें दूसरी शक्ति कहाँ से डाल दे? उसके कारण से यह बनता है भरत! क्या कहलाता है? भरत-भरत! आहाहा! ऐसी बातें! यह बात तो ऐसी ही है! आहाहा! बहुत बात, यह जीव का अधिकार है न? ओहोहो! मिथ्यात्व का परिणाम हुआ तो कहते हैं कि जीव मिथ्यात्वरूप परिणमता है तो जीव ही मिथ्यात्व है। क्रोधरूप परिणमता है तो जीव ही क्रोध है। विषय-वासनापने परिणमता है तो जीव ही विषय-वासनारूप है। आहाहा! दूसरा द्रव्य नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बहुत सिद्धान्त..!

एक समयमात्र का प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वयं से होता है क्योंकि अनादि-

अनन्त परिणमन है तो वह परिणमन समय-समय में जो होता है, उसमें दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि जो न परिणमे तो दूसरा कोई परिणमा नहीं सकता और परिणमता है तो दूसरे की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा सुनना। मार्ग ऐसा है, भाई! यह भटकता है अनादि से अज्ञान से। सत् को असत् मानता है और असत् को सत् मानता है, यह मान्यता विपरीत-उल्टी है। आहाहा! दया पालने का भाव हुआ, वह स्वयं से (आत्मा से) हुआ है, कर्म से नहीं—ऐसा कहते हैं। परन्तु वह राग है। उस राग का कर्ता होता है तो वह अज्ञानी है। आहाहा! वह पर की दया तो पाल नहीं सकता, क्योंकि पर की शक्ति वहाँ रहने की है आयुष्य की तो दूसरा है उसे जिला सके, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह आया न (श्री समयसार) बन्ध अधिकार में कि मैं पर को जिलाऊँ-पर को मारूँ, पर को सुखी करूँ, पर को दुःखी करूँ, यह सब मान्यता अज्ञानी की है। आहाहा! मैं पर को कर्म से बंधाऊ, पर की मुक्ति करा दूँ, यह सब (अभिप्राय) मिथ्यात्व भाव है। वह मुक्ति तो अपने वीतरागभाव से होती है और वह संसार बाँधता है अपने अज्ञान रागभाव से। दूसरा कहे कि मैं उसे करा दूँ....

मुमुक्षु : गुरु शिष्य को पढ़ाता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ पढ़ावे नहीं। यह तो कौन पढ़ावे? यह तो सब बातें हैं। आहाहा! कौन किसे करे? जो-जो परिणमन जिस समय में (जिस) द्रव्य का होता है तो वह द्रव्यमय है वह तो। उसे दूसरे द्रव्य क्या करे? आहाहा! शरीर जो यहाँ रहा है, देखो! जीव निकल जाये तो ऐसा हो जाये। जीव अन्दर है तो जीव के कारण ऐसा रहा है। अपने कारण से ऐसा स्थिर है, वह पर्याय है तो उससे स्थिर है। शरीर में से जीव निकल जाये शरीर पड़ जाये, ऐसा हो जाता है—ऐसा नहीं है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१३, गाथा-१२१ से १२६ तथा श्लोक-६५
दिनांक ०७-०३-१९७९, बुधवार, फाल्गुन शुक्ल - ९

श्री समयसार, (गाथा) १२१ से १२५ का भावार्थ है न? गाथा चल गयी है।

जीव परिणाम स्वभाव है... हिन्दी है? क्या कहते हैं? भावार्थ है, भावार्थ! जीव परिणामस्वभाव है अनादि से जीव ध्रुवरूप रहता है और परिणामस्वभाव भी अनादि का है। पलटना-बदलना वह अपना स्वभाव है। **जब अपना उपयोग...** क्रोध, मान, माया, लोभ में जाता है तो उसरूप **परिणमता है....** कोई कर्म परिणमाता है, ऐसा नहीं है। दूसरी चीज़ उसे विकाररूप परिणमा सके, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! अपना उपयोग जानन-देखन जो उपयोग है, वह क्रोधादिरूप परिणमता है। आहाहा! राग-द्वेष। राग के दो भाग—माया और लोभ, द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। परिणमन स्वभाव होने से विकाररूप परिणमता है, तो वह परिणाम उसका कार्य है (और) कर्ता आत्मा है। पर का कार्य तो किंचित् कर नहीं सकता। आहाहा!

यह हिलना, चलना, बोलना, वह क्रिया आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! अभिमान में अज्ञान से मानता है कि मैं ऐसा करता हूँ—शरीर का काम करूँ, पर की सेवा करूँ, पर की दया पाल सकूँ, पर को मदद कर सकूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव अपने को भूलकर ऐसा अभिमान का मिथ्यात्व करता है। आहाहा! अपने परिणाम में क्रोध, मान, माया, (लोभ) करता है। मिथ्यात्व भी अपने परिणाम में करता है और उस परिणाम का कर्ता आत्मा है। वह विकार का कर्ता, कर्म के कारण से है, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार अपने परिणाम के अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ शरीर, वाणी, मन, कुटुम्ब-कबीला, धन्धा, इन सबकी पर्याय आत्मा कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

यह कहा न! **तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है....** जब मिथ्यात्वरूप परिणमता है—मैं पर का करूँ, पर को सुखी करूँ, पर को दुःखी करूँ, पर को सुविधा दूँ, उसे असुविधा दूँ—ऐसा अभिमान—मिथ्यात्व करता है, तब मिथ्यात्वरूप परिणमता है। आहाहा! वह कहीं दर्शनमोहकर्म उसे मिथ्यात्वरूप परिणमाता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **तब स्वयं क्रोधादिरूप होता है, ऐसा जानना।**

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

कलश-६५

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।६५।।

श्लोकार्थ : [इति] इस प्रकार [जीवस्य] जीव की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणमनशक्ति [निरन्तराया स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई। [तस्यां स्थितायां] यह सिद्ध होने पर, [सः स्वस्य यं भावं करोति] जीव अपने जिस भाव को करता है, [तस्य एव सः कर्ता भवेत्] उसका वह कर्ता होता है।

भावार्थ : जीव भी परिणामी है; इसलिए स्वयं जिस भावरूप परिणमता है उसका कर्ता होता है।।६५।।

कलश - ६५ पर प्रवचन

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।६५।।

नीचे श्लोकार्थ - **इस प्रकार जीव की स्वभावभूत...** स्वभावभूत। परिणमना, वह स्वभावभूत शक्ति है। पर कोई परिणमावे तो परिणमे, ऐसी कोई चीज़ नहीं। आहाहा! **स्वभावभूत परिणमनशक्ति 'निरंतराया स्थिता' निर्विघ्न सिद्ध हुई....** जीव की अपनी परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। उसके परिणमन में कोई विघ्न करे, या दूसरा कोई सहायता करे तो परिणमन हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! अकेला अपना आत्मा अपने

परिणाम का कर्ता है। दूसरे के परिणाम का वह कर्ता नहीं और दूसरा कोई उसे परिणाम कराता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कुगुरु का संग करने का निषेध क्यों किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो परिणाम तेरे मिथ्यात्व के न हों, इस कारण से। उसे (जो) मिथ्यात्व होता है, वह कुगुरु के संग से नहीं होता, स्वयं विपरीत-उल्टी मान्यता करता है तो अपने परिणाम उल्टे होते हैं, ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है! किसी भी क्षण और पल में, किसी भी संयोगी चीज़ से उसमें कुछ होता है, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : किसी समय तो निमित्त से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में नहीं। तीन काल में, कोई निमित्त से उसमें कुछ होता है, ऐसी द्रव्य की परिणति शक्ति, ऐसी है ही नहीं। अपने कारण से परिणमन शक्ति (से) करता है। आहाहा! अनेकान्त (यह है कि) यहाँ अपने से परिणमन करता है, पर से नहीं, यह अनेकान्त! अपने परिणाम अपने से करता है, चाहे तो मिथ्यात्व का करो, चाहे तो राग-द्वेष का करो, चाहे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान के करो, परन्तु स्वयं अपने परिणाम का कर्ता है, पर के परिणाम का कर्ता नहीं। आहाहा! एक सिद्धान्त भी यथार्थ बैठ जाये तो उसे सब स्पष्टीकरण (समझ में आ जाये)। सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं, किसी द्रव्य की पर्याय कोई द्रव्य कर सके—ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

देखो न, यह बात सुनी थी, आज सुनी थी। आहाहा! एकदम जवान यहाँ बैठा था, गुरुवार को पच्चीस वर्ष का जवान। रमणीक संघवी का पुत्र, लट्ठ। यहाँ पास में बैठा था। एकदम जवान-निरोगी, कुछ नख में भी रोग नहीं, सवा वर्ष का विवाहित, आहाहा! वह शुक्रवार को तो यहाँ थे उसके पिता और पुत्र दोनों, वे पालीताणा गये थे, वहाँ कुछ खाया और पेट में दर्द उठा। दो दिन अहमदाबाद (रहे), देह छूट गया! आहाहा! भाई, यह अभी बैठे थे, वहाँ बैठे थे। एक क्षण में परिणमन होना, शरीर की पर्याय है, उसे रोकने से रोक सके नहीं। लाख दवा दे तो भी क्या उसमें? उसकी देह की परिणति शक्ति जहाँ छूटने की है, उस समय छूटेगी ही, तीन काल में उसे कोई रोक नहीं सकता। आहाहा! उसमें दवा-बवा काम करे, ऐसा है नहीं। दर्शन करता था खड़े-खड़े। ओहोहो!

अचानक क्या हुआ? शुक्रवार को तो गये। यह तो अभी बुधवार हुआ! आहाहा!

जिस समय जिस देह की परिणति-पर्याय होनेवाली है, (वह) होती ही है, उसे रोकने को कोई समर्थ नहीं है, डॉक्टर या दवा, उस परिणमन को बदला (नहीं) सकते। आहाहा! ऐसी क्षणिक अवस्था प्रत्येक की, भिन्न-भिन्न अपनी परिणति क्षण-क्षण में निर्मल या मलिन स्वयं से होती है। आहाहा!

यह कहते हैं कि, देखो! **जीव की स्वभावभूत परिणमनशक्ति 'निरन्तराया स्थिता'** निरन्तर अर्थात् किसी के विघ्न बिना सिद्ध हुई। किसी के आश्रय से परिणमन शक्ति है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह शरीर भी चलता है, देखो! यह अँगुली चलती है तो उसके परिणमन से है; आत्मा से नहीं। ऐसी जो अवस्था परिणमन की, उसके परमाणु की है। वह परिणमन की शक्ति से परमाणु पलटते हैं, आत्मा से नहीं, इच्छा से नहीं। आहाहा! ऐसी प्रत्येक परिणमन की शक्ति, प्रत्येक पदार्थ की अनादि-अनन्त परिणमन स्वभाव है, तो जब-जब परिणमता है, वह तो अपने से परिणमता है; पर से नहीं और पर के (कारण से) नहीं। रजनीभाई! यह धन्धा-धन्धा का कुछ नहीं करता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मुम्बई में भी कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कोई भी प्राणी, किसी भी क्षेत्र में या किसी भी काल में अपनी पर्याय का—परिणति का कर्ता है, पर की परिणति का किसी क्षेत्र में, किसी काल में, किसी देश में, पर का कर्ता नहीं। आहाहा! बात ऐसी कठिन, बापू! आहाहा!

यह चलते हैं पैर, पैर चलते हैं न? तो कहते हैं कि वह पैर की परिणति से पैर चलते हैं। आत्मा से नहीं। अरे! यह कैसे जँचे लोगों को?

मुमुक्षु : जीवता जीव है, इसलिए नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीव, जीवता परिणमन अपने परिणाम अपने में करे, पर में क्या करे? आहाहा! अरे! दुनिया को कहाँ खबर? जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! किस क्षण में देह छूटेगी और कहाँ जायेगा, उसकी इसे खबर भी नहीं। आहाहा! यह पैर चलते हैं, वे ऐसे-ऐसे कदम भरते हैं न, तो कहते हैं कि वह पर्याय पैर की—वह परमाणु की पर्याय है चलने की, आत्मा बिल्कुल पैर को चलाता नहीं। आहाहा! और

पैर चलते हैं तो आत्मा के परिणाम से पैर चलते हैं या पैर के चलने से आत्मा के परिणाम हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(स्वयं) अपने परिणमन में स्वतन्त्र है। पर के परिणमन में पर स्वतन्त्र है। कोई किसी के आश्रय से और अवलम्बन से (परिणमन) होता है, ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है, वस्तु की स्थिति की मर्यादा में वह है। पर की स्थिति और मर्यादा पर में है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! वीतराग का तत्त्व बैठना... आहाहा! है न?

जीव अपने जिस भाव को करता है... चाहे तो ज्ञानानन्द के भाव को करे या चाहे तो राग का (भाव को) करे, जीव अपने जिस भाव का कर्ता है, उस भाव का वह **कर्ता होता है।** है? आहाहा!

भावार्थ :- जीव भी परिणामी है.... जैसे परमाणु परिणामी है, यह तो पहले आ गया कि आत्मा राग करे और कर्मबन्धन हो तो उस कर्मबन्धन की पर्याय का कर्ता कर्म है, उस कर्मबन्धन की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं। आहाहा! ज्ञानावरणी आदि आठ कर्म जो हैं, वे अपने परिणमन से बँधते हैं। वह आत्मा उसे बाँधता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अरे! बात कुछ खबर नहीं इसे। अनादि से मूढ़ता में चली जाती है जिन्दगी। कर्मबन्धन (जो) होता है, वह परमाणु की पर्याय में परमाणु से कर्मबन्धन की पर्याय होती है, आत्मा से नहीं। आत्मा ने राग-द्वेष किये तो वहाँ कर्मबन्धन का कर्ता आत्मा है, ऐसा है नहीं। आहाहा! कर्मबन्धन के परमाणु की पर्याय के—परिणाम के कर्ता, वह कर्म परमाणु हैं, आत्मा नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि जीव अपने परिणाम का कर्ता है, पर का नहीं। यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। पहले वह बात सिद्ध की थी। आहाहा! **जीव भी परिणामी है, इसलिए स्वयं जिस भावरूप परिणमता है, उसका कर्ता होता है।**

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भाव का और अज्ञानी अज्ञानमय भाव का कर्ता है।

गाथा-१२६

तथा हि -

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ।।१२६।।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः।
ज्ञानिनः स ज्ञान-मयोऽज्ञान-मयोऽज्ञानिनः ।।१२६।।

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत। स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यन्तोदित-विविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात्। अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेका-भावेनात्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात्।।१२६।।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भाव का और अज्ञानी अज्ञानमय भाव का कर्ता है:-

जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का।
वह ज्ञानमय है ज्ञानि का, अज्ञानमय अज्ञानि का।।१२६।।

गाथार्थ : [आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भाव को [करोति] करता है, [तस्य कर्मणः] उस भावरूप कर्म का [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है; [ज्ञानिनः] ज्ञानी को तो [सः] वह भाव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है और [अज्ञानिनः] अज्ञानी को [अज्ञानमयः] अज्ञानमय है।

टीका : इस प्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है, तथापि अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का ही-कर्मत्व को प्राप्त हुए का ही-कर्ता वह होता है (अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है)। वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर के विवेक से (सर्व परद्रव्यभावों से) भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है। और वह भाव अज्ञानी को तो अज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी है।

भावार्थ : ज्ञानी को तो स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, इसलिए उसके अपने ज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है; और अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए उसके अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है।।१२६।।

गाथा - १२६ पर प्रवचन

१२६, १२६ गाथा।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स।।१२६।।

नीचे हरिगीत

जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का।
वह ज्ञानमय है ज्ञानि का, अज्ञानमय अज्ञानि का।।१२६।।

आहाहा! टीका :- **इस प्रकार यह आत्मा...** टीका है न? **स्वयमेव परिणाम-स्वभाववाला है...** आत्मा प्रत्येक, स्वयमेव=स्वयं+एव अर्थात् स्वयं ही। आहाहा! प्रत्येक आत्मा वह स्वयमेव, एव अर्थात् निश्चय से, स्वयं ही परिणामस्वभाववाला है। बदलने के स्वभाववाला है। **तथापि अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का ही—कर्मत्व प्राप्त हुए का ही कर्ता वह होता है।** क्या कहते हैं? आहाहा! जिस भाव का वह परिणमन करता है, उस भाव का वह कर्ता है। है? परिणामस्वभाव—तथापि दोनों लेना है न अब। अपने जिस भाव का कर्ता है—जिस भाव से जिसका कर्ता होता है, उस भाव का ही—उस परिणाम का ही, निश्चय से कर्मत्व अर्थात् कार्य को प्राप्त हुए का ही कर्ता होता है, **अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है।** कर्म अर्थात् कार्य, कर्म अर्थात् जड़कर्म—वह यहाँ नहीं। आत्मा जिस परिणाम को करता है, वह परिणाम उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा!

आत्मा जिस समय में जिस परिणाम का कर्ता है, उस कर्ता का वह परिणाम वह उसका—कर्ता का कार्य है। समझ में आया? भाषा तो सादी है, प्रभु! परन्तु भाव तो गहरे हैं। आहाहा! टोपी ओढ़ नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। उस टोपी में परमाणु की

पर्याय है, तो वह पर्याय—परिणमन करके टोपी वहाँ रही है, अपने आत्मा से नहीं। आहाहा! यह बात दुनिया को कठिन लगती है। आहाहा! वीतराग जिनेश्वरदेव परमात्मा का यह हुकम है, गणधर और इन्द्रों के बीच परमात्मा ऐसा फरमाते थे, वह वाणी यहाँ आयी है। महाविदेह में गणधर और एकावतारी इन्द्र अभी वहाँ हैं, (दिव्यध्वनि) सुनने आते हैं तो परमात्मा यह कहते थे। यह कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। भगवान का यह हुकम है कि प्रत्येक आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार को बचा सके, सम्हाल रख सके, यह तीन काल में नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

अपने जिस भाव को करता है, उस भाव का ही—कर्मत्व को प्राप्त हुए का ही कर्ता वह होता है (अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है...) कर्म अर्थात् काय। **(और आत्मा उसका कर्ता है)।** अब सिद्धान्त रखकर न्याय देते हैं। **वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है...** क्या कहते हैं? धर्मी जीव है, जिसे आत्मा का ज्ञान है, यह (टीका के) शब्दों में क्या पड़ा है, देखो इतने में कि **वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है....** भाव अर्थात् पर्याय। ज्ञानी अर्थात् धर्मी—सम्यग्दृष्टि, जिसे 'ज्ञायकभाव मैं हूँ' ऐसा अनुभव है। ऐसे ज्ञानी को वह परिणाम जो होते हैं, वह ज्ञानी को ज्ञानमय ही है। धर्मी को ज्ञानमय सम्यग्दर्शन, सम्यक्शान्ति, सम्यक्चारित्र वह ज्ञानमय—आत्ममय परिणाम है, उस परिणाम का कर्ता ज्ञानी है। आहाहा! धर्मी जीव दया, दान और राग आदि के परिणाम का भी कर्ता नहीं। आहाहा! मुम्बई में तो यह भारी कठिन पड़े। यह तुम्हारे जैसे करोड़पतियों को तो कठिन पड़े, कठिन। लड़के सब करोड़पति हैं, धूलपति हैं।

मुमुक्षु : उस धूल बिना दाने आते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल बिना ही दाने आते हैं। यह तो कहा न? 'खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है'—इसका अर्थ क्या? कि जो दाना आनेवाला है, वह आयेगा ही, नहीं आनेवाले नहीं आयेंगे। तेरे प्रयत्न से आयेंगे, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : पैसे बिना आते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे बिना ही आते हैं। आया या नहीं सेठ—खानेवाले का नाम

है (दाने के ऊपर) ? नाम है, इसका अर्थ है कि जो परमाणु आनेवाले हैं, वे, उस समय आयेंगे, तेरे प्रयत्न से नहीं आयेंगे, तू राग करे तो ऐसा आहार आयेगा, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : पैसे देने पड़ेंगे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा! पैसा कौन दे? पैसा भी परमाणु की पर्याय है—जानेवाली जाती है, उसका भी कर्ता आत्मा नहीं। नोट गिन-गिनकर जाते हैं, उन नोट के परिणाम का कर्ता (वह) नोट है। आत्मा माने कि मैं उसे देता हूँ—यह कार्य मेरा है, मूढ है।

मुमुक्षु : वह तो हाथ चलावे!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाथ चलाता हूँ, ऐसा मानता है, (ऐसी मान्यतावाला) मूढ है। आहाहा!

उस परमाणु की परिणमन (वह परिणमन) शक्ति उसमें है, तो उस परिणमन से वह हाथ हिलता है, उस परिणाम को मैं करता हूँ—मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी है। पूरी दुनिया पागल है। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! देखो न, शरीर क्षणभंगुर है, वह यह लट्ठ जैसा शरीर क्षण में देह छूट गया। आहाहा! और आयुष्य हो तो जीर्ण शरीर हो तो भी पाँच-पच्चीस वर्ष निकाले। वह परिणमन होने की पर्याय है तो इतने (वर्ष) निकाले! नहीं तो... एकदम जवान, लट्ठ जैसा शरीर...

मुमुक्षु : परन्तु डॉक्टर तो कुछ करे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर ? डॉक्टर-डॉक्टर का क्या, डॉक्टर स्वयं मर गया बेचारा, डॉक्टर का बाप नहीं था यहाँ छह वर्ष तक असाध्य। छह वर्ष तक असाध्य। वह फिर कुछ दे न, असाध्य मर गया! छह वर्ष तक डॉक्टर का बाप—बड़ा डॉक्टर वह राजकोट में। परन्तु उसमें क्या करे ? आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य तो आढ़तिया होकर माल बताते हैं। परमात्मा का यह फरमान है, भाई! आहाहा! यह भाव ज्ञानी को-धर्मी को ज्ञानमय ही है। धर्मी के तो ज्ञान, श्रद्धा, शान्ति आनन्दमय परिणाम है। आहाहा! धर्मी के परिणाम, राग पुण्य, दया, दान, वे परिणाम उसके है नहीं। आहाहा!

शरीर के परिणाम तो उसके नहीं परन्तु अन्तर में दया-दान के परिणाम आते हैं, वे ज्ञानी के नहीं। आहाहा! ज्ञानी के परिणाम, वह राग-द्वेष का जानना और अपने को जानना, ऐसे ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, शान्तपरिणाम—वीतरागपरिणाम, वह ज्ञानी का कार्य है। आहाहा!

धर्मी, जिसे ज्ञायकभाव चैतन्यस्वरूप परमात्मा दृष्टि में आया है, उसकी दृष्टि में ज्ञायक चैतन्य के परिणाम होते हैं, वह जानना-देखना, श्रद्धा, स्थिरता, शान्ति, वीतरागता, आनन्द, इन परिणाम का वह कर्ता है। ये सब ज्ञानमय भाव हैं। उसमें रागादि विकल्प है नहीं। ऐसी बात है, भाई! सूक्ष्म बहुत कठिन, बापू!

यह पम्पलेट निकालना और मासिक (पत्र) निकालना और मैं निकालता हूँ, वह मूढ है।

मुमुक्षु : यह पत्रिका के लिये तो लिखा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा जाता है, कौन लिखे? लिखने के अक्षर, परमाणु स्वयं अपनी पर्याय से वहाँ अक्षर पड़ते हैं।

मुमुक्षु : यह जीतुभाई लिखते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जीतुभाई लिखते हैं, यह खोटी बात है। आहाहा! ऐसी बात है। जगत को गले उतरना कठिन। आहाहा! ओहोहो!

यह एकदम जवान शरीर निरोगी—जिसके नख में रोग न हो और (एक) क्षण में उत्पन्न हो, पेट में दर्द, कुछ खाया पालीताना जाकर, यहाँ से शुक्रवार को गया। शुक्रवार को, आज तो बुधवार है, वहाँ तो ऐसे पेट में दर्द उत्पन्न हुआ! आहाहा! जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, (वह होती ही है)। वह बढवाण ले गये और फिर अहमदाबाद ले गये, देह छूट गयी। शरीर देखा हो तो लठ्ठ जैसा। बाबूभाई बैठे वहाँ पीछे, पीछे अभी यहाँ चरण छूता था, वह बुधवार को यहाँ था। आहाहा! पच्चीस वर्ष का जवान, उसके पिता का इकलौता पुत्र, उसकी माँ मर गयी। वह पिता और पुत्र और पुत्र की बहू। अब ससुर और बहू दो रहे। अरे रे! कौन किसका बापू? कौन किसे रोके? आहाहा! अभिमान... अभिमान... अभिमान... मिथ्यात्व का अभिमान! मैं उसका

कर्ता हूँ, मैं उसका रक्षण करनेवाला हूँ, मैं उसे मदद करनेवाला हूँ। आहाहा! ज्ञानी को ऐसे परिणाम का कर्ता मैं हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! चक्रवर्ती का राज्य हो ज्ञानी को, छह खण्ड और छियानवें हजार स्त्रियाँ परन्तु ज्ञानी, उसके परिणाम 'मेरे हैं', ऐसा मानता नहीं और मैं उन्हें रख सकता हूँ, ऐसा मानते नहीं और अपने में रागादि होते हैं, वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा मानते नहीं। आहाहा!

मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ! आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु, आहाहा! सत् शाश्वत्— सत् शाश्वत् ज्ञान, आनन्द और शान्ति का सागर मैं हूँ, ऐसी दृष्टि जब धर्मी की हुई तो उसके परिणाम में शान्ति और वीतरागता और स्वच्छता ज्ञान और प्रतीति के परिणाम उसके हैं। उसके परिणाम राग, दया, दान, व्रत के परिणाम उसके नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

अरे! जन्म-मरण से मर गया है, अभी तक अनन्त काल से, भाई! चौरासी के, चौरासी लाख योनि में, एक-एक योनि में अनन्त अवतार कर चुका है मिथ्यात्व के कारण। वह मिथ्यात्व पर को अपना मानना और अपना (स्वरूप) स्वयं भूल जाना। आहाहा!

भगवान आनन्द का नाथ है, उसे भूल जाना। अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का सागर नाथ, उसे भूल जाना और पर, अपने नहीं उसे अपना मानना। आहाहा! ऐसा मानकर मिथ्यात्व से अनन्त काल (से) भटकता है। आहाहा! कहते हैं कि ज्ञानी होता है तो ज्ञानमय परिणाम हैं। आहाहा! यह भगवान की भक्ति के परिणाम भी उसके नहीं। आहाहा! यह शास्त्र के वाँचन के विकल्प उठते हैं, वह भी ज्ञानी के नहीं। सुनने में जो विकल्प उठता है, वह ज्ञानी का नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! धर्मी को तो धर्मपरिणाम—वीतरागी शान्ति और ज्ञाता परिणाम उसके हैं। वे परिणाम उसका कार्य है—कर्म है और उन परिणाम का वह आत्मा कर्ता है। आहाहा!

यह पुस्तक बनाना और पुस्तक बाँटना, यह सब जड़ की पर्याय है।

मुमुक्षु : अपने तो निश्चित किया है कि पुस्तक का ही प्रचार करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे? विकल्प उठे, परन्तु वह क्रिया पर से होती है तो

होगी! प्रचार-प्रसार करे कौन? अपनी पर्याय में करे या पर में करे? कठिन बात है, बापू! अभी बहुत फेरफार हो गया है। अभी तो सम्प्रदाय में पूरी लाईन बदल गयी है। आहाहा! मूल सत्य को शोधने की दरकार ही जगत को कम है, जिसमें पड़े हैं, उसमें मानकर बैठकर गया, जिन्दगी गँवाई।

मुमुक्षु : प्रचार के लिये बाहर जाना पड़ता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाये, कौन आये? शरीर की पर्याय शरीर में होनेवाली होती है तो होगी, आत्मा शरीर को चला सके और पुस्तक दे सके और ऐसा है नहीं। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! यह तुम्हारे सब पैसेवाले को यह भारी महँगा पड़े, ऐसा है।

मुमुक्षु : पैसेवाले को तो सस्ता है, पैसा कमाना और उसमें रुक जाना!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी कमाता नहीं। अरे! वह जड़ की पर्याय है। वह जिसमें जानेवाली जायेगी ही, रहनेवाली रहेगी, आत्मा उस पर्याय का कर्ता है नहीं। आहाहा!

धर्मी तो उस सम्बन्धी जो राग होता है, उस राग का भी कर्ता नहीं, क्योंकि ज्ञानमय प्रभु तो सर्वज्ञ-सर्वज्ञस्वभावी चैतन्य प्रभु आत्मा, वह सर्व को जाने या सर्व का कुछ करे? भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी वस्तु है, सर्वज्ञपर्याय प्रगट होती है तो केवली को, परन्तु वह आत्मा में सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है, तो सर्वज्ञस्वभाव में सर्व जानने का उसका स्वभाव है, परन्तु अपने अतिरिक्त रागादि पर का करने का उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

उसमें शरीर जवान हो, पच्चीस वर्ष का जवान। बेचारा कैसा था वह! वह तो सुनने आया था बेचारा, पिता-पुत्र दोनों। अभी शुक्रवार को तो यहाँ से गये, नख में रोग नहीं था, अभी तो चरणस्पर्श करता ऐसे, मेरा ध्यान जाता, कहा रमणीक का पुत्र लगता है। आहाहा! लो, परन्तु इस देह की पर्याय जिस क्षण में मिटनेवाली हो, बापू! आहाहा! उस पर्याय का परिणमन उसका अपना है, अनादि परिणाम उसके हैं। जैसे अनादि ध्रुव वह है—परमाणु और आत्मा ध्रुव है अनादि; उसी प्रकार परिणाम भी अनादि के हैं। वे अनादि से परिणमन करते हैं। आहाहा! तो वर्तमान परिणमन भी ऐसा है उसका। आहाहा! ज्ञानी का वर्तमान परिणाम ज्ञान और श्रद्धा है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी के तो ज्ञानमय भाव....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न। ज्ञानी को ज्ञानमय ही (भाव) हैं। इस शब्द में क्या आया?

धर्मी जीव, जिसे सम्यग्दर्शन है—मैं आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ, चिद्घन हूँ, आनन्दकन्द हूँ, मैं ज्ञायकस्वभाव से परिपूर्ण भरपूर हूँ, अनादि ज्ञायकभाव से मैं ध्रुव ही हूँ। अनादि ज्ञायक भाव से मैं सामान्य ध्रुव ही हूँ, ऐसी दृष्टि हुई तो उस धर्मी को तो ज्ञानमय, श्रद्धामय, शान्तिमय, स्वच्छतामय, प्रभुतामय, वीतरागतामय (परिणाम होते हैं) क्योंकि आत्मा स्वयं वीतरागस्वरूप है तो उसकी पर्याय में वीतरागता ही आती है। आहाहा! तो (कोई) कहते हैं न, नीचे सम्यग्दर्शन सरागी है। ऐसा है नहीं। जिनस्वरूपी आत्मा—जिनस्वरूपी, वीतरागस्वरूपी है, तो सम्यग्दर्शन की पर्याय वीतरागी (ही) है। चौथे गुणस्थान से है, भाई! आहाहा!

घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन।
मत मदिरा के पान सों, मतवाला समझे न॥

आहाहा! मत अर्थात् मदिरा—शराब पी है, वह समझता नहीं कि मैं क्या चीज़ हूँ और परिणाम क्या हैं। यहाँ मुझे ऐसा कहना है कि वह सराग समकित कहते हैं न? चौथे गुणस्थान में सराग समकित (होता है और) आगे वीतराग समकित। (ऐसा नहीं है।) सम्यग्दर्शन, वह वीतराग पर्याय है। क्योंकि आत्मा वीतराग जिनस्वरूप है। आहाहा! भगवान आत्मा जिनस्वरूप है, त्रिकाल जिनस्वरूप है। आहाहा! तो जिनस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान, उसका हो, वह वीतरागी पर्याय ही होती है। चौथे गुणस्थान में भी सम्यग्दर्शन वीतरागी पर्याय है। आहाहा! भाई! वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है।

जिनस्वरूपी प्रभु, वीतराग चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान और ज्ञान हुआ तो उस पर्याय में वीतरागी ज्ञान, वीतरागी समकित, वीतरागी आचरण सब वीतरागी होता है, रागी नहीं। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वस्तु जिनस्वरूप है प्रभु, तो जिनस्वरूप के परिणाम तो जिनस्वरूपी वीतरागी होते हैं। यह कोई ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थान में सराग समकित होता है, तो वह तो राग—चारित्र का दोष बतलाना है। समकित तो

वीतरागी पर्याय है। यह तो ज्ञानी का ज्ञानभाव यह है। समझ में आया? आहाहा!

इसमें कब समझने का समय ले? यह मनुष्यपना जाये, वह वापस कब आवे? आहाहा! अनन्त काल में मनुष्यपना मिले! लगातार किसी समय मनुष्यभव मिले तो आठ भव मिलें, फिर नौवें भव में या मोक्ष और या निगोद में जाये! आहाहा! अरे रे! इसकी दरकार नहीं की इसने, दया नहीं दया—अपनी दया नहीं, हों! अपनी। आहाहा! अपनी दया। पर की दया कौन कर सकता है? आहाहा!

अपना चैतन्यस्वभाव भगवान सर्वज्ञ ने देखा, ऐसा ही अपने को देखने में आवे। आहाहा! सर्वज्ञस्वभाव, सर्वज्ञपर्याय में सब जीव का देखने में आया। ऐसा जो सर्वज्ञ स्वभाव सम्यक्दृष्टि में देखने में आता है, तो वह दृष्टि भी वीतरागी पर्याय है। इसलिए ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम का अर्थ वीतरागमय परिणाम है। आहाहा! इसका अर्थ ही ऐसा है। है?

वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय... (होते हैं)। अर्थात् वीतराग—धर्मी को वीतरागी दृष्टि हुई है, वीतरागी ज्ञान हुआ है—वीतरागी स्वभाव में आंशिक आचरण हुआ है, तो वे सब परिणाम वीतरागीभाव उसके—(धर्मी के) हैं। उस वीतरागीभाव का वह कर्ता है और वीतरागीभाव उसका कार्य है। आहाहा! ऐसा काम है, बापू! क्या हो? आहाहा!

मुमुक्षु : धर्मी की पहिचान तो अन्तर-बाह्य लक्षणों से होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर सर्वज्ञ हुआ न, आत्मा सर्वज्ञ है, ऐसी दृष्टि हुई तब अन्तरभान हुआ, मैं सर्वज्ञ ही हूँ। सर्वज्ञ की पर्याय है, वह तो पर है।

मुमुक्षु : बाह्य चिह्न होना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य चिह्न यह है सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान यह चिह्न! आहाहा! सम्यक् अर्थात् जैसा सर्वज्ञस्वभाव है, वैसी अन्दर निर्विकल्प प्रतीति होना और निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान होना, वह उसका लक्षण है। उस परिणाम का तो ज्ञानी कर्ता है। सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो बहुत गड़बड़ चली है, गड़बड़ चारों ओर। निवृत्ति, व्यापारियों को निवृत्ति नहीं मिलती, बनियों को धन्धे के कारण और यह सत्य और असत्य का मिलान कैसे करना? रजनीभाई! सच्ची बात है? पोपटभाई के पुत्र हैं। पोपटभाई

मोहनलाल करोड़पति है। करोड़पति, हों! वापस एक नहीं, छह लड़कों के पास बहुत करोड़ों हैं, बड़ी धूल है।

अनन्त गुण का पति प्रभु! आहाहा! अनन्तानन्त गुण की संख्या की मर्यादा नहीं है। इतने अनन्त गुण हैं आत्मा में कि अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... (को) अनन्तगुणा करो तो भी अनन्त में यह अन्तिम है, ऐसा नहीं आता अन्दर में। ऐसे अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का भण्डार भगवान है। अरे रे! यह सब गुण वीतरागस्वभावी है, अर्थात् वीतरागीस्वभावी आत्मा का ज्ञान हुआ तो उसकी पर्याय में वीतरागता ही आती है। आहाहा! यह एक शब्द में इतना भरा है।

यह भाव कर्ता के भाव **ज्ञानी को ज्ञानमय ही है।** ज्ञानी को ज्ञानमय ही है। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प उठते हैं, परन्तु उसका ज्ञानी को ज्ञान है उसे। यह व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह ज्ञानी का कार्य नहीं। समझ में आया?

है? तीसरी लाईन है, तीसरी। इसमें बहुत भरा है। यह कहीं कथा नहीं, वार्ता नहीं, यह तो भगवान की कथा—भागवत कथा है। आहाहा! आहाहा! तीन लोक का नाथ वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर अकषाय करुणा से वाणी निकलती है, आहाहा! उसे सन्त, जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तू कैसा है? तुझमें तो अनन्त गुण वीतरागीस्वभाव है न, प्रभु! कोई कषायवाला गुण तुझमें नहीं है। राग करना ऐसा कोई गुण है ही नहीं। आहाहा! दया पालना, भक्ति करने का राग, वह राग करना, ऐसा तुझमें अनन्त गुण में कोई गुण है नहीं। वे अनन्त गुण वीतरागी हैं। आहाहा! क्योंकि जिनस्वरूप है तो अनन्त गुण जिनस्वरूपी—वीतरागस्वरूप है। उसकी जहाँ दृष्टि हुई तो वीतरागी पर्याय, वह उसका कार्य है। कर्ता आत्मा व्यवहार से कहा जाता है। पर्याय वीतरागी कार्य, निश्चय से तो वीतरागी कार्य और वीतरागी कर्ता, वह पर्याय है। आहाहा! बहुत कठिन बातें, बापू!

लोग कुछ संक्षिप्त में मानकर बैठ जायें! हम समझ गये! भाई! वीतरागी मार्ग की गहनता, आहाहा! तीन ज्ञान के धनी एकावतारी इन्द्र सुनने आते हैं, तो उसकी गम्भीरता कितनी होगी! एकावतारी-एक भवतारी! सौधर्म देवलोक (के) इन्द्र और इन्द्राणी एकभवतारी—एक मनुष्यभव करके मोक्ष में जायेंगे, ऐसी सामर्थ्य है। शास्त्र में लेख है

कि वे भी सुनने आते हैं, तीन ज्ञान के धनी एकावतारी—एकभवतारी (आते हैं) तो वह वाणी कैसी होगी? भाई! आहाहा!

वह असंख्य देव का लाडा—स्वामी! वह वहाँ (से) छोड़कर सुनने आवे भगवान के निकट और उसे स्वयं को खबर है कि मैं एक भव करके मोक्ष जानेवाला हूँ—मुझे अन्तिम भव मनुष्य का है, अब। खबर है, आहाहा! तो भी सुनने आता है। प्रभु! वह वाणी कैसी होगी?

मुमुक्षु : वह कही व्यापार नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : करोड़ों अप्सरायें होती हैं, असंख्य देवों का स्वामी है, बत्तीस लाख तो विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं, करोड़ों अप्सरायें हैं। मेरा कुछ नहीं, मैं हूँ वहाँ वह चीज़ नहीं, वह (चीज़) है, वहाँ मैं नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञानमय आत्मा हूँ। वे स्त्रियाँ और बत्तीस लाख विमान, वे मेरे नहीं। आहाहा! अरे! मेरे देव और मेरे गुरु, यह भी नहीं। क्योंकि वे परद्रव्य हैं। वे मेरे कहाँ से होंगे! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

मुमुक्षु : प्रभु होने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभु होने की ही बात। प्रभु स्वयं प्रभु ही है—भगवान आत्मा प्रभु है तो प्रभुरूप हो जायेगा। परन्तु प्रभु की प्रतीति आनेवाले की बात है यहाँ। आहाहा!

यहाँ तो क्या कहते हैं? कि कर्ता होता है, वह भाव आत्मा का कर्म है। आत्मा उसका कर्ता। वह भाव ज्ञानी का ज्ञानमय 'ही'! 'ही' शब्द पड़ा है। आहाहा! धर्मी—धर्म करनेवाला, उसे कहते हैं कि धर्मी के परिणाम धर्ममय—वीतरागमय हो, वह वीतरागमय (भाव) कार्य है और उस वीतरागमय का कर्ता आत्मा है। बस, दूसरा लगाव है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अरे! ऐसा अवसर कब मिले? ऐसी बात महा पुण्य हो तो सुनने को मिलती है। आहाहा! अन्तर में रुचि करना, वह तो अलौकिक बात है। **वह भाव...** वह भाव अर्थात् कर्ता का जो कार्य है, वह भाव, कर्ता का कार्य है वह भाव, **ज्ञानी का ज्ञानमय है।** आहाहा! है सेठ! इतने शब्द में क्या है? यह शब्द है ऊपर। **वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय**

ही है।—क्या है? हाँ, वह। **वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है।** आहाहा!

'वह भाव' अर्थात्? जो कार्य हुआ वह भाव, ज्ञानी को ज्ञानमय भाव है। जो कार्य हुआ ऐसा ज्ञानी का भाव ज्ञानमय भाव है। ज्ञानी उसके कर्ता हैं और भाव—ज्ञानमय—आनन्दमय हुआ, वह उसका कार्य है। गजब बात है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि ज्ञानमय भाव में, रागमय भाव है ही नहीं इसलिए कोई समकिती को सराग समकित है और राग सहित समकित है, यह बात है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : चारित्र को इकट्ठा मिलाकर बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो दूसरी बात। यह तो राग है अस्थिरता का, परन्तु समकित रागसहित नहीं है, राग है नहीं, क्योंकि आत्मा जिनस्वरूपी है, वीतरागस्वरूप है तो उसकी अनन्त शक्तियाँ जितनी हैं, वे सब वीतरागस्वरूप है, तो वीतरागस्वरूप शक्ति की व्यक्तता हो, तो वीतरागमय व्यक्तता होती है; राग की व्यक्तता उसमें नहीं होती। आहाहा! कमजोरी से राग आता है तो उसका भी यहाँ ज्ञाता-दृष्टा रहकर वीतरागभाव में रहता है। राग में ज्ञानी रहते नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है, भाई!

मुमुक्षु : ऐसा ही मार्ग हो सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा हो किस प्रकार? जगत का उत्साह, यह सब उत्साह पाप का है। ज्ञानी को तो वह उत्साह होता नहीं। आहाहा!

धर्मी का उत्साह होता है आत्मा में, अज्ञानी का उत्साह होता है विकार में। आहाहा! पर में होता है, वह तो मानता है परन्तु वास्तव में तो विकार हो, उसमें उसका—अज्ञानी का उत्साह है। आहाहा! ज्ञानी का उत्साह स्वरूप सन्मुख है, इससे स्वरूप ही वीतरागी जिनस्वरूप ही है, वीतरागस्वरूप (है) तो उसमें सम्यग्दर्शन होता है, वह वीतरागी पर्याय है। सम्यग्ज्ञान होता है, (वह) शास्त्रज्ञान नहीं, शास्त्रज्ञान वह ज्ञान नहीं। स्वरूप ज्ञानमय, उसमें से ज्ञान आता है, वह वीतरागी ज्ञान है और स्वरूप में आचरण करना जो है, वह भी आचरण वीतरागी पर्याय है। आहाहा! समझ में आया?

उस ज्ञानी को, **वह भाव...** वह भाव अर्थात्? जो कर्ता का—होनेवाले का भाव, कर्ता का जो भाव, वह भाव **ज्ञानी को ज्ञानमय ही है।** बहुत सूक्ष्म बात है। **क्योंकि उसे**

सम्यक् प्रकार से.... देखो! ज्ञानमय भाव क्यों हैं? क्योंकि वे सब भाव सम्यक् प्रकार से—सच्ची रीति से, धारणा से भी नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से, स्व-पर के विवेक से...** स्व-पर के विवेक से, स्वयं ज्ञाता आनन्दमय है और राग भिन्न, ऐसा स्व-पर का विवेक हुआ है। आहाहा! रागादि दया, दान के (भाव) आते हैं, उनसे भी आत्मा भिन्न है, ऐसा स्व-पर का विवेक है। आहाहा!

सम्यक् प्रकार से स्वपर के विवेक से (सर्व परद्रव्यभावों से) भिन्न,... परद्रव्य अर्थात् शरीर, वाणी, मन, परिवार, यह तो ठीक, परन्तु रागादि भाव भी परद्रव्य है। उनसे भी भिन्न। आहाहा! **आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है....** धर्मी को आत्मा की ख्याति... इस टीका का नाम 'आत्मख्याति' है, इस टीका का नाम आत्मख्याति है। आहाहा! तो आत्मा की ख्याति, प्रसिद्धि, धर्मी को आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। अज्ञानी को विकार की प्रसिद्धि होती है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : गुरु से ज्ञान मिले तब हो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी से मिलता नहीं, स्वयं से मिलता है। सेठ! अपने से मिले, तब गुरुगम से मिला, ऐसा निमित्त से कहने में आता है। किसी से मिलता नहीं।

मुमुक्षु : अपने से मिले, फिर गुरु को निमित्त कहा जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किया तो फिर व्यवहार से कहने में आता है, निमित्त था—वह गुरु निमित्त थे। परन्तु यह मिले, फिर कहने में आता है।

मुमुक्षु : इससे पहले?

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे पहले उसे मिले ही कहाँ हैं? आहाहा! यह तो गुरु से, तीन लोक का नाथ और तीन लोक के नाथ की वाणी, वह भी इन्द्रिय का विषय है। आहाहा! (श्री समयसार) ३१वीं गाथा में आया है। यह भगवान तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हैं और वाणी / दिव्यध्वनि खिरती है, तो वह इन्द्रिय है, यदि अपना लक्ष्य वहाँ जायेगा तो राग होगा। आहाहा! और भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारे प्रति तेरा लक्ष्य जायेगा तो तेरी चैतन्यगति में दुर्गति होगी, दुर्गति अर्थात् राग होगा।

मुमुक्षु : तथापि समवसरण में दौड़ते-दौड़ते जाता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : दौड़ते-दौड़ते जाता नहीं, अन्तर में (निज की) भावना में एकाग्र होता जाता है। वह राग आता है, उसका भी ज्ञाता होकर जाता है, ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बात, बापू! जिनस्वरूपी भगवान को पर की अपेक्षा में ज्ञान कैसे हो? आहाहा उसे तो अपने ज्ञानमय वीतरागी भाव है, वह उसका कार्य है, क्योंकि सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक हो गया है।

राग का-पर का तो ठीक, परन्तु परसम्बन्धी (जो) राग आया, उसका भी विवेक हो गया है कि मैं राग से भिन्न हूँ। **भिन्न आत्मा की ख्याति....** आत्मा की प्रसिद्धि **अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है।** आहाहा! आत्मा की प्रसिद्धि अत्यन्त प्रगट हो गयी है—मैं तो आनन्द हूँ—मैं शान्ति हूँ—मैं वीतराग-स्वच्छ हूँ, ऐसी (आत्मा की प्रसिद्धि) अत्यन्त उदय अर्थात् प्रगट हो गयी है। आहाहा! इस कारण से ज्ञानी को ज्ञानमय भाव है। समझ में आया? कलश बहुत ऊँचा है। अमृत से भरे कलश हैं। आहाहा!

अमृत का सागर भगवान, उसके सन्मुख जहाँ हुआ और ज्ञान हुआ तो राग से भिन्न होकर—स्व-पर का विवेक हुआ, तो वहाँ वीतरागी पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! **और वह भाव अज्ञानी को....** वह भाव अर्थात् कार्य जो होता है अज्ञानी का, **अज्ञानमय ही है।** रागमय भाव है, पुण्यमय भाव है, पापमय भाव है, वह अज्ञानभाव है।

पर के साथ तो कुछ सम्बन्ध है नहीं। अज्ञानी कर्ता होकर अज्ञान भाव रागादि, द्वेष का कर्ता होता है। दया, दान, व्रत, आदि परिणाम का अज्ञानी कर्ता होता है, वह अज्ञानी का कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : अज्ञानी पर का नहीं कर सकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का क्या धूल करे? इसके लिये तो यह गाथा है। ज्ञानी ज्ञान का कर्ता; अज्ञानी अज्ञान का कर्ता। पर का कर्ता तो है नहीं। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है। आहाहा! क्यों? अज्ञानमय भाव है? **क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक नहीं होने से....** राग और भगवान आत्मा भिन्न है, उसका विवेक अज्ञानी को नहीं है। **भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी है....** आमने-सामने बात ली है। ज्ञानी को भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त प्रसिद्ध हो गयी है (और) अज्ञानी को भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१४, गाथा-१२६ - १२७, दिनांक ०८-०३-१९७९, गुरुवार, फाल्गुन शुक्ल - १०

श्री समयसार, १२६ गाथा का भावार्थ। भावार्थ है न, दो लाईनें हैं, दो लाईनें।

भावार्थ :- **ज्ञानी को तो स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है....** धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे राग-विकल्प और आत्मा के स्वभाव का भेदज्ञान हुआ है। धर्मी, ज्ञानी अथवा धर्मी दोनों एक है। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे पुण्य-पाप के भाव जो राग है, उससे अपना स्वभाव ध्रुव शुद्ध भिन्न है, ऐसा भेदज्ञान हुआ है। है? **ज्ञानी को तो स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है....** —इसका अर्थ यह है, आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है और पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वे राग हैं, वह राग, 'पर' है तथा आनन्द और ज्ञानस्वरूप 'स्व' है। यह स्व-पर की पृथक्ता का, भिन्नता का—पृथक्ता का भान हो गया है। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, इसलिए इस कारण से वह अपने को **अपने ज्ञानमयभाव का ही कर्तृत्व है।** आहाहा! धर्मी को तो अपने ज्ञान-दर्शन-श्रद्धा-शान्ति-आनन्द-स्वच्छता, ऐसे परिणाम का कर्ता वह तो है। धर्मी तो अपने निर्मल-शुद्ध-पवित्र परिणाम का कर्ता है। समझ में आया? है? अब उसे **अपने ज्ञानमयभाव...** ज्ञानमय अर्थात्? ज्ञान—जानना, देखना आनन्द-शान्ति-स्वच्छता इत्यादि शुद्ध परिणाम जो है, राग से भिन्न है, ऐसे शुद्ध परिणाम का कर्तृत्व धर्मी को होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : चौथे गुणस्थान में ऐसा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे गुणस्थान से यह बात है। आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, अनन्त-अनन्त सामान्यस्वभाव का पिण्ड, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द अनादि सामान्यस्वभाव जो ध्रुव है, उसकी दृष्टि धर्मी को हुई है, इस कारण से दृष्टि में ध्रुवता आयी है, तो पुण्य और पाप के परिणाम से पृथक् हुआ है। आहाहा! चाहे तो भगवान की भक्ति का भाव हो, देव, गुरु और शास्त्र जो है, वह पर है, शास्त्र भी पर है, देव पर है, गुरु पर है। वह उनकी भक्ति का भाव है, वह राग है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी भक्ति तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग आता है, उसे जानता है—जानने में रहना, वह ज्ञानी का कर्तव्य है। राग आता है, वह कर्तव्य उसका नहीं। कठिन बात है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : शून्य हो जाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : शून्य, आत्मा राग से शून्य ही है। यहाँ क्या कहते हैं? ज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, **इसलिए....** इस कारण से **उसके अपने ज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है।** शब्द तो सरल है, सेठ! भाव तो जो है, वह है।

धर्मी उसे कहते हैं, सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं, ज्ञानी उसे कहते हैं, सब एक ही है, कि जिसको अपना आत्मा, अनन्त-अनन्त ज्ञान (का) धाम—आनन्द का धाम—शान्तिधाम, ध्रुवधाम का ध्यान हो गया है और दृष्टि में आ गया है। ध्रुवधाम स्थान जो अपना है ध्रुव, उसकी दृष्टि में आ गया है तो उसे राग, दया, दान, भक्ति आदि के जो विकल्प हैं, उनसे भी ज्ञान भिन्न हो गया है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! समझ में आया?

अतः इसलिए अपने ज्ञानमय अपना जानना-देखना श्रद्धा, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, आनन्द—ऐसे निर्मल परिणाम का ही उसको कर्तृत्व है। आहाहा! **और अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है....** चैतन्य भगवान शुद्ध चैतन्यघन अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण पवित्रता का धाम प्रभु है और राग आदि विकल्प उठता है, वह पर है। ऐसे पर का और स्व का, अज्ञानी को भेदज्ञान हुआ नहीं, पृथक्ता का भान हुआ नहीं। आहाहा! है? इसलिए भेदज्ञान नहीं है; इस कारण से, राग की क्रिया, भक्ति की (क्रिया) भगवान की, दया, विनय की (क्रिया) शास्त्र के बहुमान का जो राग है, वह राग और अपने स्वभाव का भेदज्ञान अज्ञानी को नहीं होने से। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है, भाई। आहाहा! **अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है।** अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं, इस कारण पर का और स्व का भिन्नता का भान नहीं, इस कारण से अज्ञानमय भाव का ही कर्ता है। आहाहा! वह तो दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के भाव का वह अज्ञानी कर्ता है। आहाहा! यह भावार्थ हुआ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है,... यह श्लोक (गाथा) कहते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य सन्त दिगम्बर मुनि ने बनाया हुआ है। गाथा १२७।

गाथा-१२७

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह -

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि।।१२७।।

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि।।१२७।।

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्याति-त्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिन्स्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञान-मात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च, तस्मादज्ञानमय-भावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि।

ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मात् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिन्स्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति, तस्मात् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावा-त्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि।।१२७।।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है:-

अज्ञानमय अज्ञानि का, जिससे करे वह कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानि का, जिससे करे नहिं कर्म को।।१२७।।

गाथार्थ : [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है, [तेन] इसलिए अज्ञानी [कर्माणि] कर्मों को [करोति] करता है, [ज्ञानिनः तु] और ज्ञानी के तो [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (भाव) है, [तस्मात् तु] इसलिए ज्ञानी [कर्माणि] कर्मों को [न करोति] नहीं करता।

टीका : अज्ञानी के, सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने के कारण भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी होने से, अज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होने से, स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में से (आत्मस्वरूप में से) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे राग-द्वेष के साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त रहा है, ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तव में रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' इस प्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी अपने को पर ऐसे राग-द्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो, सम्यक् प्रकार से स्व पर विवेक के द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से, ज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होने से, स्व-पर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकार से स्थित) हुआ, पर ऐसे राग-द्वेष से पृथग्भूतता के (भिन्नत्व के) कारण निजरस से ही जिसके अहंकार निवृत्त हुआ है, ऐसा स्वयं वास्तव में मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् राग-द्वेष नहीं करता); इसलिए ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी अपने को पर ऐसे राग-द्वेषरूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ : इस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति का (अर्थात् राग-द्वेष का) उदय आने पर, अपने उपयोग में उसका राग-द्वेषरूप मलिन स्वाद आता है। अज्ञानी के स्व-पर का भेदज्ञान न होने से वह यह मानता है कि ''यह राग-द्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है-वही मैं हूँ।'' इस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी करता है; इसलिए वह कर्मों को करता है। इस प्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानी के भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि ''ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है-वही मैं हूँ; राग-द्वेष कर्मों का रस है, वह मेरा ज्ञानरूप नहीं है।'' इस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी, अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिए वह कर्मों को नहीं करता। इस प्रकार ज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध नहीं होता।।१२७।।

गाथा-१२७ पर प्रवचन

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि।।१२७।।

नीचे हरिगीत

अज्ञानमय अज्ञानि का, जिससे करे वह कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानि का, जिससे करे नहिं कर्म को।।१२७।।

टीका - सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल में इसने भेदज्ञान किया नहीं! और '**भेदज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचनम्**'—जो कोई अभी तक मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे भेदज्ञान से सिद्धा (प्राप्त हुए) हैं। राग से अपना स्वरूप भिन्न है, ऐसे भेदज्ञान से सिद्धि को प्राप्त किया है। '**भेदज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचनम्**' जितने भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वे सब राग से भिन्न निज स्वरूप को प्राप्त करके प्राप्त हुए हैं और '**तस्यैव अभावतः बद्धा**'—भेदज्ञान के अभाव से बँधे हैं। आहाहा! अपना स्वरूप ज्ञायक चैतन्य आनन्द, शुद्ध चिदानन्द प्रभु और राग के भाव मलिन तथा दुःखरूप, दोनों की एकता के भाव से बँधे हैं और वे बँधे हैं, वही संसार में भटकते हैं, आहाहा! सूक्ष्म है भाई! मार्ग तो ऐसा है। देखो! वर्तमान में तो गड़बड़ बहुत हो गयी है। प्रभु! मार्ग तो ऐसा ही है। देखो!

टीका :- अज्ञानी के,... अज्ञानी के, **सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने से....** क्या कहते हैं? नौ तत्त्व है न? तो पुण्य और पाप, आस्रव-बन्धतत्त्व भिन्न है और आत्मतत्त्व भिन्न है। आहाहा! दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के परिणाम तो आस्रवतत्त्व, रागतत्त्व, बन्धतत्त्व है। आहाहा! भगवान आत्मा तो उनसे भिन्न ज्ञायकतत्त्व, अबन्धतत्त्व है। वह **अज्ञानी को सम्यक् प्रकार से....** सम्यक् प्रकार से, ऐसा क्यों कहा? कि धारणा में तो इसने ले लिया था ग्यारह अंग पढ़ा था, तो कि राग से आत्मा भिन्न है। रागतत्त्व पुण्यतत्त्व है, आत्मा ज्ञायकतत्त्व है, ऐसा धारणा (ज्ञान) किया था, परन्तु सम्यक् प्रकार से भेदज्ञान नहीं किया था। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जिनेश्वर का मार्ग, दुनिया में कहीं है नहीं। उनका मार्ग कोई अलौकिक है।

यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी को सच्चे प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने से, न होने के कारण, सच्चे प्रकार से स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान नहीं होने से; राग की क्रिया और स्वभाव की क्रिया दोनों भिन्न हैं, ज्ञानस्वभाव—आनन्दस्वभाव और रागभाव, इन दोनों की क्रिया भिन्न है, ऐसी भिन्नता का भान न होने से, अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव, अनादि काल से विवेक नहीं होने से—विवेक न होने के कारण, **भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गयी होने से,...** आहाहा! यह राग की क्रिया के परिणाम से भिन्न आत्मा आनन्दस्वरूप, आहाहा! ऐसे भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि अत्यन्त अस्त हो गयी है, अस्त हो गयी है। अस्त अर्थात् अन्ध हो गया है। आहाहा!

भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु अनन्त गुण का पिण्ड साक्षात् परमात्मस्वरूप है, उसे राग की एकताबुद्धि में भेदज्ञान की प्रसिद्धि अस्ति हो गयी है, आहाहा! अस्त हो गयी है, उसका सूर्य अस्त हो गया है।

मुमुक्षु : कब से अस्त हो गया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से। आहाहा! भगवान अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है। अज्ञानी को उस राग और आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है। राग भिन्न है और मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा भान नहीं तो अनादि से भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि, राग से भिन्न आत्मा की सिद्धि अस्त हो गयी है। आहाहा! माल, माल की बात है भाई यहाँ तो! आहाहा! वीतरागमार्ग है, जिनेश्वरदेव परमेश्वर परमात्मा की यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य तो वह भगवान की वाणी सुनने गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर (शास्त्र) बनाये। भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु! यह तो वे कहें या भगवान कहें, दोनों एक ही बात है। तथापि जिनवरदेव ऐसा कहते हैं, ऐसा बन्ध अधिकार में है।

जिनवर परमात्मा ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी को स्व—शुद्धचैतन्य आनन्द और पर-राग आदि दुःख और आकुलता, इन दोनों की भिन्नता का भान नहीं होने से आत्मख्याति—आत्मा की प्रसिद्धि राग की एकताबुद्धि में, आत्मा की प्रसिद्धि अस्त हो गयी है। आहाहा! समझ में आया भाई? रजनीभाई! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो सूक्ष्म हैं न, प्रभु! आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण का धाम भगवान नित्यानन्द प्रभु, जिसमें दया-दान-भक्ति आदि के विकल्प का भी जिसमें अभाव है, तो ऐसी चीज़ का भान नहीं, तो राग और स्वभाव दोनों को एक मानने से, आत्मा जो है शुद्धचैतन्य, (उसकी) प्रसिद्धि उसे अस्त हो गयी। आहाहा! अरे! ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिले, तो कैसे प्रयत्न कब करे और कब (अनुभव करे)? आहाहा!

(कहते हैं कि) **अज्ञानी के, सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक नहीं होने के कारण—**न होने के कारण, भिन्न आत्मा की, राग की क्रिया से भगवान भिन्न है, ऐसे **भिन्न आत्मा की ख्याति...** अर्थात् प्रसिद्धि अस्त हो गयी। **अत्यन्त अस्त हो गयी होने से....** अन्ध हो गया है। वह राग को ही देखता है और पुण्य को देखता है, आत्मा को देखता नहीं। आहाहा! वह पुण्य के फल, धूल-धूल मिले, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ को देखे। परन्तु क्या है, क्या तेरी चीज़ है? वह तो अजीवतत्त्व है। दया-दान के परिणाम, वे पुण्यतत्त्व है, हिंसा-झूठ-ममता में पैसे मेरे, ऐसी ममता के परिणाम तो पापतत्त्व है, तो अजीव और पुण्य-पापतत्त्व से ज्ञायकतत्त्व तो भिन्न है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! बहुत सत्य बात, भगवान की कही हुई ऐसी, वह भगवान के अतिरिक्त यह मार्ग कहीं है नहीं। जिनेश्वर के अतिरिक्त किसी जगह यह बात सत्य है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा जो बात कहते हैं, वही सन्त जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तुझे जँचे, न जँचे, सत्य तो यह है। भगवान आत्मा सत्स्वरूप की ख्याति-प्रसिद्धि उसकी होना चाहिए। अज्ञानी को राग और पुण्य-पाप की प्रसिद्धि में आत्मा की ख्याति—प्रसिद्धि अस्त हो गयी—अन्ध हो गया है। आहाहा! क्या कहते हैं, देखो! कि जो अन्दर पुण्य-पाप के भाव को देखनेवाला अपना है, ऐसा मानकर, आत्मा उनसे भिन्न है, यह उसमें अन्ध हो गया है और पुण्य पाप के भाव को ही देखता है और वही मेरी चीज़ है, ऐसा मानकर, पुण्य-पाप से भिन्न भगवान आत्मा (को नहीं देखता) अन्ध, अज्ञानी अन्ध हो गया है! 'है ही नहीं मानो आत्मा' आहाहा! समझ में आया?

अस्त हो गयी है। **अस्त हो गयी होने से, अज्ञानमय भाव ही होता है....** देखो!

अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान-पृथक्ता नहीं होने के कारण, भिन्न आत्मा की प्रसिद्धि ज्ञान में आयी नहीं और रागादि पुण्य-पाप के परिणाम उसके ख्याल में आये, तो वह अज्ञानमय भाव ही होता है—वह रागादि भाव, वह अज्ञानमय भाव ही है। उनमें आत्मा का ज्ञान और आनन्द है नहीं। आहाहा! चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, शास्त्र की भक्ति का राग हो, परन्तु वह राग है, अज्ञान है; अज्ञान अर्थात् उसमें आत्मा के ज्ञान की किरण नहीं—ज्ञान का अंश उसमें नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी बात किसे रुचे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाग्यवान हो उसे रुचे।

मुमुक्षु : जो पुरुषार्थ करे उसे रुचे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ पुरुषार्थ (वाले की बात है)। जिसे संसार का अन्त करना हो, उसकी बात है। भगवान! तुम्हारा नाम तो भगवानदास है।

मुमुक्षु : परन्तु इस रीति का परिणमन चाहिए न!

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवानरूप से तो प्रभु बुलाते हैं, (समयसार) ७२ गाथा में। भगवान आत्मा! आहाहा! वह तो पुण्य और पाप के तत्त्व से भिन्न भगवान है न! अज्ञानी को भिन्न का भास नहीं होने से, आत्मा प्रसिद्ध है, उसकी प्रसिद्धि उसे (नहीं इसलिए) अन्ध हो गया।

राग से भिन्न परमात्मा साक्षात् विराजता है। उसकी अज्ञानी को, अन्धकार अज्ञान में उसकी प्रसिद्धि अस्त हो गयी और राग की प्रसिद्धि जागृत हो गयी। आहाहा! वह राग अर्थात् पुण्य और पाप के भाव की अज्ञानी को प्रसिद्धि है, उसका भान है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वर्तमान में तो बहुत गड़बड़ हो गयी, इसलिए लगे इसे, यह और क्या है? इसमें यह तो एकान्त है, एकान्त है, ऐसा कहता है, तो कहो, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा कुन्दकुन्दाचार्य सन्त दिगम्बर, महामुनि—भावलिंगी सन्त हैं। अनन्त आनन्द की दशा अन्दर प्रगट हुई है और राग आता है तो उसे भी अपने ज्ञान में रहकर, 'पर है'—ऐसा जानते हैं। अपना है, ऐसा नहीं जानते। विकल्प आया है

अमृतचन्द्राचार्य को टीका करने का, परन्तु जानते हैं कि वह विकल्प पर है, मेरी चीज़ में वह है नहीं। मैं मुझमें हूँ और राग पर है, ऐसा भिन्न जानकर, राग से भिन्न अपने में रहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग कठिन पड़े, इसलिए लोग सरल रास्ता बता दे कोई। यह व्रत करो, भक्ति करो और पूजा करो।

मुमुक्षु : सरल कहाँ है, उल्टा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु, यह कर सके न एकदम, व्रत पाले, अपवास करे और इन सेठियों को पैसा खर्च करने का कहे। वह पाँच-दस लाख (खर्च करे) वह उसमें क्या वहाँ करोड़पति हो, उसमें पाँच लाख खर्च करे, धूल में, उसमें मनवा दे धर्म। धूल में भी धर्म नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

यह यहाँ कहते हैं, बहुत सरस गाथा है। आहाहा! लो, सेठ! यह तुम आये और यह गाथा अच्छी आ गयी है।

मुमुक्षु : समझने को तो आपश्री ने बुलाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानमय भाव ही होता है,... देखो! अज्ञानमय भाव ही होता है—अज्ञानी को राग और पुण्य के भाव हैं, वह अज्ञान है, उसका अज्ञानी को भेदज्ञान नहीं है, इसलिए रागमय भाव ही—उसे अज्ञान (ही) होता है। वह राग, वह अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व नहीं, परन्तु राग में ज्ञानस्वरूप चैतन्य की किरण नहीं—ज्ञान का अंश नहीं, इस कारण से अज्ञानी। वह राग अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व है, ऐसा नहीं, परन्तु राग में ज्ञानस्वरूप भगवान का अंश उसमें नहीं, इस कारण से राग को अज्ञान कहने में आया है। आहाहा! राग, वह अज्ञान है, ज्ञान नहीं, वह आत्मा का नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होने से, स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण.... देखो! अज्ञानी, स्व आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है तथा राग आकुलता और दुःखरूप है—इन दोनों के स्व-पर के एकत्व के अध्यास, दो हैं वे एक—एकता का अध्यास है, ऐसी इसकी टेव पड़ गयी है इसे, और उसका ही परिचय है। आहाहा! 'श्रुतपरिचित अनुभूता'—यह बात सुनी है और परिचय में आ गयी है और राग की

एकता का अनुभव है। आहाहा! है अन्दर? यह अभी की बात नहीं, यह तो हजार वर्ष पहले के अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है। उसकी यह टीका है। यह सोनगढ़ की टीका नहीं है।

मुमुक्षु : परन्तु टीका प्रकाशित होती कहाँ से है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रकाशित चाहे जहाँ से हो, चाहे जिस स्थान से परन्तु....

मुमुक्षु : छापाखाना में।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जिस छापाखाना में छपाये, उसमें क्या है? आहाहा!

उसके होने से, स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में से.... भगवान तो जानन-देखन ज्ञाता-दृष्टा प्रभु है। आहाहा! यह आया था न अपने? अनादि ज्ञान सामान्यस्वभाव के ऊपर, अनादि ज्ञान सामान्य जो स्वभाव त्रिकाल, इसी प्रकार अनादि दर्शन सामान्य स्वभाव, (ऐसा) अनादि आनन्द सामान्य स्वभाव, अनादि पुरुषार्थ सामान्य स्वभाव, ऐसा अनादि सामान्य अनन्त गुण स्वभाव, वह आत्मा है। उससे भिन्न रागादि तो भिन्न चीज़ है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि व्रत करो, तप करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, उससे कल्याण होगा। ऐसी मिथ्यादृष्टि की मिथ्याश्रद्धा है, और प्ररूपणा भी मिथ्यात्व की है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतरागमार्ग यह है। वीतरागमार्ग में राग से लाभ हो तो वह वीतरागमार्ग है ही नहीं। वह तो रागी-अज्ञानी का मार्ग है, वह जैनमार्ग नहीं। वह राग से लाभ माननेवाला जैनमार्ग नहीं। आहाहा!

जैनस्वरूपी आत्मा है न? वीतरागस्वरूपी प्रभु है, वह राग से तो भिन्न है, तो अज्ञानी को राग और वीतरागस्वभाव दोनों की एकता का अध्यास हो गया है। आहाहा! पृथक्ता का अध्यास होना चाहिए भेदज्ञान, उसके बदले एकता का अध्यास हो गया है। आहाहा! है? स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण, **ज्ञानमात्र...** से—निज में से—**आत्मस्वरूप में से भ्रष्ट हुआ,....** है? आहाहा! जानन-देखन आनन्द भगवान आत्मा, वह राग की क्रिया और आत्मा को एक मानने से, आत्मा के ज्ञान से—शान्ति से भ्रष्ट हुआ है। समझ में आया? **आत्मस्वरूप में से...** आहाहा! है? **भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे राग-**

द्वेष के साथ एक होकर.... आहाहा! अपना ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वीतरागस्वरूप प्रभु आत्मा, उससे भ्रष्ट होकर। आहाहा! पर ऐसे रागादि, देखो! पहले कहा था न कि निज में से भ्रष्ट हुआ—निज में से भ्रष्ट हुआ और पर ऐसे राग-द्वेष के साथ एकत्व होकर। आहाहा! निज में से भ्रष्ट हुआ। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु, उससे भ्रष्ट हुआ अज्ञानी, राग की एकत्वबुद्धि में, राग को अपना मानकर, राग के साथ एक होकर, उस राग के साथ एक होकर **जिसके अहंकार प्रवर्त रहा है...** आहाहा! यह पुण्यभाव और पापभाव, वह मैं हूँ—अहं... अहं... अहं... वहाँ रहा है, 'अहं' यहाँ ज्ञानानन्द में आना चाहिए, उसे छोड़कर राग में अहं आ गया है। आहाहा! समझ में आया?

जिसके अहंकार प्रवर्त रहा है, ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तव में रागी हूँ'.... वास्तव में अज्ञानी को, मैं रागी हूँ, भाई! मैं राग का करनेवाला हूँ—रागी हूँ। आहाहा! मैं ज्ञाता-दृष्टा आनन्द हूँ, वह तो अस्त हो गया। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अपूर्व बात है। अनन्त काल में कभी किया नहीं। अनन्त-अनन्त काल हुआ, दिगम्बर मुनि भी अनन्त बार हुआ।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

मुनिव्रत धारण किया, अट्ठाईस मूलगुण लिये, पाँच महाव्रत लिये, नग्नपना लिया परन्तु वह सब क्रिया, राग की क्रिया है वह तो। आहाहा!

मुमुक्षु : काललब्धि नहीं पकी होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ नहीं किया। काललब्धि क्या करे? काललब्धि पुरुषार्थ से पकती है या नहीं? आहाहा! अपना काल—क्रमबद्ध में जो आता है—क्रमबद्ध में अकर्तापने का पुरुषार्थ है। काललब्धि में क्रमसर जो आनेवाला है, (वह) आता है परन्तु ऐसा निर्णय करनेवाले को राग के अकर्तापने का पुरुषार्थ हो जाता है, और ज्ञाता-दृष्टा का पुरुषार्थ होता है। आहाहा! आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

सर्वविशुद्ध (अधिकार में) ऐसा कहा है, क्रमबद्ध में। क्रमबद्ध होगा—समय-

समय में जो क्रम पर्याय है, वह होगी, परन्तु किसे यह निर्णय है? कि जो राग का अकर्ता होता है और ज्ञाता-दृष्टा होता है, उसे क्रमबद्ध का सच्चा निर्णय है। आहाहा! ऐसी महंगी बातें! इसमें कहीं मिले, ऐसा नहीं है। तुम्हारे वहाँ पत्थर-बत्थर में। यह छह भाई इकट्ठे हों, वहाँ ऐसी बात है? वहाँ है? पैसे मिले पाँच लाख और दस लाख, धूल लाख और हो गया! रसोई अलग और धन्धा इकट्ठा! आहाहा! राग की रसोई इकट्ठी—राग, वह मेरा है—अज्ञानी को, परन्तु मेरा पाक, वही राग है, मेरा पाक ही राग, राग-दान का भाव, वह मेरा यह पाक है, ऐसा अहंकार अज्ञानी को राग का अहंकार है, परन्तु राग से भिन्न मेरी चीज़ है, वह आनन्दकन्द है, यह बात तो अस्त-अन्ध हो गयी है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का फरमान यह है—भगवान का यह हुकम है कि अज्ञानी को, है? **राग-द्वेष के साथ एक होकर जिसे अहंकार प्रवर्तित है, ऐसा स्वयं (स्वयं)** स्वयं, कर्म के कारण से नहीं—स्वयं ही मैं वास्तव में रागी हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! मैं तो पुण्यवान पुण्य करता है, दया करता हूँ, भक्ति करता हूँ, वही मैं हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! कहो, पण्डितजी! ऐसी कठिन बात है। आहाहा! है? अन्दर है या नहीं यह पाठ? सामने पुस्तक पड़ी है।

मुमुक्षु : परन्तु उसमें कुछ समझ में आये ऐसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर की बहियाँ वाँचना आता है और यह वाँचना न आवे, ऐसा कहते हैं। यह वीतराग की वाणी है। आहाहा!

वास्तव में मैं रागी हूँ.... आहाहा! अज्ञानी को अभी राग की खबर नहीं। भक्ति का राग है, वह राग है, उसकी भी खबर नहीं। भगवान की भक्ति करना, व्रत करना, शास्त्र की भक्ति करना, शास्त्र का विनय करना, वह (भाव) सब राग है। आहाहा! अज्ञानी को, वह राग मैं हूँ, ऐसा जानता है। राग से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा नहीं जानता। ऐसा है, भाई मार्ग तो! आहाहा! अरे! सुनने को मिलता नहीं, वह विचारे कैसे और करे कब यह? आहाहा! मनुष्यपना चला जाता है—मौत के नजदीक जाता है। तो मौत—देह का अन्त आने का समय तो निश्चित है, वह देह के छूटने का समय निश्चिम है, तो जितना समय जाता है, वह मौत के—मरण के समीप जाता है। आहाहा! ऐसा है न

भगवान! भगवान! तेरी चीज़ तो अन्दर निर्मलानन्द है न, नाथ! आहाहा! तो उसे न जानकर, राग मैं हूँ—**मैं रागी हूँ,...** आहाहा! **द्वेषी हूँ।**

अर्थात् मैं राग करता हूँ.... वह राग मेरा कर्तव्य है। आहाहा! दया-दान-व्रत-भक्ति का राग है, तो वह अज्ञानी मानता है कि राग मेरा कर्तव्य है। आहाहा! कर्ता-कर्म अधिकार है न! कर्ता मानता है, वह अज्ञानी है, ऐसा कहते हैं। यह तो तुम्हारी बीडियों-बीड़ियों का तो कहीं रह गया। तम्बाकू-बम्बाकू तो धूल बाहर रह गयी। आहाहा! यहाँ तो मैं यह रागी हूँ, मैं राग करता हूँ। मैं रागी हूँ अर्थात् यह मैं राग को करता हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : अर्थात् राग मेरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राग मेरा है कहो, यह राग मेरा है तो मैं रागी हूँ कहो, उस राग का कर्ता मैं कहो, एक ही बात है। आहाहा! है? यह **मैं राग करता हूँ-द्वेष करता हूँ ऐसा मानता हुआ रागी और द्वेषी होता है।** आहाहा!

भगवान तो वीतरागमूर्ति प्रभु अन्दर है। उसे तो अस्त कर दिया है। मानो है नहीं, ऐसा कर दिया है। आहाहा! भगवान वीतरागमूर्ति, अनन्त गुण का धाम, शान्त सागर, वह तो मानो है नहीं और यह राग की क्रिया, वह मैं हूँ—रागी मैं हूँ—राग का कर्ता मैं हूँ। आहाहा! **इसलिए अज्ञानमय भाव के कारण....** आहाहा! इस कारण से, इसलिए अर्थात् इस कारण से, **अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी अपने को पर ऐसे राग-द्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।** यह राग-द्वेष कर्म हैं। कर्म अर्थात् विकार। कर्म अर्थात् जड़कर्म की बात यहाँ नहीं है। यह शुभाशुभभाव है, वह कर्म अर्थात् राग का कार्य, वह मेरा कार्य है। आहाहा! बहुत श्लोक, थोड़े में भी बहुत भर दिया है। अरे रे! दुनिया को मिलता नहीं, बेचारे ऐसे के ऐसे भटका करते हैं।

मुमुक्षु : कहाँ से मिले? सोनगढ़ में आवे तो मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनगढ़ को हुए कितना समय, समय बहुत हो गया। बीमार है ऐसा सुना था, सेठ बीमार है, शोभालालजी को ठीक नहीं है, ऐसा सुना था, दो-चार महीने पहले। शरीर की स्थिति है, बापू! श्लोक (गाथा) तो बहुत सरल है।

इसलिए अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी.... मिथ्यादृष्टि **अपने को पर ऐसे राग-द्वेषरूप करता हुआ....** मैं राग और द्वेष का कर्ता हूँ, ऐसा मानकर राग-द्वेष का कार्य करता है, कर्म अर्थात् राग का कर्ता। आहाहा! बहुत सरस बात है।

अब ज्ञानी, अब धर्मी कैसा होता है? अज्ञानी कैसा होता है, यह बात की। अब धर्मी कैसा होता है?

ज्ञानी के तो.... ज्ञानी कहो या धर्मी कहो, धर्मी को तो **सम्यक् प्रकार से स्व-पर विवेक के द्वारा....** सच्चे प्रकार से स्व आत्मा आनन्दमूर्ति है और पर-रागादि हैं, यह स्वपर का विवेक, भिन्न का भान है। धर्मी को स्व आनन्दस्वरूप और राग दुःखरूप है, इन दोनों का भिन्न ज्ञान है।

ज्ञानी के तो, सम्यक् प्रकार से... यथार्थरूप से, **स्व-पर के विवेक द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से....** आहाहा! धर्मी को तो, राग से आत्मा भिन्न है—ऐसी ख्याति/ आत्मा की प्रसिद्धि हुई है। मैं तो आनन्द हूँ, शान्त हूँ, वीतरागी हूँ, अकषाय हूँ, आनन्द हूँ—ऐसी आत्मा की प्रसिद्धि ज्ञानी को, राग से भिन्न प्रसिद्धि हो गयी है। आहाहा! कहो, ऐसी बात है। भाषा बहुत संक्षिप्त है परन्तु भाव बहुत भरे हैं अन्दर। आहाहा! क्या करे?

आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को; उसमें (अज्ञानी में) अस्त हो गयी, इसमें राग से भिन्न आत्मा का भाव प्रगट हुआ है—मैं तो अनुभव आनन्द! मैं ज्ञायक हूँ, मैं वीतरागस्वरूप हूँ, मेरी शान्ति ही मेरा स्वभाव है। राग आदि विकल्प, वह मेरा स्वभाव नहीं। आहाहा! **अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से ज्ञानमात्र भाव ही होता है....** धर्मी को तो, आत्ममय ही भाव होता है। ज्ञानमय शब्द से आत्ममय। शुद्ध आत्मा जो आनन्द-ज्ञान-शान्ति-वीतरागस्वभाव है, तो वे सब (भाव) वीतरागभावरूप ही आत्मा के भाव होते हैं। धर्मी को तो वीतरागमय भाव ही होता है, रागमय भाव नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह उसमें दुनिया में उत्साह में पड़ा हो बेचारा, पैसा और स्त्री-पुत्र और परिवार और उसमें यह बातें करना।

मुमुक्षु : नौकर हो और चाकर हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नौकर और चाकर और धूल में सब होली है। आहाहा! सत्तर लाख का मकान, नहीं कहा? आमोदवाले रमणीकभाई, पाँच-छह करोड़ रुपये। सत्तर लाख का तो एक मकान है। सेठ, देखा है या नहीं? हम वहाँ थे, तब हम उतरे थे वहाँ ८७वीं (जन्म-जयन्ती) वहाँ की थी न आमोदवाले, हमारे पालेज के पास आमोद है न? नरम व्यक्ति है, पाँच-छह करोड़ रुपये हैं और सत्तर लाख का तो एक मकान है, तुमने देखा है भाई या नहीं? वहाँ हम उतरे थे, ८७वीं (जयन्ती) में समुद्र के किनारे! सत्तर लाख का तो एक मकान, ऐसे-ऐसे तो बहुत मकान और पाँच-छह करोड़ रुपये, यह उसके मकान में उतरे थे।

मुमुक्षु : सत्तर लाख का एक मकान, तो हमको हो या हमारे भी ऐसा होवे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी होली होवे तो? वह तो होली है।

मुमुक्षु : आप तो उतरे थे उसमें?

पूज्य गुरुदेवश्री : उतरे थे, वह तो हम रहे थे, हम तो हमारे में थे, वहाँ (हम) नहीं थे।

मुमुक्षु : वह तो संयोग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो संयोगी चीज़ है। यहाँ वे लोग बेचारे (आवे), उसकी माँ, वृद्ध है और बहुत नरम है, वृद्ध है और प्रेम बहुत है, उसकी माँ को बहुत प्रेम, लड़कों को भी प्रेम है, वहाँ बड़े भाई को (प्रेम है)। वहाँ बड़ोदरा दिगम्बर मन्दिर का शिलान्यास किया न, मगसर शुक्ल दसवीं, पच्चीस हजार (रुपये) दिये, शान्तिभाई ने पच्चीस हजार दिये। वह मन्दिर पाँच लाख का मन्दिर (बनेगा) तो मन्दिर तो वह का वह पाँच लाख का मन्दिर बनाना है, दो लाख की तो जमीन ली है। रहे थे न हम, बाईस दिन रहे थे, पाँच दिन बड़ोदरा रहे थे और हम बाईस दिन रहे थे, (उसमें) पाँच दिन बड़ोदरा, आठ दिन हमारे पालेज, दुकान थी न हमारी वहाँ आठ दिन (रहे), फिर अहमदाबाद आये और यहाँ, मगसर कृष्ण बारह को यहाँ आये, अब यह उस फाल्गुन कृष्ण एकम्, बुधवार को राजकोट। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **ज्ञानमय भाव ही होता है और ऐसा होने पर, स्वपर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण...** धर्मी को तो, स्व-पर की भिन्नता के विज्ञान के कारण **ज्ञानमात्र ऐसे निज में सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकार से स्थित)...** है। आहाहा! धर्मी तो ज्ञान और आनन्द में तो सु=विशेष, निष्ट=स्थित वह अन्दर है, वह राग में है नहीं। शरीर में तो नहीं, पर में तो नहीं, मकान में तो नहीं, परन्तु राग में नहीं। आहाहा! ऐसी बातें भारी कठिन, बापू! भिन्नत्व—स्व-पर की भिन्नता के कारण, विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में, ज्ञानमात्र—आनन्दमात्र—वीतरागस्वभाव मैं हूँ, उसमें **सुनिविष्ट** (अर्थात्) कि सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ। आहाहा! ज्ञान-आनन्द-शान्ति-स्वच्छता-प्रभुता आदि अनन्त गुण में स्थित है। धर्मी राग में स्थित नहीं। आहाहा! **पर ऐसे राग-द्वेष से भिन्नत्व के कारण...** आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, वे तो भिन्न-पर हैं। ओहोहो!

दया-दान-व्रत-भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान—विनय, वह सब राग है, वह पर है। **पर ऐसे राग-द्वेष से भिन्नत्व के कारण निज रस से ही....** आहाहा! अपने आनन्दरस और शान्तरस से ही **जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है...** निजरस से ही पर का अहंकार निवृत्त हुआ है—राग-द्वेष के भिन्नत्व के कारण, ऐसा। राग-द्वेष के भिन्नत्व के कारण, निजरस से ही जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है, आत्मा के आनन्द के कारण, राग से भिन्न होकर, पर का अहंकार निवृत्त हुआ है। 'राग मेरा है', ऐसा अहंकार छूट गया है। आहाहा! लक्ष्मी मेरी है, शरीर मेरा है, वह तो कहीं दूर रह गयी, वह तो धूल बाहर है। आहाहा! समझ में आया?

परन्तु यह दया-दान का राग, वह मेरा है, उससे निवृत्त हो गया है। आहाहा! ऐसी बात! अहम्—मैं तो शुद्ध चैतन्यघन, आनन्द हूँ। राग मेरा है, ऐसा अहंकार ज्ञानी को छूट गया है। आहाहा! तो उसमें पुत्र मेरा और स्त्री मेरी, लड़का मेरा और पैसा मेरा और मकान मेरा, वह तो कहीं धूल रह गयी। आहाहा! बहुत कठिन यह काम, भाई! वीतराग मार्ग, ज्ञान में आना अलौकिक बात है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि भले उसे राग की आसक्ति न छूटे, परन्तु श्रद्धा में राग का अहंकार छूट जाना चाहिए। समझ में आया? आहाहा! राग की आसक्ति तो ज्ञानी को

भी रहती है, परन्तु उसका अहंकार—'वह मेरी चीज़ है'—यह श्रद्धा में से छूट गया है। समझ में आया? ऐसा व्याख्यान! ऐसा मार्ग!

मुमुक्षु : यह एक ही परम सत्य बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, बापू! क्या हो? दुनिया को एकान्त लगे, निश्चयाभास जैसा लगे, व्यवहार का लोप करते हैं—ऐसा लगे, (परन्तु) मार्ग तो है तो ऐसा... व्यवहार, जितनी राग की क्रिया है, उसे अपनी मानना, वह तो मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है, आहाहा! शरीर मेरा है, कर्म मेरे हैं, वह तो दूसरी बात रह गयी, वह तो स्थूलदृष्टि मिथ्यात्व है, परन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति का राग भी मेरा है, वह भी मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी को तो राग भिन्न भासित होता है तो अनासक्ति हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आसक्ति तो है। अनासक्ति का अर्थ—श्रद्धा में छूट जाता है, यह मेरा है, यह दृष्टि छूट जाती है। आहाहा! गीता, गीता (में) कहते हैं कि 'काम करना परन्तु अनासक्तिभाव से करना'—तो यह ऐसा है ही नहीं। काम करे, यही आसक्ति और मिथ्यात्वभाव है। यहाँ तो आसक्ति का अर्थ अस्थिरता है, परन्तु उसका स्वामी आत्मा है, यह छूट गया है। स्वामित्व छूट गया है। राग से लंगड़ा हो गया है। आहाहा!

मेरी चीज़ तो शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु, उसके पाक में तो वीतरागी पर्याय का पाक होता है, वही मेरा कर्तव्य है। राग मेरा कर्तव्य है, ऐसा ज्ञानी को छूट गया है। आहाहा! यह बात तो, बापू! सत्य बात बहुत अलौकिक है! असत्य बात तो बैठी है अनादि से। आहाहा!

रागी मैं हूँ (नहीं), वह राग का कर्ता हूँ नहीं, ऐसा होने से स्व-पर के भिन्नत्व के कारण, राग-द्वेष के भिन्नत्व के कारण **निजरस से....** उसका **अहंकार निवृत्त हुआ है।** देखो! **ऐसा स्वयं वास्तव में मात्र जानता ही है...** स्वयं वास्तव में मात्र, मात्र, बिल्कुल राग का कर्ता नहीं होकर मात्र जानता ही है। कहो, समझ में आया? **रागी और द्वेषी नहीं होता।** आहाहा! यह मैल है, मैं तो निर्मलानन्द प्रभु हूँ। आहाहा! निर्मल-वीतरागस्वभावी आत्मा मैं हूँ, यह राग, मेरा है—ऐसा नहीं होता। सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से, आहाहा!

छह खण्ड के राज्य में चक्रवर्ती दिखाई दे, यह उसमें आता है, सोगानीजी में। छह खण्ड में दिखता है परन्तु वह अखण्ड को साधता है। ऐसा है। द्रव्यदृष्टिप्रकाश में है। छह खण्ड को साधता नहीं, वह तो अखण्ड आत्मा, सम्यग्दर्शन को अखण्ड को साधता है। आहाहा! अन्तर के अभिप्राय की बात कोई दूसरी ही है। अभिप्राय राग से छूट गया है, अभिप्राय आत्मा आनन्द मैं हूँ, ऐसा अभिप्राय हो गया है। उस अभिप्राय में राग मेरा है, ऐसा छूट गया है। अज्ञानी को अभिप्राय में 'मैं शुद्ध हूँ', यह अभिप्राय छूट गया है और राग मेरा है, ऐसा अभिप्राय हो गया है। आहाहा!

(कहते हैं) **निजरस से अहंकार छूट गया है, ऐसा स्वयं वास्तव में मात्र जानता ही है।** जानता ही है। आहाहा!

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेयशक्ति द्विविधा प्रकाशी स्वरूपा, पररूपा भासी।

स्वज्ञेय वह आनन्दकन्द है, और पर रागादि ऐसा ज्ञेय, दोनों भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा ज्ञानी को राग का अहंकार छूट गया है और अपने पूर्णानन्द की श्रद्धा का अभिप्राय दृढ़ हो गया है। आहाहा! समझ में आया? कहो, शान्तिभाई! इसमें कहाँ कुछ मिले ऐसा है वहाँ?

मुमुक्षु : इसीलिए तो आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! अरे रे! ऐसा मनुष्यपना उसका एक-एक समय कौस्तुभमणि जैसा है, एक-एक समय, उसमें यह बात समझ में न आवे, सुनने में न आवे। आहाहा! अरे रे! तो कब समझ में आवे? दुर्लभ वस्तु है, भगवान! अशक्य तो नहीं, परन्तु दुर्लभ तो है। है? आहाहा!

(ज्ञानी) **रागी-द्वेषी नहीं होता—**ज्ञानी राग-द्वेष नहीं करता, **इसलिए ज्ञानमय भाव के कारण...** धर्मी को तो ज्ञानमय, आनन्दमय, शान्तमय, वीतरागमयभाव के कारण **ज्ञानी....** धर्मी **अपने को पर ऐसे राग-द्वेषरूप न करता हुआ....** अपने को राग-द्वेषरूप नहीं करता, **कर्मों को नहीं करता।** राग-द्वेषरूपी कार्य को नहीं करता। राग-द्वेषरूपी कर्म अर्थात् भावकर्म, उसे नहीं करता, ऐसा कहते हैं। यहाँ जड़कर्म की बात

नहीं है। वह भावकर्म—जो दया-दान-व्रत-भक्ति और काम-क्रोधादि जो है, उन भावकर्म का ज्ञानी कर्ता नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग! लोगों को इस रास्ते चढ़ा दिया—यात्रा करो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो, अपवास करो, धर्म हो जायेगा। बेचारे भटक मरने के रास्ते पड़े हैं, मिथ्यात्व के रास्ते। आहाहा!

मुमुक्षु : कुछ तो होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : होगा न कुछ, जन्म-मरण करेगा और मिथ्यात्व के भाव हैं तो निगोद में जायेगा। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा के फल में तो अनन्त निगोद में (जायेगा) जो यह अनन्त काल में त्रस नहीं होगा, उसमें जायेगा। भाई! बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

वीतराग परमात्मा क्या कहते हैं, इसकी तो खबर नहीं। अज्ञानभाव से अपने को माना है। आहाहा! तो (ज्ञानी) अपने को राग-द्वेषरूप न करते हुए, कर्म, कर्म अर्थात् राग-द्वेष कार्य, राग-द्वेष कर्मों को नहीं करता, राग-द्वेषरूपी भावकर्म को ज्ञानी नहीं करता। जड़कर्म की बात तो यहाँ है नहीं। जड़कर्म को तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता, जड़कर्म तो जड़ की पर्याय स्वतन्त्र होती है, परन्तु यहाँ तो ज्ञानी, राग-द्वेषरूपी कार्य को भी करता नहीं। उसका जाननेवाला-देखनेवाला रहनेवाला, अभिप्राय में राग का कर्ता ज्ञानी नहीं होता। अज्ञानी अभिप्राय में राग का कर्ता होकर, आत्मा का अज्ञान करता है। आहाहा! गाथा बहुत १२७—दोनों बातें आयीं, अज्ञानी की और ज्ञानी की। आहाहा!

जिसे राग से भगवान भिन्न, नौ तत्त्व है, उसमें रागतत्त्व—पुण्य-पाप तत्त्व है। आत्मा तो ज्ञायकतत्त्व भिन्न है, ऐसे भिन्न है, ऐसा नहीं माननेवाला राग और ज्ञान की एकत्वबुद्धि में राग को अपना माने और ज्ञानी, राग और स्वपर का भेदज्ञान हुआ है, इस कारण से राग में से अहंकार छूट गया है, ज्ञानानन्द में अहम्पना दृढ़ श्रद्धापना आ गया है, इसलिए राग का कर्ता नहीं होता। ज्ञाता-दृष्टा रहकर राग को जानता है। इसका नाम धर्मी और ज्ञानी कहा जाता है। (विशेष आयेगा)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१५, गाथा-१२७ से १२९, श्लोक-६६,
दिनांक ०९-०३-१९७९, शुक्रवार, फाल्गुन शुक्ल - ११

समयसार, १२७ गाथा का भावार्थ। भावार्थ है न?

भावार्थ :- उस आत्मा के... कर्ता-कर्म अधिकार है। **उस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति का (अर्थात् राग-द्वेष का) उदय आने पर....** प्रकृति है जड़, उसका उदय आने से, **अपने उपयोग में उसका राग-द्वेषरूप मलिन स्वाद आता है....** कर्म प्रकृति तो जड़ है, उसका उदय आता है, तब आत्मा के उपयोग में मलिन स्वाद आता है। आहाहा!

यह कर्म की प्रकृति में—निमित्त में जुड़ने से अपने उपयोग में मलिन राग-क्रोध-मानादि के परिणाम होते हैं, वह मलिन स्वाद है। आहाहा!

अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान न होने से.... अज्ञानी को, यह मलिन स्वाद मेरी चीज़ नहीं, (ऐसी उसे) खबर नहीं। मेरी चीज़ तो ज्ञान और आनन्द है, ऐसी खबर नहीं, तो वह मलिन भाव को ही अपना मानता है। सूक्ष्म बात है भाई यह। आहाहा! जो कर्म के निमित्त से अपनी पर्याय में, अपने से मलिन परिणाम होते हैं, उसका स्वाद मलिन स्वाद है। आहाहा! चाहे तो शुभाशुभभाव हो (परन्तु) दोनों स्वाद मलिन है, उस मलिन स्वाद का अज्ञानी को भेद न होने से कि यह मलिन स्वाद मेरी चीज़ नहीं, मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ, ऐसा भेदज्ञान अज्ञानी को नहीं है। आहाहा! क्यों! बाबूभाई नहीं आये?

मुमुक्षु : तबीयत बराबर नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा!

आत्मा तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु है। उसके उपयोग में राग-द्वेष का, पुण्य-पाप का मलिन स्वाद आता है, वह अपनी चीज़ नहीं, अज्ञानी को उसका भेदज्ञान नहीं होने से, यह मलिन स्वाद ही मैं हूँ, (ऐसा वह मानता है)। भगवान आत्मा तो निर्मलानन्द-ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं। आहाहा! है? **अज्ञानी**

को स्व-पर का भेदज्ञान न होने से.... अज्ञानी को स्व तो मैं आनन्द और ज्ञान हूँ तथा पर यह राग-द्वेष स्वाद आदि पर है, ऐसा 'पर' और 'स्व' का भेदज्ञान नहीं, (इसलिए वह) ऐसा मानता है कि यह राग-द्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है। आहाहा! शुभ-अशुभराग आता है, वह मलिन है—मैल है—दुःख है, उस स्वाद का और आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का—स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह स्वाद ही मैं हूँ, (ऐसा मानता है)। आहाहा! जड़ का स्वाद नहीं आता, मैसुख खाता है या रोटी, उसका स्वाद नहीं, वह तो जड़ है। उसमें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर जो राग-द्वेष होते हैं, वह मलिन स्वाद है। आहाहा! मलिन स्वाद और मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा अज्ञानी को अनादिकाल से भेदज्ञान नहीं होने से, यह मलिन स्वाद ही मैं हूँ, (ऐसा अज्ञानी मानता है)। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी, वहाँ लोगों को ऐसा बैठना-सुनना कठिन पड़ता है, भाई!

प्रभु! तू कौन है? तू तो ज्ञान और आनन्द है, प्रभु! तेरे उपयोग में जो राग-द्वेष मलिनता दिखती है, वह तेरी चीज़ नहीं, वह तेरा स्वरूप नहीं, वह तो मैल का स्वरूप—कर्म का मैल है—भावकर्म का मैल है, हों! जड़ का नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! **भेदज्ञान न होने से वह मानता है कि 'यह राग-द्वेष मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है....** यह शुभ-अशुभराग होता है, वह मलिन है, दोनों। आहाहा! दया-दान-व्रत-भक्ति (आदि के) भाव हैं, वह रागरूपी मलिनभाव है और हिंसा, ऐठ, चोरी, विषय-भोगवासना, काम-क्रोध (आदि के) अशुभ मलिन भाव हैं, वे दोनों मलिन हैं। वह मलिन भाव है, वही मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। ऐसा मानकर **'वही मैं हूँ' इस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी करता है।** ऐसी बहुत सूक्ष्म बात भाई! आहाहा!

यह राग और द्वेष के परिणाम होते हैं, उसमें अहंबुद्धि करता हुआ—'यह मैं हूँ, यह मेरा कार्य है और मेरी चीज़ है।' आहाहा! भगवान (आत्मा) तो स्फटिक जैसा निर्मलानन्द है। जैसे स्फटिक में लाल और पीले फूल के निमित्त से अन्दर में (स्फटिक में) झांईं पड़ती है, लाल-पीली, वह स्फटिक का स्वभाव नहीं है। स्फटिक की पर्याय

में ऐसी लाल-पीली झांईं दिखती है, वह स्फटिक का स्वरूप नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के उपयोग में, शुभ-अशुभराग का-मलिनता का जो स्वाद आता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! ऐसा काम, सेठ! राग-द्वेष परिणाम, वे अपना स्वरूप नहीं, विकृत है। आहाहा! चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, प्रभु! वह मलिन है—मैल है—दुःख है—आकुलता है। आहाहा! उस आकुलता से मेरी चीज़ भिन्न है, ऐसा अज्ञानी को भान नहीं होने से वह मलिन परिणाम ही मैं हूँ, ऐसा अहंकार करता है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

है? शब्द तो सादे हैं, बहुत संस्कृत और व्याकरण की इसमें कोई आवश्यकता नहीं—संस्कृत और व्याकरण की कोई जरूरत नहीं इसमें। आहाहा! 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीवस्वभाव रे'—जैसे निर्मलता स्फटिक की... हमने इतना स्फटिक देखा है। स्फटिक, जामनगर में। (श्री समयसार की) १००वीं गाथा चलती थी (संवत्) १९९१ के वर्ष की बात है, ९१ आया न, ९१ में यहाँ ९१ के मगसिर महीने में व्याख्यान चलता था और १००वीं गाथा, तो (सुनने) सब आते थे बड़े-बड़े! ऐसे बहुत वैद्य आते, डॉक्टर-बॉक्टर बहुत, डॉक्टर आते थे (उसमें) एक ढाई हजार वेतन, क्या नाम? प्राणजीवन डॉक्टर। सब आते थे, डॉक्टर भी आते थे परन्तु यह बात बैठना कठिन। फिर उसने (मुझसे) कहा कि मेरे यहाँ एक छह लाख का सोलेरियम मशीन है छह लाख की। उस समय की बात, हों! छह लाख, चालीस वर्ष पहले की (बात है), वह डॉक्टर कहे, महाराज! देखने पधारना! आपको दृष्टान्त देने में काम आयेगा। समयसार की १००वीं गाथा चलती थी, तो उसने स्फटिक बताया इतना (बड़ा) इतना। स्फटिक निर्मल... निर्मल...!

उसी प्रकार आत्मा तो स्फटिक रत्न जैसा निर्मलानन्द प्रभु है। आहाहा! उस स्फटिक में जैसे लाल और पीले फूल की झांईं अपनी योग्यता से दिखती है, परन्तु वह स्फटिक का स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की पर्याय में, कर्म के निमित्त से, अपनी से उत्पन्न हुए शुभाशुभभाव, वह मलिन परर्याय है, वह अपना स्वरूप नहीं। आहाहा! उस मलिनता को अज्ञानी अपनी मानकर अहंबुद्धि करता है—**अज्ञानी अपने को रागी-**

द्वेषी करता है। ओहोहो! प्रभु तो वीतरागस्वरूप—ज्ञाता-दृष्टा आत्मस्वभाव है, उसे अज्ञानी स्वयं को राग-द्वेषरूप करता है (अर्थात् मानता है)। मैं तो रागी हूँ—द्वेषी हूँ न! पैसावाला और लक्ष्मीवाला हूँ, यह तो (बात) बहुत दूर रह गयी। रजनीभाई! यह तो दूर रह गयी मूढ़ता। पैसावाला, तो उसकी बात (तो) यहाँ है नहीं कुछ, (परन्तु) यहाँ तो परमात्मा ऐसा बताते हैं कि प्रभु! तू तो स्फटिक जैसा निर्मल है न! तेरा त्रिकाली स्वभाव तो निर्मल और आनन्द है न, नाथ! तेरी पर्याय में—उपयोग में जो राग-द्वेष के मलिन भाव दिखते हैं, वह तेरी चीज़ नहीं। परन्तु अज्ञानी को यह पुण्य-पाप के मलिन भाव मेरे हैं, ऐसा कर्ता होता है। आहाहा! कठिन भाई जवाबदारी! आहाहा! है? **अहंबुद्धि करता हुआ अज्ञानी अपने को राग-द्वेषरूप करता है।** है सेठ? आहाहा! वहाँ तुम्हारी बहियों में कहीं यह बात नहीं आती। दूसरी बात है, प्रभु! आहाहा!

चैतन्य हीरा, अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, उसके उपयोग में राग-द्वेष और मलिनता जो भासित होती है, अज्ञानी उसे अपना मानकर कर्ता होता है, आहाहा! क्योंकि उसकी दृष्टि पर्याय—राग और पर्याय के ऊपर है, पर्याय के ऊपर होने से राग-द्वेष मेरे हैं और मैं कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। इसलिए **वह कर्मों को करता है,....** कर्मों शब्द से शुभ-अशुभभाव। कर्म अर्थात् जड़ नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वभाव को छोड़कर शुभ-अशुभभाव जो भावकर्म है—विकारी, उसका कर्ता है। है? आहाहा! कर्म अर्थात् जड़ नहीं। पुण्य-पाप के भाव —भावकर्म जो है, उस भावकर्म का अज्ञानी कर्ता होता है। आहाहा! **इस प्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है...** अब, नया कर्मबन्धन इस अज्ञानभाव से होता है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव मलिन है, वह मेरा है, ऐसा अज्ञानी इस प्रकार करता हुआ नया कर्मबन्धन करता है—नया कर्मबन्धन होता है। करता है, ऐसा नहीं वहाँ। अज्ञानमय भाव से कर्मबन्धन होता है। जड़ कर्म की पर्याय जड़ से होती है। आहाहा! अज्ञानी तो अपने राग-द्वेष हैं, ऐसा मानकर राग-द्वेष करता है, बस! और उससे कर्मबन्धन जड़ की पर्याय जड़ से उत्पन्न होती है। वह कर्मबन्धन में निमित्त है परिणाम और कर्मबन्धन की पर्याय अपने से स्वतः कर्मपर्याय होती है। आहाहा!

कितना ध्यान रखना? कहो, शान्तिभाई! ऐसी बात है। हीरा-माणिक लेने-देने की क्रिया तो करता नहीं, ऐसा कहे तो यह बात तो यहाँ है ही नहीं। उसका तो कोई कर्ता है ही नहीं। यह टाईल्स में छिड़कते हैं न? भिन्न-भिन्न क्या कहलाता है वह तुम्हारे? रंग छिड़कते हैं न दाने अलग-अलग, अलग-अलग टाईल्स में विचित्रता दिखाई दे। देखा है वहाँ जामनगर में। जामनगर में एक बढवाण का टाईल्स का बड़ा व्यापारी है, वहाँ हम दूध पीने गये थे (वहाँ देखा था)। तो सब टाईल्स पूरी अलग-अलग जरा दिखाई दे, यह हमने देखा था तो अलग-अलग प्रकार की भात अन्दर छिड़के। उसे खबर नहीं हो, यहाँ हमको (भी) कुछ खबर नहीं थी। टाईल्स, तुम्हारे थाणा में बड़ा (कारखाना) टाईल्स का है, थाणा में बड़ा टाईल्स का, पन्द्रह लाख का एक मकान है। आहाहा! वहाँ उतरे थे और हमने देखा था। आहाहा! उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं, उस टाईल्स का काम करे और ऐसे छिड़के, यह बात तो यहाँ है ही नहीं। वह तो टाईल्स का काम टाईल्स करे, परन्तु अज्ञानी को उसमें जो राग-द्वेष भाव होते हैं, वे मलिनभाव हैं, उन मलिनभाव का कर्ता होकर नया बन्धन उसको होता है। आहाहा!

भावकर्म से अपने नये कर्म बँधते हैं। है? **इस प्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्धन होता है....** उसे कर्मबन्धन होता है, चार गति में भटकने के भाव। आहाहा!

अब, धर्मी लिये—ज्ञानी की (बात करते हैं)। पहले अज्ञानी की बात की। अब धर्मी-ज्ञानी, **ज्ञानी के भेदज्ञान होने से....** आहाहा! वह पुण्य-पाप के मलिनभाव वह मैं नहीं—मैं उसका कर्ता नहीं, वह मेरी चीज़ नहीं। जहाँ पुण्य-पाप के (भाव) मेरे नहीं तो दूसरे पुण्य-पाप के फल, वह चीज़ दुनिया की, वह चीज़ मेरी है, ऐसा तो ज्ञानी मानते नहीं तीन काल में। आहाहा!

धर्मी उसे कहते हैं कि जिसको भेदज्ञान होने से, वह पुण्य-पाप के भाव जो मोह है, उसका भेदज्ञान है, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ। राग भाव, वह तेरी चीज़ नहीं। ऐसा धर्मी को भेदज्ञान (वर्तता है)। धर्मी कहो, ज्ञानी कहो (एकार्थ है)। **भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है, वही**

मेरा स्वरूप है। आहाहा! यह अशुद्ध जो पुण्य-पाप का उपयोग, वह मैं नहीं; मैं तो शुद्ध उपयोग ही मैं हूँ। इस अशुद्ध उपयोग को जानने-देखनेवाला मेरा शुद्ध उपयोग, वह मैं हूँ। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल में किया नहीं कभी और अभी इस संसार में भी पूरी जिन्दगी राग-द्वेष... राग-द्वेष करके पूरी जिन्दगी चली जाती है अज्ञान में और अज्ञान में। उसमें इसे यह बात समझना कठिन पड़ती है। आहाहा!

धर्मी को भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि 'ज्ञानमात्र'.... ज्ञानमात्र जानना... जानना, आनन्द, ऐसा शुद्ध उपयोग है, जानने का शुद्ध व्यापार है—निर्मल व्यापार है, जानने-देखने का उपयोग, **शुद्ध उपयोग है, वही मेरा स्वरूप है।** आहाहा! शरीर, कर्म, पैसा, मकान तो नहीं, आहाहा! परन्तु अन्दर शुभाशुभभाव है, पर्याय में उत्पन्न होते हैं, वह मेरे नहीं। आहाहा!

द्रव्यस्वभाव का ज्ञान होने से, द्रव्यस्वभाव का ज्ञान होने से। भाव तो ज्ञानी को भी राग आदि होता है, परन्तु वह (भाव) मेरे नहीं—मैं नहीं, मैं नहीं। आहाहा! राग होता है, शुभाशुभराग आता है, आहाहा! परन्तु धर्मी तो उसका ज्ञाता-दृष्टा का शुद्धपरिणाम, वही मैं हूँ। आहाहा! राग और द्वेष, पुण्य-पाप के परिणाम भाव मैं नहीं। आहाहा! है या नहीं अन्दर? यह तो हमारे सेठ, नये तो हैं न, सुनें। बीड़ी में फँस गये हों वहाँ धन्धे में। आहाहा! यह तो सबकी बात है न! यह तो सामने (बैठे) हों, उस सेठ की बात (की जाती है)। क्यों, रजनीभाई?

मुमुक्षु : रागादि भाव उस समय होते हैं न....

पूज्य गुरुदेवश्री : रागभाव होता है तो भी तब अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि है तो मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि होने से मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। वह राग-द्वेष मैं नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! यह अनन्त काल से... यह बात चलती नहीं न! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! यहाँ तो धर्मी को शुभ-अशुभराग आता है—भक्ति का राग आता है, विनय का राग आता है, आता है, परन्तु वह मेरी चीज़ नहीं। मैं तो उसका जाननेवाला-देखनेवाला शुद्ध उपयोग ही मैं हूँ। आहाहा! ऐसी जवाबदारी, इतनी शर्तें धर्म की। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानी-समकिती चक्रवर्ती हो तो छियानवें हजार रानियाँ होती हैं और विषय की वासना भी आती है, आहाहा! परन्तु वह मैं नहीं, मैं तो उसकी दृष्टि में नहीं जानेवाला और अपने में रहकर अपने को जाननेवाला और पर को जाननेवाला मैं हूँ। आहाहा! समझ में आया? भाई! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म है, प्रभु! आहाहा! अरे रे! इसने अनन्त काल में कभी क्या आत्मा और क्या मैल-राग है, इसका भेदज्ञान कभी किया नहीं, तो यह तो चार गति में भटकने का भाव है।

यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा अरिहन्तदेव फरमाते हैं, वह सन्त फरमाते हैं। आहाहा! सन्त कहते हैं, प्रभु! भेदज्ञानी जीव जो है, वह तो मेरा स्वरूप ज्ञान मात्र है—आनन्द है, वही मैं हूँ। **राग-द्वेष कर्मों का रस है,...** आहाहा! कर्मों अर्थात् भावकर्म है, वह कर्म है, वह विकार का रस है; मेरा नहीं। आहाहा! सूरज की किरण कोई कोयले जैसी नहीं होती। होती है? सूरज की किरण तो सफेद होती है। इसी प्रकार मेरी पर्याय तो सफेद—शुद्ध है। वह मलिन जो कोयले जैसी किरण है, वह सूरज की नहीं, इसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव धर्मी अपने नहीं मानता। आहाहा! तो पुण्य-पाप के फलरूप जो चीज़ें बाह्य हैं, उन्हें तो वह चीज़ मेरी है, ऐसा होता नहीं। वह तो तीन काल में मेरी नहीं। आहाहा!

चक्रवर्ती (को) स्फटिक के महल होते हैं, स्फटिक के महल! एक स्फटिक इतना (उस) स्फटिक के अरबों पैसे, ऐसे स्फटिक का पूरा महल। आहाहा! छियानवें हजार स्त्रियाँ, वे मेरी चीज़ नहीं, मैं वह नहीं। आहाहा! है?

मुमुक्षु : पुत्र कितने?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्र चौंसठ हजार, पुत्रियाँ बत्तीस हजार, बत्तीस हजार दामाद। सेठ! चक्रवर्ती होता है न चक्रवर्ती, चौसठ हजार (पुत्र), छियानवें हजार (रानियाँ) दिगम्बर में कहते हैं और श्वेताम्बर में चौंसठ हजार कहते हैं। और छियानवें करोड़ सैनिक हैं, छियानवें करोड़ गाँव हैं, बहत्तर हजार नगर, अड़तालीस हजार पाटण हैं। आहाहा! अन्दर राग आदि आता है, परन्तु वह मैं नहीं—वह मेरा नहीं। है?

मुमुक्षु : चक्रवर्ती भोजन किसका लेता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : भोजन, यह कहा था न एक बार। बत्तीस ग्रास का भोजन। उसका एक दिन का भोजन कराने के लिये रसोईया होते हैं, वह रसोई तो रसोईया करते हैं, परन्तु तीन सौ साठ (दिन की रसोई बनाने के लिये) एक अधिकारी होता है, तो वह अधिकारी तीन सौ साठ दिन की तैयारी करे! (उसमें) एक-एक दिन की रसोई (क्या बनाना?)

क्या कहा? (वह अधिकारी) रसोई बनाता नहीं, रसोई क्या बनानी है (उसकी सूचना देता है)। आज यह रसोई, ऐसे तीन सौ दिन तक की, विचार कर-करके (बताता है), वह बड़ा अधिकारी होता है अरबोंपति! आहाहा! वह तीन सौ साठ दिन—बारह महीने की तैयारी की होती है कि इस दिन यह आहार, यह पानी, यह भस्म। समझ में आया? क्या कहलाता है तुम्हारा पानी यह मोसम्बी या इत्यादि-इत्यादि। उस मौसम्बी के रस में भस्म डालना—हीरा की भस्म, माणेक की भस्म, मोती की भस्म—तीन सौ साठ दिन की तैयारी करे, एक-एक दिन रसोईया को हुकम करे, रसोई करे नहीं, तैयारी करे। रसोईया को यह बतावे कि आज यह बनाना—यह बनाना महाराज साहेब के लिये और उसका—चक्रवर्ती का बत्तीस ग्रास का (आहार), उसमें का एक ग्रास का आहार छियानवें करोड़ सैनिक भी पचा नहीं सकते, ऐसा बत्तीस ग्रास का आहार (भोजन चक्रवर्ती का होता है)। आहाहा!

परन्तु यह मैं नहीं, यह मेरे नहीं। आहाहा! उसका विकल्प उठता है जरा, वह भी मैं नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप-शुद्धस्वरूप हूँ। आहाहा! मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। वह तो मेरे ज्ञान के परज्ञेय हैं। आहाहा! भाई! सम्यग्दर्शन और धर्म कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! अभी तो सुनने को भी मिलती नहीं (यह बात)। गड़बड़ हो गयी, बहुत गड़बड़ हो गयी! ओहोहो! एक व्रत पालन किये और भक्ति की, यात्रा की और वहाँ धर्म हो गया। आहाहा! वह भक्ति, यात्रा और व्रत का भाव तो राग है। आहाहा! वह राग मेरा है, ऐसा मानकर अज्ञानी, मलिन परिणाम का स्वामी होता है और नये कर्मबन्धन को करता है। कर्मबन्धन होता है, वह कुछ करता नहीं। आहाहा!

धर्मी जीव, आहाहा! चक्रवर्ती का राज्य हो—छह खण्ड का, परन्तु मैं तो शुद्धचैतन्य

हूँ, प्रभु! मेरी सम्पत्ति तो आनन्द और ज्ञान की मेरी सम्पदा है। यह शुभ-अशुभभाव भी मेरे नहीं—मेरा कर्तव्य नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्मी जीव, शुभाशुभभाव को मलिन जानकर, ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहाहा! ऐसी शर्तें—ऐसी जवाबदारी। लोग तो कुछ का कुछ मानकर बैठ गये बेचारे। आहाहा! जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! वास्तविक तत्त्व सुनने को मिलता नहीं। आहाहा! इस शास्त्र का बहुमान करना, वह भी एक विकल्प और राग है, ऐसा कहते हैं। आता है, परन्तु वह राग भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा!

मैं तो अपने स्वरूप में, पर का जाननेवाला-देखनेवाला मैं हूँ। आहाहा! यह आया न, मेरा स्वरूप नहीं। वह तो राग-द्वेष कर्मों का रस है—जड़ का भाव है, आहाहा! वह पुण्य-पाप के भाव अचेतन हैं, मैं चैतन्य हूँ। उस शुभाशुभभाव में मेरे चैतन्य का रस नहीं, वह तो जड़ का रस है। आहाहा! शुभाशुभभाव, वह अचेतनरस है, कर्मों का रस का अर्थ यह। जड़ का रस जड़ में है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव वह अचेतन रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं।

इस प्रकार राग-द्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ.... शुभ-अशुभभाव आते हैं, परन्तु **अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता... अहंबुद्धि नहीं करता हुआ ज्ञानी अपने को रागी-द्वेषी नहीं करता...** आहाहा! ऐसी बात है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पुकार, इन्द्र, नरेन्द्र और गणधरों के बीच यह (बात) करते थे, वह बात यहाँ कही जाती है। आहाहा!

केवल ज्ञाता ही रहता है.... धर्मी तो जाननेवाला-देखनेवाला मैं हूँ। आहाहा! यह राग और द्वेष मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ तो मुझसे भिन्न पड़े नहीं। वह तो भिन्न चीज़ है और भिन्न पड़ जाते हैं। सिद्ध में रहते हैं? तो वह मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ हो तो मुझसे भिन्न नहीं पड़ती। मेरी चीज़ तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द, वह मेरी चीज़ है। समझ में आया? कौन भाई? अन्त में बैठे हैं? नये हैं?

मुमुक्षु : शार्दुलभाई रबारी।

पूज्य गुरुदेवश्री : शार्दुलभाई? ठीक! ठीक! समझ में आया? आहाहा!

धर्मी-ज्ञानी उसे कहते हैं कि अपना ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, ध्रुव पर दृष्टि होने से—ध्रुव शब्द में—स्वभाव में तो अकेला आनन्द और ज्ञान भरे हैं—आनन्द और शान्तरस भरा है। आहाहा! तो धर्मी उस शान्तरस का स्वामी होने से, **पुण्य (और) पाप—कर्मरस का स्वामीपना छूट जाने से, (केवल ज्ञाता ही रहता है)...** आहाहा! थोड़े शब्द में इतना (भाव) भरा है अन्दर। आहाहा! यह तो अध्यात्म शास्त्र है, समयसार! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी है, भाई! आहाहा! सन्त, जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं।

यहाँ तो कहे, पुण्य परिणाम करो, दया-दान-व्रत-भक्ति, तप आदि, उससे कल्याण होगा, ऐसा तो चलता है न अभी। यहाँ कहते हैं कि पुण्य परिणाम को अपना माने, वह तो मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है। आहाहा! ज्ञानी उस पुण्य परिणाम को तो कर्म का रस मानता है, मेरा रस नहीं। मेरा रस तो शान्त और आनन्दरस है। समझ में आया?

क्या है, यह पुस्तक लगती है, क्या है यह पुस्तक है?

मुमुक्षु : प्रभावना।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना है पुस्तक की? आहाहा!

आनन्द का नाथ प्रभु, सच्चिदानन्दस्वरूप। सत् अर्थात् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द आदि अनन्त गुण का पवित्रता का पिण्ड प्रभु है। आहाहा! उसका तो स्वीकार नहीं और शुभ-अशुभ भाव का स्वीकार, आहाहा! वह अज्ञानभाव नये कर्मबन्धन का कारण है। ज्ञानी को तो वह भाव मेरे नहीं, वह तो ज्ञाता ही रहता है, **इसलिए वह कर्मों को नहीं करता....** कर्म शब्द से पुण्य-पाप, हों! शुभ-अशुभ कर्म यहाँ—शुभाशुभ कार्य, यह है न? वह कर्म। कर्म अर्थात् जड़ की यहाँ बात नहीं है। शुभ-अशुभ कर्मों को करता नहीं। **इस प्रकार ज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध नहीं होता।** तो उसको कर्मबन्धन नहीं होता। आहाहा! वह शुभाशुभभाव थोड़े हुए, उनकी भी निर्जरा हो जाती है, छूट जाते हैं, अपना स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा में रहने से वे छूट जाते हैं। आहाहा!

अब आगे की गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं -

कलश-६६

अब आगे की गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं :-

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञान-मयः सर्वः कुतोऽय-मज्ञानिनो नान्यः।।६६।।

श्लोकार्थ : [ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्] यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है [पुनः] और [अन्यः न] अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता? [अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः] तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा [अन्यः न] अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते?।।६६।।

कलश ६६ पर प्रवचन

---

६६ (कलश)।

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञान-मयः सर्वः कुतोऽय-मज्ञानिनो नान्यः।।६६।।

'ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्' यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है? आहाहा! धर्मी को तो ज्ञानमय-आनन्दमय-शान्तमय परिणाम क्यों होते हैं? आहाहा! शिष्य का प्रश्न है, और **अन्य (अज्ञानमय भाव क्यों नहीं होता)?** ज्ञानी को रागादि अज्ञानमय भाव क्यों नहीं होते? **'अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः' तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं?** आहाहा! जिसे आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, उसकी खबर नहीं अज्ञानी को, (उस) **अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते?** आहाहा! है-अज्ञानी को, ज्ञानमय-धर्ममय भाव क्यों नहीं होते और ज्ञानी को अधर्म अर्थात् अज्ञानमय भाव क्यों नहीं होते? यह प्रश्न है। समझ में आया? उसकी गाथा।

गाथा-१२८-१२९

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाण-मया अणाणिस्स।।१२९।।

ज्ञानमयाद्भावात् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः।।१२८।।

अज्ञान-मयाद्भावा-दज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञान-मया अज्ञानिनः।।१२९।।

यतो ह्याज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनति-वर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः।

यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनति-वर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः।।१२८-१२९।।

इसी प्रश्न के उत्तररूप गाथा कहते हैं :-

ज्यों ज्ञानमय को भाव में से ज्ञानभाव हि उपजते।
यों नियत ज्ञानीजीव के सब भाव ज्ञानमयी बने।।१२८।।

अज्ञानमय को भाव से अज्ञानभाव हि ऊपजे।
इस हेतु से अज्ञानि के अज्ञानमय भाव हि बने।।१२९।।

गाथार्थ : [यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमय भाव में से [ज्ञानमयः एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है, [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे भावाः] समस्त भाव [खलु] वास्तव में [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय ही होते हैं। [च] और, [यस्मात्] क्योंकि [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भाव में से [अज्ञानः एव] अज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है, [तस्मात्] इसलिए [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [भावाः] भाव [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही होते हैं।

टीका : वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भाव होता है, वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इसलिए अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं। और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिए ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं।

भावार्थ : ज्ञानी का परिणमन अज्ञानी के परिणमन से भिन्न ही प्रकार का है। अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानी का ज्ञानमय है; इसलिए अज्ञानी के क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि समस्त भाव अज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानजाति का उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही हैं।।१२८-१२९।।

गाथा - १२८-१२९ पर प्रवचन

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया।।१२८।।

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाण-मया अणाणिस्स।।१२९।।

नीचे हरिगीत

ज्यों ज्ञानमय को भाव में से ज्ञानभाव हि उपजते।
यों नियत ज्ञानीजीव के सब भाव ज्ञानमयी बने।।१२८।।

अज्ञानमय को भाव से अज्ञानभाव हि ऊपजे।
इस हेतु से अज्ञानि के अज्ञानमय भाव हि बने।।१२९।।

टीका :- माल-माल आया है! मक्खन है, मक्खन! छाछ में से मक्खन निकालते हैं न! छाछ तो निकाल डालते हैं, ऐसे हाथ डाले तो, ऐसे करके छाछ निकल जाती है और ऐसे मक्खन ले लेते हैं, इसी प्रकार माल—मक्खन है यहाँ तो.... आहाहा!

वास्तव में.... (वास्तव में) **अज्ञानमय भाव में से....** क्या कहते हैं? टीका है न!

वास्तव में अर्थात् वास्तव में अज्ञानमय भाव में से—जो राग और पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं, ऐसा **अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ,** आहाहा! **(अज्ञानमय ही होता है...)** पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, वह अज्ञान है और अज्ञानी अज्ञान से अपने मानता है तो अज्ञानमयभाव में से अज्ञानमय भाव को नहीं उल्लंघता हुआ, उसे ज्ञानमय भाव कभी नहीं होता। आहाहा! उसके सब अज्ञानमय भाव को नहीं उल्लंघता हुआ अज्ञानमय होता है। आहाहा!

स्वरूप आनन्द और ज्ञानमय चैतन्य भगवान है, उसका जिसे ज्ञान नहीं और राग-द्वेष परिणाम मेरे हैं, ऐसा (मानकर) अज्ञानी को अज्ञानमय भाव का उल्लंघन नहीं करता हुआ, उसे (अज्ञानी को) अज्ञानमय भाव ही होता है। आहाहा! उसे ज्ञानमयभाव कभी भी नहीं होते। आहाहा! वास्तव में **अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही....** (समस्त ही) **अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है।** इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं। आहाहा! राग और पुण्य परिणाम मेरे हैं, ऐसे अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय उत्पन्न होते हैं, चाहे तो दया पाले, राग करे, भक्ति करे, पूजा के भाव, वे सब भाव अज्ञानमय भाव हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! रजनीभाई! वहाँ ऐसा सब सुनने को मिले, ऐसा नहीं, वहाँ मुम्बई में। आहाहा! पैसे का प्रवाह हो वहाँ धूल का। आहाहा!

भगवान आत्मा... कहते हैं कि जो राग और पुण्य के परिणाम को अपना मानता है, ऐसे अज्ञानी को सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं, (वह) अज्ञानमय भाव का उल्लंघन नहीं करता। आहाहा! वह चाहे तो भगवान की भक्ति करता हो, पुण्य करता हो, शुभभाव आवे न, दान करता हो, करोड़ों का दान करे, ऐसा भाव हो, उसे भी वह (सब भाव) अज्ञानी के रागभाव, वह अज्ञानमय (ही) है। उसे—उल्लंघता नहीं। आहाहा! समझ में आया?

जिसे अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की खबर नहीं और जो पुण्य और पाप के विकल्प जो राग है—मैल है, उसे अपना मानकर अज्ञानी है, उस अज्ञानी के सभी भाव (अज्ञानमय होते हैं)। आहाहा! भगवान के समवसरण में जाता है और सुनता है तो राग आता है, उस राग का भाव मेरा है, ऐसा ही वह मानता है। (इस प्रकार) अज्ञानभाव को अज्ञानी

उल्लंघन नहीं करता, अज्ञानभाव को छोड़ता नहीं। गजब बात है। ऐसी बात सुनना भी कठिन पड़े। आहाहा!

इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं.... इसीलिए अज्ञानियों के सभी भाव, जहाँ-जहाँ उसे शुभ-अशुभभाव होता है, वे सब भाव मेरे हैं, ऐसा अज्ञानभावमय होता है। आहाहा! सुनने का जो राग हुआ तो राग मेरा है, ऐसा अज्ञानभाव (होता है)। राग है, उस राग को वह उल्लंघता—लांघता नहीं। आहाहा! भगवान की भक्ति करे—पंच परमेष्ठी की, तो भी राग है और राग मेरा है, ऐसे अज्ञानभाव में—वह राग को उल्लंघता नहीं। (अर्थात्) राग में रचा-पचा है। आहाहा! ऐसी बात है। अभी सम्प्रदाय में तो कठिन पड़े ऐसा है। सम्प्रदाय में तो यह चलता है, व्रत करो... अपवास करो... दान करो... मन्दिर बनाओ... साधु को आहार दो... तेरा कल्याण होगा।

यह सब राग की क्रिया को धर्म मानते हैं। आहाहा! ऐसे राग को धर्म माननेवाले अज्ञानी किसी भी समय में उसे—अज्ञानभाव को—रागभाव को उल्लंघते नहीं। सबमें अज्ञानभाव ही उत्पन्न होता है (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे कमाये वह अज्ञानभाव?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! पैसा कमाने की तो बात ही यहाँ कहाँ है? यहाँ तो भगवान की वाणी सुनने जाये तो भी अज्ञानी (उस) राग को अपना मानता है, तो वहाँ (उस) अज्ञानभाव को उल्लंघता नहीं है। आहाहा!

भगवान तीन लोक के नाथ की आरती उतारे तो वह भी राग है, तो (उस) राग को अपना मानता है तो राग—अज्ञानभाव को वह नहीं उल्लंघता। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रभावना के सब अंग रुक जायेंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना अन्दर में होती है, बाह्य में नहीं, यही कहते हैं। शुभभाव आता है तो व्यवहार प्रभावना कहते हैं शुभभाव को, परन्तु है बन्ध का कारण। प्रभावना तो अपना आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा के आनन्द और शुद्धि उत्पन्न हो, वह प्रभावना है। दुनिया से निराला है, सेठ! क्या करे? अरे, प्रभु का विरह पड़ा, वीतराग रहे नहीं और यह वीतराग की वाणी रह गयी। आहाहा!

वीतराग की वाणी का पुकार यह है—जो कोई प्राणी राग के विकल्प को अपना मानता है, वह अज्ञानी चाहे जिस प्रसंग में जाये तो वह अज्ञानभाव को उल्लंघता नहीं, आहाहा! वह राग से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! ऐसा काम है। सूक्ष्म बात बापू! क्या हो? भाई! आहाहा! प्रभु! तेरी चीज़ तो निर्मलानन्द है न! आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा-आनन्द-शान्ति-स्वच्छता-प्रभुता ऐसी शक्तियों से भरा प्रभु तू है, न! उसका भान होने से, ज्ञाता-दृष्टा के भाव तुझे होंगे। राग आयेगा तो उसका भी तू ज्ञाता रहेगा। अज्ञानी को तो राग मेरा है तो वह वहाँ अज्ञानभाव को नहीं उल्लंघता, वहाँ राग ही उत्पन्न होता है उसे। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी को अनन्तानुबन्धी का राग आता ही नहीं!

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ है ही नहीं न राग! राग, वह अस्थिरता का राग आता है, उसका भी ज्ञाता, अपने ज्ञान में रहकर, पर को भिन्न जानता है। सेठ! भाषा तो सादी है, प्रभु! वस्तु ऐसी है। आहाहा!

'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो मुज रोग ले हरि'—दलपतराम का है। यहाँ तो यहाँ घटित करना है, हों! वे दलपतराम, ७५ वर्ष पहले हम पढ़ते थे न तो (यह कविता) आती थी, उस पुस्तक में आती थी गुजराती में। 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी'—प्रभु, तुम अनन्त आनन्द के नाथ! तेरी प्रभुता तो अनन्त शक्ति से भरी पड़ी है। (तब ही) खरी कि वह तेरी प्रभुता, मुज रोग ले हरि—प्रभुता की दृष्टि में राग और अज्ञान का नाश हो जाता है। वह रोग है। आहाहा! शरीर का रोग, वह तो जड़ का रोग है, वह कहीं आत्मा को छूता नहीं। आहाहा! भ्रान्ति सम रोग नहीं, आहाहा! है न?

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण,
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार-ध्यान।

श्रीमद् के वाक्य हैं। गुजराती है। 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं'—यह भगवान आत्मा राग और पुण्य और पापमय है, यह भ्रान्ति है। आहाहा! 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, और सद्गुरु वैद्य सुजान—गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं और औषध विचार ध्यान।' यह आत्मा आनन्दमय का विचार और उसमें एकाग्रता यह औषध है, अज्ञान नाश करने की (औषध है)। आहाहा!

यह तो बाहर की धमाधम हो... हा... करके, प्रचार किया और प्रसार किया न! यह किया और यह किया—यह हुआ न! यह हुआ वहाँ अन्दर। अरे भैया! प्रभु! कौन प्रचार करे? कौन प्रसार करे? भाई! आहाहा! तेरी चीज़ तो आनन्द और वीतरागस्वरूप है, उस वीतरागस्वरूप की पर्याय प्रगट हो, वह तेरा प्रसार और प्रचार है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें नयी सुनी हो, वह क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! क्या करे? इसलिए तो यह सुनने आये हैं यहाँ। किसलिए (आये हैं) सागर छोड़कर। सेठ! वहाँ छोड़कर आये हैं न अभी। मकान-बकान बनाया है न, क्या मार्ग है, यह (बात) सुनने को भी मिलती नहीं। प्रभु! बात सच्ची है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि चाहे तो राग शुभ हो या अशुभ हो, परन्तु वह राग मेरी चीज़ है, तो उसने अपना वीतरागी मूर्ति भगवान जिन स्वरूप का अनादर कर दिया। वह उसे भ्रान्ति हुई और बड़ा रोग हुआ। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी को... अज्ञानी की (बात) पहले ली यहाँ, 'वास्तव में अज्ञानमय भाव में से—यह अज्ञानी को सब भाव अज्ञानमय होते हैं, **और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भाव होता है...** आहाहा! राग आदि हो—रौद्रध्यान के परिणाम भी आते हैं, आहाहा! परन्तु ज्ञानमयभाव को उल्लंघन नहीं करते, उसे जान लेते हैं। आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा कहीं मिलता नहीं—सुनने को मिले, ऐसा नहीं। बाहर में और बाहर में रहे, इसलिए वह हांगकांग में पैसा लाखों पैदा करे और लाखों दे, इसलिए मानो कि धर्म हो गया। आहाहा!

भगवान! तेरी चीज़ (आत्मा) तो ज्ञाता-दृष्टा और वीतरागस्वरूप है न, नाथ! आहाहा! ऐसा ज्ञान जिसे हुआ, उसके सब भाव ज्ञानमय—आनन्दमय—वीतरागमय होते हैं, राग आता है तो उसे भी जानता है, अपने ज्ञान में रहकर, पररूप से जानता है। आहाहा! राग तो आता है, ज्ञानी को भी (आता है), देव-गुरु-शास्त्र का विनय करे, भक्ति करे, आता है परन्तु उस राग को भी अपने ज्ञान में रहकर, पृथक् ज्ञान करता है। आहाहा! अज्ञानी राग को प्रगट करके अज्ञानमय भाव मानता है। रजनीभाई! ऐसा है, बापू! कहीं मिले ऐसा नहीं, हों! मुम्बई में भी नहीं मिलता।

मुमुक्षु : नहीं मिले तो करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना—अन्दर आनन्द का नाथ है, उसकी ओर नजर करना। आहाहा!

मुमुक्षु : दुकान चलाना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुकान कौन चलाता है? आहाहा! आत्मा आनन्दमय ज्ञानमय वीतरागमय शुद्धस्वरूपी भगवान है, उसकी दृष्टि होने से, जो कोई भाव आते हैं, राग आदि के, उनका तो (ज्ञानी) ज्ञाता-दृष्टा रहता है। आहाहा! दुकान चलती हो तो भी उसका ज्ञाता-दृष्टा है। मैं दुकान चलाता हूँ, नौकर चलाते हैं, ऐसा वह नहीं मानता। आहाहा! ऐसी बात है।

सेठ ने बहुत पैसे इकट्ठे किये थे, साईकिल में जाकर, चारों ओर बीड़ियाँ... बीड़ियाँ... बीड़ियाँ... तम्बाकू... तम्बाकू... तम्बाकू... ऐसी बातें लोग करते थे। सेठ पहले घूमते थे और फिर बहुत व्यापार बढ़ाया है। आहाहा! बुन्देलखण्ड के राजा कहलाते हैं। दोनों भाई—शोभालाल और भगवानदास! अरे! किसके राजा, बापू! आहाहा! 'राजते शोभते इति राजा'—१७वीं गाथा में आता है न? अपने आनन्दस्वरूप में राजते... शोभे वह राजा है। राग में शोभे, वह तो अराजा—कराजा अज्ञान है। आहाहा! है?

(यहाँ) आया न! भाव करता है, वह सब **अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ,...** देखो! ज्ञानी के कोई भी भाव हो, वे सब ज्ञानमयता का उल्लंघन नहीं करते। चाहे तो विषय-वासना का भाव आवे, परन्तु है पर (भाव) उसका ज्ञान करता है, (ज्ञानी) उसमें जुड़ नहीं जाता। आहाहा! ऐसी बात है। कहीं भी अपने ज्ञानमयभाव को उल्लंघते नहीं। चाहे जो भाव आवे—आर्तध्यान आ जाये, रौद्रध्यान आ जाये, परन्तु अपने ध्यानमय, ज्ञान उसका करता है, उस रौद्रध्यान का मैं कर्ता हूँ और वह मेरी चीज़ है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! ज्ञानमय ही होते हैं। **इसलिए ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय ही होते हैं...** लो! धर्मी को समस्त भाव ज्ञानमय—आनन्दमय शान्तिमय, स्वच्छतामय-प्रभुतामय शुद्धभाव ही उत्पन्न होते हैं।

समय हो गया न! हो गया, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१६, गाथा-१२८-१३१, श्लोक-६७-६८
दिनांक १०-०३-१९७९, शनिवार, फाल्गुन शुक्ल - १२

१२८-१२९। भावार्थ - **ज्ञानी का परिणमन अज्ञानी के परिणमन से भिन्न ही प्रकार का है....** सूक्ष्म बात है भगवान! ज्ञानी जो है धर्मी, उसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर पड़ी है। रागादि होते हैं, उनके ऊपर दृष्टि नहीं है। आहाहा! ज्ञानी उसे कहते हैं (कि) जिसको आत्मा, पुण्य और पाप के विकल्प से भिन्न अपनी चीज़ है, ऐसा दृष्टि में— अनुभव में आया हो, उसे यहाँ ज्ञानी अथवा धर्मी कहा जाता है। तो ज्ञानी का, वास्तव में ज्ञानी का परिणमन—धर्मी की दशा—धर्मी की अवस्था, है? अज्ञानी के परिणमन से भिन्न प्रकार का है। है?

अज्ञानी है, वह अपने पुण्य और पाप के भाव जो हैं, उन्हें अपना मानकर उनकी रुचि रुचि करके राग में परिणमता है। आहाहा! अज्ञानी—आत्मा के स्वभाव का अनजान, वह पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ जो भाव होते हैं, उनकी रुचि करके, यह मेरी चीज़ है, ऐसा अज्ञानरूप से-विकाररूप से परिणमता है। समझ में आया? **ज्ञानी का परिणमन अज्ञानी के परिणमन से भिन्न ही प्रकार का है। अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानी का ज्ञानमय है....** आहाहा!

मिथ्यादृष्टि, जहाँ (जिसे) राग की रुचि है, चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, परन्तु राग की जिसे रुचि है, वह अज्ञानी है और अज्ञानी को राग की रुचि में राग का परिणमन होता है, मिथ्यादृष्टि के कारण, राग की रुचि में, उसकी दशा में होती है। है? **अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय....** यह पुण्य और पाप के भाव जो विकार है, उसकी रुचि में अज्ञानी विकाररूप ही परिणमता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! जैनदर्शन, वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

अज्ञानी का परिणमन और ज्ञानी का परिणमन भिन्न-भिन्न (प्रकार का) है। **अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय है।** आहाहा! यह शुभ-अशुभराग है, उसमें आत्मा का ज्ञान नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु चिदानन्द आत्मा है, तो यह पुण्य—दया-दान-व्रत-भक्ति;

काम-क्रोध के भाव में उस ज्ञान का अंश नहीं, इस कारण पुण्य-पाप के भाव को अज्ञानमय भाव कहा गया है। आहाहा! भाई नहीं आये?

मुमुक्षु : देरी से आयेंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ में आया?

ज्ञानी का ज्ञानमय और अज्ञानी का अज्ञानमय (परिणमन है)। **इसलिए अज्ञानी के क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि सर्व भाव अज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही है।** सूक्ष्म बात है, भाई! (क्या कहते हैं)? जिसकी दृष्टि अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप के ऊपर नहीं है और व्रत, तप, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, भाव के ऊपर दृष्टि है, उस अज्ञानी को क्रोध, मान, व्रत और तप वे सब शुभभाव; क्रोध-मान अशुभभाव है, व्रत-तप शुभभाव है। **इत्यादि समस्त भाव... अज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से....** उस अज्ञानी को वे भाव मेरे हैं, ऐसा मानकर अज्ञानभाव का उल्लंघन नहीं करते। आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, पर है, कर्म जड़ है परन्तु अन्दर में—आत्मा में, जो क्रोध-मान-माया-लोभ विकार अशुभ होता है और व्रत-तप-भक्ति पूजा के शुभभाव होते हैं, उन सबकी 'रुचि' अज्ञानी को है। ये भाव मेरे हैं और मैं इनरूप हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि के कारण, अज्ञानी को शुभ-अशुभभाव समस्त अज्ञान जाति के हैं—अज्ञान जाति का उल्लंघन नहीं करने से, अज्ञानजाति अर्थात् राग, वह अज्ञान है राग में आत्मा नहीं। आहाहा!

शुभ-अशुभ-व्रत-तप के भाव भी शुभराग है, वह कोई धर्म नहीं। आहाहा! उस राग की रुचि में अज्ञानी को, शुभाशुभराग (है, वह) अज्ञानमय जाति का उल्लंघन नहीं करते। उन अज्ञानमय भाव में रहता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात अब। सेठ!

व्रत, तप, भक्ति, पूजा के भाव, शुभराग की रुचि अज्ञानी को हैं। अज्ञानी के रुचि है। होते हैं, परन्तु अज्ञानी को रुचि है, (कि) यह ठीक है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! यह कहते हैं न, देखो 'इसलिए अज्ञानी के क्रोध-मान-व्रत-तप—क्रोध, मान अशुभभाव है, व्रत, तप शुभभाव है (परन्तु) वे समस्त भाव अज्ञान जाति के हैं। आहाहा! वह विकारभाव है, वे सब अज्ञान जाति के हैं, आत्मा का ज्ञान उसमें है नहीं, वह तो विकार

है—विभाव है—अशुद्ध है। अशुद्धभाव में अज्ञानी को प्रेम और रुचि है, उसे स्वभाव की दृष्टि है नहीं। मैं ज्ञान और आनन्द हूँ, ऐसा भान तो है नहीं। वह अज्ञानी, अपने शुभ-अशुभभाव की जाति का उल्लंघन नहीं करता—वह शुभ-अशुभभाव मेरा है, ऐसा मानकर परिणमता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। लोगों को कठिन लगे, क्या हो?

अनन्त काल में—अनन्त... अनन्त... अनन्त... काल से, (जिसकी आदि नहीं ऐसे) अनादि काल से शुभ-अशुभभाव तो अनन्त बार किये हैं, वह तो रागभाव है, वह आत्मभाव नहीं, वह स्वभावभाव से विरुद्ध भाव है तो अज्ञानियों को शुभ-अशुभ का प्रेम होने से, अज्ञान जाति को वह उल्लंघन नहीं करता—वह अज्ञान जाति को नहीं छोड़ता। आहाहा! अन्दर है या नहीं? कठिन बात, भाई! वीतराग जैनदर्शन, जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ कुन्दकुन्दाचार्य गये थे संवत् ४९, दो हजार वर्ष पहले दिगम्बर मुनि कुन्दकुन्दाचार्य। वहाँ से आकर यह सन्देश लाये। आहाहा!

(कहते हैं) कि अज्ञानी, अपने शुभ-अशुभभाव की रुचिवाला, वह शुभ-अशुभभाव अज्ञानभाव है, वह आत्मस्वभाव नहीं, तो अज्ञानी, अपने अशुभभाव को और शुभभाव की रुचि को नहीं छोड़ता तो अज्ञान जाति को नहीं छोड़ता। है या नहीं सेठ?

मुमुक्षु : आपने देखा है तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अर्थ हजार वर्ष, दो हजार वर्ष पहले के हैं। आहाहा!

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'—पंच महाव्रत लिये, पाँच समिति-गुप्ति आदि (सब) व्यवहार किया, परन्तु वह तो सब राग है। आहाहा! राग की रुचि से मुझे धर्म होगा, ऐसा अज्ञानी राग की अज्ञान जाति को छोड़ता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! है या नहीं? क्रोध, मान और व्रत, तप सब विकल्प हैं—राग हैं सब। आहाहा! इत्यादि समस्त भाव असंख्य प्रकार के शुभभाव और असंख्य प्रकार के अशुभभाव—समस्त भाव, अज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से, वह अज्ञान की जाति है वे सब, अज्ञानी उसे छोड़ता नहीं। अज्ञानमय ही है—उसके तो सब भाव अज्ञानमय ही है। आहाहा!

और ज्ञानी के समस्त भाव, ज्ञानमय जाति का उल्लंघन न करने से.... धर्मी के भाव आनन्दमय-ज्ञानमय-शान्तमय-अविकारमय ऐसे भाव होने से उन ज्ञानमय भाव को वह उल्लंघन नहीं करता। ज्ञानमय भाव को छोड़कर अज्ञानभाव (को) अपना नहीं मानता। आहाहा! ऐसी बातें! ऐई! है?

परन्तु, यह तुम्हारे करोड़पतियों को तो इसमें सूझ पड़ती नहीं कि यह क्या कहते हैं? धूल के पति सब हैं न करोड़पति। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, तप, वे भाव राग हैं और उसकी रुचिवाले उस राग को छोड़ते नहीं, वह अज्ञान जाति के भाव हैं, ऐसा कहते हैं। ऐ... सेठ! आहाहा!

मुमुक्षु : वे सब अपनी मान-बड़ाई के लिये करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान-बड़ाई के लिये नहीं, (परन्तु) वह विकारभाव मेरा है, ऐसा मानते हैं, बस! आहाहा!

आत्मा तो निर्विकारी सच्चिदानन्द प्रभु है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो'—यह तो चैतन्यस्वरूप भगवान सिद्धस्वरूपी अन्दर है, उसकी दृष्टि की खबर नहीं—उसके ज्ञान की खबर नहीं, तो उससे विरुद्ध जो पुण्य-पाप के भाव की खबर और रुचि करता है, इसलिए अज्ञान जाति के भाव को छोड़ता नहीं। आहाहा!

ज्ञानी को, अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से, उसमें राग आता है परन्तु राग का ज्ञाता-दृष्टा रहकर, (अपने) ज्ञान में, दर्शन में, प्रतीति में और आनन्द में रहता है। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानी, ज्ञानजाति के सम्यग्ज्ञान-सम्यग्श्रद्धा-सम्यक्शान्ति-वीतरागता (आदि) वह ज्ञानजाति के भाव हैं, उस ज्ञानजाति के भाव ज्ञानी छोड़ते नहीं, उल्लंघन नहीं करते, उसे उल्लंघकर राग—अज्ञानभाव को प्रेम नहीं करते। आहाहा!

मुमुक्षु : बाह्य प्रवृत्ति तो ज्ञानी-अज्ञानी की एक सरीखी होती है, तो उसकी पहिचान किस प्रकार करें?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाह्य प्रवृत्ति समान, परन्तु अन्दर की दृष्टि का अन्तर है।

समकिती (ज्ञानी) हो चक्रवर्ती के राज्य का राग दिखता हो, परन्तु अन्दर दृष्टि में अन्तर है। वह राग, राग मेरी चीज़ नहीं; मैं तो आनन्द—सच्चिदानन्द प्रभु हूँ, ज्ञायक सहजानन्द, चिदानन्द, सहजात्मस्वरूप परमात्मा ज्ञायकभाव, वह मैं हूँ। मैं पर्याय जितना भी नहीं, राग मैं नहीं, पुण्य-पाप-दया-दान वह मेरी चीज़ नहीं, ऐसा चक्रवर्ती का राग है, परन्तु सम्यग्दृष्टि अपने को ऐसा (ज्ञायकभावस्वरूप) मानता है। आहाहा! और अज्ञानी, त्यागी हुआ, साधु नाम धराकर, परन्तु अन्दर में पुण्य के जो भाव हैं व्रत, तप के, वे मेरे हैं, मेरा कर्तव्य है राग मुझे कल्याण का शरण है, ऐसा मिथ्यादृष्टि यह भाव करता है। आहाहा! है? कुन्दकुन्दाचार्य के वचन हैं। भगवान समवसरण में विराजते हैं, उनके यह वचन—(वहाँ से) आये हैं। है?

ज्ञानमय ही—मात्र—**ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानजाति का उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही है....** इसके लिये तो ज्ञानयुक्त कहा, अज्ञानमय। है अज्ञानी के इसलिए उसके समस्त भाव अज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही है।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं... कलश है, कलश अमृतचन्द्राचार्य मुनि। यह गाथा कुन्दकुन्दाचार्य की है (उन्हें) दो हजार वर्ष हुए, वे दिगम्बर मुनि जो भगवान (सीमन्धरनाथ) के निकट गये थे, आठ दिन रहे थे, (यह) उनकी गाथा है। और उनके बाद हजार वर्ष में अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त हुए, उनकी यह टीका है, उनका यह कलश है।

कलश—६७

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(अनुष्टुप्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते।।६७।।

श्लोकार्थ : [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे भावाः] समस्त भाव [ज्ञाननिर्वृत्ताः हि]

ज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं [तु] और [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [सर्वे अपि ते] समस्त भाव [अज्ञाननिर्वृत्ताः] अज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं।।६७।।

कलश - ६७ पर प्रवचन

६७ श्लोक।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते।।६७।।

श्लोकार्थ :-**ज्ञानी...** अर्थात् धर्मी के **समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं...** मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ—आनन्द हूँ—शान्ति हूँ—वीतराग हूँ, ऐसे भाव ज्ञानी को होते हैं। आहाहा! चाहे तो चौथे गुणस्थान में समकिती हो, परन्तु उसे तो श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति वीतराग परिणाम हैं, वह उसकी जाति है। आहाहा! है? ज्ञानी के तो समस्त भाव—समस्त भाव ज्ञान से रचित होते हैं। ज्ञान से रचित—शान्ति से रचित—वीतरागभाव से रचित—आनन्द से रचित भाव होते हैं। आहाहा! उसका नाम ज्ञानी अथवा धर्मी कहते हैं।

अज्ञानी के समस्त भाव अज्ञान से रचित होते हैं... अज्ञानी के सर्व भाव—चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप करता हो, परन्तु वह सब राग और अज्ञानमय है, उसे अपना मानकर उसमें पड़ा है, सब अज्ञान जाति के भाव हैं। आहाहा!

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं... अब कुन्दकुन्दाचार्य दृष्टान्त कहते हैं।

गाथा-१३०-१३१

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते -

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अय-मयया भावादो जह जायंते दु कडयादी।।१३०।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाण-मया सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

कनक-मयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः।।१३०।।

अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवन्ति।।१३१।।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जाम्बूनदमयाद्भावाज्जाम्बूनदजातिमनतिवर्तमाना जाम्बूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुः, न पुनः कालायसवलयादयः, कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुः, न पुनर्जाम्बूनदकुण्डलादयः।

तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वय-मज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनर्ज्ञानमया, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनति-वर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुः, न पुनरज्ञानमयाः।।१३०-१३१।।

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं:-

ज्यों कनकमय को भाव में से कुण्डलादिक ऊपजे,
पर लोहमय को भाव से कटकादि भावों नीपजे;।।१३०।।

त्यों भाव बहुविध ऊपजे अज्ञानमय अज्ञानि के,
पर ज्ञानि के तो सर्व भावहि ज्ञानमय निश्चय बने।।१३१।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] स्वर्णमय भाव में से [कुण्डलादयः भावाः] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [अयोमयकात् भावात्] लोहमय भाव में से [कटकादयः] लोहमय कड़ा इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं, [तथा] उसी प्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानी के (अज्ञानमय भाव में से) [बहुविधाः अपि] अनेक प्रकार के [अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानी के (ज्ञानमय भाव में से) [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवन्ति] होते हैं।

टीका : जैसे पुद्गल स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे कार्य होने से, सुवर्णमय भाव में से सुवर्णजाति का उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं, किन्तु लौहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते, और लौहमय भाव में से, लौहजाति का उल्लंघन न करते हुए लौहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं, किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसी प्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होने से, अज्ञानी के–जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव है उसके–अज्ञानमय भाव में से, अज्ञानजाति का उल्लंघन न करते हुए अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं; किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते, तथा ज्ञानी के–जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव हैं उसके–ज्ञानमय भाव में से, ज्ञान की जाति का उल्लंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमय भाव ही होते हैं; किन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते।

भावार्थ : 'जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है' इस न्याय से जैसे लोहे में से लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्ण में से सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होने से उसके (अज्ञानमय भाव में से) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होने से उसके (ज्ञानमय भाव में से) ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अज्ञानी के शुभाशुभभावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि (–ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं, तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं हैं, वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं–वह

भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसारपरिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है, और यद्यपि उदय की बलवत्ता[१] से परिणमता है, तथापि ज्ञातृत्व का उल्लंघन करके परिणमता नहीं है; ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है, इसलिए वह क्रोधादिभावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इस प्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।।१३०-१३१।।

गाथा-१३०-१३१ पर प्रवचन

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अय-मयया भावादो जह जायंते दु कडयादी।।१३०।।

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाण-मया सव्वे भावा तहा होंति।।१३१।।

नीचे हरिगीत

ज्यों कनकमय को भाव में से कुण्डलादिक ऊपजे,
पर लोहमय को भाव से कटकादि भावों नीपजे;।।१३०।।

त्यों भाव बहुविध ऊपजे अज्ञानमय अज्ञानि के,
पर ज्ञानि के तो सर्व भावहि ज्ञानमय निश्चय बने।।१३१।।

टीका है, इसकी टीका! **जैसे पुद्गल (द्रव्य)....** यह जड़द्रव्य है—पुद्गल, **स्वयं परिणामस्वभावी है तथापि....** पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमने के स्वभाववाला है—

१. सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्य के प्रति ही होती है; उनकी कभी रागद्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती। उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते, इस कारण उन भावों को 'कर्म की बलवत्ता से होनेवाले भाव' कहने में आते हैं। इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र भी जोर कर सकता है', परन्तु ऐसा समझना कि 'विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्मद्रव्यरुचि में किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है-ऐसा आशय बतलाने के लिये ऐसा कहा है।' जहाँ जहाँ 'कर्म की बलवत्ता', 'कर्म की जबरदस्ती', 'कर्म का जोर' इत्यादि कथन हो, वहाँ वहाँ ऐसा आशय समझना।

प्रत्येक पुद्गल अपने परिणाम स्वभाववाला है। परिणमन करना—बदलना, ऐसा स्वभाव है। तथापि **कारण जैसे कार्य होते हैं इसलिए...** बदलता है परन्तु कारण जैसे कार्य होते हैं। क्या? कि **सुवर्णमय भाव में से सुवर्णजाति का उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं....** सोने के गहने होते हैं, वे सुवर्णमय है। दागीना को क्या कहते हैं? जेवर। सुवर्ण के जेवर सुवर्णमय होते हैं। है? **सुवर्णमय भाव में से, सुवर्णजाति का उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं...** 'कारण जैसा कार्य' सोने में से यह उपादान जैसा कार्य। सोना है, उसमें से कुण्डल आदि स्वर्ण के होते हैं। है? **किन्तु लोहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते।**

सोने में से सोनेमय भाव होते हैं। सोने में से लोहखण्डमय भाव नहीं होते। लोहा-लोहा। आहाहा! सोने के कुण्डल आदि भाव होते हैं, वे स्वर्णमय ही है **किन्तु लोहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते और लोहमय भाव में से, लोह जाति का उल्लंघन न करते हुए लोहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं।** आहाहा! 'कारण जैसा कार्य'—स्वर्ण कारण है तो उसका कार्य स्वर्णमय है। लोहा कारण है तो उसका कार्य कड़ा इत्यादि लोहमय ही है।

यह तो दृष्टान्त दिया भगवान कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त (ने)। आहाहा! है? **परन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते....** स्वर्णमयभाव में से सोने के कड़े आदि होते हैं, वे लोहमय नहीं (और सुवर्णमय है) और लोहमय भाव में से लोहा ही होता है, सुवर्ण नहीं होता। समझ में आया? अभी तो (यह) दृष्टान्त है—सोने में से सोने की जाति के जेवर बनते हैं, (वे) लोहमय नहीं होते और लोहे में से लोहे की जाति के उत्पन्न होते हैं, (वे) सुवर्णमय नहीं होते। यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी.... आहाहा! जैसे पुद्गल बदलने के स्वभाववाला होने पर भी—सोना है, (वह) सुवर्णरूप परिणमता है और लोहा है, (वह) लोहेरूप परिणमता है। लोहा है, वह स्वर्णमयपने परिणमता नहीं और सोना है, वह लोहमयपने परिणमता नहीं। इसी प्रकार जीव परिणमनस्वभाववाला है। है? **(जीव) परिणमन स्वभाववाला होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होने से, अज्ञानी के—जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव है उसके—** अज्ञानी के तो सब (भाव) राग-पुण्य-

दया-दान-व्रत-भक्ति-काम-क्रोध, अज्ञानमय भाव की जाति के हैं। आहाहा!

लोहे में से लोहे के गहने होते हैं, ऐसा कहा न? उसी प्रकार अज्ञानी, अपने त्रिकाल आनन्दस्वरूप का भान नहीं होने से, उस अज्ञानी को राग होता है—शुभाशुभ, वह शुभ-अशुभराग का अज्ञानमय भाव उसे होता है। अज्ञानी को अज्ञानमय शुभाशुभभाव होता है। लोह में से लोहे की चीज़ें होती हैं; इसी प्रकार अज्ञानी को, अज्ञानमय भाव में से पुण्य-पाप के भाव अज्ञानमय भाव होते हैं। आहाहा!

ऐसे का ऐसा समय गँवाया है सेठ! जिन्दगी में निर्णय किया नहीं? सेठ को उलहाना देते हैं! पैसा और इसमें! यह चीज़—यह भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह दृष्टान्त तो कैसा है, देखो न! सोने में से सोने के सब दागीना-जेवर होते हैं। लोहे में से लोहे के गहने होते हैं। लोहे में से सोने के (गहने) होते हैं? सोने में से लोहे की (चीज़ें) होती हैं? इसी प्रकार अज्ञानी को अज्ञान जाति—राग और पुण्य-पाप के भाव, अज्ञान हैं, वे भाव, ऐसे (भाव) उत्पन्न होते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो दोनों की जाति ही अलग-अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों जाति ही अलग है, यह तो बताते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात भाई!

वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ के कथन कोई अलौकिक है। कहीं अन्यत्र यह बात है नहीं, दूसरे मार्ग में ऐसी चीज़ कहीं है नहीं। आहाहा! कैसा दृष्टान्त! कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं दृष्टान्त दिया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने दृष्टान्त दिया है कि सोने में से सोने की जाति के आभरण (गहने) होते हैं। लोहे में से लोहे के तवा आदि होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी को, आहाहा! अपने चिदानन्दस्वरूप का भान नहीं—श्रद्धा नहीं—ज्ञान नहीं और पुण्य और पाप (के भाव की) रुचि का भाव है, इसलिए अज्ञानी को अज्ञानमय पाप-पुण्य के भाव उत्पन्न होते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात पड़े, भाई! आहाहा! अरे! दुनिया को निवृत्ति कहाँ? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। एक तो मानो पूरे दिन पाप, उसमें भी निवृत्ति मिले तो सुनने जाये, (वहाँ) इसे सच्चा सुनने को भी नहीं मिलता। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ की आज्ञा या हुकम से, सन्त भगवान की बात आढ़तिया होकर करते हैं। माल तो भगवान का है। भगवान ऐसा कहते हैं कि अज्ञानी को अज्ञानमय भाव होते हैं। लोहे में से (लोहे के) आभरण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी को पुण्य और पाप की रुचिवाले को शुभ और अशुभभाव के प्रेमी को, सब शुभ-अशुभभाव अज्ञानमय होते हैं। आहाहा! भाषा तो सादी है न, प्रभु! परन्तु सूक्ष्म बात, भाई! अनन्त काल में इसने कभी सत्य लिया ही नहीं। ऐसे का ऐसा अनादि काल से पुण्य और पाप की रुचि करके उसमें धर्म हो जायेगा, (ऐसा माना है)। दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभभाव में धर्म हो जायेगा, ऐसा अज्ञानी अनादि से मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ग्यारह अंग पढ़े तो भी वह पुण्य से धर्म होगा, ऐसा थोड़े ही कहे?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! ग्यारह अंग पढ़ा हो तो भी ऐसा मानता था।

मुमुक्षु : प्ररूपणा तो ऐसी नहीं करता कि पुण्य से धर्म होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य से धर्म नहीं होगा, ऐसा कहे, परन्तु अन्दर में दृष्टि में (अभिप्राय में) अन्तर है। आहाहा! बाहर से कहता हो ग्यारह अंग पढ़ा है वह (परन्तु) अन्दर से परिणमन में अन्तर है।

मुमुक्षु : अन्दर की बात तो केवली जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : केवली जाने नहीं, आत्मा जाने। केवली जाने... केवली जाने... प्रत्यक्ष प्ररूपणा करता है कि राग से धर्म होता है, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा (के भाव से) धर्म होता है। प्रत्यक्ष अज्ञान है, (वह क्या) देखने की चीज़ है? आहाहा! समझ में आया? यह तो स्थूल अज्ञान है। सूक्ष्म तो अन्दर में राग की रुचि रहना और स्वभाव आनन्द की रुचि का नाश करना, इसका नाम अज्ञान है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! समयसार है। भगवान के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि! परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव के श्रीमुख से निकले हुए प्रवचन 'समयसार'—आत्मा का सार। आहाहा!

तो कहते हैं, क्या कहा? देखो! **अज्ञानी को—जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव है उसके—अज्ञानमय भाव में से अज्ञान जाति का उल्लंघन न करते हुए...** आया न? क्या कहा? अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय जाति का उल्लंघन न करते हुए; अज्ञानमय भाव

ही होते हैं। **अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं।** आहाहा! जिसे शुभ-अशुभभाव, पुण्य-पाप का प्रेम है—रुचि है, वह अज्ञानी। उस अज्ञानी के सभी अज्ञानमय भाव पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं, जाति-विकारी जाति उत्पन्न होती है। उसे धर्म उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! है या नहीं अन्दर?

आहाहा! यह तो दो हजार वर्ष पहले की बात है। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त, भगवान के पास गये थे और (वहाँ से) आकर यह शास्त्र रचे हैं। लोगों को अर्थ की खबर नहीं, स्वयं को निवृत्ति नहीं और ऐसी की ऐसी जिन्दगी अनादि-अज्ञान में व्यतीत करता है। आहाहा! यह क्या (कौन सा) अज्ञानमय भाव है, अज्ञानमय भाव में से अज्ञान जाति के ही भाव करता है और अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव होते हैं, परन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होता। दृष्टान्त दिया था न, सोने में से सोने के ही आभरण होते हैं, और लोहे के नहीं; इसी प्रकार अज्ञान में से अज्ञानमय ही भाव होते हैं—लोहे में से लोहे के ही भाव होते हैं, सोने के नहीं।

अज्ञानी, अज्ञानभाव को उल्लंघता नहीं, अज्ञानी को ज्ञानभाव होता नहीं, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के भाव उसे नहीं होते। पुण्य के प्रेमी को—मिथ्यादृष्टि को पुण्यभाव का प्रेम है तो विकार ही उत्पन्न होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि सुलटा कैसे बने?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहते हैं कि विपरीत दृष्टि बदल दे—राग की रुचि है (वह दृष्टि) छोड़कर, आत्मा आनन्द पूर्णानन्द प्रभु है—ज्ञायक है—शुद्धचैतन्यघन है, उसकी दृष्टि कर तो... गुलाँट खायेगा। आहाहा! सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं कि भूतार्थ त्रिकाली शुद्ध चिदानन्द प्रभु के आश्रय से जो दृष्टि हो, वह सम्यग्दर्शन है। और राग तथा पुण्य-पाप की दृष्टि है, वे मेरे हैं, (ऐसा माननेवाला) वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! असत्य दृष्टि—झूठी दृष्टि। आहाहा!

तो अज्ञानी में अज्ञानमय भाव होते हैं, **किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते तथा ज्ञानी के—जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव है....** धर्मी जीव को तो मैं आनन्द और ज्ञान—आनन्दस्वरूप हूँ—मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, राग और पुण्य वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा!

पुण्य-पाप या यह बाहर धूल-मिट्टी है, वह तो मैं नहीं। पुण्य से यह पैसा मिले-धूल, वह तो मैं नहीं, परन्तु अन्दर में पुण्य-पापभाव होता है, वह भी मैं नहीं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! अनन्त काल (व्यतीत हुआ)...

अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान।
सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।

अभिमान छोड़ा नहीं, सन्त क्या है (भाई)? सच्ची बात कौन कहते हैं? इसे खबर नहीं। आहाहा!

ज्ञानमय, **ज्ञानी के जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव है....** धर्मी को तो ज्ञाता-दृष्टा, शान्ति-आनन्द और वीतरागता (के) भाव हैं। समझ में आया? उसके **ज्ञानमय भाव में से ज्ञान की जाति का उल्लंघन न करते हुए....** वह ज्ञाता-दृष्टा शान्ति और आनन्दादि उस भाव का धर्मी उल्लंघन नहीं करता और (जो) उल्लंघन करता है और राग को अपना मानता है, (वह अज्ञानी है।) ज्ञानी ऐसा मानता नहीं। आहाहा! तो फिर यह तुम्हारे पैसे-बैसे तो कहीं बाहर रह गयी धूल। यह तो पुण्य-पाप के भाव मेरा माने नहीं, वह ज्ञानी है।

मुमुक्षु : पैसे से तो बड़े काम चलते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी चलते नहीं, बड़े (मानता है)। मिट्टी है—धूल, वह तो पुद्गल है। पुद्गल से पुद्गल की परिणति होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे से तो प्लेन में आते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? कौन आता है? अपने कारण से आता है। पैसे के कारण से (नहीं)। कुछ इस शरीर की गति होती है, ऐसे प्लेन से शरीर आता है, वह अपनी क्रिया से आता है। आहाहा! कठिन बात, भाई! आत्मा भी प्लेन में जाता है, वह अपनी क्रिया (वती) शक्ति की गति होने से वह जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : क्रियावतीशक्ति के कारण से आत्मा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रिया (वती) अपनी शक्ति है, पर की क्या शक्ति है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! दुनिया में तो अभी, इतनी चलती है (अहंकार की) कि

बहुत सब उल्टी-गड़बड़। निवृत्ति नहीं होती धन्धे के कारण और सुनने कहीं जाये, घण्टे भर सुने तो कहे सामने जय नारायण! सत्य और असत्य में क्या अन्तर है, उसका मिलान कैसे है, वह (समझने की) दरकार नहीं और उसे दो-पाँच-पच्चीस लाख, करोड़, दो करोड़ (रुपये) मिले हों तो हो गया। जाओ मैं चौड़ा और गली सकड़ी हो गयी। मैं बड़ा हो गया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वभाव के कारण राग की रुचि के कारण उसके सब मिथ्यात्वभाव-राग आदि के भाव उसे उत्पन्न होते हैं और ज्ञानी को आत्मा की रुचि है—आनन्द की रुचि है, राग की रुचि नहीं। (राग की रुचि छूट गयी है), इसलिए धर्मी को तो आनन्द और ज्ञान परिणति आती है, वह ज्ञान और शान्ति की परिणति को उल्लंघकर राग की परिणति को अपनी नहीं मानते। आहाहा! कठिन काम लगे—कठिन लगे, ऐसा है, बापू! और एकान्त लगे। (यह एकान्त है परन्तु) सम्यक् एकान्त यह ही है। आहाहा! अरे! अनन्त काल... अनन्त काल व्यतीत हुआ चौरासी के अवतार, स्वर्ग में अनन्त बार गया, नौवें ग्रैवेयक स्वर्ग में अनन्त बार गया तो वह कहीं पुण्य करके गया होगा या पाप करके? नौवें ग्रैवेयक!

'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'—मुनिव्रत लिया—पंच महाव्रत पालन किये परन्तु वह तो राग है, आस्रव है—दुःख है। आहाहा! उससे स्वर्ग मिले, स्वर्ग में से निकलकर तिर्यंच में (जन्मकर) पशु में जायेगा, पशु नरक में जायेगा। आहाहा! और ज्ञानी समकिती, आत्मज्ञान हुआ हो, श्रेणिक राजा, पहले नरक का आयुष्य बँध गया था, पश्चात् यह सम्यग्दर्शन हुआ (कि) मैं राग नहीं, मैं तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्द हूँ, तो नरकगति का आयुष्य लम्बा था, वह छूटकर घट गया, (पहले) तैंतीस सागर की स्थिति का (था, वह घटकर) चौरासी हजार वर्ष (की स्थिति) रह गयी। क्षायिक समकिती—आत्मज्ञानी, राग की रुचि छूट गयी—राग, वह मेरी चीज़ नहीं; मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ, ऐसी दृष्टि में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति रह गयी तो नरक में गये हैं परन्तु हैं समकिती और तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। भविष्य में आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर होंगे। आहाहा! यह आत्मज्ञान और आत्मदर्शन के प्रताप से है।

और.... आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन बिना—आत्मा के भान बिना जितनी पुण्यादि

क्रियायें करे, उन सभी क्रिया से स्वर्ग में जायेगा, कदाचित् वहाँ से निकलकर यह करोड़पति-अरबपति, यह सेठिया धूल का। सेठ कहते हैं, ऐसा होगा। वह वहाँ से मरकर नरक में जायेगा या ढोर में—पशु में जायेगा! आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

मुमुक्षु : सब ही निष्फल!

पूज्य गुरुदेवश्री : निष्फल नहीं, परन्तु सफल-सफल है। पाप (भाव) किये हैं, वे सफल हैं—पाप किया है, वह सफल है—नरकयोनि में मिलेगी, आहाहा! और कोई पुण्य किया होगा तो 'ऐरण की चोरी और सुई का दान'—उसकी क्या गिनती आयी? धर्म यदि किया होगा स्वयं ने.... आहाहा!

मैं तो आनन्दस्वरूप, पुण्य और पाप तथा पाप क्रिया से भिन्न मेरी चीज़ (आत्मा) है। मेरी चीज में तो पुण्य-पाप भी नहीं और पुण्य-पाप का कर्ता भी मैं नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि ज्ञानी की होती है तो ज्ञानी की जाति में सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं। उसमें अज्ञानमय राग आदि भाव होते नहीं। धर्मी को राग आता है, कहेंगे, अभी कहेंगे अज्ञानमय भाव नहीं होते। है? भावार्थ है न?

भावार्थ :- **जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है....** कारण जैसा ही यहाँ कार्य होता है, उपादान जैसा होता है, वैसा कार्य होता है। **इस न्याय से जैसे लोहे में से लोहमय कड़ा...** लोह में से लोहमय कड़ा **इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्ण में से सुवर्णमय आभूषण होते हैं...** लो! आभूषण तो कहते हैं। **इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होने से उसके (अज्ञानमय भाव में से) अज्ञानमय भाव ही होते हैं....** उसे तो राग की रुचि है, पुण्य की रुचि दया-दान-व्रत आदि, वह तो अज्ञान है, इसलिए (उसे) सभी भाव अज्ञानमय ही उत्पन्न होते हैं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! आहाहा!

अनन्त काल... अनन्त-अनन्त काल व्यतीत हो गया, चौरासी लाख योनियों में अनन्त बार अवतार लिये, स्वर्ग में भी अनन्त बार गया, नरक की योनियों में अवतार से स्वर्ग के अवतार असंख्यगुने अनन्त किये। पुण्य किये तो स्वर्ग में गया, परन्तु उसमें क्या हुआ? धर्म तो नहीं हुआ। राग की रुचि से पुण्य किया तो वहाँ गया और राग की रुचि छोड़कर मैं तो आनन्द हूँ—ज्ञाता हूँ, ऐसी दृष्टि की नहीं। आहाहा! सूक्ष्म है। है?

ज्ञानमयभाव होता है। अज्ञानी को शुभ-अशुभभाव में... देखो! अज्ञानी का स्पष्टीकरण (कि) **अज्ञानी को शुभाशुभभावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही है।**

मिथ्यादृष्टि राग का प्रेम है। जिसे राग की रुचि है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का राग परन्तु उसकी रुचि है, वह अज्ञानी है। शुभ-अशुभभावों में शुभ और अशुभभाव में आत्मबुद्धि होने से—वह मेरी चीज़ है, ऐसा आत्मबुद्धि से मानता है। नौ तत्त्व में यह पुण्य-पापतत्त्व भिन्न है और भगवान आत्मा भिन्न ज्ञायकतत्त्व है। **अज्ञानी को....** मिथ्यादृष्टि को अनादि से **शुभाशुभभावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही है।**

अविरत सम्यग्दृष्टि.... अब अब चौथे गुणस्थान में। अविरत सम्यग्दृष्टि को अभी व्रत-तप आये नहीं, निश्चय व्रत, हों! व्रत समकित बिना के तो अनन्त बार किये। वह कोई वस्तु नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन के बाद के चारित्र कि जो स्वरूप रमणता आनी चाहिए, वह नहीं तो **सम्यग्दृष्टि के यद्यपि चारित्र मोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं।** क्रोध, राग आदि आता है। **तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है।** आहाहा! धर्मी को राग आता है, परन्तु धर्मी को राग में आत्मबुद्धि नहीं है। मेरी चीज़ नहीं है, ऐसा मानता है। आहाहा! **वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है...** शुभ-अशुभभाव आते हैं, परन्तु पर के निमित्त से वह उपाधि है। वह मेरी चीज़ नहीं। मेरी चीज़ हो, वह विकारी नहीं होती; निर्विकारी, वह मेरी चीज़ है। आहाहा!

उसे क्रोधादि कर्म उदय में आकर खिर जाता है। धर्मी को अन्तर आत्मदृष्टि है। आनन्द और ज्ञानमय मैं हूँ, ऐसी दृष्टि के कारण, क्रोधादिभाव होते हैं परन्तु वे खिर जाते हैं। उन भाव में अपना स्वामित्व नहीं मानते। आहाहा! उन भाव में आत्मबुद्धि नहीं है। **वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादि कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं, वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता....** थोड़ा राग आता है, धर्मी को थोड़ा बन्ध भी होता है। बाकी तो ज्ञाता-दृष्टा का भाव विशेष है। आहाहा! इसलिए थोड़ा रस पड़ता है, है? **वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े।**

संसार परिभ्रमण बढ़े, ऐसे भाव ज्ञानी को नहीं आते। आहाहा! ऐसा बन्ध भी नहीं होता। थोड़ा राग आता है, जानता है कि मेरी चीज़ में मेरी कमजोरी है परन्तु मेरा कर्तव्य नहीं। वह मेरी चीज़ नहीं तो उसे जरा राग के कर्म में स्थिति-रस पड़ता है परन्तु अनन्त संसार बढ़े, ऐसा नहीं होता। आहाहा! है? **क्योंकि ज्ञानी स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादि भावरूप परिणमता नहीं है....** पुरुषार्थ करके राग मेरा है, ऐसा मानकर परिणमता नहीं। आहाहा! (राग) मुझे करनेयोग्य है, ऐसा मानकर रागादि करता नहीं। कमजोरी से होते हैं, उन्हें जानता-देखता है। थोड़ा रस पड़ता है परन्तु संसार की वृद्धि नहीं होती। आहाहा!

जिससे संसार बढ़े, ऐसा उद्यम नहीं है। **यद्यपि उदय की बलवत्ता से परिणमता है...** अर्थात् कि अपने पुरुषार्थ में कमजोरी है, उतना कर्म के निमित्त से बलजोरी कहा जाता है। कर्म से हुआ, ऐसा नहीं परन्तु अपनी कमजोरी है। इतना राग समकिती को भी (आता है)। भरत चक्रवर्ती थे। दोनों भाईयों के बीच युद्ध हुआ—बाहुबली और भरतजी के बीच। वे तो समकिती ज्ञानी थे। आहाहा! राग आया, परन्तु राग इतना नहीं आया कि अपने को (भूल जाए) अर्थात् कि यह राग भिन्न है, ऐसा जानते हैं। स्वयं उद्यमी होकर वे रागादि नहीं करते। उदय की बलजोरी का अर्थ नीचे दिया हुआ है। (फुटनोट में नीचे अर्थ है।)

सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्य के प्रति होती है। धर्मी की रुचि शुद्ध आत्मा-सर्वदा शुद्ध आत्मा के प्रति सदा रहती है। राग की रुचि धर्मी को नहीं होती। **उनको कभी राग-द्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती....** आहाहा! कठिन काम, भाई! **उसको जो राग-द्वेषादि भाव होते हैं, वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं....** कहीं कर्म के कारण से नहीं होते, कर्म तो जड़ है। 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई'। पूजा में आता है, पूजा में। 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़ हैं, वे क्या करें? मेरी कमजोरी से मुझमें राग आता है, ऐसा ज्ञानी जानकर उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा!

अज्ञानी राग और द्वेष का स्वामी होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है। धर्मी

अपने स्वरूप को जानकर, राग आता है, उसे अपना नहीं मानकर, अपने स्वरूप को भूलते नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बातें!

शरीर की जड़ अवस्था है, वह तो मिट्टी है। तो मिट्टी-धूल उसकी कैसी अवस्था होना, वह जड़ से होती है, अपने से नहीं। आहाहा! स्वयं ही उद्यमी होकर नहीं परिणमते। हैं, यहाँ नीचे? अपराधी ही है। **फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते।** ज्ञानी को रुचि नहीं, राग की, परन्तु कमजोरी से राग आता है, उसे जानते हैं। **जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र भी जोर नहीं कर सकता है, परन्तु ऐसा समझना कि 'विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्म दृष्टि में किंचित् भी कमी नहीं है....** सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव को आत्मा की रुचि आनन्द की रुचि हुई है। सम्यग्दृष्टि महात्मा की शुद्धात्मद्रव्य रुचि में किंचित् भी कमी नहीं है। **मात्र चारित्रसम्बन्धी निर्बलता है...** राग आता है। **ऐसा आशय बतलाने के लिये ऐसा कहा है कि जहाँ-जहाँ 'कर्म की बलवत्ता' 'कर्म की जबरदस्ती', 'कर्म का जोर' इत्यादि कथन होवे वहाँ-वहाँ ऐसा आशय समझना।** कि पर के कारण से होता नहीं। कर्म तो जड़ है। अपनी कमजोरी से (राग) आता है परन्तु अपने स्वरूप में स्थिर रह नहीं सकते, ज्ञाता-दृष्टा का भान तो है परन्तु स्थिर रह नहीं सकते तो (अस्थिरता) का राग आता है। तो उसे जानते हैं। परन्तु अपना मानकर उसे करते नहीं। आहाहा!

कितनी शर्तें! कितने भाव! भाई! ऐसा है, प्रभु! आहाहा! 'वीर का मारग है शूरों का, कायर का नहीं काम' यहाँ। परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का सम्यग्दर्शन का मार्ग अलौकिक है। आहाहा!

कहते हैं, धर्मी को तो सम्यग्दृष्टि महात्मा की, आहाहा! सम्यग्दृष्टि को महात्मा कहा। आहा! शुद्धात्मद्रव्य रुचि में किंचित् भी कमी नहीं। चारित्र का दोष है। उसे जहाँ-जहाँ कहने में ऐसा आया है, कर्म की बलबत्ता (कही है)। बाकी कर्म की बलवत्ता से होते नहीं। अपने अपराध से होता है। आहाहा!

श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती। श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती (थे)। तीर्थंकर गोत्र बाँधते थे। परन्तु मृत्यु के समय जरा जहरीला हीरा चूसा (और) देह छूट गयी। परन्तु वह तो चारित्र का दोष है। समकित का दोष नहीं। आहाहा! राग की रुचि नहीं

परन्तु राग आया है अस्थिरता का, परन्तु वह दोष चारित्र का है। देह छूटकर नरक में गये। आयुष्य नरक का बँधा था। समकिती हैं। तीर्थंकरगोत्र बाँधा है, वहाँ भी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। आगामी चौबीसी में वहाँ से निकलकर श्रेणिक राजा का जीव समकिती था, व्रत-चारित्र नहीं था परन्तु समकित के प्रताप से भविष्य के पहले तीर्थंकर होंगे। (व्रत-चारित्र नहीं थे तो भी) आगामी चौबीसी में भरतक्षेत्र में पहले तीर्थंकर होंगे। यह समकित की ऐसी महिमा है। और मिथ्यात्व की ऐसी महिमा है कि मुनि होकर भी राग को अपना माने तो वह मिथ्यात्वी मरकर स्वर्ग में जाये परन्तु वहाँ से निकलकर तिर्यंच होकर नरक में-निगोद में जायेगा। आहाहा! समझ में आया? कठिन बात है।

ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है... है? **ज्ञातृत्व का उल्लंघन करके परिणमते नहीं....** धर्मी ज्ञातापने का उल्लंघन करके राग में परिणमते नहीं। आहाहा! कर्ता नहीं। आहा! ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है। आत्मस्वरूप शुद्ध चैतन्य में धर्मी की दृष्टि—सम्यग्दृष्टि की सदा रहती है। उसकी दृष्टि में राग आता नहीं। राग आता है, वह तो उसकी दृष्टि का विषय नहीं। वे **क्रोधादि भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है....** देखो! आहाहा! क्रोध भी आ जाये थोड़ा, लोभ भी आ जाये, तो अन्य द्रव्यों को जैसे जानते हैं, उसी प्रकार उसे जानते हैं। अपने ज्ञानस्वभाव में रहकर राग को जानते हैं। पर—पृथक्रूप से। मेरी चीज़ है, ऐसा वे नहीं मानते। आहाहा! बात गजब बात है, प्रभु!

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की बात समझना, आहाहा! **इस प्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही है।** धर्मी के समस्त भाव, सुवर्ण में से सुवर्ण के ही आभूषण होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही होते हैं। आहाहा! जानना-देखना यह तो उसका भाव है। राग आदि भाव को वह जानता है परन्तु राग अपना है, ऐसा समकिती नहीं मानता और मिथ्यादृष्टि अपने शुद्धचैतन्य को नहीं मानता, वह राग को मानता है और राग की क्रिया से मुझे लाभ होगा, ऐसा मिथ्यादृष्टि वहाँ मानता है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को तो अपने स्वभाव में से मुझे लाभ होगा, शान्ति—वीतरागता—केवलज्ञान भी मेरे स्वभाव में से (ही) आयेगा, किसी बाह्य क्रियाकाण्ड से आयेगा नहीं, ऐसा मानता है। आहाहा! लो!

अब आगे की गाथा का सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं।

कलश–६८

अब आगे की गाथा का सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं :–

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

श्लोकार्थ : [अज्ञानी] अज्ञानी [अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्] (अपने) अज्ञानमय भावों की भूमिका में [व्याप्य] व्याप्त होकर [द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम्] (आगामी) द्रव्यकर्म के निमित्त जो (अज्ञानादि) भाव उनके [हेतुताम् एति] हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है)।।६८।।

कलश- ६८ पर प्रवचन

श्लोक है न, श्लोक। ६८

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

आहाहा! अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि, जिसे राग की रुचि है, चाहे तो पुण्य दया, दान, व्रत, तप का राग है, परन्तु उसकी रुचि है तो वह मिथ्यादृष्टि है, वह अज्ञानी है। आहाहा! कैसे हुआ? बाहर उल्टी हुई। आहाहा! शरीर की स्थिति देखो! यहाँ देखो न! दो-चार-पाँच दिन पहले जवान व्यक्ति, पच्चीस वर्ष की अवस्था, जवान लट्ठ जैसा शरीर, उसके पिता का इकतौला पुत्र, यहाँ बैठे थे। अब उसे एकदम कुछ रोग नहीं होता, (पालीताणा गये)। उसमें रोग हुआ तो दो दिन में देह छूट गयी। पच्चीस वर्ष की जवान अवस्था, लट्ठ जैसा शरीर, यहाँ मेरे साथ सामने बैठा था। गुरुवार को यहाँ बैठा था, शुक्रवार को यहाँ से निकले, रविवार को देह छूट गयी। आहाहा! देह की स्थिति ऐसी है, भाई! मिट्टी-जड़ है। जितनी स्थिति है, उतनी रहेगी, (देह) छूट जायेगी एकदम। रखने से नहीं रहेगी, सम्हालकर (रखने से) रहे नहीं, ऐसा है।

यहाँ कहते हैं, **अज्ञानी (अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्) अपने अज्ञानमय भावों की भूमिका....** अज्ञानी की भूमिका यह पुण्य और पाप मेरे हैं, यही उसकी भूमिका है। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, पुण्य; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय के भाव पाप; अज्ञानी को यह पुण्य-पाप के भाव की भूमिका है। यह पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं, यह उसकी (-अज्ञानी की) भूमिका है। आहाहा!

अज्ञानी अज्ञानमय भावों की भूमिका में व्याप्त होकर (द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम्) आगामी द्रव्यकर्म के निमित्त अज्ञानादि भावों के.... द्रव्यकर्म तो जड़ है, परन्तु उसके निमित्त में अपना जुड़ान होने से, उस द्रव्यकर्म के निमित्त, **अज्ञानादि भावों के हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है)....** जड़कर्म निमित्त है परन्तु विकार करता है तो उसका हेतु बनता है। आहाहा! नये कर्म बँधते हैं अज्ञानी को। ज्ञानी को नये कर्म बँधते नहीं। थोड़ा राग (आता है) तो उतने बँधते हैं, परन्तु वह तो झड़ जायेंगे। थोड़ा है, जितना राग है तो इतना दुःख है— इतना विकार ज्ञानी को भी है। आहाहा! यहाँ दृष्टि की मुख्यता में उसे गौण कर दिया है।

ज्ञानी की दृष्टि से जब लेते हैं तो ज्ञानी को भी राग आता है, उसका दुःख का वेदन (भी) है और जितना परिणमन राग का है, उसके कर्ता भी वे हैं। ज्ञानदृष्टि से कर्ता हैं। परिणमन है, वह मेरा है, तो मैं उसका कर्ता हूँ, परन्तु (राग) करनेयोग्य है, ऐसा वे (ज्ञानी) मानते नहीं। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में अन्तर है, और अज्ञानी की दृष्टि में (राग) करनेयोग्य है, ऐसा मानता है। उसके हेतुपने को प्राप्त करता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप हेतु बनता है)। द्रव्यकर्म का हेतु बनता है, नये बँधते हैं और पुराने को हेतु—नया कर्म बाँधता है, विकार करके (अज्ञानी) नये कर्म बाँधता है, इस अर्थ की गाथायें कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१३२ से १३६

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।

तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदि-भावो वा।।१३४।।

एदेसु हेदु-भूदेसु कम्मइय-वग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठ-विहं णाणावरणादि-भावेहिं।।१३५।।

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणाम-भावाणं।।१३६।।

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम्।।१३२।।

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवे-दविरमणम्।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः।।१३३।।

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा।।१३४।।

एतेषु हेतुभूतेषु कार्मण-वर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादि-भावैः।।१३५।।

तत्खलु जीव-निबद्धं कार्मण-वर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणाम-भावानाम्।।१३६।।

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगो-

दयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः।

अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति।।१३२-१३६।।

इसी अर्थ को पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं :-

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वह अज्ञान का।
अप्रतीत तत्त्व की जीव के जो, उदय वह मिथ्यात्व का।।१३२।।

जीव का जु अविरतभाव है, वह उदय अनसंयम हि का।
जीव का कलुष उपयोग जो, वह उदय जान कषाय का।।१३३।।

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह बरते जीव के वह उदय जानो योग का।।१३४।।

जब होय हेतुभूत ये तब स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरणइत्यादिभावों परिणमे।।१३५।।

कार्मणवरगणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीवपरिणामभावों का तभी हेतु बने।।१३६।।

गाथार्थ : [जीवानाम्] जीवों के [या] जो [अतत्त्वोपलब्धिः] तत्त्व का अज्ञान (-वस्तुस्वरूप का अयथार्थ-विपरीत ज्ञान) है, [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञान का [उदयः] उदय है [तु] और [जीवस्य] जीव के [अश्रद्दधानत्वम्] जो (तत्त्व का) अश्रद्धान है, वह [मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्व का [उदयः] उदय है; [तु] और [जीवानां] जीवों के [यद्] जो [अविरमणम्] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है, वह [असंयमस्य] असंयम का [उदयः] उदय [भवेत्] है [तु] और [जीवानां] जीवों के [यः] जो [कलुषोपयोगः] मलिन (ज्ञातृत्व की स्वच्छता से रहित) उपयोग है, [सः] वह [कषायोदयः] कषाय का उदय है; [तु]

तथा [जीवानां] जीवों के [यः] जो [शोभनः अशोभनः वा] शुभ या अशुभ [कर्तव्यः विरतिभावः वा] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [चेष्टोत्साहः] (मनवचनकाया-आश्रित) चेष्टा का उत्साह है, [तं] उसे [योगोदयं] योग का उदय [जानीहि] जानो।

[एतेषु] ये (उदय) [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होने पर [यत् तु] जो [कार्मणवर्गणागतं] कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं] ज्ञानावरणादिभावरूप से आठ प्रकार [परिणमते] परिणमता है, [तत् कार्मणवर्गणागतं] वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [यदा] जब [खलु] वास्तव में [जीवनिबद्धं] जीव में बँधता है, [तदा तु] तब [जीवः] जीव [परिणामभावानाम्] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावों का [हेतुः] हेतु [भवति] होता है।

टीका : तत्त्व के अज्ञानरूप से (वस्तुस्वरूप की अन्यथा उपलब्धिरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय-जो कि (नवीन) कर्मों के हेतु हैं-वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है; अविरमणरूप से (अत्यागभावरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूप ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है। ये पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत होने पर जो कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होवे, तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है।

भावार्थ : अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है। वे उदय निमित्तभूत होने पर, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं; और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इस प्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना तथा बँधना,

और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना–यह तीनों ही एक समय में होते हैं; सब स्वतन्त्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता।।१३२ से १३६।।

प्रवचन नं. २१७, गाथा-१३२ से १३६, दिनांक ११-०३-१९७९, रविवार, फाल्गुन शुक्ल-१३

समयसार...

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं।।१३२।।

उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ।।१३३।।

तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदि–भावो वा।।१३४।।

एदेसु हेदु–भूदेसु कम्मइय–वग्गणागदं जं तु।
परिणमदे अट्ठ–विहं णाणावरणादि–भावेहिं।।१३५।।

तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणाम–भावाणं।।१३६।।

सूक्ष्म अधिकार है। नीचे हरिगीत।

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वह अज्ञान का।
अप्रतीत तत्त्व की जीव के जो, उदय वह मिथ्यात्व का।।१३२।।

जीव का जु अविरतभाव है, वह उदय अनसंयम हि का।
जीव का कलुष उपयोग जो, वह उदय जान कषाय का।।१३३।।

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह बरते जीव के वह उदय जानो योग का।।१३४।।

जब होय हेतुभूत ये तब स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरणइत्यादिभावों परिणमे।।१३५।।

कार्मणवरगणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीवपरिणामभावों का तभी हेतु बने।।१३६।।

सूक्ष्म भाव है थोड़ा। टीका। टीका है न पाँच गाथा की। **तत्त्व के अज्ञानरूप से (वस्तुस्वरूप की अन्यथा उपलब्धिरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है)....** आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। उसके अभाव से कर्म का उदय जो होता है, वह अज्ञानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है। वह कर्म का उदय है, वह अज्ञान का उदय है। पाप का बाद में कहेंगे। परन्तु जो अज्ञान का उदय है कर्म का, वह बन्ध का कारण है। कब? वह अपने परिणाम विकारी परिणाम का हेतु आत्मा बने तब। तीन भाव हैं। सूक्ष्म बात है थोड़ी। गाथा इस बार कठिन आ गयी?

तत्त्व का अज्ञान—आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी जिसे दृष्टि का अभाव है। उसको वस्तुस्वरूप की अन्यथा उपलब्धि ज्ञान में स्वादरूप होती थी, वह अज्ञान का उदय है। वह जड़ का उदय है। उसका स्वाद आता है अज्ञानमय। आहाहा! आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, परन्तु उसकी रुचि अनादि से है नहीं। वह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, सुखस्वरूप है। अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उसकी रुचि का अभाव अनादि से है, अतत्त्व की रुचि है। कर्म का उदय है। वह अतत्त्व-अतत्त्व की रुचि, वह अज्ञानभाव है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म है प्रवीणभाई! सूक्ष्म बात है, तुम्हारे वहाँ वे पत्थर की अपेक्षा। नरेन्द्रभाई! कल गये भाई! दो आये आज आये। आहाहा!

क्या कहते हैं? **तत्त्व के अज्ञानरूप से...** वस्तु भगवान आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द -स्वरूप है, उसका भान नहीं होने से अपनी पर्याय में कर्म के उदय का जो स्वाद आता है, वह अज्ञान है। आहाहा! वह ज्ञान नहीं, आत्मा का ज्ञान नहीं, वह पराधीन दुःखरूप है। आहाहा! है? उसके चार प्रकार हैं। अतत्त्व का उदय जो जड़ का है, उसके चार प्रकार—**मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय—जो कि (नवीन) कर्मों के हेतु हैं...** वह पुराने कर्म है, वह नवीन कर्म के हेतु हैं। कब? जब अज्ञानी राग, द्वेष और मिथ्यात्वभाव करता है तब। पुराने कर्म जो हैं, वे नये कर्म के बन्ध के कारण हैं। कब? आत्मा का स्वभाव जो है, उसकी रुचि का अभाव है जिसे और पुण्य-पाप का प्रेम है।

शुभ-अशुभराग का प्रेम है, वह मिथ्यादृष्टि जीव के परिणाम नये बन्धन में निमित्तरूप—हेतुरूप होते हैं। आहाहा!

पुराने कर्म उदय में आते हैं स्वतन्त्र और नये बँधते हैं, वे भी स्वतन्त्र और उसमें आत्मा के विकारी परिणाम निमित्त होते हैं, वे भी स्वतन्त्र। ऐसा (समझने को) कहाँ निवृत्ति है? निवृत्ति लेकर यह तत्त्व क्या है? सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं? (यह समझना चाहिए)। आहाहा!

आत्मा में अतत्त्व—रुचि जो उत्पन्न होती है, वह वास्तव में तो कर्म का उदय है। उदय है, वह तत्त्व का अरुचिभाव है परन्तु यहाँ भाव बाद में लिया है। यह जो तत्त्व का अरुचि भाव कर्म का उदय, वह बन्ध का कारण है परन्तु वह बन्ध का कारण कब? कि तत्त्व का जो उदय है, उसमें जुड़ान करके अपने स्वरूप की दृष्टि भूलकर राग-द्वेष के परिणाम मेरे हैं और मिथ्यात्वभाव मेरा है, ऐसा मानता है। वे परिणाम नये बन्ध में पुराना बन्ध निमित्त होता है। बन्ध में तो उसमें नये बन्ध में आत्मा के परिणाम अज्ञान निमित्त होता है। ऐसा कहाँ इसमें! प्रवीणभाई! तुम्हारे वहाँ पत्थर में आवे नहीं। यह कोई कल थे न भाई रजनीभाई, उनके भाई हैं। यह छह भाई हैं। यह दूसरे नम्बर का और वह छठे नम्बर का। पोपटलाल मोहनलाल करोड़पति है। धूल! धूल!

मुमुक्षु : धूल के बिना कुछ चलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल के बिना ही चलता है अनादि से। अपना आत्मद्रव्य अपने से है। परद्रव्य से तो अभाव है। यह अँगुली, वह स्वयं से ही है और उसमें दूसरी अँगुली का अभाव है तो उस अभाव से ही वह टिक रही है। ऐसे अपना आत्मा अपने से है और परद्रव्य के अभाव से ही टिक रहा हूँ। कहाँ बात को समझे नहीं और कुछ, अनादि अज्ञान में पड़े, चार गति में भटकते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग, ये चार अज्ञान के प्रकार हैं? क्या? जो कि नवीन कर्मों के हेतु हैं। पुराना उदय नवीन कर्म का हेतु है। कब? कि अज्ञानी अपने में अज्ञानभाव करता है तब। सूक्ष्मभाव है। आहाहा! आत्मा तो आनन्द-स्वरूप प्रभु है। सच्चिदानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द—सत् शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द का

भण्डार आत्मा है। उसकी जिसे रुचि नहीं और जिसे पुण्य और पाप के परिणाम की रुचि है, वह भाव मिथ्यात्व कर्म का उदय है। वह उदय है, वह नये बन्ध में कारण होता है। परन्तु वह नये बन्ध में कारण कब होता है? कि अज्ञानी अपने मिथ्यात्वभाव को करता है, अज्ञानभाव को करता है, तब नये बन्ध में निमित्त होता है। पुराने कर्म स्वतन्त्र उदय में आते हैं, नये कर्म स्वतन्त्ररूप से स्वयं से परिणमते हैं और अज्ञानी अपने से स्वतन्त्र अज्ञानभाव का कर्ता होता है। ऐसी बात है। समझ में आया?

यह कहते हैं, देखो, **मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योग का उदय जो कि कर्म का हेतु...** नये कर्म के चार हेतु हैं। अज्ञानमय चार भाव हैं। **तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है...** तत्त्व का अश्रद्धान अर्थात् कि आत्मा की श्रद्धा नहीं और पुण्य और पाप तथा पुण्य-पाप के फल यह लक्ष्मी धूल आदि इसका मैं हूँ और यह मेरी चीज़ है—ऐसी मान्यता मिथ्याश्रद्धा-अज्ञान है। क्या करना इसमें? समझ में आया?

जो मिथ्याश्रद्धा है। परवस्तु जो कर्म का उदय है, उसे अपना मानना और उदय का फल जो आता है, विकारादि अपने में, अपने कारण से उसे अपना मानना और कर्म के उदय से लक्ष्मी आदि मिलती है, उसे अपना मानना, वह मिथ्या श्रद्धा, पाखण्ड श्रद्धा, अज्ञान श्रद्धा है। आहाहा! कहो कान्तिभाई! ऐसा मुम्बई में से निकलना भारी कठिन पड़े, निवृत्त होना मुश्किल पड़े। आहाहा!

ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय है। **अविरमणरूप से (अत्यागभावरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है।** कर्म का उदय है। असंयम का उदय है। **कलुष (मलिन) उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है।** और **शुभाशुभ प्रवृत्ति....** अर्थात् शुभ और अशुभभाव, चाहे तो दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा के भाव शुभ है। बन्ध के कारण हैं। आहाहा! अशुभ है हिंसा झूठ, चोरी, विषय भोगवासना, काम, क्रोध, लोभ, राग, रति, अरति अशुभ, वे बन्ध के भाव भी वह कर्म का उदय है। वह उसमें ही है। वे नये बन्ध के कारण हैं। परन्तु कब? आत्मा अपने अज्ञानभाव से राग, द्वेष और मिथ्यात्व भाव करता है तब। आहाहा! सूक्ष्म बात है। आज दिन बड़ा है न!

मुमुक्षु : जीव ऐसे भाव क्यों करता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करता है अज्ञान से। भान नहीं, इसलिए करता है। देखो न, यह पैसा देखे और प्रसन्न हो जाता है। आहाहा! धूल है, उसे अपनी चीज़ ऐसा मानता है। आहाहा! और लालचन्दजी जैसे पुत्र हों, तो मेरे पुत्र ऐसा मानता है। वह मूर्ख है मूर्ख, ऐसा कहते हैं यहाँ। होशियार लड़का तो पर है, उसका आत्मा तो पर है, शरीर पर है, पर आत्मा है। उसमें तुझे क्या आया ? समझ में आया ? है न ?

भगवान! अपनी चीज़ से, यहाँ तो अपने आनन्द स्वरूप में विकार परिणाम मिथ्याश्रद्धा मिथ्याज्ञान राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे अपने स्वतन्त्र अपने परिणाम से उत्पन्न होते हैं। कर्म का उदय तो निमित्तमात्र है। तो कर्म का उदय यहाँ तो कहते हैं कि यह नये बन्ध में कारण है। परन्तु कब ? कि अज्ञानी अपने स्वभाव को भूलकर अतत्त्व का श्रद्धान करता है—मिथ्याश्रद्धा करता है, राग-द्वेष करता है, पुण्य-पाप करता है। तब नये कर्म में निमित्त है। नये कर्म तो अपने से और अपने परिणाम से बनते हैं। अर्थात् कि नये परमाणु कर्मरूप अपने स्वतन्त्र बँधते हैं। पुराने कर्म भी स्वतन्त्र उदय में आये हैं और आत्मा भी अपने में विकार स्वतन्त्र अपने से करता है। आहाहा! ऐसी बात है। है ?

शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति का व्यापार... अशुभ से निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति, वह भी बन्ध का कारण है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वे सब भाव शुभ हैं। वे कर्म का उदय भाव है अपना स्वभाव नहीं। आहाहा! भगवान (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप आनन्दमूर्ति है, उसकी तो उसे खबर नहीं और यह पुण्य-पाप के भाव और कर्म का निमित्त है। वह स्वयं से हुए हैं। और निमित्त पर के बन्ध का कारण है तो अपने से विकार करते हैं तो बन्धपने का हेतु होता है। आहाहा! पुराने कर्म नये बन्ध में हेतु तब होते हैं कि जब आत्मा अपने अज्ञानभाव से राग-द्वेष को अपने मानता है तब, आहाहा! इतना सीखना कब ? बाहर के व्यापार-धन्धे में निवृत्त नहीं। अकेला पाप! उसमें से पुण्य का ठिकाना नहीं। धर्म तो कहाँ रहा।

मुमुक्षु : धन्धा न करे तो घर किस प्रकार चले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे ? इसे तो लाखों रुपये की आमदनी। दो लाख, चार-

पाँच लाख रुपये की आमदनी है तो भी चैन नहीं। आहाहा! यहाँ तो परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि पुराने कर्म हैं, उनका उदय आता है तो नये बन्ध का कारण है। परन्तु कब? जब आत्मा अपनी अतत्त्व श्रद्धा करता है। पुण्य-पाप को अपना मानता है और पुण्यपरिणाम से मुझे लाभ होगा। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे पुण्य हैं। उनसे मुझे लाभ होगा, ऐसी मिथ्या श्रद्धा करता है। तो मिथ्या श्रद्धा और राग-द्वेष के परिणाम नये बन्धन में निमित्त—हेतु कहने में आते हैं। सूक्ष्म बात है, बापू! यह सब कठिन। जगत को तत्त्व की खबर नहीं और ऐसा का ऐसा अनादि से चलता जाता है। दरकार नहीं। बाहर के पैसे और इज्जत, कीर्ति प्राप्त करने में उत्साह और हर्ष।

भगवान आत्मा कौन है? यह कर्म का उदय आता है, तब अपने परिणाम उसमें उसे निमित्त होते हैं (अर्थात्) विकारी परिणाम आत्मा करता है। उसमें पुराने कर्म निमित्त होते हैं और पुराने कर्म नये बन्ध में निमित्त कब होता है? कि जब अज्ञानी राग-द्वेष के परिणाम करता है, तब पुराना कर्म नये बन्ध में कारण है और नये बन्ध में विकारी परिणाम निमित्त हैं। अब इतनी सब बातें! इसीलिए तो कितनी ही बार कहा जाता है कि एक आत्मा है, एक जड़कर्म है, दो। अब जड़कर्म का उदय आता है। जड़कर्म है न, वस्तु है। उस जड़कर्म में जड़कर्म सत्ता में पड़े हैं। तो उसमें जब उदय आता है। तब नये कर्मबन्धन में वह कर्म निमित्त होते हैं। परन्तु कब? कि जब अज्ञानी मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष करता है, तब नये बन्धन में पुराना कर्म निमित्त है। और नये बन्धन में यह परिणाम आत्मा विकार करता है, वे परिणाम निमित्त हैं। निमित्त का अर्थ है कि दूसरी एक चीज़ है। उस निमित्त से कर्म नहीं बँधता। कर्म तो कर्म से बँधते हैं। पुराना कर्म भी पुराने कर्म का उदय आया है और उससे आत्मा में विकार होता है, ऐसा भी नहीं और आत्मा में विकार हुआ तो नये कर्म बँधे, ऐसा भी नहीं। नया कर्म तो अपनी पर्याय से यहाँ बँधता है। उसमें विकारी परिणाम निमित्त कहे जाते हैं। निमित्त कहो, व्यवहार कहो, उपचार कहो, विकल्प कहो। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : पुराने कर्म तो स्वयं ने ही बाँधे थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पड़े, वे पड़े, वह तो जब अब उदय आया। सत्ता में पड़े थे। अन्दर प्रगट आये तो आये। तो आत्मा अपने परिणाम में जब विकार करता है तो वह

पुराने कर्म निमित्त कहे जाते हैं। और नया विकार करता है तो नये बन्धन में निमित्त कहे जाते हैं और नये बन्धन में पुराने कर्म निमित्त कब होते हैं? कि आत्मा विकार करता है, तब पुराने कर्म को निमित्त कहा जाता है और नये कर्म बन्धन में विकारी परिणाम को निमित्त कहा जाता है। कहो, प्रवीणभाई! ऐसी बातें हैं। है?

मुमुक्षु : सूक्ष्म बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है न। तुम्हारे सब स्थूल सब सिर फोड़ते हों पत्थर में और टाईल्स में, वहाँ तो टाईल्स है। थाणा में टाईल्स है या नहीं, गाँव में दूसरा धन्धा है? हम तो थाणा में उतरे थे। दो दिन वहाँ थणा में। टाईल्स और वहाँ पन्द्रह लाख का मकान है और टाईल्स का व्यापार है। यह तो करोड़पति व्यक्ति है। धूल-धूल। पुद्गल मिट्टी है, मिट्टी बिना अनादि से चला है। राग बिना चलाया नहीं। राग करता है पुण्य-पाप का भाव करता है, तो मिथ्यात्व भाव होता है और उसके कारण से नया कर्म बँधता है, संसार में भटकने के लिये। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

तीन बातें की हैं। पुराना कर्म एक वस्तु है। वह एक जड़ कर्म है या नहीं? वह पूर्व में इसने पुण्य-पाप के मिथ्यात्व भाव किये हों पूर्व में मिथ्यात्व और राग-द्वेष के भाव किये हों तो वह निमित्त बनकर, कर्म तो अपने से बँधते हैं, जड़ तो है। जड़-कर्म है, वह कर्म का उदय आता है यह पुण्य (का फल) मिलता है। वह कहाँ से मिलता है? वह अन्दर में पुण्य का उदय आता है। तब, पैसे की धूल दिखती है। करोड़ रुपये की और पाँच करोड़ रुपये की धूल करोड़। मिले कहाँ इसके पास कहाँ मिलते हैं? इसके पास तो ममता मिलती है। मुझे मिला मेरा है—ऐसी ममता इसके पास है। पैसा तो पैसे में रहा है। प्रवीणभाई! सूक्ष्म बात लगी है थोड़ी। सूक्ष्म तो है न, भाई!

यह दूसरे नम्बर का है और यह छठे नम्बर का है, नरेन्द्र। कल गया था, वह तीसरे नम्बर का। वे आये थे पहले नम्बर के। चार आ गये चार, दो रह गये बीच में। आहाहा! आते हैं न लोग आते हैं। प्रेम है परन्तु अब यह समझने का समय लेना चाहिए न भाई! अरे! अनन्त काल से यह भटकता है। सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द शान्ति का सागर प्रभु है। उसकी रुचि का अभाव और पुण्य-पाप के क्षणिक

कृत्रिम विकारभाव की रुचि और पुण्य-पाप के भाव से बन्धन पड़े कर्म और उनका उदय आने से यह लक्ष्मी मिली, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार सानुकूल भले मिले। उनका प्रेम, वह परिभ्रमण का कारण है। आहाहा! परिभ्रमण के कारण का अर्थ क्या है? दुःख के कारण हैं। क्यों डॉक्टर? आहाहा! कठिन बात है, भाई! कहो, शान्तिभाई! यह सब लाखोंपति पड़े—बैठे धूल में भी है नहीं कुछ। यह पैसा जड़ है, मिट्टी है, धूल है और यह है।

मुमुक्षु : लोग कितना खोटा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आवे वह सब भिखारी है। यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि कोई पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, परिवार को माँगता है। आओ आओ यह बड़ा याचक / भिखारी है। यहाँ कहाँ मक्खन है? मक्खन-बक्खन यहाँ कुछ है नहीं। शास्त्र में पाठ है भाई। हों! 'वराका' कहा है। यह याचक है न याचक को ('वराका' कहते हैं।)

यहाँ दरबार आये थे न, भावनगर के दरबार, डॉक्टर! भावनगर दरबार कृष्णकुमार आये थे। यहाँ उन्हें तो करोड़ की आमदनी है। एक करोड़ की आमदनी वर्ष की। राज करे राज। आये थे। दो बार व्याख्यान में आये। कहा, दरबार! एक महीने में पाँच लाख माँगे, वह साधारण याचक है—भिखारी है। करोड़ माँगे, वह बड़ा भिखारी है—याचक है। मुझे दो... मुझे दो, वह बड़ा याचक है।

मुमुक्षु : प्रभु! परन्तु माँगे बिना मिल जाये तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई, याचक है। माँगता है कि लाभ मुझे हो, आहाहा! राज, लक्ष्मी ऐसे मिले और परिवार ऐसा हो और दीवान ऐसा हो मकान-बकान पचास-पचास लाख, करोड़, दो करोड़ के मकान ऐसे हों (वह माँगनेवाला) भिखारी है। अपनी अन्तर लक्ष्मी आनन्द ज्ञान पड़ी है। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान लक्ष्मी की तो दरकार नहीं और इस धूल की लक्ष्मी के याचक बड़े भिखारी हैं। ऐसा कहते हैं यहाँ तो।

मुमुक्षु : परन्तु इस धूल-लक्ष्मी के बिना चलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाव करते हैं तुम्हारा। वकील है। बात सच्ची है। ऐसा कि

तुम भले कहो परन्तु हमारे उसके बिना (चलता नहीं)। अरे भगवान एक द्रव्य है अपना तत्त्व, वह परद्रव्य के अभाव से वह विकारी टिक रहा है। आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु वह तो राग बिना ही टिक रहा है। कर्म बिना ही टिक रहा है। पर की सामग्री बिना ही टिक रहा है। अपनी सत्ता से टिक रहा है। अपनी सत्ता पर से है, ऐसा है नहीं। आहाहा! अपनी सत्ता अर्थात् अपना अस्तित्व अपने से है; पर से नहीं। तो पर के कारण से आत्मा है, ऐसा तीन काल में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! परमात्मा कर्ता-कर्म का अधिकार बताते हैं। सन्त आड़तिया होकर जगत को बताते हैं कि प्रभु! तेरी चीज़ तो ऐसी है कि पूर्व कर्म का उदय आता है जड़, वह जड़ है। तो कहते हैं कि उससे नया कर्म बँधने में वह निमित्त होता है। परन्तु कब? कि तू अतत्त्व श्रद्धान मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञानभाव करे, शुभाशुभभाव करे, तब तेरे वे भाव कर्म में निमित्त हैं, और पूर्व का कर्म उसे (अर्थात् उस भाव को) निमित्त हैं। आहाहा! समझ में आया?

नये कर्म बँधते हैं। आठ प्रकार के कर्म, वे पूर्व के कर्म का उदय है तो बँधते हैं। एक बात। परन्तु कब? आत्मा उसमें राग-द्वेष के परिणाम को अज्ञान का हेतु बने तब अपने राग-द्वेष और अज्ञान का हेतु बने, तब पूर्व का कर्म नये बन्ध में हेतु है। और उस नये बन्ध में आत्मा के परिणाम निमित्त हैं, (नहीं) निमित्त हेतु है उपचार से है। यहाँ कोई उससे कर्म हुए ऐसा है नहीं। और कर्म के कारण से विकार हुआ, ऐसा भी है नहीं। और कर्म के कारण से नये कर्म बँधे, ऐसा है नहीं और नये कर्म में राग-द्वेष और अज्ञान परिणाम हैं, यह भी उसके कारण से, नये कर्म बँधे, ऐसा भी है नहीं। सब अपनी-अपनी परिणति से स्वतन्त्र काम करते हैं। देवीलालजी! आहाहा! कठिन बातें! गाथा ऐसी है। आज पाँच वर्ष पूरे होंगे। डाक्टर! अपने तीस के वर्ष में हुआ था और तीस से पैंतीस, पाँच वर्ष हुए। ये चार वर्ष में तो थे नहीं यहाँ। तेरस को यहाँ थे नहीं। बाहर थे। यह पाँचवें वर्ष में यहाँ हैं। तीस के वर्ष में बना है यह छब्बीस लाख का, छब्बीस लाख का मकान (परमागम मन्दिर) है। छब्बीस हजार लोग आये थे। आये थे तुम? पोपटभाई आये थे!! ग्यारह लाख का खर्च हुआ। छब्बीस हजार लोग!!

११ लाख का खर्च, (मकान-मकान के छब्बीस लाख) और यह ग्यारह लाख, साढ़े तीस लाख हुए।

यह तो बनने की चीज़ बनती है। कौन बनावे? कौन लावे? भाई ने बिल्कुल कुछ किया नहीं। रामजीभाई को निमित्त कहने में आता है कि ध्यान रखते तो हैं। उससे बना नहीं। रामजीभाई ध्यान रखते हैं और ऐसे हमारे वजुभाई ध्यान रखते हैं। वजुभाई हैं न इंजीनियर? इंजीनियर है न, छोड़कर बैठे हैं न अभी तो। वे निमित्त थे। उससे जब मन्दिर बना तो इनसे—निमित्त से बना नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आपका स्वप्न साकार हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : साकार क्या था? वह तो बनने की चीज़ बनी है। स्वप्न से भी बनती नहीं। आया था न! देखा था स्वप्न में पूरा आकाश (और उसमें) चन्द्र देखा था और स्वप्न में पूरे आकाश में शास्त्र देखे थे—शास्त्र के पाटिया हैं अपने (परमागम मन्दिर में) ऐसे-ऐसे पूरे आकाश में रात्रि में स्वप्न में देखे थे! पूरे आकाश में इतने-इतने तीन हाथ लम्बे और डेढ़ हाथ चौड़े, ऐसे-ऐसे पूरे आकाश में रात्रि में (पाटिया) देखे थे। अतः ऐसे बन गये, देखो! बहुत वर्ष पहले की बात है यह तो ७१ के वर्ष की बात है। तब स्वप्न में देखा था। यह राणपुर के पास है न, वह गाँव। कौन सा गाँव? वेजलका! राणपुर के बीच में वेजलका गाँव है। वह तो बनने की चीज़ बने, उसे कौन बनावे? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू तेरी चीज़ भूलकर जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम करता है और उनका कर्ता होता है, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! मैंने मन्दिर बनाया, मैंने यह धर्म किया—इससे (मुझे) धर्म होगा, वह सब मिथ्यादृष्टि है। रायचन्दभाई!

मुमुक्षु : अब दिक्कत नहीं हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तो बन गया है न, ऐसा कि दिक्कत नहीं। यह बनता है न वहाँ अफ्रीका में है न नैरोबी। पन्द्रह लाख का मन्दिर बननेवाला है। ज्येष्ठ शुक्ल ११, अफ्रीका है नैरोबी। तो ज्येष्ठ शुक्ल ११ को मुहूर्त हो गया है। पन्द्रह लाख का मन्दिर, पन्द्रह लाख का बननेवाला है, उसमें दो लाख दो हजार (रुपये) इन्होंने दिये हैं। इन

रायचन्दभाई ने! यह देखो, यहाँ बैठे हैं। दो लाख दो हजार खातमुहूर्त में दिये हैं। अभी पन्द्रह लाख का मन्दिर बनायेंगे। अभी विशेष होगा। पैसेवाले बहुत हैं वहाँ, आमन्त्रण है वहाँ ले जाने का! क्या होता है (वह देखो)। आगामी दिसम्बर में-दिसम्बर में! आहाहा! जिस समय जो होनेवाला हो, वह होता है, कौन करे, कौन करे? आहाहा! अज्ञानी अभिमान करता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का ज्ञान तो ज्ञान कराने की बात है परन्तु निमित्त से हुआ, ऐसी बात है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

रायचन्दभाई ने दो लाख दो हजार दिये, यह तो निमित्त का कथन करते हैं। दो लाख दो हजार उनके पैसे जाने का था तो गये हैं, वे तो इसमें निमित्त हैं। (रायचन्दभाई ने) राग मन्द किया हो तो पुण्य है। पुण्य में धर्म-बर्म नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! कान्तिभाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत...** देखो! यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय के हेतुभूत पूर्व का हेतुभूत **होने पर जो कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है।** आहाहा! पुराने आठ कर्म के उदय में, नये कर्म बँधते हैं। वे स्वयं बनते हैं, अपनी पर्याय की योग्यता से नया कर्म बँधते हैं, उस पुराने कर्म को निमित्त कहा जाता है। समझ में आया?

वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होवे... आहाहा! नये कर्म जब जीव के साथ निमित्तरूप से बँधते हैं, **तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्वपर के एकत्व के अध्यास के कारण...** अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण, आहाहा! स्वयमेव भगवान आत्मा को भूलकर—अज्ञानी स्वयमेव=स्वयम्+ऐव=निश्चय से अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण—स्व-पर की एकत्वबुद्धि के कारण, वह मिथ्यात्वभाव है। राग और पुण्य-पाप के परिणाम और मैं एक हूँ, ऐसा अध्यास अज्ञानी को है, वह

मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! थोड़ा-थोड़ा ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है, भाई! नरेन्द्र! आहाहा! भाषा तो भाई कठिन, जो हो वह आवे, क्या करें? आहाहा!

कहते हैं पूर्व के पुद्गलकर्म जो जड़ हैं, वे नये बन्ध में निमित्त हैं, निमित्त! नया बन्ध तो स्वयं से होता है, परन्तु निमित्त कब होता है? कि जब आत्मा मिथ्याश्रद्धा करता है—पुण्य-पाप के परिणाम मेरे हैं, शुभ-अशुभ भाव मेरा कर्तव्य है—ऐसी मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष करता है तो नये कर्म में वे परिणाम निमित्त हैं, तब पुराने कर्म, नये में निमित्त कहने में आते हैं। भाई! ऐसी बात है। यह वकालत में ऐसी बात आती नहीं, डॉक्टर में ऐसी आती नहीं, सेठिया की बीड़ी-तम्बाकू में ऐसी बात आती नहीं। वकालत का ज्ञान, वह कुज्ञान है। यह डॉक्टर का ज्ञान, वह कुज्ञान है। तो यह सेठिया के बीड़ी-तम्बाकू का ज्ञान वह तो कुज्ञान ही है। बड़ा करोड़ों का व्यापार है बीड़ी का। ओहोहो! प्रभु! तू सुन तो सही, कहते हैं। आहाहा!

पुराने कर्म हैं, उनकी सत्ता है, उसकी पहले श्रद्धा कराते हैं। कर्म है, अकेला आत्मा है तब शुद्ध है-शुद्ध है, उसे कर्म नहीं होते। (ऐसा एक मत है) तो पुराने कर्म पूर्व में (जीव ने) बाँधे हैं, शुभाशुभभाव—अज्ञान से वह है तो वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब नया बन्धन होता है, तो बन्धन स्वयमेव स्वयं से होता है, (उसमें) पुराने कर्म तो निमित्त हैं। परन्तु निमित्त कब होते हैं? यह अज्ञानी जब तत्त्व-अश्रद्धान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप मेरे हैं और राग-द्वेष से मुझे लाभ होता है, ऐसा मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम है, वह नये कर्म में बन्धन होता है, तो पुराने कर्म को निमित्त कहा जाता है। अरे! अरे! इतनी सब बातें अब। कहो, नरेन्द्र! वहाँ कहीं ऐसी बात आती है तुम्हारे छह भाईयों के बीच व्यापार में-धन्धे में? आहाहा!

हमारे वहाँ भी दुकान का धन्धा था, वहाँ भी यह बात कोई सुनता नहीं था, मैं तो 'भगत' पहले से कहलाता था, मैं तब दुकान में बैठकर शास्त्र वाँचता था। तब यह (संवत्) १९६४-६५ वर्ष—संवत् १९६४-६५ (की बात है), घर की दुकान है, पालेज में है बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं। वाँचता था, आचारांग, सूयगडांग सब शास्त्र! पिताजी श्वेताम्बर थे तो (श्वेताम्बर) शास्त्र सब पढ़ता था दुकान पर, बात थी, (संवत्) १९६४-६५ के वर्ष, तुम्हारे जन्म से पहले की बात! ६४-६५, कितने वर्ष

हुए? हें? ७१ वर्ष हुए, मैं तो वहाँ शास्त्र वाँचता था, कोई दूसरे नहीं वाँचते थे, सब धन्धे में तल्लीन! मैं तो 'भगत' कहलाता था न! पहले से ही शास्त्र वाँचता था। कि क्या कहते हैं शास्त्र? यह बहुत शास्त्र वाँचता, अध्यात्मशास्त्र वाँचता था, कबीर का वाँचता था, कबीर है न कबीर, तो हम 'जैन समाचार' मँगाते थे, 'मासिक' (पत्र) वाडीलाल मोतीलाल का अहमदाबाद का, तो उसमें भेंट में आया था कबीर का, वह भी देखा! कबीर मूर्ति को नहीं माने। स्थानकवासी थे न हम तो, ठीक लगता उस समय। आहाहा!

बाद में तो समयसार जहाँ हाथ आया! (संवत्) १९७८ के वर्ष, ओहो! (फाल्गुन माह में), यह चीज़ दूसरी कहा, शरीररहित होना हो तो यह ही है। कहा, यह समयसार! ७८ के फाल्गुन माह में हाथ आयी चीज़! सेठिया को कहा, दामोदर सेठ, दस लाख रुपये (तब थे, मैंने कहा) सेठ! अशरीरी (होने की) पुस्तक है। (तब तो सुना) पश्चात् (मैंने) मुँहपत्ती (छोड़ी) निकलने के बाद विरोध हो गया। भाई! मार्ग दूसरा है भाई! आहाहा! श्वेताम्बर और स्थानकवासी धर्म तो दिगम्बर में से निकले हैं, दो हजार वर्ष पहले श्वेताम्बर निकले और स्थानकवासी, श्वेताम्बर में से पाँच सौ वर्ष पहले निकले हैं। यह तो मूल धर्म—जैनधर्म है नहीं। आहाहा! अब इतनी खोज भी (कौन करे!) निवृत्त कहाँ व्यापार-धन्धे के कारण! ऐई... देवीलालजी! ये भी स्थानकवासी हैं न! आहाहा!

यह 'स्थानक' तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप भगवान पूर्णानन्द प्रभु! आहाहा! उसमें बसनेवाले, वह भगवान आत्मा स्थानकवासी है। आनन्द का नाथ अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव-ध्रुव नित्यानन्द आत्मा है। उसमें बसना, वह वास्तु है और वह अपना निजघर है। बाकी, परघर का वास्तु करना, वह तो अकेला पाप है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : तो क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना—समझना। वह यह सब डॉक्टर-बॉक्टर सबको ममता छोड़ देना। यह उसको कुछ निकला था न तुम्हारे नहीं, डॉक्टर की बहू ने रुपये दिये थे न पच्चीस हजार कहीं, वह धर्मचक्र! खबर है न, खबर है। धर्मचक्र निकला था, उसमें दो बड़े लड़के डॉक्टर हैं न, उनकी बहू ने कितने, पच्चीस हजार दिये थे। नाम

आया अखबार में, यहाँ तो नाम पढ़ा हो। देखा हो, पच्चीस हजार। उसमें बस ऐसा मान ले कि ओहोहो! हमने कितना धर्म किया, पच्चीस हजार दिये। धूल में भी धर्म नहीं।

मुमुक्षु : रुपये गये और धर्म भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये कहाँ इसके बाप के थे? रुपये तो जड़ के थे। प्रवीणभाई! पैसा पोपटभाई के थे? पोपटभाई के हों तो पोपटभाई साथ में न ले जाये? आहाहा! किसी के कहाँ हैं, बापू! जड़ के जड़ हैं, भाई! आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझमें शुभ-अशुभभाव होता है, वह भी तेरी चीज़ नहीं, भाई! वह तो विकार है, नाथ! वह दुःख है, उस दुःख (के) रूप को अपना आनन्दस्वरूप प्रभु है, यह पुण्य-पाप को अपना मानता है, प्रभु! तेरी ठगाई हो जाती है। आहाहा! ऐसी बात है, जगत से उल्टी है। आहाहा!

वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होवे, तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण... देखो! देखो, क्या कहते हैं? यह आत्मा मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष करता है, वह स्वयमेव करता है, किसी कर्म से होता है राग-द्वेष और अज्ञान, ऐसा है नहीं कि हमारे कर्म का उदय ऐसा कठोर आया है तो हमारे विकार करना पड़ा, बिल्कुल झूठ है। आहाहा! समझ में आया? किसे पड़ी है यह? यह दुनिया में जरा ठीक लगे वहाँ ऐसा हो जाये। जाओ....! आहाहा!

क्या कहते हैं, देखो! नया कर्म जब बँधता है, तब स्वयमेव अज्ञान से आत्मा, अपने **स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण...** स्व-आत्मा आनन्द है और पुण्य-पाप के भाव विकार-दुःख है। दोनों के एकत्व के अध्यास के कारण—दोनों के एकत्व के अध्यास के कारण। आहाहा! यह शरीर-फरीर तो कहीं रह गया दूर धूल यह तो... पैसे भी कहीं (दूर) रह गये, स्त्री, पुत्र, परिवार, देश, गाँव। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि स्वपर का अभ्यास अज्ञानी का—चिदानन्द प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा वह 'स्व' और पुण्य-पाप के मिथ्यात्वभाव 'पर' और पुण्य-पाप के फलरूप संयोग, लक्ष्मी आदि 'पर'—यह स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण—स्व-पर की एकताबुद्धि के कारण। कहो, यह भाषा तो समझ में आती है या नहीं? आहाहा! **स्वयमेव-**

अज्ञान से.... अपने अज्ञान से, कर्म के कारण से नहीं। कर्म का उदय है तो अज्ञान हुआ है, ऐसा है नहीं। आहाहा! है या नहीं अन्दर? अटपटी है परन्तु भाषा जरा... यह हमारे प्रवीणभाई तो अभी आज आये, बहुत समय से इन्तजार करते थे वे, आहार के समय। कहे देरी हो गयी, कल आहार था न भाई का, भावनगर! अब आवे तब आवे, रात्रि में आये थे फिर...

यहाँ कहते हैं कि स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के एकत्व से—स्व-पर का एकत्व स्व अर्थात् भगवान आनन्दस्वरूप और पुण्य और पाप-दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम 'पर' यह पर और स्व की एकत्वबुद्धि के कारण, आहाहा! है? अज्ञान से स्वयमेव स्व-पर के एकत्व का अध्यास, अध्यास अर्थात्? अभ्यास—यह अभ्यास हो गया अनादि से। यह अभ्यास किया उसने। आहाहा। मिथ्याश्रद्धा, पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम के भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग के भाव, वे 'पर' हैं। भगवान (आत्मा) 'स्व' भिन्न है।

अनादि से स्व-पर की एकत्वबुद्धि के कारण, आहाहा! अमृत और जहर की एकताबुद्धि हो गयी, भगवान अमृतस्वरूप है, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु है और पुण्य-पाप के भाव जहर है। आहाहा! यह अमृत और जहर की एकत्वबुद्धि के अभ्यास से,... नीचे है न अन्तिम लाईन, तब (जीव स्वयमेव...) तब अर्थात्? जब नया कर्म बाँधता है, **तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के अध्यास के कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि....** तत्त्व का अश्रद्धान—मैं आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ, वह नहीं; मैं तो पुण्य हूँ-पाप हूँ, पुण्य-पाप के फल मैं हूँ—ऐसे अतत्त्व श्रद्धान से **अपने अज्ञानमय परिणामभावों का...** वह अपने अज्ञान में परिणाम जो अज्ञानी के, उनका वह **हेतु,** जीव **होता है।** अज्ञान परिणामभावों का हेतु जीव होता है—अज्ञानभाव का हेतु जीव होता है और वे परिणाम नये बन्ध में हेतु होते हैं। इतनी बात अब कहाँ? समझ में आया?

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव वीतरागस्वरूप परमात्मा का हुकम यह है। इन्द्र और गणधरों के बीच परमात्मा की वाणी यह निकलती थी। आहा! प्रभु! तुझे पूर्वकर्म का उदय आकर नया बन्धन होता है, परन्तु तू तेरे स्वयमेव अज्ञानभाव के कारण परिणमता

है—वह परिणमन हुआ कर्म के कारण से, वह अज्ञान और राग-द्वेष हुए नहीं, कर्म के कारण से मिथ्याश्रद्धा हुई, ऐसा है नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहे, कर्म का ऐसा उदय आया तो हमको राग करना पड़ा? मूर्ख है! यह राग, द्वेष और मिथ्याभाव स्वयमेव अज्ञान से करता है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

(कहते हैं कि) **अपने अज्ञानमय परिणामभावों का हेतु होता है...** अपने भाव का हेतु होता है। बन्ध का हेतु तो निमित्त से है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु नित्यानन्द ध्रुव को भूलकर, क्षणिक पुण्य-पाप के कृत्रिम-अनित्य भाव, उसे स्वयमेव अज्ञानभाव अपने परिणाम का आत्मा हेतु होता है। आहाहा! उन परिणाम का हेतु होता है और वे परिणाम नये बंध का हेतु होते हैं। है? **परिणामभावों का हेतु होता है...** ऐसा कहा न! नये कर्म का हेतु होता है, यह बाद में। वह तो अज्ञानी नया विकार—कर्म करता है, उसका हेतु आत्मा होता है। आहाहा! और वह परिणाम नये बन्धन में निमित्त है। नया बन्धन स्वतन्त्र होता है। यह विकार किया तो नया बन्धन हुआ, ऐसा नहीं है। नया बन्धन अपने परमाणु की पर्याय में कर्म होने की योग्यता से कर्म बँधते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निमित्त, तब निमित्त कहने में आता है। जब आत्मा अपने अज्ञानपरिणाम में हेतु होता है, तब नये कर्म में निमित्त होता है, तब पुराने कर्म को निमित्त कहा जाता है। वरना पुराने कर्म तो खिर जाते हैं। आहाहा!

पुराने कर्म उदय हो, परन्तु आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करता है तो वह पुराने कर्म का उदय खिर जाता है। अपने ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ। मैं तो सच्चिदानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप—मैं तो ज्ञायक—जानन-देखन स्वभावस्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि करे तो पूर्व के कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। परन्तु पूर्व के उदय में अपने परिणाम अज्ञानभाव से—मिथ्यात्वभाव से—राग-द्वेष, पुण्य-पाप का कर्ता है, तो उन परिणाम का हेतु आत्मा होता है, तब नये कर्म में वे निमित्त हैं। तब नये कर्म में पुराने कर्म निमित्त कहे जाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : वस्तु तो शुद्ध है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान करता है न! शुद्ध है तो वस्तु से शुद्ध है, परिणाम में अशुद्धता करता है, वह स्वयमेव करता है, कहा न!

अज्ञानभाव से आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर विकारी परिणाम का कर्ता अज्ञानी होता है। आहाहा! चाहे तो शुभ-अशुभ (भाव) आये न! आया न शुभ-अशुभ? **शुभाशुभ प्रवृत्ति...** शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ में निवृत्ति और दोनों प्रकार के परिणाम विकार हैं। आहाहा! धन्धा-पानी में अशुभभाव था तो वह निवृत्ति करके फिर दया, दान, पूजा, भक्ति के भाव में प्रवृत्ति की, तो वे सब भाव शुभ विकार है। आहाहा! वह विकारी परिणाम अज्ञानी स्वयमेव—अपने से स्वतन्त्र कर्ता होकर करता है, कर्म कराता है, वह नया बन्धन हो तो विकार आत्मा करता है, ऐसा नहीं है। अटपटी बात है, भाई! आहाहा!

भावार्थ :- अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं... वे तो पुद्गल के परिणाम हैं, पूर्व का उदय। आहाहा! समझ में आया? **और उनका स्वाद अतत्त्व-श्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है...** ज्ञान में मिथ्या राग-द्वेष आदि का स्वाद उदयरूप-निमित्तरूप होकर, 'पर' वह कर्म का उदय निमित्तरूप होने से, **वे उदय निमित्तभूत होने पर, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं...** आहाहा! पूर्व का कर्म तो निमित्तरूप उदय हुआ, इतना बस! नये कर्म कार्मणवर्गणारूप जो बँधते हैं, नये-नये (कर्म), वे स्वयमेव अपने परिणाम से बँधते हैं। हैं? **और जीव के साथ बँधते हैं...** वह नया (कर्म) **और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से...** आहाहा! **अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है...** जीव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धान—पुण्य को धर्म मानना, पाप को सुख मानना—पाप के परिणाम में सुख, विषय की वासना में मजा मानना, पुण्य में धर्म मानना, ऐसी अतत्त्व-श्रद्धान अज्ञानी स्वयमेव स्वयं से करता है। आहाहा! कठिन पड़े ऐसा है। नरेन्द्र! वहाँ कहाँ तुम्हारे छह भाई में, कहीं मिले ऐसा नहीं है वहाँ कहीं! सब बैठे हों और सब बातें पाप की करते हों, सब। नहीं? यह तो कठिन बात है न, भाई! आहाहा! अनन्त काल में कभी सुनी नहीं, सत्य बात सुनी नहीं। आहाहा!

यह (समयसार) गाथा में आता है न! चौथी गाथा 'श्रुतपरिचित अनुभूताः'—

प्रभु! तूने राग-द्वेष के भाव करना, यह तो अनन्त बार सुना है और तेरे परिचय में आया है और तेरे अनुभव में भी राग-द्वेष के अज्ञानभाव, अनादि से (तुझे) अनुभव में आये हैं। आहाहा! 'श्रुतपरिचित अनुभूता:'—यह सर्वस्व, काम-भोग। काम अर्थात् राग और भोग अर्थात् राग का भोगना। इस राग को करना और राग को भोगना यह (बात) तूने प्रभु! अनन्त बार सुनी है, और तेरे परिचय में और अनुभव में अनन्त बार आयी है। परन्तु उससे पृथक्.... आहाहा!

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

परन्तु, उस राग से भिन्न, उस पुण्यक्रिया के परिणाम से भी भगवान भिन्न, यह बात प्रभु! तूने सुनी नहीं! आहाहा! ऐसा कहते हैं। ऐ नरेन्द्रभाई! सुनी भी नहीं, ऐसा कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं, चौथी गाथा में कहते हैं, प्रभु! तूने राग से पुण्य-पाप से—इन परिणाम से, उनसे भिन्न तेरी चीज़ है, प्रभु! तूने सुनी नहीं, हों! सुनी नहीं, कान में पड़ी परन्तु तुझे रुचि नहीं, वैसे तो भगवान के समवसरण में अनन्त बार गया। महाविदेह में अनन्त बार जन्म हुआ है, महाविदेह में भगवान (तीर्थंकरदेव) तो विराजते हैं, शाश्वत्, वहाँ भी तू समवसरण में गया है, साक्षात् भगवान की वाणी सुनी, परन्तु (तुझे) रुचि नहीं। राग से भिन्न (आत्मा है), यह बात की परन्तु तुझे रुचि नहीं। राग की रुचि करता है तो फिर यह झूठ करता हूँ, सुनने से क्या? सुनने में तो आता है। आहाहा!

यह बात करते हैं कि राग से भिन्न एकत्व (विभक्त की) बात प्रभु तूने सुनी नहीं और तेरे परिचय में राग से भिन्न भगवान (आत्मा है), तेरा (परन्तु) तुझे अभ्यास—परिचय आया नहीं और राग से भिन्न भगवान आत्मा है, उसका अनुभव कभी सुना भी नहीं, परिचय किया नहीं और अनुभव में आया नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जहाँ लड़का जन्मे, वहाँ से ऐई यह धूल की और यह पढ़ा और दुनिया की बातें यह किया और यह किया और धूल की धूल, एल.एल.बी. का पूंछड़ा लगाया, उसे वकील को ऐसा, डॉक्टर को एम.बी.बी.एस. का पूंछड़ा लगावे। डॉक्टर और वकील के सब कुज्ञान के पूंछड़ा है। आहाहा!

यहाँ क्या कहते हैं ? देखो ! पुद्गल परिणाम है, उसका स्वाद अतत्त्व श्रद्धान आदि है। **उदय निमित्त होने से कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादिकर्म (रूप से) परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं और उस समय जीव भी...** समय, समय तो यही पूर्वकर्म का उदय आना, नया बन्धन होना और नये बन्धन में अपने विकारी परिणाम निमित्त होना, तीनों का समय एक है। क्या कहा यह ? है ? **और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंरूप परिणमता है और इस प्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयमेव ही होता है...** आहाहा ! सूक्ष्म बात है ! परन्तु बात तो अलौकिक है, भाई ! आहाहा !

आहाहा ! समय एक—टाईम एक, पूर्व का कर्म का उदय आना, टाईम एक, नया बन्ध होना, टाईम एक और अज्ञानभाव से जीव का परिणमना, टाईम एक ! एक समय में तीनों होते हैं। आहाहा ! भाषा तो सादी है, भाई ! भाव तो सूक्ष्म है, परन्तु क्या करें ! जो भाव हो, वह आवे और दूसरा क्या करे ? तीनों का समय एक है। आहाहा ! है ? **मिथ्यात्व आदि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना—बँधना और जीव के अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावोंरूप परिणमना ये तीनों एक ही समय में होते हैं।** आहाहा ! भाषा तो सादी है, प्रभु ! ख्याल में तो लेना चाहिए न प्रभु ! यह क्या कहते हैं... **सब स्वतन्त्र स्वयं ही अपने से परिणमते हैं।** आहाहा ! कर्म का उदय स्वतन्त्र, नये बन्धन स्वतन्त्र और अज्ञानी राग-द्वेषादि-अज्ञान करता है, वह स्वतन्त्र। तीनों स्वतन्त्र हैं, एक समय में होते हैं। **कोई किसी का परिणमन करता नहीं...** कर्म का उदय आत्मा को विकार कराता नहीं, विकार परिणाम, नये कर्म को बन्धन करता नहीं, पुराना कर्म नये कर्म को करता नहीं, नये बन्धन में यह विकारी परिणाम (कुछ) करते नहीं, सब स्वतन्त्र है। पुराने कर्म का उदय, नये कर्म का बँधना और आत्मा के विकार के परिणाम, तीनों का समय एक है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-१३७-१३८

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः -

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादि-मावण्णा ।।१३७।।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदय-हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ।।१३८।।

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्व-मापन्ने ।।१३७।।

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदय-हेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ।।१३८।।

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्म-परिणामो भवतीति वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः।।१३७-१३८ ।।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है:-

जो कर्मरूप परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे!।।१३७।।

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य के।
जीवभावहेतु से अलग, तब, कर्म के परिणाम हैं।।१३८।।

गाथार्थ : [यदि] यदि [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य का [जीवेन सह चैव] जीव के साथ ही [कर्मपरिणामः] कर्मरूप परिणाम होता है (अर्थात् दोनों मिलकर ही कर्मरूप परिणमित होते हैं)-ऐसा माना जाये तो [एवं] इस प्रकार [पुद्गलजीवौ द्वौ अपि] पुद्गल और जीव दोनों [खलु] वास्तव में [कर्मत्वम् आपन्नौ] कर्मत्व को प्राप्त हो जायें।

[तु] परन्तु [कर्मभावेन] कर्मभाव से [परिणामः] परिणाम तो [पुद्गलद्रव्यस्य एकस्य] पुद्गलद्रव्य के एक के ही होता है, [तत्] इसलिए [जीवभावहेतुभिः विना] जीवभावरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [कर्मणः] कर्म का [परिणामः] परिणाम है।

टीका : यदि पुद्गलद्रव्य के, कर्मपरिणाम के निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञान-परिणाम से परिणत जीव के साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही), कर्मरूप परिणाम होता है-ऐसा वितर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई हल्दी और फिटकरी का-दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है उसी प्रकार, पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जावे। परन्तु एक पुद्गलद्रव्य के ही कर्मत्वरूप परिणाम तो होता है; इसलिये जीव का रागादि-अज्ञान परिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

भावार्थ : यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणम सकता; इसलिए जीव का अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्म परिणाम है।।१३७-१३८।।

प्रवचन नं. २१८, गाथा-१३७ से १४०, दिनांक १२-०३-१९७९, सोमवार, फाल्गुन शुक्ल-१४

समयसार, गाथा १३७-१३८, दो गाथायें हैं न! **अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है।**

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादि-मावण्णा।।१३७।।

एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदय-हेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो।।१३८।।

नीचे हरिगीत

जो कर्मरूप परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे!।।१३७।।

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य के।
जीवभावहेतु से अलग, तब, कर्म के परिणाम हैं।।१३८।।

(टीका) : क्या कहते हैं ? कि **यदि पुद्गलद्रव्य के, कर्म परिणाम के निमित्तभूत ऐसे....** क्या कहते हैं कि कर्म जो बँधते हैं कर्म; वे अपने परिणाम से बँधते हैं। जीव उन्हें बाँधता नहीं—कर्मरूपी परिणाम जीव करता नहीं। आहाहा! जीव अज्ञानभाव से राग-द्वेष भावरूप हो परन्तु वह पुद्गलपरिणाम, वह जीव करता है, ऐसा नहीं है। कर्मबन्ध के पुद्गलपरिणाम स्वयं अपने से परिणाम होते हैं। जीव के अज्ञान के राग-द्वेषभाव तो निमित्तमात्र है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

आत्मा जब राग-द्वेष और अज्ञान करता है, पुण्य और पाप भाव मेरे हैं, ऐसा अज्ञानभाव से राग-द्वेष करता है, तो उस समय में कर्म बँधते हैं तो वह कर्म बँधते हैं। वह आत्मा नहीं बाँधता, भिन्न पदार्थ है।

मुमुक्षु : तब आत्मा का तो कुछ दोष ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोष-दोष किया न—राग-द्वेष, वह दोष होता है, कर्म बन्ध करे वह जड़ की पर्याय करे। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

जैसे यहाँ राग करे—मैं यह हाथ चलाऊँ, ऐसा राग करे, वह हाथ चला सकता है, राग से हाथ चलता है ? (नहीं)। हाथ का चलना तो हाथ की पर्याय से चलता है, राग तो निमित्त कहने में आता है। परन्तु मैंने राग किया, इसलिए हाथ चला है, यह बात झूठी है। इसमें कहीं (मेल) ऐसा नहीं, मेल खाये यहाँ ऐसा। आहाहा! वह तो बाहर की बात तो भिन्न है परन्तु अभ्यन्तर में जैसे राग-द्वेष और अज्ञान जीव करता है और उस समय में जो कर्मबन्धन होता है, वह अपने परिणाम से कर्मबन्धन होता है; आत्मा से नहीं। आत्मा उन कर्मरूप परिणमता नहीं। आहाहा! समझ में आया ?

यदि पुद्गलद्रव्य को, कर्मपरिणाम के—कर्म परिणाम जो होते हैं, उन्हें निमित्तभूत ऐसे रागादि—अज्ञान परिणाम से... राग-द्वेष, दया, दान, भक्ति, काम, क्रोध के भाव मेरे हैं, ऐसा अज्ञानी (जीव) उस भाव को अपना मानकर राग-द्वेषरूप परिणमता हैं। समझ में आया ? वह राग-द्वेष और अज्ञान नये कर्म में निमित्त है, परन्तु नये कर्म

आत्मा बाँधता है, ऐसा नहीं है। नये कर्म परिणाम, पुद्गलपरिणाम को पुद्गलपरिणाम करता है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अन्दर में जितने अज्ञान में राग-द्वेषभाव करता है, वह तो निमित्त, परन्तु वह साथ में पुद्गल के परिणाम भी जीव करे—दोनों मिलकर पुद्गल के परिणाम होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात! बाहर में भी कहते हैं कि राग करता है, परन्तु पर की दया पाल सके राग से, ऐसा है नहीं। पर का परिणमन तो उसके कारण से होता है। राग तो निमित्तमात्र है। यह राग, पर की दया पाल सकता है, आहाहा! यह तो बाह्य की बातें हैं। राग आया तो पुद्गल की रचना बनी, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। पुद्गल की रचना बनती है, वह राग आया तो राग से पुद्गल की—शास्त्र की रचना बनी, ऐसा नहीं है। शास्त्र की रचना पुद्गलपरिणाम से बनी है, (उसमें ज्ञानी या) अज्ञानी का राग निहितमात्र है। समझ में आया?

राग का कर्ता होकर अज्ञानी राग को करता है, वह सूत्र-रचना में निमित्तमात्र है, परन्तु जो सूत्ररचना पुद्गल की होती है, वह पुद्गल से होती है। आहाहा! वह तो बाह्य-नोकर्म की बात है। यहाँ तो अन्दर में भावकर्म जीव करता है और उस समय जो द्रव्यकर्म बँधते हैं, वह जीव कर्मों को बाँधता है और जीव अपने राग को भी करता है, ऐसा नहीं है। जीव और पुद्गल मिलकर पुद्गल का परिणाम होता है, ऐसा नहीं है। यह तो कठिन बात, भाई!

मुमुक्षु : देखने में तो आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या देखने में आता है? मानता है भ्रम। सेठ! ऐसा है भगवान! यह मानता है। यह तो राग का भाव करे, (वह) अज्ञानी है। ज्ञानी को तो राग आता है, उस राग का भी जाननेवाला रहता है। तो उसे तो कर्मबन्धन है नहीं। थोड़ा राग है उतना बन्ध है, परन्तु वह तो अल्प स्थिति-रस का बन्धन है, उसका वह आत्मा स्वामी नहीं है, स्वयं को राग आया, उसका भी वह आत्मा स्वामी नहीं। धर्मी को राग आता है, परन्तु राग के स्वामी नहीं, आहाहा! और उस समय जो कर्म की पर्याय बँधती है, वह राग आया तो बँधती है, ऐसा है नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

यहाँ तो समय-समय की भिन्नता (का) वर्णन करते हैं। आहाहा!

है ? **यदि पुद्गलद्रव्य को, कर्मपरिणाम के निमित्तभूत....** नये कर्म जो बँधते हैं पुद्गलपरिणाम से, उसमें निमित्तभूत **ऐसे रागादि अज्ञान परिणाम, राग का कर्ता है अज्ञानी,...** उसकी यहाँ बात है। राग मेरा है, ऐसा राग का कर्ता होकर अज्ञानी, राग का कर्ता होता है। **उस अज्ञान परिणाम से परिणमित जीव के साथ...** अज्ञान परिणमित रागी-अज्ञानी है, तो उसके साथ ही **अर्थात् दोनों मिलकर होकर ही...** वह राग का परिणाम और पुद्गल के परिणाम दोनों मिलकर हुए हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा सुनने को भी मिले ऐसा नहीं, वहाँ कहीं पूरे दिन हम करते हैं... यह करते हैं... यह करते हैं... नरेन्द्रभाई! यह पत्थर में क्या तुम्हारे कहलाये वह ? टाईल्स। आहाहा! अज्ञानी ने राग किया तो पत्थर जो उठता है, वह क्रिया उस रागवाले ने की, ऐसा नहीं है। वह परिणमन, पुद्गल पर्याय से पुद्गल ऊँचा ऐसा हुआ है। आहाहा! वह तो बाहर की बात है। यहाँ तो अन्दर की बात है, कहते हैं। आहाहा!

जो अज्ञानी पुण्य और पाप के भाव जो विकल्प-राग है, वह अपने मानकर अज्ञानी राग को करता है, वह निमित्त और नया कर्म बँधता है, वह स्वयं से बँधता है, वह आत्मा नये कर्म को बाँधता है—नये कर्म को परिणमाता है, बाँधने में, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : जितने प्रतिशत राग हो, उतने प्रतिशत कर्म बँधता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जितने प्रतिशत करे, उतने (बँधता है) परन्तु उससे—राग से नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। जितने प्रतिशत राग-द्वेष के परिणाम करे अपने मानकर अज्ञानी, उतने प्रमाण में सामने कर्मबन्धन हो, परन्तु उस कर्मबन्धन में वह राग तो निमित्त है। कर्मबन्धन के परिणाम तो कर्म से हुए है, राग से हुए, ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें अब। हें ?

मुमुक्षु : राग न करे तो कर्मबन्धन होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न यहाँ कहाँ है ? यह राग अज्ञानी करता है। निमित्त, उसकी बात है। राग का कर्ता नहीं और ज्ञानी है, उसकी बात यहाँ है नहीं। ज्ञानी को राग आता है, परन्तु वह राग का ज्ञाता है—वह राग का ज्ञाता कहना, वह अभी व्यवहार है।

वह तो अपनी पर्याय का जाननेवाला है। ऐसी कठिन बातें हैं, भाई! समझ में आया?

धर्मी जीव तो मैं ज्ञायकस्वरूप हूँ, पर्यायमात्र मैं भी नहीं, तो रागमात्र तो कहाँ? निमित्त तो कहाँ रहा? आहाहा! ज्ञायकमात्र मैं अभेद हूँ। पंचाध्यायी में तो लिया है न, भाई! पंचाध्यायी में आत्मा, गुणस्वरूप है (यदि ऐसा कहो तो) गुण और गुणी, भेद हो गया, व्यवहार हो गया, वह भी मैं नहीं। आत्मा सत्स्वरूप है, वह भी भेद हो गया, ऐसा भी है नहीं। आहाहा! आत्मा द्रव्य है, वह द्रव्य है, ऐसा कहो तो भेद हो गया, ऐसा भी है नहीं। वह द्रव्य कहो, सत् कहो, गुण कहो, जो है, वह है। कठिन बात, भाई! समझ में आया? पंचाध्यायी में यह है।

यहाँ तो जो आत्मा अपना स्वरूप (शुद्ध) चैतन्यमूर्ति-ज्ञायक है, ऐसे (आत्मा को जो) जानते नहीं और अपनी पर्याय में पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति (आदि के) परिणाम आते हैं, उनका कर्ता होकर अज्ञानी होता है, उसे कर्मबन्धन होता है, वह जीव नहीं, कर्म बाँधता है। जीव तो अपने में अज्ञानपरिणाम को करता है। समझ में आया? नये कर्म बँधते हैं, वह पुद्गल के परिणाम हैं। यह जीव ने किया ऐसा है नहीं। जीव अपने में राग भी करे और पुद्गल बन्ध के परिणाम भी करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग सूक्ष्म है, भाई! लोगों को समझने मिलता नहीं और उसे निवृत्ति भी नहीं, पाप-धन्धे के कारण। प्रवीणभाई! आहाहा! बात ऐसी है। ऐसा मार्ग कहाँ है?

आहाहा! यहाँ तो ज्ञायकस्वरूप भगवान है (अभेद)। यह गुण है और गुणवाला है, ऐसा भी भेद नहीं। बात बहुत सूक्ष्म है, भगवान! यह धर्मी है और धर्मवाला है— धर्म स्वभाव हों! धर्म, पर्याय बाद में। धर्म स्वभाववाला है, ऐसा भेद भी सद्भूतव्यवहार (का) वह भी नहीं, उसका भी निषेध है। आत्मा तो ज्ञायकस्वरूप, सत्स्वरूप, ध्रुवरूप। द्रव्यरूप-गुणरूप जो कहो, वह उसरूप है, भेद नहीं। आहाहा! ऐसी (अभेद) दृष्टि करने से, और सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी उत्पन्न होती है। आहाहा!

यहाँ तो इन नय में ऐसा जानता है और जो यह राग आता है, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, शास्त्र का विनय, गुरु का विनय, देव का विनय, वह सब राग है। आहाहा!

उस राग का कर्ता होता है, अज्ञानी कहा न? रागादि-अज्ञान परिणाम कहे। समझ में आया? राग है, वह अज्ञान है, राग में ज्ञान नहीं। ज्ञानस्वरूप भगवान है, वह तो राग से भिन्न है। परन्तु रागादि अज्ञान परिणाम से परिणमता है, जीव अज्ञानी। आहाहा! वे परिणाम जीव के साथ दोनों मिलकर—जीव राग-द्वेष के परिणाम भी करे और नये पुद्गल के परिणाम भी करे, दोनों मिलकर होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

खाने की इच्छा भी करे और दाढ़ भी हिलावे खाने के (लिये), ऐसे दो काम नहीं करता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो बाहर की बात (हुई)। यहाँ तो अन्तर की बात है, जितने प्रतिशत विकार करे, उतने प्रतिशत (पुद्गलकर्म) बँधे तो भी बन्ध के परिणाम का कर्ता जीव नहीं है। शान्तिभाई! ऐसा है। आहाहा! बाहर की तो बात क्या करना? आहाहा! हीरा उठाया हाथ में, इच्छा हुई तो उस इच्छा का कर्ता हुआ कि यह मेरी इच्छा है, तो उस इच्छा से वह हीरा ऊँचा हुआ हाथ में, ऐसा है नहीं। आत्मा राग भी करे और हीरा की ऊँची होने की क्रिया परिणमन की करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। जहाँ सुनना कठिन पड़े, कभी सुनी न हो न! निवृत्ति कहाँ है अन्दर। अरे रे! सत्य क्या है? आहाहा!

मुमुक्षु : जरा सरल करो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सरल ही है। जैसा है, वैसा कहना, वह सत्य सरल है, या (उससे) विरुद्ध कहना सरल है? आहाहा! यहाँ तो सरल भाषा से कहते हैं आजकल।

भगवान! तुम राग के कर्तारूप से—अज्ञानरूप से करते हो कि तुम्हारे परिणाम राग है, अज्ञानमय है और उस समय नये कर्म बँधते हैं, वे तुम्हारे राग परिणाम हुए, इसलिए बँधते हैं—ऐसा नहीं है। उस समय पुद्गलद्रव्य के परिणाम स्वयं से बँधे हैं। आत्मा राग भी करे और पुद्गल के परिणाम भी करे, ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! कठिन बात! सत्य तो ऐसा सरल है, उससे विरुद्ध करे तो असत्य है। आहाहा! है?

अर्थात् दोनों मिलकर ही परिणाम होते हैं, ऐसा वितर्क किया जाये तो....

कोई ऐसा माने कि मैं राग भी करता हूँ और पुद्गल के परिणाम भी बन्धन के

परिणाम भी करता हूँ—ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो **जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी का—दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है,...** जैसे हल्दी और फिटकरी मिले तो लाल (रंग) रूप परिणाम होता है न? यह (हल्दी) पीली और (फिटकरी) सफेद (दोनों के मिलने से) लाल रंग हो जाता है। **उसी प्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि-अज्ञान परिणाम की आपत्ति आ जावे।** दोनों को कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जाये। आहाहा! पुद्गल और जीव द्रव्य दोनों को कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जाये। आहाहा! जीव राग भी करे और कर्म के परिणाम भी करे ऐसा हो जाये। ऐसा है नहीं। आहाहा! **परन्तु पुद्गलद्रव्य को एक को ही कर्मपने के परिणाम तो होते हैं...** यह पुद्गल (द्रव्य के) पुद्गल (कर्मरूप) परिणाम होते हैं, वह आत्मा से भिन्न है। आत्मा ने अज्ञानरूप राग किया, परन्तु वह पुद्गलपरिणाम से वह अज्ञान परिणाम भिन्न है। उस अज्ञान परिणाम से, कर्म-परिणाम हुए, ऐसा है नहीं। आहाहा! इससे सरल भाषा कैसी करे? मार्ग तो यह है। अरे रे! अनन्त काल हुआ भटकते... भटकते... भटकते...

परन्तु पुद्गलद्रव्य को एक को ही कर्मरूप परिणाम तो होता है, इसीलिए जीव का रागादि अज्ञान परिणाम जो कि कर्म का निमित्त है.... देखो ! निमित्त कुछ करता नहीं, यह बताते हैं, **उससे भिन्न ही पुद्गल (कर्म) परिणाम है।** राग से भिन्न ही पुद्गलपरिणाम है। आहाहा!

भावार्थ :-यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं... जीव और पुद्गल दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं, **तो दोनों को कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो...** दोनों कर्मपरिणाम सिद्ध हो—आत्मा को भी कर्म सिद्ध हो और जड़ को भी सिद्ध हो। **परन्तु जीव तो जड़ कर्मरूप कभी भी नहीं परिणम सकता।** है? (जीव तो) परिणाम (जड़ का) करता नहीं। **इसलिए जीव का रागादि अज्ञान परिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, इससे उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्म परिणाम है।** आहाहा! अन्तर में ऐसे भिन्न है तो बाहर की बात क्या करनी? आहाहा!

इस शरीर को मैं चलाता हूँ और मैं बोलता हूँ और मैं दूसरे को पैसा दे सकता

हूँ और पैसा ले सकता हूँ। आहाहा! मैं बीड़ी बना सकता हूँ। सेठ की बात है, क्या कहलाता है? वह तम्बाकू-बम्बाकू नहीं, पत्ते-पत्ते टिमरु के और दूसरे, वे नहीं छोटे-छोटे बीड़ी बनाते हैं न तो दो-तीन पत्ते इकट्ठे करके बीड़ी बाँधते हैं, टिमरु—वनस्पति के पत्ते, उसकी बीड़ी बाँधते हैं। दो-तीन पान (इकट्ठे करे)। क्या कहलाये? आप्टा-आप्टा! भूल जाते हैं भाई तुम्हारी भाषा! आप्टा, दो-तीन इकट्ठे करके, तो कहते हैं कि अज्ञानी राग करे और वह बीड़ी करे, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! यह सेठ के घर का दृष्टान्त दिया। सेठ के घर में (कारीगर) काम करते हैं न बीड़ी बाँधने का। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा राग भी करे और कर्मबन्धन के परिणाम भी करे, ऐसा कभी नहीं होता। कर्म के परिणाम कर्म से होते हैं और अज्ञानी के राग परिणाम अज्ञान से होते हैं। भले बन्ध में निमित्त हो, परन्तु निमित्त उसे कुछ (भी) नहीं कर सकता। आहाहा! निमित्त अकिंचित्कर है। आहाहा! स्वतन्त्र है, वह तो पर्याय स्वतन्त्र—एक-एक समय की पर्याय स्वतन्त्र है, किसी से (दूसरे) किसी की (पर्याय) होती है, ऐसा नहीं है।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव के परिणाम पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही हैं... अब दूसरा लिया, वह जीव के परिणाम से पुद्गल (द्रव्य का) परिणाम भिन्न है, अब पुद्गल परिणाम से जीव का परिणमन भिन्न है (ऐसा कहते हैं)। पुद्गलकर्म का उदय आया तो जीव को राग-द्वेष करना पड़ा, ऐसा है नहीं। राग-द्वेष अज्ञानी अपने से (स्वयं) करता है और पुद्गल का उदय स्वयं से आया, तो पुद्गल भी स्वयं से परिणमे और पुद्गल आत्मा को राग-द्वेष करावे, ऐसा तीन काल में होता नहीं। आहाहा! यह बड़ा विवाद है अभी यह। कर्म के कारण होता है... कर्म के कारण होता है।

गाथा-१३९-१४०

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः -

जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गल-जीवा हु दो वि कम्मत्त-मावण्णा।।१३९।।

एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीव-भाव-हेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गल-जीवौ खलु द्वावपि कर्मत्व-मापन्नौ।।१३९।।

एकस्य तु परिणामः पुद्गल-द्रव्यस्य कर्म-भावेन।
तज्जीव-भाव-हेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः।।१४०।।

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गल पुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञान-परिणामो भवतीति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो एव जीवस्य परिणामः।।१३९-१४०।।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव का परिणाम पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही है:-

जीव के करम के साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे!।।१३९।।

पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के।
इससे हि कर्मोदयनिमित से, अलग जीव परिणाम है।।१४०।।

गाथार्थ : [जीवस्य तु] यदि जीव के [कर्मणा च सह] कर्म के साथ ही [रागादयः परिणामाः] रागादि परिणाम [खलु भवन्ति] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं), ऐसा माना जाये [एवं] तो इस प्रकार [जीवः कर्म च] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों [रागादित्वम् आपन्ने] रागादिभाव को प्राप्त हो जायें। [तु] परन्तु [रागादिभिः

परिणाम:] रागादिभाव से परिणाम तो [जीवस्य एकस्य] जीव के एक के ही [जायते] होता है, [तत्] इसलिए [कर्मोदयहेतुभि: विना] कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [जीवस्य] जीव का [परिणाम:] परिणाम है।

टीका : यदि जीव के, रागादि-अज्ञानपरिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही (दोनों एकत्रित होकर ही), रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है-ऐसा वितर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी-दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है उसी प्रकार, जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि-अज्ञानपरिणाम की आपत्ति आ जावे। परन्तु एक जीव के ही रागादि-अज्ञानपरिणाम तो होता है; इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञानपरिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।

भावार्थ : यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों। किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीवरागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता; इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि रागादि परिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।।१३९-१४०।।

गाथा - १३९-१४० पर प्रवचन

दो गाथायें हैं न? १३९-१४०।

जइ जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गल-जीवा हु दो वि कम्मत्त-मावण्णा।।१३९।।

एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीव-भाव-हेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो।।१४०।।

नीचे हरिगीत

जीव के करम के साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे!।।१३९।।

पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के।
इससे हि कर्मोदयनिमित से, अलग जीव परिणाम है।।१४०।।

यह अभी बड़ा विवाद है। दुनिया ऐसा कहती है न, (संवत्) १९७१ से विवाद है। कर्म कराता है... कर्म कराता है... स्थानकवासी में और मन्दिरमार्गी में और दिगम्बर में भी यह निकला। यह निकला है या नहीं? कर्म है तो विकार होता है, कर्म है तो विकार होता है। आहाहा! उसने लिखा है भाई ने, यह फूलचन्दजी है न, उन्होंने उसमें लिखा है, ऐसा कि ऐसा लिखा है, 'यह कोई सोनगढ़ का—कोई व्यक्ति विशेष की दृष्टि का उद्घाटन नहीं' ऐसा लिखा है। समय-समय की पर्याय स्वयं से होती है और 'ज्ञायकभाव' दृष्टि का विषय है, भेद नहीं, ऐसी सोनगढ़ की व्यक्तिविशेष का कथन नहीं, यह तो वस्तु के स्वरूप का कथन है, ऐसा कहते हैं। यह कहीं सोनगढ़ का अथवा कोई व्यक्तिविशेष की दृष्टि का... मेरा नाम नहीं लिया। परन्तु अनादि काल से चला आ रहा है—सनातन—यथार्थ मार्ग है।

वर्तमान में सोनगढ़ इसी सनातन और यथार्थ मोक्षमार्ग का, मार्ग का दिग्दर्शन करा रहा है। ३३० पृष्ठ है, यह तो दूसरी आवृत्ति है, पहली में यह नहीं है, यह दूसरी में है, यह दूसरी आयी है न अभी नयी। यहाँ अभी (हमारा व्याख्यान) सुनकर गये थे न पन्द्रह दिन। आहाहा! ऐसा कि यह सोनगढ़ का मार्ग है, ऐसा नहीं। यह तो सनातन मार्ग है। यह सोनगढ़ से कहते हैं न...

मुमुक्षु : आपने सत्य का उद्घाटन किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं, मार्ग तो ऐसा है न सेठ! मार्ग तो ऐसा है। आहाहा! मैं तो (संवत्) १९७१ से कहता था कि कर्म से विकार नहीं होता। बड़ा विवाद हुआ सम्प्रदाय में—स्थानकवासी में, वहाँ से विवाद होकर फिर दिगम्बर में आये, तो वहाँ विवाद हुआ। कहे नहीं, कर्म से विकार होता है, कहते हैं कि विकार स्वयं से होता है तो वह स्वभाव हो जाये। विवाद मचा दिया है। (परन्तु) बात तो ऐसी ही है—मार्ग तो ऐसा ही है, भगवान! वह तो परमात्मा (सीमन्धरनाथ) समवसरण में विराजते हैं, महाविदेह में, कहते हैं, वही यहाँ कहते हैं। वहाँ की बात यहाँ आयी है। समझ में आया?

तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान (की) वाणी में आता है, वह वाणी यह है ऐसे गरीब भरतक्षेत्र में आ गयी। गरीब, गाँव में आ गये। गरीब क्षेत्र में आ गये। अभी लोगों को यह चीज़ क्या है? आहाहा! यह (पण्डित) फूलचन्दजी ने लिखा है, यह सोनगढ़ की बात है, वह सतानत मार्ग की (यथार्थ-सत्य) बात है। वह कोई घर की बात है नहीं। आहाहा! यह नये में डाला है। पहले पुरानी (पुस्तक में) नहीं, पुरानी आवृत्ति में नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं? टीका—१३९, १४० की टीका।

टीका :- यदि जीव के, रागादि-अज्ञान परिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गल कर्म के साथ ही... पुद्गलकर्म के साथ ही अर्थात् पुद्गलकर्म और राग **(दोनों एकत्रित होकर भी) रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो...** रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है—ऐसा वितर्क किया जाये तो.... यह बड़ा विवाद था वहाँ ऐसा। कर्ता का ईसरी में यह विवाद। (वे कहें) कर्म से विकार होता है। (मैंने कहा) बिल्कुल नहीं—कर्म से विकार नहीं, पंचास्तिकाय की ६२ गाथा देखो! (विकार होने में) कर्म के कारकों की कोई अपेक्षा है नहीं। यह बात नहीं जँची। यह बात चलती नहीं थी, इसलिए (उनका) कोई दोष नहीं। सारे सम्प्रदाय में—तीनों में कर्म से विकार होता है—कर्म से विकार होता है बस, यही चर्चा चलती थी। (उनकी दलील) विकार स्वभाव में नहीं तो कहाँ से होता है? कर्म से होता है। इस बात का यहाँ निषेध करते हैं। आहाहा!

यदि जीव के, रागादि (राग-द्वेष)—अज्ञान परिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गल कर्म के साथ ही (अर्थात्) (दोनों एकत्रित होकर भी)... राग-द्वेश आत्मा करे और पुद्गल भी राग-द्वेष करावे। जीव को अज्ञानभाव दोनों मिलकर होता है। पहले (की गाथा) में यह था कि पुद्गल-परिणाम और जीव के परिणाम दोनों मिलकर पुद्गल के परिणाम करे, और यहाँ आया कि राग-द्वेष के परिणाम और कर्म का उदय ये दोनों मिलकर राग-द्वेष के परिणाम करें, ऐसा नहीं है। आहाहा! बात सूक्ष्म तो है। क्या करें? आहाहा! है?

(दोनों एकत्रित होकर भी) रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो... देखो! ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये—यह तर्क यहाँ हुआ था वहाँ

(ईसरी में) कि (कर्म विकार कराता है)। कर्म के बिना विकार होता है? कहा—हाँ, देखो! ६२ गाथा पंचास्तिकाय। कर्म-कारक बिना विकार स्वयं से होता है, कर्म तो निमित्त-मात्र है, निमित्त अकिंचित्कर है। आत्मा को विकार कराने में कर्म अकिंचित्कर है। आहाहा! यह बात ऐसी है।

ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी का—दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है,... दोनों मिलकर लाल रंग होता है। **उसी प्रकार** (इस प्रकार से) **जीव और पुद्गलकर्म दोनों के रागादि अज्ञानपरिणाम की आपत्ति आ जाये...** दोनों को रागादि परिणाम की आपत्ति आ पड़े—पुद्गल और आत्मा दोनों मिलकर विकार होता है तो पुद्गल भी विकार करावे और आत्मा भी विकार करे—ऐसे दोनों मिलकर (विकार) होता है, ऐसा नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यात्वभाव और अज्ञानभाव वह करे तो—तो उसमें दर्शनमोह का कर्म उदय में आया तो उसने यहाँ मिथ्यात्वभाव कराया तो मिथ्यात्वभाव जीव भी करे और कर्म भी करे, ऐसे दो मिलकर विकार हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! चारित्रमोह का उदय आया और यहाँ राग हुआ तो चारित्रमोह के उदय ने राग कराया और आत्मा ने भी राग किया, दोनों ने मिलकर राग किया, ऐसा है नहीं। कहो, पण्डितजी! आहाहा!

यह चर्चा तो (संवत्) १९७१ से है, पढ़ा नहीं था, तब तो समयसार देखा भी नहीं था। आहाहा! समयसार तो (संवत्) १९७८ के वर्ष में आया। ७८, ७८ में समयसार (हाथ में) आया था, परन्तु ७१ में अन्दर से (आया था कि) कर्म से आत्मा में विकार होता है, यह बिल्कुल झूठी बात है (यह बात) सुनकर तो लोग घबरा गये। हमारे गुरु थे तो वे तो सुनते थे, बहुत भद्रिक थे, बहुत बुद्धि नहीं थी। पाँच-पाँच हजार लोगों के बीच व्याख्यान देते थे। गम्भीर थे, बहुत गम्भीर परन्तु दृष्टि की खबर नहीं और यह तत्त्व भी था ही नहीं न। परन्तु यह बात सुनते थे, हम दोपहर को बोलते थे एक घण्टे दोपहर को, (संवत्) १९७१ (में कहा) प्रौषध करके बैठे हों न (कहा:) कर्म से विकार बिल्कुल नहीं होता। यदि कर्म से विकार हो तो दो द्रव्य मिलकर विकार होता है, ऐसी चीज़ है नहीं। समझ में आया?

भ्रान्ति करता है मिथ्यात्व की—संशय की बात थी उस समय, संशय की बात

थी मूल तो भगवती सूत्र में, तो मिथ्यात्व करता है यह जीव, वह कर्म—मिथ्यात्व का उदय है—दर्शन (मोह) का तो वह मिथ्यात्व कराता है, ऐसा नहीं है। आत्मा पुरुषार्थ से विकार करता है और पुरुषार्थ से विकार को टालता है। परन्तु ऐसी कहाँ निवृत्ति मिले लोगों को! हा... हो... हा... हो...! क्योंकि कितने लोग वहाँ इकट्ठे हुए तो शत्रुंजय... शत्रुंजय, था न मेला कल छह कोस का मेला था कल, तेरस का दिन था न, प्रदक्षिणा का छह कोस का। तो कोई कहता था साठ हजार, सत्तर हजार लोग। परन्तु इतने तो नहीं बीस-पच्चीस हजार लोग होंगे। वहाँ लोग बहुत होते हैं। वहाँ वांकानेर एक बार दीक्षा थी—रामविजयजी, अकेली दीक्षा अज्ञान की। वहाँ लोग इकट्ठे हुए, वे सब वहाँ गये होंगे। अभी समकित किसे कहना, इस बात की खबर नहीं और यह तो स्पष्ट कहते हैं रामविजय (कहते हैं) कर्म से विकार होता है—कर्म से विकार होता है, कर्म के बिना विकार होता ही नहीं।

यहाँ तो यह बात कहते हैं, कर्म भी विकार करावे और आत्मा भी विकार करे—(ऐसा) दोनों साथ मिलकर विकार होता है? ऐसा है नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। दोनों एक हो गये। यह तो दृष्टान्त के लिये कहा है—वह तो रागकर्म और आत्मा दोनों मिलकर विकार करे तो (जैसे फिटकरी और हल्दी) दोनों का लाल रंग हो गया (परन्तु) ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है। व्यापारी को निवृत्ति नहीं मिलती और बात सूक्ष्म रह गयी जैनधर्म की....प्रवीणभाई! व्यापारियों को सबको धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन पाप। नरेन्द्रभाई! यह टाईल्स और लिया और दिया और यह किया और यह किया। आहाहा!

मुमुक्षु : पदार्थ की शोभा किससे बढ़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किससे शोभा? सेठ! ठीक कहते हैं, अज्ञान की शोभा बढ़े। आहाहा!

दुकान की सम्हाल रखना, बराबर माल रखना, अमुक ऐसा करना और ऐसा करना—घर का माल हो, वह सामने रखना, जिससे लोग देखे। क्या है परन्तु कौन रखे सामने? कहो, कान्तिभाई! क्या तुम्हारे है वह आटा-चूरण-चूरण! क्या कहलाता है वह? प्लास्टिक का चूरा! बड़ा धन्धा है। प्लास्टिक का चूरा! राग भी करे और

प्लास्टिक का चूरा भी दे सके, ऐसा है नहीं। और प्लास्टिक का चूरा राग करावे और आत्मा भी राग करे, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। कहो, सुजानमलजी!

मुमुक्षु : दो के बीच कुछ सम्बन्ध तो है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त सम्बन्ध है—निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ क्या है? कोई किसी का कर्ता नहीं है आहाहा! यह तो कहा न कि निमित्त है, कहा न, देखो।

जीव को रागादि-अज्ञानपरिणाम के निमित्तभूत.... अज्ञान परिणाम जीव में, उसमें निमित्तभूत कर्म का उदय, परन्तु कर्म का उदय विकार करावे और आत्मा विकार करे, ऐसा है नहीं। निमित्त तो कहा। वह तो पुद्गल के बन्ध में भी अज्ञान के राग-द्वेष निमित्त कहे, परन्तु निमित्त परपरिणाम में कराता है, ऐसा नहीं है। निमित्त तो अकिंचित्कर है—पर के परिणाम में और कर्म भी अपने को विकार कराने में अकिंचित्कर है।

यहाँ प्रश्न यह आया था सेठ आये थे न हुकमीचन्दजी! (संवत्) २००१ के वर्ष में वे जीवणधरजी साथ में थे। तो कहे, पचास प्रतिशत कर्म के और पचास प्रतिशत जीव के, ऐसा लो न। पचास प्रतिशत उपादान और और पचास प्रतिशत निमित्त के-कर्म के ऐसा लो न। (हमने कहा—) एक प्रतिशत भी निमित्त का नहीं और एक प्रतिशत उपादान का नहीं। सौ में सौ प्रतिशत निमित्त के निमित्त में और सौ में सौ प्रतिशत उपादान के उपादान में सेठ! सेठ पहले आये २००१ के वर्ष में। हमारे दामोदर सेठ वे और ऐसा कहते थे, दामोदर सेठ के समक्ष चर्चा हुई तब दामोदर सेठ कहे ५१ प्रतिशत पुरुषार्थ के रखो और ४९ प्रतिशत कर्म के रखो। आहाहा! बड़ी चर्चा, बहुत (चर्चा) होती थी। एक गृहस्थ थे (दामोदर सेठ दामनगर के) ७० वर्ष पहले दस लाख रुपये थे, चालीस हजार रुपये की आमदनी थी, दामोदर सेठ यहाँ दामनगर के थे, आये थे दामोदर सेठ! उनकी दृष्टि एकदम विपरीत थी। वे कहते थे कि तुम पुरुषार्थ कहते हो विकार में तो विकार में पुरुषार्थ की ५१ प्रतिशत रखो और ४९ प्रतिशत कर्म के रखो। सेठ! ऐसा बोले थे। जीवणधरजी बेचारे और कहे कि ५० प्रतिशत निमित्त के और ५० प्रतिशत उपादान के रखो। दूसरा एक पण्डित कहता था, आया था परन्तु मैं बोलूँ महाराज के सामने?

मूल यह बात चलती नहीं थी। तीनों सम्प्रदाय में मूल पूरी प्रथा ही बदल गयी—उल्टी हो गयी। स्थानकवासी, श्वेताम्बर में तो कर्म-प्रधान ही कथन है और यहाँ दिगम्बर में तो सत्य बात पड़ी है अन्दर में—शास्त्र में। यह क्या लिखा है? यह शास्त्र क्या कहता है? कि कर्म का उदय निमित्त है विकार में, परन्तु कर्म का उदय विकार कराता है—ऐसा बिल्कुल नहीं है। कहो, पण्डितजी! ऐसा है या नहीं इसमें? यह प्रोफेसर है। आहाहा! हमारे कठोर कर्म का उदय आया, उसमें (इसलिए) विषय-वासना हुई। झूठ है, ऐसा कहते हैं। कर्म, विषय-वासना करावे और तू विषय-वासना करे, ऐसा दोनों मिलकर होता है? (नहीं, नहीं)। अकेले से होता है, कर्म से बिल्कुल नहीं। आहाहा! समझ में आया?

यह उसने अभी रखा था सुल्तानसिंह ने बुलन्दशहर का है न? उसने रखा था कि देखो किसी समय पानी का जोर हो तो चलना पड़े और कर्म का जोर हो तो आत्मा कर नहीं सकता। कर्म का मन्द असर हुआ.... किस अपेक्षा की बात है? वह तो अन्दर कर्म—विकार की तीव्रता हो तो आत्मा जोर नहीं कर सकता, मन्दता हो तो उस समय में आत्मा पुरुषार्थ कर सकता है।

कर्म का क्या? 'कर्म बेचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पायी'—यह तो भक्ति में आता है। परन्तु विचार किसे करना है? सब जय नारायण। है?

टीका, इस प्रकार जीव और पुद्गलकर्म... दोनों में—**दोनों को रागादि-अज्ञानपरिणाम की आपत्ति आ जाये।** तो ऐसा है नहीं। **परन्तु एक जीव को ही रागादि-अज्ञानपरिणाम तो होते हैं। इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञानपरिणाम का निमित्त है...** निमित्त हो, परन्तु वह कराता है—ऐसा है नहीं। आहाहा! यह बड़ा विवाद तीनों सम्प्रदाय का। श्वेताम्बर में तो कर्म की व्याख्या ही कर्म से होता है। व्यवहार नहीं, कर्म से विकार... कर्म से विकार... पहले से ही ऐसा, इसलिए बेचारे क्या करें? रामविजय यह (ही) कहता है।

अपने एक खेड़ावाले जेठाभाई हैं, खेड़ावाले नहीं? वे श्वेताम्बर थे परन्तु यहाँ

का सुनकर उन्हें शंका पड़ गयी कि यह मार्ग कुछ अलग लगता है, तो प्रश्न—पचास प्रश्न निकाले, श्वेताम्बर में दिये (और उन्होंने) ऐसा कहा, अपने श्वेताम्बर में इन प्रश्नों का समाधान निकले तो मुझे मार्ग बदलना न पड़े। पचास प्रश्न निकाले, यहाँ का सुनकर। किसी ने जवाब नहीं दिया, एक ने दिया तो झूठा। फिर रामविजय के साथ चर्चा करने गये, जेठाभाई आते हैं न पगड़ीवाले, लाल पगड़ी (पहनते हैं) जेठाभाई, रामविजय के साथ (चर्चा के लिये) गये थे, तो रामविजय ने पहले ही कहा (कि) कर्म से विकार होता है, ऐसा तुम्हें मान्य है, (तो चर्चा करें) यह कहे, मुझे मान्य है नहीं। यहाँ का सुना था न! रामविजय ने पहले कहा, चर्चा करेंगे परन्तु तुम्हें यह मान्य है कि कर्म से विकार होता है। तो यह (जेठाभाई) कहे कि हमारी मान्यता नहीं है, अभी चर्चा (तो हुई नहीं न उनके साथ) चर्चा क्या करना?

परद्रव्य से विकार होता है, (ऐसी पराधीन श्रद्धा है) आहाहा! अपने-अपने अपराध से, अपने को भूलकर हैरान हो गया है 'अपने को आप भूलके हैरान हो गया'—अपनी भूल से अपने में राग और अज्ञान होता है, पर से नहीं होता। आहाहा! अरे रे! बनियों को निवृत्ति नहीं और सत्य निर्णय करने का व्यापार-धन्धा के कारण।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है, बात सच्ची भाई! (परन्तु) जन्मघुट्टी में से मिली है, वह बात सच्ची है। आहाहा!

वहाँ तो हमारे दुकान पर हम थे तो वहाँ एक वेदान्ती आये थे। परमहंस आये थे, और वेदान्ती कबीरवाले आये थे, तो उनके (साथ में) चर्चा हुई थी, यह ६५-६६ (के वर्ष की) बात है। तो हम जैन लोग भी (उनको) देखने गये, तब उम्र तो दोनों की छोटी १९-२० वर्ष की (होगी) तो वह कहे कि ईश्वर, जीव का कर्ता ईश्वर है (विश्व का कर्ता ईश्वर है) कबीरपंथी कहे—ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर (यह) सृष्टि बनायी, ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर यह सृष्टि (रची)? खड़ा कहाँ रहा ईश्वर? फिर हमारे सामने देखा, हम जैन! सामने कबीर (पंथी) हो कि क्यों भाई? मैंने कहा, बात बराबर है (कि) ईश्वर कहीं खड़ा तो (रहा) होगा न! तो जगत (विश्व) होगा या नहीं? किसने

बनाया और सामग्री कहाँ से लाया? ये बड़ी चर्चा हुई थी प्रवीणभाई? यह तुम्हारे जन्म से पहले की बात है। ६५-६६। हमको तो पहले से शौक था न। उस दुकान से हम गये, चर्चा होती थी धर्मशाला में बाहर, बतायी थी न भाई। नहीं, धर्मशाला में बाहर है, वहाँ चर्चा होती थी। वे हम जैन लोग देखने गये कि ऐसा क्या कहते हैं बड़े महात्मा आये हैं। दो व्यक्ति (एक वेदान्ती और एक कबीरपंथी)।

वह कबीरपंथी कहे, ईश्वर कर्ता नहीं है। वह (परमहंस कहे) ईश्वर कर्ता के बिना सृष्टि नहीं हुई, तो यह कबीर (पंथी) कहे, ईश्वर कर्ता हो तो ईश्वर को किसने बनाया और ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर सृष्टि को बनाया, और सामग्री कहाँ से लाया ईश्वर? सेठ! वह कबीर (पंथी) हमारे सामने देखे, हम जैन थे न, क्यों भाई? मैंने कहा—बात बराबर है, यह अब। आहाहा! हम तो पहले से ही १७-१८ वर्ष की उम्र से यह सब रस है न, व्यापार करते थे परन्तु रस इसमें था।

मुमुक्षु : रस तो आप वहाँ से लेकर आये ही थे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सच्ची है, बात तो ऐसी है। आहाहा!

भाई! हमारे कुंवरजीभाई थे, लो, हमारे बुआ के पुत्र, भागीदार! अब इस बात की उन्हें खबर थी, हम गये थे सुना था, तथापि हीराभाई के मकान में एक बार मुझसे पूछे—महाराज! ईश्वर कर्ता है या नहीं? अरे रे! यह क्या कहता है? हमारे कुंवरजीभाई थे न भागीदार, उनके लड़के भी हैं न, अभी लड़के हैं, वे लड़के नरम—लड़के नरम। है पैसेवाले हैं न! चालीस लाख रुपये हैं, तीन-चार लाख की आमदनी है लड़कों की, तीनों अलग हो गये हैं तीनों, परन्तु वे सब... वह भागीदार। हम यह कर्ता, कर्ता (की बात) सुनाते हुए उसे सुनायी थी वे लोग ऐसा कहते हैं न, खोटी बात है, उन लोगों की ईश्वर कर्ता की, ईश्वर कर्ता-फर्ता है नहीं। जगत स्वतन्त्र है और फिर यहाँ मुझे हीराभाई के मकान में पूछे (संवत्) १९९१ में वहाँ थे न! तीन वर्ष (वहाँ और फिर) १९९४ में यहाँ आये स्टार ऑफ इण्डिया में, हीराभाई का मकान है, देखा है न, कुँवरजीभाई पूछे, महाराज! यह ईश्वर कर्ता है न, तुम क्या कहते हो? कुछ भान नहीं होता बेचारे को, आमदनी में फँस जाये पूरे दिन, दो लाख की आमदनी वार्षिक। फँस

जाये वहाँ धूल में और मिले नहीं। मरकर हैरान होकर पशु में गया होगा—तिर्यंच में उत्पन्न हुआ होगा। आहाहा! क्या है बापू!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं। है? कि पुद्गलकर्म दोनों को रागादि-अज्ञान परिणाम की आपत्ति आ जाये। क्या कहते हैं? कि राग-द्वेष आत्मा भी करे और कर्म भी करावे तो दोनों को राग-द्वेष होने की आपत्ति आ जाये, तो ऐसा है नहीं। ऐसा है सेठ?

परन्तु एक जीव को ही रागादि अज्ञान परिणाम तो होता है... देखो! यह वहाँ भी चर्चा हुई थी ईसरी में। कहा—कर्म से विकार बिल्कुल नहीं होता, कर्म तो षट्कारक—कारक उसके हैं नहीं, (पंडित) फूलचन्दजी ने स्वीकार किया, दूसरे (पण्डितों ने) विरोध किया कि, नहीं। यह प्रश्न वहाँ कलकत्ता आया था, सेठ लाये थे, सेठ शान्तिप्रसाद, कि वहाँ से प्रश्न यहाँ आया है कि विकार कर्म से नहीं होता? तो कहा कि वहाँ जवाब दे दिया है, चलो उठो। गजराजजी के यहाँ भोजन (था)। गजराजजी हैं न वहाँ कलकत्ता में, वहाँ भोजन था, भोजन करके बैठे थे, वहाँ शाहूजी आये, शान्तिप्रसाद आये, चालीस करोड़ के आसामी हैं न वह आये कि यह पत्र आया है वहाँ से ईसरी से। चालीस करोड़ (के आसामी) साीधा कि यह विकार अपने से होवे तब तो (जीव का) स्वभाव हो जायेगा, इसलिए कर्म से विकार (होता है)। कहा—वहाँ जवाब दे दिया है। सेठ हो तो हमारे क्या है। सेठ! तुम्हारा जवाब दे दिया है वहाँ विकार स्वयं से होता है, कर्म से बिल्कुल (होता) नहीं। पंचास्तिकाय की ६२ गाथा देखो! (निकालो-देखो कि) हमारी बात है नहीं। कर्म के निमित्त के कारण से विकार होता है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। यह (संवत् १९१३) के वर्ष की बात है। यह सेठिया भी वहाँ थे, परन्तु इन्हें कहाँ भान था। यह तुम्हारी कहाँ एक की बात है। यह तुम्हारी बात करते थे तो वह दृष्टान्त है न, सब ऐसा ही मानते थे। सेठ! आहाहा!

यह क्या कहते हैं? देखो! यह गाथा ऐसी आ गयी है परन्तु **एक जीव को ही रागादि अज्ञानपरिणाम तो होता है...** देखो! है? **इसलिए पुद्गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञानपरिणाम का निमित्त है, उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।** पुद्गल के उदय से—कर्म के उदय से जीव का अज्ञानपरिणाम अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! समझ में आया? अन्दर विकार होता है तो कर्म निमित्त है, परन्तु कर्म के

निमित्त से विकार अत्यन्त भिन्न है। वह कर्म कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कि भाई! हमको इच्छा होती है। यह कर्म आया तो ऐसा भाव आया, बिल्कुल झूठ है। तेरी कमजोरी से विकार होता है। तेरे अपराध से तुझमें विकार होता है, कर्म बिल्कुल (विकार) कराता नहीं। ऐसा इस गाथा में कहते हैं, पुकार करते हैं।

परिणाम ऐसा कि विकार यदि कर्म से न होता हो तो विकार स्वभाव हो जाये। परन्तु वह पर्याय का धर्म है, पर्याय स्वयं से विकृत होती है, उस समय का परिणाम। क्रमबद्ध में वह आता है—स्वयं से होता है, पर से नहीं होता। मानो, न मानो, मार्ग यह है।

और अन्त में फिर दया, दान और भक्ति के परिणाम धर्म के कारण हैं, ऐसा कोई कहे तो वह मिथ्यात्व है। परिणाम होते हैं, अपने में अपने से दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, परन्तु (वह) है। शुभ (भाव)। वह शुभ (भाव) बन्ध का कारण है और उससे धर्म होता है, (यह) बिल्कुल झूठ बात है। जैसे कर्म और आत्मा दोनों मिलकर विकार नहीं, इसी प्रकार विकार और आत्मा दोनों मिलकर धर्म नहीं। विकार परिणाम भिन्न है और आत्मा का स्वभाव अत्यन्त भिन्न है। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्म भी विकार न करावे और हो स्वाधीन?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्माधीन है अशुद्ध निश्चय से अपने से है, व्यवहारनय से —यह करता है। कर्म, तो निमित्तमात्र है। निमित्त करता नहीं, कराता नहीं बिल्कुल। आहाहा! इसी प्रकार शुभराग; स्वभाव का आश्रय लेकर धर्म होता है शुभराग उसमें मदद करता है, कषाय की मन्दता—शुभउपयोग, (ऐसा) बिल्कुल नहीं। आहाहा! परन्तु निर्णय करने का अवसर नहीं न भाई! नरेन्द्रभाई? तुम्हारे छह भाईयों में बीच में कहाँ निवृत्ति है? सबको ऐसा है न, बापू! ऐसा है। आहाहा!

हमारी दुकान में (मैं था) तब तो मैं एक भगत, एक ओर बैठता और मैं पढ़ता, भगत और दूसरे सब धमाल करते पूरे दिन, साधु गाँव में आवे तो भी आहार देने को न आवे, वे तो धन्धा और दुकान में लवलीन। और मैं तो दुकान छोड़ू दूँ, गाँव में साधु आये हैं, फिर अपने उन्हें आहार-पानी और उस (व्यवस्था में लग जाऊँ) (वे लोग

दूसरे) दुकान छोड़कर नहीं जाते। वे लोग तो रात्रि में आठ बजे जाये। पूरे दिन साधु आये हों तो बेचारे सामने न देखे। कहा—यह क्या है? तुम्हारे धन्धे की इतनी निवृत्ति नहीं मिलती धन्धे के कारण? धन्धा करते हैं, बराबर चलता है न और शाम को दो सौ-तीन सौ की आमदनी होती है तो भी साधु आये तो फिर रात्रि में आठ बजे जाये—नामा-बामा लिखकर दुकान बन्द करके फिर जाये। साधु कहे, रातडिया आये। आहाहा! धन्धे के प्रेम के कारण इसे निवृत्ति कहाँ करना।

मुमुक्षु : धन्धे में रुपया मिले न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी रुपये मिलते नहीं, ममता मिलती है वहाँ। नहीं भाई, प्रवीणभाई?

आहाहा! (इसे) ममता मिलती है, पैसे तो दूर-दूर रह जाये। आहाहा! यहाँ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य का पुकार है कि आत्मा में विकार होता है तो कर्म और आत्मा दोनों मिलकर विकार होता है, यह सब (बात) झूठी है। आत्मा अकेला स्वतन्त्र विकार का कर्ता होकर विकार करता है—कर्ता स्वतन्त्र है पर की अपेक्षा है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सिद्धान्त है न कि पराश्रित व्यवहार और निश्चय स्वआश्रित।

पूज्य गुरुदेवश्री : पराश्रित व्यवहार, निश्चय स्वाश्रय। तो स्वाश्रय अर्थात् स्वरूप चैतन्यमूर्ति (निजात्मा) का आश्रय, वह स्वाश्रय। विकार है पराश्रित; पराश्रित है परन्तु करता है स्वयं से। विकार कौन कराता है? पराश्रित पर कराता है? पर का आश्रय करता है—आश्रय करता है स्वतन्त्र अपना आत्मा करता है आश्रय। अरे, यह तो गुणभेद करो तो भी व्यवहार है। व्यवहार का अर्थ क्या कि 'भेद करना' वह व्यवहार तो वह पराश्रय हो गया। तुम अभेद में भेद करते हो, वह तो भेद हो गया। अभेद चिदानन्द प्रभु, अखण्डानन्द प्रभु है। आहाहा! जिसमें विकार तो नहीं परन्तु पर्याय जिसमें नहीं, ऐसा ज्ञायकभाव, उसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत है। आहाहा! बाकी सब थोथा है, यह कहते हैं, देखो!

भावार्थ—यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म (द्रव्य) मिलकर

रागादिरूप परिणमते हैं... देखो! है न? जीव और कर्म मिलकर राग-द्वेष, विषय-वासना, मिथ्यात्व आदि भाव, दोनों मिलकर परिणमते हैं तो **दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों...** तो रागादि परिणाम दोनों को सिद्ध हों, जड़ को भी रागादि (हो) और आत्मा को भी रागादि (हो), **किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीवरागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता...** पुद्गलकर्म तो रागादिरूप—जीवरागादिरूप कभी नहीं परिणम सकता—कभी आत्मा को राग कदापि नहीं कर सकता। है? रागादि शब्द से परिणाम राग-द्वेष, विषयवासना, मिथ्यात्व आदि सब विकारभाव समझना चाहिए। आहाहा!

यह जीवरागादिरूप कभी नहीं परिणमा सकता, कौन? पुद्गलकर्म। पुद्गलकर्म जीव के राग-द्वेषरूप कभी नहीं परिणमा सकता। आहाहा! इसलिए पुद्गलकर्म का उदय **जो कि रागादि परिणाम का निमित्त है...** भले हो! कर्म का उदय निमित्त है। **उससे भिन्न ही...** उदय से भिन्न ही अपने रागादि परिणाम हैं। कर्म से नहीं होते और कर्म ने कराये नहीं। आहाहा! बड़ा विवाद यह ईसरी में (वर्णीजी के साथ) यह बड़ी चर्चा चली थी, बड़ी चली थी। (पण्डित) फूलचन्दजी ने स्वीकार किया था कि स्वामीजी (गुरुदेवश्री कानजीस्वामी) कहते हैं कि विकार निश्चय से पर के कारक बिना, (स्वयं से) होता है, ऐसा बोले। एक फूलचन्दजी निकले। यहाँ अपने बैठै थे रामजीभाई और हिम्मतभाई सब थे, (संवत्) २०१३ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? बाईस, बाईस।

यहाँ यह कहते हैं, राग-द्वेष विकार अपनी पर्याय में अपने से होते हैं—स्वतन्त्र अज्ञानरूप से। कर्म मिलकर होते हैं तो दोनों को मिलकर होते हैं, तब तो दोनों को राग आया, दोनों मिलकर ही, जड़ और चैतन्य के परिणाम भिन्न, एकदम भिन्न। कर्म के पुद्गल से रागादि अज्ञानभाव, कर्म से भिन्न हैं तो भिन्न को भिन्न (विकार) करावे, ऐसा कभी नहीं होता। **इसलिए उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।** लो! आहाहा!

अब यहाँ नयविभाग से यह कहते हैं कि 'आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है'—(यह अब कहते हैं) गाथा १४१ है, जरा सूक्ष्म बात आयेगी, विशेष से....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१४१

किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह -

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।।१४१।।

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म।।१४१।।

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः। जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यन्तव्यतिरेकाज्जीवे-ऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः।।१४१।।

अब यहाँ नयविभाग से यह कहते हैं कि 'आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है'-

है कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट-जु कथन यह व्यवहार का।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीव में-कथन है नय शुद्ध का।।१४१।।

गाथार्थ : [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [बद्धं] (उसके प्रदेशों के साथ) बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टं] स्पर्शित है, [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितम्] व्यवहारनय का कथन है [तु] और [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्ध और अस्पर्शित [भवति] है, ऐसा [शुद्धनयस्य] शुद्धनय का कथन है।

टीका : जीव को और पुद्गलकर्म को एकबन्धपर्यायपने से देखने पर उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है, इसलिए जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है, ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है, ऐसा निश्चयनय का पक्ष है।।१४१।।

प्रवचन नं. २१९, गाथा-१४१-१४२, दिनांक १३-०३-१९७९, मंगलवार, फाल्गुन शुक्ल-१५

समयसार, १४१ गाथा। अधिकार बहुत सूक्ष्म है, परन्तु यथार्थ है-अनन्त काल से जीव ने यथार्थरूप से सुनी नहीं (यह) बात। ओहोहो! यह बात! समयसार १४१ गाथा! यहाँ जरा सूक्ष्म कहते हैं।

अब यहाँ नयविभाग से यह कहते हैं कि आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं— १४१ (गाथा है)। ऊपर की लाईन है।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।।१४१।।

नीचे हरिगीत

है कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट-जु कथन यह व्यवहार का।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीव में-कथन है नय शुद्ध का।।१४१।।

टीका—१४१ की टीका। **जीव को और पुद्गलकर्म को,...** भगवान आत्मा जीव और पुद्गलकर्म जड़, इन **एक बन्धपर्यायपने से,...** दोनों को बन्ध सम्बन्ध है निमित्त-निमित्त। पर के साथ तो कोई सम्बन्ध है ही नहीं, परन्तु यहाँ कर्म के साथ (जो) सम्बन्ध है, वह व्यवहारनय से है। है? **एक बन्धपर्यायपने से देखने पर उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है...** कर्म जड़ है और आत्मा चेतन भगवान आनन्दस्वरूप है, दोनों एक समय में... बन्ध पर्याय की उसमें दृष्टि से देखो तो व्यवहारनय से उसमें है, बन्ध है। आहाहा! **ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है।** सूक्ष्म है भाई! भगवान आत्मा, चैतन्यस्वरूप अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु, उसकी पर्याय जड़कर्म का सम्बन्ध, बन्ध की पर्यायदृष्टि से देखने से, व्यवहारनय से है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

जीव को और पुद्गलकर्म को अनेक द्रव्यपने से देखने पर... भगवान आत्मा द्रव्य भिन्न है, आहाहा! कर्मरजकण वह भिन्न चीज़—भिन्न चीज़ है। बाहर की तो बात क्या करना? आहाहा! आत्मतत्त्व जो अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दघन आत्मा, उसे कर्म का सम्बन्ध निश्चय से है नहीं; वर्तमान पर्यायदृष्टि से देखने से व्यवहारदृष्टि से

पक्ष है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! निश्चय से देखो। है? **जीव को और पुद्गलकर्म को अनेकद्रव्यपने से देखने पर...** जीव भिन्न तत्त्व है, कर्म भिन्न तत्त्व है, दोनों द्रव्य एक नहीं है। आहाहा! कर्म जड़ और प्रभु चैतन्य आत्मा भगवान, यह दोनों द्रव्य ही भिन्न है। आहाहा! बाहर की तो बात क्या कहना? आहाहा!

सब भिन्न पदार्थ, अपने-अपने कारण से सब हैं, परन्तु यहाँ कर्म का सम्बन्ध जो है अन्दर में, वह निश्चयदृष्टि से देखो तो भगवान आत्मा और कर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त काल में कभी किया नहीं। ओहो! चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते-करते अनन्त भव व्यतीत हुए परन्तु यह आत्मा अन्दर कर्म के सम्बन्ध बिना की चीज़ है, ऐसा नय का पक्ष भी कभी नहीं किया। आहाहा! समझ में आया?

बहुत सूक्ष्म बात है, अधिकार (सूक्ष्म है)। आहाहा! यह शरीर तो मिट्टी जड़ धूल है, वह तो आत्मा में नहीं है। यहाँ तो आठ कर्म जो अन्दर है, वह भी आत्मा की चीज़ में वह चीज़ नहीं है। क्योंकि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव है। आहाहा! ऐसी बात है। वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा, इन्द्रों और गणधरों के बीच यह कहते थे। प्रभु विराजते हैं महाविदेह में सीमन्धर भगवान (विराजते हैं), वहाँ से यह वाणी आयी है। भगवान ऐसा कहते हैं कुन्दकुन्दाचार्य (कहते हैं) कि भगवान ऐसा कहते थे कि आत्मा अन्दर वस्तु है भगवान अन्दर, उसको कर्म का सम्बन्ध कहना, वह व्यवहार है, उपचार है, आरोपित कथन है। परन्तु वह तो कर्म के सम्बन्धरहित जीव भिन्न चीज़ है, वह निश्चयनय का पक्ष है।

पक्ष का अर्थ—मैं कर्मबन्धन से रहित हूँ इतना,... ऐसा एक नय का एक विकल्प का पक्ष है। सूक्ष्म बात है, भाई। परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतराग परमात्मा का कथन अभी बहुत गुम हो गया है। यहाँ परमात्मा कहते हैं, उसे कुन्दकुन्दाचार्य आड़तिया होकर भगवान की बात करते हैं। आहाहा!

प्रभु! तेरी चीज़ जो अन्दर है, वह कर्म के सम्बन्ध से रहित प्रभु है। आहाहा! परन्तु वह कर्म के सम्बन्ध से रहित है, ऐसा एक विकल्प करना, वह निश्चयनय का पक्ष है, वह भी आत्मा का साधन नहीं। आहाहा! वह साधन नहीं, आगे कहेंगे। कर्म से

बन्ध है, आत्मा को सम्बन्ध है, ऐसा व्यवहार का निषेध तो हम पहले से ही करते आये हैं, परन्तु यहाँ आत्मा कर्म से रहित है—कर्मबन्ध रहित है, ऐसी अन्दर चीज़ है चैतन्यस्वरूप भगवान, वह कर्म के सम्बन्ध से रहित, ऐसा एक निश्चयनय का पक्ष अर्थात् विकल्प है, निश्चयनय का पक्ष अर्थात् विकल्प अर्थात् राग है पक्ष। आहाहा! समझ में आया?

तो कहते हैं (जीव और पुद्गलकर्म के अनेक द्रव्यपने से देखने पर उनको) **अत्यन्त भिन्नता होने से जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है, ऐसा निश्चयनय का पक्ष है...** पक्ष अर्थात् विकल्प है। समझ में आया? भाई! अब गाथा तो बहुत ऊँची आयी। आहाहा! भगवान त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरी चीज़ अन्दर कर्म से भिन्न है, ऐसा विकल्प तुझे होता है—निश्चयनय का पक्ष (होता है), वह भी तुझे छोड़ना पड़ेगा। रायचन्दभाई! आहाहा! ऐसी बात है। तुझे जन्म-मरण से रहित होना हो, चौरासी के अवतार में भटककर अनन्त बार जन्म-मरण करके थका नहीं, थकान नहीं लगी। इन जन्म-मरण से रहित होना हो तो पहले, आत्मा कर्म से बँधा हुआ नहीं है—ऐसा जो निश्चयनय का विकल्प है, यहाँ तक आया, किन्तु इससे क्या? परन्तु इससे क्या? (देखो)! १४१ के पीछे (गाथा १४२ की शुरुआत उपोद्घात) किन्तु उससे क्या?

निश्चयनय से भगवान आत्मा कर्मबन्ध के सम्बन्ध से रहित है, ऐसा जो पक्ष अर्थात् विकल्प अर्थात् राग है, वह निश्चयनय का पक्ष है। आहाहा! प्रभु! यहाँ तक तू आया, परन्तु इससे क्या? रमणीकभाई! आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु। आहाहा! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा की दिव्यध्वनि द्वारा आयी हुई बात वह आगम में रचित है। आहाहा! ओमकार दिव्यध्वनि सुनकर आगम रचे। आहाहा! वह आगम सुनकर भव्यजीव संशय मिटाता है। आहा! (संशय) क्या? कि कर्म का सम्बन्ध तो मुझमें है ही नहीं, यह तो पहले से निषेध करते आये हैं। शरीर तो जड़-मिट्टी है, उससे तो कोई सम्बन्ध है नहीं। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, परवस्तु है, उनसे आत्मा को कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! यहाँ तो कर्म जो जड़ है—पूर्व में जो इसने पुण्य-पाप के भाव किये थे, उससे कर्म बँधे हैं, उन कर्म का सम्बन्ध है, वह भी व्यवहारनय का उपचारिक कथन है। आहाहा! भगवान! तू तो कर्म के सम्बन्ध से रहित है न?

ऐसा निश्चयनय का पक्ष करता है, तो वह भी एक विकल्प है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मार्ग वीतराग का मार्ग अलौकिक है, बापू! क्या कहा? भाई नहीं आये? गये होंगे। मलूकचन्दभाई! समझ में आया? विषय बहुत सत्य है, जिसे आत्मा का कल्याण करना हो और जन्म-मरण चौरासी के अवतार करते-करते अनन्तभव गये, प्रभु! उससे यदि छूटना हो, तो मैं कर्मसम्बन्ध से रहित हूँ, ऐसा एक निश्चयनय का विकल्प है, यहाँ तक आया, तो भी क्या, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप, अन्दर शुद्ध चिदानन्द आत्मा, वस्तु है, वह कर्म के सम्बन्ध के भाव से तो रहित है। क्योंकि कर्म परपदार्थ है, उसका तो इसमें अभाव है। परन्तु अभाव है, ऐसा एक निश्चयनय स्वआश्रय का विकल्प उठाता है—मैं अबद्ध हूँ, ऐसा विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति उत्पन्न हुई.... यहाँ तक आया, उससे क्या? तेथी शु?

मुमुक्षु : उस विकल्प का क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं विकल्प को तोड़ डाल तो तुझे लाभ-कल्याण होगा। किसने पूछा?

मुमुक्षु : नवलचन्दभाई ने।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यही कहते हैं न, अब आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अकेले-अकेले क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेले यह करना अन्दर, विकल्प तोड़कर (निर्विकल्प) स्वरूप में एकाग्र होना। आहाहा! भगवान आनन्द प्रभु आत्मा, सच्चिदानन्द—सत् अर्थात् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का पिण्ड प्रभु अन्दर, उसका भी निश्चयनय के पक्ष का विकल्प उठाता है, उससे क्या? यहाँ तक आया, उससे क्या हुआ तुझे? उसमें तुझे क्या लाभ है? आहाहा! समझ में आया?

सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा, कर्मबन्धन के सम्बन्ध से रहित है। पर का तो सम्बन्ध है ही नहीं, परन्तु कर्मबन्धन का सम्बन्ध जो एकक्षेत्रावगाह है, उससे भी मैं सम्बन्धरहित हूँ, ऐसा एक स्वाश्रित विकल्प उठाता है, राग की वृत्ति, मैं निश्चयनय से अबद्ध हूँ, पर से रहित हूँ—ऐसा विकल्प अर्थात् राग की वृत्ति उठती

है, उसे यहाँ कहते हैं कि उससे क्या? यहाँ तक आया तो भी तेरा कल्याण नहीं होगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

प्रभु चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर आनन्दस्वरूप है, उसके निश्चय के पक्ष में तू आया और खड़ा रहकर वहाँ रुक जायेगा तो तुझे लाभ नहीं होगा। आहाहा! अरे! चौरासी के अवतार में भटकते हुए प्रभु! कहते हैं कि यहाँ तक आया कितनी ही बार। आहाहा! समझ में आया? मेरी चीज़ अन्दर वस्तु है, उसे कर्म का सम्बन्ध है, उसका तो निषेध करते आये हैं, आगे कहेंगे। परन्तु यहाँ तो कर्मसम्बन्धरहित है, ऐसी एक विकल्प वृत्ति उठती है, निश्चयनय के पक्ष के स्वाश्रय से, प्रभु! यहाँ तक आया, उसमें तेरा कल्याण क्या हुआ? समझ में आया?

देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, विनय वह तो विकल्प है, उसकी तो यहाँ बात है नहीं। आहाहा! उससे तो तेरा कल्याण होगा, ऐसा तो है नहीं। परन्तु तू अन्दर वस्तु कर्म के-जड़ के सम्बन्धरहित वस्तु है, क्योंकि वह कर्म भी द्रव्य है और तू भी एक वस्तु है, तो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है ही नहीं। ऐसा आया अन्दर कि मैं तो अबद्ध हूँ—कर्म के सम्बन्ध के बन्ध से रहित हूँ। है ऐसा, परन्तु ऐसा विकल्प उठाता है। आहाहा! प्रवीणभाई! तुम्हारे वहाँ पैसे-बैसे में यह सुनने को मिले, ऐसा वहाँ कहीं नहीं है। पैसे को तो कोई सम्बन्ध नहीं, कहते हैं। (तुझे और) शरीर को तो कुछ सम्बन्ध नहीं। वह तो जड़-मिट्टी-धूल है परन्तु अन्दर कर्मबन्धन जो है, तेरे भाव से कर्मबन्धन जो हुआ कर्म के कारण से—मैं बन्धसहित हूँ, यह भी व्यवहारनय का पक्ष-विषय छोड़ दे, वह तो छोड़ दे, परन्तु मैं बन्धरहित हूँ—कर्म के सम्बन्ध से मैं रहित हूँ (अबद्ध हूँ), ऐसा निश्चयनय में आँगन में आकर विकल्प उठाता है, उससे क्या? आहाहा!

ऐसा तो प्रभु का मार्ग है, भाई! दुनिया में तो कुछ न कुछ रुककर कहीं पड़े हैं।

मुमुक्षु : शुरुआत में तो ऐसा विकल्प आता ही होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है, परन्तु कहते हैं कि उससे क्या? यह तो कहते हैं। यहाँ तक तू आया, उससे क्या हो गया तुझे? आहाहा! भगवान तेरी चीज़ (आत्मा) तो जो यह निश्चयनय का विकल्प है, उससे रहित है अन्दर, वह विकल्प तेरा हो तो कभी छूटे नहीं। वह तेरा है नहीं। आहाहा! मैं कर्मबन्धनरहित हूँ, ऐसी जो विकल्प की वृत्ति

उठती है, यहाँ तक आया, परन्तु कहते हैं परमात्मा, उससे क्या हुआ तुझे ? उससे तुझे क्या लाभ हुआ ? आहाहा!

मुमुक्षु : सम्यक् एकान्त का पक्ष, वह मैं नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह हूँ, ऐसा भेद करता है और विकल्प उठता है, वह नहीं। प्रभु का मार्ग... ! यह विकल्प है, वह राग है। मैं अबद्ध हूँ, अमूढ़ हूँ, शुद्ध हूँ— ऐसा विकल्प उठता है, वह राग है। उस निश्चयनय के पक्ष का स्व की अपेक्षा से उठा हुआ राग है। तो इससे तुझे लाभ क्या हुआ ? समझ में आया ? आहाहा! दूसरे से तो लाभ नहीं। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करना, वह तो राग है, उससे तो तुझे लाभ नहीं। आहाहा! परमात्मा ऐसा फरमाते हैं, त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की आज्ञा प्रमाण कुन्दकुन्दाचार्य जगत को प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! तू अन्दर है न चीज़ सच्चिदानन्द प्रभु। 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' आहाहा! 'चेतनरूप अनूप अमूरत, चेतनरूप अनूप अमूरत' उसे कोई उपमा नहीं, अमूर्तिक वस्तु है, 'सिद्धसमान सदा पद मेरो' आहाहा! ऐसा विकल्प आता है, तब तक कहाँ तेरा कार्य हुआ ? ऐसी बात है, भगवान! आहाहा!

भाग्यशाली को तो कान में पड़े, ऐसी बात है। ऐसी चीज़ अभी बहुत गुप्त हो गयी है प्रभु! क्या कहें ? सम्प्रदाय में तो यह व्रत करो, अपवास करो, भक्ति करो और पूजा करो (इससे) कल्याण होगा। अरेरे! यह तो बात कहीं रह गयी परन्तु यहाँ तो मैं आत्मा अबद्ध अर्थात् है वह अबद्ध अर्थात् मुक्तस्वरूपी ही आत्मा है, परन्तु मुक्तस्वरूप हूँ, अबद्ध हूँ, ऐसा विकल्प जो वृत्ति उठती है, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! है ? गाथा बहुत अच्छी आ गयी है। हमारे रमणीकभाई मौके से आये हैं न! रमणीकभाई पालेज बहुत हिम्मत की है। बहुत महिमा करते थे।

बापू यह होता है (होनेयोग्य) क्या हो वह बस, इस संसार में क्या न बने ? यह कहा न, वह तो ऐसे—ऐसा विवाह होता था मण्डप में थे, नीचे सर्प आया, डंक मारा तो मर गया। (वरराजा) तो विवाह करते-करते मर गया, ढल गया। आहाहा! देह की स्थिति पूरी होने की हो, बापू! उसे रोके कौन ? एक समय भी अधिक जिनेन्द्रदेव भी बदल नहीं सकते, प्रभु! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! मैं अबद्ध हूँ, ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ, शान्ति हूँ, स्वच्छ हूँ,

प्रभु हूँ, मेरी चीज़ परमेश्वरस्वरूप है, आहाहा! ऐसा विकल्प—राग उठाता है, प्रभु! उससे तुझे क्या लाभ है? आहाहा! झबेरी की दुकान में अन्दर आया परन्तु अन्दर आकर ऐसा करने (लगा) कि यह जवाहरात और यह है और यह है, इससे तुझे क्या लाभ? आँगन छोड़कर अन्दर में जा। आहाहा! ऐसी बात है। है? किन्तु **उससे क्या?** अर्थात् यहाँ तक तू आया, इससे तेरे आत्मा को लाभ क्या? उससे धर्म क्या हुआ? आहाहा! यह विकल्प है, वह आस्रव है, बन्ध का भावबन्ध है। आहाहा! बन्धरहित हूँ, ऐसा विकल्प भी भावबन्ध है। आहाहा! यह वीतराग ऐसा कहते हैं। वीतराग ऐसा कहते हैं कि हमारी भक्ति करने से भी तुझे तो राग होगा। तुम्हारे द्रव्य का आश्रय ले, तो तुझे धर्म होगा। आहाहा! द्रव्य के आश्रय में भी निश्चयनय के विकल्प में खड़ा रहेगा, तो भी आत्मा का आश्रय नहीं ले सके। शान्तिभाई! ऐसा है, प्रभु! आहाहा!

जो आत्मा उन दोनों नयपक्षों को पार कर चुका है... देखो! है? जो आत्मा दोनों नयपक्ष—व्यवहार का पक्ष तो छूट गया, परन्तु निश्चयनय के पक्ष को भी छोड़कर—जो छोड़ चुका है उसे, पार हुआ है, **वही समयसार है।** वह आत्मा है। क्या कहा, समझ में आया? मैं अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ, ऐसा विकल्प नयपक्ष का है, उसे भी छोड़कर अन्दर में (आत्मा का निर्विकल्प) अनुभव करे, वह समयसार आत्मा है। तब उसे सम्यग्दर्शन होता है और कल्याण होता है। आहाहा! (देखो न!) है या नहीं? यहाँ तो कोई समय मिलता न हो पढ़ने में समयसार...

मुमुक्षु : पढ़ते हैं न

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह समय तो कहाँ लेता है पढ़ने के लिये? आहाहा! वाँचे तो सूझ पड़े, ऐसा नहीं। आहाहा! प्रभु! तू कौन है अन्दर? तेरी चीज़ तो 'मैं अबद्ध हूँ' ऐसे विकल्प से भी पार है। आहाहा! समझ में आया?

जो आत्मा उन दोनों नयपक्षों को पार कर चुका है.... आहाहा! व्यवहार के पक्ष को तो छुड़ाने जैसा कहकर निषेध करते आये हैं, परन्तु निश्चयनय का पक्ष भी छोड़ दे। पक्ष छोड़ दे। आहाहा! भगवान तो अन्दर शुद्धचैतन्यघन आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! उसका अवलम्बन लेकर अनुभव निर्विकल्प बनकर कर तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और जन्म-मरण का अन्त होगा। आहाहा! यह गाथा है, देखो! **यह अब गाथा द्वारा कहते हैं।**

गाथा-१४२

ततः किं -

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

कर्म बद्ध-मबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नय-पक्षम्।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समय-सारः।।१४२।।

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवोऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पै-कविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।

तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमति-क्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति।

ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विक-ल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विन्दति।।१४२।।

किन्तु इससे क्या? जो आत्मा उन दोनों नय पक्षों को पार कर चुका है, वही समयसार है-यह अब गाथा द्वारा कहते हैं:-

है कर्म जीव में बद्ध वा अनबद्ध यह नयपक्ष है।
पर पक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वह समय का सार है।।१४२।।

गाथार्थ : [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [बद्धम्] बद्ध है अथवा [अबद्धं] अबद्ध है- [एवं तु] इस प्रकार तो [नयपक्षम्] नयपक्ष [जानीहि] जानो; [पुनः] किन्तु [यः] जो [पक्षातिक्रान्तः] पक्षातिक्रान्त (पक्ष को उल्लंघन करनेवाला) [भण्यते] कहलाता है, [सः] वह [समयसारः] समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

टीका : 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा जो विकल्प, वे दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (–उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि)– जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है, वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह उन दोनों पक्ष का अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नय पक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है–उसका अनुभव करता है।

भावार्थ : जीव कर्म से 'बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है'–यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसी ने दोनों पक्ष लिये, तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो किसी भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वहीं शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर उस–रूप समयसार को–शुद्धात्मा को–प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।।१४२।।

गाथा - १४२ पर प्रवचन

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

नीचे हरिगीत

है कर्म जीव में बद्ध वा अनबद्ध यह नयपक्ष है।
पर पक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वह समय का सार है।।१४२।।

टीका—१४२ (गाथा की) टीका '**जीव में कर्म बद्ध है,' ऐसा जो विकल्प...** राग और **तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है', ऐसा जो (विकल्प) जो राग, वे दोनों नय पक्ष हैं।** नय का 'पक्ष' है। नयातिक्रान्त अन्दर में नहीं गया। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु उस विकल्प से पार, विकल्प से अतीत है, **जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है—**आहाहा! अधिकार ऐसा आया है, भाई!

अरे! इस मनुष्यपने में करनेयोग्य हो तो यह है। बाकी सब थोथा है। यह भव, वह भव के अभाव के लिये भव है। आहाहा! यह भव का अभाव कैसे हो, आहाहा! यह कहते हैं। **जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है...** उसे उल्लंघन कर देता है। विकल्प—राग है, उसे छोड़ देता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! आत्मा को तो 'भगवान' रूप से बुलाते हैं, ७२ गाथा में भगवानरूप से बुलाते हैं। भगवान आत्मा, वह तो ज्ञानघन-आनन्दकन्द विकल्पातीत-रहित है। सूक्ष्म बात है, भाई! लोग तो बाहर से मानो कुछ दया, दान, व्रत और भक्ति करें तो मानो कि वह कल्याण हो जायेगा, यह यात्रा करें, लो! शत्रुंजय की और सम्मेदशिखर की, वह तो राग है। ऐई! यह छह कोस घूमे न नंगे पैर, राग है। नरेन्द्रभाई! यहाँ तो ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा!

यह विकल्प उठता है, उससे भगवान शून्य है। ऐसा रहित प्रभु अन्दर है। आहाहा! त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी समवसरण में वर्तमान विराजते हैं, वे कहते हैं, वह 'यह' बात है। इन्द्र और गणधरों के बीच महाविदेहक्षेत्र जमीन पर है। भगवान पाँच सौ धनुष की देह है, दो हजार हाथ ऊँचे हैं। आहाहा! करोड़पूर्व का आयुष्य है। करोड़पूर्व? एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ ५६ हजार करोड़ वर्ष जायें, ऐसा एक पूर्व (का काल है) ऐसे करोड़पूर्व का प्रभु का आयुष्य है। अभी वर्तमान है न अभी तो बहुत वर्ष रहनेवाले हैं, दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, वहाँ से यह सन्देश लाये। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! अभी बाहर के व्यापार-धन्धे में से छूटना कठिन पड़े इसे। आहाहा!

इसे यहाँ तो कहते हैं कि कर्मबद्ध है, यह व्यवहार का पक्ष तो छोड़ दे, परन्तु

बन्धरहित मैं हूँ—ऐसा निश्चयनय का पक्ष भी छोड़ दे। आहाहा! है? **जो उन नयपक्ष का अतिक्रम करता है (- उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके...** वह समस्त विकल्पों को छोड़कर, **स्वयं निर्विकल्प...** प्रभु अन्दर, आहाहा! अनन्त पुरुषार्थ है। विकल्प को छोड़कर; विकल्प शब्द से राग—वृत्ति छोड़कर स्वयं निर्विकल्प प्रभु अन्दर है। चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर विराजता है, प्रभु! तेरे दर्शन करना हो तो वहाँ जा। आहाहा! यह भगवान के दर्शन तो अनन्त बार किये, मूर्ति के और समवसरण के और भगवान साक्षात् भगवान के, वह तो राग है। आता है परन्तु राग है। यह तो अन्दर में प्रभु, निर्विकल्प ज्ञानघन—आनन्दकन्द प्रभु आत्मा, आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का खजाना है। अतीन्द्रिय अनन्तगुणरूप है—अनन्त गुणवाला ऐसा भी नहीं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... जिसका अन्त नहीं ऐसा, अनन्त... अनन्त... गुण का एकरूप प्रभु अन्दर है। वह विकल्प से रहित निर्विकल्प है। आहाहा!

तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, धर्म की पहली सीढ़ी—धर्म की पहली सीढ़ी, आहाहा! तो उन विकल्पों को छोड़कर प्रभु अन्दर आनन्दस्वरूप निर्विकल्प है, **एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर...** 'एक'। विकल्प है, वह तो दूसरी चीज़ हो गयी। उससे भिन्न होकर, आहाहा! भिन्न होकर, अभेद निर्विकल्प अर्थात् विकल्प का अंश जहाँ नहीं, वह निर्विकल्प अभेद चीज़ है। आहाहा! एकरूप चीज़ है, उसे कर्म का सम्बन्ध तो नहीं, परन्तु विकल्प का भी सम्बन्ध नहीं। आहाहा! ऐकड़े एक और बिगड़े दो। जो विकल्प उठाता है, तो आत्मा में बिगाड़ होता है, कहते हैं, उससे रहित एकरूप आत्मा को पकड़ता है तो निर्मलता प्रगट होती है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

ऐसा मनुष्यपना मिला, उसमें ऐसी सत्य बात सुनने को न मिले, अरे! वह कब समझे और कब करे? आहाहा! जिन्दगी चली जाती है। जितना समय जाता है, वह मृत्यु के समीप जाता है, मृत्यु का समय निश्चित है, वह निश्चित है। भगवान ने देखा है कि इस समय, इस क्षेत्र में, इस स्थिति में आयु पूर्ण हो जायेगी। आयुष्य इस प्रमाण इतना है। आहाहा! वह जवान हो कि आहा! कहा था न एक बार? मलकापुर में एक

स्वरूपचन्द लड़का है, स्वरूपचन्द, कुँवारा था तब भी मोक्षमार्ग (प्रकाशक) है न टोडरमलजी का, (वह उसने) कण्ठस्थ किया था और फिर कपड़े का बड़ा व्यापारी। दस हजार का तो तब था, अभी तो बड़ा व्यापारी होगा, तब दस हजार का वस्त्र का व्यापारी, अविवाहित था और बड़ा धन्धा। मोक्षमार्गप्रकाशक कण्ठस्थ। पश्चात् उसने विवाह किया, फिर उसका एक मित्र था, अट्ठाईस वर्ष का जवान। वे दोनों बातें करते। नख में राग नहीं, स्वरूपचन्द कहे—महाराज... हम दोनों बैठे थे और बातें करते थे, उसमें ऐसा हुआ। मैंने ऐसे देखा, वहाँ मर गया। स्वरूपचन्द लड़का है मलकापुर में। यहाँ तो प्रचार भी बहुत हो गया है न? लड़का पूरा मोक्षमार्गप्रकाशक कण्ठस्थ। प्रश्न करता था, उससे लगता था कि, ओहो! यह तो इसे इतना सब बहुत याद है। वह कहे—महाराज! मेरा मित्र बैठा था (मेरे) साथ में, और नख में रोग नहीं और यह बात करते ऊंह हुआ, मैंने देखा तो वह मर गया था, देह छूट गया था। देह की स्थिति पूरी होने की हो, तब होती है न, उसमें एक समय का फेरफार कोई नहीं कर सकता। आहाहा! केवली फेरफार नहीं कर सकते। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है न? जिस समय में जन्म-मरण जहाँ जैसे होनेवाले हैं, उन्हें इन्द्र, नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी बदल नहीं सकते। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु! तेरी देह की स्थिति पूरी हो, उससे पहले यह करने का है, भाई! बाकी थोथा है सब, भले करोड़, दो करोड़ रुपये मिल जायें और धूल मिले, ऐई! आहाहा! वस्तु (आत्मतत्त्व) वह निश्चय से मैं मुक्त हूँ—अबद्ध हूँ, ऐसा जो विकल्प वृत्ति उठती है, उसे अतिक्रम करके—छोड़कर अन्दर निर्विकल्प वस्तु (आत्मतत्त्व) है, उसे जिसे विकल्प का सम्बन्ध नहीं, अभेद और एकरूप वस्तु है, जिसमें विकल्प—दोपना है नहीं। आहाहा! ऐसा निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप विज्ञानघनस्वभाव। आहाहा!

पहले तो घी ऐसा था पहले, पचास वर्ष पहले सर्दी में, ऐसा घी हो कि उसमें खुरपी मुश्किल से अन्दर प्रविष्ट हो, अँगुली घुसाओ तो फाँस लगे, घी की फाँस लगती थी, ऐसा घी था। दगा-दगा नहीं था तब, तो अब तो दगा (हो गया) उस घी की फाँस

लगे, (ऐसा जमा हुआ कि) मगसर महीने का घी, हमने तो देखा हुआ है न, चेला— चौरासी गाँव है न जामनगर के पास, ऐसा घी कि अँगुली उसमें घुसे नहीं, ताविथो समझे? खुरपी। खुरपी भी मुश्किल से घुसे। इसी प्रकार यह जिसमें खुरपी और अंगुली प्रवेश न हो, उसी प्रकार ऐसा भगवान विज्ञानघन है कि उसमें राग या विकल्प प्रवेश नहीं हो सकते। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

देह तो माँस, हड्डी, चमड़ी है, प्रभु! इसकी तो श्मशान की राख होगी। यहाँ अग्नि गिरेगी और निकलेगी यहाँ से। हल.. हल... हल... यह तो मिट्टी है। मिट्टी है, वह इतनी नहीं रहे—श्मशान में मिट्टी (राख) इतनी नहीं रहेगी। थोड़ी सी रहेगी और उसमें हवा आयेगी तो... आहाहा!

मुमुक्षु : वह भी उड़ जायेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : रजकण, रजकण तेरे भटकेंगे जैसे भटकती रेत,

फिर नरतन पाये कहाँ... चेत चेत नर चेत॥

—तेरे रजकण भटकेंगे, वह रजकण भटकेंगे राख हो जायेंगे, जैसे भटकती रेत—रेत जैसे भटकती है। आहाहा! क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : आँधी

पूज्य गुरुदेवश्री : आँधी में तिनका उड़े, वैसे उड़ जायेगा, बापू! फिर नरतन कहाँ पायेगा बापू? चेत, चेत नर चेत। आहाहा! प्रभु! ऐसे समय में चेतने के काल में यदि नहीं चेता तो प्रभु! फिर तुझे ऐसा समय कब मिलेगा? आहाहा!

वस्तु अन्दर ऐसी है, भगवान आत्मा निर्विकल्प है। एकरूप है और विज्ञानघन, घनपिण्ड, आहाहा! विज्ञान का घन, वह स्वभावरूप होकर, आहाहा! **साक्षात् समयसार होता है।** तब समयसार आत्मा का अनुभव होता है। विकल्प को तोड़कर निर्विकल्पदृष्टि करने से निर्विकल्प में अनुभव होता है तो साक्षात् समयसार अर्थात् 'आत्मा है' ऐसा (अनुभव) होता है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है! समझ में आया?

साक्षात् समयसार होता है,... आहाहा! जैसा आत्मा है, वैसा प्रत्यक्ष अनुभव में

आता है, ऐसा कहते हैं। विकल्प को तोड़कर। आहाहा!

यह तो १७वीं गाथा, राजकोट लिखी है कि यह पढ़ना, वे लोग १७वीं गाथा में ऐसा है, समयसार, कि ज्ञान की पर्याय जो है न ज्ञान की पर्याय। राग नहीं, विकल्प नहीं, ज्ञान की पर्याय जो है न विचार-पर्याय, उसमें आत्मा ही जानने में आता है। अज्ञानी को भी अनादि से ज्ञान की पर्याय में आत्मा ही जानने में आता है। आहाहा! परन्तु उस ओर नजर नहीं। नजरें राग और पर्याय पर नजर होने से, पर्याय में जाननेवाला आत्मा ज्ञात हो ही ऐसा स्वभाव भगवान कहते हैं। तेरी ज्ञान की पर्याय में, पर्याय का स्वपरप्रकाशक स्वभाव होने से, तेरी पर्याय स्व को जानती है, अन्दर द्रव्य को जानती है। आहाहा! परन्तु तेरी नजर वहाँ नहीं है। समझ में आया? यह १७वीं गाथा, राजकोट में लिखी थी वहाँ शुरु करनी है। आहाहा!

यह भगवान आत्मा... इसकी जो विचारधारा है ज्ञानपर्याय, पर्याय ज्ञान है और पर्याय में ज्ञान है—अवस्था में ज्ञान है न, उस ज्ञान में, आत्मा त्रिकाली ज्ञात होता है, ऐसा भगवान कहते हैं। वह पर्याय का स्वभाव ज्ञान का स्वपरप्रकाशक है तो स्व को जानती ही है। आहाहा! परन्तु, वह जानता है पर्याय में, ज्ञायकद्रव्य, परन्तु पर्याय पर लक्ष्य होने से, द्रव्य का लक्ष्य किया नहीं—जानने में आता है, उसे जाना नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! वीतरागमार्ग! आहाहा! इसके अतिरिक्त कहीं है नहीं, जिनेश्वर परमात्मा के अतिरिक्त कहीं मार्ग है नहीं।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा वीतराग तेरी पर्याय में; क्योंकि पर्याय ज्ञानपर्याय है, तो ज्ञानपर्याय का स्वभाव तो स्वपरप्रकाशक है, स्व प्रकाशता ही है, पर्याय में द्रव्य अखण्ड निर्विकल्प है, उसका ज्ञान होता ही है, परन्तु तेरी नजर वहाँ नहीं। नजर राग और पर्याय के ऊपर होने से... पर्याय में भगवान दिखता है—ज्ञात होता है तो भी देख नहीं सकता। आहाहा! १७वीं गाथा में ऐसा कहते हैं, परमात्मा जिनेश्वरदेव वीतराग भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरी वर्तमान पर्याय भले अज्ञान हो, परन्तु उस पर्याय में तेरी चीज़ स्व, वह जानने में आती है। तेरी पर्याय का स्वभाव ऐसा है कि स्व को जाने, परन्तु जानने पर भी तेरी नजर वहाँ नहीं है। तेरी नजर पर्याय और राग के ऊपर होने से पर्याय में ज्ञात

होने पर भी नहीं जाना। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बात है। उसमें जवान व्यक्ति हो और दो, पाँच-पच्चीस लाख हों तो देखो। 'मैं चौड़ा और गली सकड़ी' हो गयी। आहाहा!

प्रभु! तू कहाँ है? अन्दर में है, तू निर्विकल्प विज्ञानघन है, नाथ! आहाहा! तुझमें मैं निश्चय से अबद्ध हूँ, ऐसा विकल्प भी प्रभु तुझमें नहीं है। आहाहा! सत् की पराकाष्ठा प्रभु की 'यह' है। अरे! सुनने को भी नहीं मिलता। आहाहा! वह कब समझे, वह कब समझे और कब अन्तर में जाये? आहाहा! है? **(विज्ञानघनस्वभावरूप) होकर साक्षात् समयसार होता है...** तब उसे अन्तर में आनन्द का अनुभव होता है, यह तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु है। तो विकल्प को छोड़कर तू अन्दर में जा, तो तुझे आनन्द का—अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तुझे आयेगा। जिस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन भी सड़ी हुई बिल्ली और सड़ा हुआ कुत्ता हो, वैसे इन्द्र के इन्द्रासन और इन्द्राणी का सुख सड़ी हुई बिल्ली और कुत्ते जैसा लगेगा तुझे। आहाहा! ऐसा आत्मा का सम्यग्दर्शन में आत्मा का स्वाद आता है, उस स्वाद के समक्ष तुझे सब चीजें कुत्ते और बिल्ली जैसे मरकर सड़े, वैसे इन्द्र के इन्द्रासन के और इन्द्राणी के सुख, वे तुझे सड़े हुए बिल्ली और कुत्ते जैसे लगेंगे। आहाहा!

ऐसा मार्ग है, बापू! बहुत सूक्ष्म। अभी तो चलता नहीं, अभी तो सब ऐसा व्यवहार करो, यह करो और यह करो और यह करो, धर्म का प्रचार करो। अभी तुझे खबर नहीं धर्म क्या और धर्म का प्रचार कहाँ से करता था? आहाहा! प्रचार तो तुझमें होगा या बाहर में होगा? आहाहा! लोगों को बाहर की हो... हा... ऐसी रुचे कि अन्दर में यह क्या चीज़ है?

मुमुक्षु : बाहर में बोझा कम पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में बोझा कम पड़ता है? बाहर में बोझा बढ़ता है। आहाहा! ऐसा कि 'यह' बोझा लगे और कठिन बात लगती है और वह हल्का लगता है।

मुमुक्षु : वह तो स्थूल बात हो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो कहा कि प्रभु! तू एकरूप है, विज्ञानघन है, अबद्ध

है—मुक्त है, स्वरूप तो मुक्त ही है। अबद्ध कहो या मुक्त कहो। परन्तु मुक्त है, ऐसा जो विकल्प—राग उठाता है, उससे तुझे मुक्त का लाभ नहीं होगा। आहाहा! कल आया था प्रवचन में, शुभ उपयोग, देव-गुरु-यति और उनकी प्रतिमा की पूजा भक्ति, विनय, वह सब शुभ उपयोग है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा!

यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) 'जो जीव में कर्म बद्ध है, ऐसा विकल्प करता है, वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी.... बद्ध है, ऐसा विकल्प करता है तो अबद्ध है, ऐसे विकल्प को तजता है, (तथापि) विकल्प का अतिक्रम नहीं करता—एक पक्ष के विकल्प का अतिक्रम करता हुआ भी 'विकल्प' का अतिक्रम नहीं करता। क्या कहा? यह 'बद्ध' है, ऐसे विकल्प में आया, वह 'अबद्ध' के विकल्प को छोड़ता है, परन्तु 'विकल्प' को वह छोड़ता नहीं, अबद्ध का विकल्प छोड़ता है (परन्तु) विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। क्या कहा, समझ में आया? कि मैं कर्म बद्ध हूँ, ऐसा विकल्प करता है, मैं कर्मबन्धनरहित हूँ, ऐसे विकल्प को तजता है (तथापि) वह (ऐसे) विकल्प को छोड़ता होने पर भी विकल्प को छोड़ता नहीं। समझ में आया? आहाहा! वहाँ ऐसा कुछ नैरोबी में मिले, ऐसा नहीं है। रायचन्दभाई!

मुमुक्षु : इसीलिए तो आपको वहाँ ले जाते हैं।

दूसरा मुमुक्षुः यहाँ जैसा एक शब्द भी कहीं मिले, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इन्होंने वहाँ दो लाख दिये हैं। अफ्रीका में मन्दिर बनता है न, ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस को, दो लाख इन्होंने दिये, दो लाख दो हजार, तदुपरान्त एक लाख ग्यारह हजार तीर्थफण्ड में दिये। तीन लाख दिये। परन्तु बात यह, (उसमें) राग की मन्दता हो तो पुण्य है; धर्म है नहीं।

मुमुक्षु : एक तो रुपये भी जाये और धर्म न हो!

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये भी कहाँ इसके थे? रुपये तो जड़ हैं। सेठ! तुम्हारी दलील करते हैं। एक तो पैसे भी जाये और फिर विकल्प का (पुण्य) बन्धन हो (धर्म न हो)!

मुमुक्षु : पुण्य भले हो तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अजीवतत्त्व है, अजीवतत्त्व, जीवतत्त्व का-आत्मा का होता है? यहाँ तो विकल्प-पुण्यतत्त्व, वह भी जीवतत्त्व का नहीं होता—मैं अबद्ध हूँ ऐसा विकल्प, वह पुण्यतत्त्व है, शुभराग है, वह भी आत्मा का नहीं। आहाहा!

आहाहा! बापू! परमेश्वर का-वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है और वह वीतराग परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं है नहीं। जैन परमात्मा के अतिरिक्त यह मार्ग कहीं नहीं है। सर्वत्र कल्पित कहा है सबने—कोई ईश्वर कर्ता और कोई यह कर्ता—कोई क्षेत्रपाल और कोई देवी-देवला और कोई क्षेत्रपाल और हनुमान को, अमुक को माने और भ्रमणा, सब भ्रमणा। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा—आत्मस्वरूप से परमस्वरूप विज्ञानघन, उसका 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा विकल्प छोड़ता है, तो विज्ञानघन को प्राप्त करता है, बाकी कहते हैं कि कर्म बद्ध है, ऐसा विकल्प करता है, तो 'कर्म बद्ध नहीं' इस विकल्प को छोड़ता है परन्तु वह 'विकल्प को' छोड़ता नहीं, एक बात। है?

'जो जीव में कर्म अबद्ध है' अब दूसरी (बात) 'कर्म जीव में अबद्ध है' ऐसा **विकल्प करता है** —राग करता है, **वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ...** 'जीव में कर्म बद्ध है', उसे तो छोड़ता है—कर्म का सम्बन्ध है, ऐसे विकल्प को छोड़ता है, परन्तु अबद्ध है, उस **विकल्प का अतिक्रम नहीं करता...** (अर्थात्) विकल्प को नहीं छोड़ता। आहाहा! अब ऐसी बात सुनने को मिले नहीं। आहाहा! है?

मैं अबद्ध हूँ—ऐसा विकल्प आता है तो 'कर्म का बन्ध है', ऐसा विकल्प उसने छोड़ा परन्तु अबद्ध हूँ, ऐसा विकल्प छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता होने पर भी, विकल्प का अतिक्रमण नहीं करता। आहाहा! **'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी... विकल्प का अतिक्रम नहीं करता।**

और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है, वह

दोनों पक्ष को अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता... आहाहा! बद्ध हूँ और बद्ध नहीं—ऐसा एक विकल्प है यह। समझ में आया? 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है'—ऐसे दोनों पक्ष का अतिक्रम करता होने पर भी... विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, बद्ध नहीं, अबद्ध नहीं, ऐसा विकल्प करता है परन्तु विकल्प छोड़ता नहीं। आहाहा! समझ में आया? पाठ में दो अर्थ कहे हैं, टीका में तीन लिये। बद्ध का विकल्प छोड़ता है, परन्तु दूसरा अबद्ध का नहीं छोड़ता; अबद्ध का छोड़ता है, वह बद्ध का नहीं छोड़ता; बद्ध का और अबद्ध का दोनों का विकल्प करता है, तथापि वह विकल्प को नहीं छोड़ता। आहाहा! ऐसी बात है।

इसलिए जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है... आहाहा! **वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है।** आहाहा! मैं अबद्ध हूँ, ऐसे विकल्प को छोड़ता है, वह आत्मा को प्राप्त करता है, उसे सम्यग्दर्शन होता है, दूसरे को सम्यग्दर्शन नहीं होता। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२०, गाथा-१४२, कलश-६९ दिनांक ०७-०५-१९७९, सोमवार, वैशाख शुक्ल-११

१४२ गाथा, ऊपर आया है १४१ गाथा में कि जीव को कर्म का सम्बन्ध है, बन्ध है। वह भी एक व्यवहार पक्ष है और कर्म बन्ध नहीं, ऐसा एक निश्चयनय का पक्ष है।

यहाँ अब कहते हैं **परन्तु उससे क्या ?** यहाँ तक आया उससे क्या ? पर का तो कुछ कर नहीं सकता, पर से तुझमें कुछ होता नहीं। तदुपरान्त यहाँ तो अपनी स्थिति है पर्याय में, बन्ध—कर्म के बन्ध का सम्बन्ध है, वह व्यवहार है—यहाँ उस व्यवहार का पक्ष तो निषेध करते आये हैं, तथापि यहाँ अबद्ध है, आत्मा अबद्ध है—ऐसा जो विकल्प है, उससे क्या ? उससे आत्मा का कार्य क्या सिद्ध हुआ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो पर का काम कर दे, तब काम हो। यहाँ तो कहते हैं, तुझमें अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ, अखण्ड (हूँ), ऐसा तुझे विकल्प आया, वह विकल्प आया, पक्ष आया अभी, वह पक्ष आया, उससे तुझे क्या लाभ हुआ। आहाहा! ऐसी बात है। **उससे क्या ?**

जो आत्मा इन दोनों नय पक्षों को पार कर चुका है, वही समयसार है। ठीक! चौथे गुणस्थान में समयसार है। आहाहा!

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

है कर्म जीव में बद्ध वा अनबद्ध यह नयपक्ष है।
पर पक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वह समय का सार है।।१४२।।

टीका - **'जीव में कर्म बद्ध है'** व्यवहार सम्बन्ध है, **ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा जो विकल्प,...** राग, **वे दोनों नय पक्ष हैं,** दोनों नय का पक्ष है, नय का निश्चय स्वरूप नहीं, पक्ष है, ऐसा कहा। आहाहा! उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है.... अबद्ध हूँ या बद्ध हूँ, वह तो मानो व्यवहार का निषेध करते आये हैं, अबद्ध हूँ, ऐसा जो विकल्प है, उसे जो उलंघ जाता है; **(अतिक्रम करता है), छोड़ देता है। वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करने से...** समस्त विकल्प को छोड़ता हुआ। **स्वयं निर्विकल्प...** अनुभव में निर्विकल्प अभेद **एक विज्ञानघन स्वभावरूप**

होकर... विज्ञानघन स्वभाव होकर **साक्षात् समयसार होता है।**

ऐसी बात है, अभी लोगों को बाहर से कुछ व्यवहार से यह करें और दया पालें, यह करें और व्रत करें, भक्ति करें और तपस्या करें...

मुमुक्षु : परन्तु निश्चय बिना का व्यवहार कहाँ से आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार भी कहाँ है? वह व्यवहार कहाँ है। व्यवहार यह है कि बद्ध हूँ, अबद्ध हूँ। ऐसा विकल्प है, वह व्यवहार है। वह तो व्यवहार भी कहाँ है? यह भी व्यवहार, निश्चय करे तो हो। **निर्विकल्प एक...** 'एक' शब्द है। अबद्ध हूँ, ऐसा भी विकल्प है और दूसरे रूप है। उससे रहित **निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर...** आहाहा! अन्तिम में अन्तिम सार है। **साक्षात् समयसार होता है।** तब वह समयसार निर्विकल्प वेदन होता है विकल्प बिना का, तब वह समयसार है और जैसा है, वैसा अनुभव में आया। आहाहा! यहाँ तक है। अभी वह तो कहे, व्यवहार से निश्चय होता है और उससे यह होता है। यहाँ तो कहते हैं निश्चय का विकल्प है, स्व की अपेक्षा का जो विकल्प है निश्चय का, ऐसा नहीं। दूसरे विकल्प दया, दान के तो बाहर की अपेक्षा की—पर दिशा की। यह तो स्व की ओर के, मैं अबद्ध हूँ—यह तो स्व की ओर का (विकल्प) है। आहाहा! ऐसा जो विकल्प है, उसे जो छोड़ता है, वह निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभाव होकर साक्षात् समयसार है।

यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) जो **'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है।** कर्म का सम्बन्ध है जीव को, सर्व सम्बन्ध निषेध किया है, तथापि सम्बन्ध है व्यवहार से, ऐसा कोई विकल्प अर्थात् राग करता है, **वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष को...** छोड़ता होने पर भी, वह अबद्ध को लक्ष्य में से छोड़ता है, बद्ध को लक्ष्य में लेता है। आहाहा! **जीव में कर्म अबद्ध है, ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता।** मैं अबद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ, उसने अबद्ध स्वभाव का विकल्प छोड़ा। परन्तु बद्ध हूँ, ऐसे विकल्प में रहा। ऐसा बहुत कठिन काम। **और जीव में कर्म अबद्ध है....** कर्म और आत्मा के बीच तो अत्यन्त अभाव है, इसलिए भगवान आत्मा तो अबद्ध है, **ऐसा विकल्प करता है, वह भी जीव में कर्म बद्ध**

है, ऐसे एक पक्ष को छोड़ता होने पर भी.... उसने व्यवहार को छोड़ा, परन्तु यह निश्चय का पक्ष छोड़ा नहीं। अबद्ध है, यह निश्चय का पक्ष है। पक्ष हो। आहाहा! कठिन काम, गाथा ऐसी है जरा। **जीव में कर्म अबद्ध है, ऐसा विकल्प करता है, वह भी जीव में कर्म बद्ध है, ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी...** 'बद्ध है' उसे छोड़ता है भले ही, तथापि **विकल्प को नहीं छोड़ता...** अबद्ध हूँ... अबद्ध हूँ... मुक्त हूँ... मुक्त हूँ—ऐसी वृत्ति अन्दर में स्व के आश्रय से, स्व के लक्ष्य से अर्थात् कि 'यह अबद्ध है' इसके लक्ष्य से, ऐसा विकल्प करता है। आहाहा! परन्तु वह तो राग है, वह बन्धन का कारण है। वहाँ तक उसे आत्मा का पता नहीं लगा। आहाहा!

और जो 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है... यह विशेष डाला है। गाथा की अपेक्षा। **ऐसा विकल्प करता है वह दोनों पक्ष का अतिक्रम न करता हुआ...** दोनों पक्ष को नहीं छोड़ता, इसलिए (वह भी) **विकल्प का अतिक्रम नहीं करता...** आहाहा! दो पक्ष लिये। पहले बद्ध लिया, फिर अबद्ध लिया और यहाँ (अब) बद्ध और अबद्ध दोनों हैं—यह भी एक विकल्प है। आहाहा! **विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है,...** यह अबद्ध का भी विकल्प छोड़ दे। अबद्ध हूँ अर्थात् कि मुक्त हूँ—अबद्ध का अर्थ मुक्त हूँ... मुक्त हूँ, ऐसा एक विकल्प—वृत्ति, उसका पक्ष है, पक्षातिक्रान्त नहीं हुआ, यह पक्ष है, उसे छोड़ दे। आहाहा! है?

वह समस्त विकल्प को अतिक्रम करता है। **जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है...** आहाहा! सूक्ष्म ज्ञान का उपयोग होकर, विकल्प है, वह स्थूल उपयोग है। उस स्थूल उपयोग द्वारा सूक्ष्म वस्तु आत्मा अनुभव में नहीं आता। आहाहा! सूक्ष्म उपयोग करे, कि जिस द्वारा वह ज्ञात हो—उस द्वारा ज्ञात हो, उसका नाम समयसार है। **वह समयसार को प्राप्त करता है...** अर्थात् **उसका अनुभव करता है।** अर्थात्? अबद्धस्वरूप हूँ, मुक्तस्वरूप हूँ, वह आँगन में आकर विकल्प आया कि यह यह यह मुक्तस्वरूप है, क्योंकि वस्तु है। वस्तु है, वह बद्ध नहीं होती, आवरण नहीं होता, वस्तु को पर के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इस पर्याय को पर के साथ निमित्त-

निमित्त सम्बन्ध है। वस्तु है, वह सम्बन्धरहित है—ऐसा भी एक विकल्प उठा, उसे छोड़े। आहाहा! ऐसी बातें अब।

मुमुक्षु : विकल्प छोड़े वह शून्य नहीं हो जायेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : शून्य हो जाये न, विकल्प से। विकल्प से शून्य, स्वभाव से भरपूर। आहाहा! क्योंकि अस्ति तत्त्व है न? मौजूदगी तत्त्व वस्तु है न? वस्तु है तो वह कहीं खाली नहीं है। उसकी शक्तियों के गुण से खाली नहीं है। ऐसी अनन्त शक्तियों का संग्रह है, उसका एकरूप द्रव्य है। उसे विकल्प... अबद्ध हूँ, ऐसा भी विकल्प के पक्ष में खड़ा रहे, तब तक उसे समय का—आत्मा का अनुभव नहीं होता। आहाहा! विकल्प से शून्य हो, तब वह हाथ आता है। वे ऐसा कहते हैं कि शून्य हो जाओ... शून्य हो जाओ, यह ऐसा नहीं है। विकल्प से शून्य हो जाओ।

मुमुक्षु : परन्तु यह तो आत्मा का आश्रय निर्विकल्प करे, तब हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहता है न रजनीश कि शून्य हो जाओ, शून्य हो जाओ। तो शून्य हो तो अस्ति है या नहीं कोई चीज़? है तो, विकल्प से शून्य हो, परन्तु वस्तु से तो वस्तु का अनुभव होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म है।

भावार्थ :- 'जीव कर्म से बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है' यह दोनों नयपक्ष है। दोनों ज्ञान के अंश का पक्ष है। **उसमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया,...** व्यवहार। **उसने विकल्प ही ग्रहण किया, किसी ने अबन्धपक्ष लिया तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया है...** आहाहा! **और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो, उसने भी पक्षरूप विकल्प ही ग्रहण किया।** आहाहा! ऐसा कि दोनों मानना चाहिए, अनेकान्त है। बद्ध भी है और अबद्ध भी है। हम अनेकान्त मानते हैं। नहीं तो एकान्त हो जायेगा, ऐसा करके वह दोनों के पक्ष का विकल्प करता है। विकल्प करता है, बाकी निश्चय तो निर्विकल्प अबद्ध ही है, निश्चय से तो निर्विकल्प अबद्ध ही है, परन्तु अबद्ध का विकल्प और बद्ध का विकल्प, यह अनेकान्त है, ऐसा जो माने और हमने दोनों को माना, इसलिए अनेकान्त, वह अनेकान्त नहीं। मिथ्या अनेकान्त है।

सम्यक् एकान्त—विकल्परहित चीज़ हूँ, अबद्धस्वरूप का अनुभव, वह सम्यक्

एकान्त है। आहाहा! और सम्यक् एकान्त हुआ, पश्चात् वह पर्याय का ज्ञान करे, उसे व्यवहार और प्रमाणज्ञान कहा जाता है। परन्तु यह सम्यक् द्रव्य के सन्मुख के झुकाववाला ज्ञान हो, वह ज्ञान बाद में पर्याय को जाने, यह व्यवहार हुआ, यह अनेकान्त हुआ। एक यह और एक यह, दोनों अनेकान्त। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

किसी ने दोनों पक्ष लिये, तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण किया, परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर... आहाहा! पूरा संसार, परसन्मुख के लक्ष्यवाला विकल्प, वह भी संसार है। जो विकल्प की दशा वास्तव में तो वह मन के संग की—परसन्मुख की है। वह स्वरूप नहीं। आहाहा! इन दोनों पक्ष को छोड़कर, **जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर, शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर, उसरूप समयसार को (अर्थात्) शुद्धता को प्राप्त करता है...** वह अन्दर सम्यग्दर्शन में शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। आहाहा!

यहाँ पहले आया था न, उससे क्या? यहाँ तक आया, उससे क्या? आहाहा! व्रत, पूजा, भक्ति, नियम और पंचकल्याणक और धमाधम, ओहोहो! उसमें तो यह एकदम प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है, (और मानता है कि) हमने कुछ धर्म किया। वह तो कहीं रह गया, परन्तु अन्तर में स्वसन्मुख के झुकाववाला विकल्प जो राग, वह भी बन्ध का कारण है। यहाँ कर्ता-कर्म में वह विकल्प उसका कर्ता, विकल्प उसका कर्म, यह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! निर्विकल्प चीज़ जो अन्दर है, उसका अनुभव दृष्टि (में) लेकर करना, वही एक समयसार और आत्मा है। आहाहा!

नयपक्ष को ग्रहण करना राग है,... देखा? चाहे तो निश्चयनय का हो, परन्तु उस नय पर लक्ष्य रखना, वह राग है, यहाँ रागवाला नय लिया है। ऐसे 'निश्चयनयाश्रित मुनिवरो, प्राप्ति करे निर्वाण की'—यह (जो कहा) वह वहाँ विकल्प नहीं, वहाँ ऐसा है, यहाँ तो विकल्प का पक्ष लिया है और बाकी तो 'शुद्धनय' और ऐसा भी आया है न... 'विद्वानजन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।' वहाँ भूतार्थ का आश्रय करे तो कल्याण हो, ऐसा आया, उसमें विकल्प नहीं है। विद्वत्जन—विद्वान् पढ़-पढ़कर व्यवहार निकाले उसमें से। व्यवहार के कथन बहुत, पढ़नेवाले आगम के अभ्यासी, वे उसमें से व्यवहार

निकाले, परन्तु भूतार्थ को छोड़े, ऐसा कहे। आहाहा! विद्वान्जन भूतार्थ तजकर—त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप, पूर्णानन्द प्रभु का आश्रय छोड़कर व्यवहार में वर्तन करे, उसे मुक्ति नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुभव पहले कोई साधन होगा या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई साधन-बाधन नहीं। अत्यन्त निरपेक्ष है। आहाहा! विकल्प जो अबद्ध का आया, वह भी साधन नहीं। फिर प्रश्न (क्या?) आहाहा! यह साधन कहा न, प्रज्ञाछैनी।

ज्ञान की जो पर्याय परसन्मुख झुकी हुई है, उस ज्ञान को अन्तर में झुकाना, विकल्प बिना, वह साधन है। आहाहा! कठिन काम है। पहुँच न सके, इसलिए उसे कुछ ढीला किया जा सकता है? आहाहा! सोने का भाव जो हो, उस भाव में सोना न लिया जा सके तो उसे कहीं लोहे के भाव में उसे कहा जाये? कि यह लोहे का भाव यह है, इसलिए सोने का (यह भाव) गिन डालो। आहाहा!

उसी प्रकार आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु को वीतरागभाव से ही उसका अनुभव होता है, उसके स्वभाव का वह साधन है। 'अलिंगग्रहण' में आया है न, छठवाँ बोल 'अपने स्वभाव से ही जानने में आवे, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।' वह साधन-फाधन कुछ कहा नहीं। 'अलिंगग्रहण', बीस बोल, उसका छठा बोल है। 'अपने स्वभाव से ही जानने में आवे—स्वभाव से ही जानने में आवे, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।'—ऐसा उसका स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! इसलिए लोगों को एकान्त लगता है न?

इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है,... देखा? यह चौथे गुणस्थान में वीतराग समयसार होता है। आहा! कितने ही और कहते हैं कि चौथे में सरागसमकित है। वह तो उस चारित्र का दोष है, ऐसा कहकर गिना है, चौथा गुणस्थान सम्यग्दर्शन, वह वीतराग है, क्योंकि स्वयं जिनस्वरूप—वीतराग है और उसका अवलम्बन लेकर, विकल्प तोड़कर उसका अनुभव किया, वह सम्यग्दर्शन वीतराग है। वस्तु वीतराग, सम्यग्दर्शन पर्याय वीतराग, सम्यग्ज्ञान पर्याय वीतराग, और स्वरूप के आचरण की एकाग्रता का अंश, वह भी वीतराग। आहाहा!

ऐसा है, जगत को कहाँ पड़ी है ? जिन्दगी चली जाती है। यह तत्त्व अन्दर ऐसा निर्मलानन्द प्रभु है। 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन'—ऐसा क्यों कहा ? कि यह जैनपना कहीं बाहर की क्रिया में त्याग में है, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! बाहर में त्यागी हो तो वह जैन है, ऐसा नहीं है। घट में जैनपना बसता है अर्थात् कि उस विकल्प के त्याग में, स्वभाव की दृष्टि में जैनपना बसता है। आहाहा! दो शब्द लिये हैं न ? घट घट अन्तर 'जिन बसे' अरु 'घट घट अन्तर जैन'—जैन घट में बसता है, इसका अर्थ क्या हुआ ? कि यह बाहर का त्याग करे और स्त्री-पुत्र छोड़े और दुकान-धन्धा छोड़े तो वह जैन है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

अन्तर्दृष्टि में से राग की एकता तोड़ी है और स्वभाव की एकता हुई है, वह जैन है, जिन का जैन हुआ। जिनस्वरूप जो त्रिकाली था, उसमें एकाग्र हुआ—राग की एकाग्रता तोड़ी, वह घट घट अन्तर जैन बसे। आहाहा! जैनपना यह बाहर त्याग करे और... यह पूजा बहुत करे न भगवान की—चार चार घण्टे, पाँच-पाँच घण्टे पूजा करे और बहुत आरती उतारे, इसलिए वह जैनपना है, वह (जैनपना) नहीं, ऐसा कहते हैं। जैनपना घट में है। आहाहा!

जहाँ जिनस्वरूपी प्रभु है, उसमें एकाग्रता वह जैन है। बाहर में तो चक्रवर्ती का राज भी हो, आहाहा! इन्द्र के भोग हों, करोड़ों अप्सरायें हों, परन्तु जैनपना वह कहीं उनके कारण नहीं है। अन्तर में जिनस्वरूपी प्रभु को विकल्परहित, रागरहित अनुभव करना, वह जिन का जैनपना है—जिन, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी पर्याय में जैनपना 'यह' है। आहाहा!

मुमुक्षु : महाव्रत जैन में ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महाव्रत-फहाव्रत की यहाँ बात ही नहीं... महाव्रत भी राग है। आहाहा! यहाँ तो दूसरा शब्द कहना था, यह तो थोड़े लोग हैं न, 'घट घट अन्तर जैन बसे' यह क्या है ऐसा। 'घट घट अन्तर जिन बसे' यह तो ठीक, यह तो वस्तु परन्तु 'घट घट अन्तर जैन बसे' यह क्या है ? 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पानसों, मतवाला समझे न'—अपने मत में (हठाग्रह में माने कि) लो,

इसने स्त्री छोड़ी और इसने पुत्र छोड़ा और राज छोड़ा, अमुक अमुक है। इसलिए यह धर्मी नहीं। आहाहा!

जैनपना घट में है। रमणीकभाई! आहाहा! जैसे जिनपना, वह वस्तु का स्वरूप ही 'जिन' है, वीतरागी अकषाय मूर्ति प्रभु है, वह भी घट में, और उसकी एकाग्रता (होना) विकल्प तोड़कर, वह भी घट में, बाहर में साधन देखने जाये तो हजारों रानियाँ, विशाल मकान (महल) आहाहा! चक्रवर्ती जैसों को बत्तीस ग्रास का आहार, जिसका एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक भी पचास नहीं सके। आहाहा! तथापि वह जैन है। आहाहा! और बाहर का त्यागी है, सब है, महाव्रत पालता है, वस्त्र का टुकड़ा भी साथ में नहीं, परन्तु अन्दर में वह राग की क्रिया है, वह मैं हूँ, वह धर्म है, (ऐसा मानता है), वह अजैन है। वह घट में अजैन है। बाहर में भले नाम त्यागी—महाव्रत और नग्न दिखता हो। आहाहा!

यह यहाँ कहा, वीतराग समयसार हुआ जाता है, देखा? आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव पूर्ण आनन्द का अस्तित्व, उसे अनुभव करने से वीतरागता प्रगट होती है, वह वीतरागता, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

कहने का आशय तो बनारसीदासजी का यह था, अमृतचन्द्राचार्य को भी यह कहना है। घट घट अन्तर 'जैन' बसे, ऐसा कहने का आशय है कि तुम बाहर की प्रवृत्ति देखोगे, इसलिए उसे समकित जैन, ऐसा नहीं है। चक्रवर्ती को विशाल राज्य होता है (छह खण्ड और) छियानवें हजार स्त्रियाँ, परन्तु अन्दर में (घट में) जहाँ विकल्प से भिन्न पड़कर, जैसा भगवान जिनस्वरूप से है, वैसा जो अनुभव करता है, वेदन करता है, वह जैन है। बाहर में भले चक्रवर्ती का राज हो—इन्द्र के इन्द्रासन हों। आहाहा! 'घट घट अन्तर जिन बसे अरु घट घट अन्तर जैन' परन्तु मत मदिरा के पान सों—परन्तु अपने मत की मदिरा बस, बाहर का त्याग चाहिए, अमुक चाहिए, ऐसा चाहिए, इसके बिना त्यागी (कहलाये)? उसने तो अपने मत की मदिरा—शराब पी है। आहाहा!

और वह बाहर में त्यागी हो, बिल्कुल वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं, परन्तु अन्दर में... आहाहा! जैनपना नहीं, क्योंकि 'जिन' को पकड़ा नहीं, विकल्परहित हुआ नहीं,

इसलिए वह जिन हुआ नहीं; इसलिए वह जैन हुआ नहीं। 'जिन' को पकड़ा नहीं, इसलिए वह जैन हुआ नहीं। आहाहा! मुनि हो, नग्न हो, हजारों रानियाँ छोड़कर बैठे, जंगल में बसे, बाघ और भालू जंगल में दहाड़ मारते हों, वहाँ बैठा हो। आहाहा! उससे क्या? आहाहा! मूल तल को नहीं पकड़ा, तल को। चिदानन्द वीतरागमूर्ति प्रभु को पकड़ने से जो वीतरागदशा होती है, उसे यहाँ समयसार प्राप्त किया कहा जाता है, यह आत्मा प्राप्त किया कहलाता है, यह जैन हुआ कहलाता है; यह अजैनपने का नाश किया कहलाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा?' कौन इस राग को छोड़कर अनुभव नहीं करेगा, ऐसा। **ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं।** २३ कलश है। आहाहा! जैनपने का अर्थ समझ में आया? कहा है, वह इसमें मर्म है, बाहर की प्रवृत्ति देखकर तू कहता है कि यह जैन नहीं, ऐसा नहीं है। और बाहर की निवृत्ति देखकर तू ऐसा कहता है कि यह जैन है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! अन्दर में सच्चिदानन्द प्रभु, अस्तिरूप से पूर्णानन्द वीतराग, उसे जिसने विकल्परहित वीतरागभाव से देखा, जाना, वह जैन है। और जैन कोई वाडा और सम्प्रदाय नहीं है। जैन कोई एक पक्ष और पन्थ नहीं है। वह वस्तु का स्वरूप है। जो वस्तु जिनस्वरूप है—वस्तु जिनस्वरूप है, उसे उसके विकल्परहित होकर वीतरागभावरूप से समयसार को प्राप्त करना, वह जैन। इसलिए उसमें कोई पक्ष या वाड़ा आया नहीं है। वह तो वस्तुस्वरूप है। यह रमेशभाई ने कहा है न, जैन कोई पन्थ नहीं, वाडा नहीं, पक्ष नहीं। धर्मपिता ने स्वरूप बताया है, वह तो यहाँ से पढ़कर! आहाहा!

सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ने तो वस्तु का स्वरूप बताया है। यह दो अन्तर कठिन पड़े। छियानवें हजार स्त्रियाँ, करोड़ों अप्सरायें, उसे 'जैन' कहना और वस्त्र का टुकड़ा भी न रखे, जंगल में बसे, पंच महाव्रत निरतिचार—चुस्त पालन करे, तथापि उसे 'अजैन' कहना। अरर्र! यह क्रीड़ा अन्दर में राग और रागरहित की अपेक्षा है। बाहर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बाहर से (संयोग) घटाने लगा, इसलिए राग घटाया—ऐसा नहीं है। राग को रौंधा है, कषाय रौंधा है। बहिन में—वचनामृत में आता है न—

रुंधा हुआ कषाय है—दबा रखा है, फटेगी तब कसाईखाने लगाने लगेगा वापस। आहाहा! और यह बाहर का बहुत संयोग होगा, तथापि अन्दर में राग की एकता तोड़कर जैनपना 'जिन' में से प्रगट किया, उस दशा से केवलज्ञान लेनेवाला है। आहाहा! उस राग को रौंधा है, एकता तोड़ी नहीं, प्रवृत्ति में छोड़ दिया बहुत कामकाज राग, दुकान-धन्धा छोड़ दिया है, आहाहा! परन्तु अन्दर में राग की एकता है, वह जैन नहीं है। अरेरे! कठिन लगता है? नग्नमुनि हो, वस्त्र रखे नहीं, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता हो, कहते हैं वह जैन नहीं। ले!

मुमुक्षु : अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत तो जैन में ही आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन में आते हैं, परन्तु वह तो राग है। राग है, वह कहीं जैनपना नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

यहाँ ऐसा कहते हैं, जब राग के अभाव की भावना, उसे वास्तव में कौन परिणमावे? **ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं—**

कलश–६९

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा?' ऐसा कहकर श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावनावाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता–
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।६९।।

श्लोकार्थ : [ये एव] जो [नयपक्षपातं मुक्त्वा] नयपक्षपात को छोड़कर

[स्वरूपगुप्ताः] (अपने) स्वरूप में गुप्त होकर [नित्यम्] सदा [निवसन्ति] निवास करते हैं, [ते एव] वे ही, [विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः] जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है, ऐसे होते हुए, [साक्षात् अमृतं पिबन्ति] साक्षात् अमृत को पीते हैं।

भावार्थ : जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतरागदशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।।६९।।

कलश - ६९ पर प्रवचन

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।६९।।

आहाहा! **जो नयपक्षपात को छोड़कर...** इसका अर्थ ऐसा नहीं कि नय से अबद्ध कहा, इसलिए वह खोटा है अबद्ध, और कोई दूसरा ही होगा। हाँ, ऐसा कहते हैं न वह जिनेन्द्रवर्णी। वाणी में आया परन्तु सब नहीं आया, इसलिए कुछ दूसरा भी होगा।

मुमुक्षु : परन्तु इससे विरुद्ध का तो नहीं होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे, भाई! इससे विरुद्ध? अरे प्रभु! कहाँ जाकर अटका तू? आहाहा! यह तो त्रिलोकनाथ परमात्मा से जितना कहा जाये, उतना थोड़ा कहा गया, जितना कहा गया, उतना सत् है, उससे विरुद्ध नहीं होता। उसका विस्तार हो उससे, समझ में आया? कहा उसका विस्तार हो, कहा उसका विरुद्ध (कथन) न हो। आहाहा! ऐसा थोड़े अन्तर से कितना अन्तर पड़ता है? परन्तु....

मुमुक्षु : सब अन्तर पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अन्तर पड़ जाता है। आहाहा!

जो नयपक्ष को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त (होकर)... आहाहा! ज्ञान और आनन्द प्रभु में गुप्त होता है, राग का अगुप्तपना छोड़ता है। आहाहा! 'छोड़ता है' यह भी एक नास्ति से कथन है, बाकी 'छोड़ता है' यह कुछ नहीं, उपदेश में क्या आवे? बाकी स्वरूप में जाता है, तो विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए वह विकल्प को 'छोड़ता है' ऐसा कहा गया है, नाममात्र कथन है। आहाहा!

जो नयपक्ष को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त (होकर)... सच्चिदानन्द प्रभु वीतरागस्वरूप जिन, त्रिकाल जिनस्वरूपी प्रभु, त्रिकाल जिनस्वरूपी निरावरण प्रभु। आहाहा! त्रिकाल उसे राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं, ऐसा प्रभु। राग का सम्बन्ध है, वह एक समय की पर्याय के साथ है। वस्तु है, द्रव्य है, उसे तो कुछ सम्बन्ध है ही नहीं। ऐसा जो नयपक्ष रहित, **अपने स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं...** सदा रहते हैं। आहाहा! किसी समय हो जाये और फिर वापस गिर जाये न? यह प्रश्न यहाँ नहीं लेते। आहाहा!

यह वस्तु में सदा रहता है, ऐसा कहा न? सदा रहता है। आहाहा! क्या वाणी! जिसने विकल्प को तोड़कर, तोड़कर यह तो भाषा कही जाती है, वहाँ भाई थे न अरुणभाई प्रोफेसर, उसने यह लिखा होगा और इस अनुसार भाषण दिया होगा, यह लिखा था, मुझे बताता था, ऐसा कि मैंने ऐसा लिखा, ऐसा समझे तो सब तोड़ डाले और छोड़ डाले और बन्ध का नाश करे। कहा, भाई! यह तो सब अपेक्षा के कथन हैं। परन्तु नरम व्यक्ति है, बहुत प्रसन्न हुआ—बहुत प्रसन्न हुआ, प्रतिदिन सवेरे-दोपहर आता और कहता कि ओहोहो! यह बात! नहीं तो वहाँ तो प्रोफेसर है भावनगर में बड़ी पाठशाला में।

मुमुक्षु : जैतपुर का निवासी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैतपुर का है? परन्तु व्यक्ति बहुत नरम। सवेरे, दोपहर, रात्रि में बराबर समय से आवे। आहाहा! आत्मा राग को तोड़ सके, यह भी नहीं। आहाहा! बन्धन को-बन्ध को आत्मा तोड़े, यह नहीं। अरे! भगवान तो बन्धन को तोड़े तो नहीं परन्तु भगवान तो निर्जरा करे नहीं। आहाहा! वह मोक्ष करे नहीं, वह तो जाने, वस्तुस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रज्ञाब्रह्म है। आहाहा!

(समयसार) ३२० (गाथा में) आया है न? ३२०, उदय और निर्जरा... उदय तो ठीक, परन्तु निर्जरा को 'जानता है'—निर्जरा को करे नहीं ऐसा कहा। जब पूरा मूलतत्त्व लो, बन्ध को 'जाने' यह तो ठीक परन्तु मोक्ष को जाने। आहाहा! मोक्ष के मार्ग को भी जाने। आहाहा! वह ज्ञान की पर्याय, ऐसी ही उत्पन्न होती है कि उसे भी जाने और अपने को जाने, इस प्रकार से उसके उत्पन्न होने का उसका स्वकाल होता है। आहाहा! मोक्ष की पर्याय हुई, इसलिए यहाँ ज्ञान में उसके अवलम्बन से उसे जाना, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह ज्ञानस्वभावी भगवान निर्जरा को—कर्म की निर्जरा अथवा अशुद्धता टले, उसे जानता है, उसे टालता नहीं। 'मोक्ष को जानता है' मोक्ष को करता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कहाँ खड़े रहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ उतरा... यहाँ तो अभी पर की दया पालना और पर की हिंसा करना और मन्दिर बनाना, और पैसा दान—यह सब कर सकता है? अरे रे प्रभु! मार्ग बहुत अलग है, प्रभु! आहाहा!

मूल मार्ग हाथ आना समाप्त हो गया। (मूलमार्ग हाथ आये तो) उसे संसार का अन्त है। यहाँ तो कहा है, सदा रहते हैं—आत्मा में बसते हैं। आहाहा! उसमें (लीन) रहा, रहा वह केवलज्ञान लेगा। आहाहा!

अपने स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं, **वे ही...** वे ही। ऐसा है और 'ही' ऐई इतना कहकर एकान्त कर दिया है। यहाँ सम्यक् एकान्त है। कथंचित् ऐसा और कथंचित् ऐसा, इसका नाम अनेकान्त, ऐसा नहीं है। 'वे ही' '**विकल्पजालच्युत-शान्तचित्ता' जिनका चित्त, विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है।** आहाहा! विकल्प का जाल आकुलता है। प्रभु अनाकुल आनन्द है। वह विकल्प के जाल से रहित होकर शान्तचित्त हुआ है—विकल्प की आकुलता गयी है, इसलिए निर्विकल्प शान्त हुआ है। आहाहा! **ऐसे होते हुए...** क्या कहा? वह शान्त हुआ है, ऐसे होते हुए, यह पुरुषार्थ कहा। स्वयं, स्वयं से होते हुए, आहाहा! कर्म का अभाव हुआ, इसलिए ऐसे हुए, काललब्धि आयी, इसलिए हुए? (ऐसा नहीं है)। यहाँ तो 'ऐसे होते हुए' बस इतना, उसे काललब्धि साथ में आ गयी। आहा! पुरुषार्थ से भगवान आत्मा को वीतरागभाव से

जहाँ जाना **ऐसे होते हुए, साक्षात् अमृत का पान करते हैं।** यह विकल्प है, वह जहर है। आहाहा! मैं अबद्ध हूँ, ऐसा भी एक विकल्प / पक्ष है, वह जहर है। क्योंकि आत्मा अमृतस्वरूप है। अमर अमृतस्वरूप है। अमर अमृतस्वरूप है। उस अमृतस्वरूप से राग विरुद्ध होने से, वह जहर है। आहाहा! अबद्ध हूँ—एक हूँ, ऐसा विकल्प भी जहर है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का, वीतराग (का) नहीं तेरा, तेरा स्वभाव ही ऐसा है। आहाहा! यह तो जो है, ऐसा कहते हैं।

'**साक्षात् अमृतं पीबन्ति**' अर्थात्? प्रभु अमृतस्वरूप तो था, परन्तु विकल्प को तोड़कर साक्षात् अमृत को पीता है। अमृतस्वरूप तो था, त्रिकाल अमृतस्वरूप भगवान है। आहाहा! इसलिए कहा कि साक्षात् वर्तमान में अमृत को अनुभव करता है—यह विकल्प को तोड़नेवाला साक्षात् आनन्द को अनुभव करता है। अमृत को अनुभव करता है। आहाहा! यह विकल्प है, वह जहर है। ऐसा हुआ या नहीं? आहाहा! महाव्रत के परिणाम तो जहर है परन्तु मैं अबद्ध हूँ ऐसा विकल्प भी प्रभु! अमृत के सागर के समक्ष वह जहर है। आहाहा!

कितनी धीरज चाहिए? इसे समेटने के लिये अन्दर कितनी धगश चाहिए। आहा! आहाहा! **साक्षात् अमृत का पान करते हैं।** आहाहा! उसमें आया है न, वहाँ पुण्य-पाप (अधिकार में आया है) कि यह तुमने सब निकाल दिया, व्रत, महाव्रत आदि तो फिर उन्हें शरण क्या? (मुनिराज को शरण क्या)? यह आ गया है। वह शरण आत्मा, वे आनन्द का अनुभव करते हैं, वह शरण है। करने का कुछ है नहीं, उसका तो तुमने इनकार किया, व्रत, तप, उपवास और यह और वह, विनय, भक्ति, पूजा और भगवान का विनय। कि नहीं, यह सब विकल्प हैं। आहाहा!

तब यह सब करने का निषेध किया तो उन्हें है क्या अब? आहाहा! है, अकृत्रिम भगवान अमृतस्वरूप है, उसका वेदन करे, वह साक्षात् अमृत पीता है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! जैसे गन्ने के रस को घूंट-घूंट जैसे प्रेम से पीता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अमृत का सागर प्रभु, राग के विकल्प की वृत्ति टूटकर साक्षात् अमृत के घूँट पीता है। कहो, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : साक्षात् अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न यहाँ, पर्याय में। जैसा है, वैसा पर्याय में आया, ऐसा कहा था। वैसे तो (वस्तु) अमृतस्वरूप ही है, ऐसा कहा था। अमृतस्वरूप है ही। परन्तु पर्याय में साक्षात् अमृत पीता है। आहाहा! ऐसी बातें। सुनना भी कठिन पड़े। वीतराग परमात्मा... इसमें कहीं इसे संख्या की कोई आवश्यकता नहीं कि बहुत अधिक संख्या हो तो सत्य है। आहाहा!

विकल्प जाल से भिन्न—रहित शान्त होता हुआ, ऐसा होता हुआ, ऐसा है न? होता हुआ अर्थात् अपने पुरुषार्थ से, आहाहा! स्वभावरूप होता हुआ, विभाव को तोड़कर—टूटकर, स्वभावरूप होता हुआ अर्थात् कर्म हटा इसलिए हुआ, ऐसा कुछ नहीं है। अपने पुरुषार्थ से शान्तचित्त होता हुआ, साक्षात् पर्याय में अमृत, उस आनन्द को पीता है। वह द्रव्य और गुणरूप से तो अमृत अन्दर था, परन्तु यह विकल्प तोड़ा, तब साक्षात् पर्याय में अमृत को पीता है। आहाहा! निर्विकल्प रस पीजिये, आहाहा! विकल्प का जाल! यह तो शान्त और धीरज का काम है, भाई! यह कोई पक्ष और वाडा बाँधकर लाखों लोग इसे माने तो सच्चा और विद्वान माने तो सच्चा, ऐसा कुछ नहीं है। विद्वान तो कहा न, विद्वान भूतार्थ तजकर व्यवहार में लग पड़े हैं, वे विद्वान, यह उस समय कहा है भगवान ने—कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने (कहा है)। आहाहा!

भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करे, परन्तु मुक्ति तो निश्चयनयाश्रित आत्मा को है। आहाहा! अभी जिसका व्यवहार का ज्ञान ही सच्चा नहीं, और उस सच्चे ज्ञान के बिना परम सत्यस्वरूप की ओर कैसे ढल सकेगा? परम सत्य प्रभु है अन्दर—सत् साहेब पूर्णानन्द का नाथ, उसके बाह्यलक्षणवाले ज्ञान में भी अभी भूल है, विपरीत है, वह अन्दर में नहीं जा सकेगा। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। 'नहीं जा सकेगा' का अर्थ यह है कि वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। आहाहा!

भावार्थ—जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है... तब कोई ऐसा कहे कि यह परमात्मा ने ऐसा कहा है कि अभी पक्ष है, इसलिए पक्ष छोड़ दे तो कुछ दूसरी चीज़ होगी? ऐसा नहीं है। यहाँ तो मात्र उस विकल्प को ही पक्षपात (कहा है)। वस्तु तो जो

विकल्प से निर्णय किया और देखा, वह तो वस्तु बराबर वैसी ही है। ऐसा कि यह विकल्प उठा और जो निर्णय किया है, इससे कहीं दूसरी चीज़ होगी तो? पक्षपात छोड़ दे—पक्ष को छोड़ दे कि दूसरी कुछ चीज़ अन्दर होगी, वह कहता है! जिनेन्द्र (वर्णी) कहते हैं। आहाहा! अरर्र! पढ़-पढ़कर यह निकाला।

बापू! यहाँ तो मात्र, वह परसन्मुख का विकल्प है, उसे छोड़कर, वस्तु तो विकल्प में जो जानी है, वह तो वैसी ही है। परन्तु विकल्प तोड़ा नहीं था, इसलिए तू विकल्प के बन्ध में बाकी था, विकल्प तोड़ा तो जो विकल्प से निर्णय किया था कि वस्तु ऐसी है—ऐसी है, वैसी ही वेदन में आयी है। समझ में आया? पक्ष छोड़ा, इसलिए कोई दूसरे प्रकार से वेदन में आयी है या दूसरे प्रकार से आत्मा का स्वरूप अन्दर ज्ञात हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है... वे कहते थे, वे गोण्डल के, गोण्डल का था न बनारसीभाई... 'दर्शनमोह व्यतीत हो उपजा बोध जो'—कोई भी 'दर्शन का' लक्ष्य नहीं रखना, कहे। यह और ऐसा अर्थ करते, कुछ खबर नहीं होती। 'दर्शनमोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो'—उनकी पुत्री थी और अपने यहाँ रहती थी न बनारसीदास, त्रिभुवनभाई के मकान में नीचे रहते थे, यहाँ सोनगढ़ (में)। वे ऐसा कहते—'दर्शनमोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो' यह 'दर्शन' किसी भी दर्शन का पक्ष नहीं रखना।

मुमुक्षु : यह तो सब समान है, यह तो अज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो 'दर्शनमोह' की व्याख्या है—'दर्शनमोह व्यतीत हो, उपजा बोध जो' जो दर्शनमोह—विपरीत प्रतीति है (श्रद्धा है), उससे व्यतीत हुआ—दर्शनमोह उससे व्यतीत हुआ, इससे जो कुछ (विकल्पसहित) जाना था, कहा था, उस वस्तु में से कुछ (आत्मवस्तु) दूसरी निकलेगी—दूसरी कोई चीज़ एक व्यापक और अमुक और अमुक—अन्तर में कोई पक्ष रह गया, उसमें कोई दूसरी चीज़ ज्ञात हो जाये, ऐसा नहीं है। वस्तु तो है उसी प्रकार से (विकल्प में) जानी है, उस प्रकार ही है। आहाहा!

तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सर्व पक्षपात दूर हो जाता

है.... वहाँ तक 'चित्त का क्षोभ' नहीं मिटता, उसके लिये है, वस्तु कहीं अन्दर दूसरी है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? **चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सर्व पक्षपात दूर हो जाता है...** परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि जैन का तत्त्व है—अनन्त आत्मायें हैं—आत्मा है अनन्त गुण का पिण्ड, वह वापस पक्षपात छूट जाये और वापस उसमें से दूसरा निकले, ऐसा नहीं है। कितने ही ऐसा अर्थ करते हैं।

स्वरूप में प्रवृत्ति होती है **पक्षपात मिट दूर हो जाता है, तब वीतरागदशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है...** यह बात है। **स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।** बात तो ऐसी है। पक्षपात छोड़ दे, इसलिए दूसरी चीज़ अन्दर से निकले, जिनेन्द्रवर्णी ऐसा कहते हैं, भगवान ने कहा उसमें से कितना ही आया है और बाकी—बहुत बाकी है, इसलिए दूसरा भी कुछ होगा—दूसरे प्रकार का (ऐसा नहीं है)।

कहा है, उसी प्रमाण है, परन्तु विकल्पसहित जो जानता है, इसलिए उसे उसका अनुभव नहीं होता। विकल्परहित हो तो जैसा है, वैसा ही अनुभव होता है, उसे यहाँ धर्म और समयसार कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२१, कलश-६९ से ९१, दिनांक ०८-०५-१९७९, मंगलवार, वैशाख शुक्ल-१२

समयसार, ६९वाँ जो कलश है न, उसका भावार्थ है। है न? शब्दार्थ आ गया है। भावार्थ।

भावार्थ—जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है... आहाहा! परवस्तु मेरी है, यह बात तो कहीं रह गयी। पर का कुछ करना, यह भी कहीं रह गया; मात्र यहाँ तो आत्मा वस्तु है, उसमें निमित्तरूप से राग का सम्बन्ध है, स्वभाव में वह नहीं है। परन्तु कहते हैं, **जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है...** मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ—ऐसा भी पक्ष / राग रहे, **तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता।** आहाहा! अन्तर में नय का पक्ष रहे, तब तक चित्त में क्षोभ-विकल्प है, वह क्षोभ है। आहाहा! यहाँ तो अभी व्यवहार, रत्नत्रय करे व्यवहार, तो निश्चय होता है। यहाँ उल्टे रास्ते चढ़ गये हैं। वह व्यवहार भी नहीं कहलाता, निश्चय बिना (व्यवहार नहीं कहलाता)।

यहाँ कहते हैं, जब तक वस्तु का स्वरूप है, वैसा भी यदि एक नयपक्ष रहे, स्वरूप है वैसा। जैसा है, ऐसा भी एक नय का पक्ष-विकल्प रहे, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। आहाहा! वहाँ तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है...** सब पक्षपात मिट जाये—मैं शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, ऐसा भी एक नय का पक्ष, विकल्प-राग है, वह छूट जाये, तब वीतरागदशा हुई। यहाँ तो यह लिया अभी तो, वीतराग कोई कहे तो आगे होता है सातवें में। यह तो वीतरागदशा ही है, नयपक्ष का विकल्प छोड़कर, और स्वभाव का अनुभव करे दृष्टि करके, वह दृष्टि वीतराग है, वह अनुभव ही वीतराग है, धर्म का पहला सोपान यह है। अरेरे!

नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है... आहाहा! दूसरा तो सब जाये, दूसरे मुझे मदद करें, तो मुझे कुछ लाभ हो, यह पक्ष तो कहीं जाये, यह पक्ष तो सब खोटे हैं, परन्तु वस्तु स्वरूप है, उसका भी नय का पक्ष रहे, तब तक वीतरागदशा नहीं होती। तब तक तो रागदशा है। आहाहा! ऐसा मार्ग! **नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब**

वीतरागदशा होकर स्वरूप की श्रद्धा (होती है)। देखा? **वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है।** आहाहा!

अन्तिम में अन्तिम है। यह बात सम्प्रदाय में तो है नहीं। लोगों को कठिन लगती है कि यह क्या है? यह तो जिसे धर्म प्रगट करना हो। धर्म वस्तु तो है, वस्तु में तो धर्म अर्थात् स्वभाव है, परन्तु पर्याय में जिसे प्रगट करना हो, उसे तो सब नयपक्ष के विकल्प भी छोड़ देना पड़ेंगे। आहाहा! तब उसे **वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा...** देखा, अभी तो 'स्वरूप की श्रद्धा', स्थिरता बाद में। आहाहा! तब तो **स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है।** जो वह विकल्पवाली थी, वह रागवाली क्षोभवाली थी। आहाहा!

इस प्रकार विकल्प तोड़कर, अन्दर स्वरूप है, उसका अनुभव करे, तब निर्विकल्पदशा होती है, तब **स्वरूप में प्रवृत्ति होती है...** वह विकल्प था, तब तक पर में प्रवृत्ति थी। आहाहा! पर की दया पालूँ या व्रत पालूँ या भक्ति करूँ, वह तो और कहीं रह गया, वह तो सब स्थूल राग है। आहाहा! यह तो अन्तरभूमिका में यह इसकी जैसी जाति है उसका भी विकल्प, आहाहा! उसके पक्ष को भी छोड़कर, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है, तब उसे स्वरूप में प्रवृत्ति होती है। जब तक नयपक्ष का राग था, तब तक राग में प्रवृत्ति और क्षोभ था। उसे छोड़कर स्वरूप में प्रवृत्ति होती है, तब **अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।** आहाहा! बहुत संक्षिप्त।

शान्ति से ऐसा सुनने को भी न मिले, वह बेचारा क्या करे, कहाँ जाये? इतनी तीन लाईन में तो कितना डाला है, देखा? आहाहा!

मुमुक्षु : पूरा जैनशासन आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा आया। आहाहा! वस्तु है वस्तु, वह स्वयं है, वह निरावरण है, निर्विकल्प है, अभेद है, ऐसी वस्तु में भी विकल्प करना कि ऐसा हूँ... ऐसा हूँ... ऐसा मैं हूँ, ऐसा विकल्प करना, वह क्षोभ है, कहते हैं। आहाहा! वह आकुलता है, वह दुःख है। आहाहा! उसे छोड़कर, स्वरूप में प्रवृत्ति हो, वह शुद्धस्वरूप में अन्दर रमे—एकाग्र हो, **और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है**—स्वरूप में प्रवृत्ति होती है, तब स्वरूप अतीन्द्रिय है, इसलिए अतीन्द्रिय अनुभव होता है। स्वरूप अतीन्द्रिय है, अतीन्द्रिय

आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसमें प्रवृत्ति होने पर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है। तीन लाईन में तो कितना रखा। कुछ का निषेध हो गया।

अब इसके २० कलशों में नयपक्ष को विशेष वर्णन करते हैं, और कहते हैं कि ऐसे समस्त नयपक्ष को जो छोड़ता है, वह तत्त्ववेदी (अर्थात्) तत्त्व का जाननेवाला, तत्त्व का अनुभव करनेवाला स्वरूप को प्राप्त करता है। आहाहा!

कलश–७०

अब २० कलशों द्वारा नयपक्ष का विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ऐसे समस्त नयपक्षों को छोड़ देता है, वह तत्त्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूप को प्राप्त करता है:–

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७०।।

श्लोकार्थ : [बद्धः] जीव कर्मों से बँधा हुआ है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कर्मों से नहीं बँधा हुआ है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर अनुभव में आता है)।

भावार्थ : इस ग्रन्थ में पहले से ही व्यहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इस प्रकार जीव–पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब

कहते हैं कि–जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा, वह भी उस शुद्ध स्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा। अशुद्धनय की तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिए वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्र स्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है। इसलिए शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतरागदशा प्राप्त करनी चाहिए।।७०।।

कलश-७० पर प्रवचन

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७०।।

जीव कर्म से बँधा है, ऐसा एक नय का पक्ष—विकल्प है। आहाहा! व्यवहार का एक विकल्प है। **जीव कर्म से बँधा हुआ नहीं है, ऐसा दूसरे निश्चय—** निश्चयनय का एक विकल्प है। आहाहा! **इस प्रकार चित्स्वरूप जीव...** भगवान ज्ञानस्वरूप प्रभु तो चैतन्यमूर्ति है, ऐसा जीव, उसमें **दो नयों के दो पक्षपात हैं।** आहाहा! वस्तु स्वरूप तो शुद्ध निर्विकल्प है। परन्तु उस वस्तु के सम्बन्ध में दो नयों के पक्षपात हैं।

जो तत्त्ववेत्ता... अर्थात् कि जो तत्त्व का अनुभव करनेवाला—तत्त्व का वेदी अर्थात् तत्त्व का जाननेवाला अर्थात् कि उस तत्त्व का वेदन करनेवाला **पक्षपात रहित है।** अबद्ध हूँ या बद्ध हूँ, उसके पक्ष से भी वह तो रहित है। आहाहा! क्या धीरज! कहाँ ले जाना बात? और कहाँ अटका है बाहर में। आहाहा!

उसे—**पक्षपात रहित है, उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव... 'चिच्चिदेव'** आहाहा! पहले कहा था न कि **'चिति'** चित्स्वरूप जीव में, ऐसा था—चिति—चित्स्वरूप में—'चिति'—चित्स्वरूप जीव में, ऐसा था पहले, उसमें दो नय थे, ऐसा। था न? उसे

जाननेवाले नय अथवा वह स्वयं ही शुद्धनय—वस्तु, उसे मुख्य करके कथन किया गया है। पहले तो यह सिद्ध किया कि पहले से हम व्यवहार को तो गौण करके निषेध करते आये हैं, इसलिए उसकी बात तो एक ओर रखो अब, परन्तु **शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है...** कि **चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं...** इस पक्षपात से चैतन्य के परिणाम,—परनिमित्त से विकल्प से अनेक होते हैं। आहाहा! **उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं। और जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है...** भगवान शुद्ध चैतन्यमात्र अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप प्रभु आत्मा है।

इस प्रकार जीव पदार्थ को शुद्ध... कहा, **नित्य...** कहा, **अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके,...** आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय जो यह शुद्ध, बुद्ध और नित्य, अभेद चैतन्यमात्र को स्थापित करके। **अब कहते हैं कि जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा,...** हम स्थापित करते आये हैं, शुद्ध अभेद चैतन्यमात्र है, परन्तु उसका जो पक्षपात करेगा, उसके विकल्प में रुकेगा, आहाहा! **वह भी उस शुद्ध स्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा।** आहाहा!

वह शुद्ध, बुद्ध और अभेद, ऐसा जो आत्मा है, उसे हम शुद्धनय से स्थापित करते आये हैं, परन्तु उसके विकल्प में जो रुकेगा, ऐसा कहते हैं। यह वस्तु ऐसी है, परन्तु यह ऐसी है और ऐसी है—ऐसे विकल्प में रुकेगा, वह भी शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा। वह राग के—जहर के स्वाद को प्राप्त करेगा। आहाहा! यह आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, उसका इसे पर्याय में स्वाद नहीं आयेगा। वस्तु तो वस्तु है। अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान, परन्तु उसे (विकल्प से) शुद्ध स्वरूप के स्वाद को पर्याय में नहीं प्राप्त करेगा। आहाहा! पर्याय में तो राग का वेदन शुभ रहेगा। आहाहा!

अशुद्धनय की तो बात ही क्या?... क्या कहा? आहाहा! त्रिकाली शुद्ध, बुद्ध नित्य अभेद का भी विकल्प और पक्ष रहेगा, तो उसे शुद्ध का स्वाद नहीं आयेगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह जैनधर्म ऐसा होगा... कहते हैं।

मुमुक्षु : वीतरागता प्रगट करना, इसका नाम ही जैनधर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वीतरागता प्रगट करना, वह वीतरागस्वरूप ही है, उसका

इसे विकल्प छोड़कर वीतरागता प्रगट करना, वह जैनधर्म है। यह (बात) चौथे गुणस्थान की, हों! आहाहा! यहाँ तो अभी नय पक्ष को छोड़कर चौथे गुणस्थान की बात करते हैं।

वीतरागपने की पर्याय को प्रगट करे और विकल्प जो है, उसके पक्ष को छोड़ दे, तब उसे अतीन्द्रिय आनन्द जो वीतरागी आनन्द है, उसका उसे वीतरागी आनन्द का आंशिक स्वाद पर्याय में आवे, परिपूर्ण तो वस्तु है, तब इस पर्याय में थोड़ा (स्वाद) आवे। आहाहा! ऐसा है। **अशुद्धनय की बात ही क्या? किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा...** आहाहा! अन्तिम में अन्तिम हद है। वास्तविक भगवान ने कहा हुआ, आत्मतत्त्व ऐसा है, उसका विकल्प करेगा, ऐसा कहते हैं। 'है' ऐसा भले, आहाहा! परन्तु उसका विकल्प 'है' ऐसा उसका भी पक्ष करके राग में रुकेगा, तब तक **वीतरागता (प्रगट) नहीं होगी...** आहाहा! वीतरागता हुए बिना धर्म नहीं होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : यह विकल्प कैसे मिटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, विकल्प मिटाने के लिये ऐसे जाये तो विकल्प मिटे। निर्विकल्प चीज़ है, उसमें दृष्टि करे तो विकल्प मिटे। आहाहा! अन्तिम सार है।

पक्षपात को छोड़कर... देखा? इस विकल्प को छोड़कर, कथन क्या करना? आहाहा!

मुमुक्षु : अन्दर में जाये तो छूट जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस विकल्प को छोड़कर, **पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप में लीन...** होना, लो! आहाहा! सूक्ष्म—ज्ञान का सूक्ष्म उपयोग करके अन्दर में जाना—लीन होना, वह सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का कारण है। आहाहा! ऐसा है।

पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही... लीन होने पर 'ही' लो, 'ही' कहा एकान्त। **समयसार को प्राप्त किया जाता है...** तब वह समयसार—आत्मा को प्राप्त करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह पर्याय कही?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में समयसार को प्राप्त करता है। समयसार वस्तु तो है त्रिकाल निरावरण, निर्दोष, परन्तु विकल्प छोड़कर, पक्षपात छोड़कर, जब अन्दर लीन होता है, तब समयसार को प्राप्त किया जाता है। बात तो बहुत अच्छी है, परन्तु लोगों को कठिन लगती है। आहाहा! ऐसे धर्म हो... दया पालना और व्रत करना और तप-अपवास करना, और उससे धर्म हो? अधर्म होगा। यहाँ तो पक्षपात करे तो भी विकल्प और अधर्म होता है। अबद्धस्पृष्ट हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ, ऐसे विकल्प उठावे तो पक्ष, वह भी दुःख और राग है। ऐसा है।

इसलिए शुद्धनय को जानकर,... जानना चाहिए कि वस्तु ऐसी है, ऐसा कि... जानकर—सर्वज्ञपरमेश्वर जो आत्मा कहते हैं और दूसरे आत्मा कहते हैं, उसमें बड़ा अन्तर है। आहाहा! श्वेताम्बर में कहा है और सर्वज्ञ कहते हैं, उसमें भी अन्तर है—आत्मा की शैली में अन्तर है दोनों में; इसलिए पहले शुद्धनय को जानकर, ऐसा कहते हैं। दूसरों से अलग कहते हैं, वह क्या है, उसे जानकर, विकल्प में आकर **उसका भी पक्षपात छोड़कर...** आहाहा! **शुद्धस्वरूप का अनुभव करके...** शुद्धस्वरूप का अनुभव करके, **स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र...** यह स्वरूपाचरण, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र। आहाहा! अभी तो यह चौथे गुणस्थान का स्वरूप-चारित्र, समकिती का। आहाहा! **स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतरागदशा प्राप्त करनी चाहिए...** बहुत संक्षिप्त! कहीं के कहीं अभी अटके हों। आहाहा!

फिर श्लोक हैं यह सब। अन्तिम में ले लिया। अन्तिम में है, देखो। भावार्थ। यह सब कलश हो गये न! भावार्थ है? बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़ (आदि) तत्त्व इकट्ठा किया है, सबमें बात एक ही की है।

कलश–७१

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७१।।

श्लोकार्थ : [मूढः] जीव मूढ़ (मोही) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव मूढ़ (मोही) नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर अनुभव में आता है)।।७१।।

कलश–७२

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७२।।

श्लोकार्थ : [रक्तः] जीव रागी है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव रागी नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७२।।

कलश–७३

(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७३।।

श्लोकार्थ : [दुष्टः] जीव द्वेषी है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव द्वेषी नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७३।।

कलश–७४

(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७४।।

श्लोकार्थ : [कर्ता] जीव कर्ता है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कर्ता नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७४।।

कलश–७५

(उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७५।।

श्लोकार्थ : [भोक्ता] जीव भोक्ता है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भोक्ता नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरंतर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७५।।

कलश–७६

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७६।।

श्लोकार्थ : [जीवः] जीव जीव है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव जीव नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७६।।

कलश–७७

(उपजाति)

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७७।।

श्लोकार्थ : [सूक्ष्मः] जीव सूक्ष्म है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव सूक्ष्म नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७७।।

कलश–७८

(उपजाति)

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७८।।

श्लोकार्थ : [हेतुः] जीव हेतु (कारण) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव हेतु (कारण) नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७८।।

कलश–७९

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।७९।।

श्लोकार्थ : [कार्यं] जीव कार्य है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कार्य नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।७९।।

कलश–८०

(उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८०।।

श्लोकार्थ : [भावः] जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है), [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भाव नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८०।।

कलश–८१

(उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८१।।

श्लोकार्थ : [एकः] जीव एक है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव एक नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८१।।

कलश–८२

(उपजाति)

एकस्य सान्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८२।।

श्लोकार्थ : [सान्तः] जीव सान्त (–अन्त सहित) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव सान्त नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८२।।

कलश-८३

(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८३।।

श्लोकार्थ : [नित्यः] जीव नित्य है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव नित्य नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८३।।

कलश-८४

(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८४।।

श्लोकार्थ : [वाच्यः] जीव वाच्य (अर्थात् वचन से कहा जा सके ऐसा) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव वाच्य (-वचनगोचर) नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८४।।

कलश–८५

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८५।।

श्लोकार्थ : [नाना] जीव नानारूप है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव नानारूप नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८५।।

कलश–८६

(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८६।।

श्लोकार्थ : [चेत्यः] जीव चेत्य (–चेता जाने योग्य) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव चेत्य नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८६।।

कलश–८७

(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८७।।

श्लोकार्थ : [दृश्यः] जीव दृश्य (–देखे जाने योग्य) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव दृश्य नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८७।।

कलश–८८

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८८।।

श्लोकार्थ : [वेद्यः] जीव वेद्य (–वेदन में आने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव वेद्य नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है।।८८।।

कलश–८९

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात–
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव।।८९।।

श्लोकार्थ : [भातः] जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है, [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव 'भात' नहीं है, [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इस प्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं। [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है, वैसा निरन्तर अनुभूत होता है)।

भावार्थ : बद्ध अबद्ध, मूढ़ अमूढ़, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त अनन्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। जो पुरुष नयों के कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्व का–वस्तुस्वरूप का निर्णय करके नयों के पक्षपात को छोड़ता है, उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूपरूप अनुभव होता है।

जीव में अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इसलिए उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है।।८९।।

कलश-८९ पर प्रवचन

बद्ध-अबद्ध... का विकल्प छोड़ना, तथा **मूढ़ है...** और **अमूढ़ है,...** उसका विकल्प छोड़ना, पर्याय में मूढ़ है और वस्तु से अमूढ़ है, ऐसा विकल्प छोड़ना। आहाहा! **रागी-अरागी,...** व्यवहार से रागी है, निश्चय से अरागी है, उसका भी पक्ष

छोड़ना। **द्वेष-अद्वेषी, पर्याय में द्वेष है, वस्तु अद्वेषी है, उसका भी पक्ष छोड़ना।** यह तो पहले कहते आये हैं कि व्यवहार का पक्ष तो छुड़ाते आये हैं। बद्ध का, मूढ़ का, रागी का, द्वेषी का... यहाँ तो अब अबद्ध का, अमूढ़ का, अरागी का, अद्वेषी का—इसका विकल्प यहाँ छुड़ाते हैं। यह आ गया न पहले, व्यवहार का पक्ष तो छुड़ाते आये हैं। आहाहा!

कर्ता-अकर्ता... एक पक्ष कहता है कि व्यवहार से राग का कर्ता है, निश्चय से अकर्ता वस्तु है। परन्तु यह पक्षपात अकर्तापने का पक्षपात भी छोड़ देना, आहाहा! छोड़कर कर्ता है, ऐसा नहीं। चिदानन्द ज्ञानस्वरूप है, वह अकर्ता है, ऐसा जो विकल्प है—राग है, उसे छोड़कर अकर्तापने का वेदन करना, अकर्तापने के स्वरूप का वेदन। आहाहा!

भोक्त-अभोक्ता.... एक (पक्ष) कहता है कि राग का भोक्ता है, दूसरा कहता है (कि) भोक्ता नहीं। राग (का) भोक्ता नहीं, यह बात सत्य है, तथापि उसका जो पक्षरूप विकल्प है, उसे छोड़ देना। वह व्यवहार का तो निषेध करते आये ही हैं, यह पहले कहा। भोक्ता है, उसका तो निषेध करते आये हैं, अभोक्ता का निषेध (कर) अब तो (यहाँ ऐसा कहते हैं)। 'अभोक्ता है' परन्तु उसका विकल्प जो राग, उसके पक्षपात में रहना छोड़ देना चाहिए। अरे... अरे...! ऐसा कब (करे)! सुनने को मिले ऐसा नहीं। आहाहा!

जीव-अजीव... एक कहता हे जीव है, दूसरा कहता है जीव नहीं, पर की अपेक्षा से। 'जीव है' ऐसा विकल्प भी छोड़ देना, जीव नहीं है, यह तो व्यवहारनय का विकल्प प्रथम से ही छुड़ाते आये हैं। जीव है, उसका भी विकल्प छोड़ देना। आहाहा!

सूक्ष्म-स्थूल.... वह तो सूक्ष्म है। स्थूल है, इस विकल्प को तो छुड़ाते आये हैं, परन्तु सूक्ष्म है, आहाहा! इसके विकल्प को भी छुड़ाने का (कहते हैं)।

कारण-अकारण.... कारण है, यह व्यवहार कहलाता है; अकारण है, यह निश्चय है। वह किसी का कारण ही नहीं। आहाहा! उसे ही अब निषेघ करने के लिये, कारण तो नहीं किसी का परन्तु वह किसी का अकारण भी नहीं। अकारण है, ऐसा एक पक्ष है—विकल्प है (उसे भी छोड़ देना)। आहाहा!

कार्य-अकार्य... किसी का कार्य नहीं, तथा अकार्य है, ऐसा भी एक विकल्प है, वह भी छोड़नेयोग्य है।

भाव-अभाव... भाव है सही। अभाव अर्थात् वह पर से अभाव है। अभाव का तो निषेध है, परन्तु 'भाव' के विकल्प का भी निषेध है। आहाहा! है भाव स्वरूप, (परन्तु) उसके विकल्प का निषेध है। अब ऐसा सूक्ष्म।

(कहते हैं) **एक-अनेक...** अनेक की दृष्टि तो छुड़ाते आये हैं, व्यवहार, परन्तु एकरूप है—एकरूप है, ऐसा जो विकल्प, उसे भी छुड़ाते हैं। सूक्ष्म है थोड़ा लोगों में यह ठीक। आहाहा!

सान्त-अनन्त... सान्त अर्थात् पर्याय से सान्त है, वस्तु से अनन्त है। पर्याय से सान्त है, इसका तो निषेध है, परन्तु वस्तु अनन्त है, अनन्त... अनन्त है।

नित्य-अनित्य... अनित्य का तो निषेध करते ही आये हैं, परन्तु नित्य के पक्ष का विकल्प छोड़ना चाहिए। आहाहा!

'वाच्य-अवाच्य.... वचन से कहनेयोग्य है, यह अपेक्षा तो छोड़ते आये हैं; अवाच्य—वचन से नहीं कहा जा सकता ऐसा है, उसका भी विकल्प छोड़ देना। आहाहा!

नाना-अनाना... अनेक प्रकार से है, उसका तो निषेध करते आये हैं, परन्तु अनेक प्रकार नहीं, एक ही प्रकार है—ऐसा भी विकल्प छोड़ देना। आहाहा!

चैत्य और अचैत्य... चैत्य—जाननेयोग्य है। अचैत्य—जाननेयोग्य नहीं। जाननेयोग्य नहीं, यह तो नास्ति हुई। जाननेयोग्य है, तथापि उसका विकल्प छोड़नेयोग्य है।

दृश्य अदृश्य... देखनेयोग्य है और देखनेयोग्य नहीं। वह तो है वह है। यह दृश्य का विकल्प तो छोड़ा, परन्तु अदृश्य का विकल्प भी छोड़ना...।

वेद्य-अवेद्य... वेदनेयोग्य और अवेदनेयोग्य—वेदनेयोग्य है। और जो वेदनेयोग्य नहीं, ऐसा विकल्प तो छुड़ाते आये हैं, वेदने योग्य है, इसका विकल्प छोड़नेयोग्य है। आहाहा!

भात-अभात... भात—ज्ञात हो ऐसा है—प्रत्यक्ष हो ऐसा है, अभात—प्रत्यक्ष हो ऐसा नहीं। यह प्रत्यक्ष हो ऐसा है, यह अस्ति है; प्रत्यक्ष हो, ऐसा नहीं, इसका तो निषेध करते आये हैं, परन्तु प्रत्यक्ष होता है, उसका विकल्प भी निषेध करते हैं। आहाहा!

नये व्यक्ति को तो इसमें कुछ सूझ नहीं पड़ती। ऐसा स्वरूप है। गये, रमणीकभाई गये ?

इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। जो पुरुष नयों के कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक... जिस प्रकार से कहना चाहा है, उस प्रकार से समझकर, विवक्षा अर्थात् जिस प्रकार से वस्तु को कहने में आया है, उस प्रकार से ही समझकर **तत्त्व का...** अर्थात् कि **वस्तुस्वरूप का निर्णय करके....** विकल्प द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करके **नयों के पक्षपात को छोड़ता है...** फिर नय का जो विकल्प-राग है, उसे छोड़ता है, **उसे चित्स्वरूप जीव का चित्स्वरूपरूप अनुभव होता है।** पाठ है न ? **'चिच्चिदेव' ज्ञान है, उस ज्ञान का ही अनुभव रहता है।** उस ज्ञान का ही अनुभव रहता है। **एक विकल्प का क्षोभ का अनुभव मिट जाता है** (इन्होंने अर्थ भी)....

जीव में अनेक साधारण धर्म हैं परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है... यह क्या कहा ? जीव में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म हैं, जो अपने में भी है और दूसरे में भी है, ऐसे साधारण धर्म हैं परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, वह जाननेवाला धर्म एक ही वस्तु में असाधारण। जो कोई दूसरे में नहीं और ऐसा कोई दूसरा अपने में भी नहीं। एक ही चित्स्वभाव ऐसा है जो भगवान असाधारण, कि जो स्व-पर को जाने, दूसरे धर्म अपने में हैं, परन्तु वे अस्तिरूप से हैं, जाननेवाले नहीं। जाननेवाला तो यह एक असाधारण चित् स्वभाव ही है। यह तो चिद् ऐव... चिद् ऐव अनुभव करे, क्यों कहा ? ऐसा इसका स्पष्टीकरण ऐसा। जीव में अनेक साधारण अर्थात् आत्मा में भी है, जड़ में भी है, दूसरे आत्मा में भी है—ऐसे धर्म हैं परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर है। क्योंकि पर्याय में ज्ञान का उघाड़ है, परन्तु उसके द्वारा अन्दर में जाये तो प्रगट प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव होता है। आहाहा! **चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण (धर्म है)।** वह एक ही गुण ऐसा है (जो सर्व को जानता है) वे अनन्त गुण जानते नहीं।

यह ज्ञानगुण ही जानता है, दूसरे गुण को भी जानना हो तो वह जाननेवाले से प्रसिद्ध होता है। आत्मा में आनन्द है, वह आनन्द प्रसिद्ध नहीं कर सकता, आनन्द को

जाननेवाला ज्ञान (है वह) प्रसिद्ध करेगा कि आनन्द है, यह 'जाननेवाला' प्रसिद्ध करेगा। आनन्द है, वह अस्तित्व है, परन्तु आनन्द में जानने का स्वभाव नहीं है। **इसलिए उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है...** भगवान तो ज्ञानस्वरूप ही है, बस। दूसरे गुण हैं, परन्तु दूसरे असाधारण नहीं अर्थात् कि दूसरे भी हैं, इसलिए उससे पृथक् करने का साधन (वह नहीं) है।

ज्ञान वह आत्मा; अस्तित्व वह आत्मा—ऐसा कहें तो 'है'—अस्तित्व है। 'है' वह आत्मा, तो 'है' तो परमाणु भी है, इसलिए उनसे आत्मा पृथक् नहीं पड़ता। जाननेवाला आत्मा है। प्रज्ञाब्रह्म-प्रज्ञाचक्षु-ज्ञानचन्द्र-ज्ञानसूर्य, वह चैतन्यस्वरूप, उससे दूसरे सबसे पृथक् किया जा सकता है, ऐसा एक ही वह गुण है। है? आहाहा! **इसलिए उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है...**

कलश-९०

अब उपरोक्त २० कलशों के कथन का उपसंहार करते हैं:-

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।९०।।

श्लोकार्थ : [एवं] इस प्रकार [स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालाम्] जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठता है, ऐसी [महतीं] बड़ी [नयपक्षकक्षाम्] नयपक्षकक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) [व्यतीत्य] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [अन्तः बहिः] भीतर और बाहर [समरसैकरसस्वभावं] समता-रसरूपी एक रस की जिसका स्वभाव है ऐसे [अनुभूतिमात्रम् एकम् स्वं भावम्] अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (-स्वरूप को) [उपयाति] प्राप्त करता है।।९०।।

कलश-९० पर प्रवचन

अब ऊपर के २० कलशों के कथन को समेटते हैं।

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्ष-कक्षाम्।
अन्तर्बहिः सम-रसैक-रस-स्वभावं,
स्वं भाव-मेक-मुपयात्यनुभूति-मात्रम्।।९०।।

(कहते हैं) **इस प्रकार 'स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालम्' जिसमें बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठता है...** क्या कहते हैं? भगवान तो चिद्स्वरूप आनन्दस्वरूप ध्रुव वीतरागस्वरूप ही है। उसमें (मैं) ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प अपने आप उठते हैं, वे स्वभाव में नहीं हैं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, वह तो चित्स्वरूप—आनन्दस्वरूप—शुद्धस्वरूप स्वतः है। उसमें जो यह विकल्प-राग उठे, मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ और एक हूँ, यह सब बहु विकल्प का जाल अपने आप उठता है। अपने आप अर्थात्? द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय से अपने आप उठता है। आहाहा! वस्तु में यह विकल्प उठे, ऐसा स्वभाव नहीं है। आहाहा! ऐसा वह चैतन्य है। **बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठता है...** अर्थात् कि आत्मा के—द्रव्य के अवलम्बन बिना, द्रव्य के आश्रय बिना, पर्याय में पर के लक्ष्य से विकल्प का जाल अपने आप उठता है। आहाहा! यह... विकल्प का जाल कहा। दया, दान, व्रत, भक्ति का राग वह तो है ही 'जाल', परन्तु (मैं) ऐसा हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पर्शी हूँ, उसे यहाँ विकल्प का जाल कहा है। उस जाल में फँस गया, कहते हैं। आहाहा!

आहाहा! **ऐसी बड़ी नय-पक्ष-कक्षाम्...** देखा? अपने आप उठता है **ऐसी बड़ी नय-पक्ष-कक्षाम्... नय-पक्ष-कक्षाम्...** नय पक्ष की भूमि, भगवान ने कहा हुआ ऐसा आत्मा शुद्धचैतन्यघन, ऐसा पक्ष का विकल्प जो नय का उठता है, उसे उल्लंघ जा। आहाहा! उसे **उल्लंघन करके...** जो **तत्त्ववेत्ता 'अन्तःबहिः' —अन्दर और बाहर समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है...** ऐसा—अन्दर में समता—वीतरागमूर्ति है और पर्याय में भी वीतरागता प्रगट हुई है। आहाहा! '**अन्तःबहिः**'—अन्तर में तो

वीतरागमूर्ति आत्मा है ही, परन्तु बाहर, समता-समरस, बाहर में भी विकल्प का जाल तोड़कर, तोड़कर—ऐसा उपदेश कहा जाता है। बाकी यहाँ स्थिर होता है, तो (विकल्प का जाल) टूट जाता है। समरस एक रस ही स्वभाव-समतारसरूप एक ही जिसका एकरस स्वभाव है। आहाहा! भगवान का तो वीतराग स्वभाव ही है। अकेला समता... समता... समता... विकल्प के जाल रहित समरस... समरस... एकरूप वीतरागरस, आहाहा! ऐसा जो आत्मा का स्वरूप, ऐसा है। आहाहा!

समता रसरूपी एक ही रस जिसका... वह विकल्प है, वह असमता थी। मैं निश्चय से ऐसा हूँ और व्यवहार से ऐसा हूँ, यह सब विकल्प का जाल असमता थी, क्षोभ था, मोह था। आहाहा! उसे छोड़कर, है न? **उल्लंघन करके...** -छोड़कर अर्थात् उल्लंघन करके **समतारसरूप एक ही रस जिसका स्वभाव है...** आहाहा! वीतराग, राग के विकल्प के जाल रहित, समतास्वरूप ही प्रभु है। उसे समता बाहर से लाना नहीं है। समतास्वरूप है, ऐसा अन्तर में है, ऐसा पर्याय में समतास्वरूप प्रगट होता है। आहाहा! यह विकल्प है, वह असमता है—वह क्षोभ है, उसे छोड़कर समतारस पर्याय में... अन्दर में तो है, पर्याय बाहर है, पर्याय अन्दर में नहीं। आहाहा! अन्दर में अर्थात् द्रव्यस्वभाव में समतारस का पिण्ड है, परन्तु जब विकल्प छोड़ता है, तब पर्याय में समतारस-वीतरागरस-शान्तरस आता है। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। अभी तो यह धर्म की पहली सीढ़ी। आहाहा!

समरस एक रस... है न? 'एक' रस, आहाहा! जैसा अन्दर समता-वीतरागमूर्ति प्रभु है, 'वैसा ही' पर्याय में एकरस—वीतराग पर्याय एकरस प्रगट हुई, आहाहा! **एकरस ही जिसका स्वभाव है,...** आहाहा! **ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को...** अनुभूतिमात्र 'एक'—समरस—समता स्वरूप त्रिकाल है, उसकी पर्याय में—अनुभूति में समता आयी—अनुभूतिमात्र एक अपने **(स्वरूप को) प्राप्त करता है...** आहाहा! सब विकल्पों को छोड़कर, निश्चयनय के, शुद्धनय के पक्ष के विकल्पों को भी छोड़कर, त्रिकाली समतारस का पिण्ड अन्दर, उसे पर्याय में समरस-अनुभूति आती है। आहाहा!

अनजाने व्यक्ति को तो यह क्या सूझे—क्या कहते हैं यह? ऐसा तो जैनधर्म होगा?

लो, यह मिच्छामि पडिक्कमणा इरिया वहिया तस्सउत्तरी करणेण, यह जड़ की क्रिया और राग है। वीतराग मार्ग तो 'यह' है। समरस एक समरस द्विधा भी नहीं जहाँ। आहाहा!

जैसा समतारस, वीतरागरसस्वरूप है, वैसा ही अनुभूति में (पर्याय में) एकरस-समरस प्रगट हुआ, आहाहा! एक अपने भाव को—अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, वह जीव अपने आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है, वह जीव मोक्ष के मार्ग में आया। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार छुड़ाया...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार क्या? निश्चय छुड़ाया है—निश्चय का पक्ष छुड़ाया है। व्यवहार का पक्ष तो छुड़ाते आये हैं, यह तो पहले कहा है, उसकी तो बात है ही नहीं। यह तो पहले आ गया न, पहले (७०वें) कलश के भावार्थ में शुरुआत में ही है कि, इस ग्रन्थ में प्रथम से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। ऐसा पहले से ही व्यवहार को गौण करके छुड़ाते आये हैं। इसमें तो निश्चय का पक्ष है, उसे छुड़ाया है। आहाहा!

सुना हुआ सुनने को भी मिले नहीं, सुनने को भी मिले नहीं, सूक्ष्म... क्या कहते हैं यह, वह अन्दर ख्याल में लाना मुश्किल। आहाहा! विकल्पसहित ख्याल में लाना मुश्किल। आहाहा!

यहाँ तो विकल्प से भी पार व्यवहार के बन्ध, एक-अनेक आदि के विकल्पों को तो छुड़ाते-छोड़ने को (कहते) आये हैं, यहाँ तो एक निश्चय का जो पक्ष है—शुद्धनिश्चय से अभेद है—जाननेयोग्य है—अनुभव करनेयोग्य है—वेदन करनेयोग्य है, ऐसा जो विकल्प है, उसे यहाँ छुड़ाकर समरस प्रभु आत्मा है, उसकी एकरूप दशा—वह समरस वस्तु है और विकल्प / राग तो विषमता होती थी, यह (आत्मा) समरस वस्तु है, उसे विकल्प छोड़कर एकाकार (-लीन) हुआ तो समरस एक भाव हुआ—जैसा भाव था, वैसा भाव हुआ। आहाहा! **अनुभूति मात्र एक अपने स्वरूप को प्राप्त करता है।** आहाहा!

बहुत ऊँची बात थी। वस्तु की स्थिति 'यह' है। 'ऊँची' (कही), इसलिए 'नीची' कोई दूसरी दशा है, ऐसा नहीं है। कोई कहता था बाहर में कि लोगों को ऐसा हुआ कि

ऐसा है, सर्वत्र ऊँची बात है, बहुत ऊँची है सोनगढ़ की, ऐसा। वह मुम्बई में कहते थे। परन्तु ऊँची है, इसलिए दूसरी कोई नीचे की है? ऊँची कहो या सच्ची कहो, 'यह एक ही है' ऊँची कहकर नीचे का दूसरा हमारा भी कुछ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ तो व्यवहार का पक्ष ही छुड़ाते आये हैं। व्रत, तप, भक्ति तो, वह तो विकल्प और राग है, उसे तो छुड़ाते आये हैं, परन्तु नय के पक्ष दो—ज्ञान के पक्ष दो हैं—एक पर्यायपक्ष देखनेवाला और एक द्रव्य पक्ष देखनेवाला, परन्तु दोनों देखनेवाला, ऐसी पर्याय को देखनेवाले पक्ष का तो निषेध करते आये हैं, अथवा गौण करते आये हैं। आहाहा! परन्तु त्रिकाली वस्तु जो है, चैतन्यमूर्ति जो विकल्परहित है, उसे समरस भाव से वेदना और जानना, इसका नाम भाव को प्राप्त किया, स्वरूप को प्राप्त किया। उसने जीव को जाना है। आहाहा!

कलश–९१

अब नय पक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं:–

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ।।९१।।

श्लोकार्थ : [पुष्कल–उत्–चल–विकल्प–वीचिभिः उच्छलत्] विपुल, महान, चंचल, विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उठते हुए [इदम् एवम् कृत्स्नम् इन्द्रजालम्] इस समस्त इन्द्रजाल को [यस्य विस्फुरणम् एव] जिसका स्फरण मात्र ही [तत्क्षणं] तत्क्षण [अस्यति] उड़ा देता है, [तत् चिन्महः अस्मि] वह चिन्मात्र तेजः पुञ्ज मैं हूँ।

भावार्थ : चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों के विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है; ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ।।९१।।

कलश-९१ पर प्रवचन

अब नयपक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम कावय कहते हैं—

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ।।९१।।

(कहते हैं) **पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत् विपुल... उत्** अर्थात् **महान**। आहाहा! **चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए...** भगवान तो अन्दर समरसस्वरूप है। आत्मा तो अन्दर जिनस्वरूप ही—वीतरागस्वरूप ही है। वह अभी है? तीनों काल प्रभु जिनस्वरूप ही आत्मा है। उसका स्वभाव—स्वभाव वीतरागी स्वभाव का सामर्थ्य ही, वही जीव है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि उसमें **विपुल महान...** उत् का अर्थ महान किया है। **चंचल विकल्परूपी...** है। **चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उठते हुए 'इदम-एवम्-कृत्स्नम् इन्द्रजालम्' इस समस्त इन्द्र जाल को...** जैसे मायाजाल है न? वह के. लाल (जादूगर)। नहीं कहते कि लाल का मायाजाल, जादूगर। जादू (करता है न)? आया था वहाँ मुम्बई था वह, एक बार शाम को अन्तिम दिन आया था, जादूगर। मायाजाल कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ विकल्प का सब मायाजाल है, कहते हैं। जो जैसा स्वरूप है, वैसा न बताकर, उसे विकृतस्वरूप बतावे, आहाहा! ऐसे **विपुल महान चंचल विकल्परूपी तरंगों द्वारा उठते हुए, इस समस्त इन्द्रजाल को...** यह इन्द्रजाल है,... यह आत्मस्वरूप नहीं। आहाहा! यह तो इन्द्रजाल है, कहते हैं। जैसे इन्द्र जैसे ऐसे हजारों रूप धारण करता है न? समेटे तो बस अकेला है।

इस समस्त इन्द्रजाल को 'विस्फुरणम् एव' जिसका स्फुरणमात्र ही.... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव भगवान में एकाग्र होने मात्र से उस अतीन्द्रिय आनन्द का अंश स्फुरण-प्रगट होने से विकल्प का जाल कहीं चला जाता है। आहाहा! **इन्द्रजाल को**

जिसका स्फुरण मात्र... है न नीचे (फुटनोट में अर्थ है कि) **स्फुरणा=फिरकना, धनुष टंकार करना,** धनुष की ऐसी टंकार हो वहाँ सेना चली जाती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा अन्दर, आहाहा! ज्ञाता-दृष्टा ऐसा हुआ जहाँ अन्दर, वहाँ विकल्प जाल सब भाग जाती है। आहाहा! '**यस्य विस्फुरणम् एव**' **जिसका स्फरणमात्र ही,...** '**एव**' है न? '**यस्य विस्फुरणम् एव**' निश्चय किया, उसे दूसरे की आवश्यकता नहीं, कहते हैं। आहाहा! वह भगवान आनन्द का नाथ जहाँ एक अंश में स्फुरित होता है, आहाहा! **तत्क्षण उड़ा देता है।** विकल्प-इन्द्रजाल को और विकल्प का जाल वहाँ नहीं रहता।

आज तो बहुत माल-माल सब आया, लोग थोड़े हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : विकल्पजाल गया या निर्विकल्प हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'तत्क्षण', वापस ऐसा (कहते हैं) '**विस्फुरणम् एव**' जरा भी अन्दर स्फुरण होकर आत्मा आनन्द में जागृत हुआ, विकल्प छोड़कर, वहाँ स्फुरणमात्र से, स्फुरणमात्र से आत्मा से, तत्क्षण उड़ा देता है। '**तत् चिन्महः अस्मि**' **वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ।** आहाहा! वह ज्ञानस्वरूप—चेतनस्वरूप, वह मैं हूँ। इस प्रकार समकिती अपने आत्मा को ऐसा मानता है। आहाहा!

भावार्थ — चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों के विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है... उसी क्षण। यहाँ उत्पन्न हुआ और वहाँ व्यय होता है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि क्षण तो एक का एक ही है। जिस क्षण में शान्ति उत्पन्न हुई उसी क्षण में विकल्प की अशान्ति का व्यय हुआ। क्योंकि समय तो एक है न? आहाहा! उस क्षण ही विलय को प्राप्त होता है, **ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ।** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-१४३

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत् -

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः।।१४३।।

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवल-ज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्ष-परिग्रहदूरीभूतत्वात्कञ्चनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूत-योर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुष-नित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मक-समस्तान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्क-ञ्चनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः।।१४३।।

'पक्षातिक्रान्त का स्वरूप क्या है?' इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:-

नयद्वयकथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन सो।।१४३।।

गाथार्थ : [नयपक्षपरिहीनः] नयपक्ष से रहित जीव, [समयप्रतिबद्धः] समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ), [द्वयोः अपि] दोनों ही [नययोः] नयों के [भणितं] कथन को [केवलं तु] मात्र [जानाति] जानता ही है, [तु] परन्तु [नयपक्षं] नयपक्ष को [किञ्चित् अपि] किंचित्मात्र भी [न गृह्णाति] ग्रहण नहीं करता।

टीका : जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपन के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयपक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं परन्तु, निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानधन हुए होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, इसी प्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी, पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनयपक्षों के स्वरूप को ही केवल जानता है परन्तु, अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये, निर्मल नित्य-उदित, चिन्मय समय से प्रतिबद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा) अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर होता हुआ होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ : जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा) हैं; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करता है, तब वह नयपक्ष के स्वरूप का ज्ञाता ही है। यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्रमोह का राग रहता है; और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसा ही होता है - ऐसा जानना।।१४३।।

प्रवचन नं. २२२, गाथा-१४३, दिनांक ०९-०५-१९७९, बुधवार, वैशाख शुक्ल-१३

समयसार, १४३ गाथा। **पक्षातिक्रान्त का...** अर्थात् पक्ष को उल्लंघ गये हुए का **(पक्षातिक्रान्त)** स्वरूप क्या है ? **इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं।** थोड़ी सूक्ष्म है।

पक्षातिक्रान्त—अर्थात् कि पक्षरूप जो नय—व्यवहार (नय) और निश्चयनय दोनों नय, उनका पक्ष छूट गया है, उसका क्या स्वरूप है ? अन्तर में यह पक्ष छूट गया, उसका क्या स्वरूप है। ऐसा जिसका प्रश्न हो, उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं। १४३।

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।।१४३।।

नयद्वयकथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन सो।।१४३।।

अन्तिम में अन्तिम यह गाथा का (सार) है। आहाहा!

टीका — जैसे... यह तो (केवलीभगवान का) दृष्टान्त देते हैं। उनके साथ मिलान करते हैं। पाठ में तो '**णयपक्खपरिहीणो**' कहा है परन्तु उसे केवली के साथ मिलान करते हैं। **जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपन के कारण,...** वे—केवली तो विश्व के साक्षी हैं। **इसी प्रकार...** है ? छठवीं लाईन। **जैसे केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण, इसी प्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से,...** उसमें केवली को विश्व के साक्षीपन के कारण, और इसमें **श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से,...** इन दोनों का मिलान किया है। आहाहा! भगवान तो स्पष्ट साक्षी हैं। तब नीचे... नयपक्षरहित जीव, आहाहा! श्रुतज्ञान से उत्पन्न होते विकल्प—वृत्ति—भेद को पकड़ने का उत्साह निवृत्त हुआ है। वे विकल्प हैं, उनके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ है, आहाहा! इसलिए जैसे केवली साक्षीपन के कारण, हैं ? वैसे इसे विकल्प से उत्साह निवृत्त हुआ है, इसलिए यह भी अन्दर साक्षीरूप है। सूक्ष्म गाथा है।

श्रुतज्ञानी आत्मा, क्षयोपशम से जिनका उपजना होता है, ऐसे श्रुतज्ञानस्वरूप विकल्प—भेद उत्पन्न होते होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ है।—उत्साह निवृत्त हुआ होने से... केवली विश्व के साक्षीपन में हैं, तब श्रुतज्ञानी विकल्प को पकड़ने के उत्साह से निवृत्त हुआ होने से... आहाहा! अनुभव के समय

की बात है। जब आत्मा का अनुभव होता है, विकल्प के पक्ष से रहित होता है, तब उसकी स्थिति कैसी है, इसका वर्णन है। पक्षातिक्रान्त कहा न? एक बोल हुआ।

दूसरा, **श्रुतज्ञान के अवयवभूत...** केवली को पहली लाईन में **श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनिश्चय...** यह श्रुतज्ञान के अवयव हैं, श्रुतज्ञान अवयवी है, व्यवहार और निश्चयनय उसके अंश, उसके अवयव हैं। उनके **स्वरूप को ही मात्र जानते हैं...** कौन? केवली। श्रुतज्ञान के अवयवभूत—श्रुतज्ञान अवयवी और निश्चय-व्यवहार उसके भाग—अवयव, ऐसे व्यवहार और निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही अर्थात् उन्हें है नहीं वास्तव में, परन्तु यहाँ तो कहते हैं, स्वरूप को ही मात्र जानते हैं। व्यवहार-निश्चयनय पक्ष के स्वरूप को ही मात्र जानते हैं। कौन? केवली। आहाहा! समझ में आया?

केवलज्ञानी भगवान श्रुतज्ञान के (अवयवभूत...) क्योंकि उन्हें श्रुतज्ञान है नहीं, इसलिए उसके दो भाग व्यवहार-निश्चय उन्हें है नहीं। **उनके स्वरूप को ही मात्र जानते हैं...** अर्थात् उन्हें है और उसे जानते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! जानते हैं बस! श्रुतज्ञान में दो नय हैं, वे है और उसे जानते हैं, ऐसा नहीं है, क्योंकि उन्हें नय तो है ही नहीं, इसलिए 'जानते हैं' ऐसा कहने में आया है। सूक्ष्म है, भाई! आज की गाथा। कल भी ऐसा था सवेरे-दोपहर तथा आज यह (गाथा का सूक्ष्म तत्त्व है) अभी आज थोड़े लोग हैं, वे सब बाहर गये हैं न! आहाहा!

केवली भगवान श्रुतज्ञान के अवयवभूत... उन्हें श्रुतज्ञान ही नहीं, इसलिए उसके अवयव जो व्यवहार और निश्चयनय के पक्ष भी नहीं, इसलिए उनके स्वरूप को ही मात्र जानते हैं। इसका अर्थ? यह नय है और जानते हैं, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : नय का ऐसा स्वरूप है, ऐसा वे जानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वरूप है, बस इतना ही, ज्ञान में जानते हैं, बस इतना ही। जानते हैं, जैसे सबको जानते हैं, वैसे जानते हैं, बस इतना। नय को जानते हैं, वह अलग, ऐसा नहीं। आहाहा! **उनके स्वरूप को ही,...** ऐसा शब्द है न? अर्थात् वे तो—भगवान तो ज्ञाता-दृष्टा हैं ही, इसलिए नय के स्वरूप को जानते हैं, ऐसा कहना वह तो

नय पहले थे और गये और उनका ज्ञान रहा, उस ज्ञान से ज्ञान को जानते हैं, बस। आहाहा!

मुमुक्षु : खण्ड-खण्ड जानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : खण्ड-खण्ड नहीं जानते, भेद है न। वह तो श्रुतज्ञान का एक भेद है न, और उसे—नीचेवाले को श्रुतज्ञान है। वह अब लेंगे, देखो! दूसरा बोल, इसका दूसरा बोल नीचे का। श्रुतज्ञान के अवयवभूत, देखो! आठवीं लाईन है। आठवीं लाईन **श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को भी मात्र जानते हैं...** देखा? दोनों को एक ही कहा। क्योंकि जहाँ विकल्प ही नहीं, यह मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ—ऐसा जहाँ विकल्प ही नहीं, वहाँ जानते हैं, किसे? जाननेवाले को जानते हैं, बस। आहाहा!

केवलज्ञानी जैसे श्रुत के अवयव को (जो) उनको नहीं है, तथापि 'जानते हैं', ऐसा कहना, मात्र जानते हैं, वह तो जाननेवाले ही हैं, बस। आहाहा! इसी प्रकार यह व्यवहार-निश्चय के पक्षों के स्वरूप को ही... पक्ष है और उसे जानते हैं, ऐसा नहीं है। पक्ष (तो) है नहीं, उसे मात्र जानते हैं, जानना है बस! अनुभव के समय जानना एक ही है। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! मात्र जानते हैं, है न। दो (बोल हुए)।

तीसरा। परन्तु केवली, **निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल...** स्वाभाविक विमल **सकल केवलज्ञान के द्वारा...** केवलज्ञान के द्वारा, बस वहाँ भगवान सकल केवलज्ञान के द्वारा और यहाँ, तीसरा यहाँ **अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये...** अति तीक्ष्ण अनुभव काल में ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये, **निर्मल, नित्य-उदित, चिन्मय समय से, प्रतिबद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा) उस समय,...** इतना शब्द है। **अनुभव के समय...** वहाँ नय का पक्ष नहीं है। भगवान को सदा है, इसको अनुभव के काल में, इतना अन्तर है। आहाहा!

बहुत सूक्ष्म बातें! केवली को सदा ज्ञान है, तब श्रुतज्ञानी को अनुभव के काल में—उसी समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से—स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, उसमें ऐसा था **निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा,...** ऐसा था। यहाँ स्वयं ही विज्ञान (घन) कब?—अनुभव के काल में—अन्तर के अनुभव के काल

में, **स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से,...** वह यह चौथा बोल हुआ। तीन बोल हुए न? 'सदा' **स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से...,** यह चौथा बोल है, देखो! वे केवलज्ञानी **सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से,...** यह केवलज्ञानी, यहाँ (श्रुतज्ञानी) भी **अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से,...** आहाहा! बस, यह चार (बोल हुए)। ये चार यहाँ तक हुए।

पाँचवाँ (बोल)। **श्रुतज्ञान की भूमिका को अतिक्रान्तता के द्वारा...** केवली। केवली को श्रुतज्ञान की भूमिका ही नहीं है। श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा... यहाँ **श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा...** आहाहा! केवली, आहाहा! श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा—उनको श्रुतज्ञान की भूमिका नहीं है, तब इसको (श्रुतज्ञानी को) अनुभव में, श्रुतज्ञानस्वरूप समस्त अन्तर्जल्परूप सूक्ष्म विकल्प तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा—इसे थे अवश्य, उनके अतिक्रान्तता के द्वारा। पाँच बोल हुए।

छठा बोल। श्रुतज्ञान, केवली को, **श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण,...** है? केवली श्रुतज्ञान की भूमिका को उल्लंघ गये होने के कारण। **समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।** छठवाँ बोल। आहाहा! क्या कहा? केवली **श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण, समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।** यह केवली। अब यहाँ **समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से...** नीचे है? है अंक। **यह तो समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता।** नय 'पक्ष को' ग्रहण नहीं करता, उसमें नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, यहाँ (साधक) नय पक्ष को ग्रहण नहीं करता। बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! कहो, समझ में आया? छह बोल हुए। फिर से। केवली —

१. **जैसे केवली भगवान विश्व के साक्षीपन के कारण...** यह पहला बोल। है? उसी प्रकार... छठवीं लाईन, **उसी प्रकार जो श्रुतज्ञानी आत्मा, क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं, ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी पर का ग्रहण करने के प्रति**

उत्साह निवृत्त हुआ होने से... ऐसा। विकल्प के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म!

२. **श्रुतज्ञान के अवयवभूत ऐसे जो व्यवहार निश्चय पक्ष, उनके स्वरूप को ही मात्र जानते हैं...** श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को मात्र जानते हैं...

३. **परन्तु निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा...** यहाँ तो सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा है... उसे **अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से, ग्रहण किये गये,...** निर्मल, नित्य-उदित, देखा! उसको तो अभी केवली को सहज, विमल, सकल केवलज्ञान निरन्तर है और यहाँ इसे कहते हैं कि **अति तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल नित्य उदित चिन्मय समय की प्रतिबद्धता के द्वारा...** उस समय अनुभव में चिन्मय का प्रतिबद्ध हुआ।

४. **सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से...** ऐसा है न? केवली में। चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा 'उस समय'—अनुभव के समय स्वयं विज्ञानघन हुआ होने से केवली में उसमें केवली में **सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से,...** ऐसा है और यह चौथा बोल है। यहाँ **चैतन्यमय आत्मा के अनुभव द्वारा-उस समय...** अनुभव के समय **विज्ञानघन हुआ होने से...** यह चौथा बोल।

५. पाँचवाँ, **श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा...** भगवान। आहाहा! इसमें **श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प तथा बहिर्जल्प विकल्पों की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा,...** इतनी बात। यह पाँच।

६. छठवाँ बोल—**श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण, समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से केवली किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।** यह छठवाँ बोल। इसी प्रकार (श्रुतज्ञानी को) **समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से, किसी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता...**

....वह आत्मा, केवली के साथ इसे (श्रुतज्ञानी साधक को) मिलाते हैं। आहाहा! कब? वाँचता हो न, पढ़ता हो न, बोलता हो न, कहता हो तब नहीं। इसी तरह अन्दर

में नयपक्ष करता हो तब भी नहीं। आहाहा! जब वह नयपक्ष को छोड़कर, मैं अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, एक हूँ—ऐसा भी एक विकल्प है—ज्ञान के पक्ष का क्षयोपशम के कारण उत्पन्न होता ऐसा एक विकल्प है, क्षायिक को तो वह होता ही नहीं, परन्तु उस विकल्प को छोड़कर, उस समय अर्थात् अनुभव के समय, अकेला ज्ञातादृष्टा है। आहाहा! है? आहाहा!

केवली सदा ही विज्ञानघन है, यह (श्रुतज्ञानी) 'उस समय' विज्ञानघन है। केवली, श्रुतज्ञान की भूमिका को अतिक्रान्तता के द्वारा—केवली, श्रुतज्ञान की भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा, परन्तु इसको श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्प तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की... भूमिका के अतिक्रान्तता के द्वारा, आहाहा! केवली किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते, आहाहा! **श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुके होने के कारण, समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते।** कौन? केवली। इसी प्रकार **श्रुतज्ञानी समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुआ होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता।** लो! दो बार तो आया।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग सरल कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्ग नय के विकल्प से पार है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार रत्नत्रय की बात तो क्या करना? आहाहा! परन्तु उसकी जो चीज़ है, उसमें श्रुतज्ञान के उघाड़ से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत निश्चय और व्यवहारनय के विकल्प से भी रहित, अकेला श्रुतज्ञान का विज्ञानघन हुआ, विज्ञानघन को अनुभव करता है। आहाहा!

यह समकित-दर्शन उत्पत्ति के काल की यह बात है। उस समय विकल्प नहीं होता। व्यवहाररत्नत्रय का तो आश्रय नहीं होता। आहाहा! व्यवहार के नय का भी विकल्प नहीं होता। परन्तु निश्चयनय के पक्ष का भी विकल्प नहीं होता। आहाहा! उसे यहाँ अनुभव काल में विकल्परहित, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को कठिन पड़ती है।

वह आत्मा... ऐसा हुआ जो अनुभव में आया हुआ आत्मा, जिसे केवली के साथ छह बोल मिलाये, **वह आत्मा... वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पर—**आहाहा!

नयपक्ष के जो सब विकल्पों से अति पर। आहाहा! **परमात्मा...** वह स्वयं परमात्मा हुआ। परम आत्मा, परमस्वरूप आत्मा अकेला, विकल्प के राग से रहित परम आत्मा। आहाहा! वह परमात्मा परमस्वरूप कहा, वह क्या है? ज्ञानात्मा—परमस्वरूप क्या परन्तु? कि ज्ञानस्वरूप अकेला **ज्ञानात्मा।** आहाहा! दो (बोल हुए)।

प्रत्यग्ज्योति... पर से पृथक्-भिन्न, आहाहा! सर्वज्ञज्योति शक्ति—स्वभाव सर्वज्ञज्योति है न? यह प्रत्यग्ज्योति है। आहाहा! **आत्मख्यातिरूप,** यह चौथा बोल, यह टीका में है। (टीका का नाम) आत्मख्याति है न? आहाहा! आत्मख्याति—आत्मा की प्रसिद्धिरूप विकल्प में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं की, राग की प्रसिद्धि थी। आहाहा! उस राग के विकल्पों को छोड़कर स्वरूप का—विज्ञानघन का अनुभव, वह आत्मख्याति, आत्मा प्रसिद्धि पाया। आत्मा जो विज्ञानघन है, वह पर्याय में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। जो स्वभावरूप है, आहाहा! वह पर्याय में ख्याति-प्रसिद्धि हो गयी, कि यह आत्मा। आहाहा!

विकल्प के राग बिना का निर्विकल्प आनन्द और निर्विकल्प ज्ञान, वह आत्मख्याति, वह आत्मा की प्रसिद्धि। आत्मा है, वह तो त्रिकाल है, परन्तु यहाँ तो पर्याय में उसकी ख्याति—प्रसिद्धि आयी। आहाहा!

परमात्मा... देखा! यह चौथे गुणस्थान में भी परमात्मा कहा-विकल्परहित, आहाहा! परमात्मा, **ज्ञानात्मा...** आहाहा! **प्रत्यग्ज्योति...** भिन्न ज्योति चैतन्य पूर्णानन्द अपने अस्तित्व से और विकल्प आदि के नास्तित्व से ऐसी प्रत्यग्ज्योति—भिन्न चैतन्यज्योति **आत्मख्यातिरूप...** ओहोहो! गाथा एक गाथा ने तो... आहाहा! **आत्मख्यातिरूप अनुभूतिमात्र समयसार है।** उस समय अनुभूतिमात्र आनन्द का अनुभव—आत्मा का अनुभव, विकल्प से रहित, अकेला ज्ञान, आनन्द और शान्ति का अनुभव मात्र—अनुभूतिमात्र राग का लेश जिसमें नहीं... अकेला अनुभूतिमात्र। वह समयसार है। आहाहा! इतने विशेषण दिये। आहाहा! **परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप...** और **अनुभूतिमात्र वह समयसार**—यह समयसार है। आहाहा! समयसार कोई वाणी में नहीं, कोई लेखन में नहीं, कोई विकल्प में नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा समयसारस्वरूप—परमात्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परमात्म-स्वरूप समुच्चय परमस्वरूप, परमस्वरूप तो परमाणु को भी परमस्वरूप है, परन्तु यहाँ

परमस्वरूप कैसा ? ज्ञानस्वरूप ऐसा। ज्ञानात्मा और वह भी प्रत्यग्ज्योति—पर से अत्यन्त भिन्न, और आत्मख्याति जो वस्तु (जैसी) है, वैसी पर्याय में प्रसिद्ध हुई। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन—अतीन्द्रिय ज्ञान की कला खिली—अतीन्द्रिय वीर्य की कला खिली—अतीन्द्रिय प्रभुत्व की कला खिली, ईश्वर प्रभु स्वयं, उसकी भी आत्मख्याति में—पर्याय में कला खिली, ईश्वरता की भी कला खिली, वह कला खिली हुई, केवलज्ञान की कला को प्राप्त करायेगी, इसलिए उसे 'कला' ऐसा कहने में आया है। आहाहा! ऐसा यह समयसार है।

मुमुक्षु : इसके लिये कहीं एकान्त में बैठकर कुछ विचारना करनी पड़े सही ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त तो यह हुआ, विकल्परहित है, वहाँ दूसरा किया, फिर एकान्त और.... जहाँ बैठा हो वहाँ विकल्परहित है वहाँ... सूक्ष्म बात है, भाई... एकदम! समयसार चौथे गुणस्थान में अभी, अनुभूति के काल में केवल विज्ञानघन हुआ होने से, विकल्प को तो पकड़ने का उत्साह तो निवृत्त हो गया है। आहाहा! विकल्प आवे, श्रुतज्ञान है इसलिए, परन्तु उन्हें पकड़ने के उत्साह से वहाँ से निवृत्त हो गया है, आहाहा! और अन्तर में उत्साह गया है। विकल्प को पकड़ने के उत्साह से निवृत्त हुआ है। भगवान पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु, उसमें उसका उत्साह मिल गया है। आहाहा! अब ऐसा स्वरूप अब है। वह वाड़ावाले को उस व्यवहारवाले को कहे, ऐसा क्या कहते होंगे यह ? यह तो कोई केवली की बात होगी, ऐसा कहे। केवली की बात है ही परन्तु है चौथे गुणस्थान की। आहाहा! अनुभूति के काल की बात है, बापू! केवलज्ञान प्रगट करने का बीज, उसकी यह बात है। आहाहा! इसमें वाद-विवाद करने जाये, किसके साथ वाद करे ?

मुमुक्षु : अनादि का बाहर में अभ्यास है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर का और उसका-विकल्प का... यह अन्तर है अत्यन्त विकल्प रहित।

यह चीज़ ही ऐसी है, यह बात इसे सुनने को मिली नहीं। यह वस्तु ही ऐसी है, परमानन्दमूर्ति—वीतरागमूर्ति—जिनस्वरूपी, वह है। आहाहा! वह वस्तु ही जिनस्वरूप

वीतरागस्वरूप ही है। उसका जब इसे भान हो—ज्ञान हो, तब पर्याय में वीतरागता आती है। परन्तु वस्तु वीतरागस्वरूप है ही त्रिकाल। आहाहा! यह वीतराग, कहा था न? 'घट घट अन्तर जिन बसे'—वह जिनस्वरूप ही है। अकषायस्वभाव स्वरूप का पिण्ड है। वीतरागमूर्ति है। वीतराग ज्ञान, वीतरागी ज्ञानमूर्ति वह है। वह त्रिकाल ऐसा ही है। परन्तु वह पकड़ने में जब आवे, तब उसे ऐसा है, ऐसा ज्ञात हो। इसके बिना है तो है। आहाहा! जब उसका विकल्प से रहित होकर—निर्विकल्परूप से जब उसे जाने, तब उसे ऐसा हुआ कि यह तो जिनस्वरूप ही है, वीतरागमूर्ति ही आत्मा है। आहाहा!

यह प्रश्न किया था भाई ने, त्रिभोवनभाई वारिया ने, ऐसा कि कारणपरमात्मा है तो कार्य होना चाहिए। परन्तु कारणपरमात्मा है, वह किसे प्रतीति में आया? जिसे प्रतीति में आया नहीं, उसे कारणपरमात्मा कहाँ है? भले वहाँ हो। आहाहा! कारणपरमात्मा कहो या जिनस्वरूप कहो या विकल्पातीत कहो, अनुभूतिस्वरूप कहो। वह भी है। वह है, उसके अस्तित्व का—विकल्प के भाव का नास्तित्वपना, ऐसा उसके ख्याल में आवे, तब वह कारणपरमात्मा है, ऐसा आया, तब उसे पर्याय सम्यग्दर्शन-कार्य हुआ ही है वह। उसे अनुभूति और सम्यग्दर्शन हुआ ही है। परन्तु उसे श्रद्धा में पकड़े तब न? माने तब न? मान्यता में पर्याय में और राग में-विकल्प में वह रुक गया है, अब उसे कारणपरमात्मा कहाँ है? है भले शक्ति से, परन्तु उसे कहाँ है? आहाहा!

वह अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा ज्ञाता वस्तु को पकड़े, त्रिकाली ज्ञायकभाव को वर्तमान ज्ञान की पर्याय द्वारा पकड़े, तब उसे जानने में आता है कि यह परमात्मा है। तब उसे जानने में आता है कि यह जिनस्वरूप है। आहाहा! तब उसे सम्यग्दर्शन में—सम्यक् जैसा सत्य पूर्ण है, उसका दर्शन अर्थात् प्रतीति हुई। आहाहा! सम्यग्दर्शन सम्यक् सत्य परिपूर्ण परमात्मा, विकल्प बिना की चीज़ ही है। वस्तु में विकल्प कैसा? वस्तु है, उसमें अपूर्णता कैसी? विकृतता कैसी? आहाहा! उसे आवरण कैसा? आहाहा! निरावरण... पूर्ण... आहाहा! ऐसी दृष्टि होकर जब ज्ञान-अनुभव में, तब उसके लिये यह जिनस्वरूप है, ऐसा आया, तब आत्मख्याति हुई। तब आत्मा है, ऐसा प्रसिद्धि में आया। आहाहा! समझ में आया? गजब गाथा, भाई! १४३। जैसा है, वैसा कैसे होना, यह बात है। जैसा है, वैसा कैसे होना? यह बात है। आहाहा!

भावार्थ - जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा हैं)... इसका अर्थ ऐसा नहीं कि नय का पक्ष उत्पन्न होता है, वहाँ ऐसा नहीं समझना। जानते हैं। **केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के...** अर्थात् नय का पक्ष है, उसके स्वरूप को जानते हैं—ऐसा नहीं। उन्हें नय है ही नहीं, ऐसा वे जानते हैं। आहाहा! ऐसा है। जैसे केवली भगवान सदा वे तो जाननेवाले—ज्ञातादृष्टा है, बस हो गया। इसलिए फिर नयपक्ष का जो भाग था, ऐसे दूसरे को—विश्व को जानते हैं, उस विश्व में नयपक्ष भी इकट्ठा आ गया, परन्तु वह उन्हें नहीं, अब। जैसे विश्व से भिन्न पड़ा, वैसे नयपक्ष से भिन्न पड़ा, उस नय पक्ष को जानते हैं, अर्थात् विश्व को जानते हैं, साथ में यह जानते हैं। नयपक्ष है और उसे जानते हैं, ऐसा नहीं है। जिन्हें श्रुतज्ञान ही नहीं, श्रुतज्ञान के भेद निश्चय और व्यवहार है। आहाहा! यह व्यवहारवाले को कठिन लगता है यह... चरणानुयोग में ऐसा कहा है, द्रव्यानुयोग में भले तुम्हारे ऐसा हो। परन्तु चरणानुयोग में व्रत पालना, अतिचार पालना, यह साधन है, ऐसा कहकर वे डालते हैं।

भाई! यह बात ही खोटी है। उस चरणानुयोग का तात्पर्य तो वीतरागता है। आहाहा! चरणानुयोग में बात करे... उसकी भूमिका प्रमाण व्रत आवे, नियम आवे। आहाहा! परन्तु उसका तात्पर्य क्या? उसे छोड़कर वीतरागता करना, यह उसका तात्पर्य है। उसमें रहना और उसे रखना, ऐसा चरणानुयोग का भी तात्पर्य ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु होवे, तब कैसा होता है, यह बतलाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसे बतलाते हैं। पाँचवें गुणस्थान में ऐसे व्रत होते हैं, छठवें में ऐसा होता है, परन्तु इसका तात्पर्य तो उनसे रहित होकर वीतरागता कर, यह उसका सार है। उसमें रहे न, पालन कर और उससे तुझे लाभ होगा—ऐसा वहाँ नहीं है। क्या हो?

मुमुक्षु : बारहवें गुणस्थान तक श्रुतज्ञान होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कहीं श्रुतज्ञान... श्रीमद् में आता है न, खबर है। वह तो श्रुतज्ञान है, इतना बतलाया है। उसे ऐसा न हो जाये कि मैं पूरा हो गया, ऐसा। वह है अवश्य है कि अभी बारहवें गुणस्थान तक श्रुत का अवलम्बन है, ऐसा आता है। (शास्त्र में) श्रीमद् में आता है, लोग उसे पकड़ते हैं, ऐसा आता है। वह तो बारहवें

गुणस्थान में श्रुतज्ञान है, ऐसा बतलाया है। बारहवें गुणस्थान में तो चार योग भी कहे हैं। सत्य, असत्य, मिश्र, व्यवहार—ये चार भी कहे हैं, उससे क्या? आहाहा! इससे कहीं श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर, आगे बढ़ गया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! श्रुतज्ञान की पर्याय का अवलम्बन लेकर बढ़ा है, ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो यह श्रुतज्ञान की पर्याय अथवा उसके भेद, वे तो एक ओर रहे, परन्तु श्रुतज्ञान की पर्याय जो है विकल्प बिना की, उसका भी आश्रय लेना नहीं है। वह तो पर्याय है, उसमें से पर्याय प्रगट नहीं होती। आहाहा! पूर्ण आनन्दस्वरूप भगवान, जिसमें श्रुतज्ञान की पर्याय के आश्रय की भी जहाँ आवश्यकता नहीं। आहाहा! श्रुतज्ञान की पर्याय को भी बहि:तत्त्व कहा—नियमसार (में कहा है)। आहाहा! केवलज्ञान को भी बहि:तत्त्व कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय है इसलिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय है न! अन्त:तत्त्व तो एकस्वरूप त्रिकाली प्रभु, उसका आश्रय, करने से पर्याय में प्रगट हो, तब उसे अन्त:तत्त्व यह है.... ऐसी ख्याति-प्रसिद्ध हुई। प्रसिद्धि पर्याय में होती है, परन्तु प्रसिद्धि हुई किसकी? इसकी (त्रिकाली की)। पर्याय में पर्याय की प्रसिद्धि नहीं।

मुमुक्षु : आत्मा की—त्रिकाली आत्मा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आया न ३२० गाथा में। ध्याता.... खण्ड-खण्ड ज्ञान को अनुभव नहीं करता। खण्ड-खण्ड ज्ञान को लक्ष्य में नहीं लेता। ज्ञाता, धर्मी जो सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्ध पारिणामिक-परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य—जो यह, वह मैं हूँ, ऐसा भी एक भेद-विकल्प वहाँ नहीं है, (अभेद है)। जो सकल निरावरण, वह मैं हूँ, अखण्ड वह मैं हूँ... एक वह मैं हूँ, अविनश्वर वह मैं हूँ, प्रत्यक्षप्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिकपरमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। आहाहा! ऐसा है।

यही यहाँ कहते हैं। विकल्प छोड़कर त्रिकाल में दृष्टि हुई, तो निर्विकल्प अनुभव हुआ, वह आत्मख्याति हुई। आहाहा! उसे परमात्मा कहते हैं। पर्याय प्रगट हुई उसे, हों! परमात्मा जानने में आया, इसलिए पर्याय में उसे परमात्मा कहा जाता है। आहाहा! ज्ञानात्मा कहते हैं, प्रत्यग्ज्योति कहते हैं, आत्मख्याति कहते हैं—आत्मख्यातिरूप

अनुभूति—आत्मा की प्रसिद्धिरूप अनुभूति मात्र समयसार है। आहाहा!

भावार्थ - जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञाता-दृष्टा) हैं... अर्थात् वे तो जैसे सबको—लोकालोक को जानते हैं, वैसे 'जानते हैं', यह सब जानते हैं इसका अर्थ यह कि लोकालोक में यह सब आ गया। उन्हें नय है और जानते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! **उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर,...** अकेला **शुद्धचैतन्यमात्र भाव,...** देखा? **शुद्धचैतन्यमात्र भाव...** अस्ति **अनुभव करते हैं,...** यह पर्याय। शुद्धचैतन्यमात्र भाव, वह वस्तु **अनुभवन करते हैं...** यह पर्याय, **तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं...** अर्थात् कि उन्हें नयपक्ष का विकल्प है ही नहीं, ऐसे। नयपक्ष है और ज्ञाता हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! नयपक्ष के स्वरूप का ज्ञाता ही है।

यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है... एक नय का पक्ष करे और दूसरे नय को लक्ष्य में से छोड़ दे, तब तो मिथ्यात्वसहित राग होता है। मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है।

प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके... त्रिकाली की दृष्टि कराने को पर्याय को गौण करके, **एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्रमोह का राग रहता है,...** कहते हैं और बोलते हैं न, प्ररूपणा करते हैं और कहे, राग रहे उसमें इतना। **और जब नयपक्ष को छोड़कर, वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं...** वस्तुस्वरूप जो त्रिकाल है, ध्रुव भगवान नित्यानन्द प्रभु अकेला ज्ञायकस्वभाव भाव, उसे केवल जानते ही हैं—जानते ही हैं, तब उस समय, जाने **तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति...** आहाहा! **वीतराग जैसे ही होते हैं।** लो! यहाँ तो ऐसा कहा, यह जो नयपक्ष को छोड़कर हो, उसे वीतराग कहा। वे तो इनकार करते हैं, नहीं, नहीं, वीतराग तो उसको कहा निर्विकल्प समकित हो सातवें (गुणस्थान) में। ज्ञानसागर ने ऐसा कहा है, शान्तिसागर भी ऐसा कहते थे, अन्त में बोल गये थे। निर्विकल्प समकित तो सातवें में होता है। आहाहा!

अब, यहाँ तो जब नयपक्ष को छोड़कर श्रुतज्ञानी भी वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही है, तब उस काल में फिर भले विकल्प उठे कहते हैं, 'परन्तु उस काल में'

श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति... श्रुतज्ञानी चौथे में अनुभूति के काल में... आहाहा! **वीतराग जैसे ही होते हैं, ऐसा जानना।**

यह लोगों को कठिन पड़ता है। चौथे गुणस्थान में समकित सराग हो बस, वीतराग नहीं।

मुमुक्षु : वे लोग यह तो इसे मिलाकर बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह कहाँ? वह तो दूसरी चीज़ का राग है, वह वस्तु में—सम्यग्दर्शन है, उसमें राग कैसा? सम्यग्दर्शन है, वह वीतरागी ही है, देखो न! यह क्या कहा? (श्रुतज्ञानी) केवली की भाँति वीतराग जैसा है, कहा। सम्यग्दर्शन—अनुभूति के काल में—विकल्प बिना की दशा वीतराग ही है। आहाहा! प्रभु... प्रभु... प्रभु... क्या हो? वाद-विवाद में चढ़े तो कुछ पार नहीं आता।

जब नयपक्षों को छोड़कर, (छोड़कर)—यह भी अपेक्षा है। स्वरूप सन्मुख ढल गया, वहाँ नयपक्ष छूट गया, उसे—नयपक्ष को छोड़ता है, छोड़ता है, यह कथन है। वहाँ छोड़ना कहाँ रहता है? वह तो लक्ष्य पर के ऊपर है। परन्तु उपदेश की शैली में क्या आवे? कथन पद्धति में क्या आवे? यह अन्दर पूर्णानन्द का नाथ, वीतरागमूर्ति जहाँ अनुभव में आया, आहाहा! वह नयपक्ष को छोड़ता है, ऐसा कहना, वह तो समझाया है। आहाहा! नयपक्ष रहता नहीं, इसलिए छोड़ा है, ऐसा कहा। आहाहा! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव के काल में, नयपक्ष छोड़ता है, ऐसा कहा, परन्तु इसका अर्थ कि नयपक्ष है नहीं... भाषा क्या कहना! आहाहा! वह तो केवली को भी ऐसा कहा, केवली नयपक्ष को जानते हैं, बापू! भाषा क्या हो? आहाहा! (केवली को) नयपक्ष है कहाँ, (कि) वे जानते हैं? वे स्वयं ही अपने स्व को जानते हैं, ऐसे पर को स्वपरप्रकाशक है, ऐसा जानने का काम है। नयपक्ष-विकल्प है, इसलिए जानते हैं, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति, आहाहा! वीतराग जैसा ही होता है, ऐसा जानना। पहले के अर्थ करनेवाले ने ही इतना अधिक स्पष्टीकरण किया है! पण्डित जयचन्दजी ने! आहाहा!

मुमुक्षु : भावार्थ फिर से लीजिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से लेते हैं। **जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के...** नयपक्ष है नहीं, परन्तु सबको जानते हैं, वैसे साथ में जानते हैं, ऐसा कहने में आया है। **उसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्ष से रहित...** हो जाता है। देखा? भगवान को (केवली को नय है ही नहीं), इसको है, परन्तु रहित हो जाता है। **शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन...** मात्र शुद्ध चैतन्य, शुद्ध चैतन्यमात्र भाव—अस्ति पूर्ण, उसका **अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं।**

यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये,... अब श्रुतज्ञान में भी यदि एक नय को सर्वथा ग्रहण करे, दूसरा नय गौणरूप से लक्ष्य में न रखे, तब तो **मिथ्यात्व सहित राग है।** आहाहा!

मुमुक्षु : जानने के लिये राग?

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही। एक नय को ही पकड़ता है, जैसे द्रव्यार्थिकनय को अकेले को ही पकड़े परन्तु पर्याय है ही नहीं तो (उसे) मिथ्यात्वसहित राग है। प्रयोजन के वश एक नय को प्रधान करके... देखा? यह द्रव्य का प्रयोजन भूतार्थ है, वही सत् है। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' (समयसार गाथा-११) यह प्रयोजन है, भूतार्थ का आश्रय कराने का—सम्यग्दर्शन कराने को। इसलिए उसे वहाँ भूतार्थ का आश्रय तो भी गौणरूप से पर्याय-व्यवहार नहीं है, ऐसा कहा है, व्यवहार अभूतार्थ—झूठा है, ऐसा कहकर, ऐसा नहीं। उसे गौण करके 'नहीं' (कहा है)। मुख्य (द्रव्य को) करके निश्चय का लक्ष्य कराने के लिये, गौण करके 'नहीं' उसका लक्ष्य छुड़ाने के लिये, अभूतार्थ कहा है। सर्वथा अभूतार्थ माने तो एकान्त-मिथ्यात्व है। आहाहा! है?

मिथ्यात्व के अतिरिक्त मात्र चारित्रमोह का राग रहता है और जब नयपक्ष को छोड़कर... मिथ्यात्वरहित राग आवे, नयपक्ष है वह (श्रुतज्ञानी को)। यह पर्याय है, यह त्रिकाली द्रव्य है, ऐसा आता है परन्तु वह मिथ्यात्वरहित राग, वह राग मात्र चारित्रमोह का राग है।

जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं। ऐसा जानना।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–९२

अब इस कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है:–

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावा–
भावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसार–मपारम् ।।९२।।

श्लोकार्थ : [चित्स्वभाव–भर–भावित–भाव–अभाव–भाव–परमार्थतया एकम्] चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं–ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है, इसलिए जो एक है, ऐसे [अपारम् समयसारम्] अपार समयसार को मैं, [समस्तां बन्धपद्धतिम्] समस्त बन्धपद्धति को [अपास्य] दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर [चेतये] अनुभव करता हूँ।

भावार्थ : निर्विकल्प अनुभव होने पर, जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं है, ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता–ऐसा जानना।।९२।।

प्रवचन नं. २२३, कलश-९२, गाथा-१४४, दिनांक १०-०५-१९७९, गुरुवार, वैशाख शुक्ल-१४

समयसार, कलश-कलश है न? ९२।

चित्स्वभावभरभावितभावा–
भावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसार–मपारम् ।।९२।।

श्लोकार्थ - 'चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव-परमार्थतया एकम्' चितस्वभाव **पुंज द्वारा ही...** अन्दर में ज्ञानस्वभाव का पुंज प्रभु, उस **चित्स्वभाव के**

पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किये जाते हैं। 'भाव-अभाव-भाव' ऐसा है न? भाव अर्थात् उत्पाद और अभाव अर्थात् व्यय और भाव अर्थात् ध्रुव। ज्ञानस्वभाव, अन्तर में स्वभाव जो ज्ञान है, वह पुण्य-पाप और विकल्प से पार है। ऐसे चित्स्वभाव द्वारा ही **चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किये जाते हैं।** अर्थात् कि ध्रुव का ध्यान करने से उत्पाद-व्यय होते हैं, तीन होकर एकत्व है। आहाहा!

नयी-नयी निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व की पर्याय का व्यय होता है, ध्रुवरूप से कायम रहता है, (आत्मा), इस चित्पुंज की दृष्टि द्वारा उत्पाद-व्यय और ध्रुव किये जाते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! चित्स्वभाव जो ज्ञानस्वभाव का पुंज प्रभु, उसके द्वारा अपने उत्पाद-व्यय और ध्रुव किये जाते हैं, ऐसा। चित्पुंज द्वारा स्वयं तीनों किये जाते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

क्योंकि ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि जाने से, उस चित्स्वभाव के पुंज द्वारा उत्पाद—निर्मल पर्याय होती है, पूर्व की पर्याय का व्यय—अभाव होता है—वर्तमान पर्याय का भाव होता है, पूर्व का अभाव होता है और ध्रुव भावरूप से कायम है। आहाहा! ऐसा है।

चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही... अभेद द्वारा ही, ऐसा कहते हैं। कोई राग नहीं, उत्पाद-व्यय का लक्ष्य नहीं। चित्स्वभाव का पुंज... उस द्वारा फिर उत्पाद-व्यय-ध्रुव (होता है)—किये जाते हैं। आहाहा! ज्ञानस्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव किये जाते हैं। अर्थात् कि चित्स्वभाव के पुंज की दृष्टि द्वारा अपने ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव किये जाते हैं, ऐसा कहते हैं। राग को किया जाता है और यह बात यहाँ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर को किया जा सकता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ राग किया जा सकता है, यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही—त्रिकाली ज्ञायकभाव पर दृष्टि पड़ने से, उस चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही उसकी निर्मल पर्याय का उत्पाद, निर्मल पर्याय का व्यय और ध्रुव, वह चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही ये तीनों होते हैं, ऐसा कहते हैं। किये जाते हैं—किये जाते

हैं—होते हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म! **ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है, इसलिए जो एक है...**

उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन होने पर भी उस चित्स्वभाव के पुंज द्वारा वह एक ही है। **ऐसे 'अपारम् समयसारम्' अपार समयसार...** जिसमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द जिसका पार नहीं, ऐसे स्वभाव के भाव द्वारा समयसार को मैं **अपार समयसार को मैं,...** ऐसा जो पाररहित स्वभाव जिसका अपार ज्ञानानन्द आदि अनन्त ऐसे समयसार को... आहाहा! मैं, **'समस्त बंधपद्धतिम्' समस्त बन्धपद्धति को...** विकल्प तो नहीं परन्तु कर्म के निमित्त से होते भाव दूसरे कोई भी (भाव)—सबसे रहित, **समस्त बन्धपद्धति को दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर...** ऐसा, आहाहा! बहुत संक्षिप्त।

जिसे आत्मा का करना हो, उसे आत्मा का चित्ज्ञान पुंज ऐसा प्रभु—उस द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रुव होता है। आहाहा! ऐसा करने से व्यवहार के विकल्प से भी यह उत्पाद-व्यय होते हैं, ऐसा नहीं है। चित्स्वभाव प्रभु ज्ञानस्वभाव का पुंज, अपार शक्ति का सागर, उसके द्वारा ही अपने अर्थात् उसके उत्पाद, व्यय और ध्रुव किये जाते हैं, भाये जाते हैं, होते हैं। आहाहा! समस्त बन्ध पद्धति को दूर ककके, **कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर, 'चेतये'** (मैं) **अनुभव करता हूँ...** इसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। आहाहा!

भावार्थ - निर्विकल्प अनुभव होने पर... चित्-ज्ञानस्वभाव प्रभु को—ध्रुव को दृष्टि में लेने से निर्विकल्पदशा होने पर, आहाहा! **इसमें केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं,...**केवलज्ञानादि अर्थात् यह उस पर्याय की बात नहीं है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन और केवल आनन्द, ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का पार नहीं, **ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है।** आहाहा! १४३ (गाथा का श्लोक है न!) **ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है।** इसका नाम आत्मा, इसका नाम आत्मज्ञान, इसका नाम आत्मदर्शन। आहाहा! बहुत संक्षिप्त! **'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प (जहाँ) नहीं होता...** भेद। आहाहा! ज्ञानानन्दस्वभाव पूर्ण, परमात्मा, अपार

गुण का समुद्र, उसे अनुभव करता हूँ, उसमें 'अनुभव करता हूँ'—ऐसा भी जहाँ विकल्प नहीं।

मुमुक्षु : अनुभव को जानता तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दो भेद वहाँ नहीं है। अनुभव करता है, तथापि 'अनुभव करता हूँ', ऐसा विकल्प नहीं है। अनुभव करता है, वह तो द्रव्य में दृष्टि देकर, आहाहा! निर्विकल्प आनन्द का अनुभव, वह यह 'अनुभव करता हूँ'—ऐसा भी भेद वहाँ कहाँ है? वहाँ विकल्प कहाँ है?

मुमुक्षु : परन्तु करता है तब अनुभव होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदान्त कहता है न कि आत्मा का अनुभव करता हूँ, यह क्या? आत्मा और अनुभव करता हूँ, यह तो दो भेद हो गये, ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ आत्मा अनुभव करता हूँ, यह अनुभव करता हूँ, यह वस्तु और वस्तु का अनुभव दो है (परन्तु) अनुभव करता हूँ, ऐसा विकल्प नहीं है। चेतनजी! वे कहते हैं कि आत्मा और उसका अनुभव, यह तो द्वैत हो गया, वस्तु अद्वैत है, ऐसा (वेदान्त) कहता है। एकदम मिथ्या बात है, एकदम अज्ञान है। आहाहा!

अनुभव होता है, वह पर्याय है, तथापि 'अनुभव करता हूँ'—ऐसा विकल्प नहीं है। अनुभव करता हूँ—ऐसा भेद है, त्रिकाली वस्तु को अनुभव करता हूँ, ऐसा भेद है, परन्तु भेद का विकल्प नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। **'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता,—ऐसा जानना।** यह १४३ (गाथा का) कलश हुआ। अब (गाथा) १४४।

गाथा-१४४

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते -

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः।।१४४।।

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यः खल्वखिलनय-पक्षाक्षुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः।

यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्म-ख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य आत्माभिमुखीकृत-मतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्तीः श्रुतज्ञान-बुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यन्तमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तमादिमध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरन्तमिवाखण्डप्रतिभासमयमनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विन्दन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च, ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव।।१४४।।

अब यह कहते हैं कि नियम से यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है:-

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वह 'समय का सार' है।।१४४।।

गाथार्थ : [यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सर्व नयपक्षों से रहित [भणितः] कहा गया है, [सः] वह [समयसारः] समयसार है; [एषः] इसी को (-समयसार को ही) [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, [इति] ऐसी [व्यपदेशम्] संज्ञा (नाम) [लभते] मिलती है। (नामों के भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।)

टीका : जो वास्तव में समस्त नयपक्षों के द्वारा खंडित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है ऐसा है, सो समयसार है; वास्तव में इस एक को ही

केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार से अलग नहीं है, एक ही है।)

प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत जो इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (-मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नाना प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञानतत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर, तत्काल निज रस से ही प्रगट होनेवाले, आदि-मध्य-अन्त से रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ : आत्मा को पहले आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, फिर इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर, तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान' के नाम को प्राप्त करता है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।।१४४।।

कलश-१४४ पर प्रवचन

पक्षातिक्रान्त ही—निश्चय से अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ—ऐसा जो नय का पक्ष, विकल्प, उससे अतिक्रान्त समयसार है, नय का पक्ष है, वह समयसार नहीं। आहाहा! कहाँ जाना इसे?

मुमुक्षु : त्रिकाली में।

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्षातिक्रान्त ही समयसार है। अर्थात्? मैं आत्मा हूँ... बद्ध हूँ

और यह तो प्रश्न अब यहाँ है ही नहीं। इस व्यवहार का तो निषेध करते आये हैं, यह पहले आ गया है। आ गया, पहले कलश है, उसमें आ गया न? देखो, यह ही आया, देखो! (कलश-७० भावार्थ) 'इस ग्रन्थ में प्रथम से ही व्यवहारनय को गौण करके शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है।'—पहले कलश में है। आहाहा! वही यहाँ गाथा में है। यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! यह तो शान्ति का मार्ग है, बापू! यह कोई विद्वत्तता और क्रियाकाण्ड का धमाल वह कहीं मार्ग नहीं है।

भगवान ज्ञानस्वरूप का जो विकल्प है कि मैं ज्ञान हूँ—अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्प से—पक्ष से अतिक्रान्त, वह समयसार है, ऐसा नियम से सिद्ध होता है—ऐसा निश्चित् इस प्रकार वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है, ऐसा अब कहते हैं। १४४।

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।१४४।।

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वह 'समय का सार' है।।१४४।।

आहाहा! इसे नाम मिले।

टीका - वास्तव में सकल नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से... वास्तव में क्यों कहा? कि सूक्ष्म अन्दर भी यदि नयपक्ष रह जाये तो वास्तव में नयपक्षरहित नहीं है। सूक्ष्म भी अन्दर, मैं अबद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, मुक्त हूँ—ऐसा सूक्ष्म भी एक राग का अंश रहे नहीं। आहाहा! वास्तव में, ऐसा वास्तव में समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित नहीं होने से, नय का जो पक्ष का विकल्प है, उसमें तो आत्मा का खण्डितपना होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसमें अखण्ड का अनुभव नहीं होता। यह विकल्प होने पर अखण्ड ज्ञानस्वरूप प्रभु खण्डपने को—भेदपने को—भंगपने को प्राप्त होता है। आहाहा!

वास्तव में (जो) समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से... कोई भी नय का पक्ष—निश्चय का पक्ष भी जहाँ नहीं अब, आहाहा! निश्चय का पक्ष नहीं अर्थात् कि निश्चय से जो जाना है, उससे कुछ दूसरा निकलेगा उसमें, ऐसा नहीं है। आहाहा! जो वास्तव में समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित नहीं होने से, ऐसा कहा। नयपक्ष छोड़ता है,

इसलिए वस्तु कुछ दूसरे प्रकार की निकलती है, ऐसा नहीं है। मात्र नयपक्षों द्वारा खण्डित नहीं होने से—इतनी बात है। आहाहा!

यह क्या कहा? मैं परिपूर्ण अखण्ड अभेद हूँ, ऐसे एक विकल्प से भी वास्तव में, वास्तविक तत्त्व है, उस पर दृष्टि होने से अनुभव में, ऐसे विकल्प से भी खण्डित नहीं होता। आहाहा! दया, दान, व्रत और तप के विकल्प राग (वह तो) कहीं रह गये। आहाहा! **वास्तव में समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित नहीं होने से जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है...** रोका है, ऐसा भी नहीं। **जिसका समस्त विकल्पों का...** आहाहा! (व्यापार रुक गया है)। सूक्ष्म राग की वृत्ति, स्व सन्मुख के, मुक्तस्वरूप सन्मुख के झुकाव की सूक्ष्म वृत्ति, वह व्यापार रुक गया है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप है। इसमें वाद-विवाद से कहीं पार पड़े, ऐसा नहीं है।

बहुत जगह ऐसा आता है कि व्यवहार साधन और निश्चय साध्य—जयसेनाचार्य की टीका में। इसलिए ज्ञानसागर ने उसका अर्थ किया है न? यह विद्यासागर के गुरु। उसमें यह बहुत आता है जयसेन आचार्य की टीका में, व्यवहार साधन और निश्चय साध्य—यह तो व्यवहार का ज्ञान कराया है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! इन व्यवहार के विकल्पों की तो बात क्या करना, परन्तु वस्तु है, उसके ओर के झुकाववाली कोई वृत्ति। आहाहा! वस्तु है, पहले जानी नहीं थी और बाद में जाना कि यह तो पूर्ण वस्तु है, अखण्ड है, पूरा परमात्मस्वरूप है, ऐसा एक पक्ष जो विकल्प उठता हो तो, उससे भी यह वस्तु खण्डित नहीं होती। आहाहा! **समस्त विकल्पों का व्यापार रुक गया है...** अर्थात् वहाँ है नहीं। आहाहा! ऐसा है। **रुक गया है, ऐसा (समयसार है)...** जिसका समस्त विकल्पों का व्यापार... आहाहा! रुक गया है, ऐसा है। खण्डित नहीं होने से, विकल्प रुक गया है, ऐसा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या टीका! वह **समयसार है।** इसका नाम समयसार है।

वास्तव में... आहाहा! **इस एक को ही...** अर्थात् कि विकल्प रुक गया है और जिसमें विकल्प से खण्डितपना नहीं होता, ऐसा अखण्ड आत्मा अनुभव में आया, आहाहा! वह समयसार है। **वास्तव में इस एक को ही...** यह समयसार विकल्परहित-

निर्विकल्प अनुभव हुआ, उस **एक को ही केवल सम्यग्दर्शन...** आहाहा! सम्यग्दर्शन कोई व्यवहार है और कोई दूसरा भी है, सम्यग्दर्शन का प्रकार कोई दूसरा भी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **इस एक को ही...** एक को 'ही'—विकल्प की वृत्तियाँ रुक गयीं और अकेला आत्मा पूर्णानन्द चिदानन्द प्रभु अनुभव में आया, उस एक को ही। उस **एक को ही केवल सम्यग्दर्शन...** अकेला सम्यग्दर्शन उसे कहा जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : बाद में सविकल्प आता है तब?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अपेक्षा बाद में। इसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, बाद में विकल्प आवे, परन्तु उसका आदर कहाँ है? वह तो ज्ञान का ज्ञेय हो गया, परज्ञेय-परज्ञेय है, यह तो स्वज्ञेय अखण्डरूप से जो अनुभव में आया, उस एक को ही सम्यग्दर्शन नाम दिया जाता है, ऐसा कहते हैं—नाम दिया जाता है, ऐसा कहा न? व्यपदेश। आहाहा!

'**व्यपदेश**'—उसे ही सम्यग्दर्शन उस एक को ही कहा जाता है। आहाहा! देखो न! अभी व्याख्याओं का फेरफार। वास्तव में उस एक को ही—विकल्परहित, निर्विकल्प दृष्टि होकर अनुभव (हुआ), उस काल में उसे ही... **एक को ही...** उसे ही **केवल सम्यग्दर्शन...** अर्थात् कि अकेला सम्यग्दर्शन **और सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है,...** देखा? आहाहा! तब तो उसे '**व्यपदेशम्**' एक उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ऐसी संज्ञा, उसे ऐसा नाम प्राप्त है। आहाहा!

जो परमात्मस्वरूप में नम गया है और अनुभव है, उसे—एक को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम दिया जाता है। है? नाम प्राप्त है। आहाहा! अर्थात्? कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, समयसार जो परमात्मस्वरूप भगवान, उससे भिन्न नहीं है। आहाहा! वह पूरण निर्विकल्पस्वरूप जो चिद्घन भगवान अनुभव में आया, विकल्प से रहित, उसे ही केवल—एक को ही अकेला सम्यग्दर्शन नाम उसे अकेले को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त है—सम्यक्त्व नाम प्राप्त होता है। उसे तब ही नाम प्राप्त होता है, आहाहा! ऐसा माल है।

मुमुक्षु : व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा कोई है ही नहीं। है ही नहीं नाम नहीं, गन्ध नहीं। इसे

ही मात्र नाम दिया जाता है, कहते हैं। आहाहा! कहो, बाबूभाई! ऐसी बात है। आहाहा!

अकेला भगवान आत्मा, अभेद... विकल्प की वृत्ति रुक गयी है, और अकेला आनन्दघन अनुभव में आया है, उसे ही केवल—उसे ही अकेला, ऐसा। पूरा केवल नहीं कहते? केवल मूर्ख है पूरा—केवल गधा है। उसी प्रकार केवल सम्यग्दर्शन उसे ही कहा जाता है। आहाहा! टीका, वह टीका है न! यह '**व्यपदेशम्**' का अर्थ किया। '**सम्मदंसणणाणं ऐसो लहादि त्ति णवरि ववदेसं**' आहाहा! केवल उसे ही, आहाहा!

मुमुक्षु : सब स्पष्ट कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ, वीतरागस्वरूप अनन्त-अनन्त केवलज्ञान अर्थात् अकेले ज्ञानगुण आदि से भरपूर, उसका जो अनुभव, आहाहा! विकल्परहित, विकल्प के पक्षरहित, आहाहा! ऐसा कि पहले से किसी विकल्प से निर्णय किया है कि ऐसा है तो उसे कोई सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है या नहीं? आहाहा! ऐसा कि पहले निर्णय किया विकल्प से, नय, निक्षेप, प्रमाण से, ऐसा आया था, तेरहवीं गाथा में। ७३ में आया था ऐसा निश्चय करके, यह निश्चय किया (कि) ऐसा है, ऐसा है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है या नहीं? आहाहा! नहीं, केवल यह वस्तु स्वरूप पूर्णानन्द का नाथ... पर्याय में निर्विकल्परूप से अनुभव में आया, अनुभव में तो पर्याय में आया है, परन्तु आया है कौन? कि यह पूर्ण स्वरूप है। आहाहा! ऐसे केवल एक को ही—ऐसे अनुभववाले को एक को ही। दूसरा कोई प्रकार नहीं, कि सराग समकित है और फलाना-ढींकना है न! आहाहा! यह वीतरागी पर्याय है। है चौथे गुणस्थान में। आहाहा! विकल्पों का व्यापार रुक गया है, ऐसा है। ऐसा ही है, ऐसा कहते हैं, वस्तु ऐसी है। आहाहा!

नय के पक्ष का—निश्चय के पक्ष का भी विकल्प रुक गया है, ऐसा वह है। आहाहा! क्या परन्तु टीका? अमृत बहाया है अमृतचन्द्राचार्य ने! लोगों को कीमत नहीं। आहाहा! इनके शब्दों में कितना—क्या है? यह भगवान यह पूरा है, कहते हैं, यह जो अनुभव में विकल्प रुक गया, ऐसी चीज़ है वह। वह चीज़ ही ऐसी है। और उसे एक को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम दिया जाता है। है? आहा! अर्थात् वह दर्शन

और ज्ञान की पर्याय, द्रव्य से अभेद है। समयसार का पूरा आत्मा उससे, वह दर्शन-ज्ञान की पर्याय अभेद है, वह आत्मा ही है। आहाहा! '**व्यपदेशम्**' कहकर तो उसे एक को ही कथन किया जाता है अथवा उसे ही नाम दिया जाता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान ऐसी संज्ञा उसे ही मिलती है। आहाहा! डोला दिया है।

आहाहा! और यहाँ तो अभी बाहर का विवाद, व्यवहार साधन है और उसे उड़ाते हैं। अरे प्रभु! सुन न भाई! यह साधन कहा है, वह तो ज्ञान करने के लिये (कहा है)। था, उसे जाने, स्वपरप्रकाशक है—स्वपरप्रकाशक है, वह परप्रकाशक है, उसे जानने के लिये कहा। आहाहा!

ऐसा जो भगवान आत्मा, ऐसा ही है। विकल्प रुक गया है, ऐसा ही है। वह कहीं नया कुछ नहीं हुआ, ऐसा तो है ही। आहाहा! वह समयसार है, वास्तव में उस एक को ही, आहाहा! क्या टीका! वास्तव में उस एक को ही... 'ही' कथंचित् इसे और कथंचित् दूसरे को, ऐसा यहाँ नहीं कहा। कथंचित् उसे सम्यग्दर्शन भी कहना और कथंचित् व्यवहार को कहना, यह यहाँ बात ही नहीं है। आहाहा! 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' वह सम्यग्दर्शन है ही नहीं। वह तो राग है, वह तो इसका आरोप करके कथन किया गया है, यहाँ तो कहते हैं कि वास्तविक नाम तो इसे ही पड़ता है। आहाहा! उसको कथन करने में आवे, उसकी बात तो कहीं रह गयी... आहाहा! व्यवहार को कथन करने में आवे, व्यवहार का, वह नहीं... यह तो इस एक को ही केवल कथन—संज्ञा नाम यह मिलता है। आहाहा! तब उसे समयसार हाथ लगा। आहाहा! उसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम मिलता है। ओहोहो! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, यह नाम मिलता है, ऐसा कहा न, इसलिए जरा यह समयसार से भिन्न नहीं है, एक ही है। जो पर्याय अभेद हुई है, आहाहा! वह समयसार है।

कारण कि समयसार त्रिकाली है, वह तो कहीं अनुभव में—वेदन में आता नहीं। ध्रुव है... परन्तु उसके लक्ष्य से पूरा माल पर्याय में जो निर्विकल्परूप से अनुभव में आया, आहाहा! उसे एक को ही केवल सम्यग्दर्शन अर्थात् पूर्ण सम्यग्दर्शन, सच्चा सम्यग्दर्शन, सत्य सम्यग्दर्शन—केवल सम्यग्दर्शन—अर्थात् सत्य सम्यग्दर्शन और सत्

सम्यग्ज्ञान। आहाहा! शास्त्र के पठन को भी ज्ञान का नाम नहीं दिया जाता। यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! प्रभु... प्रभु! यह भगवान जो ज्ञान की मूर्ति प्रभु, वह जो अनुभव में आया, उसे ही सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। सम्यग्दर्शन का नाम प्राप्त है और उसे ही सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। आहाहा! शास्त्र के पठनवाले को या विद्वान को या ग्यारह अंग पढ़ गया और कथा आवे-वार्ता आवे, जगत को कहने के लिये, इसलिए उसे सम्यग्ज्ञान नाम मिले? कि नहीं... नहीं... नहीं। इसे भगवान की भेंट हुई। आहाहा! भगवान चिदानन्द समयसार का जहाँ अनुभव हुआ, उसे सम्यग्ज्ञान नाम प्राप्त है। आहाहा! क्या शैली!

मुमुक्षु : बहुत महँगा कर दिया!

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसा है, वैसा कर दिया। आहाहा! ऐसा कहा न, देखो न! व्यापार रुक गया है, ऐसा है, 'यह ऐसा है' चेतनजी?

मुमुक्षु : जैसा है, वैसा कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! इससे ढीला करे तो विपरीत हो जाये। महँगा नहीं किया, ऐसा है। जैसा है, वैसा प्रसिद्ध किया है। आहाहा! है यह तीन लाईनें। फिर वह तो कोष्ठक है, परन्तु है तीन लाईनें। अब यहाँ सम्यक्चारित्र की बात नहीं। अभी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान चौथे गुणस्थान की बात है। आहाहा! यहाँ चारित्र की बात नहीं। (कोई कहते हैं न), यह सातवें गुणस्थान में हो तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्विकल्प कहा जाता है, ऐसा (लोग) कहते हैं न? ऐसा कहते हैं। प्रभु! ऐसा नहीं है, भाई! आहाहा!

यह विकल्प रुक गया है, ऐसा है वहाँ ज्ञात हुआ, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है, ऐसा नहीं लिया। प्रभु! वह तो स्वरूपाचरण चारित्र इकट्ठा है, परन्तु उसे लिया नहीं। यहाँ तो यह दो बात। आहाहा! यह गाथा गजब है।

मुमुक्षु : उन्नीसवीं बार में स्पष्टीकरण बहुत आया!

पूज्य गुरुदेवश्री : अब, इसे विस्तार करते हैं। वस्तुस्थिति तो यह है।

प्रथम... अब यहाँ कहा। **श्रुतज्ञान के अवलम्बन से, ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके,...** अभी यह विकल्पसहित है। यह विकल्प लिया कि कैसी है (आत्मस्वरूप) चीज़। प्रथम, 'तावत्' है न मूल शब्द तो। आहाहा! प्रथम ही शब्द है संस्कृत में '**यतः प्रथमतः**' है। प्रथम कहने का यह है कि **श्रुतज्ञान के अवलम्बन से...** भगवान ने कहे हुए श्रुतज्ञान के अवलम्बन से... **ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके...** है यह विकल्पवाला। ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा जानन, ज्ञान प्रधान से ही यह पूरा आत्मा लिया है, ज्ञान ही आत्मा, बस इतना। क्योंकि दूसरे सब गुण अस्ति रखते हैं, परन्तु उनकी प्रसिद्धि ज्ञान ही करता है, दूसरे गुण (स्वयं) प्रसिद्धि नहीं करते, यह (सर्व) गुणों की जानपने की प्रसिद्धि तो ज्ञान से होती है। अनन्त गुण दूसरे ज्ञान के अतिरिक्त, उनकी प्रसिद्धि ज्ञान जानकर वह प्रसिद्ध करता है, इसलिए ज्ञानमय ही आत्मा है, ऐसा कहा। इस प्रकार अभी तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके... अभी अनुभव की बात नहीं है अभी यह। **और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये...** निर्णय किया कि यह प्रभु तो ज्ञानस्वभाव है। चैतन्य प्रभु तो ज्ञान स्वभाव है। उसमें दूसरा कोई राग या विकल्प उसमें है ही नहीं। कर्म का सम्बन्ध और राग का सम्बन्ध, वह वस्तु में है ही नहीं। ऐसा पहले विकल्प द्वारा, आहाहा! **आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये...** आत्मख्याति, अभी तो विकल्प से निर्णय किया, **आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये...** अनुभव के लिये। **परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत...** परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण... आहाहा! आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये **परपदार्थ की प्रसिद्धि को कारणभूत इन्द्रियों द्वारा...** इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा वह तो पर प्रसिद्धि के कारण हैं। आहाहा!

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, एक बात। इस ओर में, **परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत इन्द्रियों द्वारा और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों...** पर की प्रसिद्धि के द्वार—मन और इन्द्रियाँ, वह तो पर की प्रसिद्धि के कारण हैं।

उन सबको, **उन बुद्धियों को मर्यादा में लेकर...** इसका अर्थ किया, भाई! किया है न फूलचन्दजी ने '**अवधार्य**' है न? '**एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरयावधार्य**'—इसका अर्थ

जानकर किया है, उस जैनतत्त्वमीमांसा में। दूसरे अवधार्य अर्थात् जानकर, ऐसा अर्थ किया है। अवधार्य है न, भाई! संस्कृत में 'अवधार्य' का अर्थ भाई ने मर्यादा किया है। मूल संस्कृत में चौथी लाईन है। '**परख्याति हेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरयावधार्य**' ऐसा है, अन्दर है। चेतनजी है? नहीं संस्कृत? ऐसा अर्थ भाई ने ऐसा किया है कि उसे 'जानकर' आहाहा! यह अवधार्य का अर्थ, उन सबको **मर्यादा में लेकर...** अर्थात् कि मन और इन्द्रियों द्वारा प्रवर्तित, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण, उन्हें जरा इस ओर ढालकर, रोककर, आहाहा! **जिसने मतिज्ञान तत्त्व को...** आहाहा! **(मतिज्ञान के स्वरूप को)...** तत्त्व अर्थात् स्वरूप ऐसा अर्थ किया है। **आत्मसन्मुख किया है ऐसा,...** जो मन द्वारा परपदार्थ की प्रसिद्धि मतिज्ञान से होती थी, मतिज्ञान में अल्पज्ञान या ज्ञान में मन द्वारा पर की प्रसिद्धि होती थी, उसे मर्यादा में लाकर, आहाहा! उस मतिज्ञान को स्वसन्मुख किया। लो, यह प्राप्त करने की यह पद्धति है। आहाहा!

मतिज्ञान के स्वरूप को आत्मसन्मुख किया है। समझाना है तो किस प्रकार समझावे? बाकी यह मतिज्ञान है और इसे आत्मसन्मुख करता हूँ, यह तो अभी विकल्प है। यहाँ तो अभी समझाना है। आहाहा! ऐसा जो है और ऐसे मोड़ देता है, बस। जो मन के द्वारा पर प्रसिद्धि का कारण जो मतिज्ञान था, उसे वहाँ से रोककर मर्यादा में लाकर अथवा उसका ज्ञान करके—उस ज्ञान को आत्मसन्मुख किया, उस ज्ञान को आत्मसन्मुख किया। आहाहा!

कहो, यह पद्धति नहीं? आहाहा! उसे प्राप्त करने की यह पद्धति नहीं? फिर दूसरी कौन से पद्धति होगी? कि देव-गुरु-शास्त्र की बहुत भक्ति करे न, तो वह तो परपदार्थ की प्रसिद्धि है उससे। आहाहा!

यहाँ तो जो मन और इन्द्रिय, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण थे, उन्हें अब आत्मा की प्रसिद्धि को प्रगट करने के लिए उस मतिज्ञान को अन्तर में झुकाता है। आहाहा! (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, यह एक मति की बात की, क्योंकि मतिपूर्वक श्रुत है न, वास्तव में श्रुत में समाधि और शान्ति है। पहले यह होता है। आहाहा!

(अब कहते हैं) **तथा जो नाना प्रकार के नय पक्षों के...** श्रुतज्ञान, '**श्रुतविकल्पा नयाः**' इसलिए नाना अर्थात् **अनेक प्रकार के नय पक्षों के आलम्बन से होनेवाले...** नय पक्ष के आधार से—अवलम्बन से होनेवाले **अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ,...** आहाहा! है? वहाँ भी अवधार्य है, वहाँ भी है, भाई! अवधार्य—वहाँ भी अवधार्य शब्द है। श्रुतज्ञान की बुद्धि—अवधार्य है न? उसमें अवधार्य है, और मति में आता है।

क्या कहते हैं? **नाना प्रकार के नय पक्षों के...** यहाँ तो नय पक्षों के, हों! दूसरे की बात ही नहीं। व्यवहार के—दया, दान के और अमुक-अमुक की बात ही नहीं। यहाँ तो मात्र **नय पक्षों के आलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा...** यह लिये। वह देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि के (शुभभाव) स्थूल उसकी तो यहाँ बात भी नहीं, वह तो स्थूल राग की बात भी नहीं, यहाँ तो उसके आँगन में, उसके पक्ष के जो विकल्प हैं, उसकी ओर के झुकाववाले विकल्प हैं, सन्मुखता है, परन्तु अभी विकल्प है—उससे उत्पन्न होनेवाले **अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली,...** देखो! यहाँ लिया, दुःख उत्पन्न करता है। आहाहा! **श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी,...** ऐसे **श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर...**

मुमुक्षु : अवधार कर...

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भी उसे अवधार्य कहा है—श्रुतज्ञान को सन्मुख करके, ऐसे (मन-इन्द्रियों की ओर) ढलता है, उसे ऐसे (स्वरूपसन्मुख) ढालकर। आहाहा! **श्रुतज्ञानतत्त्व को भी...** 'भी' क्यों कहा? (कि) वह मतिज्ञान को कहा था न, मति को आत्मसन्मुख करके, इसलिए इसे 'भी', ऐसा—श्रुत(ज्ञान) तत्त्व को, '**भी**' **आत्मसन्मुख करता हुआ...** आहाहा! **अत्यन्त विकल्परहित...** बिल्कुल विकल्प का एक अंश भी नहीं होता वहाँ अब। सूक्ष्म विकल्प का अंश नहीं, जहाँ गुण-गुणी का भेद भी जहाँ नहीं, इसे अनुभव करता हूँ, ऐसा जो सूक्ष्म विकल्प, वह भी जहाँ नहीं। आहाहा! **अत्यन्त विकल्परहित....** बिल्कुल रागरहित। ओहोहो! भगवान पूरा ही इतना ही हूँ। आहाहा! **अत्यन्त विकल्परहित होकर...** इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अभी ऐसा है, ऐसा कहते हैं।

अत्यन्त विकल्परहित होकर, हो सकता है—ऐसा ही इसका स्वरूप है। आहाहा! अरे! अत्यन्त विकल्परहित होकर। समझाना है, वह क्या समझाये? **तत्काल निज रस से ही प्रगट होता हुआ...** तत्काल निज आनन्दरस। विकल्प था, वहाँ दुःख था। श्रुत का है न यहाँ—आकुलता थी न? यहाँ निजरस अब आनन्द आया। आहाहा! उस श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करने से, विकल्प जाल में था, तब तो आकुलता और दुःख था। आहाहा! श्रुतज्ञान के विकल्प, वह भी आकुलता और दुःखरूप है, प्रभु! यह तो शुभभाव साधारण जो शुभभाव, उसकी तो क्या बात करना! आहाहा! यह तो श्रुतज्ञान के विकल्प, वह भी आकुलता और दुःखरूप है। आहाहा! उसे **तत्काल निज रस से ही प्रगट होता हुआ...** भगवान विकल्प से रहित हुआ, श्रुतज्ञान के विकल्प से रहित हुआ, वहाँ भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ। निजरस—अपने आनन्द के रस से ही, निजरस से ही, ऐसा। किसी की भी मदद बिना। आहाहा!

तत्काल निजरस से ही,... अपने स्वभाव के सामर्थ्य के रस से ही प्रगट होता हुआ... आहाहा! **आदि-मध्य और अन्त से रहित...** भगवान का अन्दर स्वरूप अन्दर, उसे आदि नहीं, उसे मध्य नहीं, उसे अन्त नहीं, वह तो है... है... है। आहाहा! आदि-मध्य-अन्तरहित प्रभु—(निजात्मा अन्दर) है। **आदि-मध्य और अन्त से रहित अनाकुल...** और अकेला आनन्द... आनन्द अनाकुल है। **केवल एक,...** आहाहा! अकेला चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, **सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो...** यह तो समझाते हैं, विश्व के ऊपर तैरता है, ऐसा वहाँ भेद भी कहाँ है वहाँ। परन्तु विश्व के ऊपर तैरता है अर्थात् भिन्न पड़ जाता है अर्थात् विश्व के ऊपर तैरता है, ऐसा कहा जाता है। बाकी विश्व के ऊपर तैरता हूँ और भिन्न हूँ, उससे भिन्न हूँ—ऐसा भी विकल्प वहाँ कहाँ है? आहाहा!

आदि-मध्य और अन्त से रहित अनाकुल केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानो तैरता हो... ऊपर ही अकेला, राग और संसार का पूरा भाव चौदह ब्रह्माण्ड, उनसे पृथक् तैरता चैतन्य तत्त्व भिन्न। आहाहा! बात बहुत अच्छी आ गयी है।

ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय... अखण्ड प्रतिभासमय। प्रतिभासमय—है, वैसा ज्ञान में भासित हुआ। प्रतिभासमय। है, वैसा ज्ञान में भास हुआ 'प्रतिभास' हुआ—है ऐसा

जानने में आया। आहाहा! **अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन...** आहाहा! अनन्त-अनन्त जिसकी हद नहीं, ऐसा स्वरूप जिसका—स्वभाव जिसका अमर्यादित अनन्त विज्ञानघन प्रभु **परमात्मारूप,...** लो! यहाँ तो परमात्मारूप कहा। आहाहा! अभी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है, वह इसे। आहाहा!

भगवान आत्मा कहने पर एक बार कोई ऐसा कहता था, यह तो भगवान आत्मा कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं विज्ञानघन **परमात्मारूप समयसार का जब (यह) आत्मा अनुभव करता है...** जब आत्मा अनुभव करता है। **उसी समय...** उसी काल **आत्मा सम्यक्ता दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है)।** इस समय पहले श्रद्धा है और विकल्प से निर्णय किया है, इसलिए सच्ची श्रद्धा है, (ऐसा नहीं है)। उसी समय आत्मा की सच्ची श्रद्धा की जाती है, तब ही सच्ची रीति से श्रद्धा होती है, तब ही सच्ची रीति से **ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२४, गाथा-१४४, कलश-९३-९४, दिनांक १२-०५-१९७९, शनिवार, वैशाख कृष्ण-१

समयसार, १४४ का भावार्थ —**पहले आत्मा का आगमज्ञान से...** अर्थात् भगवान ने कहे हुए शास्त्रज्ञान से, **ज्ञानस्वरूप निश्चय करके...** बात तो यह है कि स्वयं उत्पाद, व्यय और ध्रुव—इतना सत् है आत्मा। उसमें उत्पाद-व्यय तो पर्याय है। उस पर्याय में परसन्मुख का लक्ष्य है, तो परसन्मुख का लक्ष्य होने से पहले आगम से ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं। **आगम ज्ञान से ज्ञानस्वरूप...** आत्मा चैतन्य ध्रुव, वह तो ज्ञायकस्वरूप है। यह उत्पाद-व्यय की पर्याय, उसे—त्रिकाल को ज्ञायकस्वरूपरूप से जानती है। सत् तो दोनों सत् हैं। उत्पाद-व्यय है, वह सत् है, (अपने में है न) पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। उपजे-विनशे ऐसी पर्याय का अस्तित्व भी क्षणिक और समय जितना है तथा पूरा तत्त्व है, वह महाप्रभु ज्ञायकतत्त्व है। उसे पर्याय को पर द्वारा जो अनादि से लक्ष्य है, तो कहते हैं कि वह लक्ष्य छोड़कर, आगमज्ञान से—भले परलक्ष्य है, परन्तु आगमज्ञान से, आहाहा! ज्ञानस्वरूप निश्चय करके—भगवान (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है... ज्ञायक है... पश्चात् **इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञान को...** इन्द्रिय और बुद्धि जो परपदार्थ को प्रसिद्ध करते हैं उन्हें—**मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर...** इस ओर लाकर, ऐसा। आहा! यहाँ मिलाकर, लिखा है, उसमें गौण करके—मर्यादा में लाकर (कहा है)। सूक्ष्म बात है।

जो वस्तु है अन्दर ज्ञायकभाव, उसे वर्तमान (ज्ञान) पर्याय में परलक्ष्यी ज्ञान अनादि से है तो उस परलक्ष्यी में से आगमज्ञान करके, (यद्यपि) आगमज्ञान भी परलक्ष्यी है, (तथापि) उस आगमज्ञान से पहले आत्मा का निर्णय कर कि आत्मा क्या चीज़ है ? भले, अभी निर्विकल्प नहीं। यह आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूप, चैतन्य के प्रकाश का पूर है यह तो... चैतन्य के प्रकाश का नूर। ऐसा यह इसका स्वरूप है। ऐसा करके फिर उस इन्द्रिय-बुद्धि को इस ओर झुका देना—ज्ञानमात्र में ही मिलाकर, आहाहा! अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा में उस मतिज्ञान की बुद्धि को ऐसे झुका देना। आहाहा! देखो! यह उपाय। **तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर...** यहाँ इतना कहा।

श्रुतज्ञान से जो नयों के विकल्प थे, उसकी पर्याय के अस्तित्व में, श्रुतज्ञानसम्बन्धी निश्चय से अबद्ध हूँ, व्यवहार से बद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ निश्चय से, व्यवहार से वर्तमान पर्यायमात्र हूँ, ऐसे जो विकल्प थे श्रुतज्ञान के, श्रुतज्ञान के विकल्प, उन्हें मिटाकर, **श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके...** यह वर्तमान श्रुतज्ञान की दशा ऐसी जो उसकी पर्याय, आहाहा! उस पर्याय को भी विकल्प रहित करके। ऐसा है उपाय।

श्रुतज्ञान को भी... अर्थात् मतिज्ञान को तो किया, परन्तु श्रुतज्ञान को भी, **निर्विकल्प करके एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना।** आहाहा! अन्दर एकरूप वस्तु है, ध्रुव ज्ञायक अपना अस्तित्व, पर्याय का अस्तित्व है, परन्तु वह एकरूप नहीं, भिन्न-भिन्न है; इसलिए अन्तर की वस्तु जो है वह एक, अखण्ड। उसमें आया है न (गाथा) ३२० में, अखण्ड, एक—वहाँ ऐसा लिया है। सकल निरावरण, अखण्ड एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय—वहाँ ऐसा लिया है। आहाहा!

वर्तमान उत्पाद-व्यय की पर्याय का अस्तित्व भी तुझमें है और त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव का अस्तित्व भी तुझमें है। परन्तु दोनों के अस्तित्व में से उत्पाद-व्यय का अस्तित्व जो है, वह परसन्मुख के झुकाववाला अनादि से है, उसे आगमज्ञान से उसे आत्मा की ओर ला! आहाहा! फिर, विकल्प को मिटाकर इस उत्पाद-व्यय को ध्रुव में मिला दे, मिला दे अर्थात् वहाँ मिला दे। वहाँ दृष्टि स्थापित कर। आहाहा!

यह **एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना...** भेद का भी नहीं, जहाँ राग का नहीं, **एक अखण्ड प्रतिभस...** ज्ञान की पर्याय में पूरा 'प्रतिभास' होता है, पूरा आत्मा। आहाहा! उसका **अनुभव करना।** आहाहा! अनुभव कहीं द्रव्य का नहीं होता, परन्तु उस अखण्ड एक ज्ञान की पर्याय में 'प्रतिभास हुआ' पूरी चीज़ है, वह पर्याय का अनुभव होता है, वह अखण्ड एक का अनुभव हुआ, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म!

(कहते हैं) **एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नाम को प्राप्त करता है।** आहाहा! ज्ञायकभाव जो है—अस्तित्व के तो तीन अंश हैं उसके, उत्पाद-व्यय और ध्रुव; परन्तु जो ध्रुव ज्ञायकभाव जो ध्रुव है,

ध्रुवरूप से तो परमाणु भी है। यह ध्रुव तो ज्ञायकभाव है यह। इस ज्ञायकभाव की ओर के विकल्प के लक्ष्य को छोड़कर, इस ओर का, इस ओर झुका दे। ऐसा एक अखण्ड ज्ञायकस्वभाव का, पर्याय में 'प्रतिभास होकर' अनुभव करना। द्रव्य वह कहीं पर्याय में नहीं आता, परन्तु पर्याय में प्रतिभास में पूरी चीज़ जितनी है, उसका ज्ञान होता है। आहाहा! उसका अनुभव करना, वही सम्यग्दर्शन। आहाहा! अब यह तो मुद्दे की पहली रकम की बात है। इस बात के बिना सीधे व्रत, तप और चारित्र, बापू! कहाँ से आये यह? **वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के नाम को प्राप्त करता है।** अर्थात् उसे ही वास्तव में तो नाम मिलता है। आहाहा! जो अखण्ड ज्ञायकभाव सत्रूप है, परिपूर्ण, ऐसे अखण्ड एक परिपूर्ण का, ज्ञान की पर्याय में भास होकर अनुभव करना, उस एक को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम मिलता है।

यह तो ध्यान की बात है। आहाहा! आत्मा ज्ञायकस्वरूप...

मुमुक्षु : किसी जगह कहे शुद्धोपयोग करो, किसी जगह कहे आत्मा का अनुभव करो।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ही यह। ज्ञायक की ओर के विकल्प में से छूटकर जहाँ ध्यान में जाता है, तब उसका अनुभव होता है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। जन्म-मरणरहित होने की तो यह पद्धति है। बाकी सब बातें चाहे जो करे, साधुपना तो अभी कहाँ है। यह तो अभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, दो की बात है। यहाँ अभी चारित्र की तो बात भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : शुरुआत की बात है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : पहली ही यह बात है। चौथे गुणस्थान की यह बात है। आहाहा! अखण्ड, एक, आनन्द का नाथ प्रभु, अनन्त... अनन्त जिसमें शक्तियाँ और जिसकी शक्तियों का स्वभाव जिसका अपरिमित, ऐसा यह अखण्ड तत्त्व जो है, आहाहा! वह एकरूप है। उसमें पर्याय का भी जिसमें भेद नहीं, ऐसे अखण्ड को अनुभव करना, आहाहा! अर्थात् पर्याय में उसका अनुभव होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, ऐसे नाम पाता है। **सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।**

यह त्रिकाली ज्ञायकभाव का अस्तित्व, उत्पाद-व्यय का अस्तित्व तो क्षणिक है, वह उत्पाद-व्यय में विकल्प उठते हैं, वे सब परसन्मुख के उपाधिवाले भाव हैं। उनका मूल अस्तित्व तो त्रिकाली जो है ध्रुव, उसके उत्पाद-व्यय वे हैं, वह भी अस्तित्व है। और उस अस्तित्व की पर्याय में पूरे ध्रुव को ज्ञान में लेकर, आहाहा! उसका अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, वह कहीं अनुभव से भिन्न चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े। अभी यह तो पहली शुरुआत की पहली भूमिका। धर्म की पहली भूमिका!

मुमुक्षु : पर्याय के अनुमान से ध्रुव दिखता है या सीधे दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : और पर्याय से अनुमान कैसा? प्रतिभास कहा न? पर्याय में पूरा ज्ञात होता है। उसमें भी आता है न? 'अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय' ३२० (गाथा) जयसेन आचार्य की टीका। आहाहा!

यह तो मार (डाले)—मर जाना हो जिसे संसार से, उसकी बात है। संसार से मरकर जीव को जागृत करना, जीव को जीवित रखना। आहाहा! रखना अर्थात् है ही वह ऐसा। आहाहा! जैसा वह अखण्ड जीवित चीज़ जीवित जीव है, आहाहा! उसे इस पर्याय में प्रतिभासमय होकर उसे अनुभव करना, उस अनुभव में सम्यग्दर्शन और ज्ञान के नाम पड़ते हैं। आहाहा! अनुभव कहने से अन्दर एकाग्र ध्यान है, ऐसा कहना है। यह ऐसा कि विचार करते-करते या सुनते हुए उसमें से सम्यग्दर्शन हो जाये, तो ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह अनुभव **सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं है।**

कलश–९३

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।।९३।।

श्लोकार्थ : [नयानां पक्षैः विना] नयों के पक्षों के रहित, [अचलं अविकल्प–भावम्] अचल निर्विकल्पभाव को [आक्रामन्] प्राप्त होता हुआ [यः समयस्य सारः भाति] जो समय का (आत्मा का) सार प्रकाशित होता है, [सः एषः] वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)– [निभृतैः स्वयम् आस्वाद्यमानः] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (–अनुभव में आता है) वह– [विज्ञान–एक–रसः भगवान्] विज्ञान ही जिसका एक रस है, ऐसा भगवान् है, [पुण्यः पुराणः पुमान्] पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे [ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं] ज्ञान कहो या दर्शन वह यह (समयसार) ही है; [अथवा किम्] अथवा अधिक क्या कहें? [यत् किंचन अपि अयम् एकः] जो कुछ है, सो यह एक ही है (–मात्र भिन्न–भिन्न नाम से कहा जाता है)।।९३।।

कलश–९३ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं। (कलश) ९३

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ।।९३।।

'आक्रामन्न विकल्प भावम अचलं पक्षैर्नयानां विना, सारो यः समयस्य भाति...'

'समयस्य भाति' शुद्ध भासित होता है, कहते हैं। समयसार '**भाति निभृतै' यह तो निभृतै निश्चिन्त पुरुष को... 'निभृतै आस्वाद्यमानं स्वयं, विज्ञानएक रस स एष भगवान पुण्य**' आहाहा! यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन ज्ञान में 'भगवान' आया यह तो... उस भगवान का नाम पड़े वहाँ शोर मचाते हैं (कि) आत्मा को भगवान कहते हैं। अरे! अभी भगवान होगा? अरे! तीनों काल होता है। अभी क्या? सुन न अब! वस्तु तेरी दृष्टि में आना चाहिए है, यह तो अभी भगवान ही है, तुझे जब दृष्टि में आवे तब 'है' ऐसा मालूम पड़े, दृष्टि में आये बिना 'है' तो 'है' भगवान ही है। आहाहा! **नयों के पक्षों से रहित...** है? **अचल निर्विकल्प भाव को प्राप्त होता हुआ,...** आहाहा!

मुमुक्षु : यह श्लोक अधूरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : श्लोक अधूरा रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्लोक हो गया अपने मस्तिष्क में। **विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्, ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम्**—प्रभु यह है। आहाहा! जो कोई कहो, वह प्रभु यह है। आहाहा! इसे ब्रह्मा कहो, विष्णु को, शिव कहो, परमात्मा कहो, अरिहन्त कहो... आहाहा!

(कहते हैं) **नयों के पक्षों से रहित...** इसका अर्थ अब, '**अचलं विकल्प भावम्**' नयों के पक्ष में जो मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, ऐसी वृत्तियों का—विकल्प का उत्थान होता है, उसे रोककर, आहाहा! यह तो आया था न कुछ, अपने आप होता है। पहले कहीं आया था न, कलश में आया था।

मुमुक्षु : विकल्प जाल।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प का जाल अपने आप। नहीं, कहीं है न? कहीं आया नहीं था? अपने आप होता है, ऐसा कि सब याद रहता है कहीं? श्लोक कहीं याद रहता है? विकल्प जाल अपने आप होता है, इसका अर्थ कि वह वस्तु में नहीं है, ऐसा। पहले आया था।

मुमुक्षु : ९० कलश में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ९०-९० वाँ कलश, यहाँ कलश (टीका) है न? '**स्वेच्छासमुच्छलत्**' देखो! इस प्रकार जिसमें बहुत विकल्पों का जाल अपने आप उठता है... आहाहा! अर्थात्? कि जिसमें विकल्प है ही नहीं। अध्धर से, अध्धर से उत्पन्न होते हैं। आहाहा! जिसके अस्तित्व में द्रव्य-गुण-पर्याय में ये (विकल्प) है ही नहीं। आहाहा! वह पर्याय अर्थात् कारण पर्याय। वह त्रिकाली (पर्याय) द्रव्य-गुण-पर्याय है, उसमें तो विकल्प उत्पन्न हो, ऐसा स्थान ही नहीं है। 'स्वेच्छा' अपने आप (विकल्प) उत्पन्न होते हैं। आहाहा! पर का लक्ष्य करता है, इसलिए स्वभाव में नहीं, ऐसे स्वच्छा से—अपने आप वे विकल्प उत्पन्न होते हैं। आहाहा!

उसे **निर्विकल्प भाव को प्राप्त होता हुआ... 'यः समयस्य सारः भाति'** आत्मा का शुद्ध आत्मा प्रकाशता है, 'भाति' का अर्थ किया। '**यः समयस्य सारः भाति**' वहाँ समयसार अर्थात् आत्मा शुद्धचैतन्यघन, 'भाति' प्रकाशित होता है। आहाहा! '**यः समयस्य सारः भाति**' बहुत कठिन काम, भाई! आहाहा!

लोगों को, पहली वस्तु की शुरुआत बिना ऊपर की सब बातें। व्रत, तप और अभिग्रह, आहाहा! यह मूल चीज़ जो आत्मा ऐसा है, वह उसमें नहीं आया, १७-१८ (गाथा) में? ऐसा कि आत्मा ऐसा जाना है और माना है कि मानने में ऐसा आया है कि इसमें स्थिर होऊँगा, उतनी अशुद्धता जायेगी, कर्म टलेंगे। आहाहा! यह इसकी क्रिया, यह श्रद्धा में ऐसा आता है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु दृष्टि में और ज्ञान की पर्याय में जब पूर्ण भासित होता है, उस भासित हुई चीज़ में स्थिर होना है, यह श्रद्धा—समकित ऐसा मानता है। समकित होने पर उसे ऐसा होता है कि 'इस शुद्ध चैतन्य में जितना आनन्द में स्थिर होऊँगा, आहाहा! उतना कर्म अथवा अशुद्धता टलेगी।'—कोई अपवास-बपवास करूँगा और इतने अपवास करूँगा और छह महीने के अमुक करूँगा और... इतना प्रायश्चित्त लूँगा, तो ऐसा कुछ नहीं उसमें। आहाहा!

यह समयसार (आत्मा का सार)... अर्थात् शुद्धात्मा, द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म रहित, विकल्परहित, राग के आश्रयरहित, त्रिकली भगवान शुद्धचैतन्यघन ऐसा '**समयस्यसारः भाति**' सार, वह भाति अर्थात् शोभता है, प्रकाशित होता है—अनुभव में

आता है। आहाहा! हीरालालजी! ऐसी बात है। तुम्हारा रुका है यहाँ सुनने, राजू, रुका है सुनने। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

वह समयसार 'स एषः' वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा) 'निभृते स्वयं आस्वाद्यमानः' निश्चल अर्थात् चिन्तारहित प्राणी से **'निभृतः'** चलाचल-विकल्प से रहित ऐसे **'निभृतः' पुरुषों के द्वारा...** आहाहा! आत्मलीन पुरुषों के द्वारा **स्वयं आस्वाद्यमान है...** स्वयं आस्वाद्यमान है—उसे आनन्द के आस्वाद के लिये किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

यह तो अभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात चलती है। अब इसे कोई ऐसा ले लेवे कि यह तो कोई एल.एल.बी. और एम.ए. की बात है। आहाहा!

निभृत पुरुषों के द्वारा... (अर्थात्) चंचलता के विकल्परहित पुरुषों के द्वारा, आहाहा! ऐसे आत्मा द्वारा—पुरुष अर्थात् आत्मा, उस द्वारा **स्वयं**—अतीन्द्रिय आनन्द का आस्वाद्यमान लिया जाता है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव निभृत पुरुषों द्वारा, आहाहा! चंचलता के विकल्पों से रहित पुरुषों के द्वारा आस्वाद लिया जाता है। आहाहा!

वह **'विज्ञान एक रसः भगवान'** अभी तो चौथे गुणस्थान की बात करते हैं न यहाँ, प्रभु को भगवान कहा, यह लोगों को कठिन लगता है। बापू! भगवान ही है—परमेश्वर है। आहाहा! यह ३८ गाथा में आया न, अपने परमेश्वर को भूल गया है।

एक समय की पर्याय के पास ही प्रभु स्थित है। उत्पाद की जो पर्याय है, उसके अन्दर में—अन्तर में पास ही स्थित है, बाहर में नहीं। आहाहा! एक समय की पर्याय में—उत्पाद की पर्याय में... अन्तर में देखने पर भगवान वहाँ समीप में ही स्थित है। आहाहा!

ऐसा **'विज्ञान एक रसः भगवान'** आहाहा! **विज्ञान ही जिसका एक रस है...** विज्ञान ही जिसका एक स्वरूप है, विज्ञान ही जिसका अकेला तत्त्व है। विज्ञान 'ही'—कथंचित् विज्ञान है और कथंचित् अल्पज्ञता है, या दूसरा है, ऐसा कुछ है नहीं। एकान्त विज्ञान 'ही' आहाहा! विज्ञान 'ही'—अकेला विज्ञानघन जो रस-विज्ञान का ही जिसका रस है। आहाहा! **ऐसा भगवान है...** ऐसा यह आत्मा भगवान है। निर्विकल्प में अनुभव

होने पर, वह विज्ञानरस उसका एक स्वरूप है, ऐसा वह भगवान है। आहाहा!

'**विज्ञान एक रसः**' भेद नहीं। अखण्ड एक रस पूर्ण प्रभु! आहाहा! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त विज्ञानस्वभाव जिसकी मर्यादा नहीं, परिमितता नहीं, हद नहीं, ऐसा बेहद भगवान जिसका विज्ञान एक रस है। आहाहा! ऐसा वह भगवान है। चौथे गुणस्थानवाला अनुभव करे, तब कहे, ऐसा विज्ञान एक रस भगवान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात, लो!

ऐसा '**पुण्यः पुराणः पुमान**'... इस पुण्य का अर्थ पवित्र है। यह पुण्य जो दोपहर में कहा गया, वह शुभोपयोग और दुःख की विजय, वह नहीं। यह पुण्य अर्थात् पवित्र। आहाहा! भगवान अकेला पवित्रता के गुणों का पिण्ड प्रभु है। अकेले पवित्रता, अनन्त गुण की पवित्रता का रसकन्द है। आहाहा! आत्मा अर्थात् क्या? आहाहा! जिसके समक्ष सिद्ध भगवान की पर्याय भी जहाँ तुच्छता गिनी जाती है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा **पवित्र,...** एक बात। **पुराण**—अनादि का है, कहते हैं। आहाहा!

तुझे, ज्ञात हुआ, इसलिए ऐसा लगता है कि यह अभी, परन्तु यह अनादि का भगवान ऐसा है ही। आहाहा! ख्याल में आया, तब तुझे लगा कि यह है, परन्तु यह तो अनादि का ऐसा था ही—था, ऐसा तुझे अनुभव में आया है। आहाहा! क्या कलश! आहाहा! अमृत बहाया है, अमृतचन्द्र ने तो! आहाहा! अब इसमें भी कितने ही तो दोष निकालते हैं (कि) क्लिष्ट भाषा है और ढिंकणा और फलाना है। अरर! कौन, अमृतचन्द्राचार्य चलते सिद्ध हैं। आहाहा! जब भरतक्षेत्र में होंगे एक हजार वर्ष पहले... आहाहा! वह पुरुष पवित्र है प्रभु तू। तू पुराण है, पुराना है, नया नहीं, वह तो पुराना अनादि का... अनादि... अनादि... जिसकी कहीं आदि नहीं, ऐसा तू प्रभु! पुराण है। आहाहा! ऐसे महाप्रभु के अस्तित्व को अनुभव... आहाहा! उसमें तुझे आत्मा के आनन्द का स्वाद आयेगा। और भव का अन्त आयेगा... अब भव नहीं... आहाहा! **पुराण पुरुष है...** यह अनादि आत्मा है। '**ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं**' उसे **ज्ञान कहो,...** त्रिकाली, हों! ज्ञायक, ज्ञान, ध्रुव, ज्ञान पारिणामिक त्रिकाली परमपारिणामिकस्वभाव ऐसा ज्ञान, उसे **दर्शन कहो, यह वही समयसार ही है।** आहाहा! '**अथवा किम्**' अरे रे! **अधिक क्या कहें?** आहाहा!

'यत् किंच्चन अपि अयं एकः' जो कुछ है, वह एक ही है। इसके नाम भले अलग-अलग रखो कि यह ज्ञान है, यह दर्शन है और यह आनन्द और सत्ता, अस्तित्व और वस्तुत्व... स्वच्छत्व और... प्रभुत्व, यह नाम चाहे जितने रखो, परन्तु वस्तु तो वह अखण्ड एक है। जो है, वह एक ही है। आहाहा! **'यत् किंच्चन अपि अयं एकः' जो कुछ है, वह एक ही है। (मात्र भिन्न नाम से कहा जाता है।)** आहाहा! बहुत सरस कलश आया।

इसके ज्ञान में निर्धार तो करे ऐसा, ज्ञान में ऐसा निर्णय करे कि यह वस्तु, पूर्ण ध्रुव एक समय की पर्याय में भी जो नहीं, ऐसा पूर्ण परमात्मा अनन्त भगवानस्वरूप, वह विकल्परहित होकर अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि उसके स्वभाव से वह अनुभव में आता है। विकल्प है, वह कहीं उसका स्वभाव नहीं, वह तो विभाव है। वह आता है न, अलिंगग्रहण में? अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। छठवाँ बोल है न? आहाहा! क्या बात! ऐसा अमृतचन्द्राचार्य का है न अलिंगग्रहण (का स्पष्टीकरण)। आहाहा!

अपने स्वभाव से ही ज्ञात हो ऐसा वह भगवान प्रत्यक्ष ज्ञाता है। आहाहा! वह विकल्प से तो ज्ञात नहीं होता, परन्तु परोक्ष रह सके, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! यदि तू उसकी ओर ढलकर झुकाव कर तो, आहाहा! जो कुछ है, वह यह प्रभु एक भगवान ज्ञायक अनन्त गुण की राशि, अनन्त गुण की राशि, उसमें गुणभेद के विकल्प को भी जहाँ अवकाश नहीं। ऐसा एक गुणराशि विशाल ढ़ेर पड़ा है। आहाहा! अनन्त गुण का पर्वत। सुख का सागर कहना हो, तब समुद्र कहा जाता है, वह महिमावाला अनन्त गुण का पर्वत। आहाहा! जो है वह यह एक ही है, कहते हैं। **मात्र भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है।** आहाहा! भगवान को भी एक हजार आठ नाम से कहा जाता है न! स्तुति है न भगवान की, एक हजार आठ नाम। अनन्त नाम से भी कहे तो भी पूरा पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा! कि जिसके गुण! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त ऐसे अनन्त का अन्त नहीं, अनन्त के अनन्त का अन्त नहीं, ऐसा महाराशि गुण का... स्वभाव है, वस्तु है, सत् है, उसे कोई मर्यादा नहीं है, ऐसी वह चीज़ है, उसे चाहे जिस नाम से कहो तो भी प्रभु, है वह है। आहाहा!

कलश–९४

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था, सो ज्ञान में ही आ मिलता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेक–निम्न–गमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैक–रसस्तदेक–रसिना–मात्मान–मात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगतता–मायात्ययं तोय–वत्।।९४।।

श्लोकार्थ : [तोयवत्] जैसे पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी, पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूह में आ मिलता है; इसी प्रकार [अयं] यह आत्मा [निज–ओघात् च्युतः] अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर [भूरि–विकल्प–जाल–गहने दूरं भ्राम्यन्] प्रचुर विकल्प जालों के गहन वन में दूर परिभ्रमण कर रहा था, उसे [दूरात् एव] दूर से ही [विवेक–निम्न–गमनात्] विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा [निज–ओघं बलात् नीतः] अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए [तद्–एक–रसिनाम्] केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को [विज्ञान–एक–रसः आत्मा] जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है, ऐसा वह आत्मा, [आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्] आत्मा को आत्मा में ही खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), [सदा गतानुगतताम् आयाति] सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

भावार्थ : जैसे पानी, अपने (पानी के) निवासस्थल से किसी मार्ग से बाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर बह निकले; और फिर किसी ढालवाले मार्ग द्वारा, ज्यों का त्यों अपने निवास–स्थान में आ मिले; इसी प्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से बाहर निकलकर विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ किसी

भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।।९४।।

कलश-९४ पर प्रवचन

यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था... अब यह कहते हैं जरा, **सो ज्ञान में ही आ मिलता है...** पहले सिद्धि करते हैं कि यह अनादि से च्युत हुआ था, वस्तु तो वस्तु है, परन्तु पर्याय से च्युत हुआ था। पर्याय से च्युत नहीं हुआ था और अनुभव में आवे, वह ऐसा नहीं, ऐसा। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा, तो भी अपने स्वभाव से (च्युत हुआ था)। पर्याय में, हों! वस्तु में नहीं, वस्तु तो वस्तु है। आहाहा! पर्याय में च्युत हुआ था। आहाहा! वह ज्ञान में ही आ मिलता है। जो पर्याय से च्युत हुआ था, वही पर्याय में जाता है और उसमें मिल जाता है।

वस्तु है, वह तो च्युत होती नहीं, उसे तो आवरण भी नहीं और मलिनता भी नहीं और कुछ नहीं। जो है वह है द्रव्य, आहाहा! परन्तु यहाँ समझाना है कि अनुभव करना कहा तो तब वह तो पर्याय हुई, तब कि उसकी पर्याय में भूल तो है, तब अनुभव करने का कहा जाता है न परन्तु यह भी पर्याय की बात है। आहाहा!

आत्मा स्वभाव जो ज्ञानस्वरूप है, (ज्ञान से) च्युत हुआ था, वह ज्ञान में ही आ मिलता है। आहाहा! उसमें ही, जो है उसमें ही आकर मिल जाता है। आहाहा! ऐसा अब कहते हैं। (कलश) ९४

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेक-निम्न-गमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैक-रसस्तदेक-रसिना-मात्मान-मात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगतता-मायात्ययं तोय-वत्।।९४।।

आहाहा! अब ऐसी बातें अब। वह तो दया पालना, लोग इकट्ठे हों, यह सवेरे से आना, धन्धा बन्द करना, प्रौषध करो... उसमें और सूझ पड़े। आहाहा! यह कहाँ चीज़

है, उसमें प्रभु! वह भगवान परिपूर्ण है, प्रवृत्ति में (कहाँ है)? वह पर्याय से च्युत हुआ है, इतना है। परन्तु प्रवृत्ति है, वह इसकी है बाहर की, वह इसकी नहीं। पर्याय में च्युत हुआ है, इतना इसमें है, परन्तु इससे यह बाहर की जो सब प्रवृत्ति करता है, इसलिए इसकी है और इससे है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बड़े गजरथ... शोभायात्रा और अमुक निकले ऐसे, वर्षीतप करे वह बड़ी घोड़ागाड़ी को... कितने लोग बैठे ऊपर और ऐसे (धमाधम)। आहाहा! यह कहते हैं कि वह तो कभी तुझमें आया नहीं। तू मात्र, पर्याय से च्युत हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : इतना दोष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना दोष है, दूसरा पर का यह सब यह किया और मैंने किया यह सब कुछ है ही नहीं। वह सब कल्पना तो एकदम मिथ्या है। आहाहा! शरीर की क्रियायें और वाणी की क्रियायें, उनमें तो तू आया ही नहीं और तुझसे वह हुआ ही नहीं और उससे तू भ्रष्ट हुआ है, ऐसा नहीं। वह तो तुझमें नहीं, फिर प्रश्न ही कहाँ है? आहाहा!

भगवान पूर्णानन्द धातु... जो उत्पाद-व्यय-ध्रुव वस्तु, आहाहा! वह उत्पाद-व्यय में च्युत हुई है। आहाहा! ध्रुव में च्युत हुई नहीं, आहाहा! ध्रुव तो ध्रुव ही है, भगवानस्वरूप त्रिकाल है। आहाहा! पर्याय में—अवस्था में च्युत हुई है। इससे पर का कर्ता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! और वह च्युत हुई है, वह पर के कारण च्युत हुई है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! च्युत हुई है, इसलिए पर के कार्य करती है, ऐसा भी नहीं और च्युत हुई है, इसलिए कर्म ने-दूसरी चीज़ ने उसे च्युत कराया है, (ऐसा भी नहीं है)। आहाहा! इसलिए कहा न? **जैसे पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ...** आहाहा! नदी में... नदी बहती हो न विशाल, उसमें से पानी जरा ऐसे वन में चला जाये—वन में चला जाये नीचे ढाल में, वह **पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो...** गहन वन में वह पानी नदी में से ढलता-ढलता वन में चला जाये ऐसे और ऐसा, कहते हैं। **बह रहा हो उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग द्वारा...** आहाहा! उसे तुरन्त ही वापस मोड़ना, ऐसा कहते हैं। **दूर से ही ढालवाले मार्ग द्वारा...** पानी का बहाव वह वन में था,

वहाँ से रोककर, ऐसा कहते हैं। **अपने समूह की ओर बलपूर्वक...** जिस ओर नदी है, प्रवाह में से आया था, वहाँ वापस उसे मोड़ देना। आहाहा! **अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये तो फिर वह पानी, पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ...** पानी में; उसके पानी के कारण खिंचता हुआ, फिर कोई बाहर के जोर की आवश्यकता नहीं। उस पानी में पानी मिला तो वह पानी, पानी के जोर से चलता है फिर, उसके कारण खिंचता हुआ, खिंचता हुआ। आहाहा! **पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ...** यह ढाल मोड़ा, इसलिए जिसकी ओर नदी बहती जाती है, उस ओर पानी खिंचता हुआ वहाँ खिंच जाता है। आहाहा! **प्रवाहरूप होकर...** फिर पानी में मिलकर प्रवाहरूप होकर **अपने समूह में जा मिलता है...** वह नदी का पूर बहता हो, उसमें से निकला था, ऐसा जरा वन में, वापस जाकर वहाँ मिल जाता है। आहाहा!

इसी प्रकार,... यह तो दृष्टान्त हुआ, **यह आत्मा 'निज-ओधात् च्युतः'** आहाहा! **अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर 'निज-ओधात् च्युतः'** भाषा तो ऐसी है। **अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होता हुआ...** इसका अर्थ कि जो पर्याय विज्ञानघनस्वभाव (की ओर) चाहिए, उस ओर नहीं, अर्थात् विज्ञानघन से तो च्युत हुई है। मूल हुई है तो पर्याय (च्युत), विज्ञानघनस्वभाव है, वह कहीं च्युत नहीं होता। आहाहा! **यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होता हुआ...** आहाहा! पर्याय में, हों! **'भूरि विकल्पजाल गहने दूरं भ्राम्यनं' प्रचुर विकल्प जाल के गहन वन में...** इतने विकल्प के जाल खड़े करे। आहाहा! एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक विकल्प, जैसे पूणी में पूणी साँधे—क्या कहलाता है वह? रुई की पूणी (कांतते-कांतते) एक हो जाये और दूसरी जोड़े (इस प्रकार से) यह विकल्प का जाल, जाल, हों! है न! **'भूरि विकल्पजाल गहने' प्रचुर विकल्प जाल के गहन वन में दूर परिभ्रमण कर रहा था...** आहाहा! शरीर में और पर में भ्रमता था, ऐसा नहीं, शरीर में और कर्म में और पर में भ्रमता था, ऐसा नहीं है। आहाहा! **प्रचुर विकल्प जाल के गहन वन में...** आहाहा! भगवान पूरा विज्ञानघन भगवान, उसकी ओर की पर्याय में च्युत होकर, पर्याय में इस विकल्प जाल के गहन वन—इतना विकल्प का जाल खड़ा किया कि जिसमें से गहनपना-गम्भीरपना-गहरा-गहरा चलता ही जाये विकल्प के जाल में। आहाहा!

'प्रचुर भूरि विकल्पजाल गहन' गहन, गहन वन विकल्प का जाल, उसका भी पार नहीं मिलता। आहाहा!

भगवान विज्ञानघनस्वभाव की ओर झुकाव छोड़कर, परसन्मुख के झुकाव के जाल के गहन वन में (विकल्पों से) आहाहा! वहाँ भ्रमित हो गया, **वन में दूर परिभ्रमण...** कर रहा था, विकल्प का जाल, स्वभाव से भिन्न-दूर है न? आहाहा! **'दूरात एव'** उसे **दूर से ही...** दूर से ही अर्थात् वहाँ न जाये, यहाँ वापस मोड़ ले, ऐसा कहा।—विकल्प आगे, लम्बे न जायें... वापस मोड़ ले (अर्थात् कि) दूर से ही **'विवेक-निम्न-गमनात्' विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा...** भेदज्ञान, आहाहा! विवेकरूपी भेदज्ञान का ढालवाला मार्ग, जैसे वह पानी ढाल मार्ग से नदी में चला जाये, वह यह बहते-बहते नदी में चला जाये; उसी प्रकार विवेकरूपी ढाल। आहाहा! यह विकल्प से भिन्न पड़ने का भेदज्ञानरूपी ढाल (रूपी) आआहा! मार्ग द्वारा **'निज ओघं बलात्' अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया...** आहाहा! पर्याय को। विज्ञानघन तो है, वह है। आहाहा!

अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया... अर्थात् ऐसा कि अपने पुरुषार्थ से काम किया। कर्म कुछ घटा और कर्म ने कुछ मार्ग दिया, ऐसा वह नहीं है—ऐसा कहते हैं। अपने बल से—अपने विज्ञानघन स्वभाव की ओर बल से मोड़ दिया गया। जीव को। आहाहा! **'तद्-एक-रसिनाम्' केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को...** आहाहा! यह विकल्प का जो रस था, वह विमुख हुआ, वे विज्ञानघन के रस के रसिक जीव। आहाहा! वे आनन्द के रस के रसिक जीव अन्दर में मुड़ गये, कहते हैं। आहाहा! **केवल विज्ञानघन के ही रसिक...** जीव अर्थात्—अकेले विज्ञानघन के ही रसिक। विकल्पमात्र नहीं, पर्याय का आश्रय नहीं। आहाहा! अकेले विज्ञानघन के 'ही' आहाहा! यह एकान्त किया।

मुमुक्षु : छह आवश्यक कब करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आवश्यक यह। द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करे, वह भी अनावश्यक है। आता है न नियमसार में? कल सज्झाय आ गयी थी, द्रव्य, गुण और पर्याय तीन का विचार करे, वह अनावश्यक। अरे! शुभराग आवे भगवान की भक्ति का, वह भी अनावश्यक है, आवश्यक नहीं। आहाहा! ऐसा है।

'विज्ञानएकरसः आत्मा' आहाहा! परन्तु किसे? **'तद् एक रसिनाम्' विज्ञानघन के रसिक पुरुषों को, 'विज्ञान-एक-रसः आत्मा' जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है...** विज्ञानघन के रसिक पुरुषों को, विकल्पों को दूर से ही विमुख करके, आहाहा! जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है। विज्ञानघन के रसिक पुरुषों को, एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है... आहाहा! यह इसकी पद्धति और रीति है।

ऐसा यह आत्मा, आत्मा को आत्मा में ही खींचता हुआ... जैसे वह पानी, पानी को खींचता था न? पानी की ओर जाते हुए पानी को खींचता था न पानी... उसी प्रकार इस ओर आत्मा को आत्मा में ही अन्दर एकाग्र होता हुआ, खींचता हुआ अर्थात् अन्दर लीन होता हुआ, **ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर...** आहाहा! **'सदा गतानुगत ताम्-आयाति' सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है...** आहाहा! यह विकल्प की ओर के झुकाव को छोड़कर, जो विज्ञानघन से पर्याय में भ्रष्ट हुआ था, उसी पर्याय को अन्दर में झुकाव से, विज्ञान ही जिसका एक रस है, उसे विज्ञानघनरस हो जाता है, उसे दूसरा बाकी कुछ रहता नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२५, कलश-९४-९५, दिनांक १३-०५-१९७९, रविवार, वैशाख कृष्ण-२

समयसार कलश ९४, इसका भावार्थ है। **जैसे पानी, अपने पानी के निवासस्थल से किसी मार्ग से बाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर बह निकले फिर किसी ढालवाले मार्ग द्वारा ज्यों का त्यों अपने निवास-स्थान में आ मिले...** यह दृष्टान्त है। **उसी प्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से बाहर निकलकर...** ज्ञान और आनन्दस्वभाव की रुचि छोड़कर मिथ्याश्रद्धा, रागादि का कर्ता और मिथ्यात्वादि का मेरा स्वरूप, ऐसे मिथ्यात्वादि के भाव से स्वभाव से बाहर निकला। ज्ञान और आनन्द स्वभाव, नित्य, सत्ता, अपना मौजूदगी, अस्तित्व देनेवाला प्रभु, उसकी सत्ता का स्वीकार किये बिना मात्र रागादि का स्वीकार, इस मिथ्यात्व के मार्ग से, स्वभाव के मार्ग से वह छूट गया। आहाहा!

मिथ्यात्व के मार्ग से स्वभाव से बाहर निकलकर विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ... एक के बाद एक विकल्प, राग की वृत्तियाँ, उनमें भ्रमण करता था... विकल्परूप **वन में भ्रमण करता...** था। आहाहा! **किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा...** आहाहा! स्वभाव चैतन्य कायम, नित्य ध्रुव और राग परलक्ष्यी कृत्रिम, बन्ध स्वरूप—ऐसे दोनों के भेदज्ञान के लक्षण द्वारा राग का, बन्ध का लक्षण राग, भगवान आत्मा का लक्षण ज्ञान, दोनों के लक्षण भेद से, अन्तर भेदज्ञान करके, आहाहा! भेदज्ञानरूपी **ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ...** अर्थात् कि स्वभाव की दृष्टि और रुचि हुई, वह रुचि ही स्वयं को अन्दर की ओर खींचती है। पानी में जैसे इकट्ठा मिलने से पानी, पानी को खींचकर इकट्ठा मिल जाता है, फिर पानी, पानी को खींचकर प्रवाह में जाता है; इसी प्रकार स्वभाव शुद्ध, पूर्ण स्वभाव, परमात्मा, सत्ता स्वरूप प्रभु की जहाँ दृष्टि, भेदज्ञान हुआ, राग से (भेदज्ञान हुआ), वह अपना स्वभाव ही अब अपनी ओर खींचता है। पर की ओर से छूट गया। स्वसन्मुख के झुकाव में, अपना स्वभाव ही खींचता हुआ, उसे पर की कोई मदद और अपेक्षा राग की-व्यवहार की नहीं है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : त्रिकाली स्वभाव खींचता है या पर्याय?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर्याय, पर्याय... त्रिकाली नहीं।

पर्याय में स्वभाव का राग से भिन्न पड़ा, तो वह पर्याय स्वभाव ऐसा है कि स्वतः खींचता है और अन्तर की ओर जाता है। पर्याय की बात है। पर्याय इसकी ओर ढलती है, अपने स्वभाव को स्वयं अन्दर में खींचती है, जिसे पर की कोई अपेक्षा नहीं। आहाहा! राग या विकल्प या देव, गुरु और शास्त्र, वे भी परद्रव्य हैं, उनकी भी जहाँ (अपेक्षा नहीं), राग से जहाँ भिन्न भेदज्ञान हुआ, वह ज्ञान की पर्याय स्वाभाविक अपनी ओर खींचती है। आहाहा! राग, राग की ओर खिंचता था, एक के बाद एक, एक के बाद एक राग। इस राग के लक्षण को बन्ध लक्षण जानकर, अन्तर अबन्धस्वरूप की ओर के झुकाव को ढलते हुए ढालवाला मार्ग, इस ओर, स्वभाव में ढलता हुआ मार्ग, स्वभाव में झुकता मार्ग, वह मार्ग, मार्ग को खींचकर अन्दर में एकाग्र होता है। आहाहा! ऐसा है।

स्वयं ही अपने को खींचता हुआ, यह तो पर्याय की बात है। दृष्टि भले द्रव्य के ऊपर है, परन्तु पर्याय में राग से भिन्न पड़ा, वह स्वभाव की पर्याय **स्वयं ही अपने को खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभाव में...** देखा? यह त्रिकाल। स्वयं अपने को खींचता हुआ, यह निर्मल पर्याय है, राग से भिन्न पड़ी हुई (निर्मल पर्याय) है। आहाहा!

यह आत्मा आनन्द का सागर, अमाप गुण का भण्डार, इस ओर से झुकाव के कारण, उसकी दशा उसके स्वभाव की ओर खिंचती है। आहाहा! परन्तु सन्मुख का जो खिंचाव राग को अपना जाना था, उसे अपना माना था, इसलिए उसमें इसका खिंचाव था। आहाहा! अपनी मौजूदगी, हयाति, सत्ता का सत्त्व, सत् का सत्त्व, सत् ऐसा प्रभु, उसका सत्त्वपना अर्थात् गुण और अनन्तादि गुण, उसकी दृष्टि के कारण, वह दृष्टि का जोर स्वभाव की खींचता है। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रुत की लब्धि, देश्नालब्धि...?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लब्धि-बब्धि यहाँ नहीं... यह देशना-बेशना लब्धि यहाँ नहीं। वह तो कहीं पर में गयी। देशनालब्धि से हुआ जो ज्ञान, वह भी परलक्ष्यी है। आहाहा! यहाँ तो परसन्मुख के लक्ष्य के झुकाव में था, वह गुलांट मारता है, पलटा

खाता है, क्योंकि पर्याय का पलटने का स्वभाव है, वह जहाँ स्वभावसन्मुख ढलती है, तब वहाँ पलटा खाकर स्वभाव-सन्मुख, देखो! अपने में स्वयं अपने को खींचती, वह दशा, अपने विज्ञानघन, वह त्रिकाल। **अपने विज्ञानघन स्वभाव...** जिसमें विकल्प का अवकाश तो नहीं, परन्तु जिसमें वर्तमान जो पर्याय उस ओर ढलती है, उस पर्याय का भी उसमें अवकाश नहीं। आहाहा! उस ओर पर्याय खिंचती है, **अपने विज्ञानघन स्वभाव में आ मिलता है...** जैसे पानी के पूर में से पानी खिंचकर वन में जाता था, ढालमार्ग से वापस नदी के प्रवाह में चला गया; इसी प्रकार प्रभु का प्रवाह विज्ञानघन है। आहाहा! जैसे नदी का पूरा चलता जाता था, उसमें से पानी का थोड़ा भाग ऐसे निकलकर वन में जाता था, (वह) ढालमार्ग से वापस मिल गया। इसी प्रकार भगवान विज्ञानघन है। (उसका ज्ञान) राग के पर के मार्ग में ढाल गया था, उसे स्वयं अपने स्वभाव-सन्मुख का, राग से भेदज्ञान पड़े हुए भाव से, वह भाव खिंचता हुआ वहाँ प्रवाह में मिल गया, वापस। जो ऐसे बाहर था। ध्रुव प्रवाह... ध्रुव प्रवाह, पानी का प्रवाह ऐसे था, यह ध्रुव प्रवाह, आहाहा! उसमें यह निर्मल पर्याय इसमें ढल गयी, मिल गयी। मिल गयी का अर्थ? ढल गयी है। कहीं पर्याय और विज्ञानघन एक नहीं होते। परन्तु ऐसा जो उन्मुखता और झुकाव था, भेदज्ञान द्वारा विज्ञानघनस्वभाव की ओर झुकाव मिल गया, इसका नाम आत्मा का अनुभव है। इसका नाम यह आया है न गाथा में (कि) उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान नाम प्राप्त होता है।

'व्यपदेशम्' नवरंग व्यपदेशम् शब्द है। आहाहा! यह भगवान अपना विज्ञानघन स्वभाव, उसमें जो वर्तमान पर्याय ऐसे ढलती है, वह अनुभव है, उस अनुभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान 'व्यपदेश', ऐसी संज्ञा वहाँ मिलती है कि यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान। इसमें चारित्र की व्याख्या नहीं, यहाँ तो अकेला सम्यग्दर्शन और ज्ञान। स्वरूपाचरण है, इस बात को गौण रखा है। आहाहा!

मुमुक्षु : आगम प्रमाण श्रद्धा है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम प्रमाण श्रद्धा, वह राग है।

मुमुक्षु : ऐसा तो कोई ही कर सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो राग है।

मुमुक्षु : ऐसा तो दो-चार ही कर सकते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कितने कर सकते हैं, इसका यहाँ काम नहीं। किया जा सकता है, इस प्रकार। अनन्त कर गये अनन्त, किया जा सकता है, तो अनन्त कर गये। आहाहा!

दोपहर में तो नहीं आया था प्रवचनसार में, मुनिराज ऐसा कहते हैं, अरे! पुरुष के प्रेमवाली स्त्री, जैसे पुरुष से मिलने जाती है; उसी प्रकार अन्दर शुभराग से मिलने व्यभिचार की ओर जाता है, आहाहा! उससे मैं विमुख होता हूँ, उसका मैं निकन्दन करने के लिये मैं कटिबद्ध, कमरबद्ध, कमर कसी है। आहाहा! जैसे वह व्यभिचारी स्त्री प्रेमपात्र से मिलने जाती है, आहाहा! उसी प्रकार हम, यह शुभभाव वह व्यभिचारी है, वहाँ जहाँ ऐसे जाता है, अब उसमें उसे उसका निकन्दन करने को हम तैयार हुए हैं। आहाहा!

पंचम काल के पंचम काल में से हजार वर्ष बाद हुए साधु, वे ऐसा पुकारते हैं। आहाहा! हमको ऐसा काल है, इसलिए हम नहीं कर सकते, ऐसा यहाँ नहीं कहा है। आहाहा! चीज़ है, उसे काल ही लागू नहीं पड़ता, प्रश्न क्या? त्रिकाली है, उसे वर्तमान पर्याय भी जहाँ परकालरूप से कही जाती है। आहाहा! उसे पाँचवाँ काल और चौथा काल और हल्का काल है और ढींकणा काल है, वह वहाँ लागू नहीं पड़ता। आहाहा! यह तो शुभभाव का अभाव करने, निकन्दन करने (के लिये) कमर कसी है, ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो मिथ्यात्व का नाश करके समयक्त्व की ओर ढलता है, इतनी ही यहाँ तो बात है, यहाँ तो इतनी ही बात है, १४४ गाथा है न, क्योंकि उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान व्यपदेश—उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान, संज्ञा / व्यपदेश / नाम प्राप्त होता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। यह ९४ (कलश पूरा हुआ)।

कलश–९५

अब कर्ताकर्म अधिकार का उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं; उनमें से प्रथम कलश में कर्ता और कर्म का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं:–

(अनुष्टुप्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ–कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति।।९५।।

श्लोकार्थ : [विकल्पकः परं कर्ता] विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और [विकल्पः केवलम् कर्म] विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य कोई कर्ता–कर्म नहीं है;) [सविकल्पस्य] जो जीव विकल्पसहित है, उसका [कर्तृकर्मत्वं] कर्ताकर्मपना [जातु] कभी [नश्यति न] नष्ट नहीं होता।

भावार्थ : जब तक विकल्पभाव है, तब तक कर्ताकर्मभाव है; जब विकल्प का अभाव हो जाता है, तब कर्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।।९५।।

कलश-९५ पर प्रवचन

(कलश) ९५

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृ–कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति।।९५।।

'**विकल्पकः**' मिथ्यात्व का **विकल्प करनेवाला 'क' है न? 'विकल्पकः'** है, मिथ्यात्व का करनेवाला, ऐसा कहना है। आहाहा! स्वरूप विज्ञानघन प्रभु की ओर के झुकाव को छोड़कर, मिथ्यात्वभाव का करनेवाला ही मिथ्यात्व को करता है, आहाहा! '**विकल्पकः**' यह मिथ्यात्व का करनेवाला ही केवल मिथ्यात्व करता है। आहाहा! ऐसा कहा इसमें कि यह भाई! विकल्प जो मिथ्यात्व का है, वह कोई दर्शनमोहनीय कर्म है, इसलिए यह हुआ है, ऐसा नहीं है। यह विकल्पकः कर्ता, यह मिथ्यात्वभाव ही। आहाहा! अशुद्धभाव ही उसका कर्ता है। अशुद्धभाव, अशुद्धभाव का कर्ता है।

मिथ्यात्व, वह मिथ्यात्व का कर्ता है। ऐसा कहकर कहीं कोई कर्म कर्ता है और इसे कर्म का कठोर उदय आया, इसलिए यह विकल्प आया है और मिथ्यात्व हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

विकल्प करनेवाला ही, मिथ्यात्व करनेवाला ही, राग और अशुद्धता को अपनी माननेवाला; राग चाहे तो शुभ हो... यह तो दोपहर में आ गया है न? वह तो दुःख की विजय को प्रसिद्ध करता है। शुभभाव, पुण्यबन्ध होकर सामग्री मिले, उसकी तृष्णा परसन्मुख ढलती है और दुःख की ओर ही उसका वेग है। आहाहा! वह दुःख को प्रसिद्ध करता है, शुभभाव भी दुःख को प्रसिद्ध करता है, शुभभाव में दुःख की विजय है। आहाहा! उसमें प्रभु की पराजय है। आहाहा!

यहाँ विकल्प ही करनेवाला है ऐसा। **विकल्प करनेवाला ही...** यह मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व का करनेवाला है, ऐसा। कर्म के कारण यह मिथ्यात्व करनेवाले के कारण मिथ्यात्व हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि अपना अस्तित्व ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्तं में ही उसका अस्तित्व समाहित हो जाता है। उत्पाद-व्यय अर्थात् पर्याय और ध्रुव, उसमें ही उसका अस्तित्व समाहित हो जाता है। अब इसके अस्तित्व में अपनी भूल, अपने से होती है, उसके अस्तित्व में उसके अस्तित्व से उसकी भूल स्वयं से होती है। आहाहा! पर को और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं।

विकल्प करनेवाला ही... 'ही' है न? कथंचित् कर्म मिथ्यात्व को करे और कथंचित् मिथ्यात्व, मिथ्यात्व को करे, ऐसा अनेकान्त से कहते हैं, यह ऐसा नहीं है। एकान्त ऐसा है, यही अनेकान्त है। मिथ्यात्व, मिथ्यात्व को करता है और कर्म से वह नहीं होता, यह अनेकान्त है। आहाहा! इतना जोर है। 'कः' शब्द में, '**विकल्पकः**' आहाहा! **विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है।** आहाहा! केवल कर्ता, अकेला कर्ता, वही कर्ता; दूसरा कोई कर्ता, कर्म?—कि नहीं। आहाहा! और '**विकल्प केवलं कर्म**' कर्ता लेना था न, इसलिए '**विकल्पकः**' किया था, अब उसे कर्म बनाना है, कार्य, इसलिए फिर 'कः' की कुछ जरूरत नहीं। विकल्प एक केवल कर्म, मिथ्यात्व ही केवल कार्य है। मिथ्यात्व ही केवल कार्य है। आहाहा! दूसरा कोई कर्ता-कर्म नहीं, दूसरा कोई कर्ता और मिथ्यात्व कर्म, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसका जो अस्तित्व है, उसे पर के अस्तित्व के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अपना जो उत्पाद-व्यय और ध्रुव का जितना अस्तित्व है, उस अस्तित्व में, उत्पाद-व्यय के मिथ्यात्वभाव में करनेवाला वह मिथ्यात्वभाव ही है। स्वभाव-सन्मुख नहीं हुआ, महाप्रभु साथ में विराजता है, आहाहा! पर्याय को अन्तर्मुख में अन्तरात्मा, पूर्ण-आत्मा, ज्ञायकभाव, परम स्वभावभाव विराजता है, उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, आहाहा! पामर के मिथ्यात्वभाव में लक्ष्य में आकर, वह उसका कर्म, कर्ता और वह उसका कार्य, बस! आहाहा! परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। परद्रव्य है, वह भी उत्पाद-व्यय ध्रुववाले हैं। परद्रव्य भी उसके कार्यरहित कभी नहीं हैं, तो उसके कार्य से आत्मा का कार्य हो या आत्मा भी मिथ्यात्व के कार्यकाल में उस मिथ्यात्व का ही कर्ता है, उसका कार्य दूसरा कोई करे तो वह कार्य बिना की दशा हो जाती है, कार्य बिना की दशा, अर्थात् पर्याय बिना का द्रव्य, वह द्रव्य ही नहीं हो सकता। आहाहा!

विकल्प ही केवल कर्म—कार्य है। यह मिथ्यात्वभाव, चिदानन्द प्रभु के स्वीकार का अभाव और अशुद्धता के स्वीकार का सद्भाव, है तो इसके अस्तित्व में पुण्यभावरूप से, वही मिथ्यात्व, वही करनेवाला है, और वही मिथ्यात्व अर्थात् अशुद्धभाव वह उसका कार्य है। आहाहा! अशुद्धता है तीव्र मिथ्यात्व की, इसलिए कोई कर्म के किसी निमित्त के अनुभाग का कुछ जोर था, इसलिए वहाँ हुआ है, उसका जरा भी मिथ्यात्व के कार्य में उसकी कुछ भी मदद है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा शुद्धात्मा अपने आप कैसे भूल करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भूल स्वयं अपने से स्वयं ने भूल की है। शुद्धात्मा तो त्रिकाली है, वह अनादि है, भूल की, वह भी अनादि है। यदि भूल न हो तो आनन्द का वेदन चाहिए। क्योंकि, यह तो भगवान आनन्दस्वरूप है, आहाहा! और उसके कार्य को नहीं करके, राग को करता है, वह स्वतन्त्र करता है। वास्तविक रीति से तो वह मिथ्यात्व और राग षट्कारकरूप से परिणमता हुआ करता है। जिसे पर की अपेक्षा तो नहीं, परन्तु अपने द्रव्य-गुण की अपेक्षा जिसे नहीं। आहाहा! ऐसा वह मिथ्यात्व कर्ता, अशुद्ध, उसका कार्य, वह षट्कारक के परिणमन से होता है। अशुद्ध कर्ता, अशुद्ध कर्म, अशुद्ध

साधन, अशुद्ध अपने लिये किया, अशुद्ध से हुआ, अशुद्ध के आधार से हुआ। आहाहा! इसलिए ऐसा कहा, विकल्प ही केवल उसका कार्य है, राग ही उसका कार्य है, मिथ्यात्व ही उसका कार्य है। आहाहा! कठिन काम, भाई! **अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है...** जरा भी कोई अन्य के अस्तित्व अनन्त है, इससे उसमें कर्ता नहीं।

यह तो भाई आये थे वहाँ मुम्बई, एक रामदास हैं। पचास करोड़, बड़ी कम्पनी, नाम क्या कुछ है? (किलाचन्द) किलाचन्द, पचास करोड़, वैष्णव है, स्त्रियाँ अपनी जैन हैं, श्वेताम्बर। आया था, कर्ता है-कर्ता है। दर्शन करने आया था। नारियल रखा, एक हजार रुपये रखे। मैंने कहा कर्ता है तो इतना समझो, नरसिंह मेहता में तो ऐसा कहा कि 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्हयो नहीं...' वहाँ तो आत्मा पर रखा है, ज्यां लगी ईश्वर और आत्मा जाना नहीं, एक बात। और जब तक आत्मतत्त्व चिन्ह्यो नहीं, यह ऐसा सिद्ध करते हैं कि उस एक तत्त्व के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व भी हैं। भले इस सर्वज्ञ की शैली प्रमाण वहाँ नहीं है, वहाँ तो एक बिना भान के। 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्ह्यो नहीं' वहाँ (आत्मा के) अतिरिक्त दूसरे तत्त्वों को जाना, दूसरे तत्त्व हैं। तेरे तत्त्व के अतिरिक्त ईश्वर तत्त्व है, ऐसा भले तू कहे, परन्तु उसे तूने जाना नहीं और इसे जाना... आहाहा! ऐसा हुआ न इसमें? भाई! तुम शान्ति से विचार करो। अपना अस्तित्व है। अपना असितत्व उत्पाद, व्यय और ध्रुव इतने में ही समाहित हो गया है। अभी भी और त्रिकाल। उसकी अपनी उत्पाद-व्यय की सत्ता की मर्यादा के अतिरिक्त बाहर उसकी मर्यादा कभी जाती नहीं। आहाहा! ऐसे उत्पाद, व्यय और ध्रुववाला। अब उसे तो यह न बैठे, उत्पाद-व्यय और....

परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुव तो है, परन्तु यहाँ उसे भूलकर मिथ्यात्वभाव जो पर्याय में किया है, वह स्वतन्त्र कर्ता होकर किया है। आहाहा! स्वतन्त्र कर्ता होकर किया है और स्वतन्त्र कर्ता होकर तोड़ सकता है। आहाहा! तोड़ सकता है, यह भी एक कथन अपेक्षा है। स्वभाव-सन्मुख ढलता है, इसलिए वह भाव उत्पन्न नहीं होता, उसे तोड़ता है, ऐसा कहना, यह उपदेश की शैली में कहा जा सकता है। आहाहा!

'सविकल्पस्य' जो जीव विकल्प सहित है... आहाहा! जो जीव निर्विकल्प भगवान

विज्ञानघन से संसरणं—हट गया है, संसरण—हट गया है, मिथ्यात्वरूपी संसार है। आहाहा! स्वभाव, विज्ञानघन है, वह मुक्तस्वरूप है, अबन्धस्वरूप कहा, मुक्तस्वरूप। वह पर्याय में बन्धभाव में राग में आया, आहाहा! वह भी स्वतन्त्ररूप से राग का कर्ता होकर कार्य करता है। आहाहा! विवाद है यह सब बहुत... यह कर्म के कारण कुछ होता है, कर्म कुछ न कुछ करता है अन्दर। किसमें करे वह? अपने अस्तित्व में करे या किसी के अस्तित्व में करे? आहाहा! दूसरे के अस्तित्व के उत्पाद-व्यय का अस्तित्व है, और इसका अस्तित्व वहाँ जाता नहीं, इसका उत्पाद-व्यय वहाँ जाये तो यह उत्पाद-व्यय बिना का द्रव्य, द्रव्य ही नहीं रहता। आहाहा! यह अपने ही उत्पाद, व्यय और ध्रुव की सत्ता में ही अनादि-अनन्त स्वयं है। उस सत्ता को भूलकर त्रिकाली सत्ता को। उत्पाद-व्यय भले वह सत्ता उसकी है, परन्तु वह अंशरूप सत्ता है। त्रिकाली महासत्ता प्रभु की, उसे भूलकर, महाप्रभु चैतन्य भगवान परमेश्वर प्रभु, आहाहा! अपने आया था न इसमें? विज्ञानघन एक ही भगवान है, उसमें आ गया है ९३ में, '**विज्ञान-एक-रसः भगवान्**' आत्मा। है? विज्ञान एक रस भगवान, ऐसा जो भगवान। है? आहाहा! वह तो विज्ञानरसघन भगवानस्वरूप है, वह पर्याय में भूल करके, आहाहा! कारण कि दो में से एक तो होवे न? या उसका द्रव्य विज्ञानघन पर लक्ष्य हो या उसका वर्तमान अंश पर (लक्ष्य) हो, सत्ता तो दो ही है। इसलिए या उसका लक्ष्य त्रिकाली के ऊपर हो, तब तो भूल न हो और भूला हुआ है, इसका अर्थ, वह वर्तमान पर्याय में उसकी सत्ता में, उसके अस्तित्व में पूर्ण स्वरूप से विरुद्धभाव ऐसे मिथ्यात्व को स्वयं स्वतन्त्रयप से कर्ता होकर करता है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे दान देकर कितने ही काम सुधार देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी सुधारते नहीं। यह डॉक्टर दवा-बवा करके सुधारते होंगे, ऐसा न...? यह तीनों डॉक्टर रहे। वकील दूसरे को जिता देते होंगे? आहाहा! प्रत्येक द्रव्य का उत्पाद-व्यय और ध्रुव की सत्ता में ही जिसका समावेश है। आहाहा! यह तो वस्तु का स्वरूप है, उसकी उत्पाद-व्यय में भूल करे और टाले। पर के कारण नहीं और स्व के कारण नहीं... त्रिकाली में नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। **जो जीव**

विकल्प सहित है... जैसे त्रिकाली विज्ञानघन है, उसी प्रकार जो जीव रागसहित है, और वही मैं हूँ, ऐसा माना है, आहाहा! ऐसा प्रभु, त्रिकाली विज्ञानघन है, वह है, उस-उस प्रकार से ही है। उससे विरुद्ध जिसने रागसहित है, ऐसा जाना है, **उसका कर्ता-कर्मपना कभी नाश नहीं होता।** आहाहा! श्लोक तो श्लोक है न! आहाहा! जो जिसके स्वरूप में नहीं है, ऐसे राग और मिथ्यात्व को करता है, वह कर्ता-कर्म अपना विकल्प जो करता है, उसका विकल्प कभी नाश नहीं होता, कर्ता-कर्मपना कभी नाश नहीं होता। आहाहा! मिथ्यात्व वह कर्ता और मिथ्यात्व, वह उसका कर्म। आहाहा!

त्रिकाली विज्ञानघन प्रभु, एक समय की उत्पाद-व्यय की स्थिति में जिसकी दृष्टि है, वह उसके उत्पाद-व्यय को करे और वह उसका कर्म-कार्य है, कर्ता-कर्म वहाँ है। आहाहा! समझ में आया? इसका कर्ता-कर्मपना अपने उत्पाद-व्यय के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। **जो जीव विकल्प सहित है...** आहाहा! जैसे विज्ञानघन का कभी नाश नहीं होता, आहाहा! उसी प्रकार मिथ्यात्व का कर्ताकर्मपने का जो कर्ता होता है, वह उसका कर्म, उस कर्ता का कर्ता-कर्मपना नाश कभी नहीं होता। आहाहा! ऐसे गुलांट खाये तो यह नाश नहीं पाता और ऐसे गुलांट खाये तो यह नाश नहीं पाता। आहाहा! ऐसी चीज़ है। **जो जीव विकल्प सहित है, उसका कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।** आहाहा! जैसे त्रिकाली विज्ञानघन प्रभु कभी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार जो मिथ्यात्व के अशुद्धभाव को करे और कर्ता और अशुद्धभाव कर्म, तब तक वह विकल्प सहित है, उसके कर्ता-कर्म। उसका नाश नहीं होता। आहाहा! जब तक उसकी कर्ता-कर्मपने पर बुद्धि है, वह कभी नष्ट—कर्ता-कर्मपना नष्ट नहीं होता, उसमें रहा है, तब तक नष्ट नहीं होता, इसलिए वह तो वही हुआ न? आहाहा!

भावार्थ :- जब तक विकल्पभाव है, तब तक कर्ता-कर्मभाव है। भगवान विज्ञानघन त्रिकाली सत्ता सत् है, उसमें उसकी पर्याय में जब तक राग, एकत्वबुद्धि है, मिथ्यात्वभाव है, आहाहा! तब तक कर्ता-कर्म भाव है। **जब विकल्प का अभाव हो जाता है,...** तब मिथ्यात्व के कर्ता-कर्मपने का अभाव हो जाता है। **तब कर्ता-कर्म भाव का भी अभाव हो जाता है।** मिथ्यात्वभाव का जहाँ अभाव हो, तब ही वह मिथ्यात्व कर्ता और कर्मपने का अभाव होता है। आहाहा!

एक छोटा श्लोक था परन्तु उसमें इतना सब भरा है। 'विकल्पकः कर्ता विकल्प, विकल्पकः' आहाहा! शरीर, वाणी, मन वे भी उत्पाद-व्ययवाले हैं न? तो उनके कर्ता-कर्म उनके उनमें हैं, तो दूसरे के कर्ता-कर्मपने में आत्मा का कर्ता-कर्मपना जरा भी मदद करता है, ऐसा नहीं है। जैसे जीव के उत्पाद-व्यय के मिथ्यात्व के कर्ता-कर्मपने में दूसरे द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला भले हो परन्तु इसके कर्ता-कर्मपने में उसकी मदद नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है।

यह तो कहे सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, करो... करो... करो...

मुमुक्षु : करोति क्रिया हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभु! जब तक करो... करो है, तब तक कर्ता-कर्मपने का नाश नहीं होता। आहाहा! और जब वह कर्ता-कर्मपने का नाश होता है, आहाहा! तब उस कर्ता-कर्मपने का एक अंश भी उत्पाद-व्यय में नहीं रहता। आहाहा! अर्थात् कि जब विज्ञानघन, भगवान सत्ता महाप्रभु की, उसकी सत्ता के स्वीकार में जहाँ आया, तो मिथ्यात्व का कर्ता-कर्मपना नष्ट हुआ, मिथ्यात्व का कर्ता-कर्मपना नाश हो गया, आहाहा! अर्थात् कि विज्ञानघन भगवान... यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात है, १४४वीं है न यह! पाठ में यह है न सम्यग्दर्शन-ज्ञान 'व्यपदेशम्', नवरंग व्यपदेशे, नवरंग शब्द है, केवल उसे नाश प्राप्त होता है प्रभु! आहाहा!

पूर्णानन्द का नाथ महाप्रभु, आहाहा! उसमें जिसका स्वभाव का सत्कार स्वीकार हुआ, आहाहा! उस दृष्टि और उस ज्ञान को ही सम्यग्दर्शन और ज्ञान, संज्ञा / नाम दिया जाता है। आहाहा! व्यवहार समकित और व्यवहार दर्शन, यह बात भी नहीं की। उसे ही नाम दिया जाता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार कहाँ गया इसमें? आहाहा! व्यवहार समकित चाहिए....

मुमुक्षु : मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नाम दिया जाता है या वास्तविक है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नाम दिया जाता है, इसका अर्थ ऐसा है कि उसे ही कहा जाता है, ऐसा। इसके अतिरिक्त दूसरे को नहीं, ऐसा कहना है। उचित तो उचित है, परन्तु सम्यग्दर्शन और ज्ञान उसे ही कहा जाता है, उसे ही नाम दिया जाता है, वही वस्तु

है, इसके अतिरिक्त दूसरी किसी भी प्रकार से सम्यग्दर्शन और ज्ञान का नाम भी नहीं दिया जा सकता।

मुमुक्षु : यह राग का त्याग किया, वह नाममात्र है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम नहीं.... वस्तु अर्थात् उसे ही नाम दिया जाता है, ऐसा अर्थात् वस्तु ऐसी है...

मुमुक्षु : यह राग का त्याग किया, वह नाम दिया जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तब ही उसे नाम दिया जाता है, नहीं तो उसे नाम भी नहीं है, ऐसा कहते हैं।

यह कल बहुत कहा था। बहुत सूक्ष्म ली थी १४४ (गाथा)। एक-एक शब्द के अर्थ में बहुत सूक्ष्म गया था। आहाहा! दोपहर में बहुत सूक्ष्म लिया था। पुण्य-पाप का भाव, शुभभाव दुःख को प्रसिद्ध करता है, प्रेमवाली स्त्री जैसे प्रेमी से मिलने जाती है, उसी प्रकार जिसे शुभभाव का प्रेम है, आहाहा! वह वहाँ करने जाता है। आहाहा! आचार्यों के शब्द एकदम मन्त्र हैं—एकदम मन्त्र हैं। थोड़े में बहुत कहा है। थोड़ा लिखा, थोड़ा कहा, बहुत जानना। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जिसे बहुत नाम लागू पड़ते हैं, उसे परमात्मा कहा जाता है, ज्ञानात्मा कहा जाता है, १४४ अन्त में, अन्तिम लाईन—प्रत्यग्ज्योति कहा जाता है, यह तो सब अभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान की दशा की बात है। परमात्मा कहा जाता है, ज्ञानात्मा कहा जाता है। आहाहा!

यह श्रुतज्ञानी को विकल्प आवे, तथापि उसके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ है। आहाहा! भगवान तो नय को जानते हैं न? जानते हैं, इसका अर्थ उन्हें नय कहाँ है? पाठ तो ऐसा आवे कि भगवान नयपक्ष को जानते हैं अर्थात् कि जैसे सब जानते हैं, वैसे नयपक्ष है और जानते हैं, ऐसा वहाँ नहीं लेना। इसी प्रकार यहाँ आत्मा अपने स्वरूप को अनुभव के काल में, उस समय—ऐसा शब्द है न? उस समय नयपक्ष को बिल्कुल जानता है, अर्थात् कि है नहीं, ऐसा। आहाहा!

जैसे भगवान को श्रुतज्ञान के विकल्प नहीं हैं, उसी प्रकार परमात्मा के भान में आये हुए की पर्याय में भी वे विकल्प नहीं हैं। श्रुतज्ञान में विकल्प नहीं, श्रुतज्ञान की

समाधि सुख है। विकल्प है, वह तो आकुलता है, परन्तु श्रुतज्ञान सम्बन्धी वहाँ सुख है। आहाहा! केवली नयपक्ष को जानते हैं न, यह भी जानता है, जानने का अर्थ (यह कि) वहाँ नयपक्ष नहीं है और यहाँ भी नयपक्ष नहीं है। आहाहा! स्वभाव-सन्मुख हुआ, इसलिए केवल जानता ही है। जानता है अर्थात्? जानने की नयपक्ष की विकल्पदशा है और जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसे नहीं, ऐसा जानता है। आहाहा! उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नाम दिया जाता है। आहाहा! क्या शैली! अब यहाँ यह मुद्दे की बात नहीं मिले और ऊपर से यह क्रिया करो, चारित्र पालन करो, व्रत पालन करो, मुनिपना लो, आहाहा! अरे! प्रभु! तू अभी...

मुमुक्षु : पालीताणा में साधु-भगवन्तों के झुण्ड के झुण्ड विराजते हैं, परन्तु कोई ऐसी बात नहीं करते?

पूज्य गुरुदेवश्री : है कहाँ बापू! कहीं नहीं भाई! यह तो हमको सब खबर है। अपने क्या कोई व्यक्ति को... यह चीज़ ही कोई... तीन लोक का नाथ, वीतराग परमेश्वर का यह हुकम है, वह यह रीति है। आहाहा!

वह तो यह यात्रा करो, इतना ऐसा निन्यानवें (बार) करो, दान करो, यात्रा करके नीचे साधु को आहार दे तो महान-लाभ, आता है न? शत्रुंजय माहात्म्य आता है, खबर है न! आहाहा! अरे! भगवान बापू! परमात्मा का विरह पड़ा, परमात्मा होने की दशा का विरह पड़ा। आहाहा! परमात्मा भले न हो अभी, परन्तु केवलज्ञानदशा होने का विरह पड़ा। अरे, प्रभु! आहाहा! अवधिज्ञान का विरह पड़ गया। आहाहा! एक श्रुतज्ञान रह गया, उसका विरह नहीं है। आहाहा! वह इस श्रुतज्ञान में यह सब ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

अरे! एक बार सुने तो सही, प्रभु! यह तो जैनधर्म कोई पन्थ नहीं, कोई पक्ष नहीं, कोई वाडा नहीं; यह तो वस्तु की जो स्थिति है, वह जैनधर्म है। आहाहा! धर्मपिता ने वस्तु के स्वरूप का वर्णन किया है, कोई पन्थ और पक्ष नहीं यह कोई। जैन कोई वाड़ा है और दूसरा यह वाड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! तीन लोक के नाथ पिता, परमपिता ने वस्तु का जिस प्रकार से द्रव्य-गुण और पर्याय है उसकी पर्याय में अस्तित्व की भूल

उसकी कैसे है और उस अस्तित्व में की भूल टालकर पूर्ण अस्तित्व को कैसे स्वीकार ता है, आहाहा! उसका भगवान की वाणी में उपदेश आया है। प्रभु तीन लोक के नाथ।

यहाँ यह कहते हैं, आहाहा! जब तक यह दया-दान का तो नहीं, परन्तु मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, मुक्त हूँ, ऐसा एक विकल्प-राग है, ऐसे विकल्पवाले का कर्ता-कर्मपना टलता नहीं, ऐसा कहते हैं। दूसरे कर्ताकर्म दया पालना, यह बात तो है ही नहीं, दया तो पाल सकता ही नहीं, परन्तु दया का भाव आवे वह राग, वह हिंसा है। उस राग का कर्तृत्व मेरा है, वहाँ तक वह मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसी बात... सहन होना मुश्किल है...

मुमुक्षु : आत्मा के विकल्प की पराकाष्टा करे तो अनुभव हो जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : पराकाष्टा से अनुभूति होगी नहीं। यह है... वह है, इस पर दृष्टि देने से केवलज्ञान और केवलदर्शन है, वह पराकाष्टा नहीं है। वह पूरी वस्तु... वस्तु... वस्तु... केवलज्ञान की पर्याय तो अनन्त पर्यायें ज्ञानगुण में पड़ी हैं। आहाहा! ऐसे-ऐसे अनन्त गुणों का समुद्र, सागर अरूपी महासमुद्र प्रभु, स्वयंभूरमण समुद्र है यह। आहाहा! उसका जिसने आदर होकर विकल्प तोड़ा, आहाहा! उसे अब कर्ता-कर्मपना नहीं रहता... विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२६, कलश-९५ से ९७, दिनांक १४-०५-१९७९, सोमवार, वैशाख कृष्ण-३

समयसार, (९५) कलश हो गया। भावार्थ जरा सा बाकी था। **जब तक विकल्प भाव है...** आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव की जहाँ तक दृष्टि नहीं। त्रिकाली स्वभाव-सन्मुख हुआ नहीं, तब तक विकल्पभाव है। आहाहा! क्योंकि त्रिकाली स्वभावघन, ध्रुव, नित्य स्वभाव में तो कोई विकल्प का अवकाश नहीं, शुभ-अशुभ किसी भी विकल्प का अवकाश नहीं। जब तक विकल्प भाव, वस्तु, ज्ञाता, ज्ञायक चीज़ ज्ञायक की ओर का झुकाव जहाँ नहीं, तब तक विकल्प भाव है। आहाहा! और **तब तक कर्ताकर्मभाव है।** क्योंकि ज्ञाता, त्रिकाली, ज्ञायकस्वभाव दृष्टि में नहीं लिया, तब तक वह राग का, विकल्प का कर्ता-कर्म है। आहाहा!

जब विकल्प का अभाव हो जाता है,... अर्थात् कि विज्ञानघन स्वरूप प्रभु की सन्मुखता हो, तब विकल्प का अभाव हो जाता है, **तब कर्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।** ज्ञायक चीज़ है ज्ञान चीज़ ज्ञान। ज्ञान का स्वभावभाव रसकन्द, नित्यानन्द प्रभु का जहाँ तक सन्मुखता का भाव नहीं, तब तक कर्ताकर्मभाव है, उसके सन्मुख का भाव हुआ, वह ज्ञाता-दृष्टा है। वहाँ राग की उत्पत्ति होने पर भी, उसका वह कर्ता नहीं; वह ज्ञाता-दृष्टा है। आहाहा! **कर्ताकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।**

यह ९५ (कलश पूरा हुआ)।

कलश-९६

अब कहते हैं कि जो करता है, सो करता ही है और जो जानता है, सो जानता ही है:-

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।९६।।

श्लोकार्थ : [यः करोति सः केवलं करोति] जो करता है, सो केवल करता ही है [तु] और [यः वेत्ति सः तु केवलम् वेत्ति] जो जानता है, सो केवल जानता ही है; [यः करोति सः क्वचित् न हि वेत्ति] जो करता है, वह कभी जानता नहीं [तु] और [यः वेत्ति सः क्वचित् न करोति] जो जानता है, वह कभी करता नहीं।

भावार्थ : जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं।।९६।।

कलश-९६ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो करता है, सो करता ही है और जो जानता है, सो जानता ही है :- ९६ (कलश)

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित्।।९६।।

आहाहा! **जो करता है, सो मात्र कर्ता ही है।** 'करे कर्म सो ही करतारा' जहाँ विकल्प का राग है, और उसके ऊपर दृष्टि है अर्थात् कि जहाँ तक पर्यायबुद्धि में राग में ही उसका अस्तित्व माना है, तब तक वह करता है। तब तक उसे ज्ञातापने की खबर नहीं, ज्ञायक स्वभाव त्रिकाली आनन्द और ज्ञान का चौसला है वह पूरा। आहाहा! ध्रुव। उसका जब तक अस्तित्व का अनुभव हुआ नहीं, आहाहा! तब तक करता है, वस्तु में कोई कर्तापना है नहीं परन्तु वस्तु की खबर नहीं, इसलिए राग का या विकल्प का या दया-दान का कोई भी विकल्प वहाँ करता है, वह कर्ता है। कर्ता है, तब तक करता है। आहाहा! और **'यः वेत्ति सतु केवलम् वेत्ति' जो जानता है सो मात्र जानता ही है।** वस्तु, ज्ञाता-दृष्टा ज्ञायकस्वभाव, ऐसा जहाँ अन्दर लक्ष्य दृष्टि हुई अर्थात् ज्ञायक का जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ से वह जाननेवाला-देखनेवाला रह गया, हो गया। आहाहा! उसे फिर रागादि होने पर भी, उनका अपने अस्तित्व में रहकर जानने-देखनेवाला रहता है। आहाहा! ऐसी बात है।

जो जानता है,... ज्ञायकस्वभाव, त्रिकाली जहाँ दृष्टि में आया, वस्तु है। अस्ति, वह अस्तिरूप से सत् का जहाँ ज्ञान हुआ, तब तो वह जाननेवाला रहता है। उसे रागादि होने पर भी उसका कर्तृत्वपना उसमें नहीं है उसे, क्योंकि ज्ञानभाव नित्य, नित्यानन्द प्रभु, ऐसे नित्य स्वभाव को जहाँ देखा, जाना, उसकी दशा में तो जानने-देखने के ही परिणाम होते हैं। आहाहा! **जानता है, वह मात्र जानता ही है...** ऐसा। उसमें जरा भी राग का कर्ता (नहीं होता)। सम्यग्दृष्टि हुआ, ज्ञायकस्वभाव ध्रुव चैतन्यदल, वह जहाँ दृष्टि में आया और उसकी ओर का झुकाव हुआ, इसलिए फिर चाहे जो भाव आवे, शुभाशुभ, वह अपने में उस काल में अपने जानने की पर्याय को और उसे जानने की पर्याय का स्वतः उत्पन्न, स्वयं स्वतः सिद्ध होता है। वह रागादि आवे व्यवहार से शुभराग भी हो, परन्तु इससे उसे उसके कारण यहाँ जानना-देखना नहीं है। जानने-देखने का स्वभाव ही ज्ञातापने के स्वभाव को जहाँ जाना, अर्थात् उसकी पर्याय में स्वपरप्रकाशक की पर्याय स्वतः पर की अपेक्षा बिना वह स्वतः जानने की ही पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! ऐसा है...

मुमुक्षु : इसमें सुख कहाँ आया सुख?

पूज्य गुरुदेवश्री : हें?

मुमुक्षु : सुख कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख कहाँ है? दुःख, दुःख कहीं नहीं।

मुमुक्षु : सुख....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जानना, वह सुख है।

त्रिकाली ज्ञायक, ध्रुव ज्ञायक, वस्तु, ज्ञायक ध्रुव, उस ओर जहाँ ढला तो उसे आनन्द की ही पर्याय प्रगट होती है। यहाँ तो जानने-देखने की बात ली है न? कर्ता नहीं और जानता है। जानता है, वह कर्ता नहीं और कर्ता है, वह जानता नहीं, इतना सिद्ध करना है न? परन्तु जानने के समय उसे अनन्त गुण की पर्याय प्रगट है। आहाहा! क्योंकि केवल जानता ही है, इसका अर्थ कि मैं अकेला ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञायकभाव, उसकी जहाँ अन्तर सन्मुखता हुई, इसलिए जितने गुण उसमें है, उतने सब गुणों की एक समय

की पर्याय में व्यक्तरूप से प्रगटरूप से वेदन में आवे और उसके कारण जाननेवाले-देखनेवाले के परिणाम को और उसके वेदनवाली की अपेक्षा से रागादि हों, तथापि वह पररूप से, उनका ज्ञान स्वतः अपने से, उनकी अपेक्षा रखे बिना अपना ज्ञान होता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा है। अन्तिम श्लोक है न? **जो जानता है...** आहाहा! अर्थात् कि प्रभु! तू तो ज्ञायक, ज्ञायक का रसकन्द है न! आहाहा! वस्तुरूप से तो ज्ञायक का रसकन्द है, उस वस्तु की सन्मुखता हुई, इससे उसे तो उसमें जो है, उसका जानना और देखना ऐसा उत्पन्न होता है। आहाहा! द्रव्य और गुण वह ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें सन्मुख से पर्याय में भी उसके ज्ञाता-दृष्टापने की पर्याय प्रगट होने से, वह केवल जानता ही है। जरा भी राग के अंश को, भले आवे अशुभ, उसका वह जाननेवाला है, करनेवाला नहीं। यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। ज्ञान की अपेक्षा से वापस कथन करे, तब ऐसा चलता है कि जितने प्रमाण में परिणमन है, उतना वह कर्ता है। कर्ता अर्थात् करनेयोग्य है, ऐसा नहीं; (परन्तु) परिणमन अर्थात् कर्ता, ऐसा। आहाहा!

ज्ञायकस्वभाव, भगवान परिपूर्ण प्रभु विराजता है, आहाहा! उसका जहाँ अन्तर स्व-सन्मुख होकर स्वीकार हुआ, उसकी पर्याय में तो जो यहाँ वस्तु में था, वह ज्ञान की पर्याय उसे प्रगटावे, उसमें कोई राग और द्वेष कहीं वस्तु में नहीं और गुण में नहीं। आहाहा! तथापि पर्याय की निर्बलता के कारण राग-द्वेष होते हैं, वे पररूप से, उस काल में ज्ञान की पर्याय—ज्ञाता की पर्याय, षट्कारकरूप से परिणमती हुई, पर की अपेक्षा बिना खड़ी होती है। आहाहा! इससे वह कर्ता-कर्मपना भी उसका ज्ञान की पर्याय में कर्ता-कर्मपना सब समाहित हो गया, राग में कर्ता-कर्मपना उसमें आया नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

जो करता है, वह कभी जानता नहीं,... आहाहा! अर्थात् कि जिसकी दृष्टि राग के अस्तित्व के ऊपर है, वह करता है, वह वस्तु क्या है, उसे वह जानता नहीं। आहाहा! करता है, जो वस्तु में नहीं, ऐसे विकल्प और राग को, चाहे तो दया-दान में चाहे जो विकल्प हो, उसे करता है। मैं परिणमता हूँ, करनेयोग्य है, ऐसा करके परिणमता

है। आहाहा! **जो करता है, वह कभी जानता नहीं,...** क्योंकि उसकी राग और विकार पर रुचि और आधार वहाँ ही उसका है; इसलिए करता है, वह ज्ञाता-दृष्टापने को कुछ जानता नहीं। आहाहा! रौद्रध्यान हो तो भी स्वभाव, ज्ञायक का दल पूरा ज्ञायकघन है, उसका जहाँ स्वीकार हुआ, आहाहा! उसकी सन्मुखता हुई, राग की विमुखता हुई, वह केवल जानता ही है।

यहाँ जो करता है, वह कभी जानता नहीं, पहले यह लिया है। जो राग के अंश को भी स्वसत्ता के पूर्णता के अभान में राग की सत्ता का ही अस्तित्व स्वीकार करके, जो राग को करता है, वह ज्ञायक की सत्ता का स्वीकार का उसे अभाव है, इसलिए वह जानता नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश अब। आहाहा!

मुमुक्षु : वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तुस्थिति ही ऐसी है, बापू! आहाहा!

वस्तु पूरी पड़ी है न, प्रभु! नित्य... नित्य... नित्य... ध्रुव अकेला ज्ञायक और आनन्द का कन्द, अकेले पूर्ण शुद्ध स्वभाव का रसकन्द पूरी चीज़ पड़ी है न ऐसी की ऐसी। आहाहा! उसके ऊपर जिसकी दृष्टि नहीं, उसका स्वीकार नहीं और राग के विकल्प का कर्ता है, वह उसका जाननेवाला नहीं होता **और जो...** जाननेवाला **जानता है वह कभी करता नहीं।** आहाहा! कभी है? **'यह वेत्ति स् क्वचित न करोति'** किसी समय भी करता नहीं। आहाहा! ज्ञायकस्वरूप, चिद्घन दल, ज्ञान के ध्रुव का प्रवाह, ज्ञान ध्रुव प्रवाह, आनन्द ध्रुव प्रवाह, शान्ति का ध्रुव प्रवाह पूरा पिण्ड प्रभु, उसे जिसे जानने में अन्तर में आया, वह केवल जानता ही है, वह बिल्कुल करता नहीं। आहाहा! 'करे करम सो ही करतारा, जो जाने सो जाननहारा, जाने सो करता नहीं होई, करता सो जाने नहीं कोई' वह यह है। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब।

अब वह कहे शुभभाव है, वह अभी है। अरे प्रभु! कहाँ ले जाता है, बापू! पूरे अस्तित्व का अव्यक्तरूप से भी, व्यक्तरूप से तो ठीक, अव्यक्तरूप से भी निषेध करता है। आहाहा! चीज़ है या नहीं? स्वयं तत्त्व है या नहीं तत्त्व? अस्ति है, तत्त्व है, वस्तु है, बसे हुए गुणोंवाला घन, पिण्ड, तत्त्व है, उसके सन्मुख देखने पर अर्थात् कि उसका

स्वीकार होने पर उसे शुभराग का पक्ष, वह कर्ता नहीं होता। आहाहा! वह शुभराग को जानता है, ऐसा कहना वह भी एक व्यवहार है। आहाहा! वह ज्ञायक दल है प्रभु, आहाहा! उसके स्वीकार से जो ज्ञान और दर्शन और आनन्द की पर्याय आयी, वह राग, अशुभ और रौद्रध्यान भले हो, परन्तु वह जाननेवाला जरा भी, कभी भी करता नहीं। आहाहा! और करनेवाला कभी स्व को जानता नहीं। आहाहा! ऐसा है।

भावार्थ :— जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं... भाषा बहुत संक्षिप्त परन्तु प्रभु! अन्दर रहस्य बहुत है। आहाहा! राग का एक सूक्ष्म विकल्प उठता है, उसके अस्तित्व के ऊपर उसमें इतनी सत्ता की मौजूदगी के ऊपर जिसकी दृष्टि है, आहाहा! वह कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं। भावार्थ (है)। आहाहा! **और जो ज्ञाता है...** भगवान पूरण आनन्द अनन्त गुण का पिण्ड, दल पूरा, ध्रुव, नित्य, ज्ञायकभाव, स्वभाव, उसका जहाँ स्वीकार है, वह बिल्कुल कर्ता नहीं, वह ज्ञाता है, **वह कर्ता नहीं।** आहाहा! भाषा भले सादी है, परन्तु अन्दर बहुत रहस्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : आनन्द ने आनन्द का कार्य किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्द होता है, उसे करूँ यह प्रश्न नहीं है... वह तो समझाना है न! वास्तव में तो द्रव्यस्वभाव ज्ञायक, दल पूरा जो है, पूरण प्रभु, उसमें एक भाव नाम का गुण है, इसलिए उसके द्रव्य का, ज्ञायकभाव का स्वीकार होने पर, उसके अनन्त गुण की पर्याय वर्तमान निर्मल होती ही है... करूँ तो हो और न करूँ तो न हो, यह वहाँ है ही नहीं। आहाहा! मार्ग गजब, बापू! आहाहा! भाव नाम का एक गुण है इसमें। 'भाव' नाम का गुण है, शुभ नहीं, 'भाव' शुभ अर्थात् भला, यहाँ अभी इतना इसका मेरा अर्थ। 'भाव' जो अन्दर त्रिकाली, आहाहा! वह मोक्षमार्ग को शुभ कहा है न वहाँ? उसको (पुण्य-पाप को) अशुभ कहा है, वह शुभ अर्थात् ही शुद्ध है, शुभ अर्थात् अच्छा है। वह यह शुभराग, वह नहीं। आहाहा!

भगवान अनन्त शुद्ध स्वरूप, शुद्ध स्वरूप का जहाँ स्वीकार हुआ, पर्याय में उसका अनन्त काल से आदर नहीं था, तब तक उसे पर्यायबुद्धि में राग का कर्ता होता था, जहाँ पर्याय में त्रिकाली का स्वीकार हुआ, उस काल में वह जरा भी राग का कर्ता नहीं होता, क्योंकि उसके गुण में कोई राग का करना, ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए

उसकी पर्याय में भी राग का करना, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह तो वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। ऐसा वस्तु का स्वरूप न समझे और बाहर से सिरपच्ची में यह क्रिया और यह क्रिया, यह बड़े मानस्तम्भ बनाओ और पाँच-पच्चीस लाख उसमें खर्च करो, और बड़ा भभका करना हो, लोग दस-बीस लाख इकट्ठे हों, अरे प्रभु! उसमें क्या है? बापू! तू जहाँ है, वहाँ प्रभु विकल्प जहाँ नहीं। आहाहा! उसे यह सब देखकर तुझे हर्ष आवे और अनन्त आनन्द का नाथ चोसला पूरा पड़ा है, प्रभु नित्य ध्रुव, उसे देखने का अनादर हो और बाहर की भभक देखकर तुझे हर्ष आवे। आहाहा! उसे आत्मा के स्वभाव का अनादर होता है। भले वह साधु हो, आहाहा! और हजारों रानियाँ छोड़ी हों, दुकान की करोड़ों की आमदनी छोड़कर बैठा हो, परन्तु अन्दर में जिसे अभी बाहर के पदार्थों का भभका और उसकी अधिकता जहाँ भासित होती है, आहाहा! उसे आत्मा की हीनता भासित होती है।

और जिसे आत्मा की अधिकता '**णाण सहावा**' आया न? ३१वीं गाथा। '**णाण सहावाधियं मुणदि आदं।**' ज्ञानस्वभाव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव जिसे अधिक है, अर्थात् पर से भिन्न है, राग से भिन्न है और अधिक है अर्थात् पूरा है, और अधिक है अर्थात् भिन्न है, पूरा है। आहाहा! अधिक जाने ज्ञान सवभाव को अधिक जाने, राग से भिन्न जाने, राग से भिन्न जाने, राग से पृथक्, पूरा जाने। आहाहा! उसे 'जिन' कहते हैं, वहाँ भले मुनि लिया है, परन्तु वह मुनि में मूल तो शुरुआत करने की है, चौथे गुणस्थान से। आहाहा! उस चौथे गुणस्थान में भी 'जिन' है, वह 'जिन' है। आहाहा! यहाँ यह कहते हैं, कि **कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं।** एक शब्द में कितना भरा, लो! **और ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं।** कैसे हो सकता है? वस्तु का स्वभाव जहाँ है। आहाहा! ज्ञायक, आनन्द, शान्त, शुद्ध, प्रभुत्व, ईश्वरता आदि शक्तियों का सागर, उसकी जहाँ राग और पर्याय से अधिकता अर्थात् भिन्नता भासित हुई, वह कर्ता नहीं और ज्ञाता, वह कर्ता नहीं और कर्ता, वह ज्ञाता नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियायें भिन्न हैं। ९७ (कलश)।

कलश–९७

इसी प्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं:–

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्ति: करोतौ न हि भासतेऽन्त:
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त: ।
ज्ञप्ति: करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति तत: स्थितञ्च ।।९७।।

श्लोकार्थ : [करोतौ अन्त: ज्ञप्ति: न हि भासते] करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती [च] और [ज्ञप्तौ अन्त: करोति: न भासते] जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [तत: ज्ञप्ति: करोति: च विभिन्ने] इसलिए ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न है; [च तत: इति स्थितं] और इससे यह सिद्ध हुआ कि [ज्ञाता कर्ता न] जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ : जब आत्मा इस प्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ', तब तो वह कर्ताभावरूप परिणमनक्रिया के करने से अर्थात् 'करोति'–क्रिया के करने से कर्ता ही है और जब वह इस प्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ', तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया के करने से ज्ञाता ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत–सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक चारित्रमोह का उदय रहता है, तब तक वह कषायरूप परिणमन करता है; इसलिए उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं?

उसका समाधान :– अविरत–सम्यग्दृष्टि इत्यादि के श्रद्धा–ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है; जो कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलवत्ता के कारण है; वह उसका ज्ञाता है; इसलिए उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है, वह संसार का कारण नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे–प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी समझना।।९७।।

कलश-९७ पर प्रवचन

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितञ्च ।।९७।।

आहाहा! '**करोतौ अन्तः ज्ञप्तिः न हि भासते**' **करनेरूप क्रिया के भीतर...** जब परिणति ली, क्रिया ली। जो राग की चाहे तो दया-दान की, व्रत की क्रिया का राग हो, उस करनेरूप क्रिया के भीतर, परिणति। आहाहा! पर्याय-क्रिया ली। आहाहा! **करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती...** उसकी क्रिया ली, देखा! आहाहा! राग में शुभ-अशुभराग की क्रिया के कर्तापने में, जाननेरूप क्रिया उसमें नहीं होती, इसलिए भासित नहीं होती। क्या कहा? जिसे अन्दर राग का भाव ही भासित होता है, उसे जाननेरूप क्रिया वहाँ होती नहीं, इसलिए भासित नहीं होती। आहाहा! ऐसी बात है।

उसका उत्पाद-व्यय और ध्रुव, उसमें ही सब बातें हैं। उसे पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं होता। आहाहा! उसकी उत्पाद-व्यय की पर्याय भी वहाँ (उसके) ऊपर जहाँ दृष्टि है, तब तक उसे ज्ञाता त्रिकाली है, उसकी खबर नहीं, इसलिए वह पर्याय उत्पाद-व्यय पर्याय की बुद्धिवाला राग का कर्ता हो, उसमें ज्ञाता की क्रिया नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : निष्काम कर्म नहीं हो सकता?

पूज्य गुरुदेवश्री : निष्काम था कब? निष्काम यह वे लोग कहते हैं, गीता, निष्काम। मिथ्या बात है। करने का भाव और फिर निष्काम, दोनों कहाँ है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, वह सर्वज्ञ परमेश्वर प्रभु तू है। आहाहा! जिस सर्वज्ञ परमेश्वर को जिसने माना नहीं, उसे करने की क्रिया में से सर्वज्ञ स्वभाव भासित नहीं होता। आहाहा! करनेरूप क्रिया-परिणति ली। बहुत संक्षिप्त।

जिसे राग का अंश है, भले छोटा, आर्तध्यान-रौद्रध्यान, दया का, दया का भले हो, व्रत का हो, भगवान की भक्ति का हो। उसकी क्रिया की जो क्रिया है, उसकी जिसे भासित होती है, वह क्रिया मेरी है, ऐसा जिसे भासित होता है, आहाहा! उसे जाननेरूप क्रिया नहीं होती। होती नहीं, इसलिए भासित नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश अब किस प्रकार? आहाहा! लोग फिर एकान्त कहे न सोनगढ़वालों का। सोनगढ़ का एकान्त है, ऐसा है। अरे प्रभु! तूने सुना नहीं, प्रभु! भाई! आहाहा! तेरी महत्ता की बात प्रभु! तेरी वाणी में न आवे, ऐसा महाप्रभु है, ऐसी प्रभुता जिसे भासित हुई है, आहाहा! उसकी क्रिया में राग की क्रिया भासित नहीं होती, इसलिए होती नहीं, यह फिर आया न? पहले आया, करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती। पर्यायबुद्धि में राग के अंश की क्रिया के अस्तित्व के ऊपर स्वीकार होने से, उसे जानने की क्रिया होती नहीं, इसलिए उसे ज्ञाता हूँ, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा!

करने की क्रिया में जानने की क्रिया नहीं होती; जानने की क्रिया में करने की क्रिया नहीं होती। आहाहा! करनेरूप क्रिया के अन्दर में पर्याय ली है। क्रिया, कारकों की क्रिया है न? क्रिया के छह कारक हैं न? छह कारक हैं न, कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, (अपादान और अधिकरण) यह क्रिया के हैं, ध्रुव के नहीं। ध्रुव में तो त्रिकाल पड़े हैं, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह परिणमती पर्याय, क्रिया के षट्कारक होते हैं। आहाहा! अब यह जिसे करनेरूप क्रिया राग की क्रिया है, जिसे उसका षट्कारकरूप से राग की क्रिया में करने में भासित होता है, उसमें ज्ञातापने की पर्याय नहीं होती, इसलिए भासित नहीं होती।

और **'ज्ञप्तो अन्तः करोतिः न भासते' जाननेरूप क्रिया के भीतर...** जानने-देखनेवाला भगवान, चक्षु—जगत का चक्षु है, जगत की आँख है, ऐसा जो चैतन्य स्वभाव, ऐसी जो अन्तर की उसकी क्रिया। जाननेवाला त्रिकाल है, उसकी जो परिणति—क्रिया हुई, आहाहा! उसमें **करनेरूप क्रिया...** नहीं होती, **भासित नहीं होती...** अर्थात् वह होती ही नहीं, होवे तो जाननक्रिया में करने की क्रिया होती नहीं और करने की क्रिया में जानने की क्रिया होती नहीं। पर्याय के अन्दर की बातें कीं... जाननक्रिया अर्थात् स्वभावसन्मुख की क्रिया जो जानन है, उसमें राग की क्रिया भासित नहीं होती,

अर्थात् कि होती नहीं और जहाँ राग की क्रिया भासित हो कि मैंने यह किया, मैंने पुण्य किया, मैंने दया पालन की, मैंने यह किया, दया पालना तो फिर एक ओर रहा, यह तो दया का भाव है, वह मैंने किया, आहाहा!

मुमुक्षु : उपवास भी करे और शास्त्राभ्यास भी करे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब विकल्प है। शास्त्राभ्यास, वह परद्रव्य का अभ्यास है। स्व के आश्रय से करे, वहाँ आगे वह जोर स्व का है। जहाँ मात्र शास्त्राभ्यास में रुका स्व के लक्ष्य बिना, तो यह तो ग्यारह अंग का ज्ञान किया, वह भी अज्ञान है। आहाहा!

यहाँ तो दो बातें हैं, जो राग की क्रिया वर्तमान विकल्प की क्रिया, राग का मैल भासित होता है, कि यह क्रिया मेरी है, ऐसा भासित होता है, वहाँ ज्ञाता की क्रिया नहीं होती इसलिए कहाँ से भासित हो? आहाहा! और जहाँ ज्ञाता की क्रिया भासित होती है, जाननेवाले-देखनेवाले का परिणमन जहाँ हुआ, वह परिणमन क्रिया भासित होती है, वहाँ राग की क्रिया होती नहीं, इसलिए वहाँ राग की क्रिया भासित नहीं होती। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

'ततः' इसलिए ज्ञप्ति 'क्रिया' और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं। आहाहा! राग की क्रिया का परिणमना और ज्ञान की क्रिया का परिणमना, दोनों चीज़ अत्यन्त भिन्न है। है तो दोनों षट्कारक के परिणमन से परिणमते है, परन्तु दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! राग होता है दया का, वह भी षट्कारक के परिणमन से वह खड़ा हुआ है, परन्तु उस समय जानने की क्रिया का षट्कारक का परिणमन नहीं है। आहाहा! और जब ज्ञायक त्रिकाली है, उसकी परम सत्ता, महासत्ता प्रभु की, (उसका) जहाँ स्वीकार हुआ, उस ज्ञप्ति क्रिया में करोति क्रिया अत्यन्त भिन्न है, वहाँ होती ही है। आहाहा! अब ऐसी बातें!

वह कैसा था, इच्छामि इरिया, वहिया, मिच्छामि दुक्कडम, ताउं काय ठाणेणं... नानुभाई गये? नानुभाई कहते थे कि पालीताणा में कुछ सुनायी नहीं देता।

मुमुक्षु : गोण्डल गये हैं। वहाँ से आनेवाले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेतन मिले न और वहाँ घुस गया... आहाहा! सुनने का मिलता है, वह सब खोटा। आहाहा!

इसलिए ज्ञप्ति 'क्रिया' और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं। एक समय में दोनों क्रियायें नहीं होती, ऐसा कहते हैं। भले वहाँ राग की क्रिया हो, तथापि उसे जाननेवाले की क्रिया वह एक ही वस्तु वर्तती है। ज्ञातापने की ओर के लक्ष्य से जानने की क्रिया एक ही वर्तती है, राग की क्रिया भी इकट्ठी है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञप्ति अर्थात् जानने की क्रिया, पर्याय की परिणति की बात है यहाँ, हों! और करोति क्रिया, दोनों भिन्न है, **इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता करता नहीं है।** त्रिकाली ज्ञायकभाव को जिसने स्वीकार किया, आहाहा! पूरी चीज़ ही ज्ञायकरूप से पड़ी है मूल। अनादि-अनन्त, नित्यानन्द प्रभु का जहाँ स्वीकार हुआ, वह अब राग का कर्ता नहीं है। पर की बातें तो कहीं रही, शरीर और वाणी और जड़... अब यहाँ तो अभी पर का कर्ता न माने तो दिगम्बर नहीं, ऐसा पण्डित कहते हैं, लो! इन्दौर में ऐसा कहा है। अरे, प्रभु! क्या कहते है, भाई? सोनगढ़ का विरोध करने के लिये इतना सब कहीं किया जाता है? पूरी वस्तु का... उल्टा... आहाहा! पर का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। यहाँ कहते हैं कि राग का कर्ता माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। इन्होंने भी यह सब जगह-जगह कल नहीं आया था? उस शुभभाव से मिलने जाना, वह प्रेमी को मिलने स्त्री जाये, ऐसा है, अरेरे! व्यभिचार (है), ऐसा कहते हैं। हमको अन्दर शुभभाव आवे, आहाहा! उसके हम तो जाननेवाले-देखनेवाले हैं। उसमें हम जाते नहीं, उसमें हम मिलते नहीं, ऐसा कहते हैं। मिलता है, वह प्रेमी की स्त्री जैसे मिलती है, वैसे वह अज्ञानी मिलता है। आहाहा! अब उस शुभराग में धर्म मनवाना और या वह धर्म का कारण उसे मनवाना, सब एक ही है, भाई! आहाहा! वस्तु है न, अन्दर नजदीक पड़ी है न! पर्याय के पास ही है, पास है, ऐसा कहना वह भी अभी... है ही वहाँ, बस। पर्याय के पास अर्थात् ऐसा है ही वह ध्रुव। आहाहा! **जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं।** आहाहा!

भावार्थ :- मैं परद्रव्य का कर्ता हूँ,... परद्रव्य लिया यहाँ, परन्तु राग को करता हूँ यह... राग परद्रव्य ही है। आहाहा! वह स्वद्रव्य है ही नहीं। **जब आत्मा इस प्रकार से परिणमन करता है...** राग को करता हूँ, इस प्रकार रागरूप परिणमता है, तब तो कर्ताभावरूप क्रिया करता होने से, कर्ताभावरूप परिणमन क्रिया यहाँ कही है, कर्ताभावरूप क्रिया है। **करोति क्रिया के करने से कर्ता ही है...** आहाहा! **और जब वह मैं परद्रव्य को**

जानता हूँ... वह भी व्यवहार समझाना है न? इसलिए क्या समझावे? **इस प्रकार परिणमन करता है कि मैं परद्रव्य को जानता हूँ...** ऐसा परिणमता है। स्व को जानता है और राग होता है, उसे भी अपने में रहकर, उसकी अपेक्षा बिना जानता है। आहाहा! **तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करने से...** तब जानने-देखने के भावरूप होता होने से **ज्ञप्ति क्रिया के करने से...** वह तो जानने की क्रिया-परिणमन, जानने की परिणमन क्रिया है। आहाहा! है तो क्रिया... परन्तु स्व चैतन्य के सन्मुख की है, राग से विमुख की है, इसलिए **ज्ञप्तिक्रिया के करने से ज्ञाता ही है।**

अब किसी को ऐसी शंका कि इतनी बड़ी बात को कोई ऊपर के गुणस्थान में होगी, नीचेवाले को यह नहीं होता—ऐसा कितने ही कहते हैं। वह ज्ञानसागर कहते थे न कि निर्विकल्प समकित तो सातवें में होता है। भाई ऐसा कहते न, शान्तिसागर ऐसा कहते न, निर्विकल्प समकित तो सातवें में होता है, आहाहा! तब यह कहते हैं कि अभी शुभयोग ही होता है, सब वह का वही है। अरे प्रभु! क्या करता है?

यहाँ कोई पूछे, **यहाँ कोई प्रश्न करता है कि...** तुम ऐसी बड़ी बात करते हो, वह **अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक चारित्रमोह का उदय रहता है, तब तक वह कषायरूप परिणमन करता है...** तो उसे उस क्रिया का कर्ता कहना या नहीं? आहाहा! अविरति सम्यग्दृष्टि है, जिसे अभी त्याग नहीं राग का, चारित्रमोह का त्याग नहीं, विषय-वासना आदि है। गोम्मटसार में आता है न, इन्द्रिय के विषय से विरत नहीं है, आता है न? विषय-कषाय से निवृत्त नहीं हुआ है, यह श्लोक है न? आहाहा! **अविरति सम्यग्दृष्टि आदि...** आदि अर्थात् पाँचवें-छठवें में ऐसा, **जब तक चारित्रमोह का उदय रहता है...** उसे राग तो आता है, शुभराग आता है, अशुभराग आवे, क्रिया तो होती है, **तब तक वह कषायरूप परिणमन करता है, इसलिए उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं?** आहाहा!

उसका समाधान—अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि... भले चौथे गुणस्थान में हो या पाँचवें में हो या मुनि, **श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है।** आहाहा! उसे राग होता है, तथापि उसे परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तापने का

अभिप्राय नहीं है। यह मेरा है और मैं इसका स्वामी हूँ, यह दृष्टि नहीं है। धर्मी की दृष्टि स्वस्वामिसम्बन्ध में है। अपने द्रव्य-गुण शुद्ध है, वह स्व है और उसका वह स्वामी है। राग है, उसका वह स्वामी नहीं। होता है। आहाहा! **अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि को श्रद्धा-ज्ञान में...** श्रद्धा-ज्ञान में, **परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है, जो कषायरूप परिणमन है...** राग होता है... **वह उदय की बलवत्ता के कारण है...** निर्बलता के कारण है। यह उदय की बलवत्ता कही, वहाँ इसका अर्थ कि उसका नहीं यह, ऐसा... इसलिए उदय की बलजोरी है, ऐसा कहा है। उसे अपना मानता नहीं न, इसलिए उसे उदय की बलजोरी कहा, बाकी है तो परिणमन अपना हीन दशा। आहाहा! **उदय की बलवत्ता के कारण है, उसका वह ज्ञाता है।** आहाहा!

सम्यग्दृष्टि अविरति, गृहस्थाश्रम में भले हो, हजारों रानियों में हो, उसे विषय की वासना भी आवे, तथापि वह तो स्वामित्व के कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है। आहाहा! कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलजोरी अर्थात् कि स्वयं को करने का भाव नहीं है, यह ठीक है—ऐसा करके करने का भाव नहीं, आहाहा! परन्तु पुरुषार्थ की निर्बलता और उदय का जोर है, ऐसा राग अन्दर आता है, होता है। उसका वह ज्ञाता है, उसका वह जाननेवाला है, अपनी भूमिका में रहा हुआ, जाननेवाला है। **इसलिए उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है...** राग मेरा है, और मेरा कर्तव्य है, ऐसे अज्ञानपने सम्बन्धी का कर्तत्व उसे नहीं है। आहाहा! **निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले परिणमन का फल किंचित् होता है,...** निमित्त है तो स्वयं का अशुद्ध उपादान, परन्तु उस अशुद्ध उपादान को पर में डालकर, अपने शुद्ध उपादान की दृष्टि हुई है। आहाहा!

त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु, चिदानन्द का दल, उसके जो शुद्ध उपादान की दृष्टि है, इस अपेक्षा से अशुद्ध उपादान को निमित्त में डाल दिया, यह **निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले...** उसमें उदय की बलवत्ता से कहा था और उसे यहाँ निमित्त की बलवत्ता से होनेवाले अर्थात् अपने को करनेरूप का प्रेम, रस नहीं है, उसमें सुखबुद्धि नहीं है, परन्तु निर्बलता के कारण आये बिना रहता नहीं। आहाहा! वह निमित्त की बलवत्ता से **परिणमन का फल किंचित् होता है,...** उसका फल तो किंचित्—कर्म का थोड़ा रस और स्थिति पड़ता है। आहाहा! **वह संसार का कारण नहीं है।**

जोर ज्ञायकभाव त्रिकाली आनन्द का सागर नाथ, पूरा दल पड़ा है, उसका जहाँ जोर है, आहाहा! पूरा ज्ञायकभाव है, उसमें से उसका जोर हटता नहीं, उसके कारण किंचित् कुछ परिणमन का फल आवे, परन्तु वह संसार का कारण नहीं है, उसे भव नहीं बढ़ते भव, ऐसा कहते हैं। और भविष्य का आयुष्य कदाचित् बँधे तो भी उसे ऐसे अशुभभाव के समय आयुष्य नहीं बँधता। शुभभाव आयेगा, तब आयुष्य बँधेगा। मनुष्य और तिर्यंच समकिती हो और अशुभभाव आवे, परन्तु आयुष्य नहीं बँधता; आयुष्य शुभभाव आयेगा तब बँधेगा, इतना दृष्टि के जोर के कारण (होता है)। आहाहा!

जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद... आहाहा! वृक्ष का मूल काट दिया, अब डालियाँ-पत्ते कितने काल रहें? आहाहा! **वृक्ष की जड़ काट देने के बाद...** है? **वह वृक्ष कुछ समय तक रहे...** थोड़ी देर। बाद में सूख जानेवाला है। मूल काट दिया। आहाहा! इसी प्रकार जिसने राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता प्रगट की, आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकभाव, ध्रुवस्वभाव, नित्य प्रभु की एकता का भाव प्रगट किया और राग की एकता का (भाव) तोड़ डाला—मूल तोड़ डाला। आहाहा!

लोग यह सब जोर बाहर की क्रिया पर देते हैं, ऐसी क्रिया करे, वह साधु और ऐसी क्रिया करे, वह यह साधु, और इसे ऐसा कि चौथे गुणस्थान में देखो न! हिंसा है, झूठ है, ऐसा है और हमारे यह त्याग है, परन्तु तुझे त्याग कहाँ है? दृष्टि के त्याग बिना (सम्यग्दर्शन बिना) त्याग ही कहाँ है? जहाँ अभी मिथ्यात्व का त्याग नहीं, वहाँ अव्रत का त्याग आया कहाँ से? आहाहा! कठिन काम है।

सम्यग्दृष्टि को ऐसे परिणाम आवे, तो भी कहते हैं, भाव अशुभ आवे तो भी उसका फल संसार नहीं है, भटकने का...। आहाहा! तब यह लोग कहे, उसकी अपेक्षा हम शुभभाव को करते हैं या नहीं? परन्तु वह शुभभाव मेरा है, ऐसा माना है, तब तक मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! बहुत कठिन काम। **वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे...** वृक्ष का मूल काटने के बाद कदाचित् तुरन्त का तुरन्त सूख जाये और किसी को थोड़ी देर लगे। आहाहा! **प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है।** आहाहा! ज्ञायकस्वभाव, नित्यानन्द प्रभु पूरा तत्त्व जहाँ दृष्टि में स्वीकार में आया, इसलिए अब उसे रागादि अशुभ

आवे, शुभ आवे, परन्तु वह लम्बे काल टिकेंगे नहीं। आहाहा! उनका **नाश ही होता जाता है।** आहाहा! **इसी प्रकार यहाँ भी समझना।** मूल दृष्टि—सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है और उसका विषय क्या है? आहाहा! उसका जहाँ अभी पता नहीं होता, उसके सब तेरे व्रत, तप, भक्ति और पूजा रण में शोर मचाने जैसा है। आहाहा! और ज्ञानी को ऐसा राग होवे तो कहते हैं कि नाश होनेयोग्य है। आहाहा! एकता का राग नहीं न, अस्थिरता का राग है, उसका यह मूल तो तोड़ दिया है, ऐसा यहाँ समझना। इसका अर्थ ऐसा किया है, लो... विशेष कर्ता-कर्म कहा जायेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश–९८

पुनः इसी बात को दृढ़ करते हैं:–

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ–कर्म–स्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति–
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्।।९८।।

श्लोकार्थ : [कर्ता कर्मणि नास्ति, कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति] निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है, और न कर्म कर्ता में ही है– [यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते] यदि इस प्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये [तदा कर्तृकर्मस्थितिः का] तो कर्ता–कर्म की क्या स्थिति होगी? (अर्थात् जीव–पुद्गल के कर्ताकर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा।) [ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि] इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है, [इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता] ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है, [तथापि बत] तथापि अरे! [नेपथ्ये एषः मोहः किम् रभसा नानटीति] नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है? (इस प्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है।)

भावार्थ : कर्म तो पुद्गल है, जीव को उसका कर्ता कहना असत्य है। उन दोनों में अत्यन्त भेद है, न तो जीव, पुद्गल में है और न पुद्गल, जीव में; तब फिर उनमें कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? इसलिए जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं, ज्ञाता का कर्म नहीं हैं। आचार्यदेव ने खेदपूर्वक कहा है कि–इस प्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं, तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इस प्रकार अज्ञानी का यह मोह (–अज्ञान) क्यों नाच रहा है?।।९८।।

प्रवचन नं. २२७, कलश-९८ - ९९, दिनांक १५-०५-१९७९, मंगलवार, वैशाख शुक्ल-४

समयसार, कलश ९८।

पुनः इसी बात को दृढ़ करते हैं —

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृ-कर्म-स्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्।।९८।।

श्लोकार्थ :- 'कर्ता कर्मणि नास्ति कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति' निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है,... अर्थात् आत्मा कर्ता और राग कर्म, जड़ कर्म, यह कर्ता कुछ कर्म में नहीं है। आहाहा! कर्म का अस्तित्व स्वतन्त्र भिन्न है, भगवान आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व, मौजूदगी भिन्न है, अभी यहाँ जड़ कर्म के साथ सम्बन्ध की बात है। **निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है,...** करनेवाला वह जड़कर्म में, आत्मा कर्ता और जड़कर्म कार्य तो वह कर्ता, कर्म में नहीं है। आहाहा! ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म बँधते हैं, वे कर्म आत्मा में नहीं हैं, आत्मा कर्ता, उस कर्म में नहीं है, ऐसा कहते हैं। इसमें भावकर्म समाहित हो जाते हैं। मुख्यरूप से तो द्रव्यकर्म की बात है। आहाहा!

कर्ता निश्चित कर्म में नहीं है। भगवान ज्ञाता स्वभाव, यदि उसे कर्ता कहो, तो जड़ कर्म ज्ञानावरणीय जो है, वह कर्म है। इसमें यह कर्ता उसमें नहीं है। आहाहा! **और न कर्म कर्ता में ही है...** और ज्ञानावरणादि जो आठ कर्म हैं, वे कर्ता ऐसा आत्मा, उसमें यह वस्तु नहीं है। आहाहा! कर्ता, कर्म में नहीं; कर्म, कर्ता में नहीं। आत्मा, जड़ में नहीं, जड़, आत्मा में नहीं, ऐसा। आहाहा!

यदि इस प्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये... परस्पर दोनों का निषेध किया जाये। परन्तु निषेध, निषेध है ही, परन्तु यहाँ तो समझाना है न? इस प्रकार यदि दोनों का परस्पर कर्ता आत्मा कर्म में, और कर्म, कर्ता में—आत्मा में, ऐसा नहीं। इस प्रकार यदि निषेध किया जाये, **तो (कर्ता) कर्म की क्या स्थिति होगी?** तो कर्म की

स्थिति क्या? आहाहा! **'तदाः कर्ता-कर्म स्थिति का'** ऐसा। **तो कर्म की स्थिति क्या? अर्थात् जीव पुद्गल के कर्ता-कर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा।** ऐसा। **'तदाः कर्ता-कर्म स्थिति का'** तो आत्मा कर्ता और जड़ आठ कर्म, कार्य, इस प्रकार हो नहीं सकेगा। आहाहा!

यहाँ तो कहे, आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म भोगे, उसका फल आवे इसलिए... यहाँ कहते हैं कि परन्तु कर्ता उसमें नहीं, और यह उसमें नहीं, तो किस प्रकार कर्ता हो और भोगे उसे? आहाहा! कर्म का बहुत... जैन में कर्म की ऐसी विपरीतता घुस गयी। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी ने घुसाया तो घुस जाये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्प्रदाय की शैली भी कौन जाने यह विषय उठ गया। बस! आत्मा कर्म को करे और कर्म के कारण आत्मा में विकार होता है। आहाहा! भिन्न चीज़ भिन्न को करे और भिन्न चीज़ भिन्न को भी करे, अर्थात् आत्मा कर्म को करे और कर्म का फल विकार आत्मा में आवे। आहा! इतना अभी स्थूलपना भी जहाँ आगे बैठता नहीं। आहाहा! उसे अन्दर में ज्ञायक त्रिकाली वस्तु ज्ञायक, ज्ञान, ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव से भरपूर प्रभु, वह राग का भी कर्ता कहाँ है? आहाहा! क्योंकि उसके अनन्त-अनन्त गुणों में कोई गुण राग को करे पर्याय में, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! यहाँ तो मात्र कर्ता आत्मा और ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा ने बाँधा। जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म के कारण में असातना आदि आते हैं न छह बोल? निन्हव और वह आत्मा ने किया, तब ज्ञानावरणीय बँधा। छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधता है न, उसका यहाँ निषेध है। करनेवाला वहाँ जाता नहीं, वह क्या करे कर्म को? आहाहा! जहाँ हो वहाँ कर्म के कारण आत्मा को विकार होता है और विकार के कारण कर्म बँधता है, एकदम मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। जैनपने के व्यवहार की उसे खबर नहीं। आहाहा!

जो कर्ता-कर्म की स्थिति क्या होगी? जीव पुद्गल के कर्ता-कर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा 'ज्ञाता ज्ञातरि कर्म सदा कर्मणि', 'ज्ञाता ज्ञातरि' और कर्म सदा कर्मणि।' इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है, ऐसा। आहाहा! इसलिए ज्ञातरि ज्ञान, जाननेवाला भगवान, ज्ञाता ज्ञाता में है और पुद्गलकर्म, कर्म में है। आहाहा! **और कर्म सदा कर्म में**

ही है। जड़कर्म जड़ में है और आत्मा आत्मा में है। आत्मा जड़ को करे और जड़ का कार्य आत्मा का कर्ता, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! अभी तो यह ही बड़ा चला है जैन के नाम से। आत्मा कर्म बाँधे, छह प्रकार से करे न, आत्मा कर्म बाँधे। कत्ता, विकत्ता, कत्ता आता है न; अप्पा, कत्ता, विकत्ता, यह आत्मा कर्ता, यह अनाथिमुनि में गाथा आती है, श्लोक। आत्मा कर्म को करे और कर्म को आत्मा भोगे, जैसे बाँधे हैं, वैसे भोगे, एकदम झूठी बात है। आहाहा!

क्योंकि आत्मा जड़ के कर्म से एकदम भिन्न चीज़ है। और ज्ञाता—ज्ञातरि अर्थात् जाननेवाला तत्त्व से, कर्म जड़ चीज़ भिन्न चीज़ है। भिन्न को भिन्न करे, ऐसा तीन काल में (नहीं) होता। तो ईश्वर कर्ता है, ऐसा माने और यह कहे कि मैं कर्म को करता हूँ, (ऐसा) माने, दोनों समान मान्यतावाले हैं। आहाहा! वह (अन्यमत वाले) कहे कि इन सब काम को ईश्वर करता है (और) यह (जैन) कहे कि मैं जड़कर्म को करता हूँ, दोनों एक ही मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहाहा! बहुत कठिन काम भले...!

क्रमबद्ध में तो वहाँ तक एकदम ले गये। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय, जिस समय में होनेवाली है, वह होती है, वह क्रमसर होती है और आगे-पीछे नहीं। आगे-पीछे की व्याख्या क्या? यह पर्याय बाद में हो और उसकी पर्याय यहाँ हो, इसका अर्थ क्या? जिस द्रव्य की जिस समय में जिस पर्याय का काल है, वह होती है, वह क्रमबद्ध होती है। क्रमबद्ध में तो एकदम अकर्तापना सिद्ध करना है। पाठ ही यह है न अकर्ता का। भगवान आत्मा, जड़ कर्म का तो कर्ता नहीं, परन्तु दया, दान और व्रत के परिणाम का भी आत्मा कर्ता नहीं। आहाहा! क्योंकि विकारी परिणाम है, उन्हें निर्विकारी प्रभु चैतन्य, वह विकार को करे कैसे? आहाहा! भारी कठिन काम! वहाँ तो अकर्तापने की पराकाष्टा ली है। आत्मा जड़ का कर्ता तो नहीं, परन्तु यह दया-दान और भक्ति, पूजा के परिणाम का भी आत्मा कर्ता नहीं। आत्मा कर्ता कहो, वह मिथ्यादृष्टि है। वह शुभराग अर्थात् दया, दान, पूजा, भक्ति का कर्ता हो तो वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यमूर्ति प्रभु, वह राग का कर्ता नहीं। यह तो स्थूल बात है। परन्तु वर्तमान उसकी निर्मल पर्याय है, उसका भी कर्ता नहीं। आहाहा!

अकर्ता की जिनदर्शन में अन्तिम में अन्तिम स्थिति यहाँ गयी कि निर्मल पर्याय

है, उसका भी द्रव्य कर्ता नहीं। पर्याय, पर्याय की कर्ता है। आहाहा! अरे! यह बात सुनी नहीं। जैन में जन्मे तो भी जैन परमेश्वर को क्या कहना है, यह खबर नहीं और उसे धर्म हो जाये। यात्रा की शत्रुंजय की और गिरनार की, धूल में धर्म नहीं कहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वर्ष में एक बार तो यात्रा करना ही चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो जाते हैं न कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को, चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को। उसमें कर्ताबुद्धि है, इस शरीर को मैं हिलाता हूँ, मैं वहाँ ले जाता हूँ, वह शरीर—जड़ की क्रिया का कर्ता होता है, वह तो महामिथ्यादृष्टि झूठ है। उसका भाव शुभ हो, वहाँ कदाचित्, उसका कर्ता हो तो, क्योंकि उसमें अनन्त गुण हैं, वे कोई गुण, राग को करे, ऐसा उसमें गुण नहीं है। इसलिए पर्यायबुद्धिवाला, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम का कर्ता, पर्यायबुद्धि—मिथ्यादृष्टि होता है। अरे रे! ऐसी बात कहाँ है! आहाहा!

यह तो कहीं रह गया, परन्तु इसके निर्मल; दया, दान के परिणाम को उस काल में ज्ञान की पर्याय जाननेवाली जो है, उस पर्याय को भी वह द्रव्य करता नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम, बापू! क्योंकि वह दो हैं, निर्मल पर्याय और द्रव्य, दोनों निर्मल, तो यह एक-दूसरे को करे, ऐसा उसमें भी नहीं है। आहाहा! एक-दूसरे को करे तो दोपना नहीं रहता। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म...

यहाँ तो यह कहते हैं, अरे! **इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म नहीं है।** कर्म में, कर्म में ही है। **'इति वस्तुस्थिति व्यक्ता' ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है...** सत्ता सब भिन्न, सबकी सत्ता भिन्न प्रगट है। उसमें भिन्न सत्ता जो है, अस्तिवाली चीज़, कर्म की सत्तावाली चीज़, उसे जीव की सत्ता, उसे करे, ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। आहाहा! यहाँ यह तो है ही मान्यता लोगों की, परन्तु यह तो पूरे दिन यह भक्ति, पूजा और मजीरा बजाओ न, ऊपर यात्रा करने ९९ बार चढ़ना और उतरना और गिरनार चढ़ना, और.... अरे भगवान!

मुमुक्षु : ऋषभदेव भगवान शत्रुंजय पर ९९ बार आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ ९९ लाख बार क्या आये हों तो भी वहाँ क्या उसमें? पर के साथ सम्बन्ध है? आहाहा!

मुमुक्षु : सीमन्धर भगवान यात्रा करते थे और उनके अनुयायी न करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यात्रा किसने की थी, कुछ किया नहीं था उनने, वे तो आत्मा में अन्दर उतरे थे, अन्दर में आनन्द में उतरे थे, शत्रुंजय में तो भगवान, आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है।

एक तो उन लोगों में 'दिव्यध्वनि' एक पुस्तक—एक मासिक निकलता है, अभी का लगता है, नया लगता है, दिव्यध्वनि, उसमें और ऐसा...

मुमुक्षु : डॉ. सोनेजी का...

पूज्य गुरुदेवश्री : सोनेजी हैं न वह कोई है न... हाँ... एक अहमदाबादवाला है, नीचे लिखा है कि 'सत्पुरुष का योगबल जगत का कल्याण करो।' कहो, अब यह क्या बातें। धर्मात्मा का योगबल, जगत का कल्याण करो, दूसरे का कल्याण दूसरा करे! ऐसा लेख है, नीचे, दिव्यध्वनि (पत्रिका में) नीचे, सत्पुरुषों का योगबल, सम्बन्ध कहो, योगबल कहो। अरे प्रभु! पर का कल्याण कौन करे? भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! कल्याण तो स्वयं भगवान आत्मा, ज्ञान-आनन्द का घन प्रभु है। उसमें वह ज्ञान और आनन्द की पर्याय होती है, वह धर्म है, तथापि उस धर्म की पर्याय का भी आत्मा कर्ता नहीं है। आहाहा! अकर्ता की अन्तिम पराकाष्ठा है। जगत को बैठना कठिन पड़े। अभी का अभिमान चढ़ गया है क्रियाकाण्ड के रस में चढ़ गये हैं न अभी सब... हो, अपवास करो, वर्षीतप करो, यह करो, यह करो, सब होली सुलगती है, राग की, कषाय की। आहाहा!

यहाँ तो जरा क्या आया? वह राग का लेने के बाद, ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है, ऐसा, भाई, लिया ऐसा, वापस पर का कर्ता नहीं, यह तो ठीक, तो फिर आत्मा राग का कर्ता है, ऐसा नहीं लिया, वह पर का कर्तापना छूटता है। अर्थात् इस प्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है, ऐसा लिया, भाई! वापस ऐसा नहीं लिया कि जाननेवाला है, वह जड़ को न करे, कर्म जड़ हैं, उन्हें; परन्तु राग को करे, दया, दान, व्रत, भक्ति, परिणाम। नहीं। आहाहा! अरे रे! ऐसी बातें कहाँ? लोगों को यह जैनपना है, ऐसा ही नहीं लगता यह। आहाहा! अजैनपना है, उसे जैनपना मानते हैं; जैनपना है, उसे वे अजैनी मानते हैं।

आहाहा! जैनपना तो यह है कि ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है। आहाहा! जाननेवाला जाननेवाले में है। भगवान तो चैतन्यस्वरूप ज्ञाता, जाननेवाले में है। वह पर के काम में तो नहीं, परन्तु इस राग में भी वह नहीं, आहाहा! भावकर्म में भी वह नहीं। भावकर्म है सही, जानने-देखने का। यह भावकर्म है न? वह दया-दान-भक्ति भावकर्म का तो कर्ता है नहीं परन्तु इस जानने-देखने की पर्याय जो है, इसका भी वह कर्ता नहीं। अरे प्रभु! ऐसा कठिन काम है, बापू! वीतराग परमेश्वर, जिनेश्वर का विरह पड़ा, पंचम काल में केवलज्ञान रहा नहीं, तीन लोक के नाथ रह गये, महाविदेह में, प्रभु रह गये महाविदेह में। आहाहा! सीमन्धर परमात्मा, बीस-तीर्थंकर, लाखों केवली महाविदेह में विराजते हैं। भरत में विरह पड़ा है, उनका विरह पड़ा परन्तु केवलज्ञान और अवधिज्ञान का विरह पड़ा। आहाहा! उसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसमें ऐसे काल में यह कहना!

भगवान! तू तो ज्ञाता है न? राग की जो क्रिया दया, दान, व्रत, भक्ति और यात्रा की है, वह तो राग है। शुभराग है, विकार है। प्रभु तो निर्विकारी अनन्त गुण का पिण्ड है। आहाहा! जिसकी निर्विकारी, अनन्त गुण का पिण्ड, जो ज्ञान आत्मा, उसकी जिसे दृष्टि हो, वह तो राग का कर्ता नहीं होता। यह सम्यग्दृष्टि जीव धर्मी पहली सीढ़ीवाला, अभी तो धर्म की पहली सीढ़ी—चौथे गुणस्थान में। आहाहा! पाँचवाँ और छठवाँ किसे कहना, अभी लोगों को कहाँ खबर है? आहाहा! बहुत कठिन काम, बापू!

यहाँ शब्द क्यों आया कि वहाँ तो ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है। वह जाननेवाला, जाननेवाले में ही है। आहाहा! यह जड़ में—कर्म में तो आया नहीं, परन्तु उसे दया-दान और व्रत के परिणाम में वह ज्ञाता आया नहीं। वे तो विकार परिणाम हैं, अविकारी प्रभु, विकार में कहाँ से आवे? आहाहा! ज्ञाता सदा ज्ञाता में है। सदा ज्ञाता में। है न? सदा शब्द पड़ा है, देखो! आहाहा!

जाननेवाला चैतन्य, ज्ञाता स्वभाव, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, नित्यभाव। वह जाननेवाला जाननेवाला प्रभु, भगवान ने कहा, वह हों, दूसरे अज्ञानी आत्मा... आत्मा... करे, वह नहीं। तीर्थंकर सर्वज्ञदेव, परमेश्वर के ज्ञान में, जो ज्ञाता आया है। आहाहा! वह **ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है...** आहाहा! **और कर्म सदा कर्म में ही है।** आहाहा! **'इति वस्तु स्थिति व्यक्ता' ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है...** अरे! **तथापि अरे!** आहाहा! आचार्य

को जरा आश्चर्य और खेद होता है। सन्त हैं, महामुनि, परमात्मस्वरूप परमेष्ठी पद है। अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। वे आचार्य ऐसा कहते हैं, अरे रे! ऐसा होने पर भी, अरे... **'नेपथ्य मोह किम् रभसा नानटीति'** अरे! अन्दर में मोह क्यों नाचता है? अरेरे! इसे मिथ्याभ्रमणा यह किस प्रकार नाचती है? कहते हैं। मैं राग का कर्ता और मैं कर्म का कर्ता, ऐसा मिथ्यात्वभाव, अन्दर में पर्दे में क्यों नाचता है इसे। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, बापू!

वर्तमान चलते, देखनेवाले को तो ऐसा लगे यह वह कहीं मार्ग होगा? वीतराग का मार्ग है यह कहीं? बापू! यह वीतराग परमात्मा, महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, वहाँ से यह बात आयी है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९, दो हजार वर्ष पहले वहाँ प्रभु के निकट गये थे। वे यह कुन्दकुन्दाचार्य, आठ दिन वहाँ रहे थे, वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। भगवान का तो यह सन्देश है, आहाहा! हमको तो बैठा है, यह बात तो यहाँ क्या करना? कहे, परन्तु भगवान ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं, हम भी छद्मस्थ हैं। हम... आचार्य कहते हैं तो वे भी ऐसे ही हैं, तो भी ऐसा कहते हैं कि यह जिनेश्वर ऐसा कहते हैं। तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव, परमेश्वर ऐसा कहते हैं। अरे रे! जहाँ चीज़ ही अलग है, चेतन सत्ता, वह अपने ही उत्पाद, व्यय, ध्रुव की सत्ता में है, वह पर की सत्ता में जाता नहीं, तो पर का तो क्या करे, परन्तु उसमें उसके गुणों की सत्ता जो है, अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुणों की सत्ता है, वह गुण और द्रव्य स्वयं, विकार को भी नहीं करता, वह तो ज्ञाता तो ज्ञाता में ही रहता है। आहाहा!

अरे! अब इसमें वाद-विवाद करो, कहते हैं। किसके साथ करे, बापू! क्या हो? भाई! अरे रे! पर्दे के पीछे यह मोह क्यों नाचता है? क्या हुआ यह? वह कहते हैं। इस प्रकार आचार्य को आश्चर्य होता है, अरे! परन्तु ऐसा कैसे हुआ? कि ज्ञाता तो ज्ञाता है, ऐसी सत्ता मौजूद विराजती है, उसे तू यह राग का कार्य सौंपे और जड़ का कार्य सौंपे, प्रभु! यह तुझे क्या हुआ? आहाहा!

चक्रवर्ती को ऐसा कहे कि यह वासीन्दा (कचरा) झाड़ू से निकाल दो। यह क्या कहलाता है यह? वासिन्दा, वासीन्दा। चक्रवर्ती को कहे कि वासीन्दा निकाल दो। उसकी दासी कोई हो, वह कहे। इसी प्रकार तीन लोक का नाथ अन्दर प्रभु सच्चिदानन्द

सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, वह आत्मा है। दूसरे कहें, ऐसा वह नहीं है, दूसरों ने देखा नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त (दूसरों ने देखा नहीं)। आहाहा! ऐसा यह सर्वज्ञ स्वरूपी प्रभु; ज्ञाता कहा न? ज्ञाता कहो या सर्वज्ञस्वभावी कहो, आहाहा! ऐसा ज्ञाता, वह ज्ञाता ही है। और कर्म, वह कर्म है, ऐसी वस्तुस्थिति की प्रगट, प्रगट मर्यादा है, व्यक्त मर्यादा है, ऐसा। गुप्त मर्यादा है, ऐसा नहीं। आहाहा! **तथापि अरे! 'नेपथ्ये ऐषः मोह किम रभसा नानटीति' नेपथ्य में...** अन्दर में। आहाहा! **यह मोह (मिथ्यात्व) क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है?** आहाहा!

बहुत कठिन काम! लोगों को निवृत्ति नहीं मिलती, बनियों को एक ओर धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, पूरे दिन धन्धा, वही होली सुलगे, दुकान पर बैठा हो तब, और सम्हालना और यह किया और यह किया और थोड़ी निवृत्ति मिले तब छह-आठ घण्टे नींद में जाये, एक थोड़े से स्त्री-पुत्र को सम्हालने में, प्रसन्न करने में जाये। दो ढाई घण्टे खाने में जाये। अब एक घण्टा सुनने में जाये और ऐसी बात सुनने में मिले नहीं। अरे रे! सत्य बात नहीं मिलती, असत्य बात मिले। अरे! जिन्दगी चली जाती है, भाई! ऐसा अवसर कब मिलेगा? भाई! आहाहा!

यहाँ आचार्य आश्चर्य करते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य, जिन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य के गणधर जैसा काम किया है। आहाहा! वे ऐसा कहते हैं कि अत्यन्त वेग से मिथ्यात्व—मोह; मोह अर्थात् मिथ्यात्व क्यों नाच रहा है। आहाहा!

भावार्थ। नेपथ्य में यह मोह अत्यन्त वेग से क्यों नाच रहा है? है न? मोह अर्थात् मिथ्या श्रद्धा। जो वास्तविक प्रभु चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ आत्मा, अतीन्द्रिय अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, वह इस मिथ्यात्व में क्यों आया वह? राग को करूँ और कर्मबन्धन को मैं करूँ, यह तुझे क्या हुआ प्रभु? आचार्य को आश्चर्य होता है। पाठ में शब्द है न? **ज्ञाता ज्ञातारि** और **कर्म सदा कर्मणि...** आहाहा! **ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है।** सदा कर्म में है। आहाहा!

भावार्थः—कर्म तो पुद्गल है... ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म प्रभु ने कहे, वे तो जड़ हैं, अजीव हैं। कर्म जो ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय—आठ कर्म है न, वे तो जड़ हैं। धूल-मिट्टी हैं। जैसी यह स्थूल मिट्टी

है, वैसी आठ कर्म सूक्ष्म धूल, यह मिट्टी है। आहाहा! यह तो पुद्गल है। **जीव को उसका कर्ता कहना असत्य है।** आहाहा! भगवान जीव, वह अजीव को करे? आहाहा! यहाँ तो अभी कर्म जैसे भाव करे, वैसे कर्म बँधे, ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध होने पर भी, उनका वह कर्ता नहीं। आहाहा! और कर्ता नहीं, इसीलिए तो उड़ा दिया, राग भी उड़ा दिया। राग भी वास्तव में इसका कर्तव्य नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा का जानना-देखना, आनन्द, वह इसका कर्तव्य है। आहाहा! अरे रे! ऐसे जानने-देखने और आनन्द के कर्तव्य को भूलकर, यह मोह वह क्या करता है यह? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह कथन कहीं अभी के नहीं हैं, यह तो हजारों वर्षों के हैं। अनन्त काल में भगवान का जो अभिप्राय है, तत्प्रमाण यह शास्त्र है। आहाहा! पक्ष-मोह के कारण, सुनने को भी मिलता नहीं, आहाहा!

मुमुक्षु : विचार करे तो जँच जाये, ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार करे तो पक्ष, मोह है, यह पक्ष हमारे में ऐसा कहा है और हमारे में ऐसा कहा है। आहाहा! आचार्य तो कहते हैं, कि कर्म तो पुद्गल है, उसका कर्ता जीव को कहने में आवे, वह तो झूठ है। **उन दोनों में अत्यन्त भेद है...** भगवान आत्मा और कर्म जड़, वे (दोनों) अत्यन्त भिन्न हैं, अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! भगवान अरूपी चेतन और यह रूपी जड़, जड़-मिट्टी, धूल, दोनों अत्यन्त भिन्न चीज़ है। आहाहा!

जीव पुद्गल में नहीं... यह भगवान आत्मा, वे कर्म आठ जड़, मिट्टी, धूल। उस धूल में प्रभु नहीं और धूल, जीव में नहीं। कर्म सूक्ष्म धूल है। आहाहा! लोगस्स में आता है न 'विहुयरयमला' हे भगवान! 'विहुय' आपने विशेष रूप से अभाव किया है। हे प्रभु सिद्ध भगवान! 'वि'-'हुय' रय मला'; रज अर्थात् जड़कर्म और मल अर्थात् पुण्य-पाप के भाव, आहाहा! परन्तु इसकी भी खबर नहीं होती और लोगस्स हाँक रखे न! कहा न, एक बाई ने तो विहुयरयमला में, विहा रोई मर्या, ऐसा अर्थ किया लिंबडी में, दशा और वीशा (श्रीमाली) को दोनों को मेल नहीं था और यह दशाश्रीमाली की

ब्राह्मण बाई थी, वह लेकर बैठे न, घड़ी, लेकर सामायिक करने (बैठे), कहाँ सामायिक थी और कब थी? उसमें यह लोगस्स आया और ऐसा बोली, विहा रोई मर्या, परन्तु अपना विवाद इस लोगस्स में कहाँ से आया? वहाँ देखे तो विहुयरयमला। हे प्रभु! सिद्धा सिद्ध प्रभु! विहुय, विहुय (अर्थात्) आपने टाले हैं; रयमला (अर्थात्) आठ कर्म की जड़ रज है, उसे टाल दिया है और मल अर्थात् पुण्य-पाप का मेल भाव भी आपको टल गया है, ऐसा इसका अर्थ है। तो इसके अर्थ की भी खबर नहीं होती और हो गयी उसे सामायिक और प्रौषध... धूल में भी नहीं। आहाहा! धूल में भी नहीं अर्थात् उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य भी नहीं, पापानुबन्धी पुण्य होता है। आहाहा! बहुत कठिन काम!

न तो जीव पुद्गल में है और न पुद्गल जीव में; तब फिर उनमें कर्ता-कर्म भाव कैसे हो सकता है? जब एक चीज़ में दूसरी चीज़ का अभाव है तो अभाव चीज़ और दूसरी चीज़ उसे क्या करे? आहाहा! उसका भाव इसमें हो तो इसका कुछ करे, परन्तु इसके भाव में उसका अभाव है और उसके भाव में इसका अभाव है। आहाहा! जीव में नहीं, **तब फिर उनमें कर्ता-कर्म भाव कैसे हो सकता है? इसलिए जीव तो ज्ञाता है।** आहाहा! है न?

भगवान तो जाननेवाला-देखनेवाला चक्षु है, जैसे यह चक्षु / आँख है, देखे-देखे, जाने। चक्षु कुछ काम करे? रेत में खड्डा हो तो ऐसे-ऐसे करे तो रेत भरे, और ऐसे-ऐसे आँख करे, रेती में तो खड्डा पड़े? वह तो जानता है। जैसे आँख जानती है, उसी प्रकार भगवान तो जाननेवाला-देखनेवाला है। आहाहा! अरेरे! **इसलिए जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है।** ज्ञाता है, वह ज्ञाता ही है। देखा! इसमें राग निकाल दिया वापस, हों! हाँ, जड़कर्म का कर्ता निषेध करते हुए, उसके निमित्त से होता हुआ विकार दया, दान, राग का भी कर्ता प्रभु नहीं है, वह तो ज्ञानस्वरूप ज्ञाता प्रभु है। आहाहा! **ज्ञाता ही है, वह पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है; और पुद्गल कर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाता का कर्म नहीं है।** आहाहा!

यहाँ तो एक ही पुकार जैन में (संवत्) १९७१ के वर्ष से यह बात शुरु हुई। पहला लाठी का चातुर्मास था। १९७१, तब बात बाहर प्रसिद्ध की कि भाई! कर्म के कारण विकार नहीं है; विकार होता है जीव में, अपने उल्टे पुरुषार्थ के कारण; कर्म के

कारण विकार नहीं। हे... खलबलाहट... खलबलाहट। स्थानकवासी में थे तो उसमें खलबलाहट उठी, उसमें से श्वेताम्बर में गया तो वहाँ से खलबलाहट उठी कि यह क्या? कर्म के कारण विकार नहीं? वहाँ से यहाँ जहाँ दिगम्बर में आये, वहाँ खलबलाहट उठी। आहाहा! (संवत्) १९७१ के वर्ष की बात है। (संवत्) १९७० में दीक्षा, १९७१ में यह बात बाहर प्रसिद्ध की, हमारे गुरु थे, दोपहर में व्याख्यान में बात बाहर प्रसिद्ध की, यह कि कर्म जड़ है, उनसे आत्मा में राग-द्वेष हो, यह तीन काल में नहीं है। कर्म के कारण विकार नहीं होता; अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार होता है, सुल्टे पुरुषार्थ से विकार टलता है, यह वस्तु की मर्यादा है। १९७१, १९७१, कितने वर्ष हुए? ६४ वर्ष हुए।

मुमुक्षु : यह बात तो अन्दर से ही आयी होगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, हमारे गुरु के पास कहाँ सुना था? गुरु को तो खबर भी नहीं, वे तो बेचारे सुनते थे। उन्होंने कुछ विरोध नहीं किया, परन्तु दामोदर सेठ थे, दामनगर के दामोदर सेठ, बड़े गृहस्थ थे, तब तो उनके पास पैसे दस लाख, ७० वर्ष पहले। दस लाख, ६४ वर्ष पहले, यह तो अब हो गये पैसे ढेर, तब तो थे ही कहाँ? तबके एक लाख और अभी के तीस लाख, सब समान। उनके पास दस लाख। उन्होंने यह सुनकर एकदम विरोध किया कि यह क्या? यह किसने कहा, हमारे गुरु ने हमको कहा नहीं, हमने कभी ऐसा सुना नहीं, और यह कर्म के कारण विकार होता ही नहीं। करो, कहा करो, यहाँ तो है वह है।

वहाँ से श्वेताम्बर में बात गयी कि यह तो कर्म के कारण विकार का निषेध करते हैं। ऐई! वहाँ भी खलबलाहट। उन सबके साथ में... रामविजय के साथ, खेडावाले थे न वे, कैसे? जेठाभाई। उन्होंने हमारा सुना और फिर रामविजय के पास गये और बहुत बात और चर्चा चली। रामविजय को उन्होंने पूछा कि अपने चर्चा करें, परन्तु रामविजय ने कहा कि पहली मान्यता है कि कर्म के कारण विकार होता है, पहली मान्यता है कि कर्म के कारण विकार होता है? तो अपने चर्चा करेंगे। यह कहे कि हमारे यह मान्यता नहीं है। यह पच्चीस-तीस वर्ष पहले की बात है। रामविजय पालीताना में थे न, सब बातें, पूरे सम्प्रदाय की सबकी खबर है। यहाँ तो ६६ वर्ष हुए दीक्षा को, शरीर को ९० वर्ष हुए। आहाहा! सब जाना है और सबको पहिचानते हैं, बापू!

प्रभु.. प्रभु...! क्या हो? मार्ग की स्थिति तो कोई अलग है, भाई! चर्चा में भी ऐसा कहा उसने जेठाभाई को रामविजय ने, (कि) कर्म के कारण विकार होता है, यह मान्यता हो तो चर्चा करें, यह कहे कि यह मेरी मान्यता नहीं है, मुझे चर्चा नहीं करना। क्योंकि यहाँ का सुना हुआ था न! बहुत वर्ष हो गये उसे, हों! बहुत वर्ष हो गये, उसमें रामविजय के गुरु थे प्रेमविजय, वे यहाँ बहुत वर्ष से नहीं? तुम्हारा सुमन और वह जज दोनों व्यक्ति गये थे? कनुभाई जज, जज अहमदाबाद में जज है न दामाणी, और इनका पुत्र, दोनों यहाँ से तब तो यहाँ मण्डल हुआ था। उसे बहुत वर्ष हो गये। यह तो पच्चीस-तीस वर्ष से ज्यादा होंगे। (संवत्) १९९८ के वर्ष, तो कितने वर्ष हुए? सैंतीस वर्ष, खबर है तुझे? हाँ... सैंतीस वर्ष की बात है। वहाँ वे दोनों यहाँ से गये, उन प्रेमविजय को कहा कि आत्मा किसी का कर्ता नहीं तो कहे, नहीं। परमाणु का कर्ता नहीं परन्तु शरीर का कर्ता है। वह है यह लोगों की पूरी मान्यता। पहले से यह है, मैं तो छोटी उम्र से जानता हूँ, १७ वर्ष की उम्र से। आहाहा! अरे रे! परद्रव्य को करे तो ईश्वर करे न, यह परद्रव्य को करे, इन दोनों में कर्ता में क्या अन्तर पड़ा? आहाहा! वह ईश्वर है, वह चेतन कर्ता है, और यह जड़ कर्ता आत्मा का, यह विकार का कर्ता, जड़ कर्ता सिद्ध करना। अरेरर! परन्तु यह बात थी नहीं। बेचारे क्या करें... उनका कुछ (नहीं)। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं **ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है।** आहाहा! **पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं, और पुद्गल कर्म हैं, वे पुद्गल ही हैं, ज्ञाता का कर्म नहीं।** आहाहा! यह तो शान्ति की बातें हैं, बापू! यह कोई झगड़ा और वाद-विवाद (से पार नहीं पड़ता)। अनन्त काल हुए, सत्य बात को समझने में दरकार की ही नहीं, कहीं न कहीं... कहीं न कहीं... अटकने में, अटक-अटककर परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! चौरासी के अवतार, आहाहा!

आचार्यदेव ने... यहाँ **खेदपूर्वक कहा है कि—इस प्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य है...** इस प्रकार प्रगट भिन्न तत्त्व है, द्रव्य अर्थात् तत्त्व और द्रव्य है, वे ही द्रव्य द्रवते हैं कि 'द्रवति इति द्रव्यम्' उसकी पर्याय को स्वयं द्रवता है। दूसरा कौन द्रवे? आहाहा! यह द्रव्यत्व नाम का गुण प्रत्येक द्रव्य में है। आहाहा! इस प्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं, पदार्थ

भिन्न हैं, **तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है'...** मैं कर्म बाँधता हूँ, यह कर्म बाँधने की क्रिया मैं करता हूँ, **इस प्रकार अज्ञानियों का...** (भ्रम है) **यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है ?** आहाहा! एक कलश में तो कितना कहा है! आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर का यह हुकम है। वरना ईश्वरकर्ता को तुम उत्थापते हो और तुम वापस स्वयं ईश्वर होकर, जड़ के कर्ता होओ! आहाहा! यह तो वह का वह हुआ। वह आता है न भाई? अन्तिम? विष्णु को कर्ता मानते हैं, पीछे समयसार में (आता है)। विष्णु ईश्वर कर्ता मानते हैं और जैन के साधु छह काय दया पाल सकता हूँ, छह काय के जीव का कार्य कर सकता हूँ, दया पाल सकता हूँ, क्योंकि वह पर का कार्य है, वह कार्य कर सकता हूँ—दोनों में अन्तर क्या? कहे, छह काय लिये हैं न, कठिन काम प्रभु! पीछे है (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में है)। विष्णु ईश्वर को कर्ता मानते हैं और जैन छह काय की दया कर सकता हूँ, पर का कर्ता, उसकी दया पाल सकता हूँ, उसका कर्ता होता है। यह तो वह का वह हुआ। आहाहा! दोनों मिथ्यात्व है, दोनों समान मिथ्यादृष्टि हैं। कठिन काम, प्रभु! आहाहा!

अरे रे! ऐसा होने पर भी मोह क्यों नाचता है, कहते हैं। आहाहा! ९८ (कलश पूरा हुआ।)

कलश–९९

अथवा नानट्यतां तथापि –

(मन्द्राक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै–
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्।।९९।।

अब यह कहते हैं कि, अथवा यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है, वैसा ही है:–

श्लोकार्थ : [अचलं] अचल, [व्यक्तं] व्यक्त और [चित्–शक्तीनां निकर–भरतः अत्यन्त–गम्भीरम्] चित्शक्तियों के (–ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर [एतत् ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति [अन्तः] अन्तरंग में [उच्चैः] उग्रता से [तथा ज्वलितम्] ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि– [यथा कर्ता कर्ता न भवति] आत्मा अज्ञान में कर्ता होता था, सो अब वह कर्ता नहीं होता और [कर्म कर्म अपि न एव] अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था, सो वह कर्मरूप नहीं होता; [यथा ज्ञानं ज्ञानं भवति च] और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है तथा [पुद्गलः पुद्गलः अपि] पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है।

भावार्थ : जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं होता; और पुद्गल, पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्तनैमित्तिकभाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है।।९९।।

कलश-९९ पर प्रवचन

९९, अन्तिम कलश है इसका—कर्ता-कर्म (अधिकार) का, कर्ता-कर्म का... **अब यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है**—आहाहा! भले तुझे भ्रमणा हो करता जड़ को कर्ता हूँ और राग को करता हूँ (ऐसा) भले तू मान, परन्तु वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान है, वह तो ज्ञानस्वरूप ही है। उसमें कुछ फेरफार नहीं होता। आहाहा! तेरी मान्यता भले तू कर। आहाहा! कठिन काम है।

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव,
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै–
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत्।।९९।।

भगवान आत्मा तो **अचल...** है, चिद्घन प्रभु है वह तो, तत्त्व है, वस्तु है, आत्मा तत्त्व है, वह आनन्दघन, चिद्घन, अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड, ऐसा प्रभु अचल है।

वह अपने स्वरूप से चलित हो, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसा कठिन पड़े। सुनने को मिले नहीं कुछ बेचारे को, कठिन पड़े विचार करे वहाँ, इसलिए विरोध भी करता है न, इसलिए तो विरोध, (संवत्) १९७१ से शुरु हुआ है। करो तो करो बापू! मार्ग तो यह है। मानो न मानो; दूसरा कोई मार्ग नहीं है। **अचल...** है न **व्यक्त...** है, प्रभु तो व्यक्त प्रगट है न अन्दर, कहते है। आहाहा! द्रव्यस्वभाव, ज्ञानस्वभाव, ज्ञातास्वभाव, ज्ञायकभाव, चिद्घन प्रभु तो प्रगट है न? अस्ति है न, मौजूद है न? अस्तिवाली चीज़ प्रभु है न ध्रुव, आहाहा!

'**व्यक्तं चित्शक्तिनां नीकर भरत अत्यंत गंभीरम्।**' क्या कहते हैं प्रभु, **चित्शक्तियों के...** आत्मा की ज्ञानशक्ति है, उसके अविभाग प्रतिच्छेद, ज्ञान की पर्याय अनन्त को जाने ऐसा भेद अन्दर पड़ जाता है। अनन्त शक्ति है। एक चित्शक्ति में अनन्त शक्ति अविभाग प्रतिच्छेद है। अरे रे! और ऐसा, चित्शक्तियाँ, **(-ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों के) समूह के...** आहाहा! यह ज्ञान अनन्त गुण को जाने, यह ज्ञान लोकालोक को जाने, यह ज्ञान अनन्त पर्याय को जाने, ऐसी एक ज्ञान की एक चित्शक्ति का अविभाग प्रतिच्छेद, जो समूह का भार, उसकी जितनी शक्तियों के प्रकार पड़े, आहाहा! ऐसा जो चित्शक्तियों का समूह प्रभु, **अत्यन्त गम्भीर...** है। प्रभु अत्यन्त गम्भीर है। आहाहा!

जैसे फोड़ा अन्दर गम्भीर होता है, पकड़ना कठिन पड़े, उसी प्रकार यह (भाव) गम्भीर पड़ते हैं। वह तो अभी जड़ है। यह चेतन भगवान अन्दर अरूपी, एक ज्ञान में अनन्ता-अनन्त को जाने, ऐसी अनन्त चित्शक्तियों का भार, समूह। आहाहा! ऐसा प्रभु अन्दर चित्शक्तियों का भण्डार अत्यन्त गम्भीर भगवान अन्दर है। आहाहा! वह स्वयं प्रभु भगवान है अन्दर, भाई! तुझे खबर नहीं। यदि भगवानपना न हो तो भगवान अरिहन्त, सर्वज्ञ भगवान हुए, वे भगवान हुए कहाँ से? कहीं बाहर से भगवानपना आता है? आहाहा! वे अरिहन्त, सिद्ध भगवान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द को प्राप्त प्रभु, वह सब दशायें प्राप्त हुए, वह आयी कहाँ से? बाहर से आता है कुछ? आहाहा! अन्दर में वह भरी हुई सभी शक्तियों का भण्डार है। प्रभु! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

'**चित्शक्तिनां निकरः भरतः**' है न! चित्शक्ति के निकट अर्थात् समूह, उसका भरतः अर्थात् भार, उससे अत्यन्त गम्भीर, आहाहा! भले शरीरप्रमाण भिन्न चीज़ है,

परन्तु उसके ज्ञानगुण में, अनन्त को जानने की शक्ति है, ऐसी उन चित्शक्तियों का अनन्त समूह, उसका भार। आहाहा! अत्यन्त गम्भीर है। **'एततः ज्ञानज्योतिः' यह ज्ञानज्योति...** यह ज्ञानज्योति प्रभु है। आहाहा! चैतन्य ज्योति, जलहल ज्योति प्रभु है। प्रभु! तेरी नजर वहाँ गयी नहीं, तेरी क्रीड़ा सब पुण्य और पाप और पर्याय में क्रीड़ा में रमा है, परन्तु अन्दर भगवान है, पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, जिसमें से भगवानपना प्रगट होता है, उस चीज़ पर तेरी नजर गयी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा सो परमात्मा कहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परमात्मा है न! शक्ति से परमात्मा है, बापू! परन्तु यह फिर पर्याय में परमात्मा होता है। वह कहाँ से होता है? वह कहीं बाहर से आता है? जैसे छोटी पीपर में चौसठ पहरी चरपराई भरी है तो बाहर आती है। घूंटते हैं, वह कहीं पत्थर से आती है? पत्थर से आवे तो कोयले और पत्थर घूंटने जाये, उसमें चौसठ पहरी पड़ी है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान, केवलदर्शन, सर्वज्ञ पूर्ण आनन्द पड़ा है प्रभु। आहाहा! कठिन! परमात्मा है, वह शक्ति से परमात्मा ही है, परन्तु यह बात... यह करे क्या.... यह? आहाहा!

ज्ञान ज्योति अन्तरंग में, आहाहा! **उग्ररूप से ऐसी ज्याजल्यमान हुई...** है, उग्ररूप से इस प्रकार ज्वाजल्यमान अन्दर, चैतन्य ज्योति, जलहल ज्योति है कि **'यथा कर्ता, कर्ता न भवति' आत्मा अज्ञान में कर्ता होता था, तो वह अब कर्ता नहीं होता।** आहाहा! जो अज्ञान में जड़कर्म का कर्ता होता था और राग का कर्ता होता था, वह नहीं होता। **अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था, तो वह कर्मरूप नहीं होता...** अब हो गया... आहाहा! भगवान ज्ञान, ज्ञानस्वरूप में रहा, इसलिए पर का कर्ता नहीं होता, इसलिए ज्ञाता-दृष्टा रहा। कर्म, कर्मपने होता नहीं। आहाहा! दोनों अपने स्वरूप में रहे। आहाहा! **और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है...** भगवान जो चैतन्य ज्ञाता, वह ज्ञानरूप ही रहता है। **तथा पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है।** आहाहा! दोनों भिन्न-भिन्न हैं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२८, कलश-९९ से १०१, दिनांक १६-०५-१९७९, बुधवार, वैशाख कृष्ण-५

समयसार, ९९ कलश का भावार्थ है। **जब आत्मा ज्ञानी होता है तब...** यह कर्ता-कर्म का अन्तिम है। अर्थात् कि ज्ञायकस्वभाव, त्रिकाल जो शुद्ध है, उसका जहाँ ज्ञान होता है, स्वसन्मुख होकर, तब वह ज्ञानी होता है। ज्ञायकस्वभाव है, ध्रुव है, अस्ति है, उसका ज्ञान होता है, तब वह ज्ञानी होता है। **तब ज्ञाता तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है...** ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा, आत्मारूप ही परिणमता है। वीतरागीभावरूप परिणमता है। **पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं होता।** ज्ञान अर्थात् आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता वहाँ नहीं होता। **और पुद्गल, पुद्गल ही रहता है।** पुद्गल कर्म है, वह कर्मरूप ही रहता है। वह **कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर...** आहाहा! **दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं होता।** आहाहा! होता था तो स्वतन्त्र। यहाँ राग-द्वेष हो, तब कर्म स्वतन्त्ररूप से बँधते हैं और कर्म का उदय आवे, तब आत्मा स्वतन्त्ररूप से विकार करता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, वह टूट गया। आहाहा! आत्मा (वह) अपने ज्ञान आनन्द ज्ञायकस्वभाव को सावधानरूप से पकड़ा, अनुभव किया, उसे अब राग का भी कर्तापना नहीं, तो पुद्गल उसे बँधे और उसका बँधे और उसका कर्ता हो, यह है नहीं। आहाहा! **इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है।** आहाहा!

इस प्रकार जीव-अजीव, कर्ता-कर्म का वेश त्यागकर बाहर निकल गये। अर्थात् कि आत्मा, आत्मारूप हुआ। कर्ता-कर्मपना छूट गया और अकर्मरूप हो गये। दोनों में जो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध था, वह छूट गया। आहाहा! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का अर्थ ऐसा नहीं कि कर्म के निमित्त से यहाँ विकार होता था और विकार होता था इसलिए वहाँ कर्म बँधता था, ऐसा कुछ नहीं है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध का अर्थ होता है वहाँ स्वतन्त्र बन्धन, अज्ञानी राग-द्वेष करता है, वह स्वतन्त्र। वह कर्म का उदय आवे इसलिए करता है, ऐसा भी नहीं और विकार करता है, इसलिए कर्म बन्धन होता है, जड़ की पर्याय उस काल में, उसमें यह हुआ, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

भावार्थ :- जीव-अजीव दोनों कर्ता-कर्म का वेश धारण करके... देखा! राग, वह अजीव है। पुण्य-पाप का भाव, वह अजीव है। आत्मा भगवान जीव है। वह **जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्म का वेश धारण करके...** मानो कि विकार अजीव, वह कार्य और जीव उसका कर्ता, ऐसा एक वेश धारण करके, **एक होकर,...** आहाहा! वह विकारभाव और स्वभावभाव, भगवान त्रिकाल दोनों को एकरूप मानकर **रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे।** रंगभूमि गिनी है यहाँ।

जब सम्यग्दृष्टि ने अपने यथार्थ दर्शक-ज्ञान से उन्हें भिन्न-भिन्न लक्षण से... आत्मा ज्ञान लक्षण से ज्ञात होता है, और बन्ध का लक्षण वह राग है। वह कर्ता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! इस प्रकार दोनों के **भिन्न-भिन्न लक्षण से यह जान लिया कि वे एक नहीं..** आहाहा! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि परिणाम और जीव का स्वभाव दोनों एक नहीं, दो जाति है। जीव ज्ञायकभाव अकेले ज्ञान और आनन्दादि स्वभाव से भरपूर, भरचक, भरा हुआ प्रभु, वह राग और विकाररूप नहीं होता। आहाहा! इस प्रकार जब आत्मा को कर्ता-कर्मपना छूट जाता है, तब सम्यग्दर्शन, ज्ञान यथार्थ देखनेवाला है, उसने भिन्न-भिन्न लक्षण जान लिये। **वे एक नहीं किन्तु दो अलग-अलग हैं।** आहाहा!

विकारीभाव और स्वभावभाव, दोनों एक नहीं हैं। भले यहाँ जड़कर्म लिया है, परन्तु साथ ही.... आता है इसमें। तब वे वेश दूर करके, वे एक नहीं, परन्तु दो हैं, ऐसा जाना भिन्न-भिन्न। अर्थात् कि आत्मा ज्ञायक है और विकार पर है। दोनों एक नहीं।

मुमुक्षु : राग का आधार कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका?

मुमुक्षु : राग का?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग का आधार राग... आहाहा! राग का आधार आत्मा का द्रव्य और गुण भी नहीं। राग का कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, जो कुछ विकल्प उठे, उसका कर्ता-कर्मपना, षट्कारकपना, स्वतन्त्र उस समय का, उस समय का क्रमबद्ध में स्वतन्त्र है। आहाहा! राग का आत्मा आधार, ऐसा नहीं, राग का

आत्मा और गुण आधार, ऐसा नहीं। राग का आधार राग। भगवान आत्मा उसका जाननेवाला हुआ, तब जाननेवाले की पर्याय का आधार आत्मा, ऐसा भी नहीं। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। बाकी तो ज्ञान की पर्याय जो जानने में आयी वह पर्याय ही स्वयं कर्ता, कर्म और करण है। आहाहा! सत् है न? पर्याय सत् है न? सत् है उसे हेतु कोई दूसरा होता नहीं। आहाहा! अरे! राग, द्वेष और मिथ्यात्व भी सत् है, उन्हें भी कोई दूसरा हेतु नहीं होता। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वरूप ही है।

वेश का त्याग करके रंगभूमि से बाहर निकल गये। अर्थात् आत्मा आत्मारूप हुआ, रहा, कर्म छूट गया। **बहुरूपिया की ऐसी प्रवृत्ति होती है।** भाण्ड, भाण्ड, बहुरूपिया। **कि जब तक देखनेवाले उसे पहिचान नहीं लेते, तब तक वह चेष्टायें किया करता है।** राग का वेश लेकर आवे, योगी का वेश लेकर आवे, गरीब का वेश लेकर आवे, बड़े सेठ का वेश लेकर आवे, परन्तु वह पहिचान ले कि यह तो वह भाण्ड यह प्रतिदिन (आता है) वह है। **किन्तु जब कोई यथार्थरूप से पहिचान लेता है, तब वह निजरूप को प्रगट करके, चेष्टा करना छोड़ देता है।** वह भाण्ड फिर चेष्टा नहीं करता। **इसी प्रकार** आत्मा, आत्मारूप हुआ, अर्थात् फिर रागरूप चेष्टा नहीं होती, वह चेष्टा छूट गयी। आहाहा! भाण्डरूप से भिन्न-भिन्न रूप धारण करता था, उसी प्रकार भगवान भी आत्मा के राग-द्वेष परिणाम के रूप को भिन्न भाव को, अजीवभाव को धारण करता हुआ बहुरूपिया, एक रूप न रहता हुआ, रागरूप होता था, वह भिन्न पड़ गया। बहुरूप धारण करता था, वह छूट गया। अपना एकरूप फिर धारण रहा। बहुत सूक्ष्म!

अब इसका श्लोक है अन्तिम...

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय बनै करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुखदुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो।

आहाहा! '**जीव अनादि अज्ञानवसाय**' अनादि अज्ञान के कारण से, कर्म के वश के कारण से, यह नहीं। आहाहा! अपने आनन्द का स्वरूप भगवान, ज्ञान के रस का

कन्द, ध्रुव, चेतन स्वभाव के अज्ञान के कारण उस स्वरूप के पूर्ण स्वरूप के अस्तित्व का अस्वीकार के कारण से अनादि से दृष्टि पर्याय के ऊपर है। पर्याय के ऊपर अर्थात् अज्ञान के ऊपर है। आहाहा! '**जीव अनादि अज्ञानवसाय, विकार उपाय**' विकार को करता हुआ, पुण्य और पाप के भाव को, '**बणै करतां**' तब वह कर्ता होता था। विकार उपाय करता, तब कर्ता होता था, ऐसा। आहाहा! बहुत सूक्ष्म कठिन काम। वीतराग मार्ग! अभी यह तो बाहर के पूरे दिन काम में मैं... मैं... मैं..., यह मैं, मुझसे सब होता है, मुझसे यह होता है धन्धा-पानी। आहाहा! अरे! इसे समेटना पड़ेगा। जहाँ है, वहाँ यह चीज़ नहीं, बाहर का यह व्यापार, धन्धा, शरीर, वाणी, यह सब धन्धा, यह जो है, उसमें तू नहीं, और तू है वहाँ वे नहीं। आहाहा! यह तो विकार उपजाये बने कर्ता, मात्र ऐसा। पर का कर्ता तो होता नहीं, पर का तो उसमें... आहाहा! शुद्ध चैतन्यस्वरूप, भगवान ज्ञायकमूर्ति, जलहल ज्योति, जलहल ज्योति चेतन, अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु के अज्ञान के कारण, आहाहा! वैसे स्वरूप के अभान के कारण, **विकार उपाय,...** वह विकार को उत्पन्न करता था। आहाहा! '**बणै कर्ता**' तब वह कर्ता होता था। दृष्टि वहाँ विकार उपजावे और दृष्टि भी वहाँ अर्थात् यह कार्य मेरा है, ऐसा अज्ञानी अज्ञानी से विकार के परिणाम का कर्ता होता था। आहाहा!

'**ताकरि बंधन आन तणुं फल...**' यह जो पुण्य-पाप का कर्ता होता था, इसलिए उसका बन्धन का आया हुआ फल **ये सुख दुःख भवाश्रमवासो**' बाहर के अनुकूल-प्रतिकूल संयोग और उसमें सुख-दुःख की कल्पना करता था, आहाहा! '**भवाश्रमवासो**' भवरूपी आश्रम का वास हो गया। आत्मा का आश्रमवास होना चाहिए। आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द का धाम निजघर। ज्ञानानन्द, सहजात्मस्वरूप में आश्रम, उसका धाम उदासीन पर से आसन हटकर उसका आसन वहाँ लगाना चाहिए। आहाहा! उसने वहाँ से हटकर विकार के भवाश्रम में, भवाश्रम का वास किया। आहाहा! आश्रम तो रखा, परन्तु भव के आश्रम का वास किया। आहाहा!

'**ज्ञान भये करतां न बने**' अपनी जाति को जाना कि मैं तो ज्ञायक चैतन्यदल हूँ। मेरा अस्तित्व पूर्ण। अनन्त गुणों से पूर्ण, भरचक, लबालब, ठसाठस भरा हुआ है। आहाहा! ऐसा '**ज्ञान भये**' ऐसा सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने से। **कर्ता न बने।** फिर वह

कर्म का भाव अर्थात् कि जड़, उसका वह कर्ता नहीं होता। '**कर्ता न बने, तब बन्ध न होय**' इसलिए उसे बन्धन नहीं होता। '**खुल्ले परपासो**' पर का बन्धन है, वह खुल जाता है। अपने स्वभाव का ज्ञान किया, मैं तो आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्द हूँ, वीतरागमूर्ति, वह मेरी चीज़ है। राग में मैं आऊँ, ऐसी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसे भव के आश्रम का स्थान छोड़कर अभवाश्रम ऐसा स्वभाव, उसका आसन लगाया। आहाहा! '**खुल्ले परपासो**' इससे पर का बन्धन छूट जाता है।

'**आत्मामां सदा सुविलास**' भगवान आत्मा में **सदा सुविलास करे सिवपाय** मोक्षदशा को पाकर, शिवपाय अर्थात् दुःख का नाश और सुख की प्राप्ति, ऐसे सुख की प्राप्ति। **रहे निति** नित्यवास वहाँ रहे। सादि अनन्त-अनन्त समाधि सुख में, आहाहा! '**आत्ममाही सदा सुविलास करे सिवपाय**' मोक्ष को पाकर। सिव शब्द आता है न णमोत्थुणं में। शिव, मलय, मरूप, मणगते, नहीं आता? णमोत्थुणं में आता है। निरुपद्रव, कल्याणस्वरूप प्राप्त करके और नित्य वास, नित्य वहाँ रहे। यह कर्ता-कर्म अधिकार पूरा किया।

इस प्रकार श्री समयसार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में कर्ताकर्म का प्ररूपक दूसरा अंक समाप्त हुआ।

अब तीसरा पुण्य-पाप अधिकार।

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि।।

पुण्य और पाप दोनों बन्धनरूप (है, ऐसा जानकर), उन्हें दूर करके अपने शुद्धात्मा को जिसने जाना... आहा! **नमूँ चरण हित जानि** उनके चरण में मैं नमस्कार करता हूँ। हित को जानकर (अर्थात्) मेरा हित इसमें है। स्वरूप में एकाग्र होना, वह मेरा हित है। आहाहा! शुद्धात्मा को जानना और (उसमें) स्थिर होना, वह मेरा हित है। ऐसे जिसने ऐसा किया, उसे भी मैं नमस्कार करता हूँ। आहाहा!

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-

पापरूप से प्रवेश करता है।' नाटक का दृष्टान्त दिया है न! एक ही पुरुष हो, वह घड़ीक में राजा होकर आवे और घड़ीक में गुलाम होकर आवे। नाटक में! इसी प्रकार पुण्य और पाप एकरूप वेश धारण करके प्रवेश करते हैं। आहाहा!

जैसे नृत्य मञ्च पर... नाचने के अखाड़े में-स्थान में **एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो...** आहाहा! **उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है,...** नाटक में घड़ीक में स्त्री का वेश लेकर आवे, घड़ीक में पुरुष का वेश लेकर आवे। पालेज में एक बार हमारे बना था। वहाँ मुसलमान का जोर और जो नाटक का मूल (सूत्रधार) था, वह अन्दर स्त्री का वेश पहनता था और यहाँ विवाद हुआ तो बहुत मुसलमान अन्दर मुफ्त में प्रविष्ट हुए। यह तो (संवत्) १९६५-६६ की बात है। उसे एकदम बाहर आ पड़ा। स्त्री का वेश (पहना हुआ रखकर) बाहर (आया)। तब लोगों ने भी जाना कि यह तो इसका मुख्य व्यक्ति है, नाटक का मुख्य व्यक्ति (था), उसने स्त्री का वेश (पहना हुआ था) रानी का था, रानी का। प्रायः तो पिंगला का वेश था। भर्तहरी का पिंगला। आता है न? वह अन्दर पहनता था, वहाँ विवाद हुआ; इसलिए उसे एकदम बाहर आना पड़ा। स्त्री के वेश में आना (पड़ा) सिर खुला था। आहाहा! तब जान लिया कि ओहो! यह तो नाटक का मुख्य व्यक्ति! प्रमुख व्यक्ति है। वह इस रानी को वेश धारण करता है।

इसी प्रकार पुण्य और पाप के दो वेश हैं तो एक ही विकार के, आहाहा! परन्तु अज्ञानी उन्हें दो रूप मानता है (परन्तु) **उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है,...** पुण्य और पाप दोनों एक ही हैं। भगवान आत्मा उनसे भिन्न और पुण्य तथा पाप के भाव—दया, दान, व्रत, शील, तप आदि भाव... आहाहा! और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, दोनों जाति एक ही है। आहाहा! कठिन काम!

इसी प्रकार यद्यपि कर्म एक ही है, तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है, उसे सम्यक्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है। लो! यहाँ तो सम्यक्दृष्टि लिया। वह जहाँ हो वहाँ साधु.. साधु.. डालते हैं। विद्याधरजी। आहाहा! **सम्यक्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है।** सम्यग्दृष्टि का ज्ञान-चौथे गुणस्थान का ज्ञान। सम्यग्दृष्टि भी वीतरागी पर्याय है, क्योंकि जिनस्वरूप

है, स्वयं वीतरागस्वरूप ही है, उसकी प्रतीति और ज्ञान होकर जो दशा हुई, वह दशा भले चौथे (गुणस्थान की) होवे, परन्तु वह वीतरागी दशा है। आहाहा! उस वीतरागी दशा का ज्ञान यथार्थ है।

वह **एकरूप जान लेता है।** (अर्थात्) पुण्य और पाप दोनों एक ही हैं। चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण हो, दोनों एक ही जाति है। आहाहा! (ऐसा सुने वहाँ) कठिन काम पड़ता है।

अभी सुना, तुमने कहा न? स्वरूपाचरणचारित्र! कलश-टीका, राजमलजी टीका में १०६ कलश में छह बार आता है। यह तो राजमलजी का नाम रात्रि में आया नहीं था। तीन नाम आये और चौथा (नहीं था)। (मैंने) कहा, इसमें भी है न? यद्यपि इसमें व्रत अर्थात् चारित्र। चारित्र, स्वरूपाचरणचारित्र। एक ही १०६ कलश में छह बार आता है। स्वरूपाचरणचारित्र.. स्वरूपाचरणचारित्र.. आहाहा!

मूल तो स्वरूप जो भगवान चिद्घन आनन्दकन्द, उसका भले चौथे (गुणस्थान में) अंश भी आचरण है, वह स्वरूपाचरण है और फिर पाँचवें गुणस्थान में भी जो विशेष है, वह स्वरूपाचरण है और छठवें में भी स्थिरता बढ़ गयी है, वह स्वरूपाचरण है, सातवें में बढ़ गयी है, वह स्वरूपाचरण है। आहाहा! उसमें राग का आचरण नहीं; इसलिए स्वरूपाचरण है, ऐसा कहना है। आहा! ऐसा मार्ग।

यहाँ तो सबेरे वहाँ-इस १०६ कलश में नजर गयी थी, कहा, तीन बोल के नाम दिये थे। उसमें राजमल स्वरूपाचरण (कहते हैं, वह नहीं था) परन्तु राजमल स्वरूपाचरण व्रत को कहते हैं। चौथे में स्वरूपाचरण है परन्तु व्रत शब्द जो लिया है, वह स्वरूपाचरण के अर्थ में (लिया है) और दूसरे व्रत का अर्थ लिया है, वह शुभभाव के आचरण में (लिया है)। दया, दान, व्रत आदि। वह व्रत अर्थात् विकार और यह व्रत अर्थात् स्वरूपाचरण। आहाहा! बहुत कठिन काम!

शुद्ध स्वरूप चैतन्य प्रभु, जो स्वद्रव्य है, वह शुद्ध चैतन्यघन है। उस स्वद्रव्य का आचरण, वह स्वरूपाचरण। वह निर्जरा और मोक्ष का कारण है। आहा! संवर, निर्जरा और मोक्ष का यह कारण है। यह क्या कहा? भगवान आत्मा ध्रुव चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव अनन्त गुण का एकरूप ऐसा जो भगवान, उसका जो आचरण है, वह पुण्य

और पाप के विकल्प से रहित है। उसका वह आचरण है। वह आचरण स्वरूपाचरण है। राग का आचरण है, वह विरूप आचरण है। आहाहा!

यह स्वरूप... स्व-रूप शुद्ध चैतन्यघन आत्मा स्वरूप, उसका आचरण, उसमें लीनता और एकाग्रता (होना), वह संवर-निर्जरा और मोक्ष का कारण है और इस स्वरूपाचरण के अतिरिक्त जितनी वृत्ति रागादि में जाती है, वह सब बन्धन का कारण है। वह परद्रव्य-आचरण है, यह स्वरूप-आचरण है। तब वह परद्रव्य (आचरण है) ऐसा १०७ में आया है। यह स्वद्रव्य में (आचरण) है, वह परद्रव्य (आचरण है)। आहाहा! है न, इसमें, देखो न! १०७ में है, देखो! १०६ में है। '**एकद्रव्यस्वभावत्वा**' १०६ में यह है। '**एकद्रव्यस्वभावत्वा**' और १०७ में '**द्रव्यान्तरस्वभावत्वा**' आहाहा! १०७ (कलश)। '**द्रव्यान्तरस्वभावत्वा**' (अर्थात्) द्रव्य से अन्य द्रव्य का स्वभाव। आहाहा! क्या संक्षिप्त भाषा।

'**एकद्रव्यस्वभावत्वा ज्ञानस्य भवनमं वृत्तं**' आहाहा! भगवान ज्ञान और आनन्द का-स्वद्रव्य का अन्दर आचरण, वह व्रत अर्थात् वह आचरण और उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा! और जो द्रव्यान्तर (अर्थात्) इस द्रव्य से अन्य—दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम (होते हैं), वह अन्य द्रव्य का आचरण होने से वह अन-आचरण है। स्वरूप का अन-आचरण है, परद्रव्य का आचरण है। आहाहा! यह १०६, १०७ में आयेगा।

(यहाँ अपने) श्लोक १००। **उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य कहते हैं :-**

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ।।१००।।

(श्लोकार्थ) **अब (कर्ताकर्म अधिकार के पश्चात्), शुभ और अशुभ के भेद से... 'द्वितयतां' द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को...** भले दोपने को प्राप्त कर्म लिया है, इसलिए कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह तो कर्म के दो प्रकार का निषेध है। परन्तु पश्चात् आचार्य स्वयं कहते हैं, कर्म का कारण जो शुभाशुभभाव है, वह भी दो है। दो है, वह एक ही है, बन्धन एक है और उस फल भी एक ही है। आहाहा! **भेद से द्वित्व**

को प्राप्त... आहाहा! शुभभाव अलग और अशुभभाव अलग - दोनों अलग, ऐसा कहते हैं (अर्थात्) अज्ञानी दो को मानता है, उन्हें **एकरूप करता हुआ,...** आहाहा! एकरूप करता हुआ का अर्थ—अपने साथ एकरूप नहीं करता। दो हैं, वे एक ही रूप वस्तु है। शुभ और अशुभभाव दोनों, वे एक ही प्रकार हैं। आहाहा!

एकरूप करता हुआ,... एकरूप अर्थात् दो मान्यता है कि यह पुण्य ठीक है और पाप अठीक है अथवा पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। यह दो पने को मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (और) ज्ञानी दो को एकरूप जानता हुआ। आहाहा! ...आहाहा! दोनों भाव एक ही-बन्धन के कारण हैं, दोनों जहर हैं, दोनों दुःख हैं। आहाहा! दया, दान, व्रत, शील, तप को जहर कहना! क्योंकि अमृतसागर भगवान, अमृत का समुद्र प्रभु, उससे (शुभ) भाव विरुद्ध है। चाहे तो दया, दान, व्रत, शील, तप चाहे जो हो, परन्तु प्रभु अमृत का सागर / समुद्र ध्रुव एक ही महाप्रभु है। आहाहा! उससे ये पुण्य-पाप के दो भाव अमृत से विरुद्ध हैं, इसलिए इन्हें जहर कहा है। अर र!

वे कहते हैं, पर की दया पालो तो धर्म है। यहाँ कहते हैं कि पर की दया तो पाल नहीं सकता परन्तु पर की दया का भाव है, वह राग और जहर है। यह बात! कठिन काम है, बापू! आहाहा!

दो में से **एकरूप करता हुआ,...** एकरूप करता हुआ अर्थात् अपने साथ एकरूप करता हुआ, (ऐसा नहीं है)। पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति है, बन्ध का कारण ज़हर है। अज्ञानी दो को दोरूप भिन्न जानता था। यह ज्ञानी दो को एकरूप-ज़हर का, बन्ध का कारण एक ही प्रकार है, (ऐसा जानता है)।

जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है... इसमें 'मोहरज' शब्द है परन्तु इसका अर्थ मोहभाव-मिथ्यात्वभाव है। भाई में मोहरज का अर्थ मिथ्यात्वभाव किया है। एक गाथा में सेठ आये थे तब (ली थी) उसमें भी आता है न? मोहरज! वह भावमोह है। यह तो नाम नहीं दिया, मूल तो भावमोह है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द के नाथ को भूलकर पुण्य और पाप को दो को दो रूप से भिन्न-भिन्न जानता है, वह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

नवतत्त्वरूप से गिनने पर इसके पुण्य और पाप का तत्त्व अलग गिना, परन्तु एक

जगह वापस निकाल दिया। आस्रव गिनकर पुण्य-पाप नहीं रखा। सात तत्त्व कहे न वहाँ? आहाहा! उन्हें-इन पुण्य-पाप को दो को आस्रव गिनकर एक ही तत्त्व गिना। व्यवहार से दो को भिन्न किया था। आहाहा! वे निश्चय से दोनों एक हैं, आस्रव हैं, बन्ध का कारण है। आहाहा! अब इसमें कब निवृत्ति लेना! अरे रे! चौरासी लाख अवतार में परिभ्रमण करते हुए कहीं इसे विश्रामस्थल मिला नहीं। आहाहा!

यह स्वयं ही है अन्दर। इसका माहात्म्य-महिमा और राग से पृथक्पने का भान इसने नहीं किया। आहाहा! बाकी सब इसने चाहे जो किया हो, पाँच-पचास लाख इकट्ठे किये हों, दो-पाँच करोड़ की धूल (इकट्ठी) की हो... आहाहा! उसका क्या? वह तो दुर्गति का कारण है। आहाहा!

मुम्बई में दो को देखा, भाई! वह दो अरब चालीस करोड़ वाले का लड़का आया था परन्तु वह चरण छूकर इतना बोला 'कि मेरे बापूजी को आने का भाव था।' इतना बोला। ठीक, कहा। 'मेरे पिता को आने का भाव था' इतना बोला। ठीक कहा। वह तो पोपटभाई कहते थे। उनके बहनोई भी कहते थे कि किसी समय पहले ऐसा विचार हुआ होगा। ऐसा कि ये सब सोनगढ़ जाते हैं, मेरी बहिन वहाँ है, मेरा बहनोई वहाँ है तो देखने तो जाएँ। दो अरब चालीस करोड़! धूल में मर गया, मर गया बेचारा! आहाहा!

दूसरा यह देखा। वैष्णव! मुम्बई, तुम्हारा सेठ! पचास करोड़, पचास करोड़! आया था। (स्वयं) वैष्णव, घर में महिलाएँ हैं, वे जैन हैं। श्वेताम्बर जैन, इसलिए उन्हें प्रेम है। चरण छूने आया था। भाई उसमें नौकर था न - रामदास!

मुमुक्षु : तीन बार मिले थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आये थे, आये थे। फिर से आये थे। पहले आये थे, बाद में घर ले गये, वापस फिर से आये थे।

मुमुक्षु : जन्म-जयन्ती के समय...

पूज्य गुरुदेवश्री : जन्म-जयन्ती (के समय आये थे), खबर है, खबर है न! पचास करोड़ रुपये, पाटन का वैष्णव (था)। अरे! कर्ता.. कर्ता.. कर्ता.. (माने)।

वैष्णव है न? मैंने तो ऐसा ही कहा, तुम कर्ता कहते हो तो फिर नरसिंह मेहता ऐसा कहते हैं 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' वहाँ उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि 'ज्यां ईश्वर को इसने जाना नहीं।'

मुमुक्षु : हमारे में ऐसा है न, ऐसा उसने आपको जवाब दिया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसे जरा आधार देने के लिए (कहा) 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' उसमें दो बात निकली। एक तो ईश्वर को जाना नहीं, ऐसा नहीं कहा तथा जाना है, वह आत्मा के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व हैं, अस्ति है। तब ऐसा कहा न कि 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' दूसरे तत्त्व हैं अर्थात् (वे) हैं और आत्मा है, उसका कोई कर्ता-फर्ता है नहीं।

मुमुक्षु : है, उसे कौन करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : है, ऐसा तो उसमें से आ गया और गीता में भी ऐसा एक वाक्य है अपने देखा है। अपने यहाँ गीता है न! उसमें देखा है, एक ऐसा श्लोक है। नहीं मैं कर्ता, ऐसा एक श्लोक है। 'ना अहम् कर्ता' ऐसा कुछ है। आहाहा! है वस्तु। आहाहा! कौन करे? है, उसे करे कौन? और नहीं है, उसे करे कौन? करना वह हो-द्रव्य की पर्याय। वह करना हो। वह भी पर्यायरूप से करना होता है। आहाहा! पलटती है न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है, ऐसा यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर)...** आहाहा! **[अयं अवबोध-सुधाप्लवः] यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर)...** ऐसा, देखा? **(अयं)** है न? प्रत्यक्ष अवबोध अर्थात् ज्ञान। **(सुधाप्लवः)** अर्थात् चन्द्र। आहाहा! **ज्ञानसुधांशु (-सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा)...** प्रभु अन्दर है। आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्य में फँस गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में... पुण्य-पाप में मात्र दुःख है।

यहाँ सुधांशु (अर्थात्) जैसे चन्द्रमा निर्मल है, वैसे भगवान ज्ञानसुधा चन्द्रमा है। आहाहा! लोगस्स में भी आता है न? 'चन्देसु निम्मलयरा' लोगस्स किया है या नहीं? उसके अर्थ की भी खबर नहीं होती। 'चन्देसु निम्मलयरा' (अर्थात्) चन्द्र से भी, हे प्रभु! आप तो निर्मलतर हैं। अकेले निर्मलानन्द चन्द्र! चन्द्र का निर्मलपना तो जड़ का

है। इसका निर्मलपना चैतन्य का है। आहा! 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' यह लोगस्स में आता है (परन्तु) अर्थ की भी खबर नहीं होती। हाँक रखते हैं... आदित्य अर्थात् सूर्य, उससे अधिक। 'आईच्चेसु अहियं पयासयरा' उससे अधिक अनन्त गुणा प्रकाश-चैतन्यमूर्ति जलहल ज्योति अन्दर है!! आहाहा!

'सागरवरगम्भीरा' सागर में प्रधान सागर बड़ा जैसे स्वयंभूरमण है, जिसकी गम्भीरता का पार नहीं होता। असंख्य योजन में (विस्तरित है) और जिसमें नीचे रेत नहीं होती, मात्र रत्न भरे हैं। अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र। अन्तिम का असंख्यवाँ। असंख्य योजन में नीचे अकेले रत्न भरे हैं और पानी असंख्य योजन में है। आहाहा! ऐसा 'सागरवरगम्भीरा'! प्रभु! तेरे तल में अनन्त रत्न भरे हैं, आहाहा! जिसके अनन्त रत्न की गम्भीरता का पार नहीं होता और स्वयंभू (अर्थात्) वह सब स्वयं से है। उसे किसी ने किया है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा यह 'अयं' प्रत्यक्ष। अयं का अर्थ प्रत्यक्ष किया—यह। और 'अवबोध' अर्थात् ज्ञान। 'सुधाप्लवः' 'सुधाप्लवः' **ज्ञानसुधांशु (-सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) स्वयं उदय को प्राप्त होता है।** आहाहा! जिसे कोई दया, दान और राग की मन्दता की, शुभता की भी कोई अपेक्षा नहीं है। उसमें वह नहीं है, उसका वह स्वरूप नहीं है परन्तु उसकी इसे अपेक्षा भी नहीं है। स्वयं! आहाहा! 'सुधाप्लवः' चन्द्र! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. ऐसा जो चन्द्रमा, भगवान ज्ञानरूपी चन्द्रमा! पुण्य-पाप को-दोनों को जहाँ एकरूप से भिन्न जानता है, तब **(सुधाप्लवः)** प्रगट होता है, तब शुद्ध चन्द्रमा भगवान निर्मल प्रगट होता है। आहाहा! दो में, पुण्य के भाव में 'ठीक है' ऐसा करके रूकता था। व्यवहार से भेद किया। नव तत्त्व में भेद किया न! नव कहे, पश्चात् तो सात करके निकाल दिया। आहाहा! परन्तु व्यवहार से अर्थात् अभूतार्थनय से.. आहाहा! भूतार्थ सत्यवस्तु से तो वह प्रभु ज्ञानचन्द्रमा जो यह है, जिसमें कोई पुण्य और पाप की गन्ध नहीं है। आहाहा!

(प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर) ज्ञानसुधांशु स्वयं उदय को प्राप्त होता है। आहाहा! स्वयं उदय को प्राप्त होता है। उसे ऐसा कि राग की या किसी व्यवहार की मन्दता मिली, व्यवहाररत्नत्रय था तो वह शुद्ध हुआ, ज्ञात हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वतन्त्र प्रभु स्वयं उदय को प्राप्त होता है। आहाहा!

भावार्थ : अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखायी देता था... पुण्य और पाप दोनों एक ही प्रकार के हैं। भले यहाँ बन्धन में कर्म लिया है परन्तु उसके भाव (की) भी एक ही जाति है। **अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखायी देता था, उसे ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है।** आहाहा! जहाँ ज्ञान चैतन्य का सम्यक् ज्ञान हुआ, वहाँ वे शुभ-अशुभभाव दोनों एक ही प्रकार के बन्धन के कारण और जहर हैं, ऐसे ज्ञान में दो का एकपना ज्ञात हुआ। दो का दोपना अज्ञान में भिन्न ज्ञात होता था कि पुण्य ठीक है और पाप अठीक है। आहाहा! वह **ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है।**

ज्ञान पर जो मोहरूप रज चढ़ी हुई थी... आहाहा! भाव! मोहरूपी मिथ्या भ्रमणा लगी थी, **उसे दूर कर देने से...** आहाहा! **यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरे के पटल से...** आहाहा! चन्द्र को बादल आड़े आवें या कोहरे का पटल आड़े आवे, **यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरण के दूर होने पर...** चन्द्र तो चन्द्र में ही है। आहाहा!

आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। भगवान आत्मा पुण्य-पाप के बादल में अटक गया था। आहाहा! वह अन्धकार था, आड़े पटल था, बड़ा पर्दा था। आहा! शुभ और अशुभभाव दोनों अन्धकार-पर्दा था। उसे तोड़ डाला। वह अज्ञान अन्धकार एकरूप है। मेरी चीज़ ज्ञानस्वरूप तो उनसे भिन्न है। ऐसा जिसने आत्मा को सम्यक् ज्ञान में, ज्ञान को ज्ञानरूप से और राग को भिन्नरूप से (जान लिया)। दोनों एक ही जाति—चाहे तो शुभ हो या अशुभ हो (एक ही जाति है)। आहाहा!

(पटल आड़े आवे) **यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।** लो! आहाहा!

कलश-१०१ पर प्रवचन

अब पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं :— अब दृष्टान्त देकर सिद्धान्त कहते हैं।

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः,
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जाति-भेद-भ्रमेण।।१०१।।

आहाहा! **शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ पला...** ब्राह्मण को (पुत्र) नहीं था तो ब्राह्मण को दिया तो वह वहाँ पला **और दूसरा उसी शूद्रा के यहाँ पला...** अपने घर में रहा। **उनमें से एक तो... [ब्राह्मणत्व-अभिमानात्]** आहाहा! क्या आचार्य की कथनी! **'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से दूर से ही मदिरा का त्याग करता है,...** मदिरा को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! **उसे स्पर्श तक नहीं करता;....**

दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरा से ही स्नान करता है... अर्थात् कि हाथ-बात सर्वत्र शराब लगायी हो। **उसे पवित्र मानता है। [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों...** पुत्र **[शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं...** आहाहा! **शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं... इसलिए [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं,...** दोनों चाण्डाल ही हैं, भले (एक) ब्राह्मण के घर पला हो। आहा! **तथापि वे [जातिभेद-भ्रमेण] जातिभेद के भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसी प्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिए।)** आहाहा! आचार्य ने कैसा लिखा है!

पुण्यभाव करते हैं न! उसे अभिमान (होता है कि) मैं पुण्य करता हूँ, हमारे यह नहीं चलता। हमारे यह नहीं चलता। ब्राह्मण के यहाँ पला (वह ऐसा कहता है कि) यह नहीं चलता। उसी प्रकार इस पुण्य के परिणामवाला मिथ्या अभिमानी (ऐसा कहता है कि) हमारे विषय-कषाय नहीं चलते, यह नहीं, यह नहीं चलता। आहाहा! 'अभिमान' शब्द लिया था न? **[ब्राह्मणत्व-अभिमानात्]** ऐसे पुण्य के परिणाम का अभिमानी, पुण्य-परिणाम व्रत और तप और भक्ति करनेवाला, उसके अभिमान में (ऐसा कहता है कि) हमें यह पाप नहीं चलता, विषय-कषाय नहीं चलते, स्त्री का संग नहीं चलता।

परन्तु है तो वह चाण्डाल का पुत्र। पुण्य का परिणाम भी है तो विभाव का पुत्र। विभावरूपी चाण्डालनी! आहाहा! कठिन काम ऐसा! अभी तो अकेली धमाधम (चलती है)। आहाहा! व्रत करो और अपवास करो और वर्षीतप करो...

मुमुक्षु : अभी तो बहुत सुधरा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे जहाँ हैं, वहाँ तो ऐसे के ऐसे ही पड़े हैं। ऐसा का ऐसा है। जहाँ हैं, वहाँ तो ऐसा का ऐसा है और उससे भी सवाया हो गया है। यहाँ हुआ उसके कारण वहाँ अधिक जोर हुआ। जहाँ है, वहाँ अधिक जोर पकड़ा है। अपने बराबर करना चाहिए। यह करना चाहिए...

मुमुक्षु : व्यवहार के काम करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, व्यवहार भी वस्तु है या नहीं? व्यवहार बिना निश्चय होगा? (ऐसा करके) जोर पकड़ते हैं। आहाहा!

भावार्थ : पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश... देखा? **व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखायी देते हैं।** आहाहा! दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा, स्त्री-पुत्र को छोड़कर त्यागी हुआ है। आहाहा! उसे भला माने, परन्तु वह सब भाव जो है, वह पुण्य है, वह भी उसी जाति का है। कठिन काम! बाहर का त्याग देखकर (ऐसा देखे कि) 'यह त्यागी है, भाई धन्धा नहीं करता, पुत्र नहीं, स्त्री-पुत्र कुछ नहीं...' आहाहा!

प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखायी देते हैं। आहा! **परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही...** (देखती) है। एकरूप है, बन्धरूप है, **बुरा ही जानती है।** तीन बोल लिये। शुभ और अशुभभाव दोनों एकरूप हैं, दोनों बन्धरूप ही हैं और ज्ञानी दोनों को बुरा ही जानता है। दो में से एक को भी भला नहीं जानता। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मैं परमात्मा हूँ - ऐसा नक्की कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा निर्णय कर!
मैं परमात्मा हूँ - ऐसा ऐसा अनुभव कर!
- पूज्य गुरुदेवश्री